पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

जनवरी, १६५६ : अंक ५ [प्रकाशन का छठा वर्ष] सम्पादक : अखिलेश्वर पाण्डेय

शिक्षण-मार्ग-प्रदर्शिका

भाग-१

समन्वित शिक्षा-क्रम की साधना



प्रारम्भिक और हाइ स्कूलों के वर्ग एक से सात के शिक्षकों के लिये

शिक्षण-साहित्य

विषय-सूची

प्रस्तावना [प्रयोजन-क्रम-विधि-माँग-उद्देश्य-संगठन-मूल्यांकन आदि] — क्रियाशीलन — उद्योग — समाज-अध्ययन की रूपरेखा — संगीत-कला — शारीरिक प्रशिक्षण और खेल — चित्रांकन — कताई-बुनाई उद्योग — बागवानी एवं प्रारम्भिक कृषि — काष्ठ तथा बाँस के काम।

(सात खंडों में)

विषयों के विभिन्न वरेण्य विद्वानों द्वारा विभिन्न खंडों में लिखित

फुलस्केप १/४ के ह्वाइट प्रिंट २८ पौंड कागज में

सुरुचिपूर्ण मुद्रण :: मजबूत जिल्द

मूल्य : ६·२५

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड

पटना—४

प्राथमिक शिक्षा : राष्ट्रीयकरण आवश्यक है : किन्तु....



श्री बलराम

प्राथमिक शिक्षा का साधारण अर्थ शिशु-शिक्षा है, अर्थात् ६ से ११ वर्ष वाले बच्चों की शिक्षा। प्रथम योजना के पूर्व विद्यालयों में ऐसे बच्चों की संख्या ४२ प्रतिशत थी, जो योजना के अंत तक बढ़कर ५१ प्रतिशत हुई। सरकार ने इस विषय में कुछ ऐसी भी रूपरेखा तैयार की है कि यह संख्या, दूसरी चालू योजना के अंत तक, ६२.७ प्रतिशत और तीसरी योजना के अंत तक १०० प्रतिशत हो जाय। पहली योजना में केवल ६ और दूसरी योजना में केवल ११ की तरक्की को देखते हुए, यह विश्वास नहीं होता है कि तीसरी योजना में ३८ की तरक्की हो सकेगी। फिर भी, आश्वासन के आधार पर विश्वस्त और सरकार की योजना के प्रति साव-धान होने के सिवा, कोई चारा भी तो नहीं है।

प्राथमिक शिक्षा का दूसरा असाधारण और अस्थायी अर्थ यह भी है कि निरक्षर वयस्कों को साक्षर किया जाय। इस विषय के कोई स्पष्ट आँकड़े नहीं प्राप्त हैं। अतः, अन्दाज और विचार के आधार पर ही इस विषय में कुछ बात की जा सकती है। निरक्षर वयस्कों को साक्षर करने का काम असाधारण इसलिए है कि वे विभिन्न कमाई में लगे हुए हैं या मृत्यु और जर्जरता से ग्रस्त भी हैं। अतः, बहुत ही छोटे, कम समय के और अनतिनियमित कोर्स के सहारे ही, उनके उत्साह के नाम पर, यह काम किया जा सकता है। इसके अलावा, उस पीढ़ी को शिक्षित या साक्षर करने की फिक्र का अर्थ जितना ही अस्थायी है, आती हुई पीढ़ी के लिए वह उतना ही स्थायी। अतः, हमें प्राथमिक शिक्षा का अर्थ, शिशु-शिक्षा ही लेना चाहिए। और, उसके उपर्युक्त योजना वाले तरक्की के आँकड़ों पर विचार करते हुए, बंबई शिक्षक संघ के अध्यक्ष श्री मजूम-दार के इस कथन का हमें समर्थन करना ही पड़ेगा कि "अगर हम यह कहें कि समस्या की ओर सरकार का रुख उत्साहहीन है, तो कोई अपराध नहीं होगा।"

सभी बच्चों को शिक्षित करना, ताकि स्वभावतः, आनेवाली पीढ़ी से, सारा देश शिक्षितों का देश हो जाय, एक देशव्यापी उद्योग है; जिसे स्थानीय धार्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक संस्थाओं के भरोसे न छोड़कर, सरकार को ही करना पड़ेगा। अतः, जहाँ तक शिशु-शिक्षा का सवाल है, वहाँ तक इसका सरकार के दायित्व में होना या राष्ट्रीयकरण होना नितान्त आवश्यक है। इससे आगे की शिक्षा का राष्ट्रीयकरण होना, किसी प्रकार भी आवश्यक नहीं है—ऐसा, मेरा और लगभग समस्त शिक्षा-शास्त्रियों और शिक्षा-प्रेमियों का, विचार है। यह विचार, हाल में ही, केरल में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण वाले विवाद को लेकर, स्पष्टरूप में आ चुका है।

वयस्क या बुनियादी शिक्षा की बात, बाद की चीज है, सर्वप्रथम अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा ही है। और, यदि उसकी इस अत्यावश्यकता पर विचार किया जाय, तो गत आठ अगस्त वाले राज्य-शिक्षामंत्रियों के सम्मेलन में केन्द्रीय शिक्षामंत्री का यह कहना—कि "यह १९६५-६६ से ही पूरे तौर पर लागू की जा सकती है", अर्थात् द्वितीय योजना के बाद के ३३७ लाख और उससे २४३ लाख-बढ़कर १९६६ तक ५८० लाख हो जानेवाले बच्चों को तब अनिवार्य और निःशुल्क पढ़ाया जायगा—तीसरी योजना में ३८ प्रतिशत तरक्की के आश्वासन के प्रति हमारी ऊपर की गई शंका को निर्मूल नहीं सिद्ध करता।

सरकार की इसी 'उत्साहहीन' हालत पर, हमें राष्ट्रीय-करण, समाजीकरण या गाँधीवादी मध्यम-मार्ग और आज की हालत को सामने रखकर विचार करना और उसका निराकरण सोचना है।

जहाँ तक सारी शिक्षा और तदनुसार साहित्य तक के राष्ट्रीयकरण का सवाल है, उस मामले में अधिकार की मात्रा और रीतिनीति का ही विवाद उचित होगा। शिशु-शिक्षा और साक्षरता से आगे की पढ़ाई का, जैसा और जिस रूप में राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है, वह तो नितान्त अनुचित है ही; बल्कि, उसकी छाप शिशु-शिक्षा पर भी पड़ी है। उर्दू की प्राथमिक पुस्तकों में हजरत मोहम्मद, शेखसादी, गालिब आदि की बातों के बजाय; संस्कृत पोथियों में राम, कृष्ण, व्यास, विक्रमादित्य आदि की चर्चा के बजाय; हिन्दी पोथियों में

कबीर, सूर, तुलसी, दयानन्द, भारतेन्दु, द्विवेदी, प्रेमचंद, आदि के विवरण के बजाय: मौजूदा शासन के जीवित नेताओं का बखान—राष्ट्रीयकरण के नाम पर सरकार के कुसंस्कारी हठों के सिवा और कुछ नहीं है। और, इस हठ को जारी करते हुए भी शिशु-शिक्षा के प्रति 'उत्साहहीन' ही रह जाना तो दुहरा दुर्भाग्य है।

यह प्रश्न लाल-बाल-पाल से लेकर गाँधीजी तक आया कि सारे राष्ट्र में एक जातीयता और एक सहयोग लाने के लिये कौन-सी शिक्षा जारी की जाय? तिलक ने, और १८५७ की क्रान्ति के तपे हुए कुछ मुस्लिम-नेताओं ने, धर्मवाही राष्ट्रीय शिक्षा के जो विचार दिए थे, वे, यद्यपि मिशन, आर्यसमाज, मस्जिदी मदरसे और मठों की शिक्षा से कुछ अधिक प्रगतिशील और निर्विभेद थे; किन्तु उनका प्रभाव इन शिक्षण-संस्थाओं पर इतना ही नहीं के बराबर हुआ कि इन्होंने अपना बाना तो अपने-अपने धर्मविचारों-जैसा रखा, पर आचार-व्यवहार और मन अंगरेजी शिक्षा को ही दे दिया। क्योंकि तबतक शिक्षा का सामूहिक तथा व्यावहारिक अर्थ सर[illegible] नौकरी के योग्य होना ही लग चुका था, इसी से इन शिक्षालयों को भी माँग के मुताबिक हो जाना पड़ा, और जो न हो सके, वे नितान्त साम्प्रदायिक जड़ता में सड़ने के कारण, गाँधीजी के विचारों के आने तक, कुत्सित हो चुके थे। गाँधीजी तक के शिक्षालयों ने दो ही व्यक्तित्व बनाए; एक तो अंगरेज और अंगरेजियत के गुलाम और दूसरे कट्टर साम्प्रदायिक। स्वभावतः, ऊपर से दो दीखनेवाले ये दोनों ही व्यक्तित्व, जब-जब गाँधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तब-तब एक होकर उस आन्दोलन के विरुद्ध खड़े हो जाते थे; क्योंकि दोनों के निर्माण के पीछे प्रतिक्रिया तो एक ही थी।

उसी समय गाँधीजी ने, राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में, इस प्रकार योजना सोची: (१) राष्ट्रीय उद्योगों और कौशलों के निर्माण के साथ-साथ शिक्षा (२) शुल्क लेने और सहूलियत देने के लिए छात्रों से, धनी और निर्धन जैसा, भेद नहीं बरतने वाली या निःशुल्क शिक्षा (३) दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्वक, अपने-अपने धर्मों की दार्शनिक शिष्टता को समझ कर, चलने की शिक्षा। गाँधीजी का यही मध्यम-मार्ग था, जिसे उस समय सारे देश के बहुमत ने राष्ट्रीय शिक्षा का पैमाना माना। गाँधीजी उदार थे, और उन्हें, राजनीतिक लिप्तता के कारण, अंगरेजी शासन का विरोध भी करना था, इसीसे उनकी यह स्थापना सरकारी परीक्षाओं की अनुवर्तिनी शिक्षा-संस्थाओं के विरुद्ध जाने तक ही सीमित रह गई, और वे धर्म के नाम पर चलनेवाली मिशन-मठ-मदरसों की शिक्षा के विरुद्ध अपनी इस स्थापना को लागू किये बिना, वल्कि उन्हें आशीर्वाद तक देकर, चुप रह गए। फल यह हुआ कि गाँधीजी के प्रभाव के कारण, गुलामों और सांप्रदायिकों का जो पूर्वोक्त व्यक्तित्व दब-सा गया था, वह देश को आजादी मिलने के समय, देश के बँटवारे की स्वार्थ-भावना को लोगों के बीच एक जीवन-मरण का प्रश्न बनाकर, उभाड़ ला बैठा, और तब, गाँधीजी तक ने अपने-आपको हतप्रभ अनुभव किया।

स्वतंत्रता के बाद, इस बात की आशा तो थी ही, कि गाँधीजी के जिन विचारों की हानि उक्त सांप्रदायिक दंगों के कारण हो गई, जिससे कि अन्धी साम्प्रदायिकता ने उदार राष्ट्रीयता को हताश कर दिया और अंगरेजी सभ्यता के



मनोगत साम्राज्य से छुटकारे की लड़ाई के बजाय देश के लोग आपस में ही लड़ मरें, उन विचारों के आधार पर पुनः शिक्षा जारी की जायँगी और अंगरेजी सभ्यता तथा साम्प्रदायिक कट्टरता के इन दुर्भाग्यपूर्ण नतीजों का निराकरण सोचा जायगा। सरकार भी इसके अनुकूल लोगों की ही बनी थी। किन्तु, वैसा कुछ नहीं हुआ। बल्कि, गाँधीजी के उक्त तीनों विचारसूत्रों के विपरीत ही, आजतक वह-कुछ हुआ, जिसे कि मौजूदा सरकार जारी किये हुए है। मौजूदा सरकार ने जो-कुछ किया, उसका वर्णन यों किया जा सकता है: (१) आत्मनिर्भर औद्योगिकता के आधार पर शिक्षा चलाने की गाँधीवादी योजना के बजाय, सरकारी प्रचार-आचार को सहयोग देने और उसके एवज में सरकारी अनुदानों और छूटों पर जीने-वाले बुनियादी स्कूल चले, जोकि अबतक इतना खा-पी चुकने और इतने लम्बे-चौड़े दिनों को गुजार देने पर भी, अपने उक्त राज-निर्भर और राज-मुखापेक्षी चरित्र के कारण, कोई लाभ नहीं दे सके (२) एक ओर ग्राम और नगरों में सरकारी प्राथमिक स्कूल, निःशुल्क शिक्षा देने के लिये, खोले गये, तो दूसरी ओर, उनके बराबर ही, तेजी से, कान्वेन्ट आदि पैमाने के कड़े शुल्क वाले साहबी स्कूल भी, सरकारी संरक्षण तथा प्रोत्साहन के सहारे, खोले गए, और इसका सलूक तथा नतीजा यह हुआ कि जहाँ नेताओं और अफसरों के बच्चे-बच्चियाँ उन स्कूलों में पढ़कर अपने-आपको देश पर शासन करने वाले साहब-बीबी समझने लगे, वहीं शेष देहाती-शहरी स्कूलों में पढ़ने वाले देश के अतिबहुमत बच्चों को, अपने-आपको गुलाम समझने पर मजबूर होना पड़ा। (३) इन स्कूलों में, दूसरों के प्रति सहानुभूति और अपने धर्मों का दार्शनिक शिष्टता की सीख के बजाय, धकापेल, निरर्थक और प्रतिवर्ष बदलनेवाले पाठ्य के कारण, एक स्वाभाविक उच्छृंखलता और छिछलापन, तथा पाठ्यों के, जीवित सरकारी नेताओं और उनके सिद्धान्तों का गुणानुवादी होने के कारण, स्वतंत्रचिन्तन-विरोधी वातावरण आया। (४) इन तीनों बातों का एक भीषण नतीजा यह भी हुआ कि कान्वेन्ट ढंग के स्कूलों के अतिरिक्त, शेष स्कूलों में जो छात्र पढ़ने लगे, उनका भविष्य, सरकारी सेवाओं के नाते, उनके माँ-बाप को अन्धकारपूर्ण लगने लगा, और उन बेचारों ने, उन स्कूलों में अपने बच्चों की शिक्षा को "लाचारी के नाम शुक्रिया" के बतौर ही स्वीकार किया।

अब तो कुछ ईमानदार शिक्षा-शास्त्री भी—शहर-देहातों की मौजूदा स्कूली पढ़ाई, कान्वेन्ट ढंग की पढ़ाई और बुनियादी पढ़ाई—तीनों को समान भाव से निरर्थक समझने लगे हैं। यह तो सत्य है कि प्राथमिक शिक्षा इतना बड़ा उद्योग है; जिसे कि स्थानीय धार्मिक या सामाजिक संस्थाओं के भरोसे छोड़कर कोई देशव्यापी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। और, वैसी संस्थाओं की शिक्षा से जो कट्टरता या कुत्सा आती है, वह भी देखी जा चुकी है। अतः, प्राथमिक शिक्षा का सारा दायित्व सरकार पर ही होना चाहिये। किन्तु, विषयगत शिक्षा के पहले जो सर्वसाधारण शिक्षा दी जाती है, अर्थात् १०-११वीं श्रेणी तक की जो शिक्षा है, वहाँ तक तो एकदम मुफ्त पढ़ाई होनी ही चाहिए और सभी के लिए एक-जैसे ही स्कूल होने चाहिएँ। इस १०-११वीं श्रेणी तक हिसाब को ऐच्छिक करना, और उसकी जगह दुनिया भर की खबरों की शिक्षा और नगरपालिका-पंचायत के चुनाव आदि की बात को, जिसे कि

हर बच्चे रोज ही देखा करते हैं, नागरिक शिक्षा के नाम पर जोड़ देना, बहुत ही उपहासास्पद है। उक्त श्रेणी तक तो, मात्र अपनी क्षेत्रीय भाषा, साधारण इतिहास-भूगोल तथा हिसाब की चक्रवर्ती-जैसी पढ़ाई तथा कुछ शारीरिक श्रम के उत्पादक काम ही, आवश्यक होने चाहिएँ। जबकि किसी-न-किसी शारीरिक श्रम और उत्पादन में देश को लगाने का स्पष्ट इरादा हमारे राष्ट्रीय नेताओं की ओर से प्रकट किया जा रहा है, तो यह तो निरर्थक बात है कि १०-११ वीं श्रेणी के बीच ही, साधारण हिसाब को भी ऐच्छिक कर दिया जाय। क्या, अच्छा व्यावहारिक हिसाब जाने-बगैर, जिन्दगी के किसी दिन भी, कोई, दस्तकारी, उद्योग और उत्पादन की ओर कदम बढ़ा सकता है? यह कोई आवश्यक नहीं है कि संगीत आदि, जिसकी ओर स्वभावतः साधारणों की शिक्षा-रुचि नहीं होती, और समाचार, सफाई, समाज की साधारण बातें, जिन्हें कि कर-करा कर देखा-दिखाया और सिखाया जा सकता है, उसके ही पाठ प्राथमिक शालाओं में दिये ही जायँ। यह-सब तो, भा[illegible]साब, भूगोल-इतिहास का साधारण ज्ञान रखनेवाला, [illegible] पुस्तकें पढ़कर पा जायगा। आखिर स्वाध्याय के लिए भी तो कोई गुंजाइश और अपने पर भरोसा छोड़ना चाहिए? हाँ, इसके बजाय, यदि अपने-अपने धर्म की शिक्षा के लिये एक घंटे प्राथमिक शालाओं में जोड़ दिये जायँ, तो वह एक भारतीयता की बात भी हो और उसके सहारे, बच्चों मन से धार्मिकता का, रूढ़ियों से अलग कर, एक स्पष्ट तात्पर्य भी दिया जा सके। इस प्रकार : (१) क्षेत्रीय भाषा (२) आवश्यक समझी जाय तो हिन्दी नहीं तो दूसरी क्षेत्रीय भाषा (३) हिसाब (४) इतिहास (५) भूगोल (६) कोई श्रम और उत्पादन (७) धर्म-शिक्षा (८) खेल, परिदर्शन और भ्रमण या व्यावहारिक अनुभव—ये-सब प्राथमिक पाठ ही, किसी को विषयगत अध्ययन देने के पूर्व, पर्याप्त हैं। अंतिम आठवें पाठ में ही कुछ हेर-फेर कर, लड़कियों या लड़कों के लिये यथायोग्य, संगीत, पाक या सीने-पिरोने की कुछ ऐसी बातें दी जा सकती हैं जो खास व्यावहारिक हों और माँ-बाप जिनकी पूर्ति न कर सकते हों। मसलन, लड़कियों की पढ़ाई में पाक का विषय इसलिये निरर्थक है कि हर लड़की की पारिवारिक संस्कृति के अनुसार, किसी भी पाठशाला के लिये, पाक की शिक्षा देना असंभव है और यह, उस-उस लड़की की माँ के लिए ही, संभव और आवश्यक भी है। इसी प्रकार, संगीत, एक लम्बे-चौड़े समय तथा अभ्यास की माँग और पात्रता की चाह रखने वाला, एक नितान्त स्वतंत्र विषय है। इसका कोई भी साधारण प्रारम्भिक ज्ञान, सिर्फ भुला देने के लिये ही दिया जायगा। चित्र-कला, हाथ को माँजने के लिए और रेखांकन में सफाई के लिये आवश्यक है, और क्योंकि यह उद्योगों में काम देगा, इसलिये इसका प्रारंभिक ज्ञान दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त तमाम विषय, निर्विवाद रूप से नितान्त आवश्यक प्रारंभिक माने जा सकते हैं और इनके अन्तर्गत सभी क्षेत्रों का सांस्कृतिक आग्रह भी आ जाता है। अतः, इस आधार पर प्राथमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण, निश्चय ही लाभदायक होगा और उत्साहपूर्ण भी होगा। हाँ, इसमें 'उत्साहहीनता' तभी आवेगी, जबकि इसके आलावा, सरकारी-सम्प्रदाय या रईसी-सम्प्रदाय के दूसरे स्कूल, इसके मुकाबले, अलग से चलाए जायँ।



साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।

—प्रेमचन्द

प्रकाशक क्या करे....!



श्री दयानन्द वर्मा

वह उपन्यास मैंने स्वयं पढ़ा था और मैं सामने खड़े ग्राहक की रुचि जानता था। मुझे विश्वास था कि वह उस उपन्यास को अवश्य पसंद करेगा। पर उसने उपन्यास को उलटा-पलटा और मेरी ओर वापिस खिसकाता हुआ बोला—"इसका लेखक तो कोई नया है। यह नहीं, मुझे तो गुरुदत्त की कोई नयी पुस्तक दीजिए।"

गुरुदत्त उसके लिए जाना-पहचाना था। बीसियों पुस्तकों पर उसने उसका नाम देखा था। वह नाम उसकी आँखों में जँचा हुआ था।

"यह पुस्तक बहुत बढ़िया है"—मैंने कहा—"आप पढ़ कर तो देखें!"

"अजी, नहीं साहब! मैं जानता हूँ। दिन में दो पुस्तकें पढ़ता हूँ। ये लोग क्या लिखेंगे!"

नये लेखक की पुस्तक खरीदना उसके लिए एक जुआ था—जाने अच्छी निकले या नहीं।

और, अगर मैं आपसे यह कहूँ कि यह ग्राहक वही व्यक्ति था जो कुछ दिन पूर्व, मुझसे एक नये लेखक के रूप में अपने उपन्यास की पाण्डुलिपि लेकर मिला था, तो आपको कुछ आश्चर्य होगा। किन्तु यह है सच। तब इसने कहा था—"प्रकाशक लोग भेड़-चाल चलते हैं। नये लेखकों को प्रोत्साहन नहीं देते।"

जरा सतर्कता से सोचिए कि जो व्यक्ति दो रुपये का रिस्क उठा कर नये लेखक की एक प्रति खरीद कर प्रकाशक को प्रोत्साहित नहीं करता, वह किस मुँह से प्रकाशक से कह सकता है कि वह दो हजार रुपयों का रिस्क उठा कर नये लेखक की पुस्तक प्रकाशित करके उसे प्रोत्साहन दे।

इसका आशय यह भी नहीं कि उस एक व्यक्ति के पुस्तक न खरीदने से नये लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित होनी बन्द हो जाएँगी। पुस्तक तो स्वयं उसकी भी छप ही जाएगी। और, सम्भावना यह भी है कि वह स्वयं एक दिन प्रसिद्ध लेखक बन जाए। पर पहले कौन छापे? समस्या तो यही है। प्रसिद्ध हो जाएगा तो प्रकाशक का रत्ती भर अहसान नहीं मानेगा, बल्कि कहेगा कि उसके लेखन में दम था। ठीक है। लेखन में दम न हो तो प्रकाशन के बावजूद प्रसिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु, उस छुपे हुए 'दम' को पहली बार प्रकाश में कौन लाया?

नये लेखकों की पुस्तकों की मैंने कई जगह आलोचनाएँ पढ़ी हैं। लिखा रहता है—"लेखक का प्रथम प्रयास है, परन्तु आपसे बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं।" पर, कहीं भी मैंने यह नहीं देखा कि किसी ने यह लिखा हो—"हम प्रकाशक के अनुग्रहीत हैं, जिसने हमें ऐसी प्रतिभा से परिचित कराया।"

यह तो ठीक है कि प्रकाशन एक व्यवसाय है; किन्तु व्यवसाय के साथ उसने रिस्क उठा कर एक शुभ-कार्य किया है, उसका क्या कुछ भी श्रेय उसे नहीं मिलना चाहिए?

पर, छोड़िये! यह एक बड़ी ही साधारण बात है।

आप देखेंगे कि केवल नये लेखक ही प्रसिद्ध लेखक की रचना नहीं माँगते, बल्कि इस व्यवसाय से सम्बन्धित सभी लोग—लायब्रेरियाँ, पुस्तक-विक्रेता तथा साधारण पाठक तक—सभी, पुस्तक के टाइटिल को देखने के बाद लेखक का नाम खोजते हैं।

लायब्रेरियों के खरीदने के अन्दाज को निकट से देखने वाले व्यक्ति जानते होंगे कि वहाँ की प्रमुख माँग क्या है? आप कहिए—"प्रेमचन्द, प्रसाद, गुप्त, अश्क, दत्तभारती, यशपाल!" वे कहेंगे—"ठीक है, रख दो!" नये लेखक का नाम लीजिए तो सुनने को मिलेगा—"यह भी ठीक है। जब बजट में गुंजाइश होगी, तो इनमें से भी कुछ छाँट लेंगे!"

इन सबको देख कर यदि प्रकाशक नये लेखक की रचना प्रकाशित करते समय हिचकिचाता है तो उसका क्या दोष! दोष तो जनता की रुचि का है। जब जनता नये लेखक की रचना को कबूल नहीं करती, तो प्रकाशक किस भरोसे पर अपना रुपया कुएँ में डाले!

किन्तु, नए लेखकों को इससे क्या? उनके मन में तो एक ही बात समाई रहती है कि प्रकाशक पाठक तक मेरी रचनाएँ पहुँचाने का माध्यम है। वह पहले अपना लाभ देखता है। मेरी अच्छी चीज की कद्र नहीं करता। नये लेखकों को स्वीकार नहीं करता और प्रसिद्ध लेखकों को न सिर्फ सहन करता है बल्कि उनके सामने नाक तक रगड़ता है। शिक्षण-संस्थाओं के अधिकारी-गण की पुस्तकें बिना पढ़े छाप देता है।

वह भूल जाता है कि प्रकाशन एक व्यवसाय है। प्रकाशक पाँच सौ लगाता है तो आठ सौ बनाने के लिए। वह प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकें प्राप्त करने में परिश्रम करता है (जिसे दिल-जले नाक रगड़ना कहते हैं), तो अपने विक्रय का परिश्रम बचाने के लिए। वह जानता है कि नये लेखक की रचना का, दो सौ शब्दों का विज्ञापन देकर भी वह पाठकों को अपनी ओर उतना आकर्षित नहीं कर सकता जितना कि प्रसिद्ध लेखक का दो शब्दों का केवल नाम बताकर। इस बात को यों कहिए कि अच्छे आर्टिस्ट का बढ़िया डिजाइन फीका पड़ जाता है और साधारण टाइटिल की प्रसिद्ध लेखक की रचना बाजी मार ले जाती है। यानी, प्रकाशक का, साधारण पुस्तक पर किया गया, दुगना-तिगुना परिश्रम भी कई दफे व्यर्थ चला जाता है।

शिक्षण-संस्थानों के अधिकारीगण जो पुस्तकें लिखते हैं उन्हें बिना पढ़े छाप दिया जाता है या पढ़ कर—यह मैं नहीं जानता। हाँ, प्रकाशित किया ही जाता है।

देख[illegible] जाय तो उसमें प्रकाशक का दोष नहीं है। वह जान[illegible] कि ऐसे लेखक की रचना की, पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वी[illegible] किए जाने की, काफी सम्भावना होती है। यहाँ दोष उस व्यवस्था का समझा जाना चाहिए, जहाँ पुस्तक स्वीकृत करते समय पुस्तक की उपयोगिता के बजाय लेखक का रसूख चलता है।

एक बात और। यदि प्रकाशक किसी नये लेखक की रचना को स्वीकार कर लेता है तो आपको यह सुन कर विचित्र-सा लगेगा कि वह लेखक अपने मित्रों में जाकर कहता है कि उसने अमुक प्रकाशक को पटा लिया है। एक बार भी तो यह नहीं कहता कि मैं अमुक प्रकाशक का अनुग्रहीत हूँ, जिसने कि मेरे नये होने पर भी मुझे जनता में लाने का रिस्क लिया। लेखक के मन में ऐसी भावना क्यों? क्या प्रकाशक निपट मूर्ख है? न छापे तो इसलिए मूर्ख कि उसे पाण्डुलिपि समझने की परख नहीं, और छापे तो उसे कोई श्रेय ही न मिले! ऐसा क्यों?

एक प्रश्न और उठता है कि यदि सभी प्रकाशक नये लेखकों के नाम से घबड़ाने लगें, तो हम नए युग-प्रवर्तकों और युग-द्रष्टाओं से अपरिचित ही रह जाएँगे। मानसिक तथा बौद्धिक विकास रुक जाएगा।

पर, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो हम आज के प्रसिद्ध लेखकों में से किसी का नाम न जानते होते। ऐसे बहुत-से प्रकाशक हैं जो प्रसिद्ध लेखकों के साथ नये लेखकों को भी प्रकाशित करते हैं। किन्तु, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। उसका कारण यह है कि प्रकाशकगण चार प्रसिद्ध लेखकों के पीछे एक नये लेखक की पुस्तक छापते हैं, जबकि नए लेखकों की संख्या पुराने लेखकों से अधिक है। इसलिए बहुतों को निराश होना पड़ता है। नये लेखकों को पारिश्रमिक भी कम मिलता है। कारण वही—विक्रय का परिश्रम और रुपया देर तक फँसे रहने की सम्भावना अधिक!

आज जो लेखक ख्यातिप्राप्त हैं, ये शुरू में जब छपने लगे थे, तो इनके साथ और भी कई लेखक मार्केट में आए थे। जिनके लेखन में दम था, या जो पाठकों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए, उन्हें हम जान गए और शेष को भूल गए। यह क्षेत्र ही ऐसा है, जहाँ छपने के बाद भी सौ में से दस सफल होते हैं। शेष नब्बे के प्रकाशक, आज भी अपना पुराना स्टाक देख

कर अपने भाग्य को कोस रहे होंगे। तो क्या ऐसा कोई व्यक्ति है जो उनसे समवेदना प्रकट करने जाए ?

एक ही व्यक्ति दस पुस्तकें छापता है। जिनमें से दो या एक निकल पाती हैं। जिन पुस्तकों को दीमक चाट जाती है, वह उनकी हानि को भी चल-रही-पुस्तकों का नफा बढ़ाकर निकालता है। इसे आप अनुचित क्यों मानते हैं ? क्या ऐसा करना व्यवसाय का सिद्धान्त नहीं है ?

अंत में, मेरे दो निवेदन हैं :

प्रथम यह कि, जिस प्रकार, नये लेखक की रचना न छापने पर, प्रकाशक को निन्दनीय समझा जाता है, उसी प्रकार छापने पर उसे प्रशंसनीय भी समझा जाए।

दूसरा यह कि, किसी कला या कलाकार के मूल्यांकन का प्रथम और अंतिम अधिकार उपभोक्ता के हाथ में होता है। उपभोक्ता ही उनके भाग्य का निर्णय करता है। प्रकाशन-व्यवसाय का उपभोक्ता पाठक है। सफल न होने पर लोग यह नहीं सोचते कि उन्हीं में कहीं कोई दोष है। वे सारा दोष प्रकाशक के सर मढ़ने की चेष्टा करते हैं—वे लेखक भी, जो प्रोत्साहन को 'प्रुत्साहन' लिखते हैं।

अब ऐसी अवस्था में प्रकाशक करे भी तो क्या करे ?

फ्रैंकफर्ट (जर्मनी) के डाक्टर कूनर ने 'दवाओं पर अन्धविश्वास' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि मूर्च्छा से पीड़ित एक स्त्री को एक जादूगरनी ने दवा के रूप में जब हींग दी थी, तो उस जादूगरनी को बालन्सटाट नगर में जिन्दा जला दिया गया। कितने अन्धेर की बात है कि उसे जिन्दा जलाकर भी उसी के अनुकरणस्वरूप आज भी मूर्च्छा की वही दवा बरकरार है !



युद्धोत्तर जापानी साहित्य

श्री शिशुनाग

१८६८ ई० में, मेजी आन्दोलन के फलस्वरूप, जापान ढाई सौ वर्षों की एकान्तप्रियता के बाद, पश्चिमी प्रभावों की ओर अभिमुख होता है। जिस देश को अपनी परम्परा का बल नहीं होता, वह अधिक विकसित संस्कृति द्वारा आक्रान्त हो जाता है। किन्तु, जापान का अपना उन्नत और सुनिश्चित सांस्कृतिक जीवन है तथा इसका विगत इतिहास पर्याप्त गौरवपूर्ण रहा है। अतएव, पश्चिमी प्रभावों को आत्मसात कर भी इसकी राष्ट्रीय परम्परा खण्डित नहीं हुई है। आधुनिक जापान के सामने प्रेरणा के दो ध्रुवान्त हैं—प्राचीन इतिहास और पश्चिमी संस्कृति। वहाँ एक ओर परम्परा-प्रेम है तो दूसरी ओर नवीन विचारों के प्रति अबाध आकर्षण। भारतवर्ष की तरह जापान के लेखकों के सामने अतीत से पूर्ण विच्छेद द्वारा वर्तमान के एकान्तिक अंगीकरण की अपेक्षा स्वदेश और विदेश की परम्पराओं की एकत्र और समान-स्वीकृति की समस्या है। इसी द्वन्द्व के भीतर से आधुनिक जापान की बलशाली संस्कृति और साहित्य का जन्म हुआ है। पुराने लेखकों में, यह आधुनिक यंत्र-सभ्यता की अस्वीकृति और अतीत-पूजा के रूप में प्रकट हुआ है। उदाहरणार्थ, पुरानी पीढ़ी के लेखक जूनीचीरो तानीज़ाक के उपन्यास "कुछ लोग बिच्छूपौधा पसन्द करते हैं" में प्रायः यही स्थिति है। उसके निबन्ध "छायाओं की प्रशंसा में" यह प्रवृत्ति स्पष्टतः प्रतिफलित है। किन्तु, नयी पीढ़ी के लेखकों में न तो अतीत का जड़ मोह है और न वर्तमान की मूढ़ प्रशंसा। वे, दोनों परम्पराओं के सर्वोत्तम तत्वों के संयोग द्वारा, एक नवीन और सम्पूर्ण एशिया में स्पर्द्धा के योग्य साहित्य की रचना कर रहे हैं।

युद्धोत्तर जापान की स्थिति बहुत अनुकूल नहीं रही है। वह पराजय, मंदी, बेकारी, अमेरिकन नियंत्रण आदि अनेक स्थितियों से गुजरा है। वैसे, देश की मानसिक प्रतिक्रियाओं के ज्ञान का एक बड़ा साधन उसका साहित्य है।

साहित्य के समस्त रूपों में अपनी स्वभावगत नमनीयता के कारण, उपन्यास जापान में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। वहाँ उपन्यास के पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है। पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकार समसामयिक जीवन के प्रति उदासीन वैसे लेखक हैं जो मनोविश्लेषण में ही अपनी समस्त शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ का प्रकृतवादी सम्प्रदाय, जिसका विकास 'शी-शोसेत्सु'-परम्परा में हुआ है, उनका प्रेरणा-स्रोत है। इसका प्रारम्भिक रूप ऐसी आत्मस्वीकृति-मूलक रचनाओं में मिलता है, जिनमें लेखक अपने अनुभवों का ईमानदारी से वर्णन करता है, क्योंकि इसके पीछे यह विश्वास काम करता रहा है कि वही साहित्य सच्चा और ईमानदार है, जो साहित्यकार की निजी अनुभूतियों पर आधारित है। 'शी-शोसेत्सु'-परम्परा के उदाहरण हैं कजूओ ओज़ाकी और यसूको हारादा की रचनाएँ। यसूको हारादा के उपन्यास 'बान का' (मृत्युगीत) में, लेखिका के प्रारम्भिक प्रेम-व्यापारों का दीर्घ विवरण है। इसे १९५६ ई० का योमीयूर पुरस्कार मिला है। यह परम्परा जीद, प्रूस्त आदि लेखकों के प्रभावों द्वारा मानवीय सम्बन्धों और वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण के रूप में विकसित होती रही है। यसूनारी कावाबाता और जूनीचीरो तानीज़ाकी इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। इसके एक और लोकप्रिय लेखक हैं—इतो साइ, जिनके उपन्यास 'ही नो तोरे' (अग्निपक्षी) पर ज्वायस के 'यूलिसिस' का बड़ा गहरा प्रभाव है।

उपन्यास-लेखकों का दूसरा वर्ग सर्वहारावादी या प्रगतिवादी है। यह साम्यवाद को समस्त सामाजिक समस्याओं का एकमात्र हल मानता है और मजदूरों के जीवन का चित्रण करता है। इसका एक प्रसिद्ध पूर्ववर्ती उदाहरण 'कानी कोसेन' (कैनरी नाव) है, जिसके लेखक हैं ताकीजी कोबायाशी। इसमें बहती हुई कैनरी नावों के ऊपर काम करने वाले मजदूरों का वर्णन है। पराजय के बाद जापान में साम्यवाद की लहर और भी शक्ति के साथ फैली है।

जापान के वामपक्षी लेखक बड़े संगठित हैं। इनके दो दल हैं—"शिन् निहोन बुंगकू काइ" (जापानी साहित्य का नया सम्प्रदाय) और "जिम्मिन बुंगकू" (जन साहित्य सम्प्रदाय)। दोनों दल प्राचीन साहित्य की निन्दा में

एकमत हैं, किन्तु जहाँ पहला, साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को घनिष्ठ करने पर बल देता है, वहाँ दूसरा विशुद्ध रूप से साम्यवादी-प्रचारवादी है। पहले दल के नेता एक अत्यंत प्रतिभाशाली लेखक हिरोशी नोमा हैं। नोमा मार्क्सवाद की ओर उन्मुख होकर भी समग्र रूप से इसकी सीमा में नहीं बँध पाते। इनका सर्वप्रसिद्ध उपन्यास "शिन्कू चिताइ" (वायुहीन क्षेत्र) एक बुद्धिजीवी के सैनिक जीवन का विवरण है जिसमें कट्टर सैनिकवाद की तीव्र भर्त्सना है। जापान के प्रगतिवादी लेखकों ने बार-बार यह अनुभव किया है कि वे जिस सर्वहारा वर्ग के विषय में लिखते हैं, उसके जीवन से उनका परिचय बहुत सीमित है। उन्होंने इस त्रुटि को दूर करने की एक अभिनव चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में जूनजी कीनोशीता का नाम उल्लेख्य है, यद्यपि ये उपन्यासकार न होकर नाटककार हैं। ये किसानों, गृहिणियों और कारखाने के मजदूरों के बीच जाकर उन्हें स्वयं अपने जीवन के विषय में लिखने को प्रेरित करते हैं। ये उनके द्वारा अपने वैयक्तिक-पारिवारिक जीवन-सम्बन्धी लेखन और गोष्ठियों में आयोजित विचार-विनिमय को संकलित कर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते हैं। कपड़ा मिल के मजदूरों द्वारा प्राप्त ऐसी ही सामग्री के आधार पर इन्होंने "बोसेकी नो शीकी" (कपड़ा मिल के चार मौसम) नामक रेडियो रूपक लिखा। इसी प्रकार कज़ूको त्सुरूमी ने गृहिणियों और आफिस तथा फैक्ट्रियों में काम करनेवाली महिलाओं के अनेक ऐसे संगठन तैयार किये हैं जो अपने जीवन-सम्बन्धी रेखाचित्र "एम्पित्सू ओ निगीरू शूफू" (गृहिणियों की लेखनी से) के नाम से प्रकाशित करते हैं।

जापानी लेखकों ने लेखक और जनता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की एक और अभिनव चेष्टा की है। उन्होंने आधुनिक जीवन को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देने की सम्भावनाओं से युक्त लोककथाओं का उपयोग किया है। लोक-साहित्य किसी भी राष्ट्र की सामूहिक विरासत होता है। वह वर्गहीन होने के साथ काव्यात्मक प्रतीकों की दृष्टि से भी समृद्ध होता है। कीनोशीता का नाटक "यूसूरू" (सारस की गोधूलि) एक लोककथा पर आधारित है जिसमें एक ऐसे जीव का वर्णन है जिसका आधा भाग सारस और आधा भाग औरत है। उनका एक और नाटक "कावाज़ू शोतेन" (मेंढक का स्वर्गारोहण) एक पशु-कथा है जिसमें उग्रपंथी राजनीति के समर्थकों और युद्धवादियों पर कठोर व्यंग्य है। इस दिशा में अकूतागावा-पुरस्कार-प्राप्त "नारायामा बूशीको" (नारा पर्वत के गीत पर चिंतन) एक और रोचक प्रयत्न है। यह एक स्थानीय प्राचीन और बर्बर प्रथा पर आधारित है जिसके अनुसार परिवार के लिये भार बन गये बूढ़ों को लोग नारा पर्वत पर मरने के लिये छोड़ आते थे।

नये लेखकों का एक और प्रगतिशील दल है—'आधुनिक लेखन-सम्प्रदाय' (किंगदाइ बुंगकू हा)। इसे उदार मानववादी कहा जा सकता है। इसके प्रसिद्ध लेखक योशी होत्ता हैं जो चीन पर जापानी आक्रमण की अवधि में एक सैनिक थे और जिन्होंने चीन के प्रति जापानियों की बर्बरता का इतिहास लिखा है। इनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास "हीरोबा नो कोडूकू" में कोरिया की लड़ाई में दक्षिण-पंथी अमरीकी और वाम-पंथी साम्यवादी, दोनों से पृथकता का अनुभव करनेवाले एक

जापानी पत्रकार का वर्णन है। इसी विषय पर रिंज़ो शाइनो द्वारा लिखित "ग्राकाइ कोडोकुशा" (साम्यवादी, किन्तु अकेला मनुष्य) में निर्धन परिवार के एक नवयुवक की कथा है जो फैक्ट्री के मालिकों द्वारा अपनी माता को दिये गये पीड़नों का बदला लेने के लिये साम्यवाद की ओर उन्मुख होता है और उनके द्वारा घायल होकर मर जाता है, किन्तु अन्त तक साम्यवादी दल में सम्मिलित नहीं हो पाता।

जापान के बुद्धिजीवियों में युद्धवादी मनोवृत्ति के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया है। युद्ध पर आक्रमण करनेवाले उपन्यासों में शोहाइ ओओका की रचना प्रसिद्ध है जिसका अनुवाद "फायर्स ऑन द प्लेन" के नाम से अँगरेजी में प्रकाशित है। मसूजी ईबूसे नामक लेखक ने "दूर-पूजी सेनानायक" में एक कट्टर युद्धवादी लेफ्टिनेन्ट का चित्रण किया है जो युद्ध में पागल हो जाता है और युद्ध की समाप्ति के बाद भी यह विश्वास नहीं कर पाता कि यद्ध वस्तुतः समाप्त हो गया है। युद्धोत्तर जापान की परीशानियाँ जीरो ओसारागी के उपन्यास में चित्रित हैं [illegible] अनुवाद "होम कमिंग" के नाम से अँगरेजी में हो [illegible]। युद्धोत्तर जापान में प्राचीन जीवन-पद्धति के क्रमिक विघटन की कथा "इयागारासे नो नेनरेइ" (घृणास्पद युग) में बड़ी निर्ममता के साथ कही गयी है। इसमें वृद्धों के प्रति जापानियों की भक्ति पर आक्रमण किया गया है।

पराजय और अमरीकी अधिकार ने जापान की परम्परागत संस्कृति और जीवनमूल्यों पर गहरा आघात किया है। नयी पीढ़ी के लेखकों में जो संदेहशीलता, विद्रोह और प्रतिकार की भावना मिलती है, उसका यही मूल है। जैसा कि स्वाभाविक है, इन दिनों सात्र का अस्तित्ववाद जापान में बहुत लोकप्रिय हो उठा है। सामन्तवर्ग का एक सदस्य दाज़ाइ ओसामू, जिसने १९४८ ई० में आत्महत्या कर ली थी, समकालीन साहित्य में निराशा और संदेह के स्वर का प्रारम्भकर्त्ता है। उसकी प्रसिद्ध कहानियाँ "विलन नो त्सूमा" (विलन की पत्नी) और "शायो" (अस्तप्राय सूर्य) में तीव्र आस्थाहीनता और भोगवाद है। इङ्गलैंड में "शीयोसाइ" (तरंग-ध्वनि) के लेखक के रूप में प्रसिद्ध यूकियो मिशीमा ने यौन-उच्छृंखलता और नग्नता के प्रति "कामेन नो कोकूहाकू" (मुखड़े की आत्मस्वीकृतियाँ) और "किंजिकी" (वर्जित लालसा) में अपनी रुचि का स्पष्ट प्रदर्शन किया है।

किन्तु यूकियो मिशीमा यौन-नग्नता का ही लेखक नहीं है। १९५७ की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में परिगणित, "किंककूजी" में उसने एक बौद्ध-पुरोहित के पुत्र में पारिवारिक वातावरणजन्य कुंठाओं और वर्जनाओं का अध्ययन किया है। यह व्यक्ति क्योटो के प्रसिद्ध बौद्ध मंदिर किंककूजी (स्वर्ण मंडप) को जलाकर अपनी वर्जनाओं से मुक्त हो जाता है। किंककूजी, जो युद्धोपरान्त एक अग्निकाण्ड में वस्तुतः नष्ट हो गया, उसके पिता के विश्वास का प्रतीक बन जाता है। किन्तु नये लेखकों में सर्वप्रसिद्ध हस्ताक्षर शिन्तारो इशीहारा का है, जिसने अपने जीवन का तृतीय दशाब्द भी पार नहीं किया है। इसका उपन्यास "तैयो नो कासेत्सु" (सूर्य का मौसम) सर्वाधिक क्रीत पुस्तकों में है। वासना से प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है—यही इसका प्रतिपाद्य है। यौन-उच्छृंखलता और नग्नता के चित्रों द्वारा समाज-सुधार (!) का दावा करनेवाला यह उपन्यास किशोरों के बीच बड़ा लोकप्रिय है और एक नये सम्प्रदाय का जन्मदाता है जो "सूर्य-दल" के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु शिन्तारो सनसनीखेज और उत्तेजनापूर्ण कृतियों का लेखक मात्र नहीं है। यह भाषा पर असाधारण अधिकार रखनेवाला व्यक्ति है।

कीनोशीता के अतिरिक्त, नाटकों को दैनन्दिन जीवन के समीप लाने की चेष्टा बहुत सफल नहीं हुई है। फूकूडा ने इस दिशा में कुछ उल्लेख्य प्रयत्न किये हैं। प्राचीन काबूकी नाटकों के आधुनिकीकरण के कुछ रोचक प्रयत्न हुए हैं।

जापानियों ने मेजी आन्दोलन के युग से ही यूरोपीय भाषाओं से पर्याप्त अनुवाद किया है। यह कार्य अबतक श्रम और मनोयोग से सम्पन्न होता रहा है। आधुनिक कवियों और लेखकों में इलियट, ज्वायस, लौरेन्स, हेमिंग्वे, सात्र, अरागों, मायकोवस्की, शोलोकोव आदि पर्याप्त लोकप्रिय हैं। जुंज़ाबूरो नीशीवाकी ने इलियट के "द वेस्ट लैण्ड" का बड़ा सफल अनुवाद किया है। इस अनुवाद ने जापानी कवियों के "अरेची" (वेस्टलैण्ड-दल) को जन्म दिया है। इस दल के नीशीवाकी-जैसे कवियों में, स्थान-स्थान पर व्यंग्य और यथार्थवाद द्वारा काव्य के निराशावादी वातावरण की एकरसता भंग कर उसे घनीभूत करने का, कौशल मिलता है। किन्तु जब कभी भी जापानी कवि विदेश के अनुकरण से ऊपर उठकर स्वदेशी पद्धति पर, नवीन प्रभावों को आत्मसात कर,

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, तब वह स्पर्द्धायोग्य ऊँचाई को प्राप्त करता है ; जैसे, फूयूहीको कीतागावा के इस 'हाइकू' में :—

"खेतों में काली धरती को कोड़ रहा हूँ
गेहूँ के अंकुर हरिया कर बढ़ते जाते
—तुम धरती का कर सकते विश्वास !"

किन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक जापानी का सर्वाधिक शक्तिशाली समुदाय साम्यवादी कवियों का है। प्रायः प्रचारवादी कविता का स्तर बहुत ऊँचा नहीं होता, किन्तु साम्यवादियों में शीगेहारू नाकानो-जैसे कवियों की रचनाएँ आवेग और शिल्प, दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं।



भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने जो विशेषज्ञ समिति इंजीनियरी की हिन्दी परिभाषावली बनाने को नियत की है, उसने भवन-निर्माण (Building Construction) संबंधी शब्दों की भी सूची तैयार कर ली है। इसमें २००० से भी अधिक शब्द हैं। यह उक्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशन संख्या ३८५ के अंतर्गत प्रकाशित हुई है। इससे पहले 'इमारती सामान' नामक सूची छपी थी।



छपाई, बँधाई और प्रच्छद



श्री धीरेन्द्रनाथ मित्र

किसी पुस्तक की सबसे अन्तिम परिचायिका तीन ही बातें होती हैं—छपाई, बँधाई और प्रच्छद। समालोचकगण सारी समालोचना के बाद इन्हीं तीनों बातों की चर्चा करते हैं। यद्यपि इस चर्चा में उन्हें कहने को कम स्थान और कम मन्तव्य ही मिलता है।

फिर भी, पुस्तकों के बाजार में इनका गुरुत्व कुछ कम नहीं है। जिस प्रकार, 'अच्छी पुस्तक' का अर्थ होता है किसी सुलेखक की लिखी हुई चीज; ठीक उसी प्रकार, उसका अर्थ आकर्षणपूर्ण छपाई, मजबूत बँधाई और सबसे अधिक आवश्यक अभिनव प्रच्छद-पट भी होता है। उक्त तीनों चीजों में, अन्तिम चीज, प्रच्छद पर ही हमारे प्रकाशकों का अधिक पक्षपात होता है। छपाई अगर कुछ खराब गई हो तो उसमें उतना दोष नहीं, बँधाई की बात तो बहुत आगे चलकर देखी जाती है, किन्तु प्रच्छद खराब होने का अर्थ तो तत्काल हानि ही है। इनके विचार से, पुस्तकों के द्वारा पाठकों के मन को पकड़ने से पहले, उनकी आँखों को पकड़ना अतिप्राथमिक है। लेखन की ओर से उदास पुस्तक को भी, प्रच्छद के जोर पर, पार लगा देने का उन लोगों को भरोसा होता है। एक ही लेखक की, एक ही पुस्तक, केवल दो प्रच्छदों के हेर-फेर के कारण, तेज और मन्द, इन दो प्रकारों से बिक जाती है—हमारे प्रकाशकों के पास इस प्रकार के नजीरों की भी कोई कमी नहीं है।

और, केवल प्रकाशकों की ही बात क्या कही जाय, प्रच्छद के संबंध में लेखकों का भी आग्रह तो कोई कम नहीं है। जिस प्रच्छद को वे पसन्द नहीं करते हैं; जिस प्रच्छद से उनकी पुस्तक का कोई विषयगत मेल नहीं है; प्रकाशक की वाणिज्य-वृद्धि के रोब में आकर उस प्रच्छद को भी उन्हें मंजूर करना पड़ता है। इस जमाने के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक भी, शायद, मलाट का प्रच्छद और उस पर सिर्फ अपना और अपनी पुस्तक का छपा हुआ नाम देकर, उसे बाजार में छोड़ने का साहस नहीं कर सकेंगे।

पिछले जमाने की बात है। जरा बंकिम-शरत्-ग्रन्थावली के युग की बात सोचिए। उस जमाने में पुस्तकों पर प्रच्छद-पट-जैसी कोई बलाय नहीं थी। पुस्तकें केवल लेखन के जोर पर ही चलती थीं। पुस्तकों को, अपने पाठक खोजकर ऊपर करने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। पाठक ही उन्हें खोज लिया करते थे। इसके बाद, क्रमशः पाठकों की संख्या बढ़ी और साथ-साथ, प्रकाशकों की भी संख्या बढ़ी। अवश्य, ये पाठक, जितने गल्प-उपन्यास के बढ़े, उतने अन्य विषयों के नहीं। फलस्वरूप, गल्प-उपन्यास के पाठकों के ऊपर ही प्रकाशकों की दृष्टि पड़ी। उन्होंने पुस्तकों की आकृति बदली। पुस्तकों के प्रच्छद चित्रित किए। पहले के युग में कमर्शियल आर्टिस्टों को वैसी आमदनी नहीं थी। एक ही तरह का चित्र, अनेक पुस्तकों के प्रच्छदों पर, काम देता था। उनकी, उस जमाने की, प्रच्छद-छवि आज भी आपके मन में आ सकती है—एक स्टेशन का चित्र, एक टीन से छाए बरामदे में कोई परेशान युवती और उसके पास ही टिमटिमाता हुआ गली का एक धूमिल लैम्प-पोस्ट। उस पुस्तक में, कुल कहानी पढ़ने पर, आपने पाया कि कहानी से इस चित्र का एक मेल है। कहानी का विषय था, कोई वंचनाग्रस्त लड़की। अथवा, आप उस जमाने के किसी उपन्यास के इस प्रच्छद-चित्र की कल्पना करें—एक पक्षी, उसके सामने एक खुला हुआ पिंजरा और उसके चौगिर्द छाई हुई उजियाली। यह चित्र भी कोई निरर्थक नहीं है। क्योंकि, कहानी की नायिका की बन्धन-मुक्ति के प्रयास को ही, प्रच्छद पर प्रतीक के तौर पर, समझाने की चेष्टा हुई है।

अवश्य, उस जमाने के प्रच्छदों का भी उद्देश्य विज्ञापन ही था। विज्ञापन की भाषा का जोर कम था। उसे चित्र देकर समझा देने की चेष्टा होती। निराशावादी वातावरण को कार करने में कोई बाधा नहीं है। करने का, कौशल मिलन-नयन-विमोहन के लिए ही नहीं चित्रित किए जाते थे।

ऐसे उपन्यास-गल्पादिकों के आस-पास, कागज के सीधे मलाटों के जिल्दोंवाली "सती-सुहागिनी"-मार्का फुटपाथी या मेलोंवाली पुस्तकें भी नहीं चलती थीं, सो बात नहीं; किन्तु आज की तरह एक ही हाट में एक साथ बिकने का साहस उनमें नहीं ही था।

प्रच्छद के ऊपर सबसे अधिक जोर पड़ा, गत युद्ध के समय। केवल प्रच्छद ही नहीं, गत युद्ध के समय हमने कुछ ऐसे भी प्रकाशक देखे; जो छपाई, बँधाई, ऊपर के फ्लैप— सभी के विषय में समानभाव से मनोयोगी थे। किन्तु वह ट्रेडिशन भी अधिक दिन नहीं चला। उन प्रकाशकों के बाद जो प्रकाशक आए, उन्होंने पहले की सभी बातों को पीछे ठेलकर, केवल अंतिम, ऊपर के फ्लैप की सज्जा को ही कस-कर पकड़ा। वे, ऐसी किसी पुस्तक के ऊपरी फ्लैप के लिये चित्रकार को पचहत्तर या सौ तक रुपये देने पर भी राजी हुए, डेढ़ सौ रुपये का उस चित्र का ब्लाक बनवाने में भी उन्हें ऐतराज नहीं हुआ, प्रत्येक रंग की छपाई के लिये आठ-दस रुपये मुद्रण-दक्षिणा देने पर भी तैयार हुए; किन्तु जिल्द-बँधाई के नाम पर, प्रति हजार प्रति पर, पचीस-तीस रुपयें से अधिक दर पर जाना उन्हें मंजूर नहीं हुआ। सत्ताइस से बासठ रुपयों तक, छपाई-दर की तालिका में, उनकी नजर निम्नतम पर ही रही।

यद्यपि वे अनायास ही प्रच्छद का खर्च कम कर छपाई और जिल्दबंदी की ओर मनोयोग दे सकते हैं और प्रूफ-रीडर के मूल्य को भी कुछ और अधिक समझ सकते हैं। क्योंकि, वैसा होने पर, पुस्तक पढ़ते समय, टूटे हुए टाइपों की समझ में न पड़ने वाली छपाई और प्रूफ-अशुद्धि की भूलों से हरदम तंग होने का पाठकों का भय कुछ कम होगा और प्रतिदिन टूटे हुए पुट्ठों और खुल जाने वाले मलाटों वाली जिल्दबन्दी का भद्दा रूप भी नहीं देखना पड़ेगा।

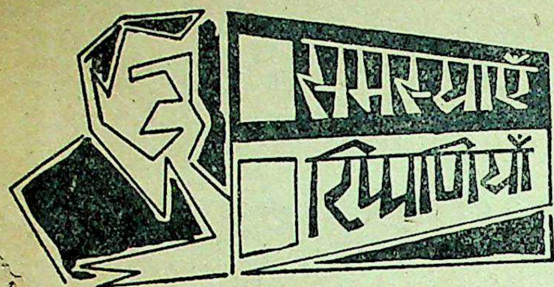
मात्र प्रच्छद के द्वारा पाठकों को आकर्षित करने का फन्दा जो नहीं बनाया करते हैं, ऐसे प्रकाशक एकदम नहीं है, मैं यह [illegible] उनकी संख्या ही कितनी है? और, उनके बीच भी क्या कोई-कोई अपना रुख इधर-उधर बदलने की चेष्टा नहीं करते हैं?

प्रकाशकगण विदेशी पुस्तकों का उदाहरण रखेंगे। उनके प्रच्छद उक्त चकमकाहट भरे नहीं होते हैं, वह बात नहीं किन्तु, उन पुस्तकों की एक अलग जाति होती है, एक [illegible] बाजार होता है। माडर्न लाइब्रेरी या वर्ल्ड्स-क्लासिक [illegible] पुस्तकों के लिए वैसी चकमकाहट की कोई आवश्यकत[illegible] होती। पेलिकन-पेंगुइन-सिरीज की पुस्तकें भी प्रच[illegible] होती हैं। जिन पाकेट-बुक-एडिशनों के प्रच्छद वैसे सचि[illegible] हैं, वे किसी दिन माडर्न-लाइब्रेरी की पुस्तकों की [illegible] तक का साहस नहीं कर सकते।

पुस्तकों के बाजार से प्रच्छद-सज्जा को निर्वा[illegible] दिया जाय, और हम फिर से उसी सीधे-सादे [illegible] प्रच्छदों की ओर लौट चलें—ऐसा अन्याय मैं न[illegible]-विज्ञान चाहूँगा। पुस्तकों का अलंकरण और अंगसज्जा तो र[illegible]हा है। सुन्दर पुस्तक का सुन्दर प्रच्छद, सूक्ष्मतम सज्जा-शिल[illegible] अपनी पुस्तकों के लेखन-विषय के अतिरिक्त, हमारा ऊप[illegible] ठीक है ही। किन्तु, यह ऊपरी लाभ ही यदि पुस्तक [illegible] विषय से इतना ऊपर उठ आवे कि वह लेखन-विषय [illegible] बैठे, तब तो अफसोस करने की ही बात हो [illegible] कि प्रकाशकगण व्यवसाय की दुहाई देंगे। व्यवसाय के [illegible] 'डिमांड एन्ड सप्लाई' से बड़ी कोई शर्त नहीं है। पाठ[illegible] नहीं जो चाहते हैं और जिसको पाकर प्रसन्न हो सकते हैं, प्रका[illegible] गण उन्हें वही दिए जा रहे हैं। किन्तु, पुस्तक का व्य[illegible] और कोयले की तिजारत तो एक चीज नहीं है। पाठक चाहते हैं, सिर्फ इतनी ही बात नहीं है, बल्कि पाठकों की [illegible] का दायित्व भी तो कुछ-न-कुछ पुस्तकों के लेखकों [illegible] प्रकाशकों पर पड़ता है! ये लेखक और प्रकाशक किस कोटि के पाठकों पर अधिक विश्वास करेंगे, यह भी तो प्रश्न है! वे किनपर अधिक विश्वास करेंगे; हठात् पढ़े हुए शिक्षित-प्राय पाठकों पर, या यथार्थरूप में रसिक पाठकों पर, जो कि आगामी पाठकों के कान में सुरुचि का मन्त्र दे जाते हैं?

हमारे प्रकाशकों के लिए, लगता है कि, इस सवाल पर स्थिर होकर विचार करने का समय आ गया है।





जो केरल में हुआ : कहाँ नहीं हो रहा है ?



केरल की भूतपूर्व कम्युनिस्ट सरकार पर कांग्रेस तथा विरोधी पक्षों द्वारा एक गम्भीर आरोप यह लगाया गया विद्यार्थियों में वामपन्थी दृष्टिकोण पैदा करने के लिए नुकूल पाठ्य-पुस्तकों का प्रचार किया, तथा राज्य के यों को वामपन्थी पुस्तकालयाध्यक्षों से भर दिया, कि अनुकूल पुस्तकों के संग्रह में साधन सिद्ध हो सकें। में डुग्गी और ढोल पीटकर यह नारा बुलन्द किया सर्वसाधारण में साम्यवाद के प्रति सहानुभूति जगाने उन पर वामपन्थी साहित्य ठूँसने की यह कुचाल के लिए घातक होने जा रही है। केरल दिल्ली से दूर क्या-कुछ हुआ जिसके बारे में कि कांग्रेस के मंच से देश-भर में गुहार-पुकार मचाई गई, हमें मालूम हमें उसकी निजी जानकारी अवश्य है जोकि कांग्रेस सित उत्तर के राज्यों में, तथा केन्द्र में, पिछले अनेक बराबर हो रहा है।

१९४७ के बाद पुस्तकालय-आन्दोलन पर बहुत और बल दिया गया है; सार्वजनिक कोष से लाखों रुपयों पुस्तकें देश-भर के पुस्तकालयों के लिए खरीदी जा रही लेकिन कांग्रेस द्वारा शासित राज्यों में जो पुस्तकें खरीदी रही हैं उनका अधिकांश ऐसे साहित्य का है जो शासकों राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के अनुकूल पड़ता है। राज्यों में पुस्तकालय-कोष का कुल रुपया, अनेक बार, केवल ऐसे ही साहित्य की खरीद पर व्यय किया गया है जोकि परोक्षरूप से वर्तमान शासकीय नीति का समर्थन करता हो।

कहा जाता है कि आज हमें वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य की जरूरत है; अन्य विविध विषयों की पुस्तकों के अभाव की पूर्ति तेजी से होनी चाहिए। लेकिन, जब सार्वजनिक कोष से पुस्तकें खरीदने का प्रश्न आता है तो वैसा ही साहित्य खरीदा जाता है जिसे समर्थन देने के लिए केरल की भूतपूर्व सरकार पर लांछनों और आरोपों की झड़ी लगाई गई थी।

दिल्ली, अजमेर, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, इन सभी राज्यों ने लाखों रुपये कांग्रेस के अनुकूल, अनुरूप साहित्य को अपने पुस्तकालयों के लिए खरीदने के लिए खर्च किये हैं, और आज भी कर रहे हैं। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने ऐसे अनुकूल साहित्य को देश के अहिन्दी प्रान्तों के पुस्तकालयों में पहुँचाने के लिए लाखों रुपये इसी प्रकार खर्च किये हैं, और कर रहा है। इस साहित्य को खरीदने के लिए किसी नियम या पद्धति का पालन आवश्यक नहीं समझा जाता; प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं से पुस्तकों के नमूने नहीं माँगे जाते; सुविधाएँ और कमीशन की दरें नहीं पूछी जातीं। एक शासकीय आर्डर निकल जाता है, और आज के संक्रान्तिकाल में अन्य अत्यन्त उपयोगी साहित्य की नितान्त उपेक्षा करते हुए, अनुकूल साहित्य स्कूलों और कालेजों के पुस्तकालयों और सार्वजनिक पुस्तकालयों में भर दिया जाता है।

अँग्रेजों के जमाने में कुछ लफ्ज सिक्कों की तरह चलते थे और इन्हें आसानी से भुनाया जा सकता था, जैसे 'रॉयल' 'इम्पीरियल' आदि। आज इन्हें हटाकर 'गांधी' और 'सर्वोदय' जैसे शब्दों का प्रचलन पिछले १०-१२ वर्षों से हो गया है। किसी भी माल पर ये मार्कें लगाइये और इन्हें शासकीय ग्राहकों को बेच दीजिए! साहित्य के क्षेत्र में तो 'गांधी-साहित्य' और 'सर्वोदय-साहित्य' की सरकारी खरीदारी में अन्धेर की पूछ हो रही है। आज हमें किसी प्रकार के अन्य साहित्य की जरूरत भी हो सकती है—विज्ञान-साहित्य की, तकनीकी साहित्य की, शिल्प और उद्योगों से सम्बन्धित साहित्य की—ऐसा भ्रम केन्द्र एवं राज्यों के पुस्तकालयों के लिए भारी संख्या में पुस्तकें खरीदने वाले अधिकारियों को छू तक नहीं गया है।

(शेष पृष्ठ १६ पर)

सोवियत बाल-साहित्य
छोटा मुँह : बड़ी बात



श्री हितवादी

यदि चार वर्ष की कोई लड़की अत्यंत क्रोध में आकर अपनी माँ को गाली दे कि "यू आर ए वाल स्ट्रीट मदर", अथवा तीन वर्ष का कोई लड़का "ह्वाइट बियर" जैसा शब्द सुनते ही ताली बजाकर उछलते हुए कहने लगे कि "समझ गया, समझ गया, तुम निश्चय ही बुर्जुआ बियर की बात बोल रहे हो !" तो निश्चय ही आपलोगों को यह समझने में कोई असुविधा नहीं होगी कि ये बच्चे-बच्चियाँ किस खानदान से संबंधित हैं। अगर आप इन्हें खुद स्तालिन या ख्रुश्चेव के घर के बच्चे समझेंगे, तो यहाँ आपसे कुछ भूल होगी। बल्कि ये सारे रूस देश की ही सन्तान हैं। ये उस देश के समाजतन्त्र के शिशु हैं।

गत बयालिस वर्ष की परीक्षा-निरीक्षा से सोवियत समाजतन्त्र के शिशु, सचमुच ही, आज दुनिया के अन्यान्य देशों के शिशुओं से एक अलग ही आकार-प्रकार के हैं। यद्यपि वे आज भी, आइसक्रीम पाने की जिद में, कभी-कभी अपनी माँ का आँचल नहीं थामते हों; कभी-कभी अपने अपराध को अपने से छोटे भाई-बहनों पर गढ़ कर मढ़ देने की चेष्टा नहीं करते हों—यह बात नहीं; किन्तु इन दो-एक स्वभाव-प्रमाणों के आधार पर ही, उन्हें चिरकालानुवर्ती आदिम शिशुश्रेणी के अंतर्गत कर डालने से, एक अविचार करने का पाप ही होगा। क्योंकि, वे बच्चे, आज एक ऐसी भाषा में बातचीत करते हैं, जो दुनिया के अन्य किसी देश के शिशुओं के कोष में नहीं है।

अमेरिका में भी बिजली है, और उसका व्यापक व्यवहार है। किन्तु, कोई चार वर्ष का अमरीका-पुत्र क्लान्त होने पर, निश्चय ही यह नहीं कह सकता है कि "वह इतना परिश्रान्त है कि, मन में लगता है जैसे कि ट्रान्समीटर से निकलती हुई २२० भोल्ट वाली लाइन में १२० भोल्ट का बल्व लगा दिया गया हो !" किसी इलेक्ट्रिक कम्पनी के डायरेक्टर के पुत्र के मुँह से भी इस प्रकार को भाषा निकल सकेगी कि नहीं, यह संदेह का विषय ही है। किन्तु, वह उपर्युक्त, बिजली का व्यूह बोलनेवाला लड़का, एक साधारण साहित्यकार का ही बेटा है।

और, एक दूसरी जगह। एक साहित्यिक की पाँच वर्ष की नतनी अपने नाना से पूछ बैठती है : "अच्छा नाना, तुमलोग जब जनमे थे, उस समय भी क्या ईश्वर का अस्तित्व था ?"

अब कुछ विज्ञान-शिक्षा का फल सुनिये ! सोवियत भूमि में, अत्यंत छोटे बच्चों को भी, मोटे तौर पर यौन-विज्ञान की शिक्षा दे देना, जैसे एक कर्त्तव्य ही समझा जा रहा है। सुतरां, स्कूल से लौटते ही एक तीन साल की लड़की अपनी दादी से पूछ हो तो बैठी : "अच्छा दादी, क्या यह ठीक है कि अपने बचपन में तुम बन्दरिया थीं, और उसके ब[illegible]त ही प्रयास करने के कारण ही जब चेहरा बदला, तो [illegible]ब आदमी की तरह हो गई हो ?" यह स्वाभाविक ही था कि दादी बिगड़ गई और बोली : "हाय मुँहजली, मैं बन्दरिया क्यों होने लगी ?" किन्तु, उस लड़की ने अपना सुर नहीं छोड़ा। स्कूल में मास्टर ने जब खुद ही यह बात बता[illegible] तो वह झूठ कैसे होगी ? इसीसे वह सिद्धांत स्थिर कर बै[illegible] "तब तो दादी निश्चय ही बन्दरिया थी !"

स्कूल में पढ़नेवाला एक और लड़का दूसरे लड़[illegible] तर्क कर रहा है। दूसरा लड़का भी छोटा ही है। [illegible] की किसी क्रिया से उसके मस्तिष्क का कोई वास्ता नहीं[illegible]। वह कहता है : "जानते हो, मेरी माँ मास्को गई है। मेरे लिए वह एक छोटी-सी बहन खरीद लाएगी। देखना—मैं कहे दे रहा हूँ !" अपेक्षाकृत बड़ा लड़का गम्भीर होकर जबाब में बोला : "हत्, ऐसा भी कभी हो सकता है ? लड़के-लड़कियाँ तो खरीदकर लाये जाते हैं अमरीका में ! 'देयर दे कम आउट आफ दि ऊम्ब !" यह सुनते ही पहला लड़का बोल पड़ा : "हट, यह झूठ है। अमेरिका में बच्चे-बच्चियों को कौन बनाता है; जानते हो ? बनाता है बन्दर !"

और एक लड़का स्कूल से मनुष्य का जन्म-वृत्तान्त सुनकर लौट रहा था कि रास्ते में ही उसके मन में एक मजेदार बात आई, और उस बात को वह माँ से कहे बिना नहीं रह सका। माँ गाल पर हथेली रखकर सुनने लगी कि उसका बेटा आश्चर्यपूर्ण आह्लाद में हाथ-मुँह मटकाकर कह रहा है :

I remember now very well that it was like to live in your womb. I can even tell you as a secret, that there are other little boy there. One of them was so nice, and gave me such a nice tea, that I almost decided to stay with him instead of being born !

इन सब लड़के-लड़कियों के मत से स्वर्ग का अर्थ है—'फ्रूट स्वाद'। क्योंकि मम्मी ने कहा है कि स्वर्ग ऐसी जगह है कि वहाँ ढेर-ढेर नारंगी, केले और कितने ही फल मिलते हैं। और अमेरिका ? मास्टर साहब ने समझाया है कि : "देखो, हमारे अपने देश में दिन के समय आकाश में सूरज चमक रहा है, किन्तु अमरीका में इस समय अँधेरा है, वहाँ इस समय रात है।" यह बात सुनकर एक छह वर्ष का शिशु छात्र उस देश में आकर बेंच से उछलकर बोला : "सर्व देम राइट, फार बीइंग कैपिटलिस्ट !—है न सर ?"

सोवियत भूमि के बच्चे-बच्चियों के संबंध में उपर्युक्त बातें, पक्की और सही बातें ही हैं। क्योंकि, इन पाठ्यों के को जिन्होंने रचित-प्रकाशित किया है, वे रूस के श्रेष्ठतम और जनप्रिय शिशुसाहित्य-शिल्पी हैं। उनका नाम है कोर्नि चेकोवस्की। गत चालीस वर्षों से, नियमित रूप से, वे शिशुओं के लिये साहित्य-सृष्टि करते आ रहे हैं। और, उसी अभिज्ञता की भित्ति पर ही, उन्होंने वयस्कों के समझने की भी एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'दो से पाँच' (From Two to Five)

पुस्तक में जिस प्रकार रूसी बाल-बच्चों की मिजाज-मर्जी एवं अभ्यासों के क्रमपरिवर्त्तन का कौतूहलोद्दीपक विवरण है; उसी प्रकार उनके कारण और कारणों के प्रकाश में आलोचना भी है। एक बार चेकोवस्की बच्चों के अस्पताल में गये थे, बीमार बच्चे-बच्चियों को कहानी और चुटकुले सुनाकर उनका मनोरंजन करने। किन्तु, वहाँ उनकी राह रोककर रूस का समाजतन्त्र खड़ा हो गया। क्योंकि, उस अस्पताल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उनसे कहा—"यहाँ आपकी किस्सा-कहानी नहीं हो सकेगी, क्योंकि, Soviet children should live in a world of realities—not of fiction and fantasy !" और भी एकबार, एक ग्रीक उपकथा के अनुवाद के दायित्व से, इन 'जनप्रिय' लेखक को रोका गया था, क्योंकि उस उपकथा में कहीं बाघ और भालू जैसे प्राणियों के प्रति भी उदारता दिखाई गई थी, और सोवियत समाजतन्त्र के विचार से, प्राणियों के नाते, ये दोनों प्राणी ही 'एन्टी सोशल' हैं।

(पृष्ठ १४ का शेष)

हम कर्मी केरल में, कांग्रेस के कथनानुसार, जो कुछ होता था, वह 'कुछ' था, लेकिन कांग्रेस द्वारा शासित प्रदेशों में यदि वही कुछ होता है तो वह 'सवाब' है !

हम इस कुल प्रसंग पर एक सार्वजनिक छान-बीन की माँग करते हैं ताकि उपयोगी साहित्य की उपेक्षा को रोका जा सके और वर्तमान शासकों की इस प्रवृत्ति का निरोध हो सके कि वे सार्वजनिक कोष का प्रयोग अपने अनुकूल साहित्य के प्रचार में अबाध रूप से करते हैं।

—'प्रकाशन समाचार' दिसंबर १९५९

भारत के राष्ट्रीय पुरालेख विभाग ने फारसी के २००० से भी अधिक पत्रों का अंग्रेजी रूपान्तर गत मास प्रकाशित किया है। इन में १७९२-९३ के भारत का वर्णन मिलता है और लार्ड कार्नवालिस के प्रशासन पर प्रकाश पड़ता है। यह पत्र-व्यवहार मुगल-सम्राट शाह आलम द्वितीय, अन्य देशी राजाओं व अमीर-उमरावों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच हुआ था।

सन् '५६ के रोचक प्रकाशन

• जमींदार का बेटा

श्री दयानाथ झा का मिथिला के ग्रामीण जीवन पर आधारित सरस एवं रोचक उपन्यास। मू० ४·५०

• देवताओं के देश में

श्री बलभद्र ठाकुर का नवीनतम उपन्यास। कुल्लू-प्रदेश के जन-जीवन का सरस सजीव चित्रण। मू० ६·५०

• नेपाल की वो बेटी

श्री बलभद्र का नेपाल के जन-जीवन पर आधारित सरस उपन्यास। मू० ५·२०

• मुक्तावती

श्री बलभद्र ठाकुर का मणिपुर राज्य के जन-जीवन और जन-संघर्ष को चित्रित करनेवाला रोचक उपन्यास। मू० ८·००

• धरती की महक

श्री रामावतार चेतन का स्वतंत्र भारत के ग्रामीण जीवन पर आधारित मौलिक नाटक। मू० ३·००

• आज का आदमी

श्री उदयशंकर भट्ट के पाँच नवीनतम एकांकियों का संकलन। मू० २·५०

• नेताजी तथा अन्य एकांकी

डा० गोपीनाथ तिवारी के नौ श्रेष्ठ एकांकियों का संकलन। मू० २·००

श्रीमती शुभा वर्मा द्वारा लिखित अत्यन्त आकर्षक लोककथाएँ—

• इंग्लैंड की लोक-कथाएँ : मू० २·००

• अमेरिका की लोक-कथाएँ : मू० १·५०

हिन्दी-भवन
जालंधर • इलाहाबाद

कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

• शिल्पमाला

श्रीमती विद्याधरी जौहरी लिखित बुनाई सीखने की अनुपम पुस्तक। १३७ चित्रों सहित। मू० ६·००

• शिल्पमाला (दूसरा भाग)

श्रीमती विद्याधरी जौहरी की आकर्षक चित्रों के सा[थ] १०१ नई बुनाइयाँ सीखने की पुस्तक। मू० ४·[००]

• जेल में तीस बरस

श्री त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती का जेल में बिताये तीस [वर्षों] का संस्मरण। स्वाधीनता-संग्राम के सर्वस्वत्यागी सै[नि]कों की लोमहर्षक जीवन-झाँकी पुस्तक में यत्र-तत्र दे[ख]ने को मिलेगी। मू० ४·[०]०

• बदलते दृश्य

श्री राजवल्लभ ओझा का इंग्लैंड, इटली, स्विटजरलै[ंड] फ्रांस आदि देशों की यात्रा का सरस संस्मरण। मू० ६·००

• भारतीय कृष्टि का क ख

सभ्यता के उदय से आजतक की भारतीय संस्कृति का प्रामाणिक और रोचक इतिहास। कला-कृतियों के १०६ चित्रों सहित। भारतीय संस्कृति के इतिहास की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत। मू० ७·००

• भारतीय इतिहास की मीमांसा

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की नवीनतम कृति। भारतीय इतिहास के विकास, ह्रास और पुनरुत्थान का प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक पर्यालोचन। मू० १२·००

हिन्दी-भवन
जालंधर • इलाहाबाद



साधारण छात्र-पुस्तकालय : एक असाधारण योजना

श्री केशव सूबेदार

छात्र-पुस्तकालय के दो स्तर विदित ही हैं। एक तो कालेज स्तर, और दूसरा हाई स्कूल स्तर। इन दोनों स्तरों के अलावा, दो स्तर और हैं। जैसे; बाल और अनुसन्धानी। अन्तिम दोनों स्तर 'साधारण' के अन्तर्गत नहीं आते हैं, और 'साधारण' के अन्तर्गत आने के बावजूद कालेज स्तर के पुस्तकालयों के विषय में कुछ कहने का प्रयत्न मैं नहीं करूँगा। मुझे केवल हाइ स्कूल स्तर के पुस्तकालयों के विषय में ही दो-चार बातें कहनी हैं।

पहली बात तो यह है कि ऐसे पुस्तकालयों में कम-से-कम अस्सी प्रतिशत पुस्तकें ऐसी ही होनी चाहिएँ, जोकि छात्रों की पाठावलि के विभिन्न विषयों की पूरक हों। इससे अधिक योग्यता वाली पुस्तकें निरर्थक होंगी।

दूसरी बात, शेष में, कम-से-कम पन्द्रह प्रतिशत पुस्तकें जीवनी, भ्रमण और संस्मरण से संबंधित होनी चाहिएँ।

तीसरी बात, शेष पाँच प्रतिशत, पत्र-पत्रिकाओं की जिल्द होनी चाहिए।

यह तो नितान्त आवश्यक ही है कि विद्यालय में जिन-जिन भाषाओं की पढ़ाई हो रही हो, उनके अच्छे-से-अच्छे शब्दकोष और विश्व-कोषों को वहाँ होना चाहिये। और, इसे केवल ऊपर वाले उपयुक्त प्रतिशत में मानकर, अलग आलमारी में कैटलग में रखना चाहिए। जिस विद्यालय के अध्यापक, कम छात्रों में कोष के अध्ययन और अनुसरण की जितनी ही रुचि जगा सकते हैं, वे उतने ही सफल माने जा सकते हैं।

ये तो हुई कुछ सैद्धान्तिक बातें। अब इन्हीं बातों के आधार पर, हाइ स्कूल पुस्तकालयों में जो हो रहा है और जो होना चाहिए, उसे समझा जाय।

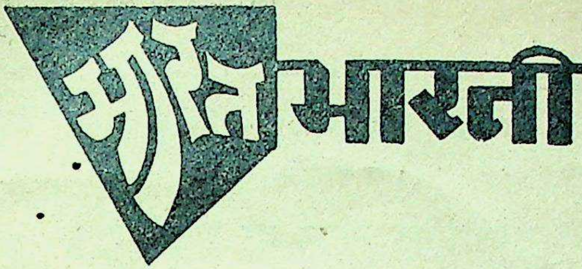
सबसे पहला दुर्भाग्य तो यह है कि हाइ स्कूल के लायक स्वतंत्र कृति और उन कृतियों का चुनाव अब तक नहीं हो सका है। मसलन, उन हाइ स्कूलों में, काव्य में 'चिन्ता एकायन' 'कामायनी' आदि; उपन्यास में 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' 'नदी के द्वीप' आदि; विविध में 'गीता प्रवचन' 'गीता रहस्य' आदि, कितने व्यर्थ हैं—यह कहना नहीं होगा। सरकार ने भी, पुस्तक खरीदने के लिए प्रकाशित सूची आदि के द्वारा, जो सुझाव दिये हैं, उनमें भी, इन किताबों को दर्ज करने की त्रुटि की गई हैं। हाँ, शायद किन्हीं विशेष अध्यापकों के लिए ये पुस्तकें काम की हों, मगर हाइ स्कूल पुस्तकालय के नाम पर मिली हुई साधारण-सी पूँजी को, छात्रों के हित के बजाय, उन अध्यापकों पर लगाना, जिन्हें कि नागरिक पुस्तकालय में दाखिल होना चाहिए, व्यर्थ की बात है। तब, यहाँ यह प्रश्न स्वतः पैदा होगा कि जब हाइ स्कूल के छात्रों के उपयोग-योग्य पुस्तकें बहुत कम ही हैं, और पुस्तकालय-मद की शेष पूँजी से यदि अध्यापक-योग्य-पुस्तकें न खरीदी जायँ, तो शेष पूँजी का हो क्या?

इस उपर्युक्त प्रश्न का एक उचित और उपयोगी उत्तर देकर मैं अपनी बात को समाप्त कर रहा हूँ।

मैंने भ्रमण, जीवनी और संस्मरण से संबंधित पाँच प्रतिशत पुस्तकों को रखने की सलाह दी है। भ्रमण भूगोल के निकट है और जीवनी समाज तथा इतिहास के। यदि पुस्तकालय में अपनी योग्यता के लायक पुस्तकों को ले लेने के बाद भी पैसे बचते हों, तो भूगोल से संबंधित नक्शे तथा चार्ट, भ्रमण से संबंधित देश-देश के चित्र, जीवनी से संबंधित व्यक्तियों तथा घटनाओं के चित्र-संकलन—इन चीजों में कितनी भी पूँजी लगाई जा सकती है। हाइ स्कूलों के पुस्तकालयों में, समाज तथा देश के ज्ञान देनेवाले इन अत्यावश्यक सामानों के बजाय, उच्चकोटि के उपन्यास, काव्य, नाटक आदि की भरमार, बड़ी ही दुःखप्रद बात है।

यहाँ एक रचनात्मक प्रश्न भी पैदा होता है। हम यह मानते ही हैं कि देशी भाषाओं में, खासकर हिन्दी में, हाइ स्कूल स्तर के काव्य-नाटक-उपन्यासादि ललित-साहित्य बहुत ही कम, या नहीं के बराबर हैं। किन्तु, इसमें कौन-सी अड़चन है कि विदेशी या दूसरी भाषाओं में, जो वैसे छात्रोपयोगी सामान हैं, उनका, छात्रों के सहायक-अध्ययन के नाम पर, देशी भाषाओं में अनुवाद हो! छात्रों के सहायक अध्ययन के योग्य देशी-

(शेष अगले पृष्ठ के नीचे)



बंगला सामयिक पत्र : एक नवयुग !

श्री संजय

आज का यह युग ही प्रधानतः सामयिक साहित्य का है, अर्थात् सामयिक पत्रों का भी युग। यहाँ तक कि हमारे छोटे-से बंग देश में भी। १८१८ साल में, अर्थात् आज से डेढ़ सौ साल पहले, बंग देश जबकि अपने रूप में सम्पन्न था, तब भी, उसके हाथ में थे केवल तीन मासिक पत्र। श्रीरामपुर मिश्नरी के 'दिग्दर्शन', 'समाचार दर्पण' और कलकत्ते के गंगाकिशोर भट्टाचार्य का 'बंगाल गजेटी'। पचास वर्ष बाद, १८५७ साल में जब गणना हुई, तो पता चला कि सामयिक पत्रों की संख्या-वृद्धि तो अवश्य हुई है, किन्तु वह भी दर्जन तक ही, अर्थात् तीन उँगली के पोरों की गणना तक ही।

और आज? बंगाल का भूगोल उस युग के विस्तार के मुकाबले यद्यपि बहुत छोटा हो गया है, किन्तु बंगला सामयिक पत्रों की परिस्थिति ठीक इसके विपरीत अनुपात में बढ़ी ही है। इस समय पश्चिम बंग में कितने सामयिक पत्र हैं, इसका सही-सही हिसाब, चीन देश की जनसंख्या का सही-सही हिसाब लगाने की ही तरह, एक कठिन कार्य है। सुना है कि उस देश में प्रति सेकेन्ड के हिसाब से एक नई प्रजा आविर्भूत होती है, एवं ३१ दिसम्बर को उत्पन्न हुए शिशु की उम्र पहली जनवरी के दिन हो जाती है—दो साल। हमारे सामयिक पत्रों के जगत में भी अधिकतर वैसी ही हालत है। यहाँ कब कौन जन्म ले रहा है और मर रहा है, इसका निर्भ्रान्त हिसाब रखना, लगता है कि, स्वयं चित्रगुप्त के लिए भी असाध्य है। अस्तु, चीन देश के विषय में, बाहर के लोग जो अंदाज लगा सकते हैं, प्रेस-रजिस्ट्रार के बही-खाते के विषय में, हम भी अनायास ही वैसा कर सकते हैं। अर्थात्, चाहने पर, जिस प्रकार उनकी संख्या को एक-आध सौ बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार उनकी उचित संख्या को घटा कर भी दिखा सकते हैं। चीन देश में दस से पचास लाख तक का घटाव-बढ़ाव ही प्रचलित विधि है।

जो हो, फिर भी, इस प्रकार से भी हिसाब करने पर, हम देखेंगे कि हमारे सामयिक पत्र के संसार पर जन्मदात्री भगवती माँ षष्ठी आज पूर्णरूप से प्रसन्न हैं। बंग देश के कट-छँट कर छोटे हो जाने के बावजूद, बंगला सामयिक पत्रों की संख्या को, पहले की तरह, उँगलियों पर गिन-गिनाकर कह देना, हमारे लिए पर्याप्त नहीं है। उनके शारदीय अंकों के बाजार में जाकर यदि देखा जाय तो उन्हें आँखों [illegible]कर गिनना भी कठिन हो जायगा। छोटे-बड़े-मँझले, [illegible]फुस्सिली, उल्लेखनीय-अनुल्लेखनीय—सबों को मिलाकर, बंगला सामयिक पत्र स्वयं में एक विराट संसार ही है। और, वह संसार विचित्र भी है।

यह सामयिक पत्रों का संसार, अवश्य ही, अपने स्वाभाविक नियमों की ही सृष्टि है। क्योंकि, गत एक सौ व[illegible] छापाखानाओं की भी वयः-वृद्धि हुई है, एवं शिक्षा के [illegible] और उसके आनुषंगिक कारणों ने, स्वभावतः और [illegible] सामयिक पत्रों के अनुकूल आबोहवा की सृष्टि की है। यह बात तो, केवल सामयिक पत्रों के साथ ही नहीं, [illegible]क

(गत पृष्ठ का शेष)

विदेशी इतर भाषाओं की पुस्तकों का चुनाव और उनके अनुवाद का कार्य तो हर राज्य के शिक्षा-मंत्रालय का पहला काम होना चाहिए।

यदि और भी आगे बढ़कर सोचा जाय तो, पाठ पढ़ाने या शुद्ध-शुद्ध उच्चारण सिखाने के लिए भाषा-भाष अर्थात् लिंग्वा-फोन भी इन पुस्तकालयों के लिये अत्यावश्यक है और पाठों की प्रायौगिकता दिखाने के लिये फिल्म और उसके प्रोजेक्टर भी।

फिर भी, मैं, अबतक के साधन और चिन्तनप्रणाली के अनुसार, केवल पुस्तकों वाले पुस्तकालय तक ही यदि बात करूँ, तो इन पुस्तकालयों से यह पूछना ही चाहूँगा कि क्या तुम्हारे यहाँ प्रेमचन्द-लिखित 'टालसटाय की कहानियाँ' हैं? और, यदि तुम्हारे यहाँ यह भी नहीं है, तो कम-से-कम कुछ भी नहीं है।

बंगला साहित्य की पुस्तकों के साथ भी प्रयोज्य है। किन्तु, आश्चर्य तो यह है कि गत एक सौ वर्षों में, गाणितिक हिसाब से बंगला-साहित्य-पुस्तकों के उत्पादन में जितनी बढ़ौतरी हुई है, उसकी तुलना में बंगला सामयिक पत्रों की बढ़ौतरी कहीं अनेक-गुना अधिक ही है। यदि गत शतक में साहित्य-पुस्तकों में पची[illegible] प्रतिशत बढ़ौतरी हुई है, तो सामयिक पत्रों में कम-से-कम [illegible]क सौ पचीस प्रतिशत तो अवश्य ही बढ़ौतरी हुई है। इसलिए [illegible]हना पड़ता है कि यह युग ही सामयिक पत्रों का युग है।

यह [illegible]न्नति केवल संख्या में ही नहीं, स्वास्थ्य में भी हुई है। १८[illegible] साल में बंग देश के मात्र बारह सामयिक पत्रों की सम्मि[illegible]त प्रचार-संख्या थी—आठ सौ प्रति। जिनमें श्री राधा[illegible]थ सिकदार महोदय की जनप्रिय 'मासिक पत्रिका' की ही चा[illegible]-सौ प्रतियाँ सम्मिलित थीं।

और [illegible]ाज ? मैं ऐसी बात नहीं कहना चाहता कि सभी पत्रों की [illegible]समान बिक्री है। किन्तु, महीने में चार सौ बिकने वाले [illegible], आज विज्ञापनदाताओं के हिसाब से, कोई 'जनप्रिय' नहीं [illegible] अवश्य ही सीना ठोककर कहा जा सकता है। शार[illegible]शेषांकों को देखते हुए तो, पत्रों की तरक्की के विषय में, साहस[illegible] के साथ यहाँ तक कहा जा सकता है कि यह सब-कुछ 'न भूतो[illegible] न भविष्यति' ही है।

[illegible] कई वर्षों से तरक्की के ये लक्षण सचमुच कुछ-कुछ दे[illegible]ाते थे, किन्तु इस वर्ष के जैसे नहीं। बंगला सामयिक [illegible] गत पूजा के अवसर पर अपने-आपको जिस रूप में [illegible]पत किया है और अपने स्वास्थ्य-सामर्थ्य का जो परिचय [illegible], वह सचमुच ही लगता है कि हमारे गत डेढ़ सौ वर्षों [illegible]यिक पत्रों के इतिहास में एक नई चीज है। पत्रों में इत[illegible] सुन्दर विज्ञापन, रास्ते-रास्ते की मोड़ों पर बेशकीमती बैनर, दिवाल-दिवाल पर रंगीन प्राचीर-पत्र—लगता है कि सामयिक-पत्रों की इस हद तक विज्ञापन-तैयारी की कल्पना सपने में भी मार्शमैन, दक्षिणारंजन या द्विजेन्द्रलाल राय ने किसी दिन नहीं की होगी। चाहने पर भी, निश्चय ही, विख्यात लेखकों के नाम लेकर प्रतियोगिता में उतरने का स्वप्न, किसी दिन बंकिमचन्द्र, सतीश मुखोपाध्याय या रामानन्द चट्टोपाध्याय ने नहीं देखा होगा। विशेषकर, लेखों के लिये अग्रिम दक्षिणा, उनकी भावना और कोष, दोनों के ही परे की बात थी।

किन्तु, साधारणरूप से बंगला सामयिक पत्रों में आज वही-सब हो रहा है। ख्यातनामा लेखकों के उपन्यास-पर-उपन्यास, झक-झक कागज, मोटे-मोटे पुस्तकों के द्वारा लेखकों की पेशेवर तेजी, एवं उन ग्रन्थों-पुस्तकों और सामयिकों की विराट् व्याप्ति, अवश्य ही घटना के नाते उपेक्षणीय नहीं है। इसके पूर्व ऐसा नहीं हुआ था, यही हमारा विश्वास है, और अनुमान है कि भविष्य में इससे भी अधिक होगा। इसबार का शरद, अगले वर्षों का संक्रान्ति-काल ही है—इतना ही कहकर स्मरणीय होना चाहिये।

संगतरूप में, यहाँ अवश्य दो-एक प्रश्न उठते हैं। ऐसे अनेक सामयिक पत्र भी हैं, जिनके लिये, रास्ते की मोड़ों पर प्रचार, अब भी सपना है और लेखकों को उचित पारिश्रमिक देने की कामना, अपूर्ण कामना ही है। ऐसे पत्र, जाति के हिसाब से, दो भागों में विभक्त हैं। पहले तो उस जाति के पत्र हैं, जो व्यावसायिक और जागतिक अर्थ में चिरकाल से ही विफल हैं। ऐसे पत्र केवल हमारी भाषा और देश में ही नहीं,

अपितु सभी देशों और कालों में रहे हैं, और हैं भी। ऐसे सामयिकों को एक ही बात याद रखने को कहूँगा—इस जमाने में भी, धनियों के देश अमेरिका में, 'पोयेट्री'-जैसी विश्व-विख्यात पत्रिका को भी, लग्घे के धक्कों पर ही चलना पड़ता है; विलायत के 'न्यू स्टेट्समैन' जैसे पत्रों को भी रीति की लड़ाई खड़ी कर जान बचानी पड़ती है, और हमारे देश में भी, गाँधी जी का 'हरिजन' बेचारा बच नहीं सका। सुतरां, सामयिक पत्रों के नवयुग की जो बात मैं कह रहा हूँ, उसमें यदि उनके भाग्य में केवल दर्शकों की भूमिका ही बदी हो, तो कुछ विस्मय नहीं, और क्षोभ का भी कोई कारण नहीं।

दूसरी जाति के सामयिकों के लिये क्षोभ की बात अधिक ही है, किन्तु उनके पीछे, लगता है कि, एक ही कारण है, और वह है उनकी अक्षमता।

यही अक्षमता, कभी सत्साहित्य और आदर्शवाद इत्यादि की नामावलि लेकर, कभी नीतिविज्ञता का तारल्य लेकर और कभी सिनेमा-सर्वस्वता तथा अश्लीलता का अभियोग लेकर, उपस्थित होती है। इन अभियोगों में कभी कोई सत्य नहीं होता है—यह बात तो जोर के साथ मैं नहीं कह सकता, किन्तु यह भी नहीं मान सकता कि सफल सामयिक पत्रों के मूलधन, मात्र ऐसे अभियोग भी हो सकते हैं। बंग भाषा का कौन-कौन सामयिक पत्र, किस कारण से जनप्रियता अर्जित कर रहा है, इसका सही-सही अन्दाज लगाने के लिये, उन सबों के पाठक और पाठ्य-तत्त्व (ऊपर के गेट-अप तक) के युक्तिपूर्ण विश्लेषण का प्रयोजन है। इस विश्लेषण के पहले, स्थूल मतामत ही दिया जा सकता है, राय नहीं। वह विश्लेषण जबतक नहीं होता है, तबतक कोई भी अभियोग सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, मैं देखता हूँ कि, सिने-पत्रिका के नाम से कथितों में, किन्हीं-किन्हीं में, यथेष्ट साहित्य-उपादान, और कुलीन साहित्य-पत्रों के नाम पर परिचितों के पृष्ठों में, भूरि-भूरि साहित्येतर कूड़ा-कर्कटों की भरमार रहा करती है।

सुतरां, आज के इस नवीन युग में पिछड़ जाने [illegible] सामयिक पत्रों के लिये यही उचित होगा कि सभी के प्र[illegible] ईर्ष्या-प्रकाश न कर, वे अपनी ही विफलता के कारणों [illegible] प्रकाश पावें। आज इसी का अधिक प्रयोजन है। क्योंकि आज हमारे पाठक तैयार हैं, लेखक आनन्दित हैं, एवं सामयिक पत्रों का युग-द्वार खुला हुआ है। इसमें, तथाकथि[illegible] प्राकृतिक निर्वाचन के सूत्र के अनुसार, सर्वाधिक समर्थ के [illegible] में राजत्व छोड़ देने और मैदान से बाहर निकल जाने [illegible] बजाय, पहले, वे सच-सच ही अपने बहिरन्तर से बलवान हैं कि नहीं, इसे अच्छी तरह समझ-बूझ लेना उन सबों के स्वार्थ का ही प्रयोजन है।



पुस्तक उत्तेजक और उद्दीपक लगे तो मनुष्य को अपनी शान्ति के नाम पर ताश-जैसा कोई खेल शुरू कर देना चाहिये; मगर वह पेशेन्स-जैसी चीज न हो।

—स० खलील

हिन्दी प्रकाशक संघ : संयुक्त प्रकाशक संघ
दुरूह अनुशासन : दुस्सह परिणाम



श्री मार्तण्ड उपाध्याय

आपको पता होगा कि गत अगस्त में हिन्दी प्रकाशक संघ का एक विशेष अधिवेशन दिल्ली में किया गया था और उसमें संयुक्त प्रकाशक संघ का, संयुक्त प्रकाशक संघ की शर्तों पर, विलीनीकरण किया गया था। उसकी प्रधान शर्त यह थी कि संयुक्त प्रकाशक संघ के बनाये कमीशन के नियमों को जो माने वही हिन्दी प्रकाशक संघ का सदस्य रह सकता है। एक प्रकार से, मोटे रूप में, अब हिन्दी प्रकाशक संघ का उद्देश्य, पुस्तकों की बिक्री पर कमीशन का नियंत्रण करना, और जो उसके नियमों को माने उनको पुस्तकें देना और जो न माने उनका वहिष्कार करना, रह गया।

यह-सब इतनी जल्दी और कुछ इस तरीके से किया गया कि इतने बड़े निर्णय के परिणामों पर पूरी तरह विचार करने पर, पूरे लोग उपस्थित नहीं थे। दिल्ली के विशेष अधिवेशन में, दिल्ली से बाहर के बहुत थोड़े लोग थे। दिल्ली के, और संयुक्त प्रकाशक संघ के, कंट्रोलिंग सदस्य ही, मुख्य रूप से थे। पंजीबद्ध विक्रेता सदस्य, या उनके प्रतिनिधि, शायद कोई नहीं थे। यद्यपि, संयुक्त प्रकाशक संघ ने यह दावा किया कि इस समय उसके १२०० सदस्य हो गये हैं। लेकिन, इन १२०० में, जनरल पुस्तकों के विक्रेता, कोई २-३ सौ भी नहीं होंगे। अधिकांश, कोर्स की किताबें बेचनेवाले हैं। और, उन्होंने इसी डर में कि अगर अनुबंध पर हस्ताक्षर नहीं किये तो पुस्तकें कमीशन मिलना बंद हो जायगा, ५) के फार्म पर हस्ताक्षर किये हैं। अधिकांश प्रकाशकों के भी, ५) के फार्म पर ही हस्ताक्षर हैं।

इस संबंध में मेरी कुछ लोगों से चर्चा भी हुई है। अधिकांश इस बात से शंकित हैं कि इस प्रकार का नियंत्रण, सारे भारत में, विक्रेता और प्रकाशकों का, किस प्रकार किया जा सकेगा।

दूसरे, एक बात यह है कि कमीशन का नियंत्रण करने के लिए पहले वातावरण तैयार करने का; विक्रेताओं के अलावा और जगह, सरकारों में तथा सामान्य खरीद-दारों में प्रचार आदि का; जो काम करना चाहिए था, वह पूरी तरह नहीं हुआ और एकदम "मानो, नहीं तो वहिष्कार !" का अंतिम अस्त्र उठा लिया गया है।

हिंदी साहित्य की उन्नति करने और उसे समृद्ध करने के कई उद्देश्य, संघ के हैं। लेकिन, उन पर जोर न देकर, केवल कमीशन का नियंत्रण करना, और केवल उसका पालन करने वाले को ही संघ की सदस्यता की कसौटी मानना, कहाँ तक ठीक है ? मेरा विश्वास है कि कमीशन की धाँधली के नियंत्रण के जोश में, इसके परिणामों की गंभीरता पर पूरा-पूरा विचार नहीं हो पाया है।

फिर, संघ कोई व्यापारिक संस्था नहीं है, जो प्रकाशकों के व्यापारिक नियमों का नियंत्रण करे, और उसी को सदस्यता की कसौटी बनावे। संघ का उद्देश्य, हिंदी प्रकाशन व्यवसाय की, सर्वतोमुखी उन्नति करना है। मुझे ऐसा लगता है कि आज के संघ के व्यापार-कुशल अधिकारी, व्यापारी-नियमों को प्रथम स्थान देना चाहते हैं। वे केवल, संघ के उद्देश्यों में एक पक्ष पर ही, जोर दे रहे हैं।

फिर, यह भी देखना है कि संघ क्या इतना सक्षम और सुदृढ़ है कि नियम-भंग करनेवालों का नियंत्रण कर सके ? नहीं तो, स्थिति यह हो सकती है कि प्रामाणिक रूप बरतने वाले और नीति-युक्त साधन काम में लानेवाले तो संघ से वहिष्कृत हो जायँ, और कमीशन के अनुबंध पर हस्ताक्षर करके अन्य सुविधाजनक उपाय काम में लानेवालों का संघ में बाहुल्य हो जाय और धीरे-धीरे उस पर आधिपत्य हो जाय। इस खतरे की ओर भी ध्यान देना बहुत जरूरी है।

इसके अलावा, विचारणीय यह बात भी है कि क्या हिंदी प्रकाशक संघ, जिसकी स्थापना हिंदी प्रकाशन-व्यवसाय की व्यापक उन्नति करने के लिए हुई है, अपने अंदर से उन लोगों को निकाल बाहर करे, जो संघ के अन्य उद्देश्यों से सहमत हों, पर कमीशन के अनुबंध पर हस्ताक्षर नहीं करना चाहते हों, और फिर भी अपने बनाये नियमों के अनुसार, प्रामाणिक रूप में व्यवहार कर रहे हों।

मेरा यह-सब लिखने का आशय यह नहीं है कि संघ के किसी कार्य की टीका करूँ, बल्कि केवल यह बताना है कि संघ ने जो निर्णय किया है, वह पूरी तरह गंभीरता से सोच-समझकर नहीं किया है, सब सदस्यों की राय से नहीं किया है, बल्कि बहुत थोड़े-से सदस्यों ने यह निर्णय ले लिया है। मैं जानता हूँ कि संघ की कार्य-समिति के एक प्रामाणिक, संजीदा तथा निष्ठावान् सदस्य की बातें, दलीलें तथा सुझाव, दिल्ली के विशेष अधिवेशन के अवसर पर उपस्थित लोगों और अधिकारियों ने, सुनने की भी चेष्टा नहीं की। संघ के अधिकारी, उन्हें अपना एक अच्छा साथी भी मानते हैं। कमीशन-संबंधी, संयुक्त प्रकाशक संघ के, नियमों के वे समर्थक भी रहे हैं, और हैं भी। उन्होंने अपने १४-१०-५६ के पत्र में लिखा है—

"मेरी राय में, संघ के सदस्यों को कुछ अधिक स्पष्ट लिखकर सावधान करने की आवश्यकता है कि वे इसी प्रकार उदासीन अथवा निष्क्रिय बने रहे, तो कुछ लोग, हिन्दी के प्रकाशकों के नाम से, किसी प्रकार की मनमानी करके, उसका अनुचित उपयोग करने जा रहे हैं, यह गंभीर एवं विचारणीय बात है। अस्तु; आपने जितना और जो-कुछ लिखा है वही यदि लोग ध्यान दें, तो काफी होगा।"

मैंने इस संबंध में कुछ करने को सोचा, परन्तु अबतक कुछ कर नहीं पाया हूँ। इलाहाबाद की मीटिंग में जाने की इच्छा तो बिल्कुल नहीं है, क्योंकि हमलोगों की सुनवाई होने की बिल्कुल आशा नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो मुँह पर कुछ और कहते हैं, और दूसरी जगह कुछ और। मुझे अपने लिए यही उचित लगता है कि संघ के नियमों को न माननेवाले प्रकाशकों के माल न बेचनेवाली बात के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए, इस प्रश्न पर संघ की कार्य-समिति से अपना त्याग-पत्र शीघ्र ही भेज दूँ; और इस कदम से पैदा होनेवाली कठिनाइयों के लिए, अपने को तैयार रखूँ।

बहुत ही विचित्र स्थिति हो गई है। सभी जानते हैं कि जहाँतक कमीशन के नियमन का सवाल है, मैं भी इसी राय का हूँ कि वह होना चाहिए, बगैर ऐसा हुए, पुस्तक-विक्रेताओं की दृष्टि से, मैं मानता हूँ कि काम नहीं चल सकता। हाँ, वह हो ढंग से, और उसका पालन सभी ओर से नैतिकता के स[...] हो। अभी जो-कुछ किया गया है, उसमें, कई बातों में मत[...] होते हुए भी, कमीशन के नियमन वाले प्रश्न पर, विरोध[...] गुंजाइश मैं नहीं समझ रहा हूँ। विरोध केवल इस बात[...] है कि जिस मनमाने ढंग से इन लोगों ने कदम उठाया है[...] गलत है, और अब, वह हमारे लिए न केवल व्यावस[...] वरन् प्रतिष्ठा का प्रश्न भी बन गया है।

मेरी, बहुत-से जिम्मेदार सदस्यों से, बातें हुई हैं। [...] विचार में तो, मेरे साथ ही हैं। पर, परिस्थिति के द[...] उन्होंने अनुबंध-पत्र पर हस्ताक्षर किये हैं। मेरा विश्वा[...] कि अगर शांति से और गंभीरता से सोचा जाय, तो संघ, [...] व्यापक हितों की रक्षा करने के बजाय, उनको हानि पहुँ[...] का कार्य करेगा।

संघ के कुछ जिम्मेदार सदस्यों एवं पदाधिकारियों से [...] चर्चा हुई। पिछली कार्य-समिति की बैठक में उस पर [...] विचार होने की आशा थी। लेकिन ऐसा पता चला कि व[...] कोई विशेष निर्णय नहीं हुआ। हुआ तो यही कि जो संघ के [...] कमीशन संबंधी अनुबंध पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे, उनकी पुस्तकें न बेचने का निर्णय करने की तिथि, १५ अक्तूबर के बजाय ३१ दिसम्बर कर दी जाय। लेकिन मूल समस्या ज्यों-की-त्यों ही है।

इस संबंध में मेरा तो यही कहना है कि जो बन्धु [...] कथन से सहमत हों, या उसके नजदीक हों, उन्हें संघ के जल[...] बाजी के निर्णय को सही करने के उचित और संभव प्रयत्न करने चाहिएँ।



कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्रो० दुर्गामोहन भट्टाचार्य को अथर्ववेद की 'पिप्पलाद' टीका की ताड़ के पत्ते पर लिखी हस्तलिखित प्रति का पता उड़ीसा के बालासोर जिले में स्थित मकरण्ड गाँव में लगा है। इस समय तक अथर्ववेद की नौ टीकाओं में केवल दो—शौनकीय और पिप्पलाद, ही प्राप्त हुई हैं। १८७३ में पिप्पलाद टीका कश्मीर में भी पाई गई थी।

सूचनाएँ विज्ञप्तियाँ

—नयी दिल्ली, २६ नवम्बर। केन्द्रीय शिक्षामंत्री डा० ...लाल श्रीमाली ने कल राज्य-सभा में बताया कि विश्व-...ालय अनुदान आयोग, विश्वविद्यालयों और कालेजों के ... की, टेक्नीकल तथा अन्य प्रकार की विदेशी पुस्तकों का ... संस्करण छापने के लिए भारतीय प्रकाशकों को प्रोत्साहन ...। आयोग ऐसे प्रकाशकों को यह गारंटी देगा कि कम-...र कितनी पुस्तकें खरीदी जायंगी।

—मद्रास, २० दिसम्बर। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री डाक्टर ... एल० श्रीमाली ने घोषणा की कि मेरा विश्वास है कि ...क-निर्माण के क्षेत्र में स्वतंत्र और निजी क्षेत्र के लिये ...ी गुंजाइश है। लोकतन्त्री समाज में यह अत्यन्त आव-...क है कि सरकार को किताबों के निर्माण में कम-से-कम ...मेदारी लेनी चाहिए। डा० श्रीमाली पुस्तकों के वितरण, ...ास और हाट-अनुसंधान से सम्बन्धित यूनेस्को-गोष्ठी (...क्षेत्रीय) में पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर अपने विचार प्रकट कर रहे थे। उन्होंने कहा कि सरकार को चाहिये कि वह पुस्तकों का निर्माण निजी संगठनों और प्रकाशकों के हाथ में छोड़ दे। तभी विचारों का उन्मुक्त प्रवाह सम्भव होगा, और लेखकों की कल्पना और बुद्धि की तथा जनगण की रचनात्मक शक्तियों की पूर्ण और अधिक उन्मुक्त अभिव्यक्ति हो सकेगी। मैं मानता हूँ कि यदि प्रकाशकों में कम मूल्य पर अच्छी पुस्तकें पैदा करने के प्रति उत्साह न हो, ...ो सरकार पूरी तरह चुप होकर नहीं बैठी रह सकती। अधिक अच्छी और सस्ती किताबों के निर्माण के लिये सरकार को हस्तक्षेप करना ही पड़ता है। उन्होंने कहा कि जिन राज्यों ने पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया है, उनके मन में मुख्य रूप से यही बात थी। किन्तु, साथ में ही मेरी राय है, वहाँ भी, जहाँ सरकार ने पुस्तकें तैयार करने का काम अपने हाथ में लिया है, प्रकाशकों को स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अधिकार होना चाहिये तथा सरकार को पूर्ण एकाधिकार नहीं होना चाहिये।

—दिव्य-ज्योति संस्कृत मासिक की ओर से एक अपूर्व आयोजन 'पद्म-पुरस्कार' प्रदान करने के लिये किया गया है। संस्कृत साहित्य के प्रसार और प्रचार एवं इसके नाटकीय, उपन्यासीय तथा कहानी क्षेत्र में नव-जागरण के हेतु, अ० भा० संस्कृत कहानी-प्रतियोगिता का सह आयोजन किया गया है। प्रतियोगियों को तीन पुरस्कार दिये जायेंगे। प्रथम पुरस्कार १५०) रु०, द्वितीय पुरस्कार १००) रु०, तृतीय पुरस्कार ५०) रु०। आधुनिक पद्धति से लिखी गई संस्कृत कहानी, एक हजार शब्दों से अधिक नहीं होनी चाहिये। पुरस्कृत तथा उत्तम कहानियाँ दिव्य-ज्योति में प्रकाशित होंगी। भेजने की अन्तिम तिथि २६ फरवरी १९६० है। प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये दिव्य-ज्योति का ग्राहक बनना अनिवार्य है। दाखिले का पता है: व्यवस्थापक, दिव्य-ज्योति कार्यालय, आनन्द लाज, जाखू, शिमला (पंजाब)।

—भारत सरकार ने ५ वीं बाल-पुस्तक-प्रतियोगिता के फल की घोषणा की है। जिनमें असमी की २, बंगला की ३, गुजराती की २, हिन्दी की ४, मराठी की २, उड़िया-तेलगू-उर्दू की २-२, और कन्नड़-मलयालम-पंजाबी-तामिल की १-१, पुस्तकें हैं। इनकी २-२ हजार प्रतियाँ भी सरकार ने खरीदी हैं। इसमें कुल दाखिले ४०३ थे।

—जालंधर के प्रेस कान्फ्रेन्स में केन्द्रीय शिक्षामंत्री श्री श्रीमाली ने कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक उद्योग और प्रयासों को ही महत्व मिलना चाहिए और सरकार को इसके लिये सहायता तक करनी चाहिये। सरकारी शिक्षा-संस्थानों से कहीं अच्छी स्थिति वैयक्तिक या सामाजिक संस्थानों की है भी। सरकार ने हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों के अनुवाद की योजना बनाई है।

—रूस में पहली दफा ब्रिटेन की पुस्तकों की प्रदर्शनी २१ नवम्बर को हुई। प्रदर्शनी में ३,००० पुस्तकें और ८०० पत्रिकाएँ थीं।

—इलाहाबाद, दिसम्बर ५। हिन्दी की पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं की एक प्रदर्शनी भारती भवन पुस्तकालय की ओर से इस माह के अंत में की जा रही है। भारती भवन की स्थापना स्व० श्री मदनमोहन मालवीय ने १८८६ में की थी और यह प्रदर्शनी उसके ७० वें स्थापना-वर्ष के उपलक्ष में की जा रही है।

—नई दिल्ली, दिसम्बर ६। साहित्य एकेडमी की कार्य-समिति ने १९५९ के लिए सात पुस्तकों को, ५०००) प्रत्येक पर, पुरस्कार के लिये चुना है। ये पुस्तकें १९५६-५८ के बीच की प्रकाशन हैं। ये पुस्तकें हैं 'कलकातार काछे' (बंगला); 'संस्कृति के चार अध्याय' (दिनकर रचित, हिन्दी), 'यक्षगान व्ययलता' (कन्नड़), 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (मराठी), 'वड्डा वेला' (पंजाबी), 'उर्दू ड्रामा और स्टेज' (उर्दू) और 'कनवर' (सिंधी)। शेष भाषाओं में योग्य पुस्तकों के न होने के कारण पुरस्कार नहीं दिया जा सका। ये पुरस्कार १३ फरवरी को भारत के प्रधान मंत्री द्वारा इनके लेखकों को दिये जायेंगे।

—भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने, भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य की पुस्तकों और पांडुलिपियों की, प्रतियोगिता के लिए माँग की है। यह छठी प्रतियोगिता है और इसके दाखिले की अंतिम तिथि ३० मार्च १९६० है। इसमें कुल तीस पुरस्कार दिये जायँगे, जिनमें पन्द्रह ५००) के प्रत्येक और पन्द्रह १०००) के प्रत्येक होंगे। १०००) वाले में दो पुरस्कार हिन्दी के लिए और शेष अन्य भाषाओं के लिये सुरक्षित हैं।

कृषि-मेला और अँग्रेजी

एक समाचार है कि दिल्ली में हो रहे कृषि-मेले में सर्वत्र अंग्रेजी के कारण किसान परेशान हैं। कहना न होगा कि उनकी यह परेशानी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस देश में केवल दो प्रतिशत लोग अंग्रेजी पढ़ने-समझने वाले हों वहाँ देश की अस्सी प्रतिशत जनता के प्रतिनिधि किसानों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे अंग्रेजी समझ लेंगें। इससे उन लोगों का बौद्धिक दिवालियापन ही मालूम होता है, जिन्होंने इस प्रदर्शनी की व्यवस्था की है। इस प्रदर्शनी अथवा मेले का उद्देश्य तो देश के किसानों को कृषि संबंधी नयी-नयी जानकारी देना है; पर यदि वह ऐसी भाषा में हो, जिसे वे नहीं समझते तो उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। वैसे भी यह कोई शोभाजनक बात नहीं है कि कुछ विदेशी मंडपों में तो दर्शकों को उनकी अपनी ही बोली में समझाने के लिए आंशिक व्यवस्था हो, और देशी मंडपों में केवल अंग्रेजी का ही एकछत्र राज्य हो। अभी प्रदर्शनी लगभग दो मास चलनी है। अच्छा होगा कि इस दिशा में अब भी जितना संभव हो, उतना किया जाय।

—'विचार प्रवाह' नवभारत टाइम्स २१-१२-[illegible]

—नयी दिल्ली, २१ दिसम्बर। सूचना और [illegible] मन्त्रालय के विज्ञापन और दृश्य प्रचार निर्देशालय ने [illegible] में उत्कृष्ट छपाई तथा पुस्तकों के डिजाइन और प्र[illegible] लिये हुई प्रतियोगिता में पुरस्कार पाने वालों के [illegible] घोषणा कर दी है। पुरस्कार पाने वाली पत्र-पत्रि[illegible] सूची निम्न प्रकार है:—दैनिक समाचार पत्र [illegible] भाषाएँ) :—पहला पुरस्कार : हिन्दुस्तान (हिन्दी) न[illegible] दूसरा पुरस्कारः प्रजावाणी (कन्नड़) बंगलौर, श्रेष्ठता प्र[illegible] लोकसत्ता (मराठी) बंबई। अंग्रेजी :—पहला [illegible] स्टेट्समैन कलकत्ता, दूसरा पुरस्कारः (१) हिन्दुस्तान [illegible] नयी दिल्ली (२) ट्रिब्यून, अम्बाला। श्रेष्ठता प्रमाण[illegible] हिन्दू, मद्रास (२) टाइम्स आफ इंडिया, बम्बई। [illegible] (वार्षिक पत्रिकाओं के अलावा) अंग्रेजी :—पह[illegible] दूसरा पुरस्कार नहीं दिया गया। श्रेष्ठता प्रमाणपत्र [illegible] एण्ड इण्डस्ट्री। देशी भाषाएँ :—पहला और दूसरा पुर[illegible] नहीं दिया गया। श्रेष्ठता प्रमाण पत्र (१) खेती (हिन्दी), [illegible] संस्कृत प्रतिभा, (३) सैनिक समाचार (तेलगू)।

—मद्रास, दिसम्बर १८। श्री राजगोपालाचार्य ने भ[illegible]तीय लेखकों के सम्मेलन में जनहित के लिये लेखकों [illegible] लिखने के लिये कहते हुए कहा कि वे (१) अधकचरी उ[illegible] न लिखा करें, (२) वर्ग-संघर्षवादी न बनें (३) नि[illegible] शब्दव्ययी न हों (४) किसी के प्रति चिढ़ या घृणा न [illegible]। उन्होंने कहा कि अन्य उद्योगों में काम करके कुछ अनुभव पाने के बाद ही लिखना श्रेयस्कर है और चिढ़ तथा घृणा समीक्षण से सन्तुलन को नष्ट कर देती है।

मानव-सभ्यता के विकास का पहला कारण है पढ़ना-लिखना और दूसरा कारण है पुस्तक-छपाई। बाकी कारण बाद के हैं।

—स० खलील

कसौटी

बाल साहित्य

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली द्वारा प्रकाशित

[illegible]—उर्मिला कुमारी

[illegible]य की सूझ (कहानियाँ) मूल्य : ·७५

[illegible] साहसी यात्री " मूल्य : ·७५

[illegible]नेवाली गुफा " मूल्य : १·००

[illegible]र्श महापुरुष (जीवनी) मूल्य : ·७५

[illegible]) 'समय की सूझ' पाँच बालपयोगी कहानियों का [illegible]। इसमें 'समय की सूझ' और 'कपट का दंड' [illegible]-पंचतंत्र से ली गई हैं और शेष लेखिका की अपनी [illegible]श्रम का फल' 'स्नेह और सेवा' 'साहसी बालिका'—[illegible]न लेखिका की अपनी कहानियाँ हैं, इनमें सीधा उप-[illegible]ही है; बालोपयोगी क्लाइमेक्स, नाटकीयता या कथा-[illegible]। 'साहसी बालिका' में दोनों बहनों का, मैले वस्त्र [illegible]र साफ कपड़े और आभूषण पहनकर घास काटने [illegible] कोई उचित कल्पना नहीं है और यह आगे, उनके पीछे [illegible]के लग जाने की बात की तैयारी भर ही है—जिससे कि [illegible]कीयता की हानि हो जाती है। जवान और किसान लड़-[illegible]याँ कुर्ते की जेब में चने लेकर घास काटने जाती हैं—यह [illegible] वैसी ही बात है। ऐसे ही, 'स्नेह और सेवा' में बच्चे का [illegible] "मेरी अच्छी माता" जैसा सम्बोधन, ग्राम्य या शेष [illegible] का न होकर, 'बम्बई' का हो गया है। यों, कहानियाँ बालो[illegible]योगी शब्दों में लिखी गई हैं और छपाई तथा सचित्रता सराहनीय है।

(२) 'तीन साहसी यात्री' में पहली में फाहियान की यात्रा का प्रसंग लेकर लेखिका ने भारत, जावा, लंका आदि देशों में बौद्धधर्म की पाँचवीं सदी की स्थिति का अच्छा बालोपयोगी वृत्तान्त दिया है। हाँ, 'बुद्ध-वृक्ष' और 'गंधार और तक्षशिला होते हुए वह पेशावर पहुँचा' वाली बात जँची नहीं। दूसरी यात्रा चीन के साम्राज्य-विस्तारक कुबला खाँ के सहायक सूचना-दूत मार्कोपोलो की है। यह यात्रा सबसे रोचक है और इटली, चीन, ईरान तथा कुबला खाँ के ऐश्वर्य और साहस की पर्याप्त सूचना देती है। तीसरी, यात्रा तो नहीं, बल्कि छह इंच के बौनों के देश की, विशालकाय गुलिवर द्वारा सुनाई गई, एक ऐन्द्रजालिक कथा है और इसी के कारण वह रोचक है।

(३) 'बोलनेवाली गुफा' पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक और जैन-कथाओं पर आधारित और कुछ लेखिका की ओर से दी गई, कुल छह कहानियों का संकलन है। पहली, 'बोलनेवाली गुफा' बूढ़े बाघ को छकानेवाली लोमड़ी की अतिसुन्दर नाटकीय कथा है। दूसरी, अपने घोंसले के घमंड में, बेघरवार बंदर को चिढ़ाकर, उससे अपना ही घोंसला उजड़वा लेनेवाली बया की परिचित कहानी है। तीसरी, खेत चरकर गाना गानेवाले और किसान की मार खानेवाले गधे की प्रशस्त कथा है। चौथी, सम्पन्न किन्तु ईर्ष्यालु और दरिद्र किन्तु सन्तोषी, दो स्त्रियों की कहानी है जिन्हें एक साधु की शुभाशुभ-कामना से यथायोग्य दंड और पुरस्कार मिला। कुछ परात्मता के बावजूद यह अत्यंत रोचक है। पाँचवीं कथा, 'अद्‌भुत न्याय' में 'सियार' की पत्नी 'गीदड़ी' न होकर 'सियारिन' होती तो होशियारी की बात होती। यह, दो ऊदबिलावों के बीच, उनकी कमाई हुई मछली का बँटवारा कर, अपनी फीस में मछली का टुकड़ा वसूलनेवाले सियार की बड़ी स्वच्छ कहानी है। छठी, 'राजकुमारी का साहस' राजकुमारी के अस्वस्थ पति के, महात्मा के आशीर्वाद से चंगे हो जाने और अकस्मात सौभाग्य के जग जाने की साधारण कथा है। पुस्तक उन्नत ही है।

(४) यह राम, कृष्ण, दधीचि, रवीन्द्रनाथ, महात्मा-गाँधी के जीवन-चरित का सराहनीय संकलन है। राम की कहानी सतावें सोपान तक ही है—और यह श्रद्धा के नाते बड़ी अच्छी चीज हुई। कंस-वध तक कृष्ण की कहानी उतनी ही है जितनी कि बालकों में मातृ-पितृ-भक्ति और साहस की अपेक्षा के लिए होनी चाहिए। तीसरी, दधीचि के त्याग की तथा चौथी-पाँचवीं साहित्य-सेवा और देश-सेवा को प्रस्तुत करनेवाली बालोचित जीवनियाँ हैं। छपाई-सफाई, सचित्रता और जीवन-चरितों के उचित चुनाव के कारण यह पुस्तक अत्युत्तम है।

—'लालधुआँ'

चोर और साधु

प्रकाशक—अभिज्ञान प्रकाशन, राँची

पृष्ठ-सं०—३० : मूल्य—पचास न० पै०।

प्रस्तुत पुस्तक में पाँच बालोपयोगी कहानियाँ संगृहीत हैं। ये कहानियाँ बच्चों के लिए सहज, बोधगम्य और मन को लुभानेवाली हैं। पूरी पुस्तक को ध्यान से पढ़ने पर हम देखते हैं कि लेखक को बच्चों के स्वभाव का तो ज्ञान है, किंतु उनकी पसंद की भाषा का ज्ञान नहीं है। बच्चों के लिए साहित्य-सृजन करते समय लेखक को बच्चों के शब्दों के अनुपात का ध्यान रखना परमावश्यक है।

फिर भी, ये कहानियाँ अच्छी हैं। हमें आशा है, बच्चे इस पुस्तक को पसंद करेंगे।

नाना साहब (जीवनी)

लेखक : कमलनारायण झा 'कमलेश'

प्रकाशक—ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना—४

पृष्ठ-सं०—१४५ : मूल्य—२·५०

भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के वीर सेनानी नाना साहब के जीवन पर आधारित अब तक कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। कुछ उपन्यास के रूप में, कुछ फुटकर विभिन्न शीर्षकों से। किंतु, यह पुस्तक नाना साहब की जीवन-सरिता के एक-एक बूँद का ब्यौरा प्रस्तुत करनेवाली है। पाद-टिप्पणी और उद्धरणों से स्पष्ट है कि लेखक ने यथासाध्य प्रयास किया है। ऐतिहासिक रचना के प्रामाणिक होने में अनेक खतरे रहते हैं। अपने परिश्रम और अध्यवसाय से लेखक ने अपने को खतरे से साफ बचा लिया है। सहायक-ग्रंथों की तालिका देखने से पता चलता है कि विद्वान एवं इतिहास-प्रेमी लेखक ने लगभग तैंतीस प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन-मनन करके इस पुस्तक का सृजन किया है।

नाना साहब के जीवन के सही तत्त्वों एवं तथ्यों को जानने के लिए यह पुस्तक 'गाइड' प्रमाणित होगी, ऐसी आशा है।

पुस्तक की छपाई-सफाई ज्ञानपीठ की प्रतिष्ठा के अनुरूप है।

सूरज-किरन की छाँव (उपन्यास)

लेखक—राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित'

प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

पृष्ठ सं०—१७८ : मूल्य—३·००

प्रस्तुत उपन्यास आदिवासियों की एक विशेष जाति गोंडों के जीवन पर आधारित है। लेखक के कथनानुसार '... च... उपन्यासों की शृंखला में यह भी एक विनम्र प्र... उपन्यास में आंचलिक उपन्यास के गुण हैं, इसमें ... नहीं। कथानक में सूत्रता है, बिखरी हुई चौरासी ... को बटोर कर, आंचलिकता का आवरण देने का प्रय... किया गया है। एक अत्यंत संवेदनशील गोंड यु... जीवन का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करने में लेखक सफ... है। आंचलिकता का ध्यान रखते हुए भाषा के प्रस्तु... में लेखक कुछ असावधान अवश्य हो गया है; क्योंकि ... की नायिका 'बेंजों' अपनी कहानी उस अवस्था में ... है, जबकि वह अँग्रेजी भी बोल लेती है—'ग्रैंड', से अ...

प्रथम पुरुष में आंचलिक उपन्यास लिखने के लिए 'बैकग्र... ऑफ कैरेक्टर एंड सेंस ऑफ लिटरेरी एक्सप्रेशन' का ध्यान रखना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि कथानक ... जमीन से जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, वे नई नहीं हैं फिर ... उपन्यास का अंत बहुत उत्तम हुआ है। लेखक के प्रयास ... जो सद्गुण हैं, उन्हें तो स्वीकार किया ही जाना चाहि... लेखक हमारी बधाई का पात्र है।

—'मुक्तिदूत'



ललित साहित्य में सराहनीय : पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय पुस्तकें

महाकवि कालिदास की कृति : रेडियो रूपान्तर

अभिज्ञान शाकुन्तल

मूल्य : १-७५

रूपान्तरकार : राधाकृष्ण

यह नाटक हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध गद्य-नाट्य-शिल्पी की अतिसराहनीय कृति है। रूपान्तर होकर भी, यह मौलिकता का प्रवाह रखती है। यह नाट्यरूप में आकाशवाणी द्वारा अनेक किश्तों में प्रसारित हो चुकी है।

पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची ४१२-२२ देखें

रक्त और रंग

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुरस्कृत उपन्यास

मूल्य : ५-००

लेखक : अनूपलाल मंडल

प्रेमचन्द-युग के लेखकों में आजतक वरेण्य श्री मंडल जी का यह सामाजिक उपन्यास अपनी मनोवैज्ञानिकता और चरित्र-विश्लेषण के नाते पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची ६८८-२७ देखें

अंचल-समाज पर आधारित विशिष्ट उपन्यास

लोहे के पंख

मूल्य : ७-२५

लेखक : हिमांशु श्रीवास्तव

इस उपन्यास की प्रशंसा में यह एक मन्तव्य ही पर्याप्त है—"हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के 'गोदान' की परम्परा मरी नहीं, 'लोहे के पंख' इसका ज्वलन्त उदाहरण है।" —डॉ० त्रिभुवन सिंह एम. ए, पी-एच. डी.

पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची ६२५-६ देखें

रोमांस, रोमांच और रहस्य से पूर्ण उपन्यास

अंधकार

लेखक : पं० छविनाथ पाण्डेय

मूल्य : ३-००

हिन्दी के तपे-तपाये गद्य-शिल्पी श्री पाण्डेय जी का यह प्रसिद्ध उपन्यास रोमांस और रोमांचपूर्ण स्त्री-चरित्र और उससे लगे हुए सम्भ्रान्त-समाज के उद्दीपनों को स्पष्ट करने में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुका है।

पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची ५७-६८ देखें

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

नक्कालों से सावधान ! | संशोधित संस्करण खरीदें !

हमारा देश, हमारी दुनिया
तथा
विज्ञान की खोज में

उपर्युक्त दोनों पुस्तकें सरकार द्वारा ६ ठें तथा सातवें वर्गों के लिए स्वीकृत हैं ; लेकिन पता चला है कि इन दोनों की नकली प्रतियाँ जहाँ-तहाँ से प्रकाशित होकर चुपके-चोरी बिकने लगी हैं ।

लेकिन, जनवरी, १९६० में इन दोनों के जो नवीन संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं,उनमें पर्याप्त संशोधन हो गये हैं। त[illegible] सरकारी रिपोर्टों के आधार पर तथ्य तथा आँकड़े अप-टू-डेट कर दिये गये हैं । साथ ही, इनके आवरण भी कहीं अधिक आ[illegible]र्षक कर दिये गये हैं। यदि नक्कालों के फेर में पड़ कर छात्र नकली पुस्तकें ले लेंगे, तो उन्हें शुद्ध और सही संस्करण नह[illegible] मिलेगा और पुस्तकें लेने के बाद उन्हें पछताना पड़ेगा ।

अतएव, जिन क्षेत्रों में उपर्युक्त पुस्तकें चालू हैं, वहाँ के शिक्षकों तथा छात्रों को हम सावधान कर देना चाहते हैं [illegible]लों के घपले में नहीं पड़ने के लिए, वे पुस्तकें खरीदते समय, संशोधित संस्करण तथा बदले हुए कवर की जाँच कर के [illegible]कें खरीदें ।

हमारे यहाँ से प्रकाशित निम्नलिखित पाठ्य-पुस्तकों के भी संशोधित संस्करण ही प्रकाशित हो रहे हैं ।

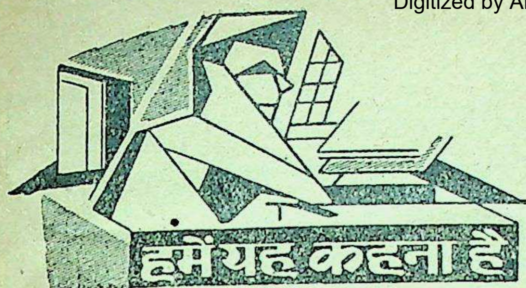
[illegible]करण-प्रवेश भाग १, २ : भाषा-प्रयोग भाग १, २ : बाल भारती (संस्कृत) भाग १, २

निवेदक
ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना--४

बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा पाठ्य-पुस्तक रूप में स्वीकृत हमारी निम्न पुस्तकें (१९६०)

	पुस्तक का नाम	श्रेणी	मूल्य	क्षेत्र
१.	सरल व्याकरणम् : भाग १	८ वीं	०·५९	तिरहुत और भागलपुर कमिश्नरी
२	भाषा-प्रयोग : भाग २	७ वीं	०·५२	दरभंगा, मुजफ्फरपुर, सारन, राँची और हजारीबाग
३.	बाल-भारती : भाग २	७ वीं	०·३९	पटना, मुंगेर, पूर्णिया, सहरसा, भागलपुर और संथाल परगना
४.	रेखा और रंग : भाग ४	७ वीं	०·६२	तिरहुत और भागलपुर कमिश्नरी
५.	हमारा देश, हमारी दुनिया	६–७ वीं	१·२२	तिरहुत और भागलपुर कमिश्नरी
६.	विज्ञान की खोज में	६–७ वीं	१·१६	पटना और छोटानागपुर कमिश्नरी
७.	भाषा-प्रयोग : भाग १	६ ठी	०·५६	दरभंगा, मुजफ्फरपुर, सारन, राँची और हजारीबाग
८.	बाल-भारती : भाग १	६ ठी	०·३३	चम्पारन, शाहाबाद, गया, पलामू , धनबाद और सिंहभूमि
९.	रेखा और रंग : भाग ३	६ ठी	०·६२	पटना और छोटानागपुर कमिश्नरी
१०.	व्याकरण-प्रवेश : भाग २	५ वीं	०·४४	चम्पारन, शाहाबाद, गया और पलामू
११.	शिशु-भारती : भाग २	५ वीं	०·३३	भागलपुर, संथाल परगना, धनबाद, सिंहभूमि, रांची और हजारीबाग
१२.	व्याकरण-प्रवेश : भाग १	४ थी	०·३७	पटना, भागलपुर, सहरसा, मुंगेर, पूर्णिया, और संथाल परगना

ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना–४



सर्वोदयी-गाँधीवादी साहित्य : सरकारी मतलब

इसी अंक में, 'समस्याएँ : टिप्पणियाँ' स्तम्भ में, अपने सहयोगी 'प्रकाशन समाचार' का, इस संबंध में ए विचार दिया गया है। सरकार, पुस्तकालय और बहुत-सी सामाजिक संस्थाओं में अनुदान और दखल दिया करती है, औ बड़ी आजिजी से, हर शरीफ समझदारों ने यह अनुभव किया है कि इन सभी संस्थाओं में सरकार का अनुदान या दख बहुत जल्दी, इन बुरे नतीजों को जाहिर कर देता है : (१) वहाँ, किसी योग्यता और आवश्यकता के विषय-साधन के बज स्थानीय और संबंधित सरकारी अधिकारियों या उनसे संबंधित दलवालों का मूर्खतापूर्ण अहंवादी बोलबाला बढ़ जाता है, (सरकारी सनद, विज्ञापन या स्वार्थ से सटी हुई चीजों की खपत बढ़ने लगती है, और बाकी आवश्यक चीजें पीछे धकेल जाती हैं, (३) वहाँ से बुद्धिमान और जनप्रिय लोग निकल जाते हैं और उनकी जगह, सभी जगह पर, एक जैसी राजन चौकड़ी जम जाती है। गाँव-शहर के सभी पुस्तकालयों में यही हो रहा है।

सरकार ने 'गाँधीवादी' और 'सर्वोदयवादी' नाम के दो ठप्पे अवश्य माने हैं। जिन चीजों पर सरकार इन ठप्पों को देखकर अपनी स्वीकृति देती है ; उन्हें, सभी पुस्तकालयों में, किसी के चाहने-न-चाहने और मानने-न-मान बेपरवाह होकर, मेहमान बना देती है। इस प्रकार, वह उसकी बिक्री के लिये बाजारू गारंटी देती है, कहीं-कहीं उसके को अपने वजट में झेल भी जाती है, उन्हें सस्ता करवाती है, और इस सस्ताई के कारण आए हुए कम-मुनाफा-मार्जिन विभिन्न कर आदि की छूटों और पूर्तियों से, पूरा भी कर देती है। यह तो हुई बाजारू पक्षपात की बात।

अब इन 'सर्वोदयी' तथा 'गाँधीवादी' साहित्य का साहित्यिक तथा सामाजिक मूल्य भी देखा जाय। अबतक साहि की ओर से ऐसे साहित्य की समीक्षा या तो हुई ही नहीं है, या हुई है भी तो काफी कम और ईमानदारी को दबा कर। साम जिक नाते से भी, सरकार या जनता में, सिर्फ ये नाम ही चलते हैं ; इनका कोई गुण नहीं—यह तो नितान्त प्रकाशित और आत्मस्वीकृत सत्य है ही। साहित्य के नाते भी, यह बहुत तेज चर्वित-चर्वण से अधिक और कुछ नहीं हैं। अपने पहले के चार हजार साल के कुल सम्पन्न संस्कृत साहित्य के प्रति भी, जड़ता का अनुभव पाकर, जब आचार्य धर्मकीर्ति जैसे महापंडित को यह कहना पड़ा कि "कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः" अर्थात्, "हम कहाँ कोई नई वस्तु पा रहे हैं", तो कुछ दिनों में ही चवित-चर्वणात्मक हो जानेवाले इस गाँधीवादी या सर्वोदयी साहित्य के प्रति भी वही शिकायत की जा सकती है और, यही तो इस साहित्य का दुहरा दुर्भाग्य है कि इतिहास में एक बूँद बराबर आयु में ही, किसी विचार और सिद्धान्त क चर्वित-चर्वण-जैसी मृत्यु हो जाय। उदाहरण के तौर पर, आप गाँधीजी, विनोबाजी, धीरेंन्द्र भाई, या प्यारेलाल-पटेल आदि दो-चार बुनियादी विवरणात्मक साहित्य को पढ़ने के बाद, शेष हजारों पोथियों को, जोकि बात-की-बात में छप-बिक रही हैं, पढ़ें, तो उन्हीं कुछ बातों की दुहरावट-तिहरावट के कारण अत्यन्त उकताहट महसूस करेंगे। सभी में, सनातनी पौराणिक क्षेपकों के सहारे, व्यक्ति और समाज का एक-जैसा वही गोलमोल संबंध सुलझाया-उलझाया हुआ मिलेगा। आजकल, कुछ जायके के लिए, उनमें कहीं-कहीं सरकार की भी चुटकी ली जाती है, मगर वह चुटकी इतनी ही हवाई होती है कि उससे सरकार को चिढ़ के ... प्यार होने लगता है। इसलिये भी यह आवश्यक हो गया है कि इन-सब मोटी-पतली पुस्तकों की ढेरों को इकट्ठा कर, यदि उनकी कोई आवश्यकता है तो उन्हें दुहरावट-तिहरावट के दलदल से निकालकर, सिलसिलेवार समझा जाय और उन्हें कुछ सूत्रों में पिरोकर एक जिल्द या कई जिल्दों के रूप में किसी सुरक्षागार या खोज-पुस्तकालय के सुपुर्द कर दिया जाय।

गाँवों या शहरों में जो पुस्तकालय खड़े हैं या खड़े हो रहे हैं, उनके लिये, व्यक्ति और समाज को पौराणिक करवटों में कसकर समझानेवाले इस पुस्तक-बाहुल्य का, कोई विशेष अर्थ नहीं है। तेजी से, साम्पत्तिक व्यापकता या क्षीणता के कारण और प्रजातंत्री प्रयोगों के चलते, आज का व्यक्ति अपनी प्रक्रिया में स्वयं ही समाजमुखी होता जा रहा है और वह अपनी इस प्रक्रिया के द्वारा जितनी सीख पा रहा है, वही व्यक्ति-साधारण के लिये अतिपर्याप्त है। हाँ, उसे खेती, उद्योग, कला, साहस, चिकित्सा आदि के तकनीकी ज्ञानों की ही नजदीकी और नितान्त आवश्यकता है। और, इस मामले में, उक्त सर्वोदयी तथा गाँधीवादी ...हित्य, उसके आगे कोई प्रमाण उपस्थित करने से लाचार है। सरकार भी तकनीकी पुस्तकों की इस आवश्यकता को, अपने ...ों द्वारा मानती है, मगर दुर्भाग्य तो यह है कि वह उनके बजाय, पालन-पोषण देने में प्रमुख होती है उक्त प्रकार के ...दयी-गाँधीवादी पुस्तकों की भीड़ों के प्रति !

इस सर्वोदयी और गाँधीवादी मार्का में, सरकारी स्वीकृति और अस्वीकृति की भी एक अद्भुत कहानी है। यह ...ी, एक बँधे हुए व्यापार के पक्ष-विपक्ष की भी है, जो शासन की खुशी-नाखुशी से जुड़ा हुआ है। आप दो उँगलियों ...रों पर ही उन संस्थाओं के नाम गिन सकते हैं, जिनपर कि सरकार की खुशी प्रकट होती है। हाँ, लेखकों में यह ... कुछ इतनी अधिक है कि आपको गिनने में कई दिनों की परेशानी झेलनी पड़ेगी। इसके विपरीत, वे लेखक, जोकि ...ी के विचारों के समर्थक हैं और तदनुसार लिखते भी हैं, किन्तु सरकार के सत्ताधारियों से कथनी-करनी के नाते कुछ ... हो गए हैं, और इसी नाते सरकार की इस व्यापारी नाखुशी के शिकार हैं, उनकी भी संख्या आप दो ही उँगली के ...र गिन सकेंगे। और, ऐसे लेखक, भले ही गाँधी-दर्शन या गाँधी-चिन्तन लिखा करें, और उनके दो उंगली के पोरों ...गणना के बाहरवाले प्रकाशक, भले ही उन्हें छापा करें, मगर सरकार उन्हें सर्वोदयी-गाँधीवादी प्रमाण नहीं मानेगी—...ी मानेगी। यही तो ऐसी विचार-व्यापार-रूढ़ि है, जिसके कारण गाँधीवादी विचारधारा पक्षपाती हो गई है और इसी ...रण, उसमें चर्वित-चर्वण करने के सिवा और कोई सरकारी स्वीकृति-पाने-योग्य चारा नहीं बचा है।

सरकारी-स्वीकृति-प्राप्त गाँधीवाद के वणिकों या उक्त प्रकाशकों की ओर से इधर कुछ अभिनव और शृंगारी प्रयास भी ...। अभिनव और शृंगार की नवीनता बाजार के लिये सतत ग्राह्य है—शायद इसे ही कुछ देर बाद समझ कर, यह ... किया गया है। इस प्रयास के भी, साहित्यमर्मियों को लजा देने वाले, कुछ उदाहरण हैं। मसलन; तुलसीदास, वाल्मीकी ...र कंब की रामायण गाँधीवादी साहित्यवाला तथाकथित प्रमाण नहीं पाती है, और इन तीनों रामायणों की मिलीजुली ...हानी को साधारण गद्य में कह देनेवाली राजगोपालाचारी वाली किताब गाँधीवादी हो जाती है। अब तो, गाँधीवाद के ...नपने के पहले के बहुत-से उपन्यास और काव्य तक यह मोहर और रुतवा पा रहे हैं। मगर, प्रेमचन्द जहाँ-के-तहाँ रह ...जाते हैं। यह हर्ष की बात भी है कि प्रेमचन्द-जैसे मन्त्रद्रष्टा साहित्यकार, इस व्यापाराना दाँव-पेंच की दृष्टि से, परे ही रह ...जाते हैं और इस दाव-पेंच का खुलासा हमारे सामने हो जाता है। किन्तु, दुःख की बात तो यह है कि इन चरम-चालों के ...रण, देश के शहर-गाँवों के सभी पुस्तकालयों को, इतनी-सारी अवांछनीय चीजों को, खरीदने के लिये लाचार होना पड़ता है, ...र खास-खास संस्थाओं की जिस-किसी चीज को मिलनेवाला सरकारी प्रोत्साहन, देश की आवश्यक माँगों की पूर्ति करने की ...यतावाले शेष संस्थानों का दम घोंट देता है।

'पुस्तक-जगत' परिवार डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के आकस्मिक निधन पर डॉ० महोदय की दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना निवेदित करता है। गत २५ नवम्बर को डॉ० महोदय का पटने में निधन हुआ। आप काशी विश्वविद्यालय की अनेक वर्षों की सेवा के बाद १९४९ से पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग के अध्यक्ष नियुक्त थे और बिहार सरकार के पुरातत्त्व विभाग के संचालन का आप पर ही उत्तरदायित्व था। आपके निधन से देश को और विशेषतया हमारे राज्य को अपार क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति असंभव ही प्रतीत होती है।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग

पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

समाज-शास्त्र-विषय में हमारे दो महत्वपूर्ण प्रकाशन

भारतीय स्कूलों में समाज-अध्ययन का शिक्षण

(पुस्तकालयों और कालेजों में प्रचलित तथा उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

लेखक : प्रो० मुनेश्वर प्रसाद एम० ए० (द्वय), एम० एड्०

स्कूलों में समाज अध्ययन का शिक्षण अत्यावश्यक है। इस विषय पर हिन्दी में कोई चर्चास्पद पुस्तक है भी नहीं। शिक्षा-शास्त्री विद्वान् लेखक ने इस कमी की यथार्थ पूर्ति की है। 'नई धारा' जुलाई '५८ की पुस्तक-समीक्षा द्वारा हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची के लिये पत्रांक ८००८ ता० १७-१२-५६ द्वारा यह ग्रन्थ प्रस्तावित है।

मूल्य : ६.५०

समाज-अध्ययन विषय में विशेष

परिवार : एक सामाजिक अध्ययन

लेखक : पंचानन मिश्र

इस युग के श्रेष्ठ समाजद्रष्टा एंगेल्स के पाश्चात्य परिवार-अध्ययन के बाद अपनी परम्परा के इस अद्वितीय समाज-अध्ययन के विषय में प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री जयप्रकाश नारायण जी का मन्तव्य है कि : "श्री पंचानन मिश्र ने गहन और विवादग्रस्त विषय पर एक अधिकारी और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखा है।" पुस्तकालय-ग्रंथ-सूची ११६-५१ में देखें।

मूल्य : ४.००

ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रति अंक—[illegible] वार्षिक—तीन रुपये

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित ।

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

वरी, १६५६ : अंक—६ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

स्वत्वाधिकारत्व का घोषणा-पत्र, फार्म ४, रूल ८

१. प्रकाशन का स्थान	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४ (बिहार)
२. प्रकाशन का समय	मासिक (हर महीने की १० तारीख)
३. मुद्रक का नाम	सीताराम पाण्डेय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
४. प्रकाशक का नाम	सीताराम पांडेय, वास्ते ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना-४
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
५. संपादक का नाम	अखिलेश्वर पांडेय बी० ए०, बी० एल०
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नयाटोला, पटना-४
६. पत्र के स्वत्वाधिकारी	ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, खजांची रोड, पटना-४ मैनेजिंग डाइरेक्टर—श्री मदनमोहन पाण्डेय

मैं यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गए विवरण, जहाँ तक मेरा विश्वास और जानकारी है, सही हैं।

तिथि—१०-२-५६

सीताराम पांडेय

लेखक के लिए प्रकाशक बनना भी वांछनीय है



श्री द्वारका प्रसाद

"पुस्तक-जगत" के प्रथम अंक में सवाल उठाया गया है बेनीपुरी जी द्वारा—क्या लेखक के लिए प्रकाशक बनना वांछनीय है? और उन्होंने स्वयं उत्तर दिया है—कदापि नहीं।

"योजना" संपादक श्री वेदराही ने प्रत्युत्तर में कहा है—मुझे तो लेखक का प्रकाशक बनना अवांछनीय नहीं दिखता, जिस पर तीसरे अंक में श्री छविनाथ पांडेय जी ने लिखा है— (मेरा) संप्रति तो केवल यही कहना है कि लेखक का प्रकाशक होना वांछनीय नहीं।

उपर्युक्त तीनों लेखों को देखने के बाद यही कहना रह जाता है कि इस प्रश्न के दोनों पहलुओं को विद्वान लेखकों ने सामने रख दिया है, और इस संबंध में किसी का और कुछ कहना केवल मात्र किसी-न-किसी पक्ष का पुष्टीकरण होगा। मैं यहाँ सिर्फ यह कहना चाहूँगा कि न तो मुझे बेनीपुरी जी और छविनाथ पांडेय जी की बातें गलत लगती हैं और न श्री वेदराही जी की। दोनों एक-दूसरे की विरोधी होने पर भी अपनी-अपनी जगह सही हैं।

यह भी ठीक है कि लिखने का काम—चाहे वह बेनीपुरी और पांडेय जी के अर्थों में सृजन हो, अथवा कमर्शियल—लेखक से एकाग्रता की अपेक्षा करता है। अगर लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमान्दार है तो चाहे वह काव्य की सृष्टि कर रहा हो, उपन्यास लिख रहा हो या किसी वस्तुविशेष का विज्ञापन, उसे अपने मन-प्राण की सारी शक्ति उसमें लगा देनी होगी। लिखना स्पेशलाइजेशन के इस जमाने में किसी भी अन्य काम के मुकाबले अधिक स्पेशलाइज्ड काम है। इसलिए अगर लिखनेवाला इसके अलावा कोई भी और काम करता है तो अपने मुख्य काम को किसी हद तक क्षति पहुँचाता ही है।

लेकिन यह भी गलत नहीं कि आज का लेखक (विशेषकर हिन्दी का) सिर्फ लिखकर अपनी जीविका नहीं चला पा रहा है—इक्के-दुक्के सौभाग्यशालियों को छोड़ कर। सच बात तो यह है कि आजतक जितने भी हिन्दी-साहित्यिकों से लेखक की मुलाकात हुई है उनमें सिर्फ एक को ही उसने ऐसा पाया जो सिर्फ अपने लिखने के बल पर अपनी जीविका चला पाता है (और उसे भी अपनी दो-तीन पुस्तकें स्वयं प्रकाशक की हैसियत से छापते देखा, यद्यपि बाद में उसने यह काम छोड़ दिया)। बाकी के सभी किसी-न-किसी अन्य उपाय से अपनी रोटी चला रहे हैं। कोई कहीं संपादक है, कोई अध्यापक है, कोई रेडियो में है, कोई किसी विज्ञापन ऑफिस में कॉपी-राइटर है, कोई फिल्मों में संवाद और गाने लिखता है तो कोई प्रकाशक है। कुछ ऐसे भी हैं जिनके पेशे का कोई नाम तो नहीं दिया जा सकता, पर इतना कहा जा सकता है कि वे "राजनीति करके" अपनी गाड़ी चला रहे हैं।

लेख के इस छोटे-से कलेवर में इस वस्तु-स्थिति के कारणों के विश्लेषण में नहीं जाया जा सकता, लेकिन वास्तविकता यही है, इससे इन्कार करने की जुर्रत कोई नहीं कर सकता।

एक बार सुना गया था कि हिन्दी के एक ख्यातिलब्ध वयोवृद्ध साहित्यिक ने अपनी साहित्य-रचना से अपना घर-संसार चलना नितान्त असंभव पाकर पान की दूकान खोलने का ऐलान किया था। शायद बाद में मित्रों के समझाने पर कि मित्रता के नाते उधार-खाता चालू

रखने के कारण यह योजना सफल नहीं हो पायगी, उन्होंने इरादा छोड़ दिया।

तो फिर लेखक के लिए प्रकाशन का काम ही क्या बुरा होना चाहिए? पान बेचना भी समय चाहता है, कॉलेज में लेक्चर देना भी और रेडियो में प्रोग्राम और स्टेशन डाइरेक्टर के साथ सर मारना भी। यह सारा-कुछ ही लेखक की सृष्टि का बाधक है। तो अगर व्यावसायिक बुद्धि हो तो लेखक प्रकाशक भी बन सकता है--बनना ही चाहिए। सफलता-असफलता तो समय के हाथ है।

ताकि कोई मेरे उपर्युक्त कथन का गलत अर्थ नहीं लगा ले इसलिए अंत में यह भी कह देना चाहता हूँ कि दरअसल लेखक को सिर्फ लेखक ही रहने दिया जाय तभी साहित्य का वास्तविक अर्थ में सृजन हो सकता है और ऐसी परिस्थिति को पैदा करना पाठकों के हाथ में है, समाज के हाथ में है।

लेकिन जबतक ऐसा नहीं होता, लेखक चाहे तो शाक-भाजी की दूकान करले या किताबों की, कोई अन्तर नहीं पड़ता।



सौन्दर्य आन्तरिक वस्तु होने से उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता है।

—महात्मा गाँधी

हमारे पुरस्कृत प्रकाशन

१. कश्मीर	राजकुमार	४·००
२. दिगम्बर	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२·००
*३. नाना फड़नवीस	उमाशंकर	४·००
४. कावेरी में कमल	पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र	२·००
५. कवि भारतेन्दु	" "	२·००
६. माध्यम मैं	डा० शम्भूनाथ सिंह	३·००
*७. मीराँ (महाकाव्य)	परमेश्वर 'द्विरेफ'	५·००
८. धन्यवाद	'बेढब' बनारसी	२·००
९. उपहार	" "	१·७५
१०. साकल्य	पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी	४·००
११. आधान	" "	२·५०
१२. इनसे	आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल	२·५०
*१३. भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा	डा० मंगलदेव शास्त्री	७·००
१४. मधुमालती : मंझन कृत	डा० शिवगोपाल मिश्र	८·००
१५. हास्य की रूपरेखा	डा० एस० पी० खत्री	६·००
१६. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	त्रिभुवन सिंह	६·००
१७. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	डा० किशोरीलाल गुप्त	१०·००
१८. सूर के सौ कूट	चुन्नीलाल 'शेष'	५·००
१९. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास	डा० शम्भूनाथ सिंह	१२·००
२०. श्रीराधा का क्रमविकास	डा० शशिभूषण दास गुप्त	८·००
२१. डा० इकबाल और उनकी शायरी	प्रो० हीरालाल चोपड़ा	३·५०
२२. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य	डा० हरिकान्त श्रीवास्तव	१०·००
*२३. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	डा० भगवतीप्रसाद सिंह	१५·००
*२४. मानस : बालकाण्ड के मूल स्रोत	श्रीशकुमार	५·००
२५. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा	त्रिभुवन सिंह	४·००
२६. रत्नाकर और उनका काव्य	उषा जायसवाल	५·००
२७. छायावाद के गौरव-चिह्न	प्रो० 'क्षेम'	६·००
२८. राजनीतिक भारत (१७५७-१९५६)	राजकुमार	१०·००
२९. नेहरू और भारतीय राजनीति	प्रमोदकुमार	५·००
*३०. पुस्तकालय-विज्ञान	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	५·००
३१ भारत में पुस्तकालयों का उद्भव और विकास	द्वारकाप्रसाद शास्त्री	५·००
३२. मुद्रा और बैंक	सुधाकर पांडेय	६·००
३३. मिट्टी का प्रारम्भिक अध्ययन	डा० जयरामसिंह, डा० लवानिया	२·७५
३४ भारत की भौगोलिक समीक्षा	प्रो० कृपाशंकर गौड़	१०·००
३५. सदा सुहागिन रूठ गयी	प्रो० सुधाकर पांडेय	३·००
३६. नीलम और मसहरी की देवी	शारदा मिश्र	१·२५
३७. झाँसी की रानी (महाकाव्य)	श्यामनारायण प्रसाद	५·००

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी-१

* चिह्नित पुस्तकें प्रचारित हैं।

प्रेम की भाषा



श्री सुवीर रायचौधुरी

बहुतेरे लोग कहते हैं कि प्रेम की कोई भी भाषा नहीं होती, वह तो अभासों में ही अभिव्यक्ति पाती है। और, यदि उसकी अत्यन्त आवश्यकता भी हुई, तो उसके लिए संगीत और कविता का निश्चित क्षेत्र तो है ही। जबकि विराट् वैष्णव साहित्य और लोकगीतों की परंपरा का सुंदर भंडार है ही, तो इस प्रेम के लिए भाषा की खोज ही क्यों? अपने देश के बड़े-विद्वान भी तो इस प्रेम के निवेदन के लिए कीट्स, शेली और बायरन के गीत ही गाते हैं। किन्तु, इन गीतों और संगीतों के बावजूद, हम जानते हैं कि गल्प अथवा जीवन के कर्मक्षेत्र में हमारे दैनिक संलापों के सिवा, गान और कविता की भाषा से, प्रणय का निवेदन नहीं चला करता। विभिन्न गल्पों में हमारे ही प्रतिनिधि पात्र जब आपस में प्रणय-संलाप करते हैं, तो हमारे मन में होता है कि वे हमारी ही तो बातें कह रहे हैं और हमें भी आपस में उन्हीं के ढंग पर प्रणय-संलाप करना चाहिए। किन्तु, वास्तव जीवन में हम फिर भी उनकी तरह का प्रणय-संलाप नहीं कर पाते और यदि करें भी तो हमारे प्रेमी और प्रेमिका को वह दैनिक ढंग से कुछ इतना अलग लगेगा कि वे मुँह मोड़कर हँसने लगेंगे। हमारे जीवन की जितनी भी साधारणता हो, फिर भी हम यह बात हमेशा से मानते चले आए हैं कि प्रेम हमारे जीवन की असाधारण घटना ही है। इसीलिए अपने दैनिक जीवन में हमलोग जैसी अशालीन और अविन्यस्त भाषा का प्रयोग करते हैं, उसके मुकाबले प्रेम की भाषा के संबंध में कहीं अधिक सचेतन रहते हैं। प्रेम-पत्रों की तो बात ही क्या, अपनी साधारण कथावार्ताओं में भी हम कम या अधिक नाटकीयता के पक्षपाती हैं। फिर भी, साहित्य और गल्पों की भाषा से हमारी मौखिक भाषा में कुछ अन्तर है, क्योंकि अपने दैनिक जीवन की भाषा की व्यवस्था हमें खुद करनी पड़ती है, जबकि गल्पों के पात्र-पात्री, अतिसाधारण होने के बावजूद, अपने कथाशिल्पी के मुखपात्र होने के नाते, शिल्पमयी भाषा ही बोलते हैं। इसके अलावा, साहित्य में निहित संलापों में और भी कई प्रकार की कृत्रिमता हो सकती है। जैसे, संस्कृत के नाटकों में नायक-नायिका के संलाप को लीजिए। नायक अपनी बात कहता है संस्कृत में, नायिका उत्तर देती है शौरसेनी प्राकृत में और यदि उसे नायक के प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई गीत गाना होता है तो गाती है महाराष्ट्रीय प्राकृत में। हमारा प्रश्न है कि क्या अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उस जमाने के राजा-रानी भाषा के इस व्यवधान को मानकर आपसी आलाप-संलाप किया करते थे? हमारा तो विश्वास है कि भाषा का यह व्यवधान नितान्त असंभव है। जहाँ पर दो मन-प्राण मिल रहे हों, उस अलौकिक वातावरण में केवल भाषा को लेकर यह लौकिकता बरती जाय, यह अकल्पनीय बात ही है। नायक ने किसी उज्ज्वल मुहूर्त में नायिका से अनुरोध किया कि वह कोई गाना सुनावे, नायिका ने शौरसेनी प्राकृत में जबाब दिया—'अच्छा, सुनाती हूँ'—उसके बाद उसने गाना प्रारंभ किया महाराष्ट्रीय प्राकृत में। यदि यह रीति इस समय प्रचलित की जाय तो निश्चय ही हमारे युग के प्रेमी-प्रेमिका और पाठकगण दोनों ही अपने को विचलित बोध करेंगे। कल्पना कीजिए कि इस साहित्येतिहास की अनुप्रेरणा से यदि हमारे विधि-निर्माता यह नियम बनादें कि आज के

नायकगण अपनी नायिकाओं से प्रश्न करें भोजपुरी में और नायिकाओं का निवेदन हो मारवाड़ी में, तो कैसी गुजरे ?

भाषा का यह अनुशासन न होने पर भी, इतनी बात तो ठीक ही है कि हमलोग सांसारिक जीवन में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, हमलोगों को लेकर लिखे गए गल्प-उपन्यास की भाषा से उसका विस्तृत व्यवधान है। विशेषतः, प्रेम-संलापों में हम देखते हैं कि गल्पों के सभी पात्रों की भाषा में वाक्पटुता रहती है और कोई भी शिथिलता अथवा जड़ता नहीं बल्कि अत्यंत सहजता और स्पष्टता होती है। जैसे, एक शशि डाक्टर नामक पात्र एवं उसकी कुसुम नामिका प्रिया के बीच, उनके वार्तालाप से, उनकी शिक्षा अथवा पारिपार्श्विक वातावरण के अन्तर को समझने का कोई उपाय नहीं है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि सचमुच ही क्या कुसुम जैसी लड़की इस प्रकार का वार्तालाप कर सकती है, अथवा, शरच्चन्द्र की ग्रामवासिनी अशिक्षिता पात्री एवं नगर की उच्चशिक्षिता पात्री के किसी व्यवधान को क्या उन दोनों की भाषा से समझने का कोई उपाय है? फिर भी, ऐसे संलापों से क्या किसी समय हमारे मन में यह बात उठ सकी है कि इनके बीच कोई असंगति है? बल्कि इसके विपरीत ही यह धारणा होती है कि इनमें इस प्रकार का संलाप न होना ही असंगत होता।

मैं इस विषय में श्री बुद्धदेव वसु का यह उद्धरण दे रहा हूँ—"नाटकों और उपन्यासों की संलापरचना की समस्या कोई सहज नहीं है। हमारे मन में सबसे पहले यही बात आती है कि हमलोग साधारण भाषा में जिस तरह घरेलू बातचीत करते हैं, काल्पनिक चरित्रों से भी उसी भाषा की हूबहू अनुकृति कराना असंभव है। संसार के मनुष्य अपने मनोगतों को भाषा के माध्यम से अधिकांशतः व्यक्त नहीं कर सकते।

किन्तु, वास्तव जीवन में अपने मनोगतों को कह सकने का यह जो असामर्थ्य है, वह जीवन्त व्यक्ति की उपस्थिति से सामर्थ्य में बदल जाता है। क्योंकि उसकी भंगिमा, इंगित, कंठस्वर का उतार-चढ़ाव, हाथ-मुँह और आँख के इशारे, उस कमी को पूरा कर देते हैं। उपन्यासों में वैसी सुविधा नहीं है, वहाँ तो कंठ-स्वर या अंग-भंगिमा को बाद देकर केवल ठंढी छपाई के अक्षरों से ही कुल मनोवेगों को रूप देना पड़ता है। इसीलिए वहाँ भाषा की ही सम्पूर्णता चाहिए और इसी सम्पूर्णता के लिए लेखक को कला-कौशल की कुल निपुणता पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि वह निपुणता न होती तो लेखक को—खासकर गद्य लेखक को—शिल्पी कहकर सम्मान देना व्यर्थ होता, क्योंकि यदि वे शिल्पी नहीं हैं तो वे जो काम लिखकर कर रहे हैं, वही काम तो हम चार-पाँच जने इकट्ठे होकर गप-शप में हमेशा किया करते हैं।"—बुद्धबाबू की यह बात मान्य करने के लायक है।

हम समझते हैं कि प्रेमालाप के विषय में भाषा की इस अपूर्णता को समझकर ही हमारे देश की सभी भाषाओं के शुरू के उपन्यास-शिल्पी, नायक-नायिका के प्रेमालापों से कतराकर, आगे बढ़ जाते थे। उदाहरणस्वरूप, बंगला के प्रथम और ऐतिहासिक उपन्यास 'सफल स्वप्न' में जेहीरा और सुबुक्कगीन के प्रेमालाप का वर्णन किया गया है—"वे (सुबुक्कगीन) क्या बोले और गुणवती जेहीरा ने क्या उत्तर दिया इसका वर्णन करना असंभव है—यथार्थ प्रणय शुद्धात्मा मानव के हृदय में जैसी रमणीय भावनाओं को उत्पन्न करता है, उसे कौन कह सकता है?" कालजयिनी आयशा—जिसने "मेरे प्राणेश्वर आज बन्दी हैं" जैसी उच्चघोषणा की थी—उसने भी आगे चलकर जगतसिंह के आगे अपने प्रणयविह्वल कंठ से केवल इतना ही

कहा कि वह ऐसी बात करना नहीं चाहती। यह तो उसमान के कटु-आचरणों के चलते ही उसके मन की बात यकायक ओठों पर आ गई वर्ना किसी को सुनने का अवसर तक नहीं मिलता।

गत शताब्दियों के उपन्यासकार जिन बातों को सोचकर अपने उपन्यासों में प्रणय-संलाप देने से कतरा गए हैं, आज के उपन्यासकार उससे कतरा सकेंगे, आज के हिसाब से यह मनस्तत्वविरोधी बात लगती है। जिस प्रकार 'श्री' ने 'सीताराम' से कहा —'यदि हिन्दू की रक्षा हिन्दू न करे तो कौन करेगा'—वैसी ही बात यदि आज के उपन्यास की नायिका अपने नायक से कहे तो हमलोग क्षुब्ध होकर कहने लगेंगे कि लेखक को मनस्तत्व का गहरा ज्ञान नहीं है। फिर भी, हमारे पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की जो यह धारणा थी कि—साधारण चरित्रों में प्रणय-संलाप देना बहुत ही बेमानी है; क्योंकि नायक-नायिका में आयु और अनुभवों का अंतर, शिक्षा का व्यवधान, इसके

अलावा सामाजिक नियंत्रण तो है ही—वह कुछ ठीक ही लगती है। वे अपने इन तर्कों के कारण ऐतिहासिक रोमांसों से कतरा कर निकल गए, क्योंकि उन्हें शायद यह नहीं पता था कि आज के हम पाठकगण प्रेम की भाषा के संबंध में इतने उत्सुक हैं कि अतिरंजनप्रियता की हद तक उतर चुके हैं। "जमुना नदी में कित्ता पानी !"—यह प्रश्न हमारे लिए आज भी अविस्मरणीय है, किन्तु किसी अज्ञातयौवना के मुख से "इत्ता !" कहवाकर ही क्या हम सचमुच समझ लेते हैं कि यह हुई प्रेम की भाषा ? हमलोग सभी तो जानते हैं, इस देश में चाहे कितने ही ऊधो-माधो जन्म ग्रहण करें, हमारी निरुपमाओं के मुख से निकला हुआ "धत्" "हाय" "छिः" हमारे युगयुगीन सार्थक गीतों से भी अधिक अर्थपूर्ण है।



हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के लिए एक ही लिपि होनी चाहिए और वह देवनागरी ही हो सकती है, ऐसा मेरा पक्का विश्वास है।

—महात्मा गाँधी

हम भी आन्दोलन करें
सक्रिय बात



श्री रामतीर्थ भाटिया

अक्तूबर के अंक में इसी पूर्व-शीर्षक के अन्तर्गत मैंने एक विदेशी घटना का उल्लेख किया था, पुस्तकों पर कमीशन संबंधी विवाद के विषय में। उस उल्लेख का स्पष्ट तात्पर्य था कि विदेशों में पुस्तक-व्यवसाय प्रभावशाली और प्रकाशकों और विक्रेताओं के हितों का इतना समान साधक है कि वहाँ की जनता और सरकार भी विद्या-प्रचार जैसी बुनियादी चीज में केवल टीचर-प्रोफेसर-शिक्षाविभाग और सरकार की चौकड़ी को ही यहाँ की तरह पर्याप्त नहीं समझती बल्कि पुस्तक-व्यवसाय से संबंधित हर व्यक्ति और संस्थाओं को भी प्रमुख भाग मानती है। जब ऐसा दृष्टिकोण हो तो प्रकाशकों या विक्रेताओं की उपेक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, वहाँ के प्रकाशकों और विक्रेताओं ने भी अपनी इस प्रतिष्ठा को पाने में कितनी साधना और कितना बलिदान किया है, इसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

हर व्यवसाय—नौकरी-चाकरी या खेती की तरह—जीवन-निर्वाह के ही लिए हैं और निर्वाह का स्तर जितना ही ऊँचा होता जायगा उतनी ही आमदनी की आवश्यकता बढ़ती जायगी। सूत्ररूप से यही बात प्राकृतिक और स्वाभाविक भी है। किंतु, आश्चर्य तो यह है कि इस व्यवसाय में सफलता, लाभ और प्रतिष्ठा के साथ दूसरे देशों के लोग हमसे बहुत आगे हैं और उन्हें सारी ईमानदारियों और अनुशासनों का सार्टिफिकेट भी प्राप्त है, जबकि हम इतने हेर-फेर और अनैतिकताओं के कुल गड़बड़ करके भी धन कमाने तथा व्यावसायिक उन्नति एवं प्रतिष्ठा पाने में पिछड़े हुए हैं और कुल आरोपों से लदे जा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि नाजायज लालच से इस प्रकार के व्यावसायिकों को तात्कालिक लाभ भले ही हो किन्तु किसी ठोस आधार पर उनका निर्माण असंभव है। जो पहले कुछ खोना सीखता है वही आगे कुछ पाता भी है। यदि हमारे विक्रेता और प्रकाशक—जिसमें कि उनका सम्मिलित स्वार्थ निहित है—उस कमीशन संबंधी छोटी-सी भी गड़बड़ी के विरुद्ध सचेत रहें तो उनके विरुद्ध आरोप लगाने की किसी बड़े-से-बड़े अधिकारी को भी हिम्मत नहीं होगी। विदेशी विक्रेता-प्रकाशकों की स्थिति के मुकाबले अपनी दुःस्थिति पर वाद-विवाद में यह उत्तर खड़ा किया जा सकता है कि—"जनाब, क्या उन लोगों में कोई त्रुटि नहीं; और हमारे यहाँ कोई अच्छाई नहीं?" —किन्तु, परिणाम तो किसी लिखने वाले के हाथ की चीज नहीं है, अच्छाई-बुराई तो स्वयं ही मुँहबोलती तस्वीरें होती हैं। यदि हमारे काम-काज में त्रुटियाँ हैं तो उन्हें न मानना भी तो बेईमानी है। विदेशी प्रकाशकों की कुछ त्रुटियाँ उनकी अधिक अच्छाइयों में छिप जाती हैं, मगर हमारी अधिक बुराइयाँ थोड़ी अच्छाइयों को जो ढाँप रही हैं, वही तो चिन्तनीय है। इसी से तो अब हमें क्रान्तिकारी स्तर पर विचार और अमल करने की आवश्यकता है।

सबसे पहले, नेतृत्व के स्तर पर उठे हुए हमारे प्रकाशकों को अपने गरेबान में मुँह देकर देखना चाहिए कि वे अपने अतिस्वार्थों से किस हद तक दूषित हो चुके हैं, तभी विक्रेताओं के विषय में कुछ कहने का उनका हक

माना जा सकता है। दो-तीन वर्ष पूर्व, एक जयपुर की खरीद में उनका भंडा फूट चुका है और उससे आपसी मतभेद और द्वेष ऐसा पैदा हुआ है कि वह आजतक एक अप्रिय चिह्न बना हुआ है।

जयपुर में अगर कोई अपना अरमान किसी कारणवश नहीं पूरा कर सका तो दूसरी जगह उसकी कसर निकालने लगा। ये बड़े प्रकाशक लोग इतना भी तय नहीं कर सके कि हमलोग किस जगह किसी सीमा तक स्वयं सप्लाई नहीं करेंगे, ताकि स्थानीय विक्रेता—जो हर प्रकाशक का एक प्रकार से स्थानीय वितरक है—प्रकाशकों को अपना प्रतिद्वन्द्वी न समझने लगे। प्रकाशक लोग एक छोटी-सी सप्लाई में बड़े-से-बड़े टेंडर भरने के लिए सीधा टिकट कटाते हैं, ट्रंकों में माल भर कर हर लाइब्रेरी स्कूल-कालेज और ब्लाकों में सीधे पहुँच जाते हैं—इस सूरत में तो पुस्तक-व्यवसाय के हित की किसी स्थायी योजना में विक्रेताओं से सहयोग की आशा एक नाजायज बात ही है। पुस्तक-व्यवसाय में प्रकाशक एक अल्पसंख्यक वर्ग है; विक्रेता, एजेन्ट, कर्मचारी और लेखक की अपेक्षा। किन्तु, प्रभावशाली गुट वही है। फिर भी, पूँजी के आधार पर ही किसी के प्रभुत्व की परिपाटी के दिन अब लद चुके हैं। आज बहुलता का—अर्थात् जनसंख्या की शक्ति का—उदय हो चुका है। यह किसी व्यक्ति का दोष नहीं कि वह अर्थाभाव के कारण प्रकाशक नहीं बन सका। फिर भी, इस प्रभावशाली प्रकाशकवर्ग को, ऐसी किसी योजना को विक्रेताओं पर लादने का कोई नैतिक या व्यावहारिक अधिकार नहीं है कि जिस संगठन और योजना में विक्रेतावर्ग का हाथ न हो और उनके प्रतिनिधित्व की स्वीकृति न हो। प्रकाशक-संघ में विक्रेताओं के सदस्य न होने से यही अनधिकृत स्थिति पैदा हो रही है। प्रकाशक-संघ को चाहिए कि विदेशों का मिसाल न सही, पर अपने यहाँ के बंबई, मद्रास बंगाल आदि प्रान्तों का उदाहरण तो सामने रख लें कि इन हिंदीतर प्रान्तों में, पुस्तक व्यवसाय-संघों में, जो बात प्रकाशक और विक्रेता दोनों की अथवा सारे व्यवसाय के हित की होती है, उसका लिहाज किया जाता है। उस आन्दोलन के लिए गैर-हिन्दी प्रान्तों में पुस्तक-व्यवसाय-संघ बने हैं—या प्रकाशक-विक्रेता-संघ उनके नाम हैं। इसी कारण वे जोरदार संस्थाएँ हैं। मेरे व्यावसायिक आन्दोलन का पहला उद्देश्य यही है कि हमें सरकारी धाँधलियों के विरुद्ध कार्रवाई करना और कमीशन आदि के सवालों पर स्पष्ट व्यापारिक नीति निर्धारित करना आवश्यक है। एक ऐसी संस्था, जो सारे पुस्तक-व्यवसाय से संबंधित व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हो, जल्द-से-जल्द

उक्त कार्रवाई और नीति का निर्धारण करे तथा अपने संगठन तथा कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए दो या पाँच वर्षीय योजना बनाकर आगे बढ़े और योजना के निश्चित समय में केवल निश्चित बातों को ही पूर्ण करने का बीड़ा उठावे ताकि फिर व्यवस्था में रेलमेल न हो। हमारे व्यवसाय को पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के कारण बड़ी हानि पहुँची और पहुँच रही है। किंतु अपनी मौजूदा स्थिति में तो हमें यही अनुभव करना पड़ रहा है कि जैसे इस राष्ट्रीयकरण का वापस होना असंभव है। इसके बाद, जो साहित्यिक पुस्तकों का कारोबार प्रकाशकों और विक्रेताओं के हाथ में रह गया है, उसमें भी हस्तक्षेप हो रहा है। इतने के बावजूद, सरकार अनुदान देकर जो खरीद करती है, उसपर उसका टेंडर माँगने और कम्पटीशन करने-कराने आदि धाँधलियों के बीच से भी सरकार कुछ और हड़प जाती है। इस प्रकार की धाँधली के शिकार बनने में हिन्दी के प्रकाशकों और विक्रेताओं का कुछ कम दोष नहीं है। क्योंकि वही सरकार अंगरेजी पुस्तकों पर हिन्दी के बनिस्बत भारी अन्तर से कम कमीशन और हिन्दीतर बँगला, तामिल आदि राज्य-भाषाओं पर रियायती कमीशन स्वीकार कर लेती है। अतः स्पष्ट है कि सरकार के साथ-साथ हमारा भी दोष है। अँगरेजी या अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा हम ही इस गलत परम्परा पर सरकार के साथ चलने को अधिक तैयार हो जाते हैं। यों देखा जाय तो, कमीशन लेना सरकार की कोई तयशुदा पालीसी नहीं है, लेकिन या तो हमारी फूट और पालीसी-हीनता से फायदा उठाने के कारण या किन्ही दूसरे कारणों से, सरकार इसे पालीसी-जैसा बनाए हुए है और इस प्रकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के बावजूद यतीमों या सौतली

सन्तानों की तरह छोड़े हुए हैं। इसलिए इस उपेक्षा के विरुद्ध हमारी यह अपेक्षा है कि अपनी राष्ट्रभाषा-सेवा की, हितों की और राष्ट्र-भाषा की प्रतिष्ठा के लिए हम कुछ नीति निर्धारित करें और तदनुसार चलें, ताकि हमारे पवित्र व्यवसाय के विरुद्ध सरकारी अधिकारियों के अपवित्र व्यवहारों को कुंठित होना पड़े।

कमीशन संबंधी मामले में, कुछ पहले, एक ही विभाग के दो बड़े अधिकारियों से मेरी बात हुई और दोनों के उत्तर एक-दूसरे से भिन्न थे। उसी समय मुझे अपने वर्ग की गलती और कमजोरी का—शायद पहले-पहल—ध्यान आया कि हमारी तरफ से शायद इन अधिकारियों को यह बताया ही नहीं गया है कि कमीशन माँगना—और वह भी कम्पटीशन की हद तक—किसी भाषा की प्रगति के लिए बाधक है। मैंने, एक जगह, एक और शिक्षाधिकारी को अपनी बात की पुष्टि के लिए कह दिया कि यदि आप—अर्थात् सरकार—कमीशन न लें, तो प्रकाशक प्रायः सभी पुस्तकों की जिल्दें को पक्के कपड़े और किरमिच की कर दें। हालाँकि मैंने उस समय अँधेरे में तीर मारा था, लेकिन जब बाद में सोचने लगा और कई अनुभवी मित्रों से विचार किया तो बात निराधार नहीं लगी। अतः हमारा पहला कर्तव्य है कि इस सरकारी कमीशन और टेंडर की प्रणाली के विरुद्ध कम-से-कम फिलहाल एक स्मृति-पत्र-आन्दोलन तो चलावें ही और इसके लिए एक

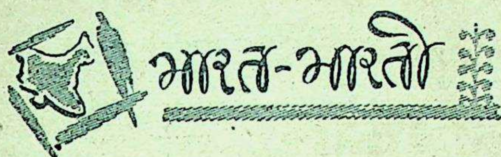
ऐसा पम्फलेट निकालें जो सरकार के प्रधान-मंत्री, मुख्यमंत्रीगण, शिक्षामंत्रीगण, स्कूल-इंस्पेक्टर, ब्लाक-अफसर से लेकर स्कूलों के हेडमास्टर तक, सभी के पास जाय। हर प्रकाशक और विक्रेता अपने लिफाफे, कार्ड, सूचीपत्र, पोस्टर और पत्र-पत्रिका आदि में—भले ही दो शब्दों के संक्षिप्त किन्तु भावुक वाक्य में—इन दोनों प्रणालियों के विरुद्ध मोहर या मुद्रण जारी करें, उसमें "साहित्य और विद्या की सौदेबाजी मत करो" या इस जैसा ही कोई निर्णीत वाक्य हो। जिस तरह सरकार नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट की बिक्री के लिए डाक, रेल और अस्पताल आदियों में मोहर चलाती है उसी तरह हम भी तो अपने पक्ष का मोहर जारी कर सकते हैं। स्थानीय विक्रेता और प्रकाशक अपना प्रतिनिधित्व बनाकर अपने स्मृतिपत्र के आधार पर स्थानीय शिक्षाधिकारियों प्रधानाध्यापकों और प्रिंसिपलों से मिल कर यह निवेदन कर सकते हैं कि संसार में विदेशी भाषाओं में इस प्रकार की सौदेबाजी नहीं होती, वहाँ की सरकारें ऐसी बातों को समाज की नींव मानकर चल रही हैं, इतने व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण के बाद यही एक व्यवसाय स्वतंत्र प्राइवेट सेक्टर रह गया है, अगर इसमें भी सरकार ने टाँग अड़ाई तो विचार और अध्ययन की स्वतंत्रता बड़ी मँहगी चीज हो जायगी—आदि।

सरकार की ओर से पंचवर्षीय योजना के लिए रुपये की कमी की दलील देते हुए जगह-जगह पर पुस्तकालय खोलने के लिए पुस्तकों पर २०-२५-३० प्रतिशत कमीशन की माँग की जा रही है, ताकि उससे वह उतने ही खर्च में दस के बजाय पन्द्रह पुस्तकालय खोल सके। यह दलील या बहाना यों देखने में तो बहुत सुन्दर लगता है किन्तु गहरी नजर से देखने पर यह एक अनैतिक और कई दृष्टिकोणों से अनुचित बात लगती है। पहले तो, टेंडर या कमीशन के नाम पर सरकार यदि इतना धन न ऐंठे तो कोई कारण नहीं कि पुस्तकें इतनी मँहगी और अनघड़ हों। दूसरे, कोई सरकार सभी काम को आर्थिक हानि-लाभ की दृष्टि से ही देखे तो नैतिक विषयों में देश अवश्य ही अवनत होगा। उदाहरणस्वरूप, शराबबन्दी से सरकार को करोड़ों का नुकसान होता है और इसीलिए तथाकथित अर्थशास्त्र के पंडितगण शराब को जारी रखना भी चाहते हैं। किन्तु, क्या इसी दलील पर यह गाँधीजी और नेहरूजी की सरकार शराब चलाना चाहेगी?

अन्त में, मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि पुस्तकों तथा शिक्षा के राष्ट्रीयकरण, सरकारी कमीशनखोरी तथा टेन्डर-प्रथा जैसी प्रमुख बुराइयों के विरुद्ध जहाँ एक ओर पुस्तक व्यवसाय-संबंधी सभी वर्गों का एक संगठन बने और वह इन बुराइयों को समाप्त करने के लिए योजनाबद्ध कार्यवाही करे, वहीं दूसरी ओर इस आन्दोलन को बल देने के लिए स्मृतिपत्र, हस्ताक्षर आन्दोलन, अपनी तीनों-चारों प्रकाशन-पत्रिकाओं के द्वारा प्रचार-विचार कार्य हो और इस प्रकार प्रत्येक सरकारी अधिकारी के दृष्टिकोण और अनुत्तरदायित्व का पर्दाफाश किया जाय। यदि कमीशन-प्रथा यकायक बन्द नहीं की जा सकती तो इसे क्रमशः गिराने की कोशिश की जाय और इसके कतई समाप्त होने तक के लिए एक 'इन्ट्रीम पीरियड' और उसके कार्यक्रम की माँग की जाय। इसके अलावा किसी राज्य-विशेष में, अपने संघ के सहयोग से, इस प्रकार की किसी सरकारी बड़ी खरीद पर 'टेस्ट केस' तो खड़ा ही किया जा सकता है और सरकारी खरीद के समय कुछ प्रमुख प्रकाशक वहाँ स्वयं मौजूद रह कर सत्याग्रही कदम तो उठा ही सकते हैं। हो सकता है कि अपने वर्ग की कोई काली भेड़ हमारे प्रयासों में उल्लंघन

डाले, किन्तु यह तो हमारे संगठन और प्रचार पर निर्भर है कि उसे तौबा बोलना ही पड़ेगा। हमारे कुछ बड़े प्रकाशक साथी उपर्युक्त वातावरण को बनाए बिना ही लंबी छलाँग लगाना चाह रहे हैं और अपने स्वार्थ से एक पाई तक बिना निकाले ही विक्रेताओं पर यह तलवार लटकाना चाहते हैं कि यदि उन्होंने उनके नियत नियमों के विरुद्ध माल बेचा तो उन्हें माल नहीं दिया जायगा। चुनांचे, हमने सुना है कि अपना हौसला बिना दिखाए ही विक्रेताओं को डपटने वाले इनमें से कई लोग अपनी पहली लंबी छलाँग में ही मुँह के बल गिर पड़े हैं और उन्हें अब 'फर्स्ट-एड' की जरूरत हो रही है। हमें उनसे पूरी हमदर्दी है, क्योंकि यह मानना चाहिए कि कमीशन की धाँधली के विरुद्ध उनका उद्देश्य बुरा नहीं था, बल्कि उनका यह प्रयास असफल होने के बावजूद हमारे दीमागों पर एक अच्छा असर ही छोड़े हुए है, जो हमें हमारे आगामी प्रयासों में सहायता देगा।





कन्नड़ साहित्य गीति-काव्यधारा



श्री गुरुनाथ जोशी

विदित ही है कि काव्य के दो प्रधान रूप—दृश्य और श्रव्य—होते हैं। मेरा वर्ण्य-विषय कन्नड़ का श्रव्यकाव्य ही है। श्रव्य के भी दो रूप हैं; प्रबंध और मुक्तक तथा प्रबंध के खंडकाव्य-महाकाव्य एवं मुक्तक के पाठ्य तथा गेय नामक दो-दो और विभाग हैं। कवि जहाँ पाठ्य-मुक्तकों में अपने मनोगतों को वकील की सतर्कता के साथ पेश करता है; वहीं, गेय-मुक्तकों में लयात्मक निवेदन और सहज स्वाभाविकता के साथ। इन्हीं गेय-मुक्तकों को हिंदी में प्रगीत या गीति-काव्य कहते हैं और कन्नड़ में भावगीत। भावातिरेकता एवं लयात्मकता ही इनका प्राण है।

ये भावगीत कन्नड़ के प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। शिवशरणों के वचन, हरिदासों के भक्तिगीत और लोकगीत इसी कोटि के हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के अंत और बीसवीं शताब्दि के प्रारंभ में—अर्थात् राष्ट्रीय उत्थान-काल में—इन भावगीतों में कुछ और तेजी आई। बल्कि प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पश्चिम के दरवाजे के खुलने और विज्ञान-मंदिर के उद्घाटित होने के बाद, इनकी ओर हमारे कवियों का ध्यान अधिक गया, और तब, इनमें अनुभूति की तीव्रता वाली नैसर्गिक स्वच्छन्दता की—अंगरेजी लिरिकों जैसी—प्रेरणा आई।

इन भावगीतों के प्रारंभ के संबंध में कन्नड़ भावगीतों के आधुनिक कवि श्री द० रा० बेन्द्रे 'अंबिकातनयदत्त' कहते हैं—"कन्नड़-कण्व के नाम से प्रख्यात श्री बी० एम० श्रीकंठय्या ने अंग्रेजी संस्कृति और अंग्रेजी साहित्य-सागर में पैठकर जनता के हृदय-संतोष के लिए कन्नड़ भावगीतों को जन्म दिया। उनके 'अंग्रेजी गीत'—जो कन्नड़ का रूप लेकर आए—नई कन्नड़-काव्यधारा के जनक बने। उनके मार्गदर्शन से कन्नड़ में भावगीतों का मार्ग खुल गया।" कर्नाटक के कवियों ने इसी मार्ग को अपनाकर बाद में कन्नड़-वाङ्मय को अलंकृत किया और उनके गीत कोमलता, मधुरिमा तथा निजीपन से परिपूर्ण होकर उपस्थित हुए। प्रो० एस० बी० रामेश्वर भट्ट के शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनमें विषयों के ग्रहण, निरूपण तथा विवरण की अपेक्षा भावग्रहण, अनुभव-विवरण तथा रसनिरूपण की अधिक मात्रा थी। इसके साथ ही हम उनमें राष्ट्रीय तथा सामाजिक प्रज्ञा, प्रणय, प्रकृति, अनुभाव, वैज्ञानिक प्रभाव और नाना वादों को भी पाते हैं। उनमें भावों की दृष्टि से ही नहीं, प्रकारों की दृष्टि से भी विविधता है तथा अंगरेजी भावगीतों के सभी रूपों को कन्नड़-हृदय के उद्गारों में ढाल लेने का प्रयास। कुछ कवियों के द्वारा कन्नड़ी 'लोकलय' को अपना लेने के कारण, इन भावगीतों से कन्नड़-जन तन्मयता की आनन्द-समाधि भी पाते हैं। इन तन्मयता जगानेवाले कवियों में प्रमुख हैं श्री बेन्द्रे।

कन्नड़ के अन्य गीतिकाव्यों और भावगीतों के रचयिताओं में सर्वश्री डी० वी० गुंडप्पा, श्रीनिवास, बेटगेरी कृष्णशर्मा, विनायक गोकाक, बी० सीतारामय्या, कुवेंपु, ईश्वर सणकल, कडेंगोडलु शंकरभट्ट, चेन्नवीर कणवी, गोविंद पै, डा० डी० एस० कर्की, श्रीमती पार्वती हेगड़े आदि उल्लेखनीय हैं।

बारहवीं सदी में—जब से कि इन कन्नड़ भावगीतों का प्रारंभ होता है—कर्नाटक में एक अभूतपूर्वक सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति हुई। उस क्रान्ति के नेता थे भक्तिभंडारी बसवेश्वर। उनके स्थापित 'अनुभव मंटप' में प्रवेश कर कई शिवशरणों ने अपूर्व वचन-साहित्य का निर्माण किया, जिन वचनकारों में महादेवियक्क का स्थान बहुत उन्नत है। तदनन्तर सोलहवीं सदी में 'सर्वज्ञ' नामक एक विरक्त कवि हुए जिनने त्रिपदी छन्द में रचनाएँ कीं। उनके विशाल अनुभव और तदनुसार विषय-विविधता के उन्नत वचनों में से कुछ यों हैं:—

"एक पग आगे रखो तो स्वर्ग,
एक पग पीछे रखो तो नर्क।"

अपने लोक-लयगीतों में वे कहते हैं :—

"बिछौना बिछाने कहा
चमेली पहनने कहा
और तंग आई तो
मुझको सोने कहा।"

"पति-पत्नी का झगड़ा
चंदन-पानी का रगड़ा है,
परमेश्वर के सिर चढ़ने के लिए।"

कर्नाटक में अनेक संत-कवि हुए हैं। उनमें श्री जगन्नाथदास (मृ० १८०६) का प्रसिद्ध पद है :—

"वर्षा ही मज्जन, दिग्वलय ही वसन,
मलयानिल ही श्रीखंड-धूप!"

आधुनिक कन्नड़-कवियों में श्रेष्ठ श्री के० वी० पुट्टप्पा ने अपनी उपन्यास, कथा, नाटक आदि श्रेष्ठ रचनाओं के अलावा, कथाकाव्यों की

आधुनिकतम शैली दी है। उनका 'रामायण दर्शनं' नामक महाकाव्य कन्नड़-साहित्य-मंदिर में कलश समान है। राग-रागिनियों में बद्ध गीत-रचनाकारों में कवि 'कुवेंपु' अतिप्रसिद्ध हैं। उदाहरणस्वरूप उनका पद है :—

"जीवन-वन के काव्य-मयूर,
नाचो मोहन काव्य-कलापी
ललित लास्य में दूर-सुदूर।"

आधुनिक गीतिरचनाकारों में अग्रणी श्री बेन्द्रे की 'रुद्रवीणा' शीर्षक रचना कन्नड़ में एक क्रान्तिकारी रचना मानी जाती है। कोमल भावों के लयशील कवि प्रिंसिपल कर्की की प्रसिद्ध रचना 'जलकन्निका' देखिए :—

"सोमेश्वर से घर-आँगन में
जलकन्निका नाचती है रे!"

प्रिंसिपल वी० के० गोकाक 'विनायक' कन्नड़ और अंगरेजी साहित्य के सव्यसाची हैं। आप अच्छे वक्ता, समालोचक, उपन्यासकार और कवि हैं। वाणी और विचार की गंभीरता आपकी रचनाओं के नाते-बाने हैं। अपनी 'भावगीत' शीर्षक रचना में वे कहते हैं :—

"आ यहाँ, या जा वहाँ,
मैं मल्लिकायें लाउँगा।
स्नेह का या प्यार का
यों चिह्न रखता जाउँगा।"

श्री० ईश्वर सणकल विगत ३० वर्षों से कन्नड़ काव्यश्री को अलंकृत कर रहे हैं। आपके हृदय में जो तड़फ है उसे इस 'दीपावली' शीर्षक पद में देखें :—

"हृदय-नीलांजन की वाती
जो जलकर बुझ भी गई,
उसकी ही चिता पर
कनक-ड्योढ़ी नई!
क्या कटु-कठिन पूजा हो रही है?"

वेटगिरि कृष्णशर्मा उपन्यास, कहानी तथा समीक्षा-क्षेत्र में तो प्रसिद्ध हैं ही, इनके अलावा रेडिओ-गीत-रूपककारों में भी अग्रणी हैं। कन्नड़ के अबाध गीत-साहित्य के अन्यान्य प्रमुख ज्योतिस्तंभों में सर्वश्री गुंडप्प, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, वी० सी०, कंडेगोडलु शंकर भट्ट, चेन्नवीर कणवी, पार्वती देवी हेगड़े, रंगनाथ मुगली, हलसंगी चेन्नमलप्प, गोविन्द पै, श्रीकंठय्य, नरसिंहाचार, दिनकर देसाई, एस० डी० इंचल आदि हैं। इनकी गीतिगिरा की गूँज आज के सम्पूर्ण कन्नड़ को गुंजरित किए हुए है।



सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध किस तरह हो सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। ऋग्वेद का एक वाक्य मैंने पढ़ा है, जो एकदम मेरे गले के नीचे उतर गया—"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत, अत्रा सखायः सख्यानि जायते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिता वाचि"। इसका अर्थ है कि जिस समाज में धीर पुरुष ध्यानपूर्वक मननपूर्वक वाणी को बनाते हैं, उसका संस्कार करते हैं—अर्थात्, जैसे छलनी से छानकर हम निस्सार वस्तु को दूर करके सार ले लेते हैं, वैसे वाणी को छानते हैं और उसमें से सत्वांश ग्रहण करते हैं—उस समाज में लक्ष्मी निवास करती है।

—आचार्य विनोबा भावे

अमेरिका में पुस्तक व्यवसाय



श्री राजगुरु

बुक-क्लब-समूह :—अमेरिका के कई लाख बुक-क्लबों के सदस्य कोई विशेष पुस्तक पसन्द करने के विषय में, इन्हीं क्लबों पर निर्भर रहते हैं। विशिष्ट व्यक्ति एवं साहित्य-समालोचकगणों की ओर से जो पुस्तकें श्रेष्ठ घोषित होती हैं, अमेरिका के पाठकगण उनमें से चुनकर इन क्लबों के ही द्वारा ५-६ पुस्तकें सदैव खरीदते रहते हैं। इन क्लबों से खरीदने में, उल्लेखनीय उपन्यास और दूसरी पुस्तकों को खुदरा खरीदने में जो दाम देना पड़ता है उसके मुकाबले, बहुत कम दाम पाठकों को देना पड़ता है।

इस समय अमेरिका के दो बड़े बुक-क्लबों में से एक की सदस्य-संख्या ५ लाख और दूसरे की १० लाख है। इन दोनों क्लबों की स्थापना हुए ३० वर्ष से अधिक हो रहा है। इस समय और भी कई क्लब आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन इन सबों में कइयों का कारबार केवल इतिहास, शिल्पकला, धर्म या स्थायी साहित्य तक ही सीमित है। ये क्लब वर्ष में लगभग ५ करोड़ ५० लाख पुस्तकों की प्रतियों की बिक्री करते हैं।

क्लब-समूह जिन पुस्तकों का चुनाव करता है, उनका साहित्यिक गुणागुण या मूल्य, प्रति-वर्ष साधारणतः जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनकी तुलना में, अत्यंत अधिक है। उनकी इन पुस्तकों की शतशः समालोचना-पर्यालोचना से यह सचाई प्रमाणित होती है। १९५७ साल में उपन्यास को छोड़कर दूसरी के बीच जो सब पुस्तकें श्रेष्ठ कहकर निर्वाचित हुई हैं, उनमें विन्स्टन चर्चिल की 'हिस्ट्री आफ दि इंगलिश स्पीकिंग पीपुल्स', कार्ल सैण्डबर्ग रचित चार खंडों में प्रकाशित 'अब्राहम लिंकन की जीवनी', अर्नाल्ड टायनबी का दो खंडों में प्रकाशित 'ए स्टडी आफ हिस्ट्री' का संक्षिप्त संस्करण एवं आइवर लिसनार की आदिम-युग की मानव-सभ्यता की पर्यालोचना 'दि लिविंग पास्ट' भी हैं।

विदेशी पुस्तकों का आयात:—अमेरिका की बड़ी पुस्तकों की दूकानों में वहाँ की पुस्तकें तो हैं ही, इसके अलावा उन दूकानों में विदेशी पुस्तकें भी पर्याप्त प्रचलित हैं। १९५६ साल में १८४० एवं १९५७ में २०४० विभिन्न विषयों एवं विभिन्न नामों की नई पुस्तकें विदेशों से संयुक्त-राष्ट्र में मँगाई गई थीं। इन सब पुस्तकों में उपन्यास, दर्शन, बाल-साहित्य, एवं अन्यान्य विषयों की पुस्तकों की तुलना में विज्ञान, शिल्प, इतिहास, जीवनी और भूगोल-विषयक पुस्तकें ही अधिक थीं। अधिकांश पुस्तकें अंगरेजी थीं, जो कनाडा और ब्रिटेन से मँगाई गई थीं। फिर भी, शहरों की अनेक पुस्तक-दूकानों में फ्रांसीसी, जर्मन एवं स्पेनिश भाषाओं की पुस्तकें पाई जाती हैं। अमेरिका में अवश्य ही इंगलिश एवं आयरिश लेखक-वर्गों के बहुत-से भक्त और अनुरागी पाठक हैं। प्रत्येक वर्ष अमेरिका और ब्रिटेन में शेक्सपियर का नए-से-नया संस्करण प्रकाशित होता है। चासर, डिफो, स्टार्न एवं ट्रलोप की पुस्तकें अमेरिकी लोग चिरकाल से ही पसन्द कर रहे हैं। उनके आजकल सबसे प्रिय लेखक हैं--जार्ज बर्नार्ड शा, जार्ज आरवेल, जेम्स ज्यस, फ्रांक ओ कोनर सिन, फाओलेन, इवलीन और ओलिक।

विदेशी पुस्तकों को मँगाने के लिए जिस मात्रा में धन लगाया जा रहा है, वह १६५२ साल से १६५७ तक, इन ६ वर्षों में क्रमशः बढ़ ही रहा है। विदेशों की किसी-किसी सरकार के साथ चुकता किए जाने के अनुसार, संयुक्त-राष्ट्र की सरकार ने सभी राष्ट्रों को सस्ते दामों की पुस्तक देने के व्यापार में सहायता की है। संयुक्त-राष्ट्र की सरकार ने इन सभी देशों से डालर के मूल्य पर पुस्तकें खरीदी हैं और उन देशों की मुद्रा के मूल्य पर पुस्तकें बेची हैं। इस बिक्री से प्राप्त आय को संयुक्त-राष्ट्र ने उन देशों की दस्तकारी, सहयोगिता और विभिन्न योजनाओं के काम में दान दिया।

प्रत्येक वर्ष विदेशी भाषाओं की सैकड़ों पुस्तकों का अनुवाद अमेरिकी पाठकों के लिए होता है। १६५७ साल में संयुक्त-राष्ट्र के विभिन्न पुस्तक-प्रकाशन-प्रतिष्ठानों ने विभिन्न विदेशी भाषाओं के ५१६ ग्रंथों के अनुवाद का अधिकार खरीदा है। इन सभी ग्रंथों की एक-तिहाई फ्रांसीसी एवं एक-चौथाई जर्मन भाषा की हैं। शेष पुस्तकों में हैं बंगला, संस्कृत, लातीन, ग्रीक, रूसी, इताली, हंगेरी, स्पेनी, स्कैन्डेनेवी, उलन्दाजी, जापानी, अरबी और अन्यान्य भाषाओं की रचना। इनमें एक-तिहाई से भी अधिक उपन्यास और धर्मग्रन्थ हैं। इतिहास, जीवनी, विज्ञान और अन्यान्य विषयों के ग्रन्थों की संख्या इसके बाद आती है।

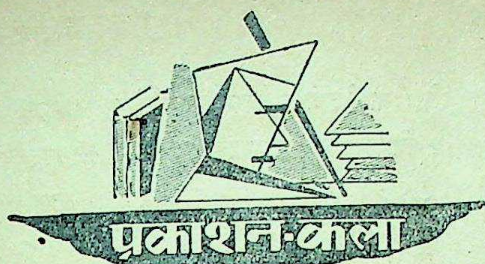
कई फ्रांसीसी, स्पेनी एवं अन्यान्य देश के लेखकों के प्रथम अनुवाद-ग्रंथ बहुत वर्ष पहले अमेरिका में ही प्रकाशित हुए थे। इन ग्रंथकारों की जनप्रियता आज भी वहाँ ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इन लेखकों के बीच बालजक, सावरेन्तिज, [illegible]ीवस्की, फ्लावेयर, ह्यूगो, टालसटाय इब्सन, डूमा, मोपासाँ, ह्वनस क्रिश्चियन, एवं एन्डरसन का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है।

इन प्रख्यात लेखकों के अलावा, हमारे इस युग के लेखक, जैसे, टामस मैन, आन्द्रे मेरिया, आलबेर कामू, ज्याँ पाल सार्त्र, जार्जेस सिमिनम, सिरो एलिग्रिया, जो उल्डेनबुर्ग, अमेरिकी पाठकों में बहुत प्रिय हैं। आजकल बहुत-से विदेशी लेखक ही अमेरिका में विशेष जनप्रियता अर्जित कर रहे हैं। यहाँ कुछ का ही नामोल्लेख किया गया है।

विदेशी भाषाओं में भी अमेरिका में बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। १६५७ साल में देखा गया है कि स्पेनी, इताली, पोलिश, जर्मन, रशियन, प्राच्यदेशीय एवं अन्यान्य भाषाओं के ८ पुस्तक-प्रकाशन-प्रतिष्ठान अमेरिका में चालू हुए हैं एवं उनकी सूची में दो भाषाओं में अभिधान, व्याकरण, विज्ञान, और उपन्यास आदि पुस्तकों के प्रकाशन के नाम आये हैं। इन सभी पुस्तकों के कितने ही अंगरेजी अनुवाद वहाँ से जारी हुए हैं और कितनी ही मौलिक रचनाएँ वहाँ से छपी हैं। ये पुस्तकें अमेरिका में और अन्यान्य देशों में भी बिक रही हैं।

विदेशी भाषाओं में जो-सब पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं, उनमें, न्यूयार्क नगर का 'शेकव पब्लिशिंग हाउस' ही आजकल विशेष उल्लेखनीय प्रतिष्ठान है। यही एकमात्र ऐसा प्रतिष्ठान है, जो साधारणतः रूसी भाषाओं में अकम्युनिष्ट ग्रंथों को प्रकाशित कर रहा है। इसने संसार के स्वाधीन देशों में रूस के जो शरणार्थी रह रहे हैं, उनके लिए, विभिन्न नामों और विषयों के २०० ग्रंथ प्रकाशित किए हैं। इनमें नाटक, उपन्यास, कविता, सोवियत अर्थनीति की आलोचना और रूस के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें हैं। अकम्युनिष्ट लोगों के दृष्टिकोण से रूसी भाषा में इतिहास की रचना, इस प्रतिष्ठान को छोड़कर और किसी ने नहीं की है और जितने लोग विदेशों में बसने के लिए रूस को छोड़कर निकल आते हैं, उन सब अधिवासियों की रचनायें ही इसने प्रकाशित की हैं। सोवियत रूस की तरफ से इस संस्था के प्रकाशनों को रूस में नहीं आने दिया जाता।





प्रकाशन

एक पृष्ठ : एक पृष्ठाधार



श्री 'लालधुआँ'

जिस प्रकार एक नाटक के अभिनय में कवि, लेखक, वादक, नर्तक, संगीतज्ञ, नट-नटी से लेकर चित्रकार, सज्जाकार तथा भवन और विद्युत आदि के सभी शिल्पियों का सम्मिलित प्रदर्शन दर्शकों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार पाठकों के हाथ में पहुँची हुई पुस्तकों में लेखन, चित्रण, ब्लौक मेकिंग, प्रेस और जिल्दसाजी-उद्योग से लेकर वाणिज्य तक की कुल कुशलता समाहित होती है। किन्तु पुस्तकस्थ वैचारिक तत्व तथा मुद्रित मूल्य और सज्जा की यवनिका के इस हद तक उठने का अवसर कभी नहीं आता कि पुस्तक के पीछे लगे हुए वे सारे शिल्पी अपने पाठकों के समक्ष नाटक के शिल्पियों के समान उपस्थित हो सकें। यही एक कारण है कि कला और उद्योग दोनों की कुशलता साधने पर भी प्रकाशन दोनों ओर से उपेक्षित-सा रहा है और जहाँ शिल्पी और कलाकार इसे उद्योग की तरह मानते हैं, वहीं उद्योगपति इसे अपने क्षेत्र से बाहर। प्रकाशन की इसी मध्यवर्ती स्थिति के कारण, इस व्यवसाय को अपने देश में बहुत-से दुर्भिचों का सामना करना पड़ता है। मसलन, कर वसूलने के मामले में सरकार इस व्यवसाय के साथ उद्योग जैसा सलूक करती है, प्रचार और विचार का माध्यम होने के नाते इसके क्षेत्र को राष्ट्रीयकरण के नाम पर राज्य-अधिकृत करती है, इस व्यवसाय की उक्त निरीह स्थिति का फायदा उठाते हुए इसके उत्पादनों [illegible]र डाक और टेन्डर के रास्ते पेश आती है तथा विभिन्न प्रकाशकों में बाजारू होड़ लगाकर इसमें नैतिक और आर्थिक तंगी पैदा करती है, साथ-साथ ही इसकी सभ्यता की दुहाई देकर यह भी माँग करती है कि इसके उत्पादन सुसज्ज, सुसंस्कृत, सुलभ मूल्य के और इसके व्यक्ति तथा निर्माण उसके विचार-आचारों के पैरवीकार हों। पूर्वोक्त पर्दे के बाहर खड़े हुए देश के साधारण पाठक इसके नेपथ्य में पड़नेवाले इन दुर्भिचों को स्वभावतः समझ नहीं पा रहे हैं, इसी से इस व्यवसाय का अपने पक्ष में कोई वातावरण अबतक नहीं बन पा रहा है। साहित्य या भाषा-ज्ञान के प्रति इधर कुछ आग्रह भले ही कम हुआ हो, किन्तु विषय-ज्ञान और व्यापक जानकारियों के प्रति अपने देश का आग्रह कुछ बढ़ा ही है। और, यह सत्य है कि प्रकाशन अपने देश के इस आग्रह को समझकर वैसे उत्पादन की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर है। यह तो चक्र है कि तैयारी के समय समाज विषय-ज्ञान और साधारण ज्ञान की माँग करता है और स्थिरता की स्थिति में शास्त्र, साहित्य और संयत भाषा की। प्रकाशन को समाज की इस स्थिति को समझते हुए तदनुसार ही बरतना पड़ता है। इस चक्र की माँगें पूरी करने की सबसे पहली जबावदेही प्रकाशन पर ही पड़ती है और दुर्भाग्य है कि इस जवाबदेही को मानने की नैतिकता शासन में अबतक नहीं आ पाई है। यदि वह नैतिकता होती तो सरकारी खरीद के तरीके, कमीशन का मामला, टैक्सों का सवाल, पोस्टेज-नीति, प्रकाशन में सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों का विभाजन, पाठ्य-पुस्तकादियों के राष्ट्रीयकरण, कागज की तंगी आदि विभिन्न प्रश्नों पर सरकार की नीति सुस्पष्ट होती।

फिर भी, सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र के इस दुहरे अँधेरे से प्रकाशन के दिन गुजर ही रहे हैं और प्रकाशक बंधुओं को भी—ऐसा लगता है कि—इस अँधेरे से गुजरने की आदत-सी हो गई है।

इसी के कुछ नतीजे सामने हैं जिनमें से दो-एक रख रहा हूँ। इधर हिन्दी के प्रकाशकों का संघबद्ध आन्दोलन कुछ तेजी पर आया है। किन्तु उस आन्दोलन को प्रेरित करने के लिए कौन-सी नीति है यह बात स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ रही है। व्यापार का यह स्थायी नियम है कि जो खरीद-बिक्री के पेशे से कमाता हो और उसमें अपनी पूँजी लगाने का रिस्क लेता हो, कमीशन का हकदार वही हो सकता है। इस नियम के अनुसार न तो सरकारी खरीद और न ही पुस्तकालय और विद्यालयादि के खरीद किसी प्रकार से कमीशन के अधिकारी होते हैं। इसके बजाय, कुछ और बड़ा औचित्य तो यह है कि कुल बिक्री में से अबतक उन्हें जिस हिसाब से कमीशन दिया जाता रहा है, उसे समाप्त कर, उसकी जगह पर, उसी हिसाब से पुस्तकों का मूल्य कम कर दिया जाय। विद्यालय-पुस्तकालयों में पढ़ने वालों और इनसे अलग अपनी प्रकृति से पढ़नेवालों में, कमीशन के इस देने-न-देने का फर्क डाल कर, अन्तर लगाने में कोई नैतिकता समझ में नहीं आती है। टेंडर और कमीशन के दवाब

से कुछ हानियाँ जो स्पष्टतया सामने आती हैं, यों हैं—

(१) पुस्तकों की कीमत उत्तरोत्तर बढ़ती है।
(२) लेखक और कर्मचारियों का शोषण करना पड़ता है।
(३) पुस्तकें घटिया विषयों और घटिया तरीकों से बनती हैं।
(४) लेखक, विक्रेता, प्रकाशक और प्रकाशक, तथा कर्मचारियों में झगड़े का चक्र चलता रहता है और
(५) इस प्रकार विद्या के बजाय प्रकाशन के जीवन और प्रकाशनों में अविद्या आती है।

मैंने कहा है कि प्रकाशकों के मौजूदा संघ ने अपनी इन अवनतियों को मिटाने के लिए कोई सिद्धान्त, नीति और कार्यक्रम नहीं बनाया है। उदाहरणस्वरूप, प्रकाशकों की कोई भी नैतिकता नहीं हो सकती है कि वे विक्रेताओं की अवहेलना करें और अपनी पुस्तकों के लिए सीधी सौदेबाजी किया करें। मैं प्रकाशक-संघ को एक उलझनपूर्ण निर्माण समझता हूँ, क्योंकि उसमें विक्रेता के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और उसके अधिकारी प्रकाशक केवल अपनी ही नीति के डंडे से विक्रेताओं पर शासन चलाना चाहते हैं। इधर प्रकाशन-समाचार के ६/५ अंक में 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' की ओर से जो घोषणा छपी है, उसमें विक्रेताओं की मानहानि के अलावा उनकी अपनी नैतिकता का कोई सबूत नहीं मिलता। मैं इस विषय में कुछ प्रश्न यों करना चाहता हूँ:—

(१) प्रकाशक सीधे सप्लाई नहीं किया करेंगे, इसकी उस घोषणा में कौन-सी गारंटी है?
(२) उक्त घोषणा प्रकाशक-संघ की किस नीति या किस सिद्धान्त के आधार पर की गई है?
(३) प्रकाशक संघ के इन महारथी सदस्यों को वह कौन-सा व्यक्तिगत अधिकार है कि वे अपने स्वतंत्र अधिकारों पर व्यवसाय की सामूहिक नीति की कोई वैसी घोषणा करें?
(४) इसमें क्या नैतिकता है कि पुस्तक-विक्रेताओं से बिना पूछे-गछे ही उनपर उक्त घोषणा के अनुशासन लादे जायँ?

मैं समझता हूँ कि जिस प्रकार सरकार प्रकाशकों से बिना पूछेताछे और उनकी स्थिति को बिना समझे ही उनपर कोई अध्यादेश या अनुशासन लाद देती है, हूबहू वैसी ही आदत सरकारी केन्द्र के अगल-बगल की हवा खाए हुए इन कुछ प्रकाशकों को लगी है।

संगठन का आधार बिना स्थिर किए और संगठन द्वारा किसी निश्चित नीति का बिना अनुसरण किए ही, ये जो-कुछ प्रकाशक अपने नेतृत्व की कुछ ही धाक पर ऐसी घोषणाओं पर हस्ताक्षर करवा रहे हैं, देश भर में फैले हुए पुस्तक-व्यावसायिकों और छोटे प्रकाशकों को उससे कुछ शंकाएँ हो रही हैं। उसमें से कुछ शंकायें, मैं साहसपूर्वक यों पेश कर रहा हूँ:—

(१) क्या सरकारी टेंडर और कमीशन की डाल से चूकने पर ही कुछ दिल्ली-नशीन महानों ने कमीशन-नियम का उक्त घोषणा-पत्र जारी नहीं किया है? और, यदि फिर वह कमीशन और टेंडर वाली सप्लाई की डाल उनके हाथ लगी तो घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करानेवाले ये शेष छोटे-मोटों को छोड़कर उसी डाल पर नहीं जा बैठेंगे?
(२) नेतृत्व ढोनेवाले ये कुछ महान—जो प्रकाशक और विक्रेता दोनों ही बने हुए हैं—विक्रेताओं और छोटे-मोटे प्रकाशकों को इस प्रकार मार-खदेड़कर उत्पादन और विक्री दोनों क्षेत्रों में

अपना एकाधिपत्य तो नहीं चाह रहे हैं ?

अन्त में मैं फिर अपनी पहली बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि सारा प्रकाशन व्यवसाय ही यवनिका के अंदर है। इसमें, बिना संपूर्ण की तैयारी के ही, केवल कुछ प्रकाशकों के यवनिका के बाहर उछल कर आ जाने से कुछ नहीं बनेगा। ऐसा अपने देश में और दूसरे देशों में भी कई दफा हुआ है और उसका नतीजा एक उपहास प्रस्तुत करने के अलावा कुछ नहीं हुआ।



"बुलबुल होके चहकिए बाग अन्दर सुखन रम्ज दे नाल अलाइए जी,
काँवाँ बाँग अडार बने रियाँ दी एवें कूड़ न मग्ज खपाइए जी,
करके कालयाँ वग्गयाँ कागजानूँ एवें शर नूँ लीक न लाइये जी।"

बाग में बुलबुल बनकर चहकना चाहिए और उस रहस्य की बात ही बोलनी चाहिए, नकि कौओं की तरह ऊँची जगहों पर बैठकर काँव-काँव करते हुए व्यर्थ मग्ज खाना और उजले कागजों को यों ही काला करके काव्य को बदनाम करना चाहिए।

—वारिस शाह (जन्म १७३५) 'हीर-राँझा' गीत-शृंगार के स्रष्टा

हिंदी में कोष-साहित्य





श्री छविनाथ पाण्डेय

कोष का शाब्दिक अर्थ होता है खजाना, रुपया-पैसा, धन-संपत्ति, जैसे—"तोर कोस (कोष) गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात" (तुलसी)। इससे—'शब्दकोष' का अर्थ हुआ वह स्थान जहाँ शब्दों का खजाना संचित हो। इस दृष्टि से जाँच करने पर हिन्दी का कोष-साहित्य सर्वांगसुन्दर और सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसमें बहुत अधिक कमी है और उसे भरा-पूरा तथा सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए भगीरथ-प्रयत्न की आवश्यकता है।

जिस तरह हिन्दी के गद्य साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है, उसी तरह हिन्दी के शब्दकोष का इतिहास भी पुराना नहीं। आज से प्रायः ५०-५५ साल पहले हिन्दी में शब्दकोष की चाल ही नहीं थी। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि अंग्रेजी स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने की परिपाटी नहीं थी, केवल हिन्दी के स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई होती थी और उस समय पंडित या शिक्षक अपने विषय के इतने निष्णात होते थे कि शब्दकोष की उन्हें आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। वे जो कुछ भी पढ़ते या पढ़ाते थे उनकी जुबान पर रहता था। उनकी विद्या 'पुस्तकस्था' नहीं थी। और, वे ही लोग अधिकार के साथ कहते थे :—"पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनं, आपत् काले तु संप्राप्ते न सा विद्या न तद्धनम्।" हाँ, हिन्दी से अंग्रेजी या अंग्रेजी से हिन्दी के शब्दकोष भले ही देखने में आते थे। केवल पं० श्रीधर पाठक विरचित 'श्रीधरकोष' उस काल के आसपास पहले-पहल देखने में आया था।

इसके कुछ काल बाद अंग्रेजी शब्दकोषों की देखादेखी हिन्दी शब्दकोष भी बनने लगे लेकिन वे शब्दकोष छात्रों को दृष्टि में रखकर ही तैयार किये जाते थे। उनका एकमात्र उद्देश्य पैसा कमाना रहता था, साहित्य-सेवा की दृष्टि से कोष की रचना नहीं।

इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से सन् १९१०-११ के लगभग आरंभ हुआ और उस प्रयास के फलस्वरूप 'हिन्दी शब्दसागर' का जन्म हुआ। वह प्रयास प्रशंसनीय था, क्योंकि उसने हिन्दी साहित्य के एक बड़े ही अभाव की पूर्ति की। लेकिन 'हिन्दी शब्दसागर' को भी हम पूर्ण नहीं कह सकते, क्योंकि शब्दों का बहुत बड़ा संग्रह वह अवश्य है, शब्दों की व्याख्या भी उसमें की गई है लेकिन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा इतिहास उसमें भी नहीं दिया जा सका। आशा की जाती थी कि नागरी प्रचारिणी सभा के इस प्रयास से लोगों को उत्साह मिलेगा और लोग इस दिशा में कदम उठाकर कोष-साहित्य को संपन्न बनाने का यत्न करेंगे। लेकिन यह नहीं हो सका। नागरी प्रचारिणी सभा ने जहाँ तक यह काम किया वहीं तक वह काम पड़ा रह गया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में शब्दकोष की पूर्ति के लिये न तो कोई ठोस कदम उठाया गया और न कोई उत्तम प्रयास किया गया। हिन्दी में निर्देश-(reference) शब्दकोष का सर्वथा अभाव है। संस्कृत के अमरकोष या हलायुध-कोष के समान पर्यायवाची-शब्दकोष तो है ही नहीं। पुस्तककोष किसी भी साहित्य का बहुत बड़ा अंग माना जाता है। हिन्दी में इस तरह के

काम का भी सर्वथा अभाव है। इस दिशा में एकाध प्रयास किया भी गया है लेकिन वह दाल में नमक के समान ही है। उससे इस बड़े अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। आशा की जाती थी कि नागरी प्रचारिणी सभा अगले संस्करणों में 'हिन्दी शब्दसागर' का संशोधन करेगी और उसे सर्वांगपूर्ण शब्दकोष बनाने का प्रयास करेगी, लेकिन वह तो अनेक वर्षों से दंगल का अखाड़ा बनी हुई है, वहाँ के कार्यकर्त्ताओं को दंगल से ही फुर्सत नहीं मिलती, इस उपयोगी काम की ओर रुख वे कैसे करें?

हाँ, 'हिन्दी शब्दसागर' की देखादेखी और उसकी नकल पर अनेकों प्रकाशकों ने मोटे-मोटे शब्दकोष निकालने के प्रयास किये। उसी एक प्रयास का फल ज्ञानमंडल काशी का 'बृहत् हिन्दी कोष' है। देखने में वह अवश्य ही बृहत् है, दाम भी उसका बृहत् है और सुना है कि उसकी बिक्री भी बृहत् हुई, लेकिन देखने में वह जितना बृहत् है, उपयोगिता की दृष्टि से वह उतना बृहत् नहीं है। पहली बात तो यह है कि इस बृहत् शब्दकोष में कोई नवीनता नहीं है, वही पृष्ठपेषण है, वही पुरानी लकीर पीटी गई है—शब्द और उनके अर्थ। दूसरे, इसे बृहत् रूप देने के फेर में इसके संपादकों ने इसमें संस्कृत, अंग्रेजी और अरबी के ऐसे शब्द भर दिये हैं, जिनका हिन्दी में कभी भी प्रयोग नहीं हो सकेगा और इस तरह के दस-बीस या सौ-पचास शब्द नहीं हैं, बल्कि हजारों की संख्या में ऐसे शब्द हैं। इस बृहत् हिन्दी शब्दकोष को देखकर मुझे बाबू रामलोचनशरण का एक भाषण याद आ जा[illegible] है। संभवतः सन् [illegible] बात है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन काशी में हुआ था। उससे पहले बाबू रामलोचनशरण ने हिन्दी की एक-एक आने की १०० पुस्तकें निरक्षरता-निवारण आन्दोलन के लिये प्रकाशित की थीं। उनमें उन्होंने कुछ ऐसे फारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग किया था जिन पर हिन्दी वालों को आपत्ति थी। काशी वाले अधिवेशन में उन पुस्तकों की निन्दा का एक प्रस्ताव आया। अपनी सफाई में बाबू रामलोचनशरण ने कहा था कि इन पुस्तकों में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो हिन्दी शब्दसागर में नहीं आया हो। बात यथार्थ थी। ज्ञानमंडल के बृहत् हिन्दीकोष के अनुसार 'अडमिनिस्ट्रेशन' हिन्दी शब्द हो गया, क्योंकि इसका समावेश बृहत् हिन्दी कोष में है। इसलिये यदि हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग किया जाय तो आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

अभी हाल में ज्ञानमंडल ने एक स्तुत्य प्रयास किया है—'हिन्दी साहित्य-कोष' का प्रकाशन। हिन्दी कोष की दिशा में यह ठोस और प्रशंसनीय प्रयास है और इसके लिए ज्ञानमंडल के संचालक प्रशंसा और बधाई के पात्र हैं।

जहाँ तक देखने में आता है, हिन्दी कोषों की रचना के लिये हमारे देश में कोई सैद्धान्तिक पद्धति नहीं अपनाई जाती। इस दिशा में काम करने वाले प्रकाशक अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाते हैं और विक्री को दृष्टि में रख कर जैसा जी में आता है, वैसा शब्दकोष प्रकाशित कर देते हैं। ज्ञानमंडल का वृहत् हिन्दी-कोष और नालन्दा-हिन्दी कोष इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

शब्दकोष तैयार करने की वैज्ञानिक पद्धति यह होनी चाहिए कि प्रकाशक या संस्था, विद्वानों की एक समिति गठित करें जो सिद्धान्त स्थिर करे। यह सही है कि जो सिद्धान्त समिति स्थिर करेगी उस पर सभी विद्वान एकमत नहीं होंगे, लेकिन अधिकांश विद्वान तो किसी एकमत के अवश्य ही होंगे और उसी बहुमत सिद्धान्त के अनुसार प्रणयन का काम होना चाहिए। अंगरेजी शब्दकोषों का प्रणयन करने वाली संस्थायें (आक्सफोर्ड वगैरह) इसी पद्धति के अनुसार काम करती हैं। खेद तो इस बात का है कि नागरी प्रचारिणी सभा ने भी 'हिन्दी शब्दसागर' के प्रणयन में इस पद्धति को नहीं अपनाया, माना कि जिन विद्वानों की समिति संगठित की गई थी वे अपने समय के विशिष्ट विद्वान थे।

आज जब हम वर्तमान युग पर आते हैं तो स्थिति और भी निराशाजनक और अन्धकारपूर्ण प्रतीत होती है। भारत स्वाधीन हुआ। विधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा स्वीकृत की गई। आज नहीं तो कुछ वर्षों के बाद उस विरोध का अन्त होगा ही जो कतिपय अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त हिन्दी के प्रति प्रकट कर रहे हैं, और भारत राष्ट्र का सारा काम-काज हिन्दी में होने लगेगा। उच्च शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी को बनाना पड़ेगा, यह अनिवार्य है। इस काम के लिये पारिभाषिक शब्दावली की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये कोई भी संयुक्त प्रयास नहीं हो रहा है। यहाँ भी लोग उसी मसल को चरितार्थ कर रहे हैं कि "अलग-अलग विटिया और अलग-अलग राग"। पटना विश्वविद्यालय अलग पारिभाषिक शब्दकोष तैयार करवा रहा है और बिहार विश्वविद्यालय अलग। अन्य राज्यों के विश्वविद्यालय इस दिशा में क्या कर रहे हैं, सो भगवान ही जाने। राज्यों में भी जहाँ-तहाँ प्रशासकीय शब्दावली तैयार हो रही है। केन्द्रीय सरकार ने भी इस काम के लिये अलग-अलग समितियाँ संगठित की हैं, जो इस दिशा में काम कर रही हैं। लेकिन किसी समिति का काम संतोषजनक नहीं है। डा० रघुवीर के सहयोग से मध्य प्रदेश की सरकार ने इस दिशा में बहुत अधिक काम किया। आवश्यकता इस बात की थी कि डा० रघुवीर के प्रयास को आधार मानकर अखिल भारतीय स्तर पर सभी विश्वविद्यालयों की ओर से संयुक्त समिति संगठित की जाती और डा० रघुवीर के संग्रहीत शब्दों की जाँच-पड़ताल कर उनमें आवश्यक सुधार कर उन्हें अन्तिम रूप देती और वे ही देश भर में चालू होते। बा० शार्ङ्गधर सिंह जब पटना विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे तो इस दिशा में उन्होंने सही कदम उठाया था। हिन्दी भाषा-भाषी सभी विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों की बैठक उन्होंने पटने में आमंत्रित की और विचार-विमर्ष के बाद यह तय पाया था कि प्रत्येक विश्वविद्यालय अपनी सुविधा के अनुसार एक-एक वि[illegible] ले ले। अपने यहाँ के विद्वानों की समिति संगठित कर [illegible] पारिभाषिक शब्दावली तैयार करावे और उसे छपवा कर विद्वानों के यहाँ जाँच, सुझाव, संशोधन के लिये भेज दे। भारत भर के सभी विद्वानों का मतसंग्रह कर, उनके सुझावों की

समीक्षा कर, पारिभाषिक शब्दों को अन्तिम रूप दिया जाय और वे ही सारे भारत में लागू किये जायँ। यह काम विश्वविद्यालयों के हाथ में होना भी चाहिये था; क्योंकि साहित्य के सृजन के वे ही मूलस्रोत हैं और वहीं से साहित्य का उद्गम होता है। लेकिन १९५२ ई० में बा० शार्ङ्गधर सिंह पटना विश्वविद्यालय से अलग हो गये और वह काम जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह गया। उनके बाद जो भी उपकुलपति आये उनमें से किसी को भी हिन्दी के प्रति किसी तरह की दिलचस्पी नहीं थी।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों के संकलन का प्रश्न है, केवल विदेशी शब्दों के बदले में हिन्दी के शब्दों को रख देने से काम नहीं चलेगा और न चल रहा है। जो शब्द गढ़े या खोज कर निकाले जा रहे हैं वे इतने दुरूह हैं कि उन्हें समझने के लिये भी शब्दकोष की जरूरत है। इसलिए जहाँ एक ओर विदेशी शब्दों के पर्यायवाची हिन्दी शब्द तैयार किये जायँ वहाँ दूसरी ओर उन पर्यायवाची पारिभाषिक शब्दों के अर्थनिर्देश के लिए भी शब्दकोष तैयार किये जायँ। लेकिन खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि इस दिशा में लेशमात्र भी प्रयास नहीं किया जा रहा है। सरकारी दफ्तरों में, जहाँ थोड़ा-बहुत हिन्दी में काम होने लगा है, वहाँ के कार्यकर्त्ताओं का यही रोना है कि दूसरे दफ्तरों से हिन्दी में जो खत आते हैं उनका हमलोग सही-सही जवाब नहीं दे पाते; क्योंकि उनकी शब्दावली समझ में नहीं आती। इसलिये जबतक इस तरह का शब्दकोष तैयार नहीं किया जाता, जिसमें उन शब्दों का अर्थ सरल हिंदी में दिया जाय, तबतक यह कठिनाई दूर नहीं हो सकती।

ऊपर जो-कुछ लिखा गया है उससे प्रगट होगा कि हिंदी का कोष-साहित्य अति दुर्बल और अधूरा है और उसको संपन्न बनाने के लिये भगीरथ-प्रयत्न की आवश्यकता है।



शिक्षा का प्रमाण-पत्र

मैंने जब कैंब्रिज विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करके प्रमाणपत्र माँगा, तो अध्यापक ने पूछा कि तुम्हें प्रमाणपत्र की आवश्यकता क्यों है? मैंने कहा कि बिना उसके कौन विश्वास करेगा कि मैंने यहाँ की परीक्षा पास की है। इसपर अध्यापक ने जो उत्तर दिया वह अबतक मेरे कानों में गूँज रहा है। उन्होंने कहा—यदि एक मील दूर से ही तुम्हें देखकर कोई यह न जान सका कि तुम कैंब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र हो, तो तुमने तीन साल यहाँ व्यर्थ ही गँवाए।

श्री श्रीप्रकाश

(राज्यपाल, बंबई)

बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत ग्रंथ-सूची के आधार पर

ग्रामीण पुस्तकालयों के लिए उपादेय

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	विषय
६	*३७५	पहला राजा पहला किसान	श्री सदानन्द झा	।।)	वय० सा०
,,	*३७६	हमारी गंगा	,,	।।=)	,,
,,	*३७७	तुलसी दल	,,	।।)	,,
१३	*४४५	गप-गप खलिहान	श्री रामनन्दन सिंह	।।।=)	,,
२१	*३६१	जीवन-कण	श्री रामदीन पाण्डेय	१।)	नाटक
२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१।।।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहन लाल महतो वियोगी	२)	,,
३६	११७	पुनरावृत्ति	श्री हंस कुमार तिवारी	१।।।)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूप लाल मंडल	१।)	,,
५६	* २२	आधुनिक पशुपालन	श्री रामवृक्ष सिंह विराट	३)	कृषकोपयोगी
६	२२६	पशुओं का अनुभूत इलाज	श्री श्रीरंग तिवारी	१।।)	,,
५६	१७	साग-सब्जी की खेती	श्री वासुदेव पाण्डेय	२)	,,
,,	१६	कृषि के ये दिन और वे दिन	श्री अखिलेश्वर पाण्डेय	।।)	,,
२६३	१७	कृषि और कृषक		।।)।।	,,
११६	६२१	हमारे युगपुरुष	श्री सुरेश्वर पाठक 'विद्यालंकार'	१)	कथा-कहानी
६४	२२	मृत्यु के मुँह में	श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)	,,
१०२	३६	बोलती तस्वीरें	श्री शिवचन्द्र प्रताप	१।।।)	,,
३२	३६१	बड़ा और छोटा आदमी	श्री नगेन्द्र वर्मा	१।)	,,

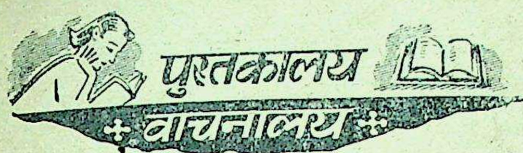
१३५	४	कला की कुटिया में	श्री वीरेन्द्र नारायण	१।)	जीवनी
,,	५	विज्ञान के पथ पर	,,	१।)	,,
१४२	२७	राष्ट्रपिता	श्री छविनाथ पाण्डेय	।।≡)	,,
१४७	२६६	गाँधी की गूँजती आवाज	श्री अखिल	।≡)	सामान्य ज्ञानवर्द्धक
,,	२६७	बापू की सीख	श्री सुरेश्वर पाठक	।≡)	,,
,,	२९८	बापू की बातें	,,	।।=)	,,
,,	२६६	बापू को जानो	,,	।।≡)	,,
,,	३००	हमारा बिहार	श्री सुरेश प्रसाद गुप्त	१।)	,,

उच्चांग्ल-विद्यालयों के पुस्तकालयों तथा साधारण पुस्तकालयों के लिए

२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१।।।)	नाटक
५६	११७	पुनरावृत्ति	पं० हंसकुमार तिवारी	१।।।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'	२)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूपलाल मंडल	१।)	,,
६८	५५	अनोखा आदमी	पं छविनाथ पाण्डेय	३)	उपन्यास
,,	५६	अस्पताल में	,,	३)	,,
,,	५७	अंधकार	,,	३)	,,
७६	२७७	बदलती दुनिया	श्री सुरेश्वर पाठक 'विद्यालंकार'	२।।।)	,,
२५	*६५३	राह का पत्थर	श्री विंध्याचल प्रसाद गुप्त	२।।।)	,,
२७	*६°८	रक्त और रंग	श्री अनूपलाल मंडल	५)	,,
२६	*०२५	लोहे के पंख	श्री हिमांशु श्रीवास्तव	७।)	,,

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	विषय
४०	*४५१	हिंदी साहित्य : एक रेखाचित्र	प्रो० शिवचन्द्र प्रताप	३)	समालोचना
४८	७६	रचना कला	श्री सुरेश्वर पाठक	३)	भाषा रचना
६०	६६	प्रारंभिक अर्थशास्त्र	प्रो० शिवचन्द्र एम० ए०	१॥)	अर्थशास्त्र
६४	१७०	हम और हमारा समाज	श्री सुरेश्वर पाठक	२।)	राजनीति, स० शास्त्र
७०	११३	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	,,	३)	इतिहास
७५	५०	संक्षिप्त पाश्चात्य बही-खाता	प्रो० श्री जैन कुमार	३)	उद्योग-धंधे
,,	५१	वाणिज्य भूगोल	श्री सुरेश प्रसाद गुप्त एम० ए०	२)	,,
,,	५२	संक्षिप्त वाणिज्य प्रणाली	श्री उमेश्वर प्रसाद वर्मा	२)	,,
४६	*१२५	सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बही-खाता प्रणाली	प्रो० नरेन्द्र नारायण वर्मा	१२॥)	वा० शास्त्र
५१	*११६	परिवार : एक सामाजिक अध्ययन	श्री पंचानन मिश्र	४)	समाजशास्त्र
६०	*१८६	बाल-मनोविज्ञान	प्रो० जगदानन्द पाण्डेय	५॥)	शि० शास्त्र
५६	*१८१	हमारी शिक्षा	प्रो० भगवान प्रसाद	१)	,,
		भारतीय स्कूलों में समाज-अध्ययन का शिक्षण	प्रो० मुनेश्वर प्रसाद	६।)	,,
		भोजपुरी : लोकसाहित्य	श्री बैजनाथ प्रसाद सिंह 'विनोद'	५)	
६६	*२१८	घर की रानी	श्री छविनाथ पाण्डेय	२)	महिलोपयोगी
५२	*३८	अशोक	श्री रामदयाल पाण्डेय	१॥)	आधुनिक काव्य
११	४१	कबीर	श्री यमुना प्रसाद चौधरी	१।)	,,

इन पुस्तकों के अतिरिक्त बहुत-सी पुस्तकें ग्रंथ-सूची में आई हैं।



पुस्तकालय रोग और इलाज



श्री दाशरथी

यदि आप किसी पत्र-पत्रिका से संपादनादि का संबंध रखते हैं तो आपके पास आए दिन बहुतेरे नए-नए पुस्तकालयों के, रोशनाई से रबर-मोहर खाए हुए, ऐसे पोस्टकार्ड पहुँचते होंगे, जिनमें लिखा होगा कि हमारे इतने पुराने और 'अमुक हितैषी' पुस्तकालय को आप अपनी पत्रिका 'निःशुल्क' और 'लगातार' भेजने की 'कृपा' करें। ऐसे ही, यदि किसी निमंत्रण-विशेष पर आप इन पुस्तकालयों के किसी आयोजन-विशेष में 'पधारने' की 'कृपा' करें तो पहले तो इनके कोई खादीपोश युवक पदाधिकारी आपके आगे बिना कुछ देखे-दिखाए ही मंतव्य-पुस्तिका हाजिर कर देंगे और आपसे कुछ-न-कुछ प्रशंसा का सर्टिफीकेट प्राप्त कर लेंगे। आप उक्त मंतव्य-पुस्तिका में अपने से 'बड़े-बड़ों' के पूर्वलिखित गहरे मंतव्यों को पढ़कर भूल जायँगे कि आपसे पहले आनेवाले वे अतिथि भी अपने मेजबान के 'हें··हें··हें, जी··जी...जी' के फेर में पड़कर ही वह प्रशंसा-पत्र दे गये हैं, जोकि आप भी देने जा रहे हैं। इस प्रशंसा-पत्र को पाने के बाद वे आपसे चलते-चलाते यह निवेदन करना भी नहीं भूलेंगे कि आप उन्हें कुछ पुस्तकें दानस्वरूप देने की 'कृपा' करें, और इस दान को माँगने में वे पुराने प्रशंसा-पत्रों और दूसरों के द्वारा दिए गए दानों की तालिका दिखाकर अपने पक्ष में आपको उत्साहित करने लगेंगे। विगत हिन्दू-मुस्लिम दंगे जैसे दुर्भाग्य के ब[illegible]ाने से मढ़े हुए दं[illegible]दा चोटियों वाली कुछ अवांछित औरतें अपनी असहायावस्था के नाम पर कुछ जाली या मुगालते में आए हुए लोगों के प्रमाण-पत्र दिखलाकर बाजार में भीख माँगा करती थीं। ऐसे ही कुछ बच्चे भी भीख माँगते मिलते रहे हैं। किन्तु आहिस्ता-आहिस्ता वे खत्म हो रहे हैं। इन पुस्तकालयों की भी यही दशा है। यह एक खास किस्म की आवारागर्दी जिस प्रकार उन औरतों और बच्चों को खत्म करनी पड़ी है, भविष्य में उसी प्रकार इन पुस्तकालयों को भी खत्म करनी पड़ेगी। किन्तु, हमें इनकी इस स्थिति के कुछ कारणों, तज्जन्य हानियों तथा निदानों का कुछ विवेचन करना है।

प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है? इसका कुछ उत्तर यों है :—

(क) ये पुस्तकालय, अध्ययन और विचार के हित के बजाय किसी स्थानीय मूर्ख नेता के नाम को बढ़ाने के लिए, या गाँवों तथा जातियों की प्रतिस्पर्धा के नाते, या स्थानीय राजनीतिक गुटों की अहमहमिका के लिहाज से, जन्म पाते हैं।

(ख) इन्हें, येनकेनप्रकारेण बन जाने पर, भविष्य में बेभाव की सरकारी सहायता मिलने की आशा होती है।

(ग) सरकारी सहायता पाने के लिए ये कुछ दिनों तक स्थानीय गुट-राजनीति के इस पलड़े या उस पलड़े पर झूलते रहते हैं और फिर या तो सहायता पाकर नाम कमाते हैं या मर जाते हैं।

(घ) इस असहायता और सहायता के बीच, कुछ कूड़ा-कवाड़ा पुस्तकों को माँग-चाँग कर ये अपना अस्तित्व बनाते हैं, किन्तु सहायता के बाद कुछ कुर्सी, गद्दी और आलमारी वाली दर्शनीयता के साथ इनकी यह माँगचाँग की आदत भी चलती रहती है।

आप शायद यह पूछ सकते हैं कि आखिर इस माँगचाँग से कौन-सी हानि है? सो, क्रमशः सुनिए :—

(क) माँग-चाँग या मुफ्त प्राप्ति के चलते प्रकाशकों, पुस्तक-व्यावसायिकों और पत्रपत्रिका वालों को जो हानि उठानी पड़ती है, या कमीशन आदि दबावों के चलते जो तंगी झेलनी पड़ती है, उसके कारण या तो बाद में उन्हें अपना व्यवसाय या प्रकाशन बन्द कर देना पड़ता है, या भड़कदार घटिया प्रकाशनों का बाजार लगाकर बैठना पड़ता है, या इस तंगी और घाटे की कसर को दूसरी प्रतियों के सिर बिठा देना पड़ता है। इसका नतीजा होता है कि पुस्तकें बहुत छिछली और बड़ी मँहगी होती हैं तथा पत्रपत्रिकायें या तो अश्लील होती हैं अथवा मर जाती हैं।

(ख) कोई भी भला आदमी अपनी आलमारी की शास्त्रीय पुस्तकें किसी को देने वाला नहीं है। यदि किसी ने कुछ माँगा भी तो वह कुछ समाचारप्रधान प्रचारात्मक या सफरी साहित्य भर ही देगा। इसी से इन पुस्तकालयों में वैसी ही निकृष्ट पुस्तकों की भरमार होती है।

(ग) स्वाभिमान अथवा आत्मनिर्भरता के नाते माँगचाँग कर काम चलाने की आदत बहुत खराब है। फौरन हाथोंहाथ तो नहीं, इस बुरी आदत से बहुत देर और बहुत दूर तक नुकसान होता है। इसी आदत के चलते हिन्दी साहित्य इतना अपूछा है, हिन्दी-पाठक इतना अधूरा है और हिन्दी का लेखक माँग के नाम पर इतना अकुशल होता जा रहा है।

अब, मेरी समझ से इस स्थिति के जो निराकरण होने चाहिएँ, वे ये हैं :—

(क) बस्ती के शिक्षित या विद्याव्यसनी लोग यदि कोई पुस्तकालय खोलना ही चाहें तो उक्त पुस्तकालय से लाभ उठानेवालों के ही सहयोग और साहाय्य पर उसे चलावें और किसी प्रकार की सरकारी सहायता या आगन्तुकों के आगे हाथ फैलाने को बन्द करें। यही एक तरीका है जिससे पुस्तकों और पुस्तकालयों के लिए देश के लोगों में आत्मीयता आवेगी।

(ख) विचार, कला और विनोद की साधारण गोष्ठियों के अलावा बड़े और खर्चीले जलसे या उद्घाटन-सभा जैसे बड़े व्यापार बन्द किए जायँ। इससे प्रदर्शनात्मक के बजाय रचनात्मक हौसले का विस्तार होगा।

(ग) पैसे की जितनी ही तंगी हो, पुस्तकों के चुनाव में उतनी ही होशियारी और सख्ती से काम लिया जाय। इससे पैसे का सदुपयोग और पुस्तकों की प्राथमिकता दोनों ही साथ-साथ समझ में आएगी।

अन्त में मैं यह कह दूँ कि पुस्तकालय एक ऐसा उचित व्यसन है जोकि अपने अन्दर प्रवेश करनेवालों को अनुचित व्यसनों से मुक्त किया करता है और मैं जिन अनुचित व्यसनों को बता चुका हूँ उनसे जो ग्रस्त हैं, वे स्वयं में पुस्तकालय नहीं हैं।



हरेक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, मुसलमानों को अरबी का, पारसी को पर्शियन का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए।

महात्मा गाँधी

प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

समाचार

—भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हिंदी विश्वविद्यालय के उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर प्रयाग में २५ जनवरी के दिन संवत २०१२ का दर्शन-विषयक मंगला प्रसाद पारितोषिक श्री उदयवीर शास्त्री को उनकी रचना 'सांख्य दर्शन का इतिहास' पर और संवत २०११ का समाज-शास्त्र-विषयक पारितोषिक श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार को उनकी पुस्तक 'समाज-शास्त्र के मूलतत्व' पर प्रदान किया गया।

—अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक संघ का द्विवर्षीय अधिवेशन इस वर्ष वीयना (आस्ट्रिया) में २४ मई से ३० मई तक होगा। अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ के प्रतिनिधि भी इस अधिवेशन में भाग लेंगे।

—इंगलैंड में लेखकों के समाज ने अपने सदस्यों के हित के लिए 'स्वास्थ्य बीमा योजना' बनाई है। लेखक-समाज का कोई सदस्य, जो १ नवम्बर १९५८ तक, ६५ वर्ष से कम आयु का है वह इस योजना में सम्मिलित हो सकता है। इसका शुल्क, आयु तथा लाभ प्राप्त करने की किस्म के अनुसार है। ३० तथा ४६ वर्ष की बीच की आयु का व्यक्ति वर्ष में ८८ रुपये देकर अस्वस्थ्य होने पर अस्पताल या चिकित्सागृह में रहने के लिए प्रति सप्ताह २५२ रुपये तक इस योजना से प्राप्त कर सकता है। किसी बड़े ऑपरेशन के लिए उसे ८४० रुपये मिलेंगे, इसके अतिरिक्त वर्ष में ६००० रुपये तक वह अन्य विशेष प्रकार की परिस्थितियों में प्राप्त कर सकता है। इस योजना में अपने परिवार को सम्मिलित करने के लिए लेखक को ४४ रुपये अपनी पत्नी के लिए और १८ वर्ष से कम आयु के बच्चे के लिए ३० रुपये प्रतिवर्ष देने पड़ेंगे।

—ब्रिटेन में अनुवादकों ने एक संघ बनाया है जिसमें अनुवाद की दर कम-से-कम प्रति हजार शब्द ३४ रुपये निश्चित की है। यदि अनुवाद विशेष प्रकार का है या अनुवादक प्रसिद्धि प्राप्त है तो वह अधिक भी लेगा।

—श्री जवाहरलाल नेहरू की अंग्रेजी की पुस्तक 'ए बन्च ऑफ ओल्ड लेटर्स' सौवीं किताब है, जो कापीराइट आफिस में रजिस्टर करवाई गई है। गत वर्ष इस प्रकार केवल सौ पुस्तकों का रजिस्ट्रेशन ही हुआ।

—पाठ्यक्रम तथा उसकी पुस्तकों के बारे में अनुसन्धान करने के लिए मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में स्थित पोस्ट ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज में एक संस्था की स्थापना की गई है। इस संस्था के लिए कुछ आर्थिक सहायता भारत सरकार भी देगी।

—तीन मास पूर्व उत्तर प्रदेश में राज्य भाषा विभाग स्थापित हुआ और उसने हिन्दी तथा देशी भाषा की अभिवृद्धि के लिए पहला कदम उठाया है—अंग्रेजी टाइपराइटरों का बहिष्कार।

—प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दीक्षान्त भाषण में सर्वोच्च न्यायालय के विचारपति श्री बी० पी० सिनहा ने कहा कि नागरी लिपि ही देश की सभी भाषाओं की लिपि होनी चाहिए, क्योंकि यह अधिक वैज्ञानिक है।

—दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बी० के० आर० वी० राव ने २२-१-५६ को दिल्ली विश्वविद्यालय पदवी-दान-उत्सव पर वैज्ञानिक साहित्य-प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए कहा कि जो लोग यह सोचते हैं कि अंगरेजी के बिना विज्ञान नहीं पनप सकता वे चीन, जापान, डेनमार्क और रू[illegible] सबक लें, जहाँ वहाँ की भाषाओं में ही उन्नततर वैज्ञा[illegible] आई है।

—मध्यप्रदेश सरकारने आयुर्वेद पर पुस्तकें लिखने वाले लेखकों और अनुवादकों को पुरस्कृत करने के लिए प्रतिवर्ष चार हजार रुपये और

प्राचीन आयुर्वेदिक साहित्य खरीदने के लिए तीन हजार रुपये स्वीकृत किए हैं।

—कानपुर से निकलनेवाले 'साहित्यदूत' के संपादक श्री राजेन्द्रनाथ तिवारी २८-१-५६ से साहित्य-पुस्तकों की पांडुलिपियों की खोज में विश्वभ्रमण के लिए पदयात्रा कर रहे हैं। वे १० वर्ष भारत में लगा कर विदेश जायँगे।

—प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उपाधि वितरण उत्सव का शुभारंभ करते हुए सूचना-प्रचार मंत्री डा० केसकर ने कहा कि हिंदी के विस्तार का श्रेय स्वामी दयानन्द और गाँधीजी जैसे अहिंदीभाषियों को कहीं अधिक है। अहिंदी-भाषियों में, हिंदी में प्रवेश करने पर जो असम्मानित होने का भय है, उसे हिंदी वालों को ही दूर करना है। जैसे हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि अंगरेजी अंगरेज ही पढ़ावें वैसे ही हिंदी हिंदीभाषी ही पढ़ावें यह कल्पना भी अनुचित है। देश के दो-तिहाई क्षेत्र हिंदी के जानकार हैं।

—नई दिल्ली १८ जनवरी। साहित्य-अकादमी ने भारतीय भाषाओं में की गई रचनाओं पर दस लेखकों को ५-५ हजार के पुरस्कार देने की घोषणा की है। ये पुस्तकें ५५-५७ के बीच की हैं। इनमें महापंडित राहुल जी राष्ट्रभाषापरिषद् बिहार द्वारा प्रकाशित 'मध्य-एशिया का इतिहास' के लिए, श्री राजगोपालाचारी तमिल गद्य-रामायण के लिए, श्री परशुराम बंगला में लघु कथाओं के लिए, श्री जिगर मुरादाबादी उर्दू कविता-संग्रह 'आतिशे गुल' के लिए, पंडित सुखलाल जी गुजराती दार्शनिक निबंधों के लिए, श्री डी० आर० बेन्द्रे कन्नड़ मुक्त-कविताओं के लिए, श्री अखतर मोहिउद्दीन कश्मीरी कविताओं के लिए, श्री चिं० कोल्हटकर 'बहुरूपी' नामक मराठी और श्री के० पी० केशव मेनन 'कभिंजा-कालम' नामक मलायली आत्मचरित के लिए, श्री कंचुकीचरण महन्ती 'का' नामक उड़िया उपन्यास के लिए पुरस्कृत किए गए।

—भारत में प्रथमवार भारतीय भाषाओं में विज्ञान संबंधी पुस्तकों की प्रदर्शनी का आयोजन दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से किया गया। इसमें ५००० के लगभग पुस्तकें थीं, जिनमें बंगला की सर्वाधिक १३६० पुस्तकें, हिन्दी की १२००, मराठी की ५००, उर्दू की ३५०, गुजराती की ३५०, कन्नड़ की २५०, तेलगू की २३६, तमिल की २१०, संस्कृत की १००, मलायलम की ६५, पंजाबी की ७० और आसामी की ४३ थीं।

—ज्ञात हुआ है कि भारत सरकार ने ऐसे शब्दों के शब्द-कोषों को प्रकाशित करने का निर्णय किया है जोकि हिन्दी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में एक जैसे हैं। पहले हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषा में एक जैसे शब्दों की सूची प्रकाशित की जायगी और उन्हें (सूचियों) टिप्पणियों के लिए संबंधित क्षेत्रों में भेज दिया जायगा। चार सूचियाँ हिन्दी-बंगला, हिन्दी-तमिल, हिन्दी-मलायलम और हिंदी-काश्मीरी तैयार हो चुकी हैं। तीन अन्य सूचियाँ हिंदी-तेलगू, हिंदी-गुजराती और हिन्दी-उड़िया तैयार होनेवाली हैं।

—केरल सरकार द्वारा नियुक्त पाठ्यपुस्तक छानबीन समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि केरल सरकार के अधिकारियों द्वारा अथवा पाठ्यक्रम निर्धारण समितियों द्वारा पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से कम्युनिस्ट अथवा धर्मद्रोही तत्वज्ञान के प्रचारार्थ जानबूझकर कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। फिर भी समिति को मलायलम की पाठ्य पुस्तक में कुछ ऐसे अंश मिले हैं जो कुछ लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचा सकते हैं।





कलंक (उपन्यास)

लेखक—नैथेनियल हाथार्न (अनुवादकः आशुतोष)

प्रकाशक—राजपाल एंड संज, दिल्ली

मूल्य—तीन रुपये

प्रस्तुत 'स्कार्लेट लैटर' नामक प्रसिद्ध उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। इसमें कला और भावपक्ष अनातोले की 'थाया' से अधिक सीमित और व्यक्तिगत है, यही इसकी कलाप्रमुखता है। हाथार्न—अपनी इसी विशेषता के कारण जोर-शोर की नेकनामी और बदनामी (जोकि किसी नेकनामी से भी बड़ी चीज होती है)—पाते रहे हैं।

उपन्यास की जमीन, प्रतिष्ठित राजवैद्य चिलिंगवर्थ की तिरस्कृता पत्नी हेस्टर के, राजगुरु पादरी डिम्सडेल के साथ, उस चुपका प्यार को लेकर शुरू होती है, जिससे कि उसे पर्ल नाम की एक अवैध संतान प्राप्त होती है और जिसके कारण उसे समाज-बहिष्कार तथा छाती पर कलंक-चिह्न धारण करने की सजा सरेआम दी जाती है। वह चाहती तो अपने प्रेमी के नाम को प्रकट कर सकती थी--किन्तु ऐसा न कर उसने पादरी को सात वर्षों तक आत्मानुताप में इस हद तक झुलसने दिया कि जिस दंडमंच पर वह दंडित हुई थी उसी पर सबके सामने उसे कबूल कर तनमन से मुक्ति पाने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं बचा। चिलिंगवर्थ, जो उन दोनों के इस संबंध को लेकर अपने शैतानी संतोष का खेल खेलता रहा, पादरी द्वारा इस संबंध को स्वीकार करने पर परास्त होकर बोला—"यह दंडमंच ही उन सब स्थानों से गुप्त है, जहाँ तुम मुझसे बच सकते थे"। नन्हीं पर्ल ने माँ की गोद से ही दो स्वाभाविक स्थितियाँ देखी थीं—एक तो माँ की छाती पर लगा हुआ कलंक-चिह्न और दूसरा, माँ का एकान्त जीवन। यही कारण है कि जब हेस्टर ने पादरी के संग भाग चलने का इरादा बनाते समय अपना कलंक-चिह्न उतार फेंका तो वह पर्ल को इतनी अजीब लगी कि जबतक उसने कलंक-चिह्न को उठाकर अपनी छाती पर फिर से नहीं लगाया तबतक वह उसके पास नहीं आई। ऐसे ही, पादरी ने जबतक सबके सामने उसकी माँ का हाथ नहीं पकड़ा तबतक वह उससे कतराती रही।

मेरे विचार से चरित्रों का ऐसा व्यक्तीकृत रेखांकन और मन का मौन निवेदन भारतीय उपन्यासों में दुर्लभ है। मेरे समक्ष केवल अनुवाद ही है फिर भी यह हूबहू-जैसा ही लगता है। संबंधित प्रकाशक छपाई-सफाई के लिए जैसे प्रसिद्ध हैं, यह वैसा ही है।

गीत-संगम (कविता-संग्रह)

कवि--श्री रंजन सूरिदेव

प्रकाशक—लता प्रकाशन, पटना--३

मूल्य—ढाई रुपये

कवि बच्चन के आत्मसंबोधित पुराने गीतों की लयों को कुछ अधिक ग्रहण करने के बावजूद श्री रंजन के ये गीत सचमुच ही 'गजल की नहर से नहीं, अपितु हिन्दी की अपनी गीत-धारा से जुड़े हुए हैं' और 'सर्वप्रथम' कृति होते हुए भी अच्छे हैं। व्यथा की अभिव्यंजना के नाम पर उधर के गजली गीतों में पाठकों को जो 'चिरौंयध' सूँघनी पड़ती थी--इनमें वह कहीं नहीं है। ये गीत 'आशा', 'कामना' और 'वेदना' शीर्षक तीन सर्गों में पुस्तकस्थ हैं। 'चेतना ने शृंखलाएँ तोड़ने की ठान ली है' (आशा), 'लुब्ध अन्तर्दीप भावों के तिमिर पर', 'सपने जो रीते सो बीते--प्रेम सघन घन-सा लहराया' (कामना), और 'चल रहा हूँ दूर, परिचय को छिपाए' (वेदना) आदि गीत

मोहक बन पड़े हैं। यदि कुछ और, तटस्थता तथा सचेष्टता के बजाय, सहजता भी सधती तो गीतों में और भी रंगबिरंग आता।

शिक्षा-दर्शन

लेखक—मनमोहन सहगल

प्रकाशक—दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली

मूल्य—पाँच रुपये

शिक्षा-दर्शन पर हिंदी-पाठकों के अध्ययन के लिए एक समीचीन और मौलिक पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रस्तुत पुस्तक कुछ हद तक इस आवश्यकता की पूर्त्ति करती है। केवल "समस्त भारत में शिक्षा-दर्शन विषय पर पाठ्य-क्रम के रूप में स्वीकृत" होने के व्यापारिक भाव और लेखक के विभागाध्यक्ष की भूमिका का यह वाक्य कि दूसरे "लेखक बहुधा दर्शन-शास्त्र में एम० ए० अथवा बी० टी० अथवा दोनों योग्यताएँ नहीं रखते"—न होता तो अच्छा था।

लेखक ने बात शुरू की है कि "भारतीय शिक्षा पाश्चात्य एकांगी विचार-धाराओं से बौनी क्यों कर हो सकती है" और तदनुसार ही उसने शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता, शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र तथा लक्ष्य, उद्देश्य, दर्शन और शिक्षा का संबंध, शिक्षा-दर्शन की समस्या, शिक्षा में प्रकृति-आदर्श-व्यवहार तथा बुनियादी आदि वादों पर सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया है। विदेशी जगत के सभी पूर्ववर्ती शिक्षाचार्यों के मत के मुकाबले भारतीय आर्ष विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी, लेखक ने अपने चिन्तन की तटस्थता का [illegible]नत परिचय दिया है।

[illegible]उस्तक में 'भान्ति', 'बौद्धात्मक', 'पाश्विक', 'उपरोक्त', जैसे भाषास्खलन और "काम अर्थ धर्म मोक्ष" जैसे अशुद्ध क्रम अवश्य अखरते हैं। शेष सर्वांगसुंदर है।

गाँधी भारती (कविता)

कवि—गुलाब

प्रकाशक—कामता प्रकाशन, पटना

मूल्य—डेढ़ रुपया

यह पुस्तिका यद्यपि ऊपरी सज्जा में ओछी और आकार-प्रकार के लिहाज से कुछ मँहगी है, फिर भी कविता के नाते पठनीय है। महात्मा गाँधी के अवसान से जनित मनोवेदना को कवि ने प्रबंध-पद्यों में प्रकट किया है। एक बैठक में लिखे हुए ये प्रबंध-पद्य कुछ ऐसे धाराप्रवाह हैं कि बैठक बिना तोड़े ही पढ़ लेने में मन रमता है। प्रारंभ से अंत तक दुःखान्त नाटकीयता निबाही गई है। अपने महान अतीत की पीठिका पर गाँधी जी की यों प्रतिष्ठा की गई है—"त्रेता का तापस, द्वापर का वही सारथी, कलि में आज; संत बना सेगाँव गाँव का"। और, उनकी सराहना में कुछ कहने के असामर्थ्य को (संस्कृत के अनुवादरूप में) व्यक्त किया है—"सप्तसिंधु चुक जाँय, लेखनी-अनी हिमालय-सी घिस जाय"। गाँधी जी की "सबको 'सन्मति' दे भगवान" वाली प्रार्थना को ईसा के शहादती शब्दों में यों बदला है—"ज्ञात नहीं है इन्हें कि क्या ये आज कर रहे हैं अनजान"।

—'लालधुआँ'

चीनी बीरबल

नसरद्दीन अवन्ती

प्रस्तुतकर्ता—अंकिमचंद्र अरुण

प्रकाशक—कमलालय प्रकाशन, पटना

मूल्य—साठ नये पैसे

नसरद्दीन अवन्ती की हास्यरस की कहानियाँ चीन की लोककथाओं में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अवन्ती की

ऐसी ही कुछ कथाओं का संकलन लेखक ने इस छोटे से संग्रह में प्रस्तुत किया है।

कथायें यद्यपि मनोरंजक अवश्य हैं, लेकिन वे बीरबल की कथाओं के समान अपने आप में प्रभावपूर्ण कदापि नहीं। बीरबल और अवन्ती की तुलना करते समय हम कभी भी दोनों को समान स्तर पर नहीं रख सकते। अवन्ती का हास्य नकली और बनावटी हास्य प्रतीत होता है जबकि बीरबल की रचनाओं को पढ़कर हँसी स्वतः फूट पड़ती है।

अवन्ती चीन के बीरबल हो सकते हैं लेकिन 'बीरबल' कदापि नहीं हो सकते।

ऐसे, लोक-कथा और उनके माध्यम से लोक-जीवन को समझाने में ये कथायें सहायक होंगी।

पुस्तक की छपाई इत्यादि साधारणरूप में अच्छी है।

ज्ञान-विज्ञान

**सितारों की कहानी * रसायन की कहानी
एटम की कहानी * वायुयान की कहानी
टेलीफोन की कहानी**

**प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य—प्रत्येक के दो रुपये।**

अन्य देशों की अपेक्षा विज्ञान की जानकारी हमलोगों को बहुत ही कम है। इस क्षेत्र में हमलोग दुनिया के अन्य देशों से बहुत ही पीछे हैं। स्वभावतः तत्संबंधी साहित्य का भी हमारे देश में अत्यन्त अभाव है। विज्ञान के अद्भुत चमत्कारों को देखकर हम मुग्ध होते हैं, उसको जानने की उत्सुकता हमारे हृदय में जगती है, लेकिन सुलभ साधन के अभाव में जैसी-की-तैसी बनी रह जाती है।

इधर हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन के फलस्वरूप उस कमी की पूर्ति की जो चेष्टा चल रही है वह सचमुच सराहनीय है।

उपर्युक्त सभी पुस्तकें अंगरेजी में इन विषयों पर प्राप्त महत्वपूर्ण पुस्तकों की अनुवाद हैं। अनुवाद को 'सेकेंड हैंड'-साहित्य की संज्ञा दी जाती है। स्वभावतः ये पुस्तकें उसी श्रेणी में रखी जायेंगी। 'सेकेंड हैंड' होते हुए भी इन पुस्तकों का अपना एक स्थायी महत्व है क्योंकि इन विषयों पर हिन्दी में कोई भी पुस्तक प्राप्त नहीं थी जो विषय का ठीक-ठीक परिचय भी दे सके।

विज्ञान जैसे नीरस विषय को सरस बना देना एक बहुत बड़ी कला है। इस कला का पूरा उपयोग लेखक ने इन पुस्तकों में कर दिखाया है। अनुवाद में सरसता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। केवल पुस्तकों में आये विभिन्न पारिभाषिक शब्दों को लेकर कुछ कठिनाई उत्पन्न होते दीख पड़ती है—जहाँ पाठक को सहसा रुक जाना पड़ता है। इन शब्दों को और स्पष्ट करने की आवश्यकता थी। ऐसे, पुस्तकें ज्ञानवर्धक और उपयोगी होने के साथ ही रोचक भी हैं।

सितारों की कहानी All about the stars का हिन्दी अनुवाद है। पुस्तक में लेखक ने ग्रह और नक्षत्रों की दुनिया से हमारा विस्तृत परिचय कराया है। परिचय पूर्ण वैज्ञानिक है लेकिन उसको कहने का ढंग कुछ इतना निराला है कि वह कहीं भी पाठक के मस्तिष्क को थकाता नहीं है। अनुवाद की भाषा अत्यन्त ही सरल है।

रसायन की कहानी अंग्रेजी की सुविख्यात पुस्तक All about the wonders of Chemistry का अनूदित रूप है। रसायनों का प्रयोग हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग हो गया है लेकिन क्या हमने यह जानने की कोशिश की है कि ये रसायन किस वैज्ञानिक चमत्कार के फलस्वरूप निर्मित हुए हैं। "रसायनों की ही कोशिशों के

फलस्वरूप हमारे मकान अधिक आरामदेह हमारे वस्त्र अधिक अच्छे और हमारा भोजन पौष्टिक हो सका है। आधुनिक रसायन-शास्त्र के बिना रेलगाड़ियाँ, मोटरें, विमान आदि यातायात के साधन हमारे पास न होते। सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन कभी न जनमते।" लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में रसायन के विभिन्न रूप और उनके चमत्कारपूर्ण आविष्कार की कहानी मनोरंजक शैली और सरल भाषा में प्रस्तुत की है।

एटम की कहानी All about the Atom का हिंदी अनुवाद है। एटम या अणु की चर्चा आज के युग की साधारण-सी बात है, लेकिन उसके मूलतत्वों से हमारा परिचय नहीं के बराबर है। यह पुस्तक इस दृष्टि से बड़े काम की है। लेखक ने एटम के निर्माण की कहानी अत्यंत रोचक ढंग से इस पुस्तक में कही है। अणु के निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाओं और उसके व्यावहारिक पक्ष की चर्चा पुस्तक की अपनी विशेषता है।

वायुयान के आविष्कार और आविष्कारक की साहसपूर्ण कहानी 'वायुयान की कहानी' नामक पुस्तक में कही गई है। यह पुस्तक अंग्रेजी के The Wright Brothers नामक पुस्तक से अनूदित है, वायुयान के आविष्कारक राइट बन्धुओं के साहस, लगन और कौशल

की गाथा पाठक के सम्मुख अपूर्व प्रणाली प्रस्तुत करती है। वर्णन की सजीवता और शैली का माधुर्य पुस्तक के महत्व को द्विगुणित करते हैं।

टेलिफोन के क्रमिक विकास और आविष्कार की गाथा औपन्यासिक ढंग से 'टेलीफोन की कहानी' नामक पुस्तक में प्रस्तुत की गई है। टेलिफोन का आविष्कार इस युग की एक महान घटना है। वस्तुतः टेलिफोन के आविष्कार ने मनुष्य को समय और दूरी पर एक बहुत बड़ी विजय दिलायी। इसके महान आविष्कारक ग्रैहम बैल के जीवन की यह रोचक कथा Mr. Bell invents the Telephone का हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद की शैली आकर्षक और कथा अत्यंत मनोरंजक है। टेलीफोन के निर्माण संबंधी तांत्रिक (technical) पक्ष पर भी पुस्तक में विचार किया गया है।

कुल मिलाकर पुस्तकें अपने ढंग की अकेली हैं। छपाई-सफाई स्वस्थ है।

—विश्वनाथ

धरती का स्वर्ग (उपन्यास)

लेखक—जार्ज मारडिकियन

प्रकाशक—भारतीय प्रकाशन मण्डल, वाराणसी।

मूल्य—२·००

जार्ज मारडिकियन द्वारा लिखित यह आत्मकथात्मक उपन्यास है और स्वयं लेखक की आत्मकथा भी। लेखक ने अपने जीवन में बड़े ही संघर्ष देखे हैं और संघर्ष, वेदना, भौतिक परेशानियों से उसे मुक्ति मिलती है, तो अमेरिका जाकर। अमेरिका को उसने धरती का स्वर्ग माना है और इसलिए पुस्तक का नाम उसने 'धरती का स्वर्ग' रखा है।

अमेरिका जाकर वह इतनी तरक्की करता है कि आगे चलकर 'उमरखैयाम' नामक एक बड़े होटल का संचालक हो जाता है। प्रस्तुत आलोचक लेखक के व्यक्तिगत विचारों से सहमत होकर सार्वभौमिक दृष्टिकोण से सहमत नहीं। अमेरिका के प्रति उसकी यह प्रचारात्मक पंक्ति—"विश्व में सबसे अधिक मानवीय हृदय रखनेवाले अमरीकियों ने उस समय मेरा जीवन बचाया और मुझे आश्रय दिया था जब मेरे अपने लोग हाथ तक न उठा सकते थे—" स्वयं बोलती है कि लेखक ने पुस्तक प्रेस में जाने के पहले अमरीका के प्रचार-विभाग के साहित्यिक परामर्शदाता से आवश्यक शब्द जुड़वा लिये हैं।

एक जगह पर लिखता है कि उसने एक बोलशेविक पुलिस को मात्र दूध का एक डब्बा देकर स्वयं को छिपाकर भाग निकलने का मंसूबा पूरा कर लिया। जो लोग बोलशेविक दल की प्रवृत्तियों से परिचित नहीं हैं, उन्हें तो यह जादू वाली बात प्रभावित कर लेगी, लेकिन जो लोग बोलशेविक क्रान्ति की गतिविधि से परिचित हैं, उन पर लेखक के इस जादुई कथन का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

हम इस उपन्यास को सत्यात्मक रचना न कह कर, प्रचारात्मक रचना कहें, तो अधिक उपयुक्त होगा। यत्र-तत्र भाषा की अशुद्धियाँ भी खटकती हैं।

शिल्प-बोध या साहित्यिक चेतना की दृष्टि से भी पुस्तक महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुई। छपाई-सफाई भी साधारण है।

पंचशील-संदेश
(साप्ताहिक-पत्र)

संपादक—कपिलदेव नारायण सिंह 'सुहृद'
प्रकाशक—कालिका प्रेस, पटना ४
मूल्य—वार्षिक ८) : अंक १६ न० पै०

हिन्दी में स्वस्थ साप्ताहिक पत्रों की कमी है। पिछले वर्षों में 'स्वस्थ' के नाम पर 'सचित्र' साप्ताहिक अवश्य आए हैं—जिनमें पढ़ने का मसाला बहुत ही तुच्छ रहा। कुछ राजनीतिक साप्ताहिकों के अलावा, जो समाज और साहित्य-संबंधी साप्ताहिक मिलते हैं, उनमें राजनीति से भी गिरी हुई चीज—अर्थात् गुटबाजी की (दुर्+) गंध अवश्य होती है।

आलोच्य में यही प्रसन्नता है कि कोई भी उपर्युक्त अस्वच्छताएँ नहीं हैं। आवरण के अलावा ३२ पृष्ठों का यह पत्र पैसों के नाते जहाँ काफी सस्ता है, वहीं लेख और छपाई-सफाई के नाते उपर्युक्तों से अधिक मूल्यवान। प्रस्तुत अंक में श्री हवलदार त्रिपाठी का 'पंचशील' विषयक अध्ययन, श्री अनूपलाल मंडल और श्री नरेन्द्र नारायण लाल के वैयक्तिक निबंध, श्री सुरेश्वर पाठक का 'चंडिका' विषयक सांस्कृतिक अनुसंधान, 'वर्तमान विश्व' तथा 'आपकी राजधानी' जैसा समाचार-सिंहावलोकन महत्त्व की चीजें हैं। श्री हिमांशु श्रीवास्तव की कहानी 'भतगसिंह : ऐज ओरिजनल' वर्तमान के फटेचिटे समाज और राजनीति पर बहुत ही उन्नत और सटीक व्यंग्य है।

—मुक्तिदूत



बिहार राज्य शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत पुस्तकें

उर्दू काव्य

दीवाने गालिब [मुगनी अमरोही व नूरनबी अब्बासी] ६.००

राजनीति व इतिहास

नेहरू : विश्वशांति की खोज में [ओंप्रकाश गुप्त] ०.५०

बाचा खान [फारिग बुखारी] ६.००

मेवाड़ [टॉड] २.७५

जीवनोपयोगी

जीना सीखो [देशराज व गंधर्व] ३.००

विज्ञान

वैज्ञानिक चाँद (सचित्र) [वसंत कुमार चटर्जी] १.५०

चन्द्रलोक (सचित्र) ” २.५०

कहानी साहित्य

उड़ानें [कृष्णाचन्द्र] ३.५०

सीमान्त [रवींद्रनाथ टैगोर] २.५०

आँचल और आँसू [शिवारानी निगम] ३.५०

दो गज जमीन [टालसटाय] २.५०

उपन्यास

सूखे पेड़ : सब्ज पत्ते [गुलशन नंदा] ४.५०

एक नदी : दो पाट ” ४.२५

बादल छँट गए [कृष्णाचन्द्र] ३.००

ललितांगी [यादवचंद्र जैन] ३.७५

आँचल में दूध :

आँखों में पानी [यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'] ५.००

मिट्टी का कलंक ” ३.००

गजाला [शौकत थानवी] ३.७५

नसीम ” ३.५०

इन्शा अल्लाह ” ३.००

कुतिया ” ४.२५

कार्टून ” ४.२५

साँच को आँच ” ३.७५

कश्मीर की बेटी [जमनादास 'अख्तर'] २.७५

आग ” २.५०

पायल ” ४.५०

राख की परतें [कमल शुक्ल] ३.२५

तूलिका [समरसेट माम] ५.२५

एक ही पतवार [शिवव्रतलाल वर्मन] ३.२५

शाही लकड़हारा ” ३.५०

प्रेम पुजारिन [सुदर्शन] २.२५

व्यापारियों और लायब्रेरियों को विशेष सुविधा

सूचीपत्र के लिए लिखें

नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्ज़

दरीबा कलाँ, दिल्ली

१६५८-५६ के लिए राज्य-नियुक्त पुस्तक-विक्रेताओं की सूची

अनुदान-प्राप्त संस्थाओं के लिए निर्देश

जिन संस्थाओं को चालू वित्तीय वर्ष में अनुदान के रूप में कूपन दिये गये हैं, उन्हें इस बात की स्वतंत्रता दी जाती है कि वे अपने जिले के लिए नियुक्त पुस्तक-विक्रेताओं में से किसी एक से, जिनकी सूची नीचे दी जा रही है, संलग्न कूपनों पर अपनी पसन्द की पुस्तकें कूपनों के पृष्ठ पर अंकित निर्देशानुसार ले सकते हैं।

नवलकिशोर गौड़
पुस्तकालय-अधीक्षक, बिहार

१. पटना
   १. अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ४
   २. राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना ४
   ३. राजकमल प्रकाशन, पटना ६
   ४. किताबघर, पटना ३

२. गया
   १. मानसरोवर, गया
   २. पाण्डेय ब्रदर्स, औरंगाबाद, गया

३. शाहाबाद
   १. पुस्तक सदन, आरा
   २. एस० पी० मिश्र एण्ड संस, आरा

४. भागलपुर
   १. अजन्ता प्रकाशन, भागलपुर
   २. किताब महल, भागलपुर

५ मुंगेर
   १. मुंगेर पब्लिशिंग हाउस, मुंगेर
   २. हीरालाल कृष्ण एण्ड संस, बेगूसराय

६. संथाल परगना
   १. नवयुग साहित्य मन्दिर, देवघर
   २. छात्र पुस्तक भण्डार, गोड्डा
   ३. कन्या कुमारी प्रकाशन, दुमका

७. सहर्षा
   १. सिन्हा बुक डीपो, सहर्षा
   २. शंकर स्टोर्स, सहर्षा

८. पूर्णिया
   १. मैथिली पुस्तक भवन, कटिहार
   २. पुस्तक महल, पूर्णिया

६. मुजफ्फरपुर
   १. तिहुंत बुक डीपो, मुजफ्फरपुर
   २. कमलालय, मुजफ्फरपुर
   ३. अजन्ता प्रकाशन, मुजफ्फरपुर
   ४. बेनीपुरी प्रकाशन, मुजफ्फरपुर
   ५. पुस्तक भवन, मुजफ्फरपुर
   ६. वितरक, मुजफ्फरपुर

१०. सारण
   १. वाणी मन्दिर प्रेस, छपरा
   २. नाथ ब्रदर्स, छपरा

११. चम्पारण
   १. प्रकाश पुस्तक भवन, मोतिहारी
   २. विद्यार्थी बुक स्टोर, बेतिया
   ३. काशी पुस्तक मन्दिर, बेतिया

१२. दरभंगा
   १. ग्रंथालय, दरभंगा
   २. कन्हैयालाल कृष्णदास, दरभंगा

१३. राँची
   १. सुबोध ग्रंथमाला कर्यालय, राँची
   २. किताब घर, राँची
   ३. पुस्तक भवन, राँची

१४. हजारीबाग
   १. गुप्ता बुक डीपो, हजारीबाग
   २. पुस्तक भवन, हजारीबाग

१५. धनबाद
   १. स्टूडेन्ट स्टोर्स, धनबाद
   २. विनोद पुस्तक भण्डार, झरिया

१६. सिंहभूम
   १. गुप्ता बुक डीपो, घतकीडीह, जमशेदपुर
   २. पुस्तक भंडार, सरायकेला (सिंहभूम)

१७. पलामू
   १. साहित्य निकुंज, डालटेनगंज
   २. गौतम ब्रदर्स, डालटेनगंज



सरकारी पुस्तक-खरीद : एक खुला खत

अभी विहार के पुस्तक-बाजार में बड़ी सरगर्मी है। वर्षों बाद सरकार की आँखें खुली हैं और प्रत्येक जिले में निम्न माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए पड़ी हुई पुस्तक-अनुदान की रकमों को पुस्तक-खरीद में खर्च किए जाने का आदेश जिला-अधिकारियों को मिल चुका है। यहाँ यह सहसा पूछा जा सकता है कि इतने वर्षों से राज्य के बहुत से बच्चों को इन तीन वर्षों में प्रकाशित हजारों अच्छी पुस्तकों के उपयोग से वंचित रखकर, उन्हें क्या वास्तविक लाभ सरकार ने पहुँचाया है और शासकीय तथा जनतांत्रिक दृष्टि से किस बुद्धिमानी का परिचय दिया है। पुस्तक-व्यवसाय में लगे हजारों व्यक्तियों के सुख-दुःख की चिन्ता न भी करे, तो भी सरकार पर इसका उत्तर देने का दायित्व तो है ही।

अब नए आदेश के साथ पुस्तक-खरीद की पद्धति भी बदली जा चुकी है। पहले, पुस्तकों का चुनाव—जो जिला शिक्षा-पदाधिकारी और जिला-बोर्ड के अध्यक्ष द्वारा किया जाता था—अब निम्न माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों द्वारा, शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत "बाल-साहित्य की ग्रंथसूची" से, अपने-अपने विद्यालय के पुस्तकालयों में उपलब्ध पुस्तकों से मिलाकर, किया जायगा। वे इच्छित पुस्तकों की सूचियाँ उप-विद्यालय-निरीक्षकों और अवर-विद्यालय-निरीक्षकों के पास भेजेंगे, और वे स्वयं छानबीन कर—उन्हें एकत्र कर—एक ऐसी सूची बना लेंगे जिससे यह पता चल सके कि उनके क्षेत्र के मिडिल अथवा प्राइमरी स्कूलों में किन-किन पुस्तकों की कितनी प्रतियों की आवश्यकता है। इन सूचियों को वे अपने सबडिवीजन एजूकेशन अफसर के पास भेज देंगे, जो अपने क्षेत्र के सभी अधीनस्थ अधिकारियों से प्राप्त सूचियों को अपनी सम्मति के साथ जिला शिक्षा-अधीक्षक के पास भेज देंगे। अब जिला शिक्षा-अधीक्षक इन सूचियों को संकलित कर एक लंबी सूची बनायेंगे, जिसके अनुसार पुस्तकों की खरीद होगी। कागज पर यह पद्धति बड़ी ही उपयोगी और जनतांत्रिक दिखाई पड़ती है। हमारे शिक्षा-सूत्रधार इसे लेकर बड़ा गर्व भी अनुभव करते होंगे। पर इसे रूप देने में जो असंभव के स्तर की कठिनाई है और अनर्थ की जो गुंजाइश है, वह अपने अधिकारियों के सहारे मात्र कागजी घोड़े दौड़ाने वाले हमारे शिक्षा-सूत्रधारों के मस्तिष्क में शायद ही उतरे।

पहली बात तो यह है कि कोई आँख का अंधा ही यह कह सकता है कि ग्रंथ-सूची की सभी पुस्तकें एक ही स्तर की हैं। समुचित चुनाव के लिए ग्रंथसूची की सभी पुस्तकें शिक्षकों के सामने होनी चाहियें, अन्यथा चुनाव का अर्थ ही क्या होगा? प्रत्येक विद्यालय जाकर या भेजकर पुस्तकें प्रधानाध्यापकों को दिखलाना किसी भी प्रकाशक के लिए संभव नहीं है। ऐसा करने पर, राह और डाक का व्यय तथा नमूने की प्रतियाँ देने में ही वह बिक जायगा! प्रत्येक जिले में नमूने की एक प्रति दी जा सकती है, पर प्रत्येक विद्यालय

को नमूने भेजने पर खरीद की गुंजाइश या आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? यदि चुनाव का अर्थ, मात्र अपने पुस्तकालय में प्राप्य ग्रंथ-सूची की पुस्तकें छोड़कर अनुदान की रकम के अनुसार सूची बना लेना है, तो सूची की तथाकथित सभी अच्छी पुस्तकों से अपने पुस्तकालय को समृद्ध बनाने में विद्यालय को कम-से-कम १५ वर्ष का समय चाहिए। ऐसी स्थिति में, इस लंबी अवधि में प्रकाशित होनेवाले हजारों बाल-साहित्य के आधार पर निर्मित होनेवाली ग्रंथसूचियों की क्या उपयोगिता या उपादेयता होगी ? शिक्षा-सूत्रधारों में इतनी दृष्टि और समझ तो होनी ही चाहिए कि वे अनुभव करें कि इधर भारतीय साहित्य में प्रतिवर्ष बाल-साहित्य का प्रकाशन परिमार्जित और स्वस्थ होता जा रहा है। तो क्या वे अपनी इस तथाकथित 'अर्थपूर्ण पद्धति' द्वारा अपने प्रांत के नौनिहालों को, निरन्तर श्रेष्ठ स्तर को स्पर्श करते हुए बाल-साहित्य से वंचित रख, अनर्थ नहीं कर रहे हैं ?

दूसरी बात समय से संबंध रखती है। इस पद्धति के अनुसार जितनी बड़ी अवधि की अपेक्षा होगी, उसकी कल्पना संभवतः हमारे शिक्षा-सूत्रधारों ने नहीं की थी। फलस्वरूप आज उक्त अनुदेश के निकले ६ महीने से ऊपर हो गए किंतु किसी भी जिले में उपर्युक्त पद्धति के अनुसार सूची तैयार न हो सकी, खरीद की बात तो दूर रही।

जहाँ कहीं सूची तैयार हो सकी है, वहाँ उक्त पद्धति से नहीं ; बल्कि बीच में प्रसारित एक भ्रामक अनुदेश से भ्रमित होकर, जिसके अनुसार शिक्षा-अधिकारियों ने पद्धति बदल दी और चुनाव का अधिकार स्वयं अपने हाथों में ले लिया। और, इसके साथ ही वह तथाकथित उपयोगी और जनतांत्रिक पद्धति धाराशायी हो गई।

खैर, बात कुछ बदली और जिलों में पुस्तक खरीद के लिए सूचियाँ बनने लगी हैं। प्रायः प्रत्येक जिले में दो-तीन वर्षों की बिना खर्च की गई रकमें इस मद में पड़ी हैं, जो कहीं-कहीं लाख की संख्या को छूती हैं। पुस्तक-बाजार में जो सरगर्मी है, वह इसी कारण है। व्यापारी पैंतरे भाँज रहे हैं, बदल रहे हैं। "पुस्तकों की थोक खरीद पर सरकार को मिलनेवाले कमीशन की दर २०% से कम न हो"—ग्रंथ-सूची के इस नियम के आधार पर इस वर्ष पहली बार पुस्तक-खरीद के लिए प्रत्येक जिले से टेंडर की माँग की गई है। शायद जनतांत्रिक देशों में यह भारत ही है, जहाँ सरकार द्वारा पुस्तकों पर कमीशन की माँग की जाती है और जहाँ के एक प्रान्त बिहार में अच्छी (?) पुस्तकों की खरीद में अधिक-से-अधिक कमीशन प्राप्त करने के लिए टेंडर माँगे जा रहे हैं। जीवन-मरण के प्रश्न से उलझते प्रकाशक, सारी नैतिकता और दूरदर्शिता को किनारे रख, अधिक-से-अधिक कमीशन के टेंडर भरने की प्रतियोगिता लगाए बैठे हैं। आश्चर्य है कि इनमें सरकार को थोक खरीद पर २०% से अधिक कमीशन न देने की सामूहिक शपथ लेने वाले प्रकाशक भी हैं। इधर, मुंगेर के टेंडर खुलने पर, डाल से चूके एक प्रकाशक के आमंत्रण पर प्रकाशकों की एक बैठक भी बुलाई गई, जिसमें प्रकाशकों ने निश्चय किया कि किसी भी दशा में सरकार को २०% से अधिक कमीशन न दिया जाय, और इस निश्चय पर बैठक में उपस्थित प्रकाशकों ने अपने हस्ताक्षर भी दिए। यदि इस बैठक के पीछे कोई निश्चित स्वार्थ नहीं है तो क्या यह बैठक उसी समय आयोजित नहीं की जानी चाहिए थी, जिस समय टेंडर माँगे गए थे? फिर भी, हम इस आयोजन और आन्दोलन की सफलता चाहते हैं ; क्योंकि अधिक-से-अधिक कमीशन की

प्रतियोगिता में, कागज और मुद्रण-सामग्रियों की वर्तमान मँहगी के बीच, वस्तुतः अच्छी पुस्तकें देना किसी भी प्रकाशक के लिए संभव नहीं है। यों, वर्त्तमान में जीवन-मरण के प्रश्न से उलझे हुए, वस्तुतः ईमानदार प्रकाश कों का रक्त चूस लेने की बात और है! और, इसके साथ ही, शिक्षा के सूत्रधारों को यह भी समझ लेना चाहिए कि अधिक-से-अधिक कमीशन माँग कर वे प्रकाशकों को भविष्य में जीने के लिए खामखाह अपनी पुस्तकों की कीमत अधिक रखने के लिए बाध्य कर रहे हैं। निर्माण के पथ पर चल रहे एक जनतांत्रिक देश को, जिसकी और जहाँ के लोगों की आर्थिक भित्ति सुदृढ़ नहीं है, न केवल अच्छी पुस्तकों की, बल्कि सस्ते मूल्य की पुस्तकों की भी आवश्यकता होती है। और, ऐसा देश सस्ते भाषणों से नहीं, स्वस्थ और सुलभ साहित्य से बनता-सँवरता है। अपनी इस टेंडर-प्रणाली से सरकार देश को सँवारने में कितना योग और उत्साह दे रही है, वह स्वयं समझ सकती है।

सुना है कि हमारे जागरूक प्रधानमंत्री पं० नेहरू जी ने प्रकाशक-मंडल के आवेदन-पत्र पर अपनी टिप्पणी (संभवतः टेंडर के विरोध में) देकर, बिहार सरकार को भेज दिया है। आशा है कि वह पत्र लालफीताशाही के चक्कर में पड़कर फाइलों के बीच ही दवा न रह जायगा, कुछ कार्रवाई भी होगी।

सरगर्मी केवल पुस्तक-बाजार में ही नहीं, एक जगह और है, और वह है जिला शिक्षाध्यक्षों का कार्यालय। वर्षों बाद ऐसा सुनहरा मौका हाथ आया है। बाबुओं और बड़े बाबुओं की बन आई है। आफिस में, घर पर, सर्वत्र उनका दरबार लगा रहता है! घासलेटी और वर्त्तमान परिस्थिति के मारे हुए प्रकाशकों द्वारा डाकें बोली जा रही हैं—१५ प्रतिशत, २० प्रतिशत! और, डाक के अनुसार ही, उनके प्रकाशनों को खरीद-सूची में स्थान दिया जा रहा है। एक जगह तो परिस्थिति के मारे एक प्रकाशक ने आँखों में आँसू भरकर अत्यन्त दर्दीले स्वर में बड़े बाबू को कहा—"भैया, इतना न चूसो कि खून ही निकल जाय!" हमारे देश में आज़ादी के बाद नैतिकता का स्तर कितना गिर गया है! आश्चर्य है; फिर भी जनता को अपने भाषणों द्वारा नैतिकता का घोल पिलानेवाले हमारे सूत्रधार मौन हैं! दिया तले अँधेरा!

हमारा उनसे निवेदन है कि यदि वे वस्तुतः अच्छी पुस्तकें प्रान्त के बच्चों तक पहुँचाना चाहते हैं तो इन कार्यालयों में नियन्त्रण लावें। सरस्वती पर टेंडर माँग कर उसकी महिमा को घटावें नहीं! और, अपनी अव्यावहारिक पद्धति को वापस लें।

हमारे महाकवि का सम्मान

इस वर्ष हमारे श्रद्धेय श्री दिनकर जी गणतंत्र-दिवस के उपलक्ष में राष्ट्रपति द्वारा पद्म-भूषण की उपाधि से विभूषित किए गए हैं। यह सम्मान उनकी बहुमुखी सेवाओं के सर्वथा योग्य है। हम सब अपने महाकवि के सम्मान से न केवल प्रसन्न हैं, बल्कि उनके साथ अपने-आप को भी गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं। ऐसे अवसर पर बधाई देने की रस्म-अदाई कर, 'पुस्तक-जगत' परिवार इस अपनेपन को लघुता में बाँधने का प्रयास कैसे करे?

पुस्तक-जगत के नियम

* "पुस्तक-जगत" में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की १० तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार रायल अठपेजी है और २$\frac{1}{4}$" के दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,
पटना—४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना—४ में मुद्रित एवं प्रकाशित।

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

मई, १९५९ : अंक—७ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

लेखक प्रकाशक क्यों न बने ?



डॉ० सावित्री शुक्ल

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा प्रारंभ की गई बहस को हम बड़े ध्यान से प्रायः पाँच मास से पढ़ रहे हैं। अनेक विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण मत-मतान्तरों को पढ़ कर ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे भी कुछ कहने के लिए अवकाश और अवसर है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के अनुसार अन्य वक्तव्यों से मेरा मत कुछ विलग और भिन्न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। परन्तु यह भी सत्य है कि "वादे वादे जायते तत्वबोधः"। बिना वाद-विवाद, आलोडन-विलोडन के तत्व की बात का समुत्पन्न होना सम्भव नहीं है। आपके उन लेखकों से मैं पूर्णतया सहमत हूँ जो कि कहते हैं कि लेखक को प्रकाशक बनने में कोई लज्जा, संकोच या अपमान का अनुभव नहीं करना चाहिए। लेखक अपने युग का प्रतिनिधि, आनेवाली पीढ़ियों का भाग्य विधाता, समाज का ध्रुवतारा, अंधकार में मशाल और श्रम का प्रतीक है। युग-युग से उसका शोषण प्रकाशकों द्वारा होता आया है और यदि यही स्थिति रही तो उसका शोषण आगे भविष्य में भी कायम रहेगा। जब वह अपनी मौलिकता, प्रतिभा, सूझ, चिन्तन और परिश्रम के फलस्वरूप किसी ग्रंथ को प्रस्तुत या पूर्ण कर पाता है, तो उसे प्रकाश देने के लिए प्रकाशक के पास दौड़ता है, खुशामद करता है और जानबूझ कर ठगों के हाथ में अपनी रचना सौंप करके सदैव के लिए अपना भविष्य अंधकारमय कर लेता है। आश्चर्य है कि जो इतना परिश्रम करता है वह आधे पेट खाकर फिर भी परिश्रम करता है और जो शोषक प्रकाशक पैसे की शक्ति से एकबार पुस्तक प्रकाशित कर देता है उसे न परिश्रम करने की जरूरत है, न रोटी के लिए चिंतित होने के लिए दौड़ना है। सुना है प्रसादजी ने ८४) में "आँसू" बेचा था। निराला, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रसिद्ध एकांकीकार भुवनेश्वर, कहानी और उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द आदि उच्चकोटि के कलाकारों ने अपनी अनेक कृतियाँ अर्थाभाव के कारण थोड़े से रुपयों के लिए बेच डाली थीं और प्रकाशक आज उनसे अथाह धन अर्जित कर रहे हैं। लेखक के बच्चों को खद्दर का कुर्ता भी न नसीब हो और प्रकाशक के बच्चे रेशमी कपड़े पहनें! यह सब इसलिए कि लेखक के पास प्रतिभा, परिश्रम करने की प्रवृत्ति और सामर्थ्य तो है पर उसके पास पैसा नहीं है जिससे वह अपनी पुस्तकें प्रकाशित कर सके। जिन लेखकों के पास पैसा है उन्हें अवश्य अपनी रचनाएँ प्रकाशित करनी चाहिएँ और हो सके तो उन्हें दूसरों की पुस्तकों का प्रकाशन-भार ग्रहण कर लेना चाहिए। वह दिन सोने का होगा जब हमारे लेखक स्वतः प्रकाशक बनने की ओर कदम उठाएँगे। आखिर मैथिलीशरण गुप्त, यशपाल, वृन्दावनलाल वर्मा, अश्क, दुलारेलाल भार्गव, सेठ गोविन्ददास आदि के उदाहरण हमें प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त हैं जो लेखक होते हुए भी प्रकाशक बने हैं। इनमें से कौन घाटा या नुकसान उठा रहा है? सभी सफल लेखक, सफल पुस्तक-विक्रेता, सफल प्रकाशक हैं। फिर और लोग क्यों नहीं इस दिशा में प्रगतिशील कदम उठा सकते हैं?

एक बात और है। लेखकों को चाहिए कि "कोआपरेटिव प्रकाशक संघों" की स्थापना करके प्रकाशकों का सामना करें। प्रकाशक वह जीव है जो हर प्रकार से पाठकों को दिवालिया और खोखला बना डालने के लिए सदैव

कटिबद्ध रहता है। उसके पास पैसा है और वही पैसा समाज का शत्रु, शोषण का आधार, विकृतियों का मूलमंत्र है।

लखनऊ के एक लेखक हैं। उनकी डिग्रियाँ हैं हिन्दी में पी० एच० डी०, डी लिट, संस्कृत में वे शास्त्री हैं। १२ वर्षों का अध्यापन-अनुभव है। ८ पुस्तकें प्रकाशित करा चुके हैं। बताते हैं कि उनकी पुस्तकों से वार्षिक आय अधिक-से-अधिक १००) है। एक विश्व-विद्यालय के प्राध्यापक हैं, जिनसे एक प्रकाशक ने अंग्रेजी की २० कहानियों का अनुवाद कराके १८) नकद पारिश्रमिक दिया। एक और लेखक हैं जिनको एक प्रकाशक ने ४० कालम के लेख का ७) पारिश्रमिक, या एक-मुश्त रायल्टी दी। एक और लेखक हैं जो बारह वर्ष की साहित्य-साधना के बावजूद ५०) मासिक नहीं अर्जित कर पाते हैं। कहाँ तक कहूँ? हिन्दी में इस प्रकार के उदाहरण हर कदम पर आपको मिल जायँगे। इन सबके मूल में बात सच्ची यह है कि हिंदी के प्रकाशक ईमानदार नहीं हैं। लेखकों को चाहिए इस ओर स्वतः कदम उठाएँ।



उच्च और प्रगतिशील जीवन के लिए तालबद्ध क्रिया की बहुत जरूरत है। नृत्यकला के द्वारा आदमी इस गुण को सीख सकता है। ...मैं पेशेवर नाटककारों का विरोधी हूँ; क्योंकि उनके काम में कला का अंग थोड़ा होता है और दिखाव, भपके और गलगलियाँ अधिक होती हैं।

—महात्मा गाँधी

दिल्ली का प्रकाशक-सेमिनार (३)



एक निष्पक्ष पर्यवेक्षक

एक बात, जिसे सेमिनार में बहुत से आगन्तुकों ने अनुभव किया, वह थी विभिन्न वार्ताओं की क्लिष्टतर भाषा। एक व्यावसायिक व्यक्ति की वार्ता में व्यावसायिक शब्दावली के बजाय साहित्यिक निबंधों जैसी शब्दावली होने से, यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि उसका लेखकों से जो संबंध होता है उसी के अनुसार उसने लेखकों की भाषा को अपनाने में ही अपनी शानदारी समझी। इसके कारण, लेखक तो यह अवश्य समझ लेता है कि उसने प्रकाशक पर अपना रंग जमा दिया है, किन्तु प्रकाशक के दूसरे सहयोगी अपने हित की बात के अलावा, शब्दों के इस दबदबे का मूल्य, शायद ही समझें। कारोबारी व्यस्तता और झमेलों के कारण, यदि निजी तौर पर किसी एक-आध में साहित्यिक रुचि और योग्यता है तो उसकी भी, साहित्यिक रुचि बढ़ने के बजाय दबती रहती है। और तब, अधिकांशतः दूसरों से तैयार करवाई गई ऐसी क्लिष्ट भाषा वाली वार्ता को उपस्थित करना कुछ अचानक, अप्रत्याशित और अस्वाभाविक जैसा ही लगने लगता है। वक्ता बेचारा भाषा को सम्हालने और शुद्ध उच्चारण देने में उलझाया रहता है और कारोबारी भाव—जिसे उसे स्वाभाविक ढंग से रखना चाहिए था—बैकग्राउंड में चला जाता है और शब्दों का निरर्थक जादू दूसरे सभासद व्यावसायिकों को हक्का-बक्का किए रहता है। कारोबारी मतलब जितना ही सरल भाषा में प्रकट किया जायगा—जितना ही यथार्थवादी ढंग से कहा जायगा, उसमें भाषा का मद्धिमपन रहने के बावजूद भाव की स्पष्टता टीका-टिप्पणी का विषय नहीं बनने देगी।

पुस्तक-व्यवसाय में विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण स्थान है—जिसे हम प्रचार-कला कहते हैं। विदेशों में हर प्रकाशक, किसी पुस्तक को प्रकाशित करने के पूर्व उसकी लागत के हिसाब-किताब में विज्ञापन का खर्च भी शामिल कर लेता है, या साल के बजट में विज्ञापन के मद में कितना रुपया खर्च करना है इसका निश्चय पहले ही कर लेता है। कविराज हरनाम दास जी की वार्ता में इस विषय पर कई उपयोगी सुझाव थे। कविराज जी 'हिदायतनामा खाबिन्द' 'पत्नी-पथप्रदर्शक' आदि सीरीज—जो विवाह एवं दाम्पत्य-जीवन से संबंध रखती हैं और कुछ स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी हैं—के प्रकाशक हैं। अपने विज्ञापन-विस्तारों के कारण उनकी ये पुस्तकें हिन्दी और उर्दू के अलावा दूसरी भाषाओं में भी छप चुकी हैं और कई लाख की संख्या में अबतक बिक चुकी हैं। उनका विज्ञापन ट्राम, बस, रेलवे स्टेशन और सिनेमा—सभी जगहों पर होता रहता है। किन्तु उनका, प्रायः सभी पुस्तकों के लिए सिनेमाई ढंग की इश्तेहारबाजी का सुझाव, अत्यन्त दिलचस्प होते हुए भी बेमानी और अक्रियात्मक था। कविराज एक अच्छे मननशील व्यक्ति ही नहीं, बड़े सज्जन और दानी पुरुष हैं। आम हिन्दी के प्रकाशकों से या उनके संघ से, उनका यह पहला संपर्क था। वे प्रकाशक-संघ के तबतक शायद सदस्य भी नहीं बने थे, फिर भी उन्होंने संघ को पूरा सहयोग दिया था। कविराज की व्यक्तिगत राय यह थी कि जबतक कोई पुस्तक पाँच हजार प्रतियों तक अपने संस्करण न निकाले, तबतक विज्ञापन पर खर्च जरा सावधानी से किया जाना चाहिए। ऐसी हालत

में दैनिक समाचार-पत्रों में विज्ञापन का विचार तो एकदम छोड़ ही देना चाहिए और कुछ साप्ताहिक, मासिक तथा विशेषतः अपने व्यवसाय से संबंधित पत्रों में विज्ञापन देना चाहिए— जिससे कुछ अधिक लाभ हो सके। विक्रेता-प्रकाशक-संघ की ओर से आयोजित पुस्तक-प्रदर्शनियों में पुस्तकें रखना, ऐसों के लिए अत्यन्त लाभदायक बात है। और, इस प्रकार के संयुक्त विज्ञापनों की शैली वास्तव में 'कम खर्च; बाला-नशीन' कही भी जा सकती है। कविराज ने घुमक्कड़ एजेन्टों को पुस्तकों के प्रचार का बहुत बड़ा साधन माना है। क्योंकि वे हर विक्रेता तथा संस्था से सरल, सीधा और ठोस संबंध बनाते हैं। उनके मुकाबले, विज्ञापन के दूसरे तरीकों में हजारों खर्च करने पर भी, उतना लाभ नहीं होता। किन्तु, कविराज जी को शायद यह पता नहीं कि अभी हिन्दी के प्रकाशक शायद इतने जागरूक, ईमानदार या साहसी नहीं हैं कि अपने एजेन्ट को उसका 'ज्यू-शेयर' दे सकें। उसी अवसर पर एक कमीशन एजेंट ने मुझे बताया कि यदि हम दो महीने तक किसी एक चीज का प्रचार करें और उसके परिणामस्वरूप यदि इकसठवें दिन किसी पार्टी का आर्डर हमारे 'बौस' के पास सीधा चला आवे तो वह 'बौस' हमें 'over-ride' या तयशुदा कमीशन देने को तैयार नहीं होगा। यह 'ओभर-राइड' कमीशन की बात, जो विदेशी प्रकाशकों या हिन्दीतर दूसरी भाषाओं में तय और प्रचलित है, दुर्भाग्यवश हिन्दी में प्रचलित नहीं है।

पुस्तक-प्रकाशन में मुद्रण की कला एक मौलिक चीज है। अच्छी छपाई और सुंदर आवरण वाली पुस्तक पढ़ने के लिए कौन लालायित नहीं रहता? पुस्तकों की बिक्री में इन्हीं दो आकर्षणों को प्रधान कारण माना जाता है। साधारण स्तर के लेखक और बेजान

मैटर के बावजूद ऐसी पुस्तकें बेतरह खप जाती हैं। पुस्तक के मुद्रणादि विषय पर दिल्ली के प्रसिद्ध मुद्रणालय युगान्तर प्रेस के संचालक श्री बालकृष्ण जी की वार्ता इस पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश देनेवाली थी। उनका सुझाव था कि पांडुलिपियों को प्रेस में भेजने के पहले, लेखक के अलावा प्रकाशक तथा प्रोडेक्शन-विभाग की ओर से उसका पुनः सम्पादन हो जाना चाहिए; जिससे प्रूफ में सरलता हो और अशुद्धियों के बिना उत्पादन में शीघ्रता हो सके। ऐसा होने पर ही पुस्तक का मेक-अप क्रमशः चल सकता है। इस सिलसिले में उचित और वैज्ञानिक पांडुलिपियाँ टाइप की हुई मानी जाती हैं। प्रकाशकों को अपनी छपाई का कार्यक्रम पहले ही तैयार कर लेना चाहिए कि इस वर्ष कितनी नई पुस्तकें मुद्रित करनी हैं और कितनी पुरानी पुनर्मुद्रित। हर पुस्तक के टाइप और स्टाइल का विवरण अपने तयशुदा प्रेस को पहले ही दे देना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी है कि प्रकाशक पांडुलिपि को बगल में दबाकर तत्काल प्रेस तलाशना न शुरू करे, बल्कि पहले से ही दो-चार प्रेसों से संबंध बनाए रहे। हर समय नए प्रेसों की खोज प्रकाशक की परेशानी का कारण बन जाती है। इस बात पर छोटे प्रकाशकों को और भी अधिक ध्यान देना चाहिए; क्योंकि सम्पन्न और बड़े प्रकाशकों का प्रायः ऐसा ही प्रबंध रहता आया है। प्रकाशक और मुद्रक, दोनों यदि एक-दूसरे के स्वभाव, व्यवहार और व्यवस्था को समझ लें तो काम आसानी से चलता रहे। लगभग इसी प्रकार के विचार, सेमिनार के अंतिम दिन वाली विचार-गोष्ठी में, टाइम्स आफ इंडिया प्रेस, नई दिल्ली के व्यवस्थापक श्री रावल जी ने, मुद्रकों के पक्ष से कहे थे। इस कक्षा में विक्रेता, प्रकाशक, मुद्रक, लेखक और लाइब्रेरियन; सभी ने भाग लिया था। यदि इस गोष्ठी में बाइंडिंग आदि प्रेस-विभाग के विभिन्न कर्मचारियों और एजेन्टों को भी भाग लेने दिया जाता तो व्यवसाय की सेवा या लाभ के विरुद्ध कोई हानि नहीं होती। सचमुच ही, छपाई के मुकाबले बाइंडिंग की समस्या कम जटिल नहीं है। पुस्तकों की संस्करण-संख्या के कारण—जितनी भी अधिक प्रतियाँ छपेंगी उस हिसाब से—छपाई के दर में जो कमी होती है, उस बचत को बढ़िया बाइंडिंग आदि में लगाया जा सकता है। बाइंडिंग की कई प्रणालियाँ चल रही हैं। विदेशी और हिन्दीतर विकसित भाषाओं वाले प्रान्तों की पुस्तकों पर औसतन अच्छी बाइंडिंग होती है। यूँ तो कई हिन्दी के प्रकाशकों ने भी इस विषय में अच्छी प्रगति की है और स्तर को क्रमशः उठाया है, फिर भी देश के विभिन्न हिस्सों से आए अनुभवी लोग इस विषय में

अपनी दिक्कतें बताते और कुछ सुझाव देते तो हिन्दी का शेष प्रकाशन-जगत लाभान्वित होता।

उक्त सेमिनार के प्रबंधकों का ध्यान या तो एक और आवश्यक बात की ओर नहीं गया, या उसे जानबूझ कर छोड़ दिया गया। वह बात है विदेशी व्यक्तियों को वार्ता में भाग लेने के लिए निमंत्रित करने के संबंध में। सेमिनार में वार्ता उपस्थित करने के लिए दो विदेशी व्यक्तियों को बुलाया गया था, जिनमें एक थे ब्रिटिश काउंसिल नई दिल्ली के लाइब्रेरियन श्री जान स्मीटन और दूसरे थे अमेरिकी इन्फौर्मेशन सर्विस के भारतस्थित प्रतिनिधि श्री टी० आर० जैकल। इन दोनों सज्जनों ने अपने-अपने देश के पुस्तक-प्रकाशन के विषय पर सुन्दर प्रकाश डाला। हम, भारतीय प्रकाशकों को विदेशी प्रकाशकों के द्वारा इस अनुभव प्राप्त होने की व्यवस्था को, अत्यन्त श्रेयस्कर मानते हैं। किन्तु, संयोजकों के एकांगी व्यवहार से हमें अवश्य दुःख है। दूसरे भूखंड के उक्त दो देशों के मुकाबले अपने एशिया के कई पुराने स्वतंत्र देशों में मुद्रण-उद्योग कुछ कम विकसित नहीं है। इस विषय में चीन और रूस विश्व के सबसे पहले प्रतिनिधि हैं और आज भी किसी से कम नहीं हैं। इनके अलावा पूर्व का जापान और पश्चिम का जर्मनी भी पूर्णरूप से विकसित है। हमारे साथ स्वतंत्र हुए एशिया और अरब के, हमारी जैसी ही आर्थिक स्थिति के, दूसरे देशों की मुद्रण-शैली को समझना हमारे लिए कहीं अधिक व्यावहारिक सिद्ध हो सकता था। हिन्दी के समझदार प्रकाशक अपने भूगोल के समीप के और अपनी योग्यता और पहुँच के समकक्ष इन उन्नत या आगे बढ़ते हुए देशों से बहुत-कुछ जानने-सुनने के इच्छुक हैं। अंग्रेजी भाषा के इंगलैंडी और अमरीकी पुस्तक-व्यवसाय से तो वे जमानेदराज से परिचित ही हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश, जिन दूसरे उन्नत अथवा प्रगतिशील देशों के इस व्यवसाय से वे परिचित नहीं हैं और इसलिए कुछ जानने-सीखने के उत्सुक हैं, उन्हें ही इस सेमीनार में नहीं बुलाया गया। इसके अलावे, यह बात भी छूट गई कि अपने देश की दूसरी उन्नत भाषाओं के सतेज प्रकाशकों को भी वार्ता के लिए बुलाया जाता और उनसे हिन्दी के प्रकाशक कुछ सफलता के पाठ पाते। इसकी व्यवस्था तो आसानी से की जा सकती थी।

इन उपर्युक्त आवश्यक बातों की अवहेलना यदि नहीं की जाती तो सेमीनार की चर्चाओं में तंग करनेवाली दुहरावट और दिखावट-बनावट के बजाय बहुत-सी नई-नई बातें सुनने-समझने को मिलतीं और शायद वह सेमिनार भी उकताहट वाला या 'रेस्ट लेस' न होता।



कवि और ईश्वर

"अंगरेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग की सबसे अस्पष्ट और कठिन कविता 'सारडेलो' है। लंदन की 'पोएट्री सोसाइटी' के विद्वान सदस्य तक इस कविता के बारे में उलझ गये। उन्होंने ब्राउनिंग से इस रचना की व्याख्या चाही। ब्राउनिंग ने इसे दो बार पढ़ा। कंधे हिलाये और कहा—भाइयो, जब मैंने इसे लिखा तो ईश्वर को और मुझको इसका अर्थ मालूम था लेकिन अब सिर्फ ईश्वर को ही इसका अर्थ मालूम है!

काश, आप सोच पाते !



प्रो० श्री केदारनाथ 'लाभ'

इन दिनों पाठकों का एक ऐसा वर्ग तैयार होता जा रहा है जो ग्रंथ क्रय कर पढ़ना पाप समझता है। यह वर्ग अपनी ज्ञान-पिपासिता की ड्योढ़ी पीटता है और किसी ग्रंथाधीश के सम्मुख नत होकर अपनी आर्थिक विवशता का सकरुण चित्र खींचकर उससे कोई-न-कोई ग्रंथ खींच ले जाता है। इस वर्ग में वास्तविक ज्ञानैषणा रहती है या नहीं इस संबंध में मैं निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कह सकता, किंतु बहुलांश ज्ञान-पिपासु (इस वर्ग के) ऐसे ही होते हैं जो प्रदर्शनार्थ ही ग्रंथ ले जाते हैं।

हिन्दी के साथ अनेक दुर्भाग्य हैं। प्रथम तो हिन्दी-क्षेत्र की जनता में साक्षरता ही कम है। द्वितीय, पढ़े-लिखे लोगों की एक बड़ी श्रेणी में (यथा रेल कर्मचारी गण, आरक्षी के अधिकारी गण, उद्योग-धंधों में कार्य कर रहे बाबू वर्ग के लोग) साहित्याध्ययन की रुचि ही नहीं परिलक्षित होती। इस वर्ग के लोगों में साहित्य जीवन के अनिवार्य तत्व के रूप में अभी उतर नहीं पाया है। बंगलाभाषी लोगों में यह प्रवृत्ति मैंने देखी है कि कोई इन्जीनियर हो या दफ्तर का साक्षर चपरासी, वह रविबाबू, शरच्चन्द्र, बंकिमबाबू आदि की कृतियों का अध्ययन अनिवार्यरूप से करेगा ही। क्योंकि साहित्य उसके जीवन की साँस हो गया है। पता नहीं हिन्दीभाषी जनता में यह प्रवृत्ति कबतक आयगी। यहाँ साहित्य पढ़ते हैं वे जो या तो साहित्य के विद्यार्थी हैं, अध्यापक-प्राध्यापक हैं अथवा साहित्यस्रष्टा हैं। मध्यम श्रेणी के कुछ ऐसे प्राणी भी साहित्य पढ़ते हैं जो, दिनकर जी की भाषा में, नींद बुलाने के लिए, मनोरंजन के लिए अथवा गाड़ी की सफर तय करने के लिए इसे साधन-स्वरूप मानते हैं। चाहे जो मानें मगर पढ़ तो लेते हैं। बी० ए० तक के अधिक छात्र उतनी ही पुस्तकें पढ़ते हैं जो पाठ्यक्रम में निर्धारित होती हैं, जिनका पढ़ना अनिवार्य है, उत्तीर्णता के लिए तथा उसी के फलस्वरूप आगे चलकर वृत्ति पाने के लिए। बाकी बचे अध्यापक-प्राध्यापक तथा साहित्य-स्रष्टा। ये दो वर्ग साहित्य के अध्येता हैं।

किंतु, हिन्दी के साहित्य-स्रष्टा में एक नई लहर आ रही है। वे पढ़ते कम हैं लिखते ज्यादा हैं। पढ़ते हैं हिन्दी की वे ही पुस्तकें जो सम्मत्यर्थ अथवा भेंटस्वरूप मुफ्त उपलब्ध हो जाती हैं। क्रय कर तो हिन्दीतर भाषा के प्रसिद्ध ग्रंथ ही पढ़ते हैं। परिणाम है; हिन्दी-भाषा का क्षेत्र जितना व्यापक है तथा हिन्दी-भाषियों की संख्या जितनी विशाल है उस अनुपात में साहित्य-ग्रंथ यहाँ न छप पाते हैं, न खप पाते हैं।

साहित्याध्ययन से क्या लाभ है इसकी चर्चा करना यहाँ न अपेक्षित है न समीचीन। मैं तो केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि पुस्तकों को हमारे जीवन में उचित, उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन में रोटी-नमक या चावल, दाल, घी की भाँति अनिवार्य उपकरण बनकर साहित्य जबतक नहीं आता, तबतक न हमारा कल्याण होगा न साहित्य का। अगर हम पाँच व्यक्तियों के परिवार पर चावल, दाल, आटा, घी, नमक कपड़े तथा मकान-भाड़े आदि में सौ-डेढ़-सौ रुपये प्रति माह व्यय कर सकते हैं तो पाँच रुपये प्रति माह साहित्य पर भी इतने ही बड़े परिवार के लिए क्यों नहीं व्यय कर सकते? आखिर शारीरिक एवं कायिक विकास से

मानसिक एवं हार्दिक विकास का क्या कम मोल है? वह भी इस कर्म-प्रधान औद्योगिक तथा वैज्ञानिक युग में?

विदेशों में स्थान-स्थान पर खड़ी सिगरेट की दूकानें सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों से सजी रहती हैं। हमारे यहाँ पान को दूकानों का आकर्षण जिस प्रकार अभिनेत्रियों की उत्तान अंग-भंगियों से युक्त रंग-बिरंगे कैलेन्डर तथा रेडियो से होने वाले सिने-संगीत की मधुर ध्वनि पर निर्भर करता है, उसी भाँति सिगरेट की दूकानों का आकर्षण विदेशों में नवनवीन पुस्तकों की संख्या और सजावट पर मुनहसिर करता है, क्योंकि वहाँ किसी भिज्ञ या अनभिज्ञ ग्राहक की नैतिक निष्ठा पर आस्था रखकर दूकानदार पढ़ने के लिए पुस्तकें मुफ्त दिया करते हैं, जिन्हें एक निश्चित अवधि में सिगरेट-क्रेता वापस कर देते हैं। ऐसी पुस्तकें लेते समय ग्राहकों को न अतिरिक्त पैसे देने होते हैं, न परिचय-पत्र की आवश्यकता होती है। यह है विदेशियों की अध्ययन-रुचि का स्वरूप। अभिनेत्रियों की चंचल अदा या चोखी चितवन वाले चित्र उन्हें उतना आकृष्ट नहीं कर पाते जितना नाना विषयक पुस्तकें। उनके जीवन से—सामान्य जीवन (Day-to-day life) से—पुस्तकों का कैसा लगाव है!

ऐसी ही रुचि और ऐसे ही आकर्षण की हमारे यहाँ भी अपेक्षा है। जीवन के जल में साहित्य का गुड़ जबतक घुलता नहीं, तबतक उसमें सुसंस्कृत जीवन-सौन्दर्य की मिठास कैसे आ सकती है?

सुतरां, हमें अध्ययन तो करना है ही, चाहे मनोरंजनार्थ या जीवन-कला के परिष्कारार्थ। किन्तु मैं उन पाठकों से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ जो मुफ्त-अध्ययन की बीमारी से ग्रस्त हैं।

आज ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो रेलों, बसों, या स्टीमरों में सफर करने में काफी पैसे व्यय कर देते हैं किन्तु दो आने का कोई दैनिक पत्र खरीद कर पढ़ना मानो महा-अपराध मानते हैं। हाँ, अलबत्ता अगर उनके सामने आपने कोई पत्र खरीदा तो जबतक आप बेचने वाले को पैसे दे दें, तबतक उनमें से कोई सज्जन दाँत निपोर कर आपसे यह कहते हुए कि—"हें, हें, आपको तो बहुत वक्त मिलेगा पढ़ने के लिए, जरा सा मैं हेड लाइन देख लूँ"—आपकी आज्ञा या अनुमति बिना प्राप्त किये उसे देखने-पढ़ने लगेंगे। और पढ़ने जो लगेंगे तो पत्र के नाम से अंतिम पृष्ठ की अंतिम पंक्ति, अमुक द्वारा सम्पादित-प्रकाशित तक पढ़ कर ही दम लेंगे। तब तक आप हवा से बातें करते रहें तो उनकी बला से।

इसी प्रकार बुक स्टालों पर जाकर भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं को उलट-पुलट कर पढ़ लेना और फिर छोड़ देना यह भी आज के लोगों की साधारण बात हो गई है।

मैं ऐसे लोगों से पूछना चाहता हूँ कि आप दूसरों की सुविधाओं का हनन कर देश का ऐसा शोषण क्यों करते हैं? पुस्तक या अखबार विक्रेताओं की पूँजी होती है। उसका सारतत्त्व जब आप पढ़कर निकाल ही लेते हैं तो सिट्ठी वहाँ छोड़ने के आप कैसे अधिकारी हैं? आप यह क्यों सोच लेते हैं कि "हम यूँ ही देख लेते हैं तो इन पत्रों का कागज थोड़े घिस जाता है? खरीदने वाले खरीद लेंगे।" खरीदने वाले क्या आकाश से आते हैं? अथवा आप दूसरों को ही मूर्ख क्यों समझते हैं? आप यह क्यों नहीं सोचते कि मुफ्त का अखबार पढ़ कर आप किसी की थाली की रोटी छीन कर खा रहे हैं, किसी के बच्चे को भूख से रोते-रोते सोने को विवश कर रहे हैं, किसी की बीमार माँ को दवा के बिना तड़प कर मरने को बाध्य कर रहे हैं? क्योंकि गरीब अखबार-विक्रेता की रोजी-रोटी अखबार ही है, आपकी भाँति कोई आफिस, कोई मिल अथवा कोई विशाल उद्योग नहीं। और, इससे भी बढ़कर, चूँकि किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका के प्रकाशन में राष्ट्र का काफी कागज, स्याही, लेखकों के मानव-मंथन का सारतत्व, सम्पादकों,

सहसम्पादकों, सम्वाददाताओं, कम्पोजीटरों का परिश्रम लगा हुआ है, अतः आप एक पुस्तक या पत्र-पत्रिका पढ़कर बिना मूल्य दिये उसे वापस कर देते हैं तो इससे कितनों की जीविका पर घातक प्रहार हो जाता है, कितनों का सत्यानाश हो जाता है तथा बिना बिके हुए ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं से राष्ट्रीय वैभव की कैसी महान क्षति होती है ? काश, आप सोच पाते !

मैं आपकी मनोव्यथा जान रहा हूँ। ज्ञानार्जन की अमर आकुलता से भर कर ही आप ऐसा करते हैं। शायद आपके पास पर्याप्त पैसे नहीं कि आप खरीद सकें। मगर मैं पूछता हूँ, आप मुफ्त में कपड़ा क्यों नहीं पहन लेते ? होटल में मुफ्त खा क्यों नहीं लेते ? पुस्तक से अधिक महत्व जीवन का है, तो जीवन-रक्षा के लिए माँगने में आपको लाज आती है न ? तो फिर, शरीर-रक्षा के लिए भिक्षाटन करना जितना ही गर्हित है, एक स्वस्थ सबल व्यक्ति के लिये बुद्धि-विकास के लिए मुफ्त पुस्तकों, पत्रों, पत्रिकाओं आदि का अध्ययन करना भी उतना ही हेय है, विनिन्दित है, दुष्कर्म है। जिस प्रकार कायिक तुष्टि के लिए आप अपने श्रम से अर्जित वैभव का बहुलांश व्यय करने में संकोच नहीं करते, उसी प्रकार, मानसिक तृप्ति के लिये अपनी संचित धनराशि का अल्पांश व्यय करने में आपको भी मीन-मेष नहीं करना चाहिए। यही मेरा निवेदन है। इसी में लेखक-प्रकाशक के साथ, प्रकाशन व्यवसाय में लगे अनेक व्यक्तियों का तथा राष्ट्र, साहित्य और आपका भी कल्याण है। काश, आप सोच पाते।



रूसी जार के दरवार में जब लिज्जत नामक प्रसिद्ध संगीतज्ञ का प्रदर्शन चल रहा था तो जार किसी से गप्प लड़ा रहे थे। सावधान संगीतज्ञ को यह बुरा लगा और उसने अपना गाना रोक दिया। इस पर जार ने चौंक कर पूछा—'तुमने अपना गाना क्यों रोक दिया?' लिज्जत ने कहा—'यह कायदा है कि जब जार बोलता रहे तब दूसरों को शान्त रहना चाहिए'। और, इस मार्मिक उत्तर को सुनकर जार पानी-पानी हो गया।



अँगरेजी लेखनी : भारत की कहानी



श्री हितवादी

मेडोस टेलर की एक प्रसिद्ध पुस्तक है—'कनफेशन्स ऑफ ए ठग', जिसमें एक ठग द्वारा आत्मस्वीकृतिपूर्ण चरित्रवर्णन है। ठग-लुटेरों की इस चांचल्यकर कथा ने एक जमाने में इंगलैंड और इस देश में भी काफी धूम मचाई। उसके बाद के अनेकानेक एंग्लो-इंडियन उपन्यासों में सामाजिक चित्रण का आधार यही रहा। इस उपन्यास का नायक, भवानी का शिष्य अमीर अली है और वही अपनी जवानी के दिनों में दस्युदल के बीच किए गए अपने लोमहर्षक काण्डों का वर्णन कर रहा है। गले में रूमाल का फन्दा डालकर इस अमीर अली ने अपने हाथ से ७०० लोगों की हत्या की थी और उसी के पश्चात्ताप की बात इस उपन्यास में है। टेलर की दूसरी पुस्तकें हैं—'टीपू सुलतान', 'ए नोबुल क्वीन', 'तारा', 'राल्फ डारनेल' और 'सीता'। जिसमें 'तारा' 'राल्फ डारनेल' और 'सीता' ये तीनों तीन-तीन सौ वर्ष की कहानियाँ हैं, इसीसे ये तीनों उपन्यास विराट तीन-तीन खंडों के हैं। 'तारा' का उपन्यास-अंचल दक्षिणी भारत है। सन् १६५७ में बीजापुर के युद्ध में शिवाजी की जीत और मराठा-शक्ति की प्रतिष्ठा ही इसकी पटभूमि है। 'राल्फ डारनेल' की कहानी १७५७ सन् में पलासी-युद्ध में अँगरेजों की जीत और मराठा-प्रभुत्व के नाश को केन्द्रित कर लिखी गई है और 'सीता' का उपजीव्य है १८५७ का सिपाही-विद्रोह।

यहाँ एक बात कह देना बहुत ही आवश्यक है। सम्पूर्ण एंग्लो-भारतीय साहित्य में सिपाही-विद्रोह जैसी और कोई घटना नहीं है, जोकि इस हद तक चित्रित की गई हो। वस्तुतः इन उपन्यासों का वृहत्तम अंश इसी विद्रोह को केन्द्रित कर है। सामाजिक उपन्यास नाम से हमलोग आज जो-कुछ समझते हैं, वह तो इनमें नितान्त कम ही है, बल्कि जो है, वह भी यथायथ चित्रण की चेष्टा से पीड़ित। इनमें घटनाओं का विवरण इतना प्रमुख है कि लगता है जैसे इन ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति को अपनी मनोभूमि से हटा पाना इन अँगरेज लेखक-लेखिकाओं के लिए हर तरह असंभव है। १६५७ में सिपाही-विद्रोह की शतवार्षिकी के संबंध में जो पुस्तक-प्रदर्शनी की गई थी उसमें सिपाही-विद्रोह की पटभूमि पर लिखे गए उपन्यासों का ही आधिक्य था और उनमें सबसे पहला उपन्यास सन् १७५६ का और अंतिम था पहले से १०० वर्ष बाद सन् १६५७ का। प्रथम का नाम था 'ए लाइफ्स एरर' और अंतिम मेरी मार्गरेट द्वारा रचित का 'शैडो आफ दि मून'।

ये उपन्यास, उपन्यास नाम से संबोधित होने पर भी, केवल इतिहासपदवाच्य ही हैं। इनमें अपने समय में सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई थी, टेलर के 'सीता' उपन्यास ने ही। किन्तु समसामयिक काल का मोटे तौर पर परिचय देने में लेखक ने उसे पर्यायस्वरूप ही खड़ा किया है। आजकल के पाठकगण उसे मुख-पाठ्य इतिहास कहने की भूल यदि करें तो इसमें उनका दोष नहीं। टेलर के बाद ही, सिपाही-विद्रोह संबंधी उपन्यासों में, फ्लोरा एनी स्टील का 'ऑन दि फेस आफ दि वाटर्स' (१८६७) नामक उपन्यास अतिप्रसिद्ध हुआ। किन्तु, इसे पढ़ने से लगता है कि इस लेखिका की ख्याति का कारण कुछ और ही है।

केवल सिपाही-विद्रोह ही नहीं; सती-प्रथा, ठगी-प्रथा, निलहे किसान आदि अन्यान्य उल्लेखनीय घटनाओं के आधार पर भी बहुतेरे अंगरेजी लेखकों ने उपन्यास लिखे हैं। इनमें क्रिसाइन वेस्टन का 'इन्डिगो' (१६२४), सिसिल लेस्ली का 'द ब्ल्यू डेविल' (१६५१), लेस्ली बेरेसफोर्ड का 'दि सेकेंड राइजिंग' (१६१०), एडमंड कैंडलर का 'श्रीराम : दि रिविल्यूशनरी' (१६१२) विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम युग के शेष में केपलिंग का आविर्भाव हुआ। केपलिंग एंग्लो-इंडियन साहित्य में एक नए युग की सूचना तो हैं ही, बल्कि स्वयं भी एक युग ही हैं। उनका 'किम्' एंग्लो-इंडियन साहित्य में सर्वस्वीकृत श्रेष्ठ पुस्तक तो है ही, उसकी बदौलत वे भारत संबंधी अंगरेज लेखकों में श्रेष्ठ भी ठहरते हैं। प्रतिभा, समस्या और दृष्टिकोण के नजरिये से वे स्वतंत्र आलोच्य हैं। यहाँ उनकी चर्चा का स्थान नहीं है। फिर भी, उनके विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्होंने ही पहली दफा एंग्लो-इंडियन साहित्य में स्पष्टतः दो समस्याओं का उद्‌घाटन किया। पहला तो अंगरेज और भारतीयों का संबंध और दूसरा अंगरेजों से बनी हुई भारतीय जाति का भारतीयों से संबंध। इसमें पहली समस्या तो उनसे पहले अस्पष्ट होने के बावजूद भी थी। इस समस्या के चित्रण में कोई लेखक भारतीयों के प्रति कर्कशता और कोई अपेक्षाकृत उदारता का परिचय देते रहे। किन्तु केपलिंग ने, जबकि समस्त संगत कारण और योग्यता के होते हुए भी अपने 'किम्' के हरिचन्दर मुखर्जी को द्वितीय व्यक्ति बनाकर रखा, तो शासक और शासित के पार्थक्य ने साहित्य में भी स्पष्ट आत्मप्रकाश किया। साम्राज्यवादी गर्व से उद्धत केपलिंग ने 'गोरी चमड़ी के प्रभुत्व' को 'स्थायी' कहकर सिद्ध करना चाहा और भारत-

वर्ष में जन्म लेने के अपराध में आगे चलकर कहीं इस श्वेतचर्म के माहात्म्य की खर्वता दिखाई न दे, इस भय के कारण ही उन्होंने भारत-जन्मा एंग्लो-इंडियनों को अपने उपन्यासों से दूर ही रखा। केपलिंग के इस जीवन-दर्शन और उपन्यासरचना के हिसाब से 'किम्' की सफलता के उत्तरफल को देखने से पता चलता है कि एक ओर ये अँगरेज लेखक-लेखिकागण जातिद्वय के अनावश्यक पीड़न के पंक में फँसे हुए हैं और दूसरी तरफ इसके बावजूद उपन्यास-रचना का उद्योग अप्रत्याशित भाव से आगे बढ़ता जाता है। केपलिंग ने एक और भी उचित कार्य किया और वह था भारतीयों में अँगरेजी उपन्यासों के प्रति विराग की सृष्टि। आगे चलकर इस विराग को काटने में जिसने कुछ सफलता पाई, वे हैं एम० फास्टर। उनका 'ए पैसेज टू इंडिया' (१६२४) एवं एडवर्ड थामसन का 'एन इंडियन डे' (१६२७) तथा 'फेयरवेल टू इंडिया' (१६३१) नवयुग के नूतन उपन्यास हैं। थामसन, बीस वर्ष तक भारत में रहे हैं। भारतीयों में स्वदेशप्रेम के संचार, स्वाधीनता-आंदोलन और सत्याग्रह के वे प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं और इसी से वे सत्य-चित्र उपस्थित कर सके हैं। 'किम्' के हरिचन्दर के

पीछे यदि शरच्चन्द्र दास की प्रेरणा है तो 'फ़ेयरवेल टू इंडिया' में अवश्य ही अरविन्द की धारणा थी। भारतीय पाठक का मन 'किम्' को पढ़कर जिस प्रकार व्यथित होता है, थामसन की रचना से उस प्रकार व्यथित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि थामसन और फास्टर ने संपूर्ण अँगरेजी उपन्यासों के कुसंस्कारों का अपनी रचनाओं में ईमानदारी से प्रायश्चित्त किया है।

सन् १६३७ के बाद के विख्यात अंगरेजी उपन्यासों में हैं—लेखिका ब्लैक नार्सिसर का 'रीवर' (१६३६), हिलडा सेलीमैन का 'ह्वेन पिकौक्स कलर्ड' (१६४०), हिलडा वेवनर का 'दि लैंड एन्ड दि वाल' (१६४७), ईथर मानिन का 'एट सनडाउन दि टाइगर' (१६५१) एवं जेन मास्टर्स की रचनाएँ। इनमें जेन मास्टर्स की पाठक-परिधि निःसन्देह सबसे विस्तृततर है। इस देश में भी वे जनप्रिय लेखक हैं। 'भवानी जंकशन' के लेखक के नाते सर्वाधिक विख्यात होने पर भी 'भवानी जंकशन' इनकी श्रेष्ठ रचना नहीं है। ये आधुनिक लेखक हैं और इनका लेखन १६५१ साल से प्रारंभ होता है। इसी बीच इन्होंने ६ विशिष्ट ग्रंथों की रचना की है। इनकी योजना है कि ये भारत के साथ अंगरेजों के ३५० वर्षों के लंबे संबंधों के खंडों पर कम-से-कम ३५ पुस्तकों का निर्माण करेंगे। यह योजना कुछ टेलर की योजना जैसी ही है। जिनमें से ५ पुस्तकें तो आ ही चुकी हैं—'करमंडल', 'दी डिसीवर्स', 'नाइट रनर्स आफ बेंगाल', 'दि लोटस एन्ड दि विंड' एवं 'भवानी जंकशन'। 'करमंडल' की पृष्ठभूमि है भारत में अंगरेजों का पदार्पण, 'डिसीवर्स' का विषय है दस्यु और ठग, 'नाइट रनर्स आफ बेंगाल' का सिपाही-विद्रोह, 'लोटस एन्ड दि विंड' का १८७६-८१ का आशंकित रूसी आक्रमण और 'भवानी-जंकशन' का विषयवस्तु और काल है अंगरेजी राजत्व का अवसान (१६४७)। इन पाँच उपन्यासों के अलावा मास्टर्स की 'बिउगल्स एन्ड ए टाइगर' नामक आत्मकथा-पुस्तक भी है। मास्टर्स का जन्म भी १६१४ साल में कलकत्ते में हुआ था—जैसे कि किपलिंग का। भारत में उनका परिवार सुदूर १६०५ साल से बसा हुआ था। उनके दादा पहले तो कलकत्ते के ला-मार्टिन स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे और बाद में कृष्णनगर कालेज में प्रोफेसर। मास्टर्स ने स्वयं भारतीय सेना में कार्य किया था। इस प्रकार भारत से उनका संबंध पूर्वानुक्रमिक है। फिर भी, भारत के स्वाधीन होने के बाद उन्होंने भारत से अपना संबंध तोड़ लिया। 'भवानी जंकशन' के नायक के समान ही उसके ये लेखक भारत से बाहर अपने देश के वाशिन्दा हैं और इस देश के लिए परदेशी। फिर भी मास्टर्स ने भारत को प्यार किया है। किपलिंग को अपना श्रेष्ठ लेखक मानने के बावजूद उसके तथाकथित आभिजात्य को वे बर्दाश्त नहीं कर सके। उनके लिए भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ अच्छाई और बुराई दोनों ही उसी तरह से है जैसी कि पृथ्वी के सभी दूसरे देशों में। फ्लोरेंस मेरियट के समान, "नर्सरी औफ बिगेस्ट प्रेज्यूडिस एन्ड स्माल-माइंडेडनेस' या 'दि जगरनाथ औफ इंगलिश डोमेस्टिक लाइफ'-जैसा भारत, जेन मास्टर्स के सामने नहीं है। यद्यपि जेन मास्टर्स के बहुतेरे वक्तव्यों की सत्यता की तह तक पहुँचना हरेक के बस की बात नहीं है, फिर भी वे आंग्ल-भारतीय उपन्यासकारों में श्रेष्ठतम हैं, इस विषय में किसी का दो मत नहीं हो सकेगा।



बिहार शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

माध्यमिक विद्यालयों के लिए

क्रम संख्या	नाम पुस्तक	लेखक	मूल्य
नाटक			
१६	कर्म पथ	दयानाथ झा	२·००
२६	आहुति	हरिकृष्ण प्रेमी	१·००
३६	प्रताप प्रतिज्ञा	जगन्नाथ प्र० मिलिंद	१·२५
४६	अपराधी	पृथ्वीनाथ शर्मा	०·७५
५०	मुकुट	नित्यानंद वात्स्यायन	१·५०
जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण			
१	अमर ज्योति	इन्द्रनाथ मदान	२·५०
७७	पुरखों का चरित—भाग १	जयचन्द्र विद्यालंकार	२·००
१५-१६	,, ,, भाग २-३	,,	३·००
६८	भारत की वीर नारियाँ	व्यथित हृदय	१·५०

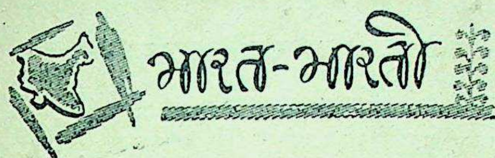
प्राथमिक विद्यालयों के लिए

क्रम संख्या	नाम पुस्तक	लेखक	मूल्य
३६	सुनो कहानी	रामावतार चेतन	१·००
६५	फूलों की डाली	देवचन्द्र नारंग	०·८८
६६	चुने हुए फूल	,,	१·००
१०४	नदी की कहानी	सुश्री ताराबाई मोडक	०·५०
१२५	नदी किनारे की कहानियाँ	को० रा० पालवणकर	०·६३
१७३	मनबहलाव की कहानियाँ	महादेव भालचन्द्र	०·६३
२२०	स्काउट बच्चों की कहानियाँ	गजानन महादेव वैद्य	१·००
२२१	जंगल की कहानियाँ	व्यथित हृदय	०·७५
२२२	बुलबुल	,,	०·५०
२२३	गुड़गुड़ी	,,	०·५०
२६०	सात कहानियाँ	सुदर्शन	०·६३
४५	बाल रामायण	विद्याभास्कर सुकुल	१·२५
१०	पानी का पैसा	भवानी भीख त्रिपाठी	०·७५
११	गुलदस्ता	शम्भुदयाल सक्सेना	०·५०
३७	किशोर नाटकावली	लक्ष्मी नारायण मिश्र	१·२५

हिन्दी भवन, जालंधर तथा इलाहाबाद

बिहार एजेंट—मगध राजधानी प्रकाशन,

खजांची रोड, पटना



कन्नड़-साहित्य : युगानुशीलन



श्री द० व० देशपाण्डे

'कविराजमार्ग', दूसरे ऐतिहासिक ग्रन्थों और कर्नाटक में प्राप्त हुए शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि नवमीं शताब्दि के सम्राट नृपतुंग ने जिस प्रकार कन्नडी लोकजीवन पर अपना एकाधिपत्य स्थिर किया, उसी प्रकार कन्नड के युगीन लोकसाहित्य पर भी अपनी रीतिबद्धता का अनुशासन चलाया। नृपतुंग के पूर्ववर्ती काल में कन्नड-भाषा में जिस प्रकार बंधनहीन सौन्दर्य साहित्य की शर्त बना हुआ था, उसे नृपतुंग ने पसन्द नहीं किया और 'राजमार्ग' नामक रीतिबद्धता की एक नई शैली चलाई। कन्नड में दरबारी साहित्य का प्रारंभ वहीं से हुआ। इस प्रकार, वहाँ लोकसाहित्य की परंपरा और लोकजीवन की सहजता का खंडन साम्राज्यशाही और उसकी दरबारी शैली के द्वारा हुआ। इसके लिए जहाँ उन्होंने अपने 'कविराजमार्ग' नामक ग्रंथ के द्वारा अनुशासन दिया, वहीं संस्कृत और प्राकृत के पुराने पंडितों की सभा बुलाकर संस्कृत की रीतिबद्धता और दरबारी शैली के अनुसार ही छन्द, अलंकार और भाषा पर जोर दिया। फलस्वरूप इसके पहले का कन्नड साहित्य, जो छन्द, व्याकरण और अलंकारादि कृत्रिम जकड़नों से विमुक्त था, वह बँध-सा गया। और, पहले से समाज में जो आर्थिक और राजनीतिक विभेद चले आ रहे थे, वे राजमार्ग और लोकमार्ग जैसे दो साहित्यिक विभेद भी बन चले। इस प्रकार यह साहित्यिक वर्ग-संघर्ष का सूत्रपात हुआ।

साहित्य का यह राजमार्ग जनजीवन से कटकर राजसभा की शोभा बनकर प्रशस्ति-काव्यों में परिणत हुआ। राजाश्रयी पण्डितों ने इस दरबारी सिद्धान्त के प्रतिपादन में अनेक श्लोक-प्रशस्ति-काव्य लिखे और पुराण (कवि पंप, सन् ६४०), भारत (कवि पोराण, सन् ६५०) तथा रामायण (कवि रत्न, सन् ६६०) आदि काव्यों के द्वारा भी राजाश्रय की श्रेयस्करता की सिद्धि की गई। उसी युग की कहावत है— 'निराश्रया न शोभन्ते पंडिता वनिता लताः'।

यह राजमार्गी काल सम्पूर्ण नवम शताब्दि से लेकर बारहवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध तक रहा। इस युग के प्रमुख कविगण जैन थे, सर्वश्रेष्ठ कवि पंप थे और उन्नत शैली राजमार्गी थी। इसी से इसे जैन-युग, पंप-युग अथवा राजमार्गी युग, जो भी कहा जाय।

यद्यपि यह सत्य है कि नृपतुंग का वह राजमार्गी प्रभाव इधर के आसपास तक चला आया। किन्तु पूर्ववर्ती लोकमार्ग वाली सरस्वती राजमार्गी युग में दबी रहने के बावजूद उभर आने के लिए तैयार ही थी और जहाँ बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजतंत्रों के दरबार उखड़ने लगे वहीं इसकी स्रोतस्विनी उभड़ आई। अपनी मातृभाषा को छोड़कर जिन कवियों ने संस्कृत जैसी दरबारी भाषा को अपनाया था, लोकजीवन ने उनका मजाक उड़ाना शुरू कर दिया—'घी में तेल मिलानेवाले बनिये' कहकर। विष्कम्भकादि रीतिबद्धता से पूर्ण जिन दरबारी नाटकों और चम्पुओं का खर्चीला खेल, जनजीवन से अलग-थलग खेला जा रहा था, उनकी जगह 'गमकी' जैसी नौटंकियाँ फिर ग्राम-ग्राम में बिखरने लगीं। संस्कृत डिंगल-पिंगल के बजाय लोकाविष्कृत पुराने—त्रिपदी, रगले, कंद, सांगत्य आदि पद्यों में जीवनप्रद पुराणेतिहास की रचनाएँ, वीरशैवों के वचन, घर-घर फैलने लगे। इन वीरशैवों में ही आजतक के सर्वमान्य

महाकवि बसवेश्वर थे, जिन्होंने अपनी शिष्ट, सुगम और सरस शैली में वचन दिए। यह समय बारहवीं सदी के उत्तरार्ध से चौदहवीं सदी तक रहा, जिसमें शिवशरणों की भक्ति, बसवेश्वर के वचन और लोकलयों ने सम्पूर्ण कन्नड़ को वरेण्य वाणी दी। इसे वीरशैव युग, लोकमार्गी युग अथवा बसवेश्वर युग, जो भी कहा जाय।

पूर्ववर्ती राजमार्ग और लोकमार्ग, इन दो धाराओं का संघर्ष यदि न होता, तो यह असंभव था कि कन्नड़ गीत-गद्य-साहित्य में नए रहस्यवाद, समग्रराष्ट्रवाद अथवा मानवतावाद का उदय होता। उक्त दोनों धाराओं के निर्दिष्ट कालों के बाद सरस्वती के भगीरथ कुमारव्यास का आगमन होता है। 'कुमारव्यास के गीत कलि को द्वापर कर देते हैं'—कन्नड़ में, आज भी यह माना जाता है। अपने देश में लोकभाषा में महाकाव्य लिखने में कुमारव्यास सर्वोच्च हैं। राजमनोरंजन के बदले जनमनोरंजन के गीत, शिवशरणों और बसवेश्वर के वचनों में पहले ही आ चुके थे। कुमारव्यास के महाभारत जैसे महासमुद्र में सबकुछ सिमट आया। इसी युग में साहित्य-कानन-केसरी सर्वज्ञ आते हैं, जिन्होंने त्रिपदी जैसे छोटे-से छन्द का प्रयोग कर मुक्तकों का अनुपम आदर्श उपस्थित किया। इस युग के लगभग कवि वैष्णव और ब्राह्मण थे। और, जहाँ पूर्ववर्ती शिवशरणों का पन्थ लोकमार्गी था वहीं इनका पन्थ आत्ममार्गी। इसी युग में विजयनगर का पतन और विधर्मियों का आगमन भी हुआ। किन्तु शिवशरणों एवं वैष्णवों के लोकमार्ग तथा आत्ममार्ग पर आँख खोल कर चला हुआ वहाँ का लोकजीवन विधर्म की राजनीतिक छाया से अभिभूत नहीं हो सका। इस युग में महाराष्ट्रीय लयात्मकता के प्रभाव की, टीपू सुल्तान की लावणियों ने भी, लोकाग्रह पाया। यह युग चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दि तक का है, जिसे आत्ममार्गी, वैष्णव, ब्राह्मण या प्रमुख कवि कुमारव्यास के नाम पर, युग कह सकते हैं।

टीपू के बाद, जिस कन्नड़ की जनता ने टीपू का साथ देकर अँगरेजों को मार भगाने का अतीव प्रयास किया था, उस जनता पर, बदले की भावना से अँगरेजों के अत्याचार होने लगे और अँगरेजों ने इस अत्याचार को साधने के लिए कन्नड़-जनसमूह को उन्नीस भागों में बाँट दिया तथा उनमें आपसी तकरार के सभी प्रयोग किए। इन्हीं प्रयोगों में एक प्रमुख था अँगरेजी भाषा का प्रचार और अँगरेजी शिक्षित कन्नड़ियों को आपसी तकरार तथा अपने शासन का साधन बनाना। और तब, देश के दूसरे भागों की तरह वहाँ भी दो वर्ग पैदा हुए, पहला 'अँगरेजों की गोमुखी से आई हुई संस्कृति को गंगाजल' मानने वाला और दूसरा 'अपनी प्राचीन संस्कृति में ही अपनी भुक्ति-मुक्ति और शक्ति' माननेवाला। यह साहित्य और संस्कृति के दो विचारों का संघर्ष, उस प्राचीन राजमार्गी और लोकमार्गी संघर्ष का ही एक प्रतिरूप था, जो हजार वर्ष पहले से कन्नड़ में चला आता था। दूसरी भाषा में कहा जाय तो यह अँगरेजी मन के कन्नड़ साहित्य और कन्नड़ मन के कन्नड़ साहित्य के बीच की लड़ाई थी। यह संक्रान्तिकाल था, जबकि दोनों ओर पूर्वग्रह में ग्रस्त कन्नड़ियों में मनन और स्वभाव की कोई स्पष्टता नहीं आई और साहित्य के लिए जो स्वतःस्फूर्ति होनी चाहिए, उसके न होने से कुछ चर्चास्पद रचना न हो सकी। हाँ, कन्नड़-मन की फाँक से इस बीच पुराने राजमार्ग ने फिर सिर उठाने का प्रयास किया और 'रामाश्वमेध' की अपनी रही-सही रचना कर अपनी साहित्य-सृष्टि को इतिश्री में समेट लिया।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

हिंदी में मराठी साहित्य

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा पिछले बीस वर्षों से अहिंदी-भाषी प्रदेशों में हिंदी का प्रचार कर रही है। सभा द्वारा अब तक ७५ हिंदी पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं। मराठी साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं के हिंदी अनुवाद प्रस्तुत करना सभा ने जारी रखा है। पुरस्कार में देने योग्य तथा ग्रंथालयों के लिये संग्राह्य कुछ नवीन पुस्तकें :—

१. ऋतुचक्र :—ले० दुर्गा भागवत
प्रकृति के लावण्य-महोत्सव का लालित्यपूर्ण चित्रण। २·५०

२ किसी एक की भ्रमण गाथा :—ले० गो. नी. दांडेकर
मराठी साहित्यिक द्वारा हिंदी में रचित एक श्रेष्ठ उपन्यास। ४·००

३. अमीर :—ले० विजय तेंडुलकर
एक समस्यामूलक नाटक, अभिनय के निर्देशन की टिप्पणियों के साथ। २·००

४. चट्टान का बेटा :—ले० श्री ना. पेंडसे
मराठी के शीर्षस्थ उपन्यासकार की लोकप्रिय रचना। ४·००

५. आँख ओट पहाड़ ओट :—ले० कृष्णाबाई मोटे
समाज-सेवियों के लिये प्रेरणादायक रिपोर्ताज। ३·००

६. मराठी की नयी कहानियाँ :—प्रातिनिधिक तथा लोकप्रिय कहानियों का संकलन। २·५०

७. प्रवासी जादूगर :—ले० जादूगर रघुवीर
अफ्रिका तथा जापान की यात्रा का दिलचस्प वृत्तांत। २·००

८. दिलबहलाव :—ले० रा. त्र्यं. रानडे
मनोरंजन के साथ ही ज्ञानवर्धन का साधन। १·००

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, नारायण पेठ

पो० बॉ० ५६०, पुणें २



बौद्धिक विकास पर प्रश्न-चिह्न

पुस्तक पर कर



१६ वीं शताब्दि की उदार-भावना को अपने अभियान में अनेक उपलब्धियाँ हुईं। इनमें महत्वपूर्ण उपलब्धि ज्ञान की करों से मुक्ति भी रही है। उदाहरणस्वरूप ब्रिटेन के पत्रों की उन करों से मुक्ति भी है, जो उनका आधा दम घोंट चुके थे। आज भी, जबकि उदारता की सीमा क्रमशः बँधती जा रही है, बहुत कम सरकारों ने उस धारा को उलटने का दुस्साहस किया है। अर्जेंनटीना में पेरॉन की एकतंत्रीय सरकार ने भी 'ला प्रेसा' को नेस्तनाबूद करने के लिए, सीधा वार न कर, अखबारी कागज पर कसकर चुंगी लादने की अप्रत्यक्ष प्रणाली अपनाना ही उचित समझा। फिर भी आज बहुत-सी सरकारें, संभवतः असावधानी में, ऐसे करों को निरंतर लादती जा रही हैं, जो जन-समाज के बौद्धिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए, यदि आवश्यक नहीं तो मूल्यवान वस्तुओं को स्वभावतः क्षति पहुँचाते हैं। ब्रिटेन में रंगमंच को मनोरंजन-कर से मुक्ति वर्षों के प्रयास पर मिली, पर मिली अवश्य; और हमारे यहाँ तो अब भी उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई। ब्रिटेन और भारत दोनों देशों में ग्रामोफोन-रेकर्ड पर भारी टैक्स लगाए गए हैं। फलस्वरूप वहाँ उनकी कीमत तो ऊँची है ही, हमारे यहाँ अपेक्षाकृत और भी ऊँची है—करीब वहाँ से ड्योढ़ी! पर, बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन को नुकसान पहुँचाने वाले ऐसे करों में सबसे अधिक स्पष्ट और तीव्र बिक्री-कर है, जो बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक वस्तु, 'पुस्तक' को प्रत्यक्ष रूप से स्पर्श करता है।

बिक्री-कर का जन्म लड़ाई के जमाने में हुआ था, जबकि युद्धाक्रान्त जनता अस्त-व्यस्त थी और उसे समय नहीं था कि इसके सभी रूपों और उलझनों का विश्लेषण कर सके। किन्तु उसके बाद से उसे पर्याप्त अवसर मिला है। सरकारें भी चेती हैं। ब्रिटेन ने इस बोझ से पुस्तकों को अलग कर दिया है। भारत के भी नौ राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों में बिक्री-कर पुस्तकों पर नहीं लगता, यद्यपि कई जगह इधर हाल में ही पुस्तकों को इससे मुक्ति मिल सकी है। बम्बई सरकार ने तो गत वर्ष के अंत तक, जाँच-आयोग की पुस्तकों पर से बिक्री-कर उठा लेने की जोरदार सिफारिश के बावजूद, उसे स्वीकृति और व्यावहारिक रूप नहीं दिया था। खैर, देर से ही सही, पर दुरुस्त राह उसने अपनाई। पुस्तकों को यह छूट मध्य-प्रदेश, बरार और हैदराबाद में भी अभी पिछले महीने ही मिल पायी है। लेकिन आसाम, बिहार, उड़ीसा, मैसूर और पश्चिम बंगाल में पुस्तकों पर इस कर का बोझ अब भी लदा है। जैसे यही पर्याप्त न था, केन्द्रीय बिक्री-कर के नियमों और बाद के उनमें संशोधनों ने, उपर्युक्त भिन्न परिस्थितियों के बीच प्रकाशन-क्षेत्रों में स्वभावतः जन्मी अतारतम्यता और असंतुलन में, और भी तीव्रता और वृद्धि ला दी है।

उदार-मत के अनुसार, किताबों पर कर सिद्धान्ततः दूषित क्रिया है। इसके अलावा, एशिया में इन पर कर-भार आर्थिक दृष्टि से भी बुरा है। आज, जब भारत और पूर्वी भूभाग के अन्य देश अपने नवनिर्माण में संतत प्रयत्नशील हैं, इन्हें अन्य दिनों की अपेक्षा पुस्तकों की कहीं अधिक आवश्यकता है। तिस

पर, एशिया के विद्यार्थियों और शिक्षकों की दयनीय दरिद्रता चिरकाल से जगप्रसिद्ध रही है; जिसकी जोरदार चर्चा, पूर्व-प्रदेश की यात्रा पर आधारित डॉ० चार्ल्स हिल्स की हाल में प्रकाशित रिपोर्ट में की गई है। उन्होंने सुझाव रखा है कि उन विदेशी सरकारों को, जो नव-निर्माण में जुटे इन देशों की वस्तुतः सहायता करना चाहती हैं, इनके लिए अपवादरूप से ऐसा कदम उठाना चाहिए कि वे इन क्षेत्रों में सस्ती पुस्तकें और वैज्ञानिक साहित्य दे सकें। ऐसी स्थिति में, वे यहाँ की राज्य सरकारों से भी उचित ही आशा करेंगी कि वे इस सत्-कर्म में व्यर्थ की दिक्कतें पैदा नहीं करें।

प्रकाशकों की चिन्ताएँ देखने में छोटी जो लगें, पर किसानों की तरह ही, वे अनेक हैं। अगर इन क्षेत्रों की पुस्तकों का भी व्यापार उस क्षेत्र के व्यापारियों की ओर मोड़ दिया जाय; जहाँ सेल-टैक्स नहीं देना पड़ता—क्योंकि वे सेन्ट्रल सेल-टैक्स से बच सकते हैं—तो भी, प्रकाशन और पुस्तक-विक्रय व्यापार में, जो एक-दूसरे से अतिशय संबंधित हैं, उस हद तक गड़बड़ी पैदा हो ही जायगी; यद्यपि देश का बौद्धिक जीवन इन दोनों के सुचारु रूप से चालू रहने पर भी बहुत-कुछ निर्भर करता है।

['स्टेट्समैन' ६ फरवरी के संपादकीय से साभार]



बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत ग्रंथ-सूची के आधार पर

ग्रामीण पुस्तकालयों के लिए उपादेय

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	विषय
६	*३७५	पहला राजा पहला किसान	श्री सदानन्द झा	॥	वय० सा०
,,	*३७६	हमारी गंगा	,,	॥-)	,,
,,	*३७७	तुलसी दल	,,	॥)	,,
१३	*४४५	गप-गप खलिहान	श्री रामनन्दन सिंह	॥।=)	,,
२१	*३६१	जीवन-कण	श्री रामदीन पाण्डेय	१।)	नाटक
२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१॥।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'	२)	,,
३६	११७	पुनरावृत्ति	श्री हंस कुमार तिवारी	१॥।)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूप लाल मंडल	१।)	,,
५६	*२२	आधुनिक पशुपालन	श्री रामवृत्त सिंह विराट	३)	कृषकोपयोगी
६	२२६	अशुओं का अनुभूत इलाज	श्री श्रीरंग तिवारी	१॥)	,,
५६	१७	साग-सब्जी की खेती	श्री वासुदेव पाण्डेय	२)	,,
,,	१६	कृषि के ये दिन और वे दिन	श्री अखिलेश्वर पाण्डेय	॥)	,,
२६३	१७	कृषि और कृषक	,,	॥)॥	,,
११६	६२१	हमारे युगपुरुष	श्री सुरेश्वर पाठक 'विद्यालंकार'	१)	कथा-कहानी
६४	२२६	मृत्यु के मुँह में	श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)	,,
१०२	३६५	बोलती तस्वीरें	श्री शिवचन्द्र प्रताप	१॥।)	,,
३२	३६१	बड़ा और छोटा आदमी	श्री नगेन्द्र वर्मा	१।)	,,

१३५	४२	केला की कुटिया में	श्री वीरेन्द्र नारायण	१।)	जीवनी
,,	४३	विज्ञान के पथ पर	,,	१।)	,,
१४२	२७६	राष्ट्रपिता	श्री छविनाथ पाण्डेय	।।≶)	,,
१४७	२६६	गाँधी की गूँजती आवाज़	श्री अखिल	।≶)	सामान्य ज्ञानवर्द्धक
,,	२६७	बापू की सीख	श्री सुरेश्वर पाठक	।≶)	,,
,,	२६८	बापू की बातें	,,	।।=)	,,
,,	२६६	बापू को जानो	,,	।।≶)	,,
,,	३००	हमारा बिहार	श्री सुरेश प्रसाद गुप्त	१।)	,,

उच्चांग्ल-विद्यालयों के पुस्तकालयों तथा साधारण पुस्तकालयों के लिए

२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१।।।)	नाटक
५६	११७	पुनरावृत्ति	पं० हंस कुमार तिवारी	१।।।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'	२)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूप लाल मंडल	१।)	,,
६८	५५	अनोखा आदमी	पं० छविनाथ पाण्डेय	३)	उपन्यास
,,	५६	अस्पताल में	,,	३)	,,
,,	५७	अंधकार	,,	३)	,,
७६	२७७	बदलती दुनिया	श्री सुरेश्वर पाठक 'विद्यालंकार'	२।।।)	,,
२५	*६५३	राह का पत्थर	श्री विंध्याचल प्रसाद गुप्त	२।।।)	,,
२७	*६८८	रक्त और रंग	श्री अनूपलाल मंडल	५)	,,
२६	*७२५	लोहे के पंख	श्री हिमांशु श्रीवास्तव	७।)	,,

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	विषय
४०	*४५१	हिंदी साहित्य : एक रेखाचित्र	प्रो० शिवचन्द्र प्रताप	३)	समालोचना
४८	७६	रचना कला	श्री सुरेश्वर पाठक	३)	भाषा रचना
६०	६६	प्रारंभिक अर्थशास्त्र	प्रो० शिवचन्द्र एम० ए०	१॥।)	अर्थशास्त्र
६४	१७०	हम और हमारा समाज	श्री सुरेश्वर पाठक	२।)	राजनीति, स० शास्त्र
७०	११३	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	,,	३)	इतिहास
७५	५०	संक्षिप्त पाश्चात्य बही-खाता	प्रो० श्री जैन कुमार	३)	उद्योग-धंधे
,,	५१	वाणिज्य भूगोल	श्री सुरेश प्रसाद गुप्त एम० ए०	२)	,,
,,	५२	संक्षिप्त वाणिज्य प्रणाली	श्री उमेश्वर प्रसाद वर्मा	२)	,,
४६	*१२५	सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बही-खाता प्रणाली	प्रो० नरेन्द्र नारायण वर्मा	१२॥)	वा० शास्त्र
५१	*११६	परिवार : एक सामाजिक अध्ययन	श्री पंचानन मिश्र	४)	समाजशास्त्र
६०	*१८६	बाल-मनोविज्ञान	प्रो० जगदानन्द पाण्डेय	५॥)	शि० शास्त्र
५६	*१८१	हमारी शिक्षा	प्रो० भगवान प्रसाद	१)	,,
		भारतीय स्कूलों में समाज-अध्ययन का शिक्षण	प्रो० मुनेश्वर प्रसाद	६।)	,,
		भोजपुरी : लोकसाहित्य	श्री बैजनाथ प्रसाद सिंह 'विनोद'	५)	
६६	*२१८	घर की रानी	श्री छविनाथ पाण्डेय	२)	महिलोपयोगी
५२	*३८२	अशोक	श्री रामदयाल पाण्डेय	१॥)	आधुनिक काव्य
११	४५१	कबीर	श्री यमुना प्रसाद चौधरी	१।)	,,

इन पुस्तकों के अतिरिक्त बहुत-सी पुस्तकें ग्रंथ-सूची में आई हैं।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४



पुस्तकालय न रोग : न इलाज



श्री कृष्णमोहन प्रसाद सिंह

[गत अंक में इसी स्तम्भ के अन्तर्गत श्री दाशरथी ने ग्राम-पुस्तकालयों पर जो प्रश्नचिह्न लगाए थे, प्रस्तुत में उसी का कुछ उत्तर है। उत्तरदाता लेखक के दोनों पत्र एक-दूसरे के पूरक हैं, अतः दोनों को ही दिया जा रहा है। ऐसे पुस्तकालयों के प्रेमियों और अधिकारियों से आशा है कि श्री दाशरथी और प्रस्तुत के प्रश्नोत्तरों से जिन निष्कर्षों अथवा नई बातों पर वे पहुँच सकें, उन्हें इस स्तम्भ के अन्तर्गत देने की कृपा करें—सम्पादक]

(१)

महाशय,

मैं आपकी पत्रिका "पुस्तक-जगत" का कोई ग्राहक नहीं हूँ। फिर भी जब आपने मेरे "श्री शंकर पुस्तकालय" को इसकी एक प्रति (जनवरी ५८ की) भेजने की कृपा की है, तो मुझे आपकी पत्रिका को समझने-बूझने का सुअवसर मिला है। पत्रिका वस्तुतः मुझे काफी दिलचस्प मालूम हुई। मैं उपर्युक्त पुस्तकालय का कोई पदाधिकारी नहीं, केवल सदस्य मात्र हूँ। यह पुस्तकालय विगत तीन वर्षों से चल रहा है और पुस्तकों की संख्या करीब डेढ़ हजार है।

खैर, छोड़िए इन बातों को, काम की बातें सोची जायँ तो बेहतर हो। श्री दाशरथी लिखित "पुस्तकालय : रोग और इलाज" की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। उस निबंध की कुछ बातें मुझे सही लगीं और कुछ अनुपयुक्त। जिसकी विवेचना मैं क्रमानुसार कर रहा हूँ।

······पहली बात तो यह है कि श्री दाशरथी ने पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों को चेतावनी दी है कि वे सचेत रहें, उन पुस्तकालय-पदाधिकारियों से, जो निःशुल्क और लगातार पत्रिका भेजने का आग्रह करते हैं। तो, इसके संबंध में मुझे कुछ विशेष नहीं कहना है, और जो कहना है वह यह कि पुस्तकालय अगर संपादकों से उपर्युक्त आग्रह करता है तो यह कोई बुरी बात नहीं है। अर्थव्यवस्था की कमजोरी से ऐसा आग्रह किया जाता है। जिसके मानने या न मानने का दायित्व पत्रिका के संपादकों पर है।

······दूसरी बात यह है कि पुस्तकालय की मंतव्य-पुस्तिका में अगर कोई निरीक्षक "हें···हें···हें···, जी···जी··· जी···" और "बड़े-बड़ों के पूर्वलिखित गहरे मन्तव्यों" की चपेट में पड़कर पुस्तकालय की झूठी प्रशंसा कर देते हैं तो यह गलती उन निरीक्षकों की है, न कि पुस्तकालय के उस 'खादीपोश' युवक की जो ऐसा लिखने का आग्रह करता है। कौन नहीं चाहता है कि हमारी (पुस्तकालय की) बड़ाई हो ?

······तीसरी बात यह है कि अगर वह 'खादीपोश युवक' निरीक्षकों से पुस्तकों की याचना करता है तो यह कोई अनुपयुक्त कार्य नहीं कहा जा सकता। पुस्तकों की संख्या बढ़ाने के लिए ऐसा करना नाजायज नहीं है। यह कोई जरूरी नहीं कि पुस्तकालय की सभी पुस्तकें खरीदी ही जायँ।

······चौथी बात यह है कि श्री दाशरथी के अनुसार प्रदर्शनात्मक हौसले को बंद कर दिया जाय। किन्तु ग्रामीण जनता को जबतक कुछ प्रदर्शनात्मक चीज नजर नहीं आएगी, तब

तक वह उत्साहित न हो सकेगी। प्रदर्शनात्मक हौसले से ही रचनात्मक हौसले की शुरुआत होती है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि किसी भी बुरे कर्म को छोड़कर माँग-चाँग कर पुस्तकालय की उन्नति चाहना घृणित नहीं है। समाज-सेवा में स्वाभिमान अथवा आत्मनिर्भरता का ही ध्यान रखना सच्ची सेवा नहीं कही जा सकती है। सच्ची सेवा करने के लिए झुककर ही काम करना चाहिए। तनकर, फटकार कर काम करने से उन्नति कभी नहीं हो सकती।

श्री दाशरथी के निबंध से तो मैं यही समझ सका हूँ कि उन्होंने केवल पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों को निःशुल्क और लगातार पत्रिका न भेजने की चेतावनी भर दी है।

(२)

सम्पादक जी,

तीन वर्षों की 'पुस्तकालय-सेवा' के अनुभव से मुझे जो कुछ सूझा है वह मैंने आपको लिखा है। अगर आप मेरे इस प्रत्यालोचनात्मक लघु निबंध को प्रकाशित करने की कृपा करें तो मैं आपका बहुत अनुगृहीत होऊँगा। प्रकाशित प्रति भेजने की कृपा करेंगे। अगर आप "श्री शंकर पुस्तकालय" को "पुस्तक-जगत" निःशुल्क और लगातार भेजने की कृपा करेंगे तो मैं और मेरा पुस्तकालय-समाज आपका बड़ा ही कृतज्ञ होगा। देखिए, यहाँ पर भी मैंने, श्री दाशरथी के सिद्धान्त के विरुद्ध, याचना की है। या सशुल्क देना हो तो वह भी लिखें, मैं भरसक प्रयत्न करूँगा। इस निबंध के विषय में अगर आप कुछ पूछना चाहते हों तो पत्रव्यवहार का पता दे रहा हूँ।

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

राजनीति में लोकमान्य तिलक के प्रवेश के साथ इस संक्रान्ति-काल का मेघावरण कुछ फटने लगा और कन्नड़ का साहित्याकाश गाँधीवादी आन्दोलन के मध्याह्न तक पूरा विशद हो गया। बीसवीं शताब्दि के शुरू में ही मुद्दड़ कवि ने इस नई सदी की उद्घोषणा की और नए विवेक और विज्ञान का युग चल पड़ा। प्रबंध-निबंध, किरुगते-नील्गते और हरटे यानी छोटी-बड़ी कहानियाँ और उक्ति-कथायें, नाटक एकांकी आदि गद्यों का अभूतपूर्व आविर्भाव तथा अपने पुरातन लयों में सम्पूर्ण सम्वेदनामय गीतों का विराट् उदय दक्षिण से सम्पूर्ण देश को प्रकाशित करने लगा।



राज्याश्रय और जीविका



श्री नागार्जुन

पिछले बारह-तेरह वर्षों में साहित्यकार की स्थिति में काफी परिवर्तन आया है। भंग पी-पीकर लिखनेवालों की संख्या कम हो गई है। हिन्दी अब राज्य-भाषा हो चुकी है, हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में राज्याश्रय प्राप्त कर चुके हैं। जो राज्याश्रय से पृथक होने के कारण अपने को 'परम स्वतंत्र' मानते हैं, उनकी भी स्थिति राज्य से सर्वथा असहयोग की नहीं है। पग-पग पर राज्य से असहयोग की भावना पागलपन का पर्याय ही कहलाएगी। प्रशासन (राज्य) चाहे कैसा भी हो, हमारा अपना है। सुशिक्षित और समृद्धिशाली पाठकवर्ग बड़ा होता जाएगा, किताबों की खपत बढ़ती जाएगी, साहित्यकार सुखी होगा। फिर किसी प्रख्यात उपन्यासकार को झख मारकर आकाशवाणी-केंद्र में चाकरी नहीं करनी पड़ेगी, किसी श्रेष्ठ कवि को सूचना-विभाग की फाइलों में गर्क होकर घुटन को छंद का जामा नहीं पहनाना पड़ेगा······

जरा सोचिए कि १५ वर्ष बाद हमारी जनता इस हद तक शिक्षित और पैसेवाली हो जाएगी कि आपका मामूली प्रकाशन भी पचास हजार प्रतियों में छपेगा और महीने-दो-महीने के अंदर ही रायल्टी की पूरी राशि आपके नाम बैंक में जमा हो चुकी रहेगी···

तब सौ पेजों का एक उपन्यास, बीस कविताओं का एक संकलन, दस गीतों की एक रिकार्डिंग, एक नाटक का महीने भर का अभिनय, पंद्रह कहानियों का एक संकलन, आलोचना की छोटी-सी एक पुस्तक हमारे कथाकार-कवि-गीतकार-नाटककार-आलोचक के लिए वर्षों का 'योग-क्षेम' जुटा देंगे। फिर अपेक्षित बेफिक्री और सुविधा सुलभ रहने पर पंद्रह सौ पृष्ठों में या तीन खंडों में जो साहित्यकार जन-जीवन का महाकाव्य अर्थात् बृहत् उपन्यास लिख लेगा, उसकी रॉयल्टी से तो वह करोड़ीमल हो जायगा न? तब भी क्या वह आज की तरह 'राज्याश्रय' शब्द से चौंक उठेगा?

आज हिंदी-क्षेत्र की हमारी जनता अल्प-शिक्षित है, साधनहीन है! जहालत और गरीबी के समुद्र में साहित्य घी की बूँदों की तरह नजर आता है, खुशहाली के समुद्र में तो कल वह तेल की तरह फैलता दीखेगा।

मुझे विस्मय होता है कि राज्याश्रय को हौआ या अमृतफल बताकर विपक्ष और पक्ष में वाद-विवाद का अंत नहीं है। साहित्यकार सरकारी नौकरी क्यों न करे? साहित्यकार बड़ी नौकरी के लिए क्यों लार टपकाए? कल उसने अखबारों के जरिये जनता को धमकी दी थी—वह पान की दूकान कर लेगा! आज वह शेखी बघारता घूम रहा है—वह अपने को नहीं बेचेगा!···वह खुद ही प्रकाशक बन जाएगा!···अपनी पांडुलिपियों की होली जलाएगा वह···आज वह सरकार को फटकारता है, प्रकाशक को गालियाँ देता है, अपने अमुक साहित्यकार बंधु पर कीचड़ उछालता है···आकाशवाणी केंद्र के अधिकारियों के पीछे डंडा लेकर पड़ा रहता है····टैक्स्टबुक कमीटियाँ, विश्वविद्यालयों के हिन्दीबोर्ड, शिक्षाविभाग, साहित्य अकादेमी सभी का गोत्रोच्चारण करता है आज का साहित्यकार!···मुझे विस्मय होता है अपनी बिरादरी की यह गति-विधि देखकर। लगता है, हम उन्हें ही भूल गए हैं जिनका दिया हुआ खाते हैं। जन-साधारण—पाठकवर्ग ही हमारे अन्नदाता हैं। हमारे अन्नदाता कल नहीं तो परसों अवश्य सुखी होंगे, फिर अपने साहित्यकार

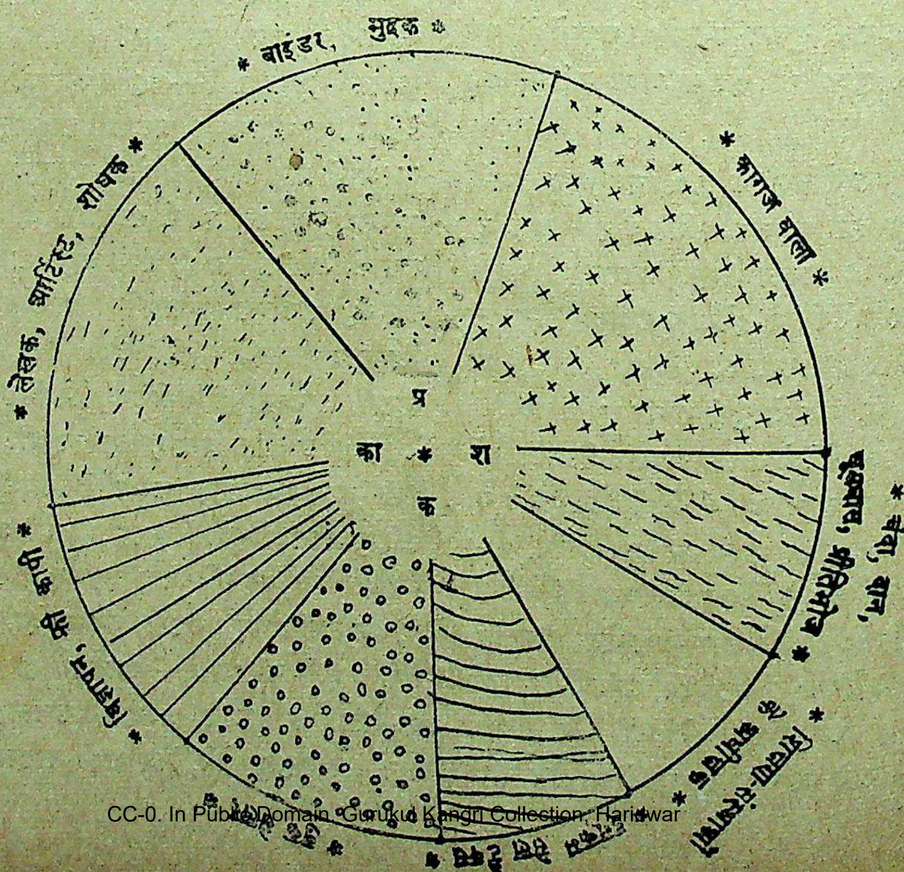
की सुध वे जरूर लेंगे। फिलहाल, जन-साधारण की तरह यदि पेट की आग बुझाने के लिए आप पान की दुकान खोल लें तो उसमें हर्ज ही क्या? चीन के लोकप्रिय कहानीकार श्री यू-लि ने एक पत्रकार से कहा था—"यहाँ के प्रकाशकों से मुझे खाने-पीने पहनने-ओढ़ने लायक रकम मिल जाती है अतएव मैं निश्चिन्त हूँ। बड़ा साहित्यकार बनने की मेरी अभिलाषा नहीं है क्योंकि उससे जन-सम्पर्क टूट जाएगा। मैं साधारण जनता के बीच रहकर ही लिखना पसंद करता हूँ...लाखों किसान पढ़ना नहीं जानते, इसलिए मैंने उनके लिए नाटक लिखना आरंभ किए हैं...मैं अपने को स्वयंसेवक मान कर पुस्तकें लिखता हूँ...."

साहित्यकार के लिए राज्याश्रय घातक है या नहीं, इसका निर्णय राज्य के स्वरूप और साहित्यकार की ईमानदारी पर छोड़ देना चाहिए। पुराने जमाने में राजाओं की दी हुई जागीरें पाकर कविजन बहुधा दरबारी साहित्य का ही निर्माण करते रहे। आजके हमारे राज्याश्रित साहित्यकारों पर राजशाही-सामंतशाही-नौकरशाही अंकुश नहीं है; हाँ, उनपर हमारी प्रबुद्ध जनता के युक्तियुक्त सेन्सर का अंकुश तो रहेगा ही।

साहित्यकार	+	प्रकाशक
प्रकाशक	+	बुकसेलर
बुकसेलर	+	प्रकाशक
प्रकाशक	+	साहित्यकार

प्रेमचंद ने एक पत्र में किसी को लिखा था: साहित्यकार को जीविका के लिए छोटी-मोटी नौकरी जरूर कर लेनी चाहिए...हर समझदार आदमी प्रेमचंद की इस बात का

प्रकाशक से प्राप्ति का चक्र



जीविका

राज्याश्रय

नौकरी

रेडियो,
सूचना वि०,
अनुवाद वि०,
परिभाषा-ढलाई०,
प्रचार
प्रकाशन
जनसंपर्क
और
दीगर सरकारी
महकमों में
↑
छोटी-बड़ी तनखाहों
वाली गैर-सरकारी
नौकरियाँ,
विदेशी दूतावासों
द्वारा संचालित
प्रका० संस्थाओं की
छोटी-बड़ी नौकरियाँ,

विश्वविद्यालयों की
छोटी-बड़ी नौक-
रियाँ,
साहित्य-अकाडेमी,
ललितकला अका-
डेमी आदि की
नौकरियाँ।

नोमिनेशन, सदस्यता आदि

विधानपरिषद्
राज्यसभा
कमीटी
समिति
परिषद्
बोर्ड
आयोग
आदि की सदस्यता,
शिष्टमंडल
अकाडेमी
आदि की सदस्यता,
↑
भत्ता आदि का
चस्का पड़ चुकने
पर एक-एक
साहित्यकार पांच-
पांच सात-सात
कमीटियों में घुस रहते हैं,

सरकारी अनुदानों
से मांसल बनी गैर-
सरकारी संस्थाओं
में इनका
प्रवेश है

अनुबंध

अनुवाद
संकलन
संपादन
अन्वेषण
आदि का :
*
रेडियो
टेलिविजन
डॅाकुमेन्ट्री
डायलॉग
आदि का
गीतों के लिए
ड्रामा के लिए
दूसरे फीचर के लिए
*
प्रचार वि०
समाज कल्याण
आदि द्वारा
उपयोगी
लिटरेचर
के लिए
अनुबंध

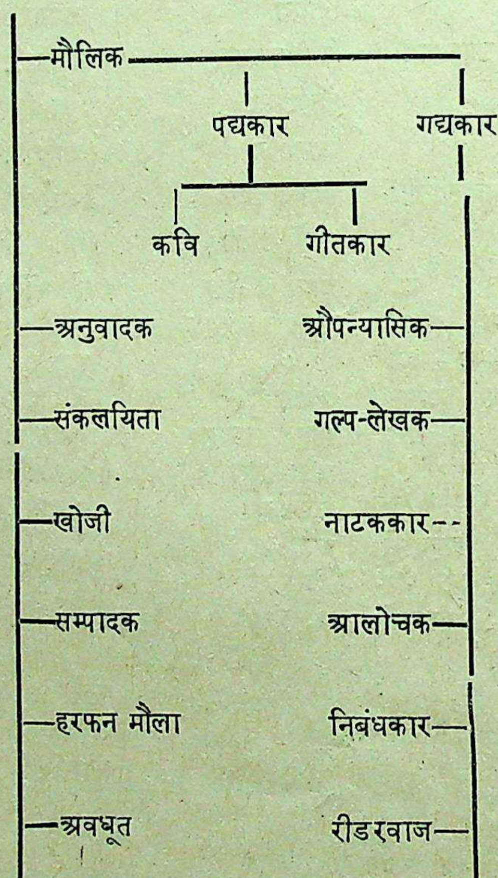
पुरस्कार आदि

मुद्रित या अमुद्रित
पुस्तकों पर...
समूची कीर्ति पर
एक मुश्त धनराशि,
किसी खास 'कृति' के
नाम पर...
तमगा...
उपाधि...
(पद्मश्री-पद्मभूषण
आदि...)
भाई-भतीजों
सगे-संबंधियों
को सर्विस...
स्कालर्शिप आदि,
अनुदान के तौर पर
(आपके प्रयत्न से
संचालित संयोजित
संस्थाओं और समारोहों
के नाम)

लोकाश्रय

- मात्र लेखन के माध्यम से प्रकाशकों के द्वारा
- फिल्म जगत में गीत और संवाद आदि की लिखाई
- छोटी-बड़ी गैर-सरकारी नौकरियों के माध्यम से
- स्वयं प्रकाशक या स्वयं बुकसेलर
- कविसम्मेलनों और नाट्यसंस्था आदि से मिलने वाली फीस
- मित्रों से प्राप्त प्रकट-अप्रकट सहायता

समर्थन करेगा। बंकिम, शरद, प्रेमचंद—कई साहित्यकार हो गए हैं जिन्होंने चाकरी भी की और साहित्य का निर्माण भी किया। शरद और प्रेमचंद ने तो बाद में नौकरी छोड़ दी थी, उसके बाद उनका सारा वक्त लिखने में ही बीता। इन दिनों भी अनेकानेक प्रख्यात साहि-



त्यकार, छोटी-बड़ी नौकरियों में रहते हुए भी, लिख रहे हैं। और, यह बात हिन्दी-क्षेत्र की ही नहीं है। बंगाल-महाराष्ट्र-गुजरात-तामिलनाड, आंध्र, केरल, मैसोर-राज्य, पंजाब आदि कई क्षेत्रों में इस कोटि के साहित्यकार मिलेंगे।

दूसरी कोटि है उन साहित्यकारों की जिनका जीवन साहित्यनिर्माण पर आधारित है। साहित्यजीवी के लिए मेहनती गद्यकार होना पहली शर्त है, दूसरी शर्त है मौलिकता का दंभ झाड़कर सब-कुछ लिखने के लिए तैयार रहना। प्रूफदर्शन-अनुवाद-संकलन-कापीशोधन से लेकर चर्वितचर्वण और मथितमथन वाले बड़े ग्रंथों तक, मामूली एकांकी और बालोपयोगी कहानी से लेकर हजारपेजी उपन्यास तक, विज्ञापन और प्रकाशकीय वक्तव्य से लेकर उच्चाधिकारियों—मिनिस्टरों के भाषण की तैयारियों तक, रीडरबाजी से लेकर व्यक्तिगत प्रशंसा-पुराण तक···गद्य का मैदान बड़ा ही विस्तृत

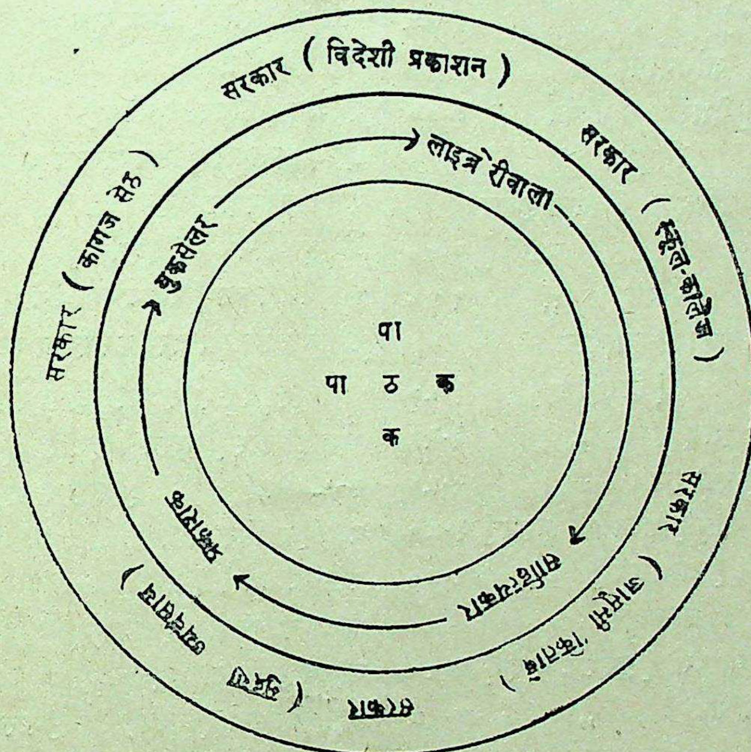
है। आप यदि काहिल नहीं हैं, आप यदि हद दर्जे के जिद्दी नहीं हैं, श्रमिकसुलभ सूझ-बूझ की कमी नहीं है यदि आप में, तो गद्य की खेती आपके लिए नुकसानदेह नहीं रह जाएगी। दस-बीस किताबें लिखेंगे तो दो-चार उनमें से जरूर पसंद की जाएँगी। हाँ, शाश्वत साहित्य के फेर में नहीं पड़िएगा।

संकट और असुविधाएँ दोनों ओर हैं। बहुत बड़ी तनखाह पानेवाला साहित्यकार अक्सर वर्ग बदल लेता है। रहन-सहन में ही नहीं, चिंतन में भी वह लोकोत्तर हो उठता है। प्रमाद-संशय-आत्मरति-दंभ-मोह आदि दुर्गुणों के पनपने से वह अ-सामाजिक प्राणी बन जाता है, फिर जनविरोधी दार्शनिकता का लबादा ओढ़ कर दो-अर्थी सूत्रों की शैली में बोलने लगता है वह।

संकटग्रस्त साहित्यकार रुपये-दो-रुपये के लिए भी मारा-मारा फिरता है। मुसीबतें उसे झूठ-ठगी-बेईमानी-बहानेबाजी-कर्जखोरी-चारसौ-बीसी की तरफ ठेल देती हैं या धरा-धाम से उठा लेती हैं। यह भी देखा गया है कि इस प्रकार के जीवित शहीद को भंग आदि पिला-पिला कर पागल बना चुकने के बाद लोग उसे 'युगावतार' जैसी कोई उपाधि दे डालते हैं!

ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए संकट-मोचन का क्या रास्ता होगा?

पाठक और परिधि







अपभ्रंश-हिन्दी-जैन-साहित्य



श्री श्रीरंजन सूरिदेव

अध्येताओं से यह प्रच्छन्न नहीं है कि जैन-वाङ्मय अनन्त और अक्षय-स्रोत है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी-भाषाओं में निबद्ध जैन-साहित्य का विशाल समुद्र वस्तुतः अतलस्पर्श है। प्राक्तन जैनों के अन्धविश्वास, ग्रन्थों के यंत्राधीन करने से वे अशुद्ध हो जाते हैं, के कारण बहुसंख्यक पुस्तकें तो उनके गर्भगृहों में ही दीमकों की ग्रास बन गईं तथा वहीं धरती के भीतर सदा के लिए समाधिस्थ हो गई। फिर भी, जितनी पुस्तकें सम्प्रति मुद्रित तथा हस्तलिखित रूप में उपलभ्य हैं, उनकी भी संख्येयता नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में, अपभ्रंश हिन्दी के नातिबहुल जैन-ग्रन्थों की चर्चा ही हमारा अभीष्ट होगा।

परन्तु, प्रसंग-प्रारम्भ के पूर्व इतना बता देना अप्रासंगिक न होगा कि संस्कृतोत्तर जैन-मनीषियों ने भारत की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की उथल-पुथल के युग में, अशान्ति और असन्तोष के संघर्ष-काल में, मानवता का आदर्श मानदण्ड प्रस्तुत किया। जनसाधारण की क्षुब्ध अन्तश्चेतना को झकझोर कर, उसे सही जीवन का मर्म जानने के लिए उद्ग्रीव किया। यही कारण है कि जैनाचार्य प्रारम्भ से ही जनभाषा में मानवता को चित्रित करते आये हैं। यहाँ क्षेपक में इतना ध्यातव्य है कि भगवान् महावीर का उपदेश भी तत्कालीन सार्वजनीन भाषा अर्धमागधी (आर्ष प्राकृत) में हुआ था। हाँ, तो जन-जागरण के खयाल से ही जैन-लेखकों ने ईसा की लगभग सातवीं-आठवीं शती में, संस्कृत-प्राकृत का पल्ला छोड़, तत्कालीन लोक-प्रचलित अपभ्रंश-भाषा में साहित्य-रचना का प्रयास किया।

ईसा की नवीं शती में तो अपभ्रंश-भाषा, जनभाषा होने के कारण, हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक प्रचार-प्रसार पा गई थी। अपभ्रंश में, जैन-लेखकों के विविध साहित्य, जैसे—स्तोत्र-काव्य, कथाकाव्य, महाकाव्य, खंड काव्य आदि, दृष्टिगत होते हैं। शृंगार, वीर और नीति की स्फुट रचनाएँ भी इस भाषा में बड़ी मार्मिक और गम्भीर हुई हैं। स्वयम्भू कवि ने (८-१० वीं शती) 'हरिवंशपुराण' और 'पउमचरिउ' (जैन-रामायण) की रचना की। इसी शती में धनपाल ने 'भविसयत्त कहा' का निर्माण किया। ग्यारहवीं शती में पुष्पदन्त कवि ने 'महापुराण', श्रीचन्द्रमुनि ने 'कथाकोष' तथा सागरदत्त ने 'जम्बूस्वामी चरित' का प्रणयन किया। अभयदेवसूरि का 'जयतिभुवनगाथा-स्तोत्र, देवचन्द्र का 'सुलसाख्यान' वर्द्धमान सूरि का 'वर्द्धमान चरित' अब्दुल रहमान का 'सन्देश रासक' और धाहिड़ कवि का 'पद्मिनी चरित' बारहवीं शती की प्रमुख अपभ्रंश-रचनाएँ मानी जाती हैं।

हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती में योगचन्द्र ने 'योगसार' और 'परमात्म प्रकाश' तथा माइल्लधवल ने 'नयचक्र' लिखा। अपभ्रंश की ये रचनाएँ पुरानी हिन्दी के अधिक समीप हैं। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के जैन कवियों ने लोकप्रचलित कहानियों के आधार पर, उनमें स्वेच्छानुसार परिवर्तन के साथ, अनेक सुन्दर काव्य लिखे।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में जैन कवियों ने व्रज और राजस्थानी भाषा में रासा-ग्रन्थों की रचना की। 'गौतमरासा' 'सप्तक्षेत्ररासा' 'संघपति समरारासा' आदि में कथानकों के माध्यम

से अहिंसातत्त्व की अनवद्य अभिव्यञ्जना हुई है। सोलहवीं शती में कवि जिनदास ने मानवता की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर 'आदिनाथ-पुराण', 'श्रेणिकचरित' आदि की रचना की। वस्तुतः इन दो ग्रन्थों से ही प्रादेशिक भाषा में काव्य-रचना का आरम्भ होता है। सत्रहवीं शती में महाकवि बनारसीदास, रूपचन्द, हेमविजय आदि ने राजस्थानी और व्रजभाषाओं में चम्पू-काव्य लिखे। सच पूछिए तो महाकवि बनारसीदास के समय से ही हिन्दी-जैन-गद्यसाहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। बनारसीदास के समकालीन अखयराज श्रीमाल, पाण्डे हेमराज, पाण्डे रूपचन्द ने गद्य में टीकाएँ लिखीं।

अट्ठारहवीं शती के मध्यभाग में दीपचन्द कासलीवाल ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के जैन-ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद न कर स्वतन्त्र रूप से जैन-हिन्दीगद्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की। 'अनुभवप्रकाश' 'चिद्विलास' आदि इनकी अध्यात्मपरक रचानाएँ पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी हैं। पं० दौलतराम ने, इसी समय में, 'जैन-पद्मपुराण' और 'जैन आदि पुराण' का हिन्दी गद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इनके गद्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपरिमार्जित खड़ी बोली की संज्ञा दी है।

उन्नीसवीं शती के आरम्भ में कवि भूधरदास ने 'चर्चासमाधान' नामक गद्य-ग्रन्थ लिखा, जिसमें धार्मिक शंकाओं के निराकरण का प्रयास किया गया है। इसी शती के गद्यकारों में अमर-कल्याण, ज्ञानानन्द, धर्मदास, टोडरमल आदि पांक्तेय माने जाते हैं। टोडरमल ने प्रसिद्ध जैन-दर्शन-ग्रन्थों, जैसे 'गोम्मटसार' 'आत्मानुशासन' आदि, को हिन्दी-गद्य में अनूदित किया। इस शती के अन्त में एक जयचन्द्र नामक लेखक हुए, जिन्होंने टीका-ग्रन्थों को हिन्दी में लिखा।

बीसवीं शती में तो हिन्दी-जैन-साहित्य में पर्याप्त विकास हुआ है। पद्य-साहित्य में श्री

अनूपशर्मा एम्० ए० का 'वर्द्धमान महाकाव्य' 'प्रियप्रवास' की शैली में लिखा गया है। भाषा, भाव और काव्यचमत्कार भी सफल हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है वंशस्थवृत्त (छन्द) में—

'न मानिनी जो अब मान त्यागती
मनोज की है अपराधिनी वही।
पयोदमाला मिस बिज्जु के यही
प्रसारती काम-नृपाल-घोषणा ॥'

खण्डकाव्यों में कवि बालचन्द्र जैन का, साहित्यसाधनासमिति, काशी से प्रकाशित 'राजुल' खण्डकाव्य का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतवर्षीय दिग्जैनसंघ, मथुरा से प्रकाशित श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश' का 'विराग' खण्डकाव्य भी पर्याप्त साफल्य का अधिकारी है। राजुल में नेमिनाथ तीर्थङ्कर की परित्यक्ता पत्नी राजुल (राजीमती) का चरित्र-चित्रण करुणाव्यञ्जक शैली में उपस्थित किया

गया है, जो संस्कृत जैनकाव्य 'नेमिदूत' (मेघदूताश्रित) पर आधृत है। 'विराग' में भगवान् महावीर के विरक्त होने की घटना का चित्रण मर्मभेदी बन पड़ा है। संक्षिप्त कथावस्तु को पाँच सर्गों में विभक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त जैनकवियों की स्फुट कविताओं के संकलन भी देखे जाते हैं, जो नगण्य हैं।

इस शताब्दी में कतिपय जैन-लेखकों ने प्राचीन जैनकथानकों के आधार पर उपन्यास भी लिखे हैं,जिनमें आरावासी श्री जैनेन्द्रकिशोर-लिखित 'मनोवती' उपन्यास चन्द्रकान्तासन्तति के समीप है। मुनिश्रीतिलकविजय का 'रत्नेन्दु', गोपालदास वरैया-लिखित 'सुशीला', श्री वीरेन्द्र कुमार जैन का 'मुक्तिदूत' आदि उपन्यासों का जैनसाहित्य में अच्छा स्थान है।

उपन्यास के अतिरिक्त, जैन-हिन्दी कथा-साहित्य—अनूदित और पौराणिक आधार पर मौलिक रूप में रचित, दोनों प्रकार का—प्राप्य है। जैनमित्र कार्यालय हीराबाग, बम्बई और भा० दि० जैनसंघ, मथुरा ने क्रमशः 'आराधनाकथाकोष' तथा 'बृहत्कथाकोष' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी-जैन-वाङ्मय के अनुवाद-साहित्य का भण्डार भरा है। आराधनाकथाकोष के चार भागों में कुल एक सौ इक्कीस कहानियाँ हैं। बृहत्कथाकोष के दो भागों में कुल बहत्तर कथाएँ हैं। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ' नामक पुस्तक डा० जगदीशचन्द्र जैन ने लिखी है। यह तीन भागों में है। इसके अतिरिक्त आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट-सोसायटी, अंबाला से भी कई सुन्दर कथा-साहित्य के संस्करण निकले हैं, जिनमें 'महासती सीता' 'सुरसुन्दरी' 'रूपसुन्दरी' आदि कथाग्रन्थ पर्याप्त मनोरंजक हैं। कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त नाटकों में श्री सुदर्शन-लिखित 'अंजना', न्यामत-लिखित 'कमलश्री' आदि की अच्छी प्रतिष्ठा हुई है। श्रीभगवत्स्वरूप का करुणरस-प्रधान 'गरीब' नाटक भी सुन्दर कहा जायगा।

हिन्दी-जैन निबन्ध-साहित्य को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। फिर भी मुख्यतः इसका भेद इस प्रकार होगा—ऐतिहासिक, पुरातत्त्वात्मक, आचारात्मक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक और वैज्ञानिक। वस्तुतः, हिन्दी-जैन निबन्ध-साहित्य पर्याप्त समृद्ध-सम्पन्न है।

पार्श्वनाथविद्याश्रम, हिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी से संद्यःप्रकाशित डा० मोहनलाल मेहता का महानिबंध 'जैन कर्मसिद्धान्त' पठनीय सामग्री से युक्त है। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित आरा जैन-कालेज के प्राध्यापक श्री नेमिचंद्र जैन शास्त्री-लिखित 'हिन्दी-जैन-साहित्य परिशीलन' (१-२ भाग) हिन्दी-जैन-साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ उपस्थित करता है। शोध-साहित्यिक निबन्धकारों में सर्वश्री अगरचन्द नाहटा, ऋषभदास राँका, राजकुमार साहित्याचार्य, कस्तूरचन्द कासलीवाल ; दार्शनिक निबन्धकारों में सर्वश्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, दलसुख मालवणिया आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

इतना होते हुए भी, जैन-साहित्य के आकर-ग्रन्थों का, विशेषतः सूत्रग्रन्थों का सुन्दर हिन्दी संस्करण निकालने का प्रयास अभिवांछित है। आचार तथा दर्शनग्रन्थों का सुन्दर हिन्दी अनुवाद होना चाहिए। आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में सूत्रग्रंथों के कई भाषाओं में अनुवाद कराने की योजना को श्वेताम्बर जैन तेरापंथी महासभा (कलकत्ता) सक्रियता दे रही है, यह शुभलक्षण है। परन्तु, जैन-साहित्य की सर्वांशतः समृद्धि तभी होगी, जब समस्त जैन लोग समस्त जैनवाङ्मय के उद्धार करने में अपना मनोयोग देंगे। बिहार-सरकार के प्राकृत-प्रतिष्ठान (वैशाली) से भी हिन्दी-जगत् को

(शेषांश पृष्ठ ४० पर)



साँझ का सूरज (उपन्यास)

लेखक—ओम्प्रकाश शर्मा
प्रकाशक—सरस्वती सहकार, दिल्ली
मूल्य—साढ़े तीन रुपए

प्रस्तुत की पृष्ठभूमि सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम से संबंधित दिल्ली है। आग्रह न होने के बावजूद इसे पढ़ना ही पड़ा है। आरोपित राष्ट्रीयता और सतही हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के कारण उक्त आन्दोलन की स्वतःस्फूर्ति इसमें फटचिट गई है। असंस्कृत और अशालीन कथोपकथन के चलते कहीं-कहीं बहुत बुरा हो गया है। जैसे, विक्रम का हवलदार हनीफ की बीबी के लिए यह कहना कि 'भाभी न हुईं, मक्का-मदीना हो गया', विक्टर की प्रशंसा में बख्त खाँ का यह वाक्य कि 'उसका दिल ईसामसीह की तरह पाक-साफ था', जिसे चरण छूकर विक्रम माँ के बराबर (भाभी) मान चुका था उस हनीफ की बीबी की–सर से आँचल सरकने पर विक्रम के आगे यह शर्मसार सफाई कि 'कमबख्त रेशमी है ना, ठहरती ही नहीं सिर पर', हवलदार हनीफ का बात-बात में अपनी बीबी को यह कहना कि 'अब तुम बच्ची नहीं हो', शाहजादों के विरुद्ध उन्हीं के जेनरल बख्त खाँ का यह आदेश जारी करना कि 'लूटमार की तो नाक कटवाकर और मुँह काला कर दिल्ली से निकलवा दूँगा', दरबार के द्वारपाल विक्रम का शहंशाह को यह कहना कि 'कोई भी फन दरबारे शाही की बपौती नहीं, आदि। ऐसे ही, गुलाबशाह की बात कि 'आज या कल हमें या हमारी औलादों को जंगे आजादी लड़नी ही है', अपनी बेटी से विक्टर का कहना कि 'तू हिन्दुस्तानी दुश्मनों के बीच घिरी थी इसलिए बच भी गई' तथा हिन्दुस्तानियों की हार के समय बख्त खाँ से कहना कि 'मेरी कौम के बहुत से आदमी हैं जिन्हें हिन्दियों की जीत से खुशी होगी' आदि ऐसे अनाटकीय प्रसंग हैं कि लेखक के बचकाने पूर्वग्रह को जगह-जगह प्रकट कर देते हैं। केसर, भाभी, विक्रम, बख्त खाँ और लाला जैसे साधारण पात्रों के छिछले रोमांसों और औद्धत्यों के मुकाबले जफर, दाग, गालिब जैसे इतिहास के प्रमुख पात्र जानबूझ कर निरर्थक कर दिए गए हैं।

इसे उपन्यास और साहित्य नहीं कहा जा सकता।

वेश्या (समस्यामूलक कविता)

कवि—बा० को० नारायण
प्रकाशिका—चम्पा नारायण, कलकत्ता
मूल्य—अस्सी नए पैसे

प्रस्तुत, सस्ती और छपाई-सफाई में यथानाम सुन्दर पुस्तक है। इसमें, 'अपनी आँखों देखा करती अपना नुचना', 'जब नुचवाना हो तन', 'मेरे बूढ़े ससुर ने⋯बन्द कर कच में ⋯पटक कर धरा पर⋯सभी कर लिया' आदि 'समस्या' है और 'लोकसभा-राज्यसभा' के सदस्यों द्वारा वेश्यावृत्ति-उन्मूलन के विधान को 'दमित वासना' का जो 'छल' माना गया है, वही 'मूलक' है। यदि इस बात को कवि वेश्यामुख होकर न कहता, बल्कि वेश्या ही कविमुख होकर कही होती तो शायद इतनी अश्लीलता न आती।

जीवनी और संकलन

(१) मीर तकी 'मीर' (संपादक—सरस्वती सरन 'कैफ')
(२) मोमिन (संपादक—धर्मपालगुप्त 'शलभ')
(३) जौक (संपादक—सरस्वती सरन 'कैफ')
प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य—डेढ़ रुपया प्रत्येक

(१) 'मीर' की अपनी 'हिन्दवी' बोली और जनालम्बनों के सहारे प्रेम और रहस्य

के लय-विलयों के रखने के रंगढंग के परम-भक्त, उनके परमनिन्दक समकालीन 'सौदा' और तदनन्तर 'नासिख' 'गालिब' 'जौक' और अद्यतन के सभी कवि रहे हैं। २०० वर्ष पहले 'मीर' ने जो भाषा और अपने बेलगाव चरित्र की स्वयंसिद्ध स्वतंत्रता का आदर्श पेश किया है, उसे समझने के लिए यह छोटी-सी पुस्तक भी बहुत है। आज के साहित्य और जनता के राष्ट्रीय चरित्र के लिए हिन्दी और दूसरी देशी भाषाओं में 'मीर' का यह पाठ अत्यावश्यक भी है। 'मीर' की सम्वेदना सचमुच ही स्रष्टा-द्रष्टा की सम्वेदना है।

"अहदे-जवानी रो-रो काटा,
पीरी में लीं आँखें मूँद,
यानी रात बहुत जागे थे,
सुबह हुई आराम किया।"
"दमे आखिर है, बैठ जा, मत जा,
सब्र कर टुक कि हम भी चलते हैं।"
"जिन-जिन को था ये इश्क का आजार
मर गए,
अक्सर हमारे साथ के बीमार मर गए।"
"रहूँ इश्क कहने से मैं तर जबाँ।"

आदि शब्द उर्दू अदब के अनहद-नाद ही हैं। 'मीर' ने उर्दू साहित्य में सबसे अधिक और बेजोड़ लिखा है।

(२) 'मोमिन' उर्दू साहित्य में सबसे अधिक फूले-फले, ऐशो-इशरत और रूमान के कवि माने जाते हैं। तदनुसार ही उनके शब्द हैं:—'जन्नत की हविस वाइज! बेजा है कि आशिक हूँ; हाँ, सैर में जी लगता गर दिल न लगा होता'। सौ वर्ष पहले अंतिम मुगल साम्राज्य और अंगरेजों तक की इन पर कृपा रहने का कारण भी यही था कि इनको साहित्य, संगीत और कला के अलावा इतनी फुर्सत ही नहीं रही कि किसी राजनीति में दखल देने की सोचें। मोमिन १८४६ में ५३ वर्ष की उम्र में दिवंगत हुए और उन जैसे कद्रदाँ विद्वान के अभाव में दिल्ली और आगरे के ज्योतिष, शास्त्र के पंडितों और संगीत के कलावन्तों की गोष्ठियाँ उखड़ गईं। अपने छोटे-से जीवन को शृंगार और प्रणय की लीलाभूमि बनाने वाले इस महाकवि की पंक्तियाँ हैं:—

"कोई बात ऐसी अगर हुई
कि तुम्हारे जी को बुरी लगी,
तो बयाँ से पहले ही भूलना
तुम्हें याद हो कि न याद हो।"
"तुम भी रहने लगे खफा साहब,
कहीं साया मेरा पड़ा साहब!"
"हाँ, तू क्योंकर न करे
तर्के-बुताँ, ऐ वाएज!
ऐसी हूरें तेरी किस्मत में
कहाँ, ऐ वाएज!"

यह छोटी-सी पुस्तक मोमिन की बेउतार-चढ़ाव की शान्त और सुन्दर जीवनी और प्रतिनिधि पद्यों के संकलन के नाते पर्याप्त है।

(३) "जौक" उर्दू-साहित्य में शब्द और व्याकरण के परंपरा-प्रवर्तक साधक माने जाते रहे हैं। यह सत्य है कि यदि बहादुर शाह के आग्रहों से ग्रस्त होकर फरमायशी और मुकाबले की चीजें न कहनी पड़तीं, तो उनकी कविता सख्त जमीन की उपज न कहलाती। फिर भी उर्दू में उनके ही अधिक पद मुहावरे जैसे हो सके हैं।

"लायी हयात, आई कजा,
ले चली, चले,
अपनी खुशी न आए,
न अपनी खुशी चले।"
"खत बढ़ा, काकुल बढ़े,
जुल्फें बढ़ीं, गेसू बढ़े,
हुस्न की सरकार में
जो भी बढ़े हिन्दू बढ़े।"

"जौक जो मदरसे के
बिगड़े हुए हैं मुल्ला
उनको मैखाने में
ले आओ, सँवर जाएँगे।"

उनके उपयुक्त छन्दों में स्वार्थ और परमार्थ की दो उन्नत शास्त्रीय पराकाष्ठायें हैं। उनके प्रतिस्पर्धी गालिब द्वारा उर्दू साहित्य में सर्वश्रेष्ठ घोषित उनका यह पद तो उन्हें एकमात्र पदवी प्रदान करता है—

"अब तो घबरा के कहते
हैं कि मर जायेंगे,
मर के भी चैन न आया
तो किधर जायेंगे।"

संतोष, सादगी और अध्ययन की चरम साधना द्वारा जौक ने अपनी आर्थिक तंगी को जिस प्रकार रहस्य बनाए रखा, वैसे ही यह भी रहस्य है कि उन्होंने कितना और क्या-क्या लिखा। क्योंकि अपने शासक के नाम पर लिखी हुई और १८५७ के गदर में अंगरेजों द्वारा बर्बाद की गई उनकी रचनाएँ कुछ कम नहीं हैं। हाँ, उनके इन शब्दों के अनुसार उनकी पंक्तियाँ दूर से ही अपना परिचय देती हैं :—

"खत उसको दे भी दिया जो कासिद ने
'जौक' देकर किसी का धोखा।
वो खत न पहचान लेंगे मेरा?
मेरी इबारत न देख लेंगे?"

प्रस्तुत पुस्तक की यही सफलता है कि इसने संक्षेप में 'जौक' के व्यक्तित्व और कृति को अच्छी तरह उपस्थित किया है।

बप्पा रावल (उपन्यास)

लेखक—मनु शर्मा

प्रकाशक—परिमल प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य—पाँच रुपये

प्रस्तुत बारह सौ वर्ष (!) पहले के ऐतिहासिक नायक बप्पा रावल को लेकर लिखा गया है। बप्पा के पितृराज्य ईडर पर भीलों का हमला और फिर आगे चलकर भीलों का समर्थन, मामा मानसौरी के चित्तौर पर बप्पा का मुफ्त में अधिकार, नागदा-कुमारी का खेल-ही-खेल में बप्पा से विवाह, ज्योतिषाचार्य की घोषणा, पतरा-मिलान या तिकड़म से उस विवाह की मंजूरी आदि मामले इतने बेजमीन उपस्थित किए गए हैं कि सारी रचना बचकानी लगती है। 'कागज के पीछे लपलपाती ज्वाला जैसा' महारानी का तन, 'फुटबाल जैसा चन्द्रबिंब', 'घड़ी के पेंडुलम की भाँति' झूलते हुए पैर और एक ही झलक में चाँदनी और अंधेरी रात का दृश्य, विचित्र प्रयोग हैं। हाँ, 'वक्तव्य' जरूर दबंग है।

नीम की निबौलियाँ (कहानियाँ)

लेखक—गुरुवचन सिंह

प्रकाशक—नईदिशा प्रकाशन, जमशेदपुर

मूल्य—सवा दो रुपये

दस कहानियों के प्रस्तुत संग्रह में लेखक ने 'रंग बदलने वाले आदर्शों' के न होने के नाम पर जो दृढ़ता प्रकट की है, वह 'पुराना आदमी' या 'नीम की निबौलियाँ' जैसी दो-तीन कहानियों के अलावा कला या यथार्थ के मामले में और कहीं नहीं है। शेष अधिकतर कहानियाँ, श्रमिक के सतही चित्रण या अयथार्थी रोमांस में उलझी हुई हैं और उनका अधिकतर प्लाट सास या ननद के अत्याचार जैसे पुराने मामले अथवा डाल से चूके हुए नए पछाहीं प्रेम पर निर्भर है। 'पत्ते झरने लगे' में, गन्दी बीमारी में ग्रस्त मजदूरिन के प्रति कोई नैतिक आग्रह नहीं बन पाने से, प्रतिपादन अश्लील हो गया है। 'ओस पीने वाले' या 'फूल मुरझा गए' हवाई रोमांस का कोई नया नमूना नहीं है।

और पहिये घूम रहे थे (कहानियाँ)

लेखक—शैवाल सत्यार्थी
प्रकाशक—ज्ञान मंदिर, लश्कर
मूल्य—ढाई रुपये

नए मन को विना श्रम के जो कवित्व और आर्यसमाजी या कम्युनिष्टी ढंग का सुधारवादी रोमांस मिला करता है, वही है इन एकादश कहानियों में। शतरंज में माँ से मात खाने वाले शिवा जी के 'पराज्य में दुःख की मरघटीय नीरवता नहीं' वरन् हर्ष की हाट का कोलाहल था' और (अतएव) उनकी 'राजनीति सीमेंट के कठोर आज्ञा-प्रस्तर में परिणत' हो गई, 'महिला (शिवाजी की माँ) के मुख-पृष्ठ पर आयु एवं अनुभव की तूलिका से न जाने कितने सावन की झड़ियाँ और पतझड़ की घड़ियाँ रेखांकित हैं', 'पतंगे की जीवन-कारा के जेलर ने इन्सानियत के इजलास में सफाई पेश की', 'पेट में कुछ लिए हुए, पाप की कहानी नहीं, अपने शौहर की शायद आखिरी निशानी' (और तब जबकि शौहर जीवित है), अपनी जाँघ पर छुरा मारनेवाले विचित्र विचार-पति की यह सफाई कि मुँह का जायका बदलने के लिए ही उसने जहरीली शराब का यह डोज गले के नीचे उतारा है, 'श्मशान में सप्तर्षि-सा दहकता हुआ शगूफा', '३ नुमा शक्ल में ६ नुमा दुश्मन', लेखक को सपने में कवि प्रसाद का कहना कि 'ये (साहित्यिक) कीड़े समाज के गटर में वर्णसंकर अंडे अपने पीछे छोड़ जायेंगे'—आदि-आदि बहुत-सी सचित्र-विचित्र बातें इन कहानियों में।

—'लालधुआँ'



प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

विज्ञप्ति

जयपुर से राजस्थान के नेशनलाइजेशन बोर्ड आफ टेक्स्ट बुक्स के मंत्री ने निम्नांकित टेंडर-नोटिस जारी की है।

(१) छठी श्रेणी की पाठ्य-पुस्तकों के लिए मुहरबन्द टेन्डरों की माँग की जाती है कि हिंदी, संस्कृत, गणित, भूगोल, सामान्य विज्ञान, समाज विज्ञान, वाणिज्य, उर्दू विषयों पर, तीन रुपये शुल्क देकर बोर्ड के कार्यालय से प्राप्य निश्चित फार्म पर, छपी हुई पुस्तकें देने के लिए प्रकाशकगण टेंडर-आवेदन दाखिल करें। शुल्क क्रास पोस्टल आर्डर द्वारा सेक्रेटरी नेशनलाइजेशन बोर्ड आफ टेक्स्ट बुक्स, राजस्थान, जयपुर के पते पर भेजा जायगा।

(२) पुस्तक के प्रकार-आकार तथा टेंडर-शर्तों के संबंध में सारी सूचनाएँ उसी टेंडर-फार्म में दी हुई हैं।

(३) ६ मार्च १६५६ तक टेंडर-आवेदनों को उपर्युक्त कार्यालय में पहुँच जाना चाहिए।

(४) सभी टेंडर १० मार्च १६५६ के १२ बजे दिन उपर्युक्त दफ्तर में खुलेंगे।

(५) किसी भी अवस्था में कोई भी स्वीकृत टेंडरदाता अपने कार्य का पूरा या कोई हिस्सा किसी दूसरे के द्वारा नहीं करा सकेगा।

(६) टेंडरदाताओं को गत वर्ष के इनकम् टैक्स के क्लीयरेंस सर्टिफिकेट की सर्टिफाइड कापी, विगत तीन वर्षों में प्रदत्त इनकम्-टैक्स के स्टेटमेंट के साथ, देनी होगी।

समाचार

—नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी की ओर से भारत सरकार के गृहमंत्री श्री गोविन्द-वल्लभ पन्त की एक अपील, प्रेमचन्द-स्मारक के विषय में विज्ञापित की गई है। श्री पंत ने कहा है कि स्व० श्री प्रेमचन्द के काशी के समीपस्थ लमही ग्राम में सभा की ओर से उनका जो स्मारक बनने जा रहा है उसमें एक लाख पच्चीस हजार की लागत से स्मारक-भवन, प्रस्तर-प्रतिमा, पुस्तकालय-वाचनालय, संग्रहालय, अतिथि-भवन, मार्ग आदि का निर्माण होने जा रहा है और उसमें अपने प्रधान मंत्री की आर्थिक सहायता तथा राष्ट्रपति द्वारा शिलान्यास की स्वीकृति मिल चुकी है, तथा तदनुसार सभी समर्थ साहित्यप्रेमियों से अपील है कि अधिकाधिक दान देकर इस योजना को सिद्ध करें। भारत के उद्योग-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी अपील की है कि हमारे लिए यह गौरव की बात नहीं है कि उनका स्वर्गवास हुए २२ वर्ष बीत जाने पर भी हम उनके नाम पर कोई स्मारक नहीं बना सके। इस कर्तव्य के नाते सभा द्वारा निर्मित उक्त योजना में सभी साहित्य-प्रेमियों का दान आवश्यक है।

—रूसी सांस्कृतिक सचिव श्री कुदानोव ने कहा कि भारत एवं सोवियत संघ के सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराने हैं। दो शती पूर्व ही हमारे यहाँ महाभारत के अंशों, शकुन्तला नाटक तथा नल-दमयन्ती की कथा का अनुवाद हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' पिछले दस वर्षों में हमारे यहाँ सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ एवं लाखों की संख्या में बिका। हम चाहते हैं कि भारतीय साहित्य से हरएक सोवियत नागरिक पूर्ण परचित हो जाय। श्री जयशंकर 'प्रसाद' के साहित्य को अनूदित करने की हमारी योजना है। उनकी भाषा कुछ कठिन है अतः इसमें विलम्ब होगा। गत वर्ष मास्को में 'प्रसाद' जी की जयन्ती भी उत्साह-पूर्वक मनायी गयी थी। हमारे यहाँ, मास्को, ताशकंद, अश्काबाद, कीव आदि के प्रारम्भिक स्कूलों में हिन्दी-भाषा पढ़ायी जाने लगी है और इससे आठ-दस वर्ष के बच्चे हिन्दी के छोटे-मोटे वाक्य बोल लेते हैं।

—इलाहाबाद की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने प्रयाग विश्वविद्यालय के जे० के० इंस्टीट्यूट आफ एप्लाइड फिजिक्स के अध्यक्ष डाक्टर एम० एन० घोष को 'अन्तरिक्ष-यात्रा' पर सर्वश्रेष्ठ लेख के लिए एक हजार रुपये का 'डाक्टर सम्पूर्णानन्द पुरस्कार' प्रदान किया है। इस विषय पर कुल पाँच लेख भेजे गये थे।

—साहित्य अकादमी ने संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तकों का क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद करने की योजना बनायी है। इसके अलावा भारत करकार ने आधुनिक भारतीय भाषाओं (हिन्दी के अलावा) के विकास के लिए जो योजना बनाई है, उसके अन्तर्गत प्रसिद्ध पुस्तकों को क्षेत्रीय भाषाओं (हिन्दी के अलावा) में अनुवाद करने के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव है।

—लखनऊ में राज्य सरकार ने कठपुतली रूपक प्रतियोगिता आयोजित की है जिसमें तीन पुरस्कार प्रदान किये जाएँगे। ये पुरस्कार ३००), २००) और १००) के मूल्य के होंगे, जो क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाले विजेताओं को दिये जाएँगे।

इन रूपकों की भाषा सरल हिन्दी होनी चाहिये जिसे जनसाधारण आसानी से समझ सके। रूपकों को मनोरंजकात्मक तो होना ही चाहिये, साथ ही इनमें जन-जीवन की जागर्ति और देश में होनेवाले विकासकार्यों का भी परिचय मिलना चाहिये। यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि ये केवल प्रचारात्मक ही न हों। इन रूपकों का प्रदर्शनकाल एक घण्टे से लेकर डेढ़ घण्टे तक होना चाहिये।

इन रूपकों को सूचना-संचालक, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ के पास १० मार्च, १९५९ तक पहुँच जाना चाहिए।

—नयी दिल्ली, १२ फरवरी। रेलवे मंत्री श्री जगजीवनराम ने आज लोकसभा में प्रश्नोत्तर के समय बताया कि रेलवे ने विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों की एक समिति गठित करने का निर्णय किया है। यह समिति रेलवे को अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को १०० ऐसी मानक-स्तर की पुस्तकों की सूची देगी जिन्हें रेलवे बुकस्टालों में रखा जा सकेगा। ये पुस्तकें रेलवे सचल पुस्तकालयों में भी रखी जाएँगी।

—गतवर्ष सोवियत रूस में, युद्धोत्तर विगत बारह वर्षों की अपेक्षा, भारतीय इतिहास, आर्थिक स्थिति और संस्कृति पर सर्वाधिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। ये पुस्तकें सोवियत संघ के पुरातत्व और संस्कृति के विद्वानों द्वारा लिखित हैं। इस वर्ष सोवियत इतिहासज्ञों ने 'भारत का आधुनिक इतिहास' नामक पुस्तक तैयार की है, जो शीघ्र प्रकाशित होने जा रही है। इस पुस्तक में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्यायें बुनियादी तौर पर विवेचित की गई

हैं। १६१८ से १६५६ तक की वैज्ञानिक, साहित्यिक और कला-संबंधी क्षेत्रों में भारत के द्वारा की गई उन्नतियों तथा राष्ट्रीयता-आन्दोलन के स्तरों की भी इसमें विवेचना की गई है।

—पंजाब के शिक्षामंत्री श्री अमरनाथ विद्यालंकार ने मोगा में बताया कि पंजाब सरकार ने निर्णय लिया है कि १६६०-६१ से प्रान्तीयकृत सभी माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा जारी होगी। तृतीय पंचवर्षीय योजना के काल में यह व्यवस्था प्राइवेट स्कूलों में भी की जाएगी। आर्थिक दिक्कतों के बावजूद हम अपनी इस योजना पर यहाँ तक अग्रसर होना चाहते हैं कि मैट्रिक तक निःशुल्क शिक्षा हो।

—अन्तर्राष्ट्रीय ग्राम्यगीत-महोत्सव सिसली में हंगरी और पोलैंड की पार्टियों को एक साथ प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।

(पृष्ठ ३३ का शेषांश)

जैन-साहित्य के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। अजैन प्रकाशकों का भी जैन-साहित्य के योजनाबद्ध रूप में प्रकाशन की ओर ध्यान जाना चाहिए। साथ ही, विश्वविद्यालयों के महानिबन्धकारों की विषयाभिरुचि की आग्रहशीलता जैन-ग्रन्थकारों जैसे, मेरुतुंगाचार्य, हालकवि, हेमचन्द्रसूरि आदि, तथा तद्विध जैन-साहित्य के विभिन्न अंगों के प्रति अधुना अनिवार्यतः अपेक्षित है।

×



हमारा व्यवसाय और राजनीति

आज का हिंदी प्रकाशन-व्यवसाय, अन्य क्षेत्रों की तरह ही राजनीति से पीड़ित है। और चूँकि इसमें अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों की अपेक्षा बौद्धिकता अधिक है; इसलिए इसकी राजनीति में तीव्रता और पेंच की बारीकी भी उतनी ही है। फलस्वरूप यह व्यवसाय अपनी सारी पिछली गरिमा खो बैठा है। दुःख की बात तो यह है कि इसमें बौद्धिक तत्व के क्रमशः शुभागमन और व्यवसाय के क्रमिक विकास के साथ-साथ इसकी पवित्रता भी नष्ट होती जा रही है; यद्यपि बौद्धिकता अपने शुद्ध रूप में अनैतिकता का पर्यायवाची नहीं है। संभवतः इसमें पैठती पूँजीवादी मनोवृत्ति का यह स्वाभाविक परिणाम है। हिन्दी के प्रकाशन की पृष्ठभूमि में जो सेवा-भावना का तत्व पहले था, या राष्ट्रभाषा की श्रीवृद्धि करने की जो अपेक्षित भावना आज होनी चाहिए थी, वह भी कहीं दिखाई नहीं देती। यह मात्र व्यवसाय-ही-व्यवसाय रह गया है।

फलस्वरूप प्रतिष्ठित प्रकाशकों के घर से नए लेखकों की अच्छी-से-अच्छी कृतियाँ भी सप्रेम लौट आती हैं; क्योंकि उन लेखकों का कोई बना-बनाया मार्केट नहीं है और दूसरी ओर नामी-गिरामी लेखकों की घासलेटी पुस्तकें खुशामद कर ऊँचे दामों पर ली जाती हैं। फिल्मी-जगत का रोग यहाँ भी संक्रामक हो गया है। इससे जहाँ एक ओर बड़े लेखकों द्वारा कृति के प्रति ईमानदारी मारी जाती है, वहीं कई स्वस्थ कृतियाँ प्रकाश में नहीं आ पातीं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद से दूसरों के द्वारा अपदस्थ कराने की पृष्ठभूमि बनाने में ये दोनों चीजें योग दे रही हैं।

पूँजीवादी मनोवृत्ति से कलुषित बौद्धिकता का परिणाम इसके बाजार पर भी पड़ा है। प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता और एजेन्ट एक-दूसरे से हमेशा राजनीतिज्ञ की तरह चौकन्ने हैं, यद्यपि इनमें एक ही शरीर के अंग की तरह, गठन होनी चाहिए थी। प्रकाशक स्वयं पुस्तक-विक्रेता और एजेन्ट बन, सम्पूर्ण लाभ को उदरस्थ कर जाना चाहता है। यदि पुस्तक-विक्रेता कहीं से किसी प्रकाशक की पुस्तकों का आर्डर लेता है, तो वह उसे प्रकाशकीय कमीशन देने से भी इन्कार कर जाता है, यद्यपि छद्म रूप से उतना ही कमीशन या उसी अनुपात में नाजायज खर्च उस आर्डर पर प्राप्त करने में उसे हिचक नहीं होती। प्रकाशक की भी शिकायत है कि पुस्तक-विक्रेता खामखाह उसकी पुस्तकों पर अधिक कमीशन का वादा कर, उसका मार्केट बिगाड़ने का प्रयास करते हैं और फिर असमर्थता दिखलाने पर उनकी किताबें आर्डर से कटवा ऊँचे कमीशन की कमजोर किताबें दे आते हैं। एजेन्ट की शिकायत है कि प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता उन्हें उचित लाभांश और सम्मान नहीं देते, यद्यपि उनके माल का बाजार वे ही बनाते हैं और दूसरी ओर इनकी शिकायत है कि वे कोई प्रयास नहीं करते, सब मार ले जाते हैं। हमारे विचार में इन सब की शिकायतों में कुछ-न-कुछ सच का अंश अवश्य है। लेकिन इनका हल न तो एकांगी हठवादिता में है और न आपसी तू-तू-मैं-मैं में ही। इन सब के सम्मिलित सम्मेलन में एक-दूसरे के उचित लाभांश और सम्मान का ख्याल रख सद्भावनापूर्वक विचार-विमर्श से ही सबके लिए समुचित और सम्मानजनक हल की प्राप्ति हो सकती है। यह वर्त्तमान

दाँव-पेंच और खींचातानी सम्पूर्ण पुस्तक-व्यवसाय को ही खड्ड की ओर लिए जा रही है। भय है कि यह कुंभ-निकुंभ की कथा की पुनरुक्ति न हो जाय।

सबसे अधिक चिन्ताजनक बात तो यह है कि हमारी सरकार भी इस स्थिति में अपनी नैयायिक-बुद्धि का परिचय न दे, सदैव बन्दर-बाँट पाने में ही व्यग्रता दिखलाती है। जब यह दृष्टिकोण शासन के सूत्रधारों का हो तो उनके मंच के और खिलाड़ी स्वभावतः अपने अंश के लिए हर उपाय का सहारा लेंगे ही। आज केन्द्र से लेकर राज्य और जिला तक के शिक्षा-विभागों में जिस अनैतिकता के दर्शन हो रहे हैं, वह उक्त दृष्टिकोण और पुस्तक-जगत के बीच व्याप्त वर्त्तमान राजनीति का खुला परिणाम है! केन्द्रीय शिक्षा-विभाग की बहुत सारी योजनाएँ स्थानीय प्रकाशकों की राजनीति का शिकार बन, समुचित प्रकाश और प्रसार भी नहीं पातीं! सचिवालय की ईंट-ईंट से संबंध रखने वाले इन प्रकाशकों को इन योजनाओं का पता, पत्रों में आने के पहले होता है, जबकि सम्पूर्ण देश में बिखरे अन्य प्रकाशक, सूचना के अभाव में, उस योजना में योग देने और उससे लाभान्वित होने से वंचित रह जाते हैं। यह राजनीतिक-चरित्र वाली साँठ-गाँठ का ही परिणाम है कि हिन्दी-प्रकाशन संबंधी ऐसी सूचनाएँ और योजनाएँ दिल्ली के उर्दू-पत्रों में तो छपती हैं, पर प्रकाशन-संबंधी स्थानीय पत्रों में भी प्रकाशित नहीं होतीं। ऐसी योजनाएँ निश्चित-रूप से प्रकाशन-संबंधी पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजी जानी चाहिएँ। साथ ही, उन पत्रों को भी, अपने संचालकों के स्वार्थ को किनारे रख, व्यवसाय के नैतिक मूल्यों के नाम पर, समय पर उन योजनाओं और सूचनाओं को प्रकाशित करना चाहिए।

'पुस्तक-जगत' परिवार सामुदायिक-विकास मंत्रालय भारत सरकार के शिक्षा-परामर्शदाता और बिहार के भूतपूर्व लोक-शिक्षा-निदेशक श्रद्धेय किशोरी प्रसाद सिन्हा जी के निधन पर अपने को मर्माहत अनुभव करते हुए उनकी दिवंगत आत्मा की सद्गति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है और उनके दुखी परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करता है।



भूल स्वीकार

"लोहे के पंख" के पिछले विज्ञापन में प्रो॰ प्रकाशचन्द्र गुप्त की सम्मति भूल से यों छप गई थी "इतना सत्य और अनुभूतिपूर्ण उपन्यास मैंने हिन्दी में नहीं पढ़ा", उसे कृपया यों पढ़ा जाय, "एक बड़े औद्योगिक केन्द्र का ऐसा सजीव, मार्मिक और अनुभूतिपूर्ण वर्णन हिन्दी में मैंने नहीं पढ़ा।" हमें इस भूल के लिए खेद है।

—प्रकाशक

'पुस्तक-जगत' के नियम

* "पुस्तक-जगत" में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की १० तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार रायल अठपेजी है और २$\frac{1}{4}$" के दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,
पटना–४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

प्रैल, १९५९ : अंक—८ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

श्रेष्ठ उपन्यासों की कसौटी पर खरा

श्री आरिगपूडि का नवीन मौलिक उपन्यास

अपवाद

मूल्य—४॥)



हिन्दी जगत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार

श्री गुरुदत्त की तीन नवीन रचनाएँ

दिग्विजय : विवेक : अवतरण

प्रत्येक छह-छह रुपये में



हमारे प्रकाशन

श्री आरिगपूडि रचित

१ भूले भटके	३)
२ खरे खोटे	५)
३ आदरणीय	४)
४ अपवाद	४॥)

श्री बलराज मधोक रचित

५ हिंदू राष्ट्र (विवेचन)	१॥)

श्रीमती शान्ति सिंहल रचित

६ अलका (कविता संग्रह)	२॥)

श्री गुरुदत्त रचित

७ विकृत छाया	४॥)
८ भावुकता का मूल्य	६)
९ बहती रेता	५)
१० विश्वासघात	५॥)
११ विडम्बना	६)
१२ अन्तिम यात्रा	१)
१३ देश की हत्या	५॥)
१४ वाम मार्ग	७)
१५ विलोम गति	५)
१६ गुण्ठन	५)
१७ मानव	५)
१८ आवरण	५)
१९ कला	५)
२० दासता के नये रूप	६)
२१ पत्रलता	७)
२२ धरती और धन	६)
२३ मेरी पसन्द	२॥)
२४ छलना	६)
२५ एक और अनेक	६)
२६ दिग्विजय	६)



भारती साहित्य सदन

३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१

पुस्तकालयों तथा पुस्तक-विक्रेताओं को उचित कमीशन तथा सुविधाएँ

लेखन, प्रकाशन और....



श्री राधाकृष्ण

लेखक का कार्य अत्यन्त पवित्र कार्य है। इसके पीछे वाल्मीकि-व्यास-कालिदास की परम्परा है। तुलसीदास की तपस्या का वरदान भी आज के लेखक को मिलना चाहिए। परन्तु जिन महापुरुषों की परम्परा का आज लेखक नाम लेता है वह परम्परा उससे विच्छिन्न हो चुकी है। उस समय छापने के लिए मुद्रण-यंत्र नहीं थे, कागज की ऐसी सुविधा नहीं थी, प्रकाशन का व्यवसाय नहीं था। अगर ये सारी बातें होतीं तो कदाचित आदिपुरुष मनु ने जिस प्रकार मनुष्यों के लिए विधान बनाया है उसी प्रकार लेखकों और प्रकाशकों के बारे में भी अपनी मनुस्मृति में कुछ कह जाते।

आज के लेखक में वे पुरानी बातें नहीं। वह लोकरुचि और पुस्तकों की बिक्री की बातों से प्रेरणा लेता है। ज्यादा दिनों की बात नहीं। जब हिन्दी का प्रकाशन-व्यवसाय अपनी शैशवावस्था में था, उस समय अपने लेखक से प्रकाशक कहता था कि मित्र, तुम्हारे उपन्यास में विधवा बिचारी का असहनीय दुख है। अन्त में वह विधवा पाव-भर अफीम खाकर छटपटाती हुई प्राणत्याग करती है। सो ऐसा नहीं। आप ऐसा करें कि विधवा का पुनर्विवाह करा दें। तब ऐसी हालत में किताब शायद कुछ निकल जाय। बात यह है कि जो चाहते हैं कि विधवा का दुख बना रहे, वे उपन्यास पढ़ते नहीं; लेकिन जो आर्यसमाजी बन्धु विधवाओं के दुख से कातर होकर उनका पुनर्विवाह कराने को व्याकुल हैं, वे वेद पढ़ते हैं और साथ-ही-साथ उपन्यास भी पढ़ते हैं। इसलिए कदाचित किताब निकल जाय।

> "केवलाघो भवति केवलादी"—अर्थात्—जो अकेले ही खाता है, वह पाप खाता है।
>
> —वेद

तब लेखक ने उसे क्रान्तिकारी साहित्य का विशेषण दिया। समाज-कल्याण के नाम पर उसने वैसा ही लिखना शुरू किया। हालाँकि वस्तुस्थिति यह थी कि जिन लेखकों ने इस तरह का साहित्य लिखा, उनके यहाँ से भी एकादशीव्रत और सत्यनारायण की पूजा नहीं गई थी। इसलिए अगर कोई लेखक कहता है कि नाः, मुझे तो समाज की रुचि-अरुचि की परवाह नहीं; मैं केवल अपने मन की बातें लिखता हूँ, तो उसकी बात को उसी तरह स्वीकार कर लेने में सहसा हिचक होने लगती है। जो ऐसे लेखक हैं वे लोक-रुचि की परवाह नहीं करते, तो साथ-ही-साथ वे प्रकाशकों की भी परवाह नहीं करते। मैं उनकी बात नहीं करता। मैं उनकी बात करता हूँ जो लेखन-कार्य पर ही निर्भर रहना चाहते हैं।

लेखक सबकुछ करके हार जाता है, परन्तु देखता है कि उसके लिए कहीं कुछ नहीं। वह समाज के कल्याण के प्रति ईमानदार है, वह राष्ट्र की सेवा में भी किसी से कम नहीं, उसका चिन्तन आगे चलता है। प्रेमचन्द ने वर्षों पहले जिस वेश्याविहीन काशी की कल्पना "सेवा-सदन" में की थी, वह श्री जवाहरलाल नेहरू के इलाहाबाद में तब चरितार्थ हुई जब वे वहाँ की म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन बने। प्रेमचन्द ने सन् २२-२३ में किसानों की जिन भावनाओं का चित्रण किया वे आन्दोलन के रूप में सन् '३४ के बाद प्रकट हुईं। फिर भी प्रेमचन्द का जीवन अभावों से घिरा रहा, हालाँकि उनके समय के प्रकाशक पनप रहे थे।

सफल लेखक गरीब-का-गरीब ही रह जाता है। इसके विपरीत सफल प्रकाशक अभाव से बाहर निकल आता है। तब लेखक घबरा जाता है। अपने अभावों और असफलताओं की ओर नजर डालता हुआ वह जनता से पूछता है कि अगर हम भी प्रकाशन का कार्य आरम्भ करें, तब?

लेखक के सामने जो समस्याएँ हैं, वे अजीब हैं। संसार के अन्य देश के लेखकों के सामने वे समस्याएँ नहीं, जो हिन्दी के लेखकों के सामने हैं। वह देखता है कि हमारा राष्ट्र वेलफेयर-राष्ट्र हो गया; मगर फिर भी राष्ट्र मसीजीवी लेखकों के वेलफेयर के लिए किसी तरह की चिन्ता नहीं करता। वह देखता है कि साहित्य-सृजन का कार्य बुद्धि का कार्य है, जिसमें निरन्तर मतवैभिन्य को लेकर चलना पड़ता है। यहाँ 'ट्रेड-यूनियन' की तरह की संस्था लेखकों के बीच चल नहीं सकती। मजदूर-आन्दोलन की तरह का आन्दोलन किया नहीं जा सकता। जो नेता और त्राता हैं वे भाषा की समस्या से जितनी रुचि लेते हैं, उसका शतांश भी साहित्य-स्रष्टाओं से रुचि नहीं ले पाते। आज का लेखक देखता है कि किसी राजनीतिक वाद को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके उसके अनुकूल और अनुरूप साहित्य रच देने से कुछ ऊपर की ओर उछाल तो जरूर दिये जाते हैं, परन्तु प्रमुखता राजनीतिक नेताओं को ही मिलती है। लेखक उसी तरह दौड़ता रह जाता है जिस तरह फुटबाल के मैच में 'लाइन्समैन' दौड़ता रहता है, लेकिन उसे खेल का कोई श्रेय नहीं दिया जाता। जो ईमानदार लेखक हैं, किसी मतवाद का पिछलगुआ बन कर चलने की जिन्हें आदत नहीं, जो अपने पैरों पर खड़ा होकर केवल अपने मस्तिष्क से कुछ सोचना चाहता है और अपने चिन्तन को साहित्य का रूप देना चाहता है, वह बस यों ही-सा कलम घिसता रह जाता है। उसे न श्रेय मिलता है, न प्रेय मिलता है; जिन्दगी अकारथ चली जाती है। तब चारों ओर से हैरान होकर वह प्रकाशक की ओर नजर डालता है। वह देखता है कि हम प्रकाशक के साथ नत्थी हैं। हमारे बिना प्रकाशक का काम नहीं चल सकता। पैसा लगाकर वह प्रेस खोल सकता है, कागज की मिल खड़ी कर सकता है, व्यापार का संगठन कर सकता है; वह सबकुछ पैदा कर सकता है; लेकिन बिना लेखक के सहयोग के वह पाठ्य-सामग्री नहीं पैदा कर सकता। हमारे बिना प्रकाशक शून्य है। जब वह शून्य हमारी इकाई अपनी बगल में ले-लेता है तो दस हो जाता है। वह प्रकाशक सफल होता है तो उसके अभाव दूर हो जाते हैं और अपनी सारी सफलताओं के साथ लेखक जैसा-का-तैसा रह जाता है। आज का हिन्दी-लेखक देखता है कि उसकी

साहित्य की संस्था में कोई दम नहीं। वहाँ भाषा की बातें होती हैं। उधर प्रकाशकों की संस्था बनती है, उनका संगठन होता है। प्रकाशकों की उस संस्था में इस बात पर जोरदार बहसें होती हैं कि विक्रेताओं को कमीशन कम-से-कम कितना दिया जाय; लेकिन लेखकों के संबंध में कोई बात ही नहीं उठ पाती। मानो लेखक फालतू-सी कोई चीज है। आज का लेखक यह भी देखता है कि पहले प्रकाशक लेखक को अपनी मुट्ठी में रखता था, अब वह साहित्य की आलोचना को अपनी जेब में डालकर चलता है। जिस लेखक को चाहता है, पैसे और प्रोपेगैन्डा के बल पर ऊपर उछाल देता है, जिसे चाहता है उसे मसलता-रौंदता उसकी छाती पर से निकल जाता है। आज वह साहित्यस्रष्टा की उपेक्षा करता है और आलोचकों को साथ लेकर काम करता है। साहित्य का लेखक यह देखकर घबराता है और अपने आप से प्रश्न करता है कि अगर मैं भी प्रकाशन के काम में हाथ दूँ, तो कैसा रहेगा? कुछ लेखक इस दिशा में आगे भी बढ़ आते हैं। वे अपनी पुस्तकें प्रकाशित करते हैं और उन्हें बगल में दाबकर आगे की ओर बढ़ते हैं। प्रकाशक उनकी ओर मुस्कुराता हुआ नजर डालता है। कहता है: 'दोस्त, इस नये वेश में भी तुम अच्छे लगते हो। तुमने अच्छा किया जो अपनी किताबें खुद से छाप लीं। अब मेरा काम आधा हो गया। मगर तुम इन्हें बेचोगे कहाँ? बाजार से जान-पहचान तो हमारी है। अगर बाजार में अपनी चीजें रखनी हैं तो साठ परसेन्ट पर अपनी चीजें छोड़ जाओ। बिकेंगी तो दाम ले-लेना।' अब लेखक के सामने दुहरी मुसीबत है। वह पहले से भी अधिक घबरा जाता है। लेखक के लिए प्रकाशकों के कम कमीशनवाले पासशुदा प्रस्ताव का कोई मूल्य नहीं। इधर प्रकाशक यों खिंच गये, उधर आलोचकों को उन किताबों में कोई मतलब की बात नजर आती ही नहीं। समाज-राष्ट्र-यह-वह—सारी दुनिया उसके मस्तिष्क में चक्कर खाने लगती है। वह कहीं का नहीं रह पाता। इस तरह कितने लेखक मिट गये। आरसीप्रसाद, पहाड़ी, किसका-किसका नाम लें, किसकी-किसकी बात चलावें। अतएव, बात और भी अधिक गम्भीर हो जाती है। इस समस्या पर उखड़ी हुई नजर डालने से काम नहीं चलेगा। इस बात पर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

अगर लेखक स्वयं प्रकाशक होना चाहता है, तो यह कैसे हो सकता है कि उसे उन कामों को नहीं करना पड़ेगा जिन कामों में आज का प्रकाशक लिप्त रहता है? उसे भी बिक्री बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय काम में लाने पड़ेंगे, उसे भी साहित्य की आलोचना को उन्हीं प्रकाशकों की तरह अपनी मुट्ठी में करके अपने ही प्रोपेगैन्डा के लिए व्यवहार में लाना पड़ेगा। तब दूसरे साथी लेखक बिदकेंगे। प्रकाशक तो किसी लेखक को सस्ते-मँहगे खरीदकर उसे उछालता है। दूसरे लेखकों को यह देखकर लोभ होता है और वे उस प्रकाशक के निकट आना चाहते हैं। सोचते हैं कि क्या जानें, शायद मेरी किस्मत भी इसी तरह बन जाय। लेकिन लेखक जब प्रकाशक बनकर अपने को ही इस तरह उछालना शुरू करेगा, तो दूसरे सभी नये-पुराने लेखक यही समझेंगे कि यह केवल अपने को 'हीरो' बनाने के लिए नाटक किया जा रहा है। यहाँ अपनी दाल न गलेगी। फलतः वह पक्का प्रकाशक भी नहीं हो पावेगा और अपनी जाति से भी चला जायगा। जहाँ वह अच्छी-अच्छी सूक्तियों के लिए चिन्तन करता रहेगा वहाँ उसे मोटे-मोटे हिसाब जोड़ने होंगे। उसके पास पैसा बाकी है; कागज की कमी हो रही है; उस प्रेस को ऐडवान्स देना है। ये

विक्रेता आ गये हैं। अब इनसे बात कीजिए और साहित्य की लच्छेदार बातें छोड़कर कमीशन के आकर्षण की बातें कीजिए। फिर वह लेखक ही कहाँ रह पाएगा? वह अपने धर्म से च्युत हो जायगा। फिर ऐसा तो कहीं देखा नहीं गया है कि आदमी संन्यासी और गृहस्थ एक ही साथ हो जाय!

और अगर लेखक प्रकाशक बनकर बैठ ही जायगा, तो कौन-सा तीर मार लेगा? यह तो आधी रोटी में छीना-झपटी के समान हो जाती है। लोभ में पड़कर जाति भी गँवाई और लाभ भी नहीं हो, तो फायदा ही क्या? हम यह नहीं मानते कि सारे-के-सारे प्रकाशक शोषक ही हैं। सौ में पाँच तो कम-से-कम ऐसे अवश्य मिलेंगे जो ईमान की रोटी खाते हैं और ईमानदारी के साथ लेखक की रायल्टी दिया करते हैं। अब एक लेखक को रायल्टी में अपना ही हिस्सा मिल पाता है और प्रकाशक को अपने प्रकाशन की पचास पुस्तकों का मुनाफा निकल आता है। फल यह होता है कि प्रकाशक की हालत कुछ अच्छी दिखलाई पड़ती है और लेखक असन्तुष्ट नजर आता है। लेखक अपनी पुस्तक का प्रकाशन करके बहुत करेगा तो अपनी आमदनी को दूनी या चौगुनी या हद-से-हद दसगुनी कर लेगा। मगर इतने से ही लेखक का सवाल हल नहीं होता। इससे लगता है कि समस्या का समाधान लेखक के प्रकाशक बनने में नहीं है। समस्या का समाधान तो तब होता है जब लेखक लोकजीवन में अपनी जगह प्राप्त कर लेता है। वह सर्वत्र केवल आदर से देखा ही नहीं जाता, बल्कि आदर के साथ पढ़ा भी जाता है।

वह स्थिति हिन्दी-जगत में नहीं है। यहाँ लोग किताब खरीदकर पढ़ने की आदत ही नहीं रखते। फालतू खर्च का बजट हर परिवार में है; लेकिन किताब खरीदने की आदत नहीं है। हिन्दी का लेखक आज असहाय और निराश नजर आता है, तो उसकी समस्या यहीं पर है। प्रकाशक का दोष अगर है तो यही है कि वह इस समस्या को सुलझा नहीं पाता। मगर लेखक अगर स्वयं प्रकाशक हो जाय, तो क्या वह इस समस्या को सुलझा लेगा?

बात यहाँ भी बनती नजर नहीं आती।



मनोवैज्ञानिक साहित्य : एक झाँक



श्री द्वारका प्रसाद

अभी कई दिन हुए कि आकाशवाणी के राँची केन्द्र ने मुझसे एक नाटक देने का अनुरोध किया। मैंने उन्हें एक नाटक दे दिया। एक रोज उसके संबंध में प्रोग्राम-एक्जेक्यूटिव महोदय से चर्चा होने लगी, तो उन्होंने कई बार मनोवैज्ञानिक नाटक (साइकोलॉजिकल प्ले) शब्द का प्रयोग किया और कहा—"हम आपके नाटक को चेष्टा-नाटक (ऐक्सन प्ले) नहीं, मनोवैज्ञानिक नाटक के रूप में देखना चाहते हैं।"

तभी मुझे हिन्दी में मनोवैज्ञानिक कहानियों की बात याद आई। आप कोई भी पत्र-पत्रिका उठा लीजिए, कहानी-संग्रह ले लीजिए, कुछेक कहानियों पर "मनोवैज्ञानिक कहानी" की मुहर अवश्य पायेंगे। मैंने कितनी ही तथाकथित मनोवैज्ञानिक कहानियों को पढ़कर यह जानने की चेष्टा की है कि इनमें वह क्या विशेष है जिसने इन्हें अन्य कहानियों से अलग किया है, और जिसके बल पर इन्हें मनोवैज्ञानिक विशेषण प्राप्त हुआ है? अथवा, अन्य कहानियों में ऐसा क्या है, जिससे उन्हें मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता?

> "तुझे धिक्कार है, जब सब तेरी प्रशंसा करते हैं।"
>
> —ईसा

इस तरह की खोज का मेरे लिए हमेशा एक ही परिणाम रहा है—मुझे वह तत्व नहीं मिला जो अन्य आधुनिक कहानियों से उन्हें अलग करे। हाँ, एक बात अवश्य प्रायः देखने में आई, इन "मनोवैज्ञानिक कहानियों" में पात्रों अथवा उनकी चेष्टाओं में साधारण से कुछ विचित्रता जरूर डाली हुई थी। यानी पात्र चाहे जैसा भी हो, अगर वह साधारण (नॉर्मल) होता तो वैसा आचरण नहीं करता जैसा कहानी में बतलाया गया है। शायद इसी बात पर स्वयं लेखक अथवा सम्पादक खुश होकर उसे मनोवैज्ञानिक की श्रेणी में डाल देता है।

मैं यहाँ परी-कथा या पुराने जमाने की तिलस्मी कहानियों की बात नहीं कर रहा। मेरी चर्चा का विषय है आज का कथा-साहित्य, जो न तो पशु-पक्षी संबंधी है, न देवी-देवता और आदर्श पुरुष-स्त्री संबंधी, बल्कि है हमारे-आपके जीवन के यथार्थ चित्रण और विश्लेषण की सचेतन चेष्टा।

आज के अधिकतर उपन्यास-कहानियों में जीते-जागते वास्तविक चरित्रों और उनकी गतिविधियों का वर्णन होता है। वे काम करते हैं, सोचते हैं, बातें करते हैं, परिस्थितियों में पड़कर सुख-दुख का अनुभव करते हैं, घटनाओं के शिकार होते हैं और कितनी ही घटनाओं के स्वयं ही स्रष्टा होते हैं। उनके हर तरह के अनुभवों का वर्णन उपन्यास अथवा कहानी का रूप लेता है। वर्णन-शैली लेखक की अपनी चीज होती है, और वह प्रायः विभिन्नता लिये हुए होती है। हम यह पूछना चाहते हैं कि कोई भी इस तरह का उपन्यास अथवा कहानी मनोवैज्ञानिक नहीं है तो और है क्या?

पहले आप हमें यह बताइए कि मनोविज्ञान क्या है? मनोविज्ञान का अर्थ होगा, मन का विज्ञान—यह मन चाहे किसी भी प्राणी का हो।

आदमियों के मनोविज्ञान को अन्य पशुओं से अलग करने के लिए हमें उसे मानव-मनोविज्ञान कहना पड़ेगा। हम समझते हैं कि हर आदमी में मन होता है; क्योंकि खुद हमारे अन्दर, लगता है, मन है, जिससे हम सोचते हैं, अनुभव करते हैं, इच्छा करते हैं और अपने शरीर को चेष्टा करने की प्रेरणा अथवा आदेश देते हैं। औरों का मन देखा नहीं जा सकता, उसकी चेष्टा मात्र दीखती है। लेकिन, हम अपनी चेष्टाओं के पीछे काम करनेवाले मन की स्थिति जानते हैं, इसलिए मान लेते हैं कि औरों की चेष्टा के पीछे भी हमारी तरह का ही मन काम कर रहा होगा। जिसका सीधा अर्थ यह हुआ कि औरों के मन की गतिविधि को उसकी चेष्टाओं के माध्यम से ही जाना जा सकता है। अतएव मनोविज्ञान को आप चेष्टा-विज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं। इस तरह मानव-मनोविज्ञान वह विज्ञान हो जाता है जो मानवीय चेष्टाओं का अध्ययन करे। बोलना भी एक चेष्टा है, और विचार करना भी एक चेष्टा है अगर उसे अन्दर-ही-अन्दर, बगैर मुँह से आवाज निकाले, भाषा के माध्यम से किया जाय। और, अगर बोलते हुए आप विचार करें तब तो वह प्रत्यक्ष चेष्टा है ही।

अगर आप मेरी इस परिभाषा से सहमत हों (और अगर नहीं हों तो मुझे बताएँ—क्यों, और कोई अन्य परिभाषा दें) तो क्या आपको आज का हर उपन्यास और हर कहानी मनोवैज्ञानिक नहीं मालूम होती? आपके चरित्र चलते-फिरते हैं, बातें करते हैं, सोचते हैं, मानसिक घात-प्रतिघातों से प्रभावित होते हैं। फिर आप इन्हें मनोवैज्ञानिक नहीं कहेंगे, तो क्यों?

शायद आप कहें—साधारण मानसिक घात-प्रतिघातों के वर्णन को आप मनोवैज्ञानिक कहना पसन्द नहीं करते। आप तो उसे ही मनोवैज्ञानिक कहेंगे जिसमें मानवीय चेष्टाओं की कोई विलक्षणता हो, वैचित्र्य हो। तो अगर में आप से निवेदन करूँ कि वैसी स्थिति में आप ऐसी मानसिक असाधारणता वाले चरित्रों की कहानियों को असामान्य-मनोवैज्ञानिक (ऐब्नॉर्मल-साइकोलॉजिकल) कहानियाँ कहें, तो क्या आपको मेरी बात अनुचित लगनी चाहिए?

इस पर शायद आप यह कहना पसन्द करें कि साधारण से मनोवैज्ञानिक कहानियों का अन्तर मात्र अंश का (डिग्री का) होना चाहिए, अर्थात् जिन कहानियों में चरित्र या चरित्रों के मानसिक घात-प्रतिघातों के वर्णन की प्रधानता हो, उन्हें मनोवैज्ञानिक नाम देना चाहिए। तो फिर मैं पूछना चाहूँगा कि क्या आप बता सकते हैं, कितने प्रतिशत उपर्युक्त किस्म के वर्णन पर आपको किसी कहानी या उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहने का अधिकार होगा?

मैंने यह प्रश्न सिर्फ इसलिए उठाया है कि तथाकथित विद्वान प्रारंभ में कुछ तथ्यों का अवलोकन करते हैं, जिसके बाद कुछ तथ्य-समूह को कोई नाम देते हैं और शीघ्र ही उन्हें नाम याद रह जाता है, उस नाम का इतिहास भुला जाता है। फिर तो उस नाम के साथ कोई धारणा-मात्र संयोजित रह जाती है। तब उस धारणा के बूते पर किसी भी अन्य चीज को पहले तो उस नाम से संबोधित कर बैठते हैं और फिर उस नाम से संयोजित अपनी गलत-सही धारणा के तराजू पर उस चीज का मूल्यांकन करने लगते हैं। अगर आप आँखें खोलकर देखने की चेष्टा करें, तो प्रायः हर नाम, हर विशेषण का यही हाल पायेंगे। ऐसे ही नामों को लेकर विद्वन्-मंडली में जितने विवाद होते रहते हैं, उनकी सीमा नहीं। यही हाल तथाकथित मनोवैज्ञानिक साहित्य का भी है।

अगर आप ईमानदारी से कहें कि यह नाम, और ऐसे ही हजारों अन्य नामों की तरह ही, मात्र सुविधा के लिए और काम-चलाऊ है, तो

कोई बात नहीं। लेकिन क्या आप बात करते समय इस यथार्थ को हमेशा याद रखते हैं? और क्या इसका खतरा तो नहीं होगा कि आप पहले तो नाम दें, फिर नाम के यथार्थ को भूल, उससे संयोजित अपनी धारणा के बल पर किसी चीज का मूल्यांकन करने लग जायँ?



"जिस घर का मुखिया मूर्ख हो उस घर का समाज में कोई स्थान नहीं, जिस समाज का मुखिया मूर्ख हो उस समाज का नगर में कोई स्थान नहीं, और जिस नगर का मुखिया मूर्ख हो उस नगर में विद्वान का रहना पाप है।"

—महाभारत

'पुस्तक-जगत' के नाम

हिन्दी-हृदय विदेशी बन्धु का पत्र

जिनोआ
१६-१२-१६५८

प्रिय महोदय,

आपका पत्र एक मास पहले मुझे हस्तगत हुआ। मैं रुग्ण हुआ, इसलिए आपको उत्तर देना संभव न हुआ। जो आप लिखते हैं, सो बड़ा सुन्दर ही है। मैं भी आपके साथ सम्बन्ध रखना चाहता हूँ। जब मेरा स्वास्थ्य अच्छा ही होगा तो इटली के साहित्य के बारे में कुछ लिखूँगा और (यहाँ के) हिन्दी और उर्दू के प्रेमियों के विषय में ही बोलूँगा। इटली में हिन्दी अल्पज्ञात है। पूर्वी देशों की भाषाओं के सम्बन्ध में इस मुलक में केवल अरबी काफी प्रसिद्ध है। भारत तथा सुदूरपूर्व की भाषाएँ बहुत प्रसिद्ध नहीं। कुछ लोग हैं जो चीनी, जापानी और उर्दू का अध्ययन करते हैं और उनकी संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। यह खूब है, क्योंकि इस तरह पूर्वी देशों के साहित्य विदित हो जाएँगे।

इटली में कोई हिन्दी व्याकरण पा सकते नहीं। इसलिए हमीं को एक हिन्दुस्तानी व्याकरण प्रयुक्त (प्रस्तुत) करना चाहिए, जो अंगरेजी में प्रकाशित हुआ (हो)। इटली में ही एक उर्दू व्याकरण पाना सम्भव जो इटालियन में लिखित है। परन्तु इसकी अल्प-अल्प प्रतियाँ छपी हैं।

यदि आप पत्र लिखते रहेंगे तो यह बड़ी खुशी की बात होगी। जब आपकी पत्रिका प्राप्त होगी, मैं आपको शीघ्र पत्र भेजूँगा, जिस पर इटली के जीवन के सम्बन्ध में ही कुछ लिखूँगा।

आपका

एन्ज़ो तुर्ब्यानी

कोर्सो ब्यूनोस एयर्स १६-६, जिनोआ, इटली



चीनी लोकगीत : एक दृष्टि



श्री बलराम

किसी भी भाषा और देश के साहित्य के दो पहलू होते हैं। पहला नागरिक और दूसरा लोक। दोनों के व्यावहारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अन्तर को यदि नहीं समझा जाय तो अलग-अलग विचार करना असंभव है। मोटे तौर पर मैं नागरिक साहित्य से लोक-साहित्य को इन कारणों से अलग करता हूँ।

(१) उनमें प्रचारों के बजाय आचार ही मूलभूत तत्व होते हैं।

(२) उनका निर्माण कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, बल्कि सर्वसाधारण लोक-कंठ करता है।

(३) वे फरमायशी या कारोबारी नहीं, बल्कि स्वतः-स्फूर्त होते हैं।

(४) उनमें रूढ़िता और शास्त्रीयता के बजाय लयात्मक उत्कंठा ही प्रमुख होती है।

(५) वे व्यक्तिधर्मी नहीं, समाजधर्मी होते हैं।

(६) उनमें अपने शारीरिक श्रमों के ताल-छन्द ही प्रमुख होते हैं।

(७) उनमें कालनिर्णयविहीन ऐतिहासिकता होती है।

(८) उनमें प्रकृति से, उपयोगी नहीं बल्कि व्यावहारिक सौन्दर्य वाली, आत्मीयता होती है।

(९) उनके शब्द इंगित की तरह सदैव अपने वाचक की स्थिति की ओर अभिमुख रहते हैं। इसी से उनमें सीधी और सपाट स्वानुभूति रहती है।

(१०) अपने लघुतम में भी वे प्रबंध की महत्तम कथा को लिए रहते हैं और उसे स्पष्ट प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त निश्चयों के अनुसार विभिन्न देशों और भाषाओं के लोक-साहित्यों को परखने से उस देश के लोकसाहित्य की स्वाभाविक जनोन्मुखता और अस्वाभाविक जनविमुखता का बड़ा अच्छा अन्दाज मिलता है। यहाँ मैं राजनीति के प्रति यह सार्थक और समर्थ आक्षेप भी कर दूँ कि साहित्य की दृष्टि राजनीति की दृष्टि से कहीं अधिक स्थायी और निर्णायक होती है और इसलिए फरमायशी, आरोपित और उत्पादित चीजों को साहित्य अपने बीच से फौरन ही छाँट कर विस्मृति के किसी अँधेरे कोने में फेंक दिया करता है, क्योंकि वैसी चीजें ही उसके ख्याल से जनजीवन के साथ न चलनेवाली होती हैं। हजारों साल पुरानी पाण्डुलिपियों और प्रचलित सूक्ति-कथाओं के प्रति साहित्य केवल इसी शर्त पर अनुसन्धित्सु रहता है कि वे जन-विमुख नहीं होंगे।

इतने यथार्थ तथ्यों की रोशनी में अब जरा चीन के विशाल क्षेत्र के मौजूदा समय में सामने लाए गए लोकगीतों का समीक्षण किया जाय। यहाँ 'मौजूदा समय' और 'सामने लाए गए' इन दोनों शब्दों को जरा जोर देकर पढ़ने का आग्रह मैं इसलिए करूँगा कि उक्त देश में ऐतिह्य के बजाय 'मौजूदा समय' पर ही अधिक जोर दिया जाता है और स्वतःस्फूर्ति के बजाय 'सामने लाए गए' को ही अधिक उन्मुख किया जाता है। और, साहित्य की अन्तःसलिला सरस्वती के स्वतःप्रभव के मुख पर ये दोनों ही बुरी चट्टानें हैं।

चीन में, 'सर्वश्रेष्ठ नव-काव्य जिसका अब सृजन हो रहा है, उन लोगों की देन नहीं हो सकती जो ख्याली दुनिया में रहते हैं'—इस निष्कर्ष के साथ 'जिसका अब सृजन हो रहा है' उस सर्वश्रेष्ठ 'नव-काव्य' का यह सर्वश्रेष्ठ

लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है कि उनमें 'कम्युनिज्म के अधिक सुखद भविष्य की आकांक्षाएँ... क्रांतिकारी यथार्थवाद और क्रांतिकारी रोमांस का समन्वय होता है'। तदनुसार ही, एक आन्हवे लोकगीत में 'यथार्थवादी रोमांस' का रूप देखा जाय—

"वे सूरज की लौ से
अपना पाइप सुलगा रहे हैं।"

एक शेंसी लोकगीत में 'क्रांतिकारी यथार्थवाद' कहा गया है—

"मैं ही भगवान् हूँ।
मैं ही दैत्य-सम्राट हूँ।
पर्वतों और चट्टानों को—
रास्ते से हट जाने को कहो,
मैं आ रहा हूँ!"

और यह 'पर्वतों' को हटने के लिए कहने वाला 'मैं' कौन है, इसका उत्तर आन्हवे लोकगीत यों देता है—

"हमारे अध्यक्ष माओ,
पर्वत की ओर इशारा करते हैं!"

फिर, इस 'इशारे' से पर्वत की क्या हालत होती है, इसे सारा 'लोक-कम्यून' बैठकर यों गाता है—

"पर्वत धराशायी हो जाते हैं
(फिर)
पर्वत को हम जड़ से उठा लेते हैं
(फिर)
एक रात में गेहूँ के ३००० मऊ
खेतों में बुआई होती है
(फिर)
लोक-कम्यूनों की शक्ति अपार है!"

यह 'तायशान' (पर्वत) को हटाकर खेत, और खेत में तीन हजार मऊ गेहूँ की बुआई किस जादू के जोर से होती है, इसका उत्तर है कि 'जनता के बीच काम करने वाले पेशेवर लेखक उनके स्तर को ऊपर उठाने में मदद कर रहे हैं', और इन 'पेशेवर लेखकों' के द्वारा 'उनके स्तर' को ऊपर उठवाने के पीछे 'कम्युनिस्ट पार्टी की यह नीति बिलकुल सही है कि प्रथम और सर्वोपरि कार्य के रूप में साहित्य को जनता में लोकप्रिय बनाने पर जोर दिया जाय और फिर लोकप्रिय बनाने के इस कार्य को मजदूर का स्तर ऊपर उठाने के साथ जोड़ा जाय'। इस प्रकार देखा जाय कि सारी बात पेशेवर लोगों, माओ, पेशेवर लेखकों से होते-होते मजदूरों का स्तर ऊपर उठाने के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी तक किस सफाई के साथ पहुँच गई? अब प्रश्न है कि यह 'स्तर' क्या है जिसे कि उठाने की इतनी चिन्ता हो रही है? यह, 'एक रात में गेहूँ के तीन हजार मऊ

खेतों में बुआई' या दुईहोत में हुई 'पंद्रह लाख लोकगीतों की प्रदर्शनी', जिसमें कि मंगोल, हान, हुवे, मांचू, ताहुर, इवेन्की और ओलुनचुन आदि सभी जातियों का अंशदान था, दोनों है। क्योंकि दोनों आन्दोलन 'कम्युनिस्ट पार्टी और इसके अध्यक्ष माओ की सराहना करते हैं', इसलिए ये 'भौतिक सम्पदा के ही निर्माता नहीं, अपितु मानसिक सम्पदा के भी निर्माता कहे जाते हैं'। इस 'निर्माण' के लिए सारे चीन में ऐसी बेचैनी है कि जिस प्रकार हर व्यक्ति के लिए 'तीन हजार मऊ गेहूँ की बुआई' का नारा दिया गया, उसी प्रकार यह भी नारा दिया गया कि 'हर व्यक्ति लोकगीत लिखे'। और, इसका नतीजा यह हुआ कि 'लोग पद्यों में भाषण करते हैं या पद्यों में रिपोर्ट लिखते हैं'। ये आन्दोलन इस प्रकार बढ़ा-चढ़ा कर 'सामने लाए' गए हैं कि चीनी सरकार का समाचार है कि कियांग्सु जैसा उसका प्रान्त, 'सर्वश्रेष्ठ नव-काव्य' के नाम पर पाँच करोड़ लोक-गीत और तीस हजार नाटक, १९५८ वाले एक वर्ष में ही लगनेवाली 'कृषि की लंबी छलाँग' के साथ, लिख गया।

चीन, रूस के बहुत बाद 'कम्युनिज्म' के साँचे में ढला हुआ देश है, इसी से वह लोक-साहित्य के इस प्रकार के जबर्दस्त निर्माण में अभी गर्म है। रूस में भी इस प्रकार साहित्य-निर्माण की गर्मी ढलाई के शुरूआती दिनों में रही और अब तो स्वभावतः वह साँचे के साथ ठंडी भी हो रही है। एक जैसी साँचेदार ढलाइयों में एक-दूसरे के आगे-पीछे बने हुए रूसी और चीनी लोकगीतों की एक-दूसरे से तुलना अथवा विवेचन का प्रसंग दूसरा है। फिर भी, चीन पर रूस के मौजूदा प्रभु-प्रभाव को तो भुलाया नहीं जा सकता। तदनुसार यह भी हो सकता है कि 'पर्वत की ओर इशारा' करने वाले माओ, पहाड़ की ओर इशारा करने वाले स्टालिन की तरह स्वयं 'धराशायी' होने के साथ अपने-अपने देशों के फरमायशी लोकगीतों में नई 'व्यक्तिपूजा' का क्रम दे जायँ और इतने में ही 'नव-काव्य' का नाम सार्थक हुआ करे।

अपने पूर्वोक्त दसों निश्चयों के अनुसार चीनी लोकगीतों को देखने के पहले जरा राजनीतिक दृष्टि से भी लोकगीतों और नागरिक कविताओं के अन्तर को समझ लिया जाय। पुराने जमाने में दूसरे देशों की तरह चीन में भी नागरिक कविता राजाश्रयी या दरबारी ही थी। किंतु उन दरबारी दिनों में एक ऐसा भी लोकप्रिय साहित्य लोकाश्रय में पनपता रहा है जिसे कि हम सिद्धों और सन्तों की वाणी या लोकगीत कहा करते हैं, और इनमें जितना लोक-रंजन या लोक-संवेदन रहा है, उतना राजाश्रयी या नागरिक रचनाओं में नहीं। इस लोक-साहित्य की प्रवहमान विशाल वन्या के आगे नागर-साहित्य सिर्फ एक नहर ही कहा जा सकता है। किन्तु, राजदरबारों को समाप्त कर, उसकी साहित्य-शैली से तथाकथित तौर पर इतनी दूर तक प्रगतिशील हो जाने के बावजूद, चीन का मौजूदा नागरिक साहित्य, 'पेशेवर लेखकों' के चलते और 'राज्याश्रयी' होने के कारण, दरबारी तो है ही, बल्कि निर्माण के नाम पर की गई उपर्युक्त जबर्दस्त सीधी कार्रवाइयों के कारण 'लोकाश्रयी' लोक-साहित्य उससे कम दरबारी नहीं कहा जा सकता। यों तो नागरिक साहित्य का राज्याश्रय या दरबारीपन आज भी कमोवेश सभी देशों में है, किंतु लोकाश्रयी साहित्य को, सिवाय चीनी और रूसी सरकार के, शायद ही किसी और सरकार ने दरबारी बनाने की इतनी सख्त योजना जारी की हो।

अब मैं अपने पूर्वोक्त दसों निश्चयों के अनुसार मौजूदा चीनी लोकगीतों के विषय में यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि—

(१) उनमें आचार के बजाय प्रचार ही मूलभूत तत्व है।

(२) उनके निर्माता योजनाबद्ध शिक्षा पाए हुए व्यक्ति-विशेष हैं।

(३) वे विशुद्ध फरमायशी और कारोबारी होते हैं।

(४) वे कम्युनिस्टी रूढ़िवादिता और शास्त्रीयता के बुरे शिकार हैं।

(५) वे व्यक्ति-वर्ग-स्तोत्र भर ही हैं।

(६) वे अपने नहीं, बल्कि दूसरों के श्रमों के ताल-छन्द पर लिखे होने के कारण तालभ्रष्ट हैं।

(७) वे काल और योजनाओं की ऐतिहासिकता में बँधे हुए हैं।

(८) उनमें प्रकृति से व्यावहारिक नहीं, बल्कि नितान्त उपयोगी और असुन्दर संबंध होता है।

(९) उनके शब्द परमुखी हैं, अतः न तो उनमें सादगी है और न स्वानुभूति।

(१०) उनमें कथा-प्रबंध वाली बारीकी के बजाय बेमतलब दुहरावट और अनघड़ कथ्यों की भरमार होती है।

इस प्रकार, लोकगीतों के नाम पर लोकवाणी की यह दुर्दशा उस देश में हो रही है, जहाँ के लोकगीत और लोकशब्द पिछले दिनों में ही एशिया में सर्वाधिक संवेदक माने जाते रहे हैं।





उर्दू साहित्य कथा : कथाकार



श्री केवल धीर

उर्दू साहित्य में भी हिन्दी की तरह उत्कृष्ट साहित्यकार देखने को मिलते हैं। कहानी-क्षेत्र में तो एक बाढ़-सी आई है। इस लेख में हम उन कथाकारों पर प्रकाश डालने जा रहे हैं जिन्होंने उर्दू कहानी-साहित्य की प्रगति में न केवल योग दिया है, बल्कि इसके तख्ते-ताऊस में नगीना बन कर चमकने लगे हैं। हम उर्दू कथाकारों को तीन भिन्न कतारों में खड़ा कर सकते हैं। पहली कतार वह है जिसमें ऐसे कथाकार आते हैं, जो उर्दू साहित्य या भारत ही में नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान बना चुके हैं। जैसे ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्णचंद्र, राजेंद्र सिंह बेदी; बलवंत सिंह, आदि। दूसरी कतार उन कथाकारों की है जिन्होंने सचमुच ही बहुत परिश्रम से लिखा है और आज भी वैसे ही लिख कर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। इस्मत चुगताई, रजिया सज्जाद जहीर, ठाकुर पूंछी, सत्यपाल आनंद, पुष्कर नाथ बी० ए०, ज़फ़र पयामी, जगदीश विमल, रामलाल, अख्तर उरैनवी, नरेन्द्र धीर, सुहैल अज़ीमाबादी, जकी अनवर और शीन अख्तर आदि इस कतार में से कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। तीसरी कतार ऐसे कथाकारों की है, जो परिस्थितियों का सामना करते हुए, संघर्ष करते हुए, आगे तो बढ़ना चाहते हैं, किन्तु अभी वे इस क्षेत्र में स्थान नहीं पा सके।

पहली कतार के लेखक बेशक आज भी हमारे लिए उतने प्रिय हैं और उनकी रचनाएँ उतने ही चाव से पढ़ी जाती हैं, किन्तु उनकी लेखनी शिथिल-सी पड़ गई है। शायद उनके सामने अब लिखना एक व्यापार बन गया है, या फिर वे अपने नाम के चलते पिछले परिश्रम का सूद खा रहे हैं। पहली कतार में से सबसे पहले हम—

कृष्णचंद्र—को लेते हैं। कृष्णचंद्र विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान बना चुके हैं। उनके अनेक संग्रह तथा उपन्यास भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इधर कोई उनकी अच्छी चीज देखने में नहीं आई। हमारे सामने अभी-अभी उनकी प्रकाशित कुछ नई रचनायें हैं, जैसे 'चीनी पंखा' या 'अशोक की मौत' आदि। 'चीनी पंखा' कहानी में स्पष्ट लेक्चरबाजी है। इस बिना-सर-पाँव की कहानी में यदि उनकी भाषा और शैली का प्रभाव न हो तो शायद पाठक पढ़ने में भी रुचि नहीं ले। 'अशोक की मौत' उनकी ऐतिहासिक कहानी है। मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखने में वे सफल सिद्ध हुए हैं। इस कहानी में हम पुराने कृष्णचंद्र की झलक देख सकते हैं।

ख्वाजा अहमद अब्बास—उर्दू साहित्य के महारथी हैं। अब्बास के विषय में कृष्णचंद्र ने कहा था—"मैं जब अपनी, बेदी और मण्टो आदि की कहानियाँ पढ़ता हूँ तो लगता है कि हमलोग एक रथ में बैठे चले जा रहे हैं और अब्बास हवाई जहाज में यात्रा कर रहे हैं।" सचमुच ही अब्बास की लेखनी में जादू है जिससे कोई भी बहुत शीघ्र प्रभावित हो जाता है। प्रस्तुत समय के आप एक कुशल कथा-शिल्पी हैं। 'सब्ज मोटर कार' उनकी नई कहानी देखने में आई है। सिने-जगत में बराबर रहने का प्रभाव उनपर पड़ा अवश्य है, किंतु उनकी रचनाओं पर नहीं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—का नाम भी उर्दू कथाकारों की प्रथम पंक्ति में आता है किंतु इधर हमें उनसे निराशा ही मिलती है। इनके लिए यह कहना कि व्यापार ही उनका साहित्य बनकर रह गया है, अनुचित न होगा। "कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल" इनका नया कथा-संग्रह है जिसमें कोई भी ऐसी कहानी नहीं जिसे हम 'अश्क' की सफल रचना कह सकें।

बलवंत सिंह—अब भी वैसा ही लिख रहे हैं जैसा पहले लिखते थे। उर्दू और हिंदी दोनों क्षेत्रों में उनकी रचनाओं को बड़े चाव से पढ़ा जाता है। उनकी नई कहानी 'सीमा' कथा-साहित्य में चर्चा का विषय बनी हुई उनकी एक सफल कृति है।

इस्मत चुगताई—उर्दू कथा-साहित्य में नायिका मानी जाती हैं। जिस प्रकार मण्टो ने पुरुष-जीवन का अच्छी तरह से विश्लेषण किया है, उसी प्रकार इस्मत चुगताई ने नारी-जीवन का। यदि हम साहित्य के मानदण्ड पर इनकी रचनाओं को परखें, तो सब शून्य-सा ही दीख पड़ता है। इनकी 'ज़खम' तथा 'अंधेरे' नई कहानियाँ हैं।

राजेन्द्र सिंह बेदी—का नाम हर पाठक के मुँह पर है। उनके लिखने का अंदाज बराबर एक रहा है। उनकी हर कहानी साहित्यिकता के मानदण्ड पर जँची-तुली होती है। जीवन के दुख-सुख के स्पष्ट चित्र हम उनमें देख सकते हैं। इधर उनकी बहुत-सी नई कहानियों की चर्चा हो रही है। जिनमें से 'कज़न', 'घुटन' आदि मुख्य हैं।

सत्यपाल आनन्द—पंजाब प्रांत का लोकप्रिय कथाकार है। वह नई पीढ़ी के उन कथाकारों में से है जिसने उर्दू साहित्य की प्रगति में दिलोजान से योग दिया है। वह जो अपनी कहानियों में कहना चाहता है, बड़ी सरलता से कह जाता है। उसकी भाषा उसकी कहानियों का केन्द्र है और पाठक अनायास ही खिंच-सा जाता है। यह उसकी लेखनी का सबसे बड़ा गुण है। उसकी कहानियाँ जीवन के निकटतम होती हैं, यही कारण है कि उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी तथा पंजाबी में भी, वह अपना विशेष स्थान बना चुका है। 'जीने के लिये', 'बातों का सौदागर' तथा 'पेन्टर बावरी' उसकी अच्छी कहानियों में से हैं।

ठाकुर पूँछी—उर्दू कहानी साहित्य में मँजे हुये कथाकार के रूप में बहुत ख्याति प्राप्त कर चुका है। काश्मीर के सौंदर्य-चित्रण में उसकी लेखनी का विशेष महत्त्व है। वहाँ के दैनिक जीवन का इसने अपनी लेखनी द्वारा इस प्रकार विश्लेषण किया है कि मन गद्-गद् हो उठता है। 'गाशरी', 'यह बुझे बुझे सवेरे' उसकी बहुत ही अच्छी कहानियाँ हैं।

ज़फ़र पयामी—उभरते हुये कहानीकारों में से एक है। इधर उसकी बहुत-सी नई रचनायें देखने को मिली हैं। उनमें सौन्दर्य की प्यास, जिन्दगी का संघर्ष, समाज का उद्बोध इस प्रकार स्पष्ट है जैसे हम आईने में अपना चेहरा देख सकते हैं। अवश्य ही आनेवाले समय में वह एक सुलझे हुये कथाकार के रूप में प्रस्तुत होगा। 'देवता' तथा 'स्वयंवर' उसकी अभी-अभी प्रकाशित नई कहानियाँ हैं, जिनमें हम उसका भविष्य आँक सकते हैं।

कोसर चाँदपुरी—बहुत दिनों से लिख रहे हैं। एक हकीम होने के नाते वे जिन्दगी को बहुत समीप से देखते हैं, उसका अध्ययन करते हैं। उनकी कृतियाँ उर्दू साहित्य में एक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। 'अदारा बंदी' उनकी अच्छी कहानी देखने को मिली है।

जगदीश विमल—अपनी कहानियों में सदैव वास्तविकता की झलक प्रस्तुत करते हैं। उनकी नजरें भटकती जवानियों के गुनाहों का जायज़ा लेती हैं। लोग उनकी लेखनी को अश्लील मानते हैं, किन्तु उनके शब्दों में कटु व्यंग्य होता है। नारी के विभिन्न पहलुओं का चित्रण करने में जगदीश विमल उर्दू साहित्य के विशेषज्ञ माने गये हैं। 'आगे की बात' और 'गेलार्ड की एक शाम' कहानियाँ इस विषय में प्रमाण हैं।

ज़की अनवर—भी उभरते हुये कथाकारों में से हैं। बिहार के उर्दू साहित्य की नई पीढ़ी में उनका नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उन्होंने काफी ख्याति अर्जित की है, पर उनकी लेखनी अब वही पिटे-पिटाये जावियों के गिर्द घूमती है। उनकी 'जंजीर' 'गुले आतशीं' आदि अच्छी कहानियाँ हैं।

राम लाल—ने नगर-जीवन पर बहुत स्पष्टवादी होकर लिखा है। उनकी कहानियों में नगर के घिनौने वातावरण पर तीखा व्यंग्य होता है। "ये औरतें" और "भटका हुआ मुसाफ़िर" कहानियों में उनका लेखक मुखर है।

पुष्कर नाथ बी०ए०—काश्मीर के सुलझे हुये कथाकार हैं। उनकी कहानियों को पढ़कर जहाँ हम प्रकृति की खूबसूरती में खो-से जाते हैं वहीं हमें उस धरती पर पलते, पनपते गुनाहों का परिचय भी मिलता है। उनकी भाषा पाठक को रुला-सा देती है, यही उनमें सबसे बड़ा गुण है। उनकी कहानियों में फूलों की ताजा गंध भी होती है और गले-सड़े माहौल में जन्मते गुनाहों का आभास भी। उनकी अच्छी कहानी 'भोंचाल' इधर देखने को मिली है।

शीन अख़्तर—बहुत दिनों से लिख रहे हैं। उनकी कहानियाँ हमारी ही सीधी-सी बातों को भाषा का रूप देकर लिखी गई होती हैं। किन्तु इन साधारण-सी बातों में भी जीती-जागती घटनायें होती हैं। हम इन्हें इसीलिये पसंद करते हैं। 'राहत' कहानी उनकी पहली कहानियों में से अधिक सफल रचना है।

रज़िया सज्जाद जहीर—अपने ही ढंग की कहानीकार हैं। इनकी कहानियाँ पढ़कर हम सब ऊबते नहीं। हिन्दी साहित्य में इनकी कहानियों की अधिक चर्चा होती है। उर्दू साहित्य में इनको वह स्थान प्राप्त नहीं है, शायद इसलिये कि पाठक बार-बार एक ही चीज़ को पढ़ना पसंद नहीं करते, चाहे वह जिस ढंग से भी लिखी हो। "रौशनी और अंधेरा" तथा 'फ़ितरत' आदि इनकी घिसी-पिटी कहानियाँ हैं।

सुहैल अज़ीमाबादी—बिहार प्रान्त के जाने-पहचाने साहित्यकार हैं। किन्तु इधर इन्होंने लिखना शायद त्याग-सा दिया है। राजनीति में ये अधिक भाग लेने लगे हैं। बहुत समय के बाद उनकी एक रचना

"एक कहानी" देखने को मिली है, जो अवश्य ही इनके महान् कथाकार होने की द्योतक है।

नरेन्द्र धीर—उर्दू और हिन्दी के परिचित कथाकार हैं। आपने पंजाब के गाँव-जीवन पर बहुत-कुछ लिखा है। गत वर्ष उनकी किताब "मैं धरती पंजाब की" पर पंजाब सरकार द्वारा पुरस्कार भी दिया गया था। ये जिन्दगी को जीने का एक उत्तम मसाला मानते हैं और जो कुछ भी लिखते हैं, इसी भावभूमि पर। इसीलिये पाठक इनकी रचनाओं की सराहना करते हैं।

इनके अतिरिक्त दूसरी कतार में अंजुम जमाली, अख्तर आदल रूप, विशेश्वर प्रदीप, प्रो० हामदी काशमीरी आदि कहानीकार भी आते हैं जो बहुत परिश्रम से लिख रहे हैं। तीसरी कतार के कहानीकारों की चर्चा वांछनीय नहीं। आने वाले समय में अवश्य ही वे आगे आयेंगे।



किन जानवरों का काटना सबसे खतरनाक होता है? जंगलियों में निन्दक का और पालतुओं में चापलूस का।

—डायोनीज

हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार

श्री शंभूदयाल सक्सेना का साहित्य

[समस्त पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य]

उपन्यास और कहानी

सजला	३·००
भाभी	२·००
सलाइयाँ	२·५०
दिगन्त रेखा	१·२५
प्रीति की रीति	२·७५
मगरमच्छ	६·००
बहूरानी	४·००
चित्रपट	४·००

नाटक तथा एकांकी

मेघदूत	२·५०
बापू ने कहा था	३·००
नए एकांकी	३·००
विजया और वारुणी	३·००
चीवरधारिणी	१·२५
नन्दरानी	१·२५
सगाई	१·००
साधनापथ	२·५०
पंचवटी	१·५०
वल्कल	१·५०
गंगाजली	०·८७
विद्यापीठ	०·६२
पर्णकुटी	०·७५

काव्य

रैनबसेरा	१·२५
मन्वन्तर	१·५०
नीहारिका	१·७५
अमरलता	०·७५
भिखारिन	०·३७
उत्सर्ग	०·३१

बाल-साहित्य

भगवान बुद्ध	०·३७
चन्द्रलोरी	०·३७
मधुलोरी	०·५०
राखी	०·३७
हवाई किला	०·५०
फूलों की जन्म-कथा	०·३७
फूलों के गीत	०·६२
फूलों की सुनहरी कहानियाँ	०·३१
पालना	०·६२
दुपहरिया के फूल—दो भाग	०·५०
देवताओं की कहानियाँ	०·३७
ऋषियों की कहानियाँ	०·३७
सद्गुणों की कहानियाँ	०·३७
सतयुग की कहानियाँ	०·३७
फूलों की कहानियाँ	०·५०
बाप-बेटे की कहानी	०·५०
ज्ञान की कहानियाँ	०·५०
सदुपदेश की कहानियाँ	०·३७
सदाचार की कहानियाँ	०·४४
रेशमझूला	०·३७
ओ री निंदिया आ री आ	०·३७
दो नगरों की कहानी	२·५०
टाम काका की कुटिया	१·००
जलपरियों के साथ	०·७५
राजकुमारियों की कहानियाँ	१·००

विविध

गाँवों को सुधारो	१·००
आदर्श पत्र-लेखन	१·५०
नया बैल	१·००
नया खेत	१·००
नया गाँव	१·००
नया हल	१·००

नवयुग ग्रंथ कुटीर, प्रकाशक, बीकानेर (राजस्थान)



पुस्तकालय: नए दायित्व



श्री दाशरथी

कुछ पुस्तकों को इकट्ठा कर अपने सदस्यों को पढ़ने के लिए देना और लेना, यह जरूर पहली चीज है पुस्तकालयों के लिए। किन्तु यही अन्तिम लक्ष्य भी है, ऐसा मानकर व्यवहार नहीं होना चाहिए। उसका अंतिम लक्ष्य तो है, पुस्तक-पठन के प्रति लोगों को अधिकाधिक तैयार करना और उनकी रुचि को उत्तरोत्तर परिष्कृत करना। इस लक्ष्य को सामने रखने पर, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तौर पर सोचते हुए, कुछ बड़े पुस्तकालयों के सिवाय देश के अधिकतर ग्राम-ग्राम में फैले हुए पुस्तकालयों के कुछ और भी दायित्व हैं। इन दायित्वों के प्रति सरकार की ओर से अथवा स्वयं पुस्तकालयों की ओर से कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। मसलन—

(१) पुस्तकालयों को चाहिए कि वे अपने यहाँ के पाठकों के, समाचारी, ज्ञानी, खोजी, साहित्यी और उद्योगी आदि प्रकार तय कर, तदनुसार ही प्रत्येक प्रकार पर मासिक पुस्तक-वितरण-संख्या के विवरण रखें, ताकि उनके द्वारा पुस्तकों की विषयशः माँग का देश भर में अन्दाज लगाया जा सके।

(२) उन्हें चाहिए कि वे अपने ग्राम और क्षेत्र में, स्त्री-पुरुषों में प्रचलित मुहावरे, चुटकुले, लोकोक्ति या लोककथाएं तथा समस्त लोकगीतों को यथाशीघ्र ज्यों-का-त्यों लिखकर जिल्दबद्ध कर लें। इनमें खानदानी कहानियाँ, खेल में बच्चों की बोलियाँ भी अवश्य शुमार की जानी चाहिएँ। हर अंकित प्राप्ति के नीचे, जहाँ तक हो सके, उसके वाचक का नाम और पता भी होना चाहिए। इस काम को यथाशीघ्र इसलिए करना चाहिए कि हमारे बड़ों की पीढ़ी, जो कुछ बची हुई है और जिसके पास बहुत-से ऐसे सामान हैं, जल्द ही उठ सकती है। जब यह काम एक बार पूरा हो जाय तो फिर प्रत्येक दस वर्ष में एक ऐसी ही पड़ताल कर लेनी चाहिए और फिर जो नई बातें मिलें उन्हें अगली जिल्द में लेना चाहिए।

(३) ऐसे ही, उन्हें चाहिए कि अपने क्षेत्र के देवी-देवता संबंधी कहानियाँ इकट्ठी करें और उनके साथ जो मन्दिर तथा तत्सम्बन्धी इमारतें और लिखित पत्थर आदि मिलें उनके फोटो लेकर रखें तथा उन इमारतों-पत्थरों की सुरक्षा पर ध्यान रखें और अपने प्रान्त के शिक्षा-विभागों तथा विश्वविद्यालयों को तत्काल उसकी सूचना दें। किसी खुदाई में पुराने लगनेवाले बर्तन या सिक्के मिलें तो उन्हें अवश्य सुरक्षित रखें तथा उनका भी विवरण उपर्युक्त स्थानों पर दें।

(४) वे अपने ग्राम और क्षेत्र में यदि कहीं कुछ पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हों तो उन्हें अवश्य संरक्षित कर उपर्युक्त विभागों को सूचना दें।

(५) गाँव या क्षेत्र में चटाई, बाँस या खर की कोई विशेष कलाकृति, मिट्टी के कोई विशेष बर्त्तन या पुतली आदि, भित्ति-चित्र वगैरह की कोई सुन्दर रचना हो; तो उसे अवश्य संरक्षित करें, उनके फोटो लें तथा उनके कलाकारों के नाम और पते लेकर उपर्युक्त विभागों और ग्रामोद्योग विभागों को सूचित करें। वैसे कलाकारों की जीविका और जीवनी सम्बन्धी सारी सूचना अपने यहाँ एक रजिस्टर में अवश्य लिख रखें और साथ में उनके फोटो भी नत्थी रखें।

(६) इन सब चीजों को प्राप्त करने, तत्सम्बन्धी जानकारी हासिल करने और कलाकारों को उत्साहित रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ग्राम-गोष्ठी (चौपाल) तथा ग्राम-प्रदर्शनी का आयोजन वे कराते रहें। प्रदर्शनी और चौपाल में सम्मिलित कलावन्तों और उनकी कृतियों का लिखित विवरण रखना आवश्यक है।

(७) ग्राम में प्रचलित विशेष वाद्यों का विवरण तथा प्रचलित गीतों के ताल तथा स्वरों की लिपियों का संग्रह भी अत्यावश्यक है।

(८) घर बनाने के तरीके तथा खेती और उपज के सम्बन्ध में यदि किसी ने कोई तरक्की की हो तो उसका भी लिखित विवरण पुस्तकालयों को एक अलग रजिस्टर पर रखना चाहिए।

(९) ग्राम के इर्द-गिर्द के सुन्दर दृश्यों तथा विशेष मेलों और जलसों के विवरण और फोटो एक अलग रजिस्टर में रहने चाहिएँ।

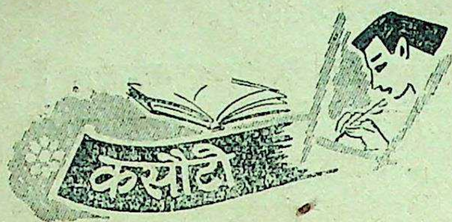
(१०) पुस्तकालयों के सालाना जलसे पर मंत्री को इन उपर्युक्त तमाम कार्यों पर एक संक्षिप्त लिखित विवरण प्रस्तुत करते रहना चाहिए तथा उन विवरणों को एक अलग जिल्द में सुरक्षित रखना चाहिए।

इधर ग्राम-ग्राम में पुस्तकालयों को फैला अवश्य दिया गया है। प्रान्तीय स्तर पर उनका संगठन भी अवश्य बना है और उसकी पत्रिका भी जारी की गई है। किन्तु उस पत्रिका में उपर्युक्त प्रकार की कोई रचनात्मक बात न होने से ऐसा लगता है कि वे सब-के-सब नवीनता के नाम पर बड़ी ही काहिली से ग्रस्त हैं। यदि अपने क्षेत्रों की इन तमाम सांस्कृतिक सूचनाओं और कलाकृतियों को इकट्ठी कर हमारे ग्रामों के पुस्तकालय देश के समक्ष रखने में सावधान नहीं रहेंगे, तो शहरी सरकारी तथा गैर-सरकारी विद्वान देशी संस्कृति, साहित्य और कला के बजाय विदेशी चीजों को ही श्रेष्ठ ठहराते रहेंगे। और तब, देश की संस्कृति मर जायगी, देश मर जायगा।



इतने प्रयत्नों के बावजूद आजतक अंगरेजी हिन्दुस्तान की जनभाषा नहीं बन सकी। जबतक शिक्षा की इस बुनियादी गल्ती को दूर नहीं किया जायगा, अर्थात् शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को नहीं बनाया जायगा, तबतक समाज एकरस नहीं होगा।

—आचार्य विनोबा भावे



(१) शाइरी के नए मोड़
(२) शाइरी के नए दौर

लेखक—अ० प्र० गोयलीय
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—तीन रुपये, प्रत्येक

(१) प्रस्तुत की 'आधुनिक शाइरी' शीर्षक भूमिका में उर्दू-कविता के मर्मज्ञ लेखक ने 'कतअ' और 'रुबाई' की कुल बारीकियाँ बताईं, पर संकलन में प्रस्तुत कवियों से उक्त भूमिका का क्या संबंध है यह भी बता देते तो अच्छा होता। 'गुटबन्दी से दूर' रहनेवाले 'अर्श' की जो चीजें पेश की गई हैं, उनसे वे 'बुलहविस की बात' न करनेवाले आर्यसमाजी उपदेशक ही लगते हैं। गोपाल मित्तल की चीजें, 'अर्श' के धर्मोपदेश के मुकाबले राष्ट्रीय लगने के बावजूद इतनी संकुचित भावनाओं की हैं कि 'लाल किले' से 'जोश' को 'शराबे-नाब कैसी शीरे-मादर है हराम उस पर' जैसी गाली और 'ऐ रियाकार ! रूस के रामराज के हामी' जैसी मोटी बात ही कह सकती हैं। हाँ, जगन्नाथ 'आजाद' और 'रईस' अमरोहवी—हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रंग और व्यंग्य के ये दोनों कवि—उपर्युक्त दोनों से अधिक उन्नत हैं; क्योंकि उनकी सम्वेदना के आगे भारत और पाकिस्तान जैसी सीमाएँ बहुत तुच्छ हैं। 'आह्वदे-रमीदा को खतन में ले जा; बिछड़े हुए बुलबुल को चमन में ले जा'—आजाद की इस विराट संवेदना में जो मार्मिक रंग है, वही तो रईस की—'कि कौम शिकवा हुकूमत जवाबे-शिकवा है' या 'दामन गीला आँखें गीलीं; ऐ सखि साजन ? ना सखि लीगी'—जैसी पंक्तियों में व्यंग्य बनकर फूटा है। लेखक ने 'शिकवा' और 'जवाबे-शिकवा' के ऐतिहासिक व्यंग्यार्थ को अपने फुटनोट में न खोल कर पाठकों को खूबसूरती समझने का सूत्र नहीं दिया है। शास्त्रसिद्ध कवि अख्तर के ये निराशावादी स्वर कि 'मेरे इरादे बुलंद थे यानी, कभी मैं अपने इरादों में कामयाब न था' और लोकलयात्मक कवि 'नदीम' के ये स्वर कि 'छलक-छलक के गरेबाँ तक आ गया पानी' 'कि बारे जुल्फ से थक जायँगे तेरे शाने' आदि उर्दू साहित्य के उन्नत आदर्श हैं।

(२) शाइरी को तीन कलात्मक दौरों में विभाजित कर पहले दौर की चर्चा में यह साम्प्रदायिक बात कहने की कोई आवश्यकता न थी कि "क्यों नहीं अपने देश की लजवन्ती सत-वन्ती कुलललनाओं के चरणों की ओर निहारते' और 'बेवफा लैली और शीरीं के जिक्रों से बहन-बेटियों को राहे-वफा से भटकाने का प्रयास कब तक करते रहोगे ?" क्योंकि उर्दू शाइरी की राहे-वफा हिन्दी कविता की राहे-वफा से एक अलग और उल्टी चीज है, इस बात को 'शेरो-शाइरी' की भूमिका में गोयलीय जी पहले कह चुके हैं। इसके अलावा, जिस सम्प्रदाय की जो राहे-वफा होती है, उसके काव्य-सौष्ठव को उसी के अनुसार समझना ही साहित्यिक और असाम्प्रदायिक दृष्टि है, न कि एक राहे-वफा को दूसरे से नीचा-ऊँचा सिद्ध करना। कुल उर्दू-शाइरी को समझने के लिए, अपनी राहे-वफा से भटकी हुई किसी कवि की एक-आध पंक्ति या 'नजीर' जैसे एक-आध को नजीर बनाने से कोई सिद्धान्त नहीं बनता।

सन् १९१४ से अबतक के काल को मौजूदा दौर बताते हुए, इस दौर के हफीज, अख्तर, अम्न, मुनव्वर, फिराक और मुल्ला—इन छह कवियों की जीवनी और संकलन प्रस्तुत पुस्तक में है। 'मुल्ला' को दुख है कि इकबाल की 'जबाँ हक-गो न रही'। पर उनके

पद्यों से यह पता नहीं चलता कि हिन्दू जाति के उर्दू शाइर होने के नाते ही वे 'तफरीक' के खिलाफ हैं या साहित्य के नाते। हाँ, 'फिराक' के यहाँ 'तफरीक' का कोई प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि वे साहित्य के नाते ही सबके हैं और आरोप था उपदेश के बजाय 'शाइरी में लहजे को सबसे जरूरी चीज' समझते हैं। इसी से 'बे-कही वफाओं की गवाहियाँ' उनके पक्ष में हैं। 'पुस्तक का उद्घाटन अज्ञात शहीदों की स्मृति से' करनेवाले 'अम्न' भी 'तफरीक' के खिलाफ हैं, मगर मानवता के प्रति आस्था के साथ; हिन्दू होकर उर्दू कवि होने के नाते नहीं। 'मुनव्वर' भी हिन्दू जाति के उर्दू कवि हैं, मगर इन्होंने उर्दू को गीता, कुमारसंभव आदि ग्रंथों का अनुवाद देकर भाषा और जाति के आपसी भेद जैसे कलंक को उर्दू साहित्य से धो दिया है। 'बेलौस मुहब्बत की नजर' ढूँढने वाले उर्दू गद्य-पद्य के समाभ्यस्त साधक पं० हरीचन्दर 'अख्तर' अपनी सृष्टि और दृष्टि के नाते बहुत बड़े हैं। मौजूदा दौर में 'जिगर' के बाद 'हफीज' ही उर्दू शाइरी के सौन्दर्य हैं। इन कविवृन्दों की शैलियों, दृष्टिकोणों और वृत्तान्तों को हम इस पुस्तक में अच्छी तरह पा सकते हैं।

छपाई-सफाई, सम्पादन और प्रतिपादन के नाते ये दोनों पुस्तकें अच्छी हैं।

अरबी न फारसी (व्यंग्य कविताएँ)

कवि—मोहन लाल गुप्त 'भैयाजी बनारसी'
प्रकाशक—मधु प्रकाशन, वाराणसी-१
मूल्य—ढाई रुपये

'भैयाजी' से हिन्दी के पाठक परिचित हैं ही। तदनुकूल ही प्रस्तुत पुस्तक में उनकी रुबाइयों और विभिन्न मुक्तकों का संग्रह है। हिन्दी में व्यंग्य की कमी है और व्यंग्य साहित्य की बहुत कड़ी शर्त है, इस नाते इस पुस्तक का खरीदकर पढ़ना पाठकों का धर्म होता है।

व्यंग्यकार को समाज में सर्वाधिक सचेत और खुली आँखों का होना पड़ता है। विषयों की वीप्सा या पुनरुक्ति, और किसी मामले को हल्काती भर ही है, पर व्यंग्य का तो बेड़ा ही गर्क कर देती है। कालेजी लड़कियाँ, महिला, श्रीमती जी, लीडर आदि इतनी पुरानी चीजें हैं कि उनपर अब और व्यंग्य करना तितास पैदा करता है। ऐसे ही, अपील का आलंबन बिना बनाए ही सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट और एम-पी को मुँह चिढ़ाना बहुत ही बासी बात है। 'भैयाजी' जैसे समर्थों को इससे बचना चाहिएं और इस नए-नए गुल खिलाने वाले समाज को जरा तटस्थ होकर और देखना चाहिए।

'सिगरेट की कश में कभी-कभी दहक जाता हूँ' जैसी रुबाइयाँ अच्छी हैं और 'गगन गली में डोलै करिया साँड़', 'पुरस्कार घन बरसै मूसलधार, अस्वीकृत कवि रोवैं पुक्काफार', 'चाँदी कै रुपिया अस चमकै धूप' आदि व्यंग्य-बरबै बहुत अच्छे।

हिचकियाँ (कहानी-संग्रह)

लेखक—जगदीश शर्मा
प्रकाशक—एलोरा पब्लिशिंग हाउस, मथुरा
मूल्य—दो रुपये

'दाँत भीतर से चमक उठे··अनायास ही बरबस आँखें जमा दीं', 'जर्जर और कृषित अंगों से यौवन को पीकर', 'पत्नि और ग्रह दोनों का परिचय विस्तृत है', 'वह पत्नि को ज्यो-ज्यों खुशी बनाने की योजनाएँ बनाता था ज्यों-२', 'उसकी कोकिला उसकी इच्छानुसार खुशी बन जाती', 'अपने सुख देने अशक्ति के बदले ओमी को सुख मिलने की शक्ति उत्तरोत्तर खिलती जाती थी', 'स्त्री जाति विशुद्ध है और जहाँ भरण-पोषण के साधनों का सम्पूर्ण अभाव

रहता है स्त्री अशुद्ध बन जाती है', 'उसमें काम रहता है और इस कारण और नौकरानियों के बदचलन का उसे अवश्य ज्ञान था', 'मुजलिम को अजीब रूप छटा सौंदर्य वाली नवयुवती उससे उच्च श्रेणी की उससे प्यार करती है', 'उसने जगदीश के हाथ को दृढ़ता से पकड़ लिया—मानो बुखार का तापमान देखती हो—इससे जगदीश को बड़ा रोमांस हुआ', 'उसके संस्करणों ने चेतावनी दी', 'कितने ही समय तक संस्करणों की जीत रही पति में ही सारे रूप गुणों का निधान पति को मानकर', 'ज्वालामुखी की ज्वाला से तो भोग देने पर ही छुटकारा था यदि उसे सन्तुष्ट न किया जाय तो वह संस्करणों को जला दे', 'प्रेम की भूखी ऊषा को प्रेमोचार करने की उसके पति में शक्ति नहीं थी और उसे भोगने की कौन लता भी'—आदि बहुत-सी वाहियात बातों को मैं इस किताब से देने का दुख उठा सका हूँ। यह पुस्तक कहानी-संग्रह के नाम पर छप गई और समीक्षा के लिए चल भी पड़ी, यही बहुत बड़ी बात है।

श्री अमरनाथ कश्मीर यात्रा

संपादक, अनुवादक तथा प्रकाशक—मदन-मोहन शर्म्मा, होश्यारपुर (पंजाब)

मूल्य—(नहीं दिया गया)

प्रस्तुत में संपादक और कश्मीर सरकार के ओर से इस महत्वपूर्ण विषय में भौगोलिक, धार्मिक और यात्रा संबंधी पर्याप्त सूचनाएँ हैं। युवराज श्री कर्ण सिंह की सरस लेखनी का अँगरेजी में लिखित यात्रावर्णन और भृङ्गीश-संहिता के अमरनाथमहात्म्य का सुरुचिपूर्ण अनुवाद विशेष सराहनीय है। जबकि सभी अँगरेजी और संस्कृत के प्रसंगों को मूल और अनुवाद समेत उपस्थित किया गया तो सरकारी सूचनाओं का भी अनुवाद रहना चाहिए था।

कर्मनाशा की हार (कहानियाँ)

लेखक—शिवप्रसाद सिंह

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

मूल्य—तीन रुपये

प्रस्तुत हिन्दी के सुपरिचित कथाकार शिव प्रसाद सिंह की सोलह कहानियों का संग्रह है, जिन्हें पढ़ने से लगता है कि ग्रामों के निम्न-मध्यमवर्ग के जीवन को चित्रित करने में वे विशेष सिद्धहस्त हैं। उनकी भाषा और शैली की नवीनता थोड़ी आर्द्रता के साथ है। मर्मवेदना भरी शैली के कारण संग्रह की मुख्यतः पाँच कहानियाँ अत्यन्त सजीव बन पड़ी हैं। वे हैं; 'कर्मनाशा की हार', 'पापजीवी', 'रेती' 'बिना दीवार का घर' और 'बिन्दा महाराज'। 'पापजीवी' में निम्नवर्गीय जीवन का स्पष्ट और प्रभावोत्पादक चित्र खींचा गया है। 'रेती' की आर्द्रता हृदय को सहज ही करुणाप्लावित कर देती है। 'बिन्दा महाराज' में एक ओर नया विषयप्रवेश है तो दूसरी ओर सहानुभूति उत्पन्न करनेवाले घटना-चित्र भी। अन्य उल्लेखनीय कहानियों में 'केवड़े का फूल', 'गंगा-तुलसी' और 'वशीकरण' शिल्प-माध्यम से पाठक को रागाभिभूत करने की प्रशंसनीय चेष्टाएँ हैं। कथाकार जहाँ नागरिक रोमांस और शहरी

जीवन के अन्य क्षेत्र में प्रवेश करता है वहीं उसकी कला कुंठित भी होती है। इसका उदाहरण है 'प्रायश्चित' शीर्षक कहानी। सम्पूर्ण पुस्तक, भूमिका समेत, सुन्दर और पठनीय है।

मेरा पहला प्यार (दो उपन्यास)

लेखक—तुर्गनेव

अनुवादक—शिवदान सिंह चौहान, विजय चौहान

प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—ढाई रुपये

प्रस्तुत, उक्त विश्वश्रेष्ठ उपन्यासकार के 'माई फर्स्ट लव' और 'आस्या' नामक दो प्रसिद्ध उपन्यासों का शुद्ध-शुद्ध अनुवाद है। पहले उपन्यास की नायिका प्रिंसेज जेनेदा, और दूसरे की नायिका आस्या अपने-अपने ढंग से उच्छृंखल हैं। मगर, बिगड़ी हुई प्रिंसेज जनेदा की उच्छृंखलता जहाँ प्रेमियों से खिलवाड़ करने में है, वहाँ आस्या की; अल्हड़पन तथा तदनुकूल स्वभाव में। दोनों में, अपने प्रधान नायकों के मुकाबले, उम्र की छोटाई-बड़ाई के अन्तर के अलावे, गिरती और बनती हुई हैसियतों का वह अन्तर भी है, जिसके कारण पहली को जहाँ अपने भोले प्रेमी के पिता की ही रखैल बनना पड़ता है, वहाँ दूसरी को अपने समझदार और लिहाजी प्रेमी के प्रति असफल होने पर यथास्थिति की कृपा पर अपने आपको छोड़ देना पड़ता है (वह दासी-कन्या होने के बावजूद अपने अमीर पिता द्वारा गोद ली जा चुकी है)। इस प्रकार, दोनों उपन्यासों में, स्थिति-भेद के समक्ष दो प्रणयिनियों के दो महत्वपूर्ण समर्पणों को अत्यन्त यथातथ्य मार्मिकता के साथ रखा गया है। खानदान, सम्पन्नता और विपन्नता, उम्र और प्रकृति के व्यवधान में प्रणय की जो स्थिति होनी चाहिए उसी की एक-एक रेखा का यथार्थ चित्रण इन दोनों उपन्यासों में है। यदि यह 'लिबरल फिलासफी' है, तो भी, इतनी यथार्थ है कि उसके सामने, रूस की विरोधी आलोचना का कोई यथार्थवाद अयथार्थ ही सिद्ध होगा।

हाँ, 'मेरा पहला प्यार' के नायक के प्रति समझदार अनुवादकों की यह कल्पना कि 'उसकी ईर्ष्या उसको ओथेलो नहीं बना सकी' बहुत ही अति है; क्योंकि वह नायक इतना भोला, बच्चा और प्रेम की पहली सीढ़ी पर ही थरथराया हुआ है कि उसके मुकाबले अनुभवी ओथेलो बिलकुल ही दूसरी चीज हो जाता है। 'ईर्ष्या' तो शायद 'ओथेलो' में भी नहीं है।

अतृप्त (उपन्यास)

लेखक—साहित्याचार्य 'मग'

प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

मूल्य—पौने पाँच रुपये

प्रस्तुत उपन्यास पंडित उदयेश्वर के जन्म-जन्मान्तर के प्रेम को लेकर लिखा गया है। वह जहानारा के पीछे जहाँ इतना दीवाना हो जाता है कि मुसलमान तक बनने को तैयार है, वहीं जहानारा के साथ मौज से रहने के लिए सम्पत्ति का इतना खाहिशमन्द है कि गौड़ेश्वर के सरकारी वकील जगन्नाथ चौधरी का धन प्राप्त करने के लिए उनकी इकलौती बेटी मालती से विवाह तक करता है, मगर वकील साहब के जालसाजी के धन को नहीं प्राप्त कर सकता है, सजा पाता है और जहानारा के जादू के कारण जेल से निकल भागकर देश-देश, दस्यु-तांत्रिक आदियों के अड्डे पर कई लड़कियों को चाहता, तन्त्रमन्त्र-सिद्धि से सम्पन्न होकर फिर वहीं लौटता, और 'मालती सत्व, मैं (जहानारा) रज और उदयेश्वर तम तीनों मिलकर ॐ' हो जाता है।

तंत्र, मंत्र; पिशाच, साधु, शाह, फकीर, सतीत्व, योग, सुषुम्ना आदि का सारे

उपन्यास में ऐसा बेतरतीब जोर है कि कोई ऐसा काज या विचार नहीं रह पाता कि पाठकों की कोई सहानुभूति रह जाय। 'मग' जी पुराने लेखक कहे जाते हैं, उन्हें ऐसा अनर्गल 'उपन्यास' नहीं लिखना चाहिए।

संगीत (मासिक-पत्र)

संपादक—लक्ष्मीनारायण गर्ग
प्रकाशक—संगीत कार्यालय, हाथरस
मूल्य—वार्षिक : छह रुपये

प्रस्तुत चौबीसवें वर्ष का नवम अंक है। यह पत्रिका अपने विषय में एक युग से प्रवीणतापूर्वक उपस्थित होती आ रही है। प्रस्तुत में भी, श्री अगरचन्द नाहटा का 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में संगीत-ग्रंथ', आचार्य बृहस्पति का 'रस-परिपाक में साहित्य और संगीत का महत्त्व' श्री बैजनाथ विश्वकर्मा का 'नृत्यलिपि' आदि खोजपूर्ण निबंध, संगीत-सेवी श्री बृजनारायण और संगीत-महर्षि स्वामी हरिदास के चरित और संगीत-प्रसंग विशेष स्तुत्य हैं। शायद आधुनिक लोकरंजन के लिहाज के कारण ही अपने प्रतिष्ठित स्थायी स्तंभों में सिनेमा-गीतों की स्वरताल-लिपि देनी पड़ी हो। आशा है कि संगीत-प्रेमी पाठक वैसा सिनेमाई आग्रह छोड़ देंगे जिसकी पूर्त्ति के लिए उनकी इस शास्त्रीय पत्रिका को इस प्रकार का चर्वित-चर्वण या मथित-मथन करना पड़ रहा है। कला में प्रौढ़िप्रकर्ष ही रहना उचित है, प्रौढ़ि-पतन नहीं।

छात्र-बन्धु (मासिक-पत्र)

संपादक– प्रवीणचन्द्र सिंह
प्रकाशित— आनंदग्राम, पटना-१ से
मूल्य—वार्षिक ६) : अंक ·७५

प्रस्तुत का दूसरा अंक हस्तगत है। इसमें छात्रों के लायक जितनी अध्ययन-सामग्री है वैसी बहुत कम पत्रिकाओं में देखने को मिलती है। मसलन, मासिक-पत्र होने के नाते इसमें 'पिछले महीने की (समाचार-प्रधान) डायरी' अत्यावश्यक है। इसके अलावा 'विज्ञान के करिश्मे', 'खेल-कूद के मैदान में', 'समाज की धधकती ज्वाला में ये आहुतियाँ', 'आपके प्रश्नों के ये उत्तर', 'बातचीत' जैसा शब्दों के सही प्रयोग पर जोर देनेवाला स्तम्भ, 'बाल-विनोद-वाटिका', 'भावी साहित्यकारों की कलम से', गत वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाएँ, अमेरिका का ४६६ वर्ष पुराना इतिहास चित्रों में, आदि स्तम्भ तथा डा० महेश जी का 'ब्रिटेन की शिक्षा-व्यवस्था', प्रो० दुबे का 'वर्तमान शिक्षा की समस्याएँ' आदि निबंध प्राथमिक से लेकर कालेज तक के साधारण विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त ही काम के हैं। यह रचनात्मक प्रवेश अत्यन्त सराहनीय है। छात्रोपयोगी नए प्रकाशन, छात्रालयादि के समाचार, छात्रों की कलम से पुस्तक तथा रंगमंचादि की समीक्षा भी होती तो अच्छा था। पहले संपादकीय में जो यह कहा गया है कि 'विदेशी शासन के प्रभाव से समस्त भारत में अविद्या और अशिक्षा का बोलबाला था', यदि उसे सम्पादकीय 'टिप्पणी' के साथ घटाया जाय तो उस अविद्या और अशिक्षा का बोलबाला तो आज भी लगता है। किन्तु उस 'बोलबाले' को 'दलविशेष' का 'बहकावा' जैसे अस्पष्ट शब्दों में कह देने से ही तो काम नहीं चलेगा। ऐसा तो 'विदेशी शासन' के जमाने में भी कहा जाता था। सम्पादक का प्रश्न है 'यदि देश या समाज चाहता है कि राजनीति से छात्र-वर्ग अलग रहे तो फिर उसे राजनीति की शिक्षा क्यों दी जाती है···परन्तु प्रश्न है कि हम किस प्रकार राजनीति में भाग लें?' इसके उत्तर में भी 'दलविशेष' की राजनीति में भाग न लेने की बात कह देते और उन दल-विशेषों के नाम भी ले लेते तो छात्रों को

कुछ साहस मिलता। मेरा विचार है कि ऐसे पत्रों के सम्पादकीयों में इन प्रश्नों से बचा ही जाय तो उचित हो।

—'लालधुआँ'

ज्ञान-विज्ञान

*समुद्र की कहानी * मौसम की कहानी * ज्वालामुखी और भूचाल की कहानी*

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली

मूल्य—प्रत्येक के दो रुपये मात्र।

(१) 'समुद्र की कहानी', अंगरेजी की सुप्रसिद्ध पुस्तक All about the Sea का हिंदी अनुवाद है।

जिस पृथ्वी पर हमलोग रहते हैं उसका एक हिस्सा जमीन है और उसके तीन हिस्से में केवल जल-ही-जल है। ये जल के बड़े-बड़े क्षेत्र सागर कहे जाते हैं। इन सागरों के तल में चर और अचरों से युक्त एक विशाल दुनिया बसी है जिसके विषय में हमारा ज्ञान धरती की अपेक्षा अत्यंत कम है। वैज्ञानिकों की खोज के अनुसार समुद्र के तल में भी एक निराली दुनिया बसी है, जिसमें अनोखे जीव-जन्तुओं का बास है और अनोखी है वहाँ की प्रकृति।

लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में एक ऐसी ही निराली दुनिया से हमारा विस्तृत परिचय कराया है। समुद्र के निर्माण की कहानी से लेकर उस पर पड़ने वाले 'वैज्ञानिक' प्रभाव और उसकी विचित्र जिन्दगी आदि विषयों पर पुस्तक-लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है। सचमुच समुद्र की यह कहानी रोचक होने के साथ-साथ ज्ञानवर्धक भी है। अनुवाद की भाषा सरल और शैली मनोहर है।

(२) 'मौसम की कहानी' अंग्रेजी की ख्यातिप्राप्त पुस्तक All about the Weather का अनूदित रूप है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों ने ऋतुओं से हमारा परिचय बढ़ा दिया है। अब हम घर बैठे-बैठे ही यन्त्र की सहायता से यह जान लेते हैं कि आगे आनेवाले दिन में मौसम कैसा रहेगा। यहाँ तक कि आनेवाली भीषण आँधियों और तूफानों का ज्ञान भी इन यन्त्रों से आसानी से हो जाता है।

समुद्र में चलनेवाले जहाजों, आकाश में चलनेवाले वायुयानों और अन्तरिक्ष में जाने वाले रॉकटों के लिए यह ज्ञान अत्यंत ही आवश्यक था। इस भूमण्डल के ऊपर वायुमंडल का फैला हुआ क्षेत्र है। इस वायुमण्डल में जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है। अतः इसका सूक्ष्म ज्ञान हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है।

पुस्तक इस दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोगी है। लेखक ने वायुमण्डल, उसमें होनेवाले परिवर्तन और उन परिवर्तनों के जानने के आविष्कृत साधनों की विस्तृत चर्चा इस पुस्तक में की है।

(३) 'ज्वालामुखी और भूचाल की कहानी' All about the Volcanoes and Earthquaces नामक अंगरेजी की प्रसिद्ध पुस्तक से अनूदित की गई है।

ज्वालामुखियों के विषय में पहले लोगों की धारणा विचित्र थी। प्राचीन रोमन इसे देवता वल्कन की भट्टी की चिमनी मानते थे। इसको देखकर वे कहते—"वल्कन अपनी निहाई पर काम कर रहे हैं। ज्यूपिटर (शुक्र) देवता के लिए बज्र और मार्स (मंगल) के लिए हथियार बना रहे हैं।" यद्यपि ज्वालामुखियों के विषय में प्रचलित रोमन लोगों की धारणा आज बिल्कुल परिवर्तित हो गई है लेकिन उनके 'वल्कन' देवता 'वॉल्कैनो' के नाम से प्रचलित हो ही गए।

ज्वालामुखियों के प्रभाव ज्यादातर अनिष्टकारी ही सिद्ध हुए हैं और भूचालों की उत्पत्ति

(अगले पृष्ठ के नीचे)

प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के आगामी अष्टम वार्षिकोत्सव के अवसर पर निम्नलिखित विद्वानों को पुरस्कार देने की घोषणा की गई है—

पन्द्रह सौ रुपये का वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान पुरस्कार राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को, पाँच सौ रुपये का उदीयमान साहित्यिक प्रोत्साहन पुरस्कार श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह (मुजफ्फरपुर) को, गाँधी साहित्य संबंधी एक हजार रुपये का ग्रंथ पुरस्कार राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को उनकी 'बापू के कदमों में' पुस्तक पर, 'श्रम और समाज कल्याण' विषयक एक हजार रुपये का ग्रंथ पुरस्कार हिन्दू विश्वविद्यालय (काशी) के मानवशास्त्र विभागाध्यक्ष प्रोफेसर रघुराज गुप्त को उनकी 'भारत में सामाजिक सुरक्षा' नामक पुस्तक पर, मनोविश्लेषण विषयक एक हजार रुपये का ग्रंथ पुरस्कार मुजफ्फरपुर के लंगट सिंह कालेज के दर्शनशास्त्र विभागाध्यक्ष डाक्टर या० मसीह को उनकी 'मनोविश्लेषण और फ्रायडवाद की रूपरेखा' नामक पुस्तक पर, नाटक विषयक एक हजार रुपये का ग्रंथ पुरस्कार श्री रामवृक्ष बेनीपुरी एम० एल० ए० को उनकी 'बेनीपुरी ग्रंथावली' (भाग २, नाटकावली) पर, व्यक्तिगत निबन्धविषयक १०००) का ग्रन्थ पुरस्कार आरा के जैन कालेज के हिन्दी प्राध्यापक श्री रामेश्वरनाथ तिवारी एम० ए० को उनकी 'खजूर के पेड़' नामक पुस्तक पर, भूगोल विषयक १०००) का ग्रन्थ पुरस्कार श्री गजाधर प्रसाद अम्बष्ठ (पटना) को उनकी 'बिहार के दर्शनीय स्थान' पुस्तक पर। नंबर ४ और ५ अखिल भारतीय प्रतियोगिता के पुरस्कार हैं। शेष सब बिहार प्रादेशिक स्तर के हैं।

—पुस्तक प्रकाशन अधिनियम के अंतर्गत कलकत्ता राष्ट्रीय पुस्तकालय को १९५७ और ५८ में प्रकाशित पुस्तकों के संबंध में दिये गये प्रतिवेदन में बताया गया है कि देश में अंग्रेजी में पुस्तक-प्रकाशन अनुपाततः बढ़ रहा है और

इसी से मानी गई है। लेकिन शायद लोगों को यह पता नहीं कि आग उगलनेवाली ये विनाशकारी भट्ठियाँ कुछ लाभ की भी हैं। ज्वालामुखियों ने बहुत-सी जमीनों को असाधारण रूप से उपजाऊ बना दिया है। और, "सच तो यह है कि लावे के बगैर अनेक धातुएँ हमारी पहुँच के भीतर आ ही नहीं पातीं।"

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरसता है जिसने इस नीरस विषय में भी जान डाल दी है। अनुवाद में भी वह सरसता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। कुल मिलाकर पुस्तक अपने ढंग की अनोखी है।

अनुवाद होते हुए भी इन पुस्तकों का स्थायी महत्त्व है। पुस्तकों की छपाई-सफाई और कलेवर आकर्षक है।

—विश्वनाथ

उसकी संख्या किसी भी देशी भाषा में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या से अधिक है। १६५६ में प्रकाशित कुल ३७,१४४ पुस्तकों में अंग्रेजी की पुस्तकें ३१ प्रतिशत थीं और यह प्रतिशत बढ़कर १६५७ में ४० प्रतिशत और १६५८ में ४५ प्रतिशत हो गयी।

—लोकप्रिय साहित्य को विकसित करने की शिक्षामन्त्रालय की योजना के अन्तर्गत भारतीय इतिहास पर सर्वोत्कृष्ट पुस्तक लिखने के लिए भारत सरकार ने बिहार विश्वविद्यालय (मुजफ्फरपुर) के डाक्टर हरिरंजन घोषाल डी० लिट० को ५ हजार रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। डाक्टर घोषाल की पुस्तक अंग्रेजी में है जिसका हिन्दी में अनुवाद किया जायगा और सरकारी प्रकाशन के रूप में उसे प्रकाशित किया जायगा।

—राजस्थान सरकार ने बालकों, प्रौढ़ों तथा नवसाक्षरों के लिए हिन्दी में लिखी गयी पुस्तकों की एक प्रतियोगिता का आयोजन किया है। १२ वर्ष तक की उम्र के बालकों के लिए उपयोगी सबसे अच्छी तीन पुस्तकों की माला के लिए तीन पुरस्कार १०००), ८००) तथा ५००) रखे गये हैं। इसी प्रकार इतनी ही रकम के तीन पुरस्कार प्रौढ़ों तथा नवसाक्षरों के लिए लिखी गयी सबसे अच्छी तीन पुस्तकों की माला के लिए रखे गये हैं। बालकों के लिए लिखी गयी पुस्तकमाला कुल मिलाकर दो सौ से अधिक पृष्ठों की नहीं होनी चाहिये तथा निर्धारित उम्र तक के भिन्न-भिन्न अवस्था के बालकों के लिए दिलचस्प, आकर्षक तथा सचित्र होनी चाहिये। प्रौढ़ों तथा नवसाक्षरों के लिए पुस्तकें ३०० से अधिक पृष्ठों की नहीं होनी चाहिये तथा उनके विषय वर्तमान ग्रामों में प्रौढ़ों के जीवन तथा वातावरण से सम्बन्धित होने चाहियें।

—प्रधान मंत्री नेहरू जी ने १० मार्च को बंबई में कहा कि देश की एकता के लिए यह आवश्यक है कि हम देश की भाषाओं में जो अत्यधिक निकटता है, उसे महसूस करें। यह बात उन्होंने ६० वर्षों से साहित्य-सेवा करनेवाले मराठी संग्रहालय के नए भवन के शिलान्यास के अवसर पर कहा। उन्होंने कहा कि देश की सभी भाषाओं के ७५ से ८० प्रतिशत तक शब्द समान हैं; क्योंकि सभी का जन्म संस्कृत भाषा से हुआ है। उन्होंने देशी भाषाओं के विकास में प्रमुख बाधा बताई कि लोग पुस्तक-प्रेमी नहीं हैं। उन्होंने पुस्तक खरीद कर पढ़ने की वृत्ति पर जोर देते हुए कहा कि इस वृत्ति को लोगों में बढ़ाना ही पड़ेगा, इस विषय में पैसे की कमी एक बहाना है; क्योंकि फिर लोग सिनेमा कहाँ से देखते हैं। भारतीय पुस्तक-व्यवसाय की विषाक्त स्थिति का कारण उन्होंने यह बताया कि अच्छी माँग के अभाव में प्रकाशक कुछ ही हजार प्रतियाँ छापते हैं और इसीसे पुस्तकों का मूल्य अधिक होता है। उन्होंने कहा कि भाषा की तरक्की हल्ले-हुड़दंग से नहीं, बल्कि उन्नत अध्ययन, मनन और लेखन से ही हो सकेगी तथा हमें सर्वसाधारण में पुस्तक-प्रेम देने के लिए पुस्तकों के सस्ते संस्करण निकालने की विदेशी प्रणालियों को आवश्यक तौर पर अपनाना चाहिए। उन्होंने वहाँ काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं की सभा में कहा कि विगत आठ वर्षों में देश शिक्षा के विषय में हमारे इच्छित स्तर पर नहीं पहुँच सका है, किन्तु हम तीसरी योजना तक सभी स्तरों पर निःशुल्क शिक्षा के लक्ष को अवश्य पूरा कर लेंगे।

—राजस्थान के साहित्यकारों को आर्थिक सहायता पहुँचाने की दृष्टि से राज्य की साहित्य अकादमी ने चालू एवं आगामी वित्तीय वर्ष के लिए कतिपय साहित्यवेत्ता वृत्तियाँ देने का निश्चय किया है। वृत्तियाँ, जिनका निर्णय

अकादमी की साहित्यवेत्ता वृत्ति एवं सहायता समिति करेगी, ५० रुपए से २०० रुपये तक की होंगी। वृत्तियों के लिए आवेदनपत्र भेजने की अंतिम तिथि ५ मार्च १९५९ है। आवेदन-पत्र में प्रार्थी का संक्षिप्त परिचय, कौटुम्बिक स्थिति व आमदनी, साहित्यिक साधना का संक्षिप्त वर्णन तथा व्यवसाय आदि का उल्लेख होना चाहिए। जिन साहित्यकारों को चालू वर्ष के लिए साहित्यवेत्ता-वृत्ति दी जायगी उनको आगामी वर्ष अकादमी द्वारा दिया गया संग्रह, संपादन, सर्वेक्षण एवं आलोचना सम्बन्धी कार्य करना होगा। पुस्तक रचना का कार्य उन्हें नहीं दिया जाएगा। आवेदक को अपनी प्रकाशित पुस्तकों की एक-एक प्रति भी भेजनी होगी।

—विधिआयोग ने कहा है कि जबतक हिन्दी राजभाषा नहीं हो जाती, तबतक हमारी विधियों की भाषा और न्यायालयों की भाषा हिन्दी और अंग्रेजी दोनो होगी, लेकिन बाद में देश के सभी केन्द्रीय और राज्य सरकारों के कानून हिन्दी में तैयार किए जाएँ और कानून की शिक्षा देनेवाली सभी संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो। लेकिन इस कार्य को पूरा करने में २५ से ३० वर्ष लग सकते हैं।

—वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक समस्या मंत्री श्री हुमायूं कबीर ने लोकसभा में श्री एस० एम० बनर्जी को बताया कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं को ८ जिल्दों में सभी भाषाओं में प्रकाशित करने का विचार है। यूनेस्को के सहयोग से स्वर्गीय ठाकुर की जन्म-शती पर उनकी रचनाओं को प्रकाशित कराने का प्रस्ताव है। यह संस्करण पहले अंग्रेजी में प्रकाशित होगा, फिर बाद में उसका अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में होगा।

—बम्बई के शिक्षामंत्री श्री हितेन्द्र देसाई ने कल विधान सभा में बताया कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में ७ वर्ष से ११ वर्ष के बच्चों की शिक्षा मुफ्त तथा अनिवार्य कर देने का राज्य सरकार का लक्ष्य है।

—मार्च १९५९ तक अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तकालयों के आँकड़ों के संबंध में एक पुस्तक प्रकाशित करने की यूनेस्को की योजना है।

—प्रो० सीताराम कोहिली लिखित 'भारत का इतिहास' एवं डा० गणेश प्रसाद यूनियल लिखित 'राजनीतिक विचार दर्शन', जिन दोनों पुस्तकों को ओरियंट लौंगमेन्स ने प्रकाशित किया है, पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा क्रमशः ७०० और ८०० रुपयों से पुरस्कृत हुए हैं।

—बेसिक स्कूलों के लिए उचित साहित्य को प्रोत्साहित करने के निमित्त भारत के शिक्षा-मंत्रालय ने सारे भारत के प्रकाशकों से अंग्रेजी और विदेशी पुस्तकों पर आधारित हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों की माँग की है। पूरी सूचना के लिए 'एजूकेशन अफसर (लिट्रेचर), रूम नं० ८०, 'एम' ब्लौक, मिनिस्ट्री आफ एजूकेशन, भारत सरकार, दिल्ली—२ से पत्र-व्यवहार करना होगा।

—भा० हिन्दी परिषद के एक प्रवक्ता ने बताया कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रथम दस वर्षों में हिन्दी प्रचार संस्थाओं की परीक्षाएँ अठारह लाख से भी अधिक छात्रों ने पास की हैं। कुल संख्या के २० प्रतिशत से भी अधिक छात्रों ने उच्च परीक्षाएँ पास की हैं अथवा उनमें वे सम्मिलित हुए हैं। केन्द्रीय सरकार के अखिल भारतीय कार्यालयों में काम करनेवाले तीस लाख कर्मचारियों से पचास हजार ही ऐसे हैं जो प्रशासन के उच्चतर विभागों से काम करते हैं। कुल कर्मचारियों में से पचीस लाख कर्मचारी ऐसे हैं जो हिन्दी क्षेत्र में काम करने के कारण हिन्दी जानते हैं। अगर सरकारी काम-काज की भाषा हिन्दी कर दी जाय तो केवल साढ़े पाँच लाख व्यक्ति ऐसे होंगे जिन्हें अपने कामकाज में कुछ दिनों तक

कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, इसलिए अगले पाँच सालों में सरकारी काम-काज में अँग्रेजी का स्थान हिन्दी को आसानी से दिया जा सकेगा।

—श्री नम्बूद्रीपाद ने बम्बई के मलयाली विद्यार्थी संघ को एक सन्देश भेजा जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि देशभर की माध्यमिक पाठशालाओं में हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य किया जाए। विश्वविद्यालय तक की सारी पढ़ाई प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम द्वारा होनी चाहिए।

—आन्ध्र विश्वविद्यालय के अकादमिक कौन्सिल ने प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की है कि मार्च १९५९ से, विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के इच्छुक एस० एस० सी. के परीक्षार्थियों के लिए, तीसरी भाषा के तौर पर हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया जाए।

—बम्बई सरकार की सहायता से इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अगले साल से मराठी तथा गुजराती के अध्यापन का प्रबन्ध किया जाएगा। बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों में तमिल और तेलुगु भाषाओं के अध्यापन के प्रबन्ध के लिए युनिवर्सिटी ग्रेण्ट्स कमीशन द्वारा सहायता दी जाएगी। दिल्ली विश्वविद्यालय को कमीशन से तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम के अध्यापन-प्रबन्ध के लिए सहायता मिलेगी। बम्बई तथा सागर विश्वविद्यालयों ने कमीशन से तमिल तथा मलायलम के अध्यापन-प्रबन्ध के लिए सहायता की माँग की है। आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापन विभाग में तमिल, तेलुगु और कन्नड़ के अध्यापन का प्रबन्ध किया गया है। गुजरात विश्वविद्यालय ने कन्नड़ के अध्यापन-प्रबन्ध की योजना बनाई है।

—दिल्ली प्रशासन के चीफ कमिश्नर द्वारा डॉ० युद्धवीरसिंह की अध्यक्षता में नियुक्त छः सदस्यीय समिति ने सुझाव दिया है कि जनवरी १९६२ से, भारत सरकार तथा प्रादेशिक सरकारों से किए जाने वाले पत्र-व्यवहार को छोड़ शेष समस्त सरकारी काम-काज के लिए हिन्दी का प्रयोग किया जाए। इसकी प्रारम्भिक तैयारी के लिए सचिवालय में भाषा-विभाग खोला जाए। सरकारी कर्मचारियों को जुलाई १९६१ तक हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। ता० १५ अगस्त १९५९ से नोटिंग हिन्दी में किया जाए तथा गजट भी हिन्दी में छपे। नए रजिस्टर, निमन्त्रण-पत्र, साइन-बोर्ड आदि अप्रैल १९५९ से हिन्दी में तैयार किए जाएँ। जुलाई १९६१ से सभी अर्जियों के जवाब हिन्दी में दिए जाएँ, पर इसका प्रारम्भ अप्रैल १९५९ से ही किया जाना चाहिए।

—बंगलोर में अ० भा० औद्योगिक भाषा सम्मेलन (मैसूर राज्य) का अधिवेशन मैसूर के अवकाश-प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री मेडप्पा की अध्यक्षता में हुआ। उद्घाटन करते हुए श्री कोदण्डराव ने श्रोताओं को "अँग्रेजी हमेशा, हिन्दी कभी नहीं, क्योंकि एकता हमेशा और विभाजन कभी नहीं" का नारा दिया। श्री सी. गोपालाचार्य ने एक सन्देश में कहा है कि "इस प्रश्न पर मैं जितना विचार करता हूँ उतने ही स्पष्ट रूप से मुझे यह विश्वास होता जाता है कि भारत की एकता बनाए रखने के लिए हमें अँग्रेजी की आवश्यकता है। जिस चीज ने हमें एकता प्रदान की उसे हम अपने को भयंकर आघात पहुँचाए बिना खत्म नहीं कर सकते। भारत की एकता के लिए केन्द्र में और अन्तर्राज्यीय काम में अँग्रेजी का प्रयोग आवश्यक है। अपनी भाषा के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है; लेकिन यह मेरे इस विश्वास को उलट नहीं सकता कि देश की एकता के लिए अँग्रेजी जरूरी है।" डा० एम० विश्वेश्वरैया ने सन्देश में कहा है, "अँग्रेजी के हटाने

के लिए तबतक विचार नहीं किया जाना चाहिये जब तक कि शिक्षा, उद्योग आदि क्षेत्रों में बड़ा सुधार न हो जाय।" अध्यक्ष ने अपने भाषण में कहा, "इस प्रश्न पर सम्मेलन का दृष्टिकोण वही है जो सामान्य जनता का है।" मैसूर सरकार ने जो हिन्दी शिक्षा सरकारी नौकर के लिए अनिवार्य कर दी है उसकी सम्मेलन में यह कह कर निन्दा की गई कि इस नियम से सरकारी कर्मचारियों की तरक्की में रुकावट पड़ती है।

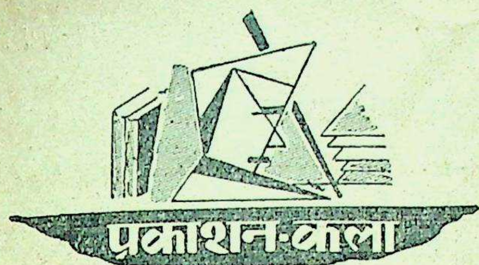
—लोकसभा के अध्यक्ष श्री अय्यंगार ने गोली पलासिया में मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए कहा, "दक्षिण भारतवासी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के विरोधी नहीं हैं। वस्तुतः वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में हैं। परन्तु वे इस भाषा को अच्छी तरह सीखने के लिए कुछ समय चाहते हैं। हिन्दी भाषा को इतना सरल बनाया जाए कि जिससे उसे सीखना सरल हो। हिन्दी का विकास केवल इसलिए ही जरूरी नहीं है कि वह राष्ट्रभाषा है, बल्कि राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने के लिए भी वह जरूरी है। हिन्दी के समर्थकों को चाहिए कि वे राष्ट्रभाषा के लिए अन्य भाषाओं के समर्थकों का विरोध करने के बजाय अधिक-से-अधिक लोगों को हिन्दी सिखावें। हिन्दी भाषी क्षेत्रों के अनेक सदस्य लोकसभा में अँग्रेजी में भाषण करते हैं। उनसे हिन्दी में भाषण करने को कहा जाना चाहिए तथा यदि सदस्य-गण हिन्दी में भाषण करें तो मैं उन्हें बोलने के लिए अधिक समय देने को तैयार हूँ।"

—आन्ध्र प्रदेश सरकारी शिक्षक संघ द्वारा शिक्षा के गिरते हुए स्तर पर हैदराबाद में आयोजित गोष्ठी में अध्यक्षपद से भाषण करते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. वी. के. आर. वी. राव ने कहा, "जब तक प्रादेशिक भाषाओं को ही अपने-अपने प्रदेशों में शिक्षा का माध्यम नहीं बना दिया जाता तब तक देश का उद्धार सम्भव नहीं। शिक्षा में गिरावट का एक मुख्य कारण यह भी है कि हम गान्धीजी का यह सिद्धान्त भूल गये हैं कि किसी का व्यक्तित्व निखारने का सबसे अच्छा साधन उसे उसकी मातृभाषा में ही शिक्षा देना है। अँग्रेजी का महत्व सभी समझते हैं। मैं चाहता हूँ कि हर भारतीय त्रिभाषी हो। अँग्रेजी, हिन्दी और मातृभाषा का उसे ज्ञान होना चाहिए। परन्तु अँग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए रखना गलत है। अँग्रेजी के भक्त तर्क देते हैं कि विज्ञान की शिक्षा के लिए अँग्रेजी आवश्यक है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि रूस, जर्मनी, जापान आदि देशों में जब वहाँ की भाषाओं में ही विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है तो भारत में ही ऐसा क्यों नहीं हो सकता? भारत की भाषाएँ अँग्रेजी से बहुत पुरानी हैं।

—उत्तरप्रदेश सरकार ने उर्दू लेखकों को उनकी प्रसिद्ध कृतियों के लिए ७,३००) का पुरस्कार देने का निश्चय किया है। ये पुरस्कार सरकार द्वारा नियुक्त उर्दू सलाहकार परिषद की सिफारिशों पर प्रदान किये गये हैं।

उक्त धनराशि सचिव, हिन्दी समिति, रायल होटल, लखनऊ द्वारा निकाली जायगी और वे ही सम्बन्धित व्यक्तियों को इसके भुगतान की व्यवस्था करेंगे।





पुस्तक की रूप-सज्जा



अखिलेश्वर पांडेय

ऐसी पुस्तक, जो काल की कसौटी पर चढ़ स्थायी साहित्य की श्रेणी में आ चुकी है, रूप-सज्जा की अपेक्षा नहीं रखती। उसका स्थायित्व ही उसका आकर्षण है। और, वह विषय-वस्तु की उपलब्धि है, कलेवर की नहीं। शृङ्गार उसके मूल्य (Price) में व्यर्थ की वृद्धि ला, उसके आकर्षण-क्षेत्र की सीमा संकुचित ही करेगा। स्थायी साहित्य के प्रचार-प्रसार में तो उसकी कम कीमत ही अधिक योग देती है। लेकिन पुस्तकें स्थायित्व लेकर आती नहीं, अपने रूप-गुण के कारण कालांतर में पाती हैं। अतः उपर्युक्त बात, पहली बार प्रणीत हो बाजार में आनेवाली उक्त पद के योग्य या अन्य श्रेणी की पुस्तकों के लिए, सत्य नहीं है।

ऐसी पुस्तकों के लिए रूप-सज्जा, उनकी कीमत में थोड़ी वृद्धि लाकर भी, वाह्याडंबर नहीं, बल्कि आवश्यक शृंगार है। दूकान में लगी हजारों अपरिचित पुस्तकों के बीच आपका हाथ आखिर उसी पुस्तक की ओर क्यों बढ़ता है, जो सबसे अधिक सजी-सँवरी है? शायद इसलिए कि उसके बाह्य सौन्दर्य में आपकी आँखें उलझ गई हैं। तो स्पष्ट है कि रूप-सज्जा पुस्तक का प्रथम आकर्षण है।

अब आप हाथ में ले उसे विमुग्ध दृष्टि से निहारते हैं। लीजिए, प्रथम दर्शन में ही प्यार हो आया! आप कैद हो गए! पर उसे अपनाने के पहले आप स्वभावतः उसमें अपनी रुचि की अनुकूलता पाना चाहेंगे, उसके चरित्र और स्वभाव से परिचित होना चाहेंगे। पर क्या उसके आवरण पर इनकी कोई झलक नहीं पाते? तो छोड़िए, मात्र लिपस्टिक और पाउडर से लिपा-पुता चेहरा है वह, जो उलझाता तो है, पकड़ता नहीं! इस शृंगार में सहज स्वाभाविकता नहीं है। यदि रूप-सज्जा में पुस्तक की विषय-वस्तु से तारतम्य और संबद्धता होगी तो वह आप बोलेगी। वैसी स्थिति में मात्र उसकी गहराई मापने के लिए ही अन्दर झाँकने-आँकने की जरूरत है आपको। अतः स्पष्ट है कि वास्तविक रूप-सज्जा, न केवल प्रथम आकर्षण का केन्द्र है, बल्कि प्रथम परिचय-सूत्र भी! लेकिन इसकी पहचान के लिए, आपके पास इसके भीतर पैठने वाली आँखें तो होनी ही चाहिएँ।

आपकी इन आँखों को आवरण में वस्तु की कलात्मक अभिव्यक्ति भी मिली तो वह आपमें रस का उद्रेक भी करेगा। आप आनन्द-विभोर हो उठेंगे। निस्सन्देह ऐसी स्वाभाविक कलात्मक रूप-सज्जा पुस्तक पर न भार है और न अर्थहीन ही। वह उसकी आत्मा को गौरव और गरिमा प्रदान करने वाला तत्व है। उसमें अभिव्यञ्जित साहित्य का अभिन्न अंग है। पर इससे भी ऊपर, वह अपने-आप में पूर्ण एक कला भी है। शायद आप ऐसे आवरण से आवेष्टित पुस्तक को, मात्र उसके कलात्मक वाह्य सौन्दर्य के लिए, अपनाने को आतुर हो उठें!

पोस्टरबाजी व्यक्ति और वस्तु दोनों की दुनिया में होती है। शायद यह साधन व्यक्ति या वस्तु-विशेष से आपका परिचय कराने और इससे भी अधिक, आपके अव्यक्त मन पर रोब गालिब करने के लिए है, जिससे कि आप उसे अपनाने को प्रेरित हों। पर वे ही पोस्टर आपको क्यों पकड़ते हैं जिनकी अंकन-शैली में कुछ नयापन होता है, परम्परा से थोड़ा हट कर

बात कही होती है ? क्योंकि आपकी आँखें एक ही तरह की चीजें देखते-देखते कुछ इस तरह थक जाती हैं कि अनमनी हो उठती हैं। तब नयापन लिये एक पोस्टर आपको चौंका कर अपनी ओर खींचता है। और, आप इस प्रकार ठग जाने पर झुंझलाते नहीं, मुस्कुरा उठते हैं। आपकी यह मुस्कुराहट ही उसकी कलापूर्णता की सबसे बड़ी प्रशंसा है। साफ है कि पोस्टर में 'रूहे दास्ताँ' से अधिक 'तर्जे बयाँ', की कीमत होती है। गीत का एक नया स्वर, काव्य में एक नया प्रयोग भी चौंकाकर ही आपको आनन्द देता है। पर यह वृत्ति नवीनता की है, जटिलता की नहीं। कला की जटिलता चौंकाकर झुंझलाहट ही पैदा करती है, मुस्कुराहट नहीं।

रूप-सज्जा पुस्तक का पोस्टर भी है— उसके विज्ञापन का सबल साधन। और, ऐसे भाषा-साहित्य के लिए तो, जिसके क्षेत्र में पठन की रुचि मन्दाग्नि का शिकार हो, यह परम सत्य है। व्यावसायिक दृष्टि से पोस्टरबाजी उन्हीं वस्तुओं की अपेक्षित है, जिनकी भारी संख्या में खपत की आशा हो, गुंजाइश हो। अन्यथा यह बड़ी महँगी पड़ती है। हिन्दी के क्षेत्र में पुस्तकें अभी ऐसी वस्तुओं की श्रेणी नहीं पा सकी हैं, जिनके निमित्त पोस्टरबाजी व्यावसायिक दूरदर्शिता की निशानी हो। और दूसरे, विज्ञापनबाजी स्पर्धापूर्ण बाजार में ऐसी वस्तुओं की की जाती है, जिनके गुण समान हैं या नामों की विभिन्नता में वस्तुतः वे एक ही हैं। निस्सन्देह पुस्तकें ऐसी चीज नहीं हैं। उपन्यास, कहानी, काव्य आदि विभिन्न श्रेणियों में रखी जाकर भी प्रत्येक पुस्तक का व्यक्तित्व अपना है, जायका अपना है। अतः इस दृष्टि से भी पुस्तकों के पोस्टर, बड़े पैमाने पर परिचय बढ़ाकर, माँग में थोड़ी ही वृद्धि ला सकते हैं और वह भी रुचि-सम्पन्न क्षेत्र में ही।

उपर्युक्त स्थिति में पुस्तक की रूप-सज्जा उसके पोस्टर का भी कार्य करती है। इंगलैंड, अमेरिका आदि समृद्ध और सम्पन्न देशों में पुस्तक के आवरण ही विज्ञापन के लिए भेजे जाते हैं। इसलिए और गुणों के अतिरिक्त उसमें थोड़ा चौंकाने वाली प्रकृति होनी ही चाहिए। इसके साज-शृंगार में 'रूहे दास्ताँ' के साथ-साथ 'तर्जे बयाँ' की भी सार्थकता है। और, इसके लिए अपेक्षित है उसकी अंकन-शैली में नया स्वर, नया लय ! पर पुनः कह दूँ, इस प्रयोग में झुंझलाहट पैदा करने वाली जटिलता नहीं, मुस्कुराहट पैदा करने वाली नवीनता मात्र होनी चाहिए !



भारत की वर्त्तमान शिक्षित पीढ़ी को देखकर मुझे एक तोते की पुरानी कहानी याद आ जाती है। एक व्यक्ति को एक तोते की जरूरत थी। तोता बेचनेवाले के पास जाकर उसने पूछा—"क्या तुम्हारा तोता कुछ बोलना जानता है ?" उसने जवाब दिया—"साहब ! बोलना क्या, मेरा तोता तो सोचने-विचारने में अद्वितीय है !" यह सुनकर खरीदनेवाले ने तोता खरीद लिया। मगर शीघ्र ही उसे पता चला कि वह तोता सोचने-विचारने के सिवा कुछ करता ही नहीं।

—श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय



प्रकाशन-मुद्रण साहित्य



श्री छविनाथ पांडेय

मुद्रण और प्रकाशन सभ्य समाज का अभिन्न अंग है। सभ्य समाज का प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी रूप में मुद्रण और प्रकाशन-कला से संबंधित है। कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि मुद्रण और प्रकाशन कला वह कसौटी है जिस पर किसी भी देश या जाति की सभ्यता और संस्कृति की जाँच हो सकती है। कहने का मतलब यह है कि जिस देश की सभ्यता और संस्कृति जितनी उन्नत होगी उस देश में मुद्रण और प्रकाशन की कला उतनी ही उन्नत दशा में होगी और तत्संबंधी साहित्य का भी उसी अनुपात में प्रचार एवं प्रसार होगा।

हमारे देश में मुद्रण और प्रकाशन का व्यवसाय यद्यपि बहुत पुराना नहीं है; क्योंकि यूरोपियनों के आगमन के बाद ही हमारे देश में आधुनिक मुद्रण-रीति का प्रचार हुआ—तो भी हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों व्यवसायों ने संतोषजनक प्रगति की। यह स्मरण रखना चाहिए कि १९४७ तक पराधीनता की बेड़ी में जकड़े रहने के कारण मुद्रण और प्रकाशन को चलाने के कार्य में इस देश में अनेक बाधाएँ थीं और लोगों को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। प्रेस ने जहाँ जरा सिर उठाया कि उसे दबोचने के लिए सरकार की ओर से अनेक गला-घोंटू कानून सामने आये। पर साथ ही यह बात भी खेद के साथ लिखनी पड़ती है कि यद्यपि मुद्रण और प्रकाशन-व्यवसाय उन्नति के पथ पर अग्रसर होते गये, तथापि एतत् संबंधी साहित्य का सर्वथा अभाव ही रहा।

यह सही है कि ये दोनों व्यवसाय या क्रियाएँ व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर हैं। लेकिन साहित्य के सहारे जो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसका मूल्य कोरे व्यावहारिक ज्ञान से कहीं मूल्यवान होता है। तो भी मुद्रण और प्रकाशन-व्यवसाय की प्रगति देखकर एतत् संबंधी साहित्य के निर्माण की ओर लोगों का ध्यान गया और अत्यल्प मात्रा में ही सही, साहित्य का निर्माण हुआ।

आधुनिक छपाई—यह हिंदी में मुद्रण संबंधी पहली पुस्तक है। इसके लेखक हैं 'लॉ जर्नल प्रेस' प्रयाग के भूतपूर्व व्यवस्थापक श्रीकृष्ण प्रसाद दर। इस पुस्तक का संबंध मुद्रण की केवल दो क्रियाओं से है—कम्पोज और छपाई। इन दोनों क्रियाओं को संपन्न करने के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, उनकी चर्चा भी संक्षेप में इस पुस्तक में है। अर्थात् टाइप कैसे ढाला जाता है, स्याही कैसे बनाई जाती है, विविध रंगों के मिश्रण से स्याही में आभा किस तरह उत्पन्न की जाती है, बेलन कैसे ढाला जाता है, बेलन की रक्षा कैसे की जाती है, बेलन की खराबी से छपाई में क्या दोष उत्पन्न हो जाते हैं, ब्लाक बनाने की विधि क्या है। आरंभ में लेखक ने मुद्रण की क्रिया का प्रारंभिक इतिहास भी दिया है। इससे यह मालूम होता है कि यूरोपीय देशों में मुद्रण का काम कब और किस तरह आरंभ हुआ तथा भारत में यह कला कब, किस तरह और किसके द्वारा आई। इस पुस्तक से छपाई की क्रिया संबंधी साधारण जानकारी लोगों को हो जाती है। इस पुस्तक में लेखक ने मुद्रण की जिन क्रियाओं का वर्णन किया है उनपर यदि वे विस्तार से प्रकाश डालते, तो यह पुस्तक और भी अधिक उपयोगी होती। कम्पोजिंग और छपाई की आधुनिक

प्रणालियों का विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में नहीं है। भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक अच्छी है। टेकनिकल विषय होते हुए भी लेखक ने चलती भाषा का प्रयोग किया है।

प्रिण्टर्स गाइड—इस पुस्तक के लेखक 'ओरिएंटल प्रिंटिंग वर्क्स और ईस्टर्न टाइप फौण्ड्री' के अधीक्षक श्री जी० बी० डे हैं। यह पुस्तक दो भागों में बंगला में छपी हुई है। इसके प्रथम भाग का अनुवाद हिन्दी में हुआ है। अनुवाद की भाषा अच्छी न होने पर भी इस पुस्तक में छपाई संबंधी प्रचुर सामग्री दी गई है। इस पुस्तक में अंग्रेजी और बंगला कम्पोजिंग की ही विशेष चर्चा है। चूँकि बंगला और कलकतिया हिन्दी के केस समान ही होते हैं, इसलिए हिन्दी कम्पोजिंग की न्यून चर्चा होने पर भी बंगला कम्पोजिंग सामग्री से समान रूप से लाभ उठाया जा सकता है। दर साहब की पुस्तक की अपेक्षा इस पुस्तक में विषयों का प्रतिपादन अधिक विस्तार से किया गया है, लेकिन जिस भाग का अनुवाद हिन्दी में हुआ है, उसमें छपाई की विविध मशीनों और क्रियाओं का अत्यल्प वर्णन है। प्रेस की सामग्री का इस पुस्तक में बहुत अधिक विवरण है।

इस विषय में एक पुस्तक पूना से भी प्रकाशित हुई है, जिसमें केवल टाइप और कम्पोजिंग संबंधी सारी क्रिया पर प्रकाश डाला गया है। उस पुस्तक में एक विशेष बात है जो ऊपर की दोनों पुस्तकों में नहीं है। पाण्डुलिपि तैयार करने की विधि का उसमें सांगोपांग वर्णन है। पाण्डुलिपि का संबंध प्रेस और प्रकाशन दोनों से है और दोनों के व्यवसायियों को इसका ज्ञान होना चाहिए। कम्पोजिंग में ही पाण्डुलिपि तैयार करने की विधि देकर लेखक ने इस पुस्तक की उपादेयता बढ़ा दी है।

मुद्रण-कला—मुद्रण पर यह सबसे आधुनिक पुस्तक है। यह बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक निजी अनुभव, व्यावहारिक ज्ञान और अनेक अंगरेजी पुस्तकों के अध्ययन से लिखी गई है। प्रेस संबंधी सारी क्रिया का सांगोपांग वर्णन इस पुस्तक में है। कम्पोजिंग और छपाई की आधुनिक क्रियाओं और मशीनों का सरल भाषा में वर्णन किया गया है। विषय को सरस और सरल बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। प्रेसवालों के लिए यह पुस्तक नितान्त उपादेय है।

पुस्तक-प्रकाशन—यह अंगरेजी की पुस्तक 'ट्रूथ अबाउट पब्लिशिंग' का हिन्दी अनुवाद है। यह पुस्तक ज्ञानमण्डल, काशी से प्रकाशित है। प्रकाशन-विषय पर यही पहली पुस्तक मुझे देखने में आई है। इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य हैं—हिन्दी प्रकाशकों को समुन्नत विदेशी प्रकाशकों की प्रकाशन-पद्धति का ज्ञान हो जाय, वे अपनी त्रुटियाँ समझें। पुस्तक-प्रकाशन के व्यवसाय को सुन्दर ढंग से चलाने का अनुभव प्राप्त करके उसमें सफलता प्राप्त करें और पुस्तक-व्यवसाय को समुन्नत बनाने में समर्थ हो सकें। इस पुस्तक में प्रकाशन संबंधी सभी बातों का विवरण है। इस पुस्तक के पढ़ जाने से प्रकाशक को ऐसी अनेक बातों का ज्ञान हो जायगा, जो पुस्तक-व्यवसाय में उनके लिए लाभप्रद होंगी।

चूँकि यह पुस्तक यूरोप में लिखी गई है, इसलिए लेखक की दृष्टि में यूरोपीय प्रकाशन-व्यवसाय का होना स्वाभाविक है। इसलिए, कई ऐसी बातों का समावेश इस पुस्तक में है, जो हमारे देश के प्रकाशन-व्यवसाय पर लागू नहीं होतीं। फिर भी पुस्तक में इतनी सामग्री है, जो यहाँ के प्रकाशकों के लिए पर्याप्त है।



तीन समस्याएँ: तीन टिप्पणियाँ

पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

हम एक भारतीय समाचार-पत्र से यह अंश उद्धृत कर रहे हैं, जिसने इसका नामकरण, "विद्या के क्षेत्र में एकाधिकार हानिकारक", ठीक ही किया था।

यह वृत्तान्त आप ही बोलता है, अतः हम इस पर अपनी टिप्पणी देने की आवश्यकता नहीं समझते—

"मद्रास हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री पी० वी० बालकृष्ण अय्यर ने, एक फैसले के बीच, कहा कि इस वर्ष की सेकेंडरी स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट के निमित्त मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी की एक पाठ्य-पुस्तक, (स्काट रचित 'Quentin Durward' का संक्षिप्त संस्करण, सरकारी ट्रेनिंग कॉलेज की महिला प्रिंसिपल द्वारा सम्पादित) 'उल्लेखनीय सफलता नहीं रही है'।

"एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है'—इन शब्दों से उक्त प्रकाशन के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा ; 'स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा में बैठने वाले लड़के और लड़कियों पर, इस उम्र में प्राप्त उनके बौद्धिक विकास के सामान्य स्तर को दृष्टिगत रख, इस पुस्तक का अंग्रेज़ी शिक्षण के निमित्त पाठ्य-रूप में लादना, उन पर ज़ुल्म करना है'।

"विराम-चिह्न और हिज्जे:—आगे न्यायाधीश ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि संपादिका और मुद्रक दोनों ने विराम-चिह्नों की अवहेलना की है, और हिज्जे के मामले में उनके अपने विचार हैं—पूर्णतया मौलिक, जहाँ वे किसी का पथ-प्रदर्शन स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं'। उन्होंने कहा कि व्याकरण और रचना के संबंध में संपादिका 'व्यक्तिवादी रही हैं और प्राचीन वैयाकरणों के कष्टप्रद नियमों का बंधन स्वीकार नहीं करतीं'।

"श्री बालकृष्ण अय्यर ने कहा कि जो-कुछ भी हो, उनके समक्ष उठाए गए प्रश्न का पाठ यों हैः—अविस्तृत अध्ययन के निमित्त सरकार द्वारा अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित करने का वर्तमान प्रयास पूर्णतया असफल रहा है। संकुचित मनोवृत्ति के कारण यह विचार आज सहसा अनुमोदित नहीं किया जा सकेगा कि इस तरह का काम वैयक्तिक उद्योगों के अधीन ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा'।

"शिक्षा-धारा के अन्तर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक खतरनाक है।"

—दि इंडियन पब्लिशर एंड बुकसेलर,
जनवरी, ५६

संयुक्त हिन्दी प्रकाशकों की घोषणा

'प्रकाशन समाचार' के जनवरी के अंक में "संयुक्त हिन्दी प्रकाशकों" की घोषणा छपी है और उसके समर्थन में 'संयोजक के दो शब्द, उसी में हैं।

घोषणा यह है कि प्रकाशक उन पुस्तक-विक्रेताओं को अपने प्रकाशन नहीं बेचेंगे जो हस्ताक्षर करके प्रकाशकों को आश्वासन नहीं देते कि वे—

(१) पुस्तक पर छपी हुई कीमत ही ग्राहकों से लेंगे।

(२) किसी भी हालत में सवा छः प्रतिशत से अधिक कमीशन नहीं देंगे।

(३) किसी भी पुस्तकालय को, किसी भी दशा में साढे बारह प्रतिशत से अधिक कमीशन नहीं देंगे।

(४) सरकारी ऑर्डर पर बीस प्रतिशत से अधिक कमीशन नहीं देंगे।

उपर्युक्त बन्धन लिखित रूप में स्वीकार न करनेवाले पुस्तक-विक्रेताओं को पुस्तकें न बेचने के संकल्प का भी घोषणा में उल्लेख है। कुछ प्रमुख प्रकाशकों ने यह निश्चय जाहिर भी किया है।

संचालक के समर्थन-पत्रक में कठिनाइयों का उल्लेख है जिनका अन्तिम परिणाम बताया गया है कि अच्छी पुस्तकें प्रकाश में नहीं आतीं तथा लेखक, प्रकाशक आदि उचित लाभांश पाने से वंचित रह जाते हैं।

घोषणा-पत्र का उद्देश्य समझ में आता है। लेकिन एक बात समझ से बाहर की है कि ग्राहक, पुस्तकालय और सरकार को कमीशन देने की जरूरत ही क्या है? प्रकाशक पुस्तक-विक्रेता को कमीशन अवश्य दे, क्योंकि किताबों की खरीद-बिक्री पर उसका जीवन निर्भर है। कमीशन का यह एक अनिवार्य उद्देश्य है। कमीशन और उसके दर कम-बेसी करने का दूसरा कारण है, खुले बाजार में किताबों की बिक्री बढ़ाना। अगर पुस्तक-विक्रेताओं पर पुस्तक पर छपे मूल्य पर बेचने और कमीशन न देने का बन्धन लगाया गया, तो यह प्रश्न आप-से-आप हल हो जाता है। हाँ, प्रकाशक अपने ऊपर अवश्य बन्धन लगा लें कि वे पुस्तक-विक्रेताओं को निश्चित दर के अनुसार कमीशन देंगे, जिसके लिए कुछ कसौटियाँ रखेंगे और पुस्तकों का वर्गीकरण करेंगे।

प्रकाशकों का घोषणापत्र सिर्फ पुस्तक-विक्रेताओं पर लगाम बाँधना चाहता है और खुद मुक्त रहता है। अगर प्रकाशक मनमाना कमीशन देने लगेंगे तो पुस्तक-विक्रेताओं के बदले प्रकाशक आपस में स्पर्धा करेंगे।

पुस्तक-विक्रेताओं के जीवन की दृष्टि से प्रकाशक क्या करना चाहेंगे और कौन-सा बंधन स्वीकार करना चाहेंगे? कमीशन देने का रिवाज ही बन्द करने में लाभ है। प्रकाशकगण इस पहलू पर भी ध्यान देंगे तो लाभ होगा।

—'राष्ट्रवाणी', पूना, मार्च, १९५९

पाठकों के लिए राहत

पश्चिम बंग सरकार द्वारा, पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं पर से बिक्री-कर उठा लेने के निर्णय का, सर्वत्र स्वागत होगा। जैसा कि बंगाल के मुख्यमंत्री डा० विधानचन्द्र राय ने स्पष्ट किया, वहाँ धार्मिक पुस्तकों तथा प्राथमिक पाठशालाओं की पाठ्य-पुस्तकों को पहले से ही बिक्री-कर से मुक्ति मिली हुई थी। लेकिन, जो बंगाल अपनी शिक्षा और विद्या-साधना के क्षेत्र में सदा अग्रणी रहा है, वहाँ इतनी-सी ही मुक्ति बौद्धिक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं थी, जबकि वहाँ के पाठक-वर्गों की आर्थिक स्थिति कोई अच्छी नहीं है। इस कर के विरुद्ध हाल के आन्दोलन के मुखिया वहाँ के प्रकाशक थे, जिनका तर्क यह था कि इस कर के विभिन्न प्रान्तों में लागू होने की विभिन्नताएँ पुस्तक-व्यापार को पश्चिमी बंगाल से बाहर बहाकर ले जा रही हैं। यद्यपि उन्हें भी राहत की अपेक्षा थी, फिर भी यह कर-मुक्ति साधारण पाठकों के लिए उनसे अधिक मूल्य रखती है, चाहे वह पाठक साधारण संस्कार का व्यक्ति हो या देश की वर्तमान औद्योगिक क्रान्ति में भाग लेने के लिए अपने को अभियंत्रित करने वाला।

देश की वर्तमान आर्थिक दुःस्थिति में सस्ती पुस्तकों का महत्व स्पष्ट है, और इसपर पिछले मंगलवार को बंबई में श्री नेहरू ने पर्याप्त बल भी दिया था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि जहाँ आज इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता है, वहाँ पुस्तकों की बहुमूल्यता और सीमित माँग ने एक गतिरोधी परिस्थिति पैदा कर दी है। इसमें शंका नहीं है कि यह बिक्री-कर इस गतिरोध के कारणों में

एक कारण-विशेष ही है। अन्य कारणों में, पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण या उनके उत्पादन में सरकार के नौकरशाही दाँव-पेंच के प्रयोग भी, हो सकते हैं; जोकि प्रकाशकों की रोजी-रोटी कहीं अधिक छीनते हैं। फिर भी, विद्या पर किसी प्रकार का कर सिद्धान्ततः अवांछनीय है और पुस्तकों पर से बिक्री-कर पहले से ही बहुत-से क्षेत्रों के उठा लिया गया था। पश्चिम बंगाल का यह निर्णय बम्बई और मैसूर द्वारा स्थापित परम्परा में ही एक कदम है। अतः, अब यह आशा तो सर्वत्र की जायगी कि आंध्र, आसाम, उड़ीसा और मणिपुर राज्य भी, जहाँ कि यह कर अब भी लदा हुआ है—बंबई, मैसूर और बंगाल वाली कतार में ही आ खड़े होंगे।

—'स्टेट्समैन', मार्च १४, १६५६



लेखकों को पुरस्कार

इस वष उत्तर प्रदेश सरकार ने हिंदी के १५६ लेखकों में, उनकी उल्लेखनीय कृतियों के लिए ६०, ३००) रुपये, अपनी हिन्दी-समिति की सिफारिशों के अनुसार, वितरित किए हैं। जिनमें श्री फूलदेव सहाय वर्मा (पेट्रोलियम), प्रो० श्री मुनेश्वर प्रसाद (भारतीय स्कूलों में समाज-अध्ययन का शिक्षण), श्री रामवृक्ष बेनीपुरी (मील के पत्थर), आचार्य श्री जानकी वल्लभ शास्त्री (पाषाणी), तथा श्री बैजनाथ सिंह विनोद (भोजपुरी लोक-साहित्य एक अध्ययन) भी पुरस्कृत किए गए हैं।

बाल-साहित्य की पाँचवीं पुरस्कार-प्रतियोगिता

शिक्षा-मंत्रालय भारत सरकार ने उक्त के निमित्त २५ मई १६५६ तक पुस्तकों और पांडुलिपियों की माँग की है। हिंदी, उर्दू और सिन्धी की पुस्तकें इस पते पर भेजी जानी चाहिएँ--एसिस्टेंट एजुकेशनल एडभाइजर (बी०-३), शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली। अन्य भारतीय भाषाओं की पुस्तकें अपने क्षेत्र के शिक्षा-सचिवों के पास जानी चाहिएँ।

नव-शिक्षितों के लिए साहित्य की छठी पुरस्कार-प्रतियोगिता

उक्त के निमित्त पुस्तकें या पांडुलिपियाँ अप्रेल ३०, १६५६ तक इस पते पर पहुँच जानी चाहिएँ--स्पेशल अफसर (लिट्रेचर), सेक्शन एस डब्लू–II, शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।



कागज का दशमलव (मैट्रिक) माप

सरकारी व्यवहार के निमित्त दशमलव-माप के नए कागज

इस समय देश में विभिन्न मापों के कागजों का उत्पादन हो रहा है। यह वांछित है कि सभी उत्पादित और प्रयुक्त कागज दशमलवी प्रणाली के कुछ निश्चित मापों में बद्ध हों। तदनुसार भारतीय स्टैन्डर्ड्स इन्स्टिट्यूशन ने कागजों के माप निश्चित किए हैं और तेरह श्रेणियों के, मिलिमीटर-मापों में, कुल कागजों को प्रस्तुत किया है। प्रचलित माप और तदनुसार उनके निश्चित माप निम्नांकित दिए जा रहे हैं। यह आशा की जाती है कि कुल उत्पन्न होनेवाले कागज १९६० तक इन मापों के अन्तर्गत हो जायेंगे।

नाम श्रेणी	मिलिमीटर-माप	वर्ग-माप इंच में
४ ए.०	१६८२ × २३७८	६६ × ९३½
२ ए.०	११८९ × १६८२	४७ × ६६
ए.०	८४१ × ११८९	३३ × ४७
ए.१	५९४ × ८४१	२३½ × ३३
ए.२	४२० × ५९४	१६½ × २३½
ए.३	२९७ × ४२०	११½ × १६½
ए.४	२१० × २९७	८½ × ११½
ए.५	१४८ × २१०	६ × ८½
ए.६	१०५ × १४८	४ × ६
ए.७	७४ × १०५	३ × ४
ए.८	५२ × ७४	२ × ३
ए.९	३७ × ५२	१½ × २
ए.१०	२६ × ३७	१ × १½

विभिन्न व्यवहारों के लिए प्रस्तुत कागजों के माप

(१) टीयर आफ कैलेंडर ब्लाक—ए.४-५-६-७-८
(२) टीयर आफ कैलेंडर बेस—ए.२-३-४-५-६-७
(३) डायरेक्टरीज (जेनरल)—ए.४-५
(४) आफिसियल गजट—ए.४
(५) स्पेयर स्क्रिप्स—ए.३-४-५
(६) एडवर्टाइजमेंट पोस्टर—ए.०-१-२-३
(७) सार्टिफिकेट्स—ए.४-५-६
(८) आर्डर फार्म्स—ए.४-५-६
(९) प्रिंटिंग प्रूफ—ए.३-४-५-६-७
(१०) लेटर्स (जेनरल)—ए.४
(११) हाफ लेटर साइज (जेनरल)—ए.५
(१२) बुक्स—ए.४-५-६-७
(१३) कार्बन पेपर्स—ए.४-५
(१४) रेलवे टाइम टेबुल—ए.०-१-२-३-४-५-६
(१५) टेलीफोन डायरेक्टरी—ए.४-५
(१६) स्क्रीबिंग पैड्स या नोट-पेपर—ए.४-५-६-७
(१७) ट्रेड बुक्स—ए.२-३-४-५
(१८) कमर्शियल लेटर पेपर—ए.३-४-५-६-७
(१९) कार्ड इन्डेक्स—ए.४-५-६-७
(२०) कैटेलौग्स—ए.४-५-६-७
(२१) एडवर्टाइजिंग पम्फलेट्स—ए.०-१-२-३-४-५-६-७-८-९
(२२) हैन्ड बिल्स—ए.६-७-८-९
(२३) पीरियोडिकल, मैगजीन—ए.३-४-५
(२४) कास्टिंग और पोस्टिंग शीट—ए.४-५
(२५) मैप्स—ए.०-१-२-३-४-५-६-७-८-९
(२६) पेटेन्ट और स्टैन्डर्ड ड्राइंग पेपर—ए. ३-४
(२७) पोस्टर (बड़े)—ए.०-१-२-३
(२८) ड्राइंग—ए.०-१-२-३-४-५-६
(२९) पोस्ट कार्ड—ए.६
(३०) न्यूज पेपर—ए.२-३-४
(३१) प्राइज लिस्ट—ए.४-५-६-७
(३२) रिसिप्ट्स—ए.५-६
(३३) इन्स्ट्रूमेन्ट रेकार्ड शीट (राउन्ड)—ए.४-५
(३४) साइन बोर्ड—ए.०-१-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२
(३५) पाकेट नोट बुक—ए.५-६-७
(३६) सैंड पेपर—ए.४-५-६
(३७) इन्स्ट्रक्शन एण्ड रूल शीट्स—ए.३-४-५-६

बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ की स्थापना

बिहार के प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की एक बैठक श्री जयनाथ मिश्रजी की अध्यक्षता में भारती भवन, पटना के प्रांगण में २२ मार्च को हुई। इसमें बिहार सरकार को, पहली अप्रिल, ५६ से पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं पर से बिक्री-कर उठा लेने के निर्णय पर, धन्यवाद दिया गया। धन्यवाद का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

तत्पश्चात सभा ने सर्वसम्मति से 'बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ' के नाम से बिहार के प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं के एक संघ की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकृत किया। विधानतः इसके चुनाव-काल तक कार्य-संचालन के लिए, १५ व्यक्तियों की एक अस्थायी समिति संगठित की गई, जिसके संयोजक साइंटिफिक बुक कम्पनी, पटना के श्री के० के० भगत नियुक्त किए गए। यह समिति ३० जून, १६५६ तक विधान का निर्माण कर, तदनुकूल बिहार के समस्त प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की आम-सभा का आयोजन करेगी, जिसमें निश्चित कार्य-वर्ष के लिए पदाधिकारियों का चुनाव होगा तथा कार्यकारिणी-समिति बनेगी, और तदनन्तर स्वयं विघटित हो जायगी। निम्न व्यक्ति अस्थायी समिति के सदस्य चुने गए:—

१.	श्री के० के० भगत (संयोजक)	साइंटिफिक बुक कं०, पटना
२.	" जयनाथ मिश्र	श्री अजन्ता प्रेस (प्रा०) लि०, पटना
३.	" शिवयोगी मिश्र	नागरी प्रकाशन (") लि०, पटना
४.	" मैथिली शरण सिंह	पुस्तक भंडार, पटना
५.	" मोहित मोहन बोस	भारती भवन, पटना
६.	" तारानन्द झा	नोवेल्टी एंड कं०, पटना
७.	" मणिशंकर लाल	साहित्य निकेतन, पटना
८.	" भीमसेनजी	राजकमल प्रकाशन (प्रा०) लि०, पटना
९.	" अरुण दास गुप्त	पीपुल्स बुक हाउस, पटना
१०.	" पूर्णचन्द्र पाहुजा	पाहुजा ब्रदर्स, पटना
११.	" नरेश चन्द्र	बुनियादी साहित्य मंदिर, पटना
१२.	" गौरीनन्दन सिंह	बुक सेंटर, पटना
१३.	" जगमोहन प्रसाद	गंगा पुस्तकालय, पटना
१४.	" वीरेन्द्र कुमार	यूनिवर्सिटी बुक डिपो, पटना
१५.	" परमेश्वर सिंह	श्री लक्ष्मी पुस्तकालय, पटना
१६.	" अखिलेश्वर पांडेय (कोषाध्यक्ष)	पराग प्रकाशन, पटना

अभी इसका अस्थायी कार्यालय पराग प्रकाशन, पटना में रखने का निश्चय किया गया। अध्यक्ष की अपील पर संघ के कार्य-संचालन के लिए उपस्थित व्यक्तियों ने मुक्तहस्त दान देने का निश्चय प्रकट किया।

अन्त में एक चाय-पार्टी के बाद बैठक, अध्यक्ष को धन्यवाद दे, विसर्जित हुई।





धन्यवाद और बधाई के पात्र

पश्चिमी बंगाल की सरकार द्वारा पुस्तकों को बिक्री-कर से मुक्त करने की घोषणा ने सबको प्रसन्न किया है। निस्सन्देह इसके लिए वहाँ की सरकार और विधायक धन्यवाद के पात्र हैं और जनता तथा प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता-संघ बधाई के !

पुस्तक पर कर, उदार मत के अनुसार अवांछनीय है—इसे मान कर वहाँ की सरकार ने अपनी आदर्शवादिता का परिचय दिया है। बंगाल के विधायकों ने अपने क्षेत्र के बौद्धिक विकास और व्यवसाय की हानि के प्रति जागरूक रह, जिस प्रकार पुस्तकों से बिक्री-कर उठा लेने की माँग बार-बार रखी, वह उनके सजग पहरुए होने का द्योतक है। बंगाल की जनता तथा प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता-संघ ने इस न्यायोचित माँग के आंदोलन में भारी एकता और दृढ़ता का जो उदाहरण उपस्थित किया है, वह मात्र सराहनीय ही नहीं, अन्य क्षेत्रों के लिए अनुकरणीय भी है। यह सफलता, व्यावसायिक दृष्टि से बड़ी उपलब्धि है; क्योंकि केन्द्रीय बिक्री-कर-व्यवस्था और देश की राज्य-सरकारों की तत्संबंधी नीति की विभिन्नताओं ने एक दुखदायी असंतुलन, पूरे देश में बिखरे इस व्यवसाय में, पैदा कर दिया था। वर्त्तमान में सस्ती पुस्तकों की आवश्यकता की दृष्टि से भी इस कर-मुक्ति की आवश्यकता थी। विश्वास है, सरकार ने, इससे मुक्त करने के निर्णय से, प्रकाशकों के सस्ती पुस्तकें प्रकाशित करने के सद्विचार में, जो आस्था प्रकट की है, उसे वे सत्य कर दिखाएँगे। निस्सन्देह बंगाल का संघ अपने सदस्यों को इस ओर भी प्रोत्साहित कर, अपनी सार्थकता सिद्ध करेगा।

और अब बिहार भी !

बंगाल में पुस्तक पर से बिक्री-कर उठा लिए जाने के बाद बिहार, उड़ीसा, आसाम और मणिपुर—ये चार राज्य ही रह गये थे, जहाँ यह कर लदा था। २० तारीख को बिहार विधान-सभा में राज्य के उप-अर्थमंत्री श्री अम्बिका शरण सिंह ने पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं पर से, पहली अप्रिल, १९५९ से बिक्री-कर उठा लेने की सरकारी घोषणा की, जिसका स्वागत पुस्तक-अनुरागियों और व्यवसायिओं, दोनों क्षेत्रों में उल्लास के साथ किया गया। विद्या-भूमि बिहार में पुस्तक पर कर निस्सन्देह कलंक की बात थी। बुद्धिजीवियों और व्यवसायिओं की ओर से बार-बार अनुनय-विनय भी किए जा रहे थे। कई स्मृति-पत्र भी पेश किए गए थे। सरकार ने समय पर बंगाल का अनुसरण कर, राज्य के इस व्यवसाय को भी स्पर्धापूर्ण बाजार में डूब जाने से बचा लिया है। अतः यहाँ की सरकार भी धन्यवाद की पात्र है।



'पुस्तक-जगत' के नियम

* "पुस्तक-जगत" में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।

* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की १० तारीख तक प्रकाशित होता है।

* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।

* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।

* 'पुस्तक-जगत' का आकार रायल अठपेजी है और २१/४" के दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।

* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,
पटना—४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना—४ में मुद्रित एवं प्रकाशित।

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

मई, १९५९ : अंक—९ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

लेखक के लिए प्रकाशक बनना ही वांछनीय नहीं !



श्री विष्णुदत्त 'कविरत्न'

'पुस्तक-जगत' के दिसंबर-अंक में श्री वेद-राही जी के तुक-रहित प्रश्न का उत्तर स्पष्टरूप से दे दिया गया था। उसके पश्चात किसी पुष्टीकरण की आवश्यकता तो थी नहीं—शायद 'अल् खामोशी नीम रज़ा' वाली बात को स्वीकार कर ही चुके होंगे वे। कहाँ श्री बेनीपुरी और श्री छविनाथ पांडेय का 'राम-राम' और कहाँ अन्य 'प्यारे भाइयों' का तोता-रटन्त ! फिर भी, जिसके हाथ में कलम है और कलम पर चढ़ी हुई स्याही—उसे तो कुछ लिखना ही है। उसमें चाहे आप हों या मैं, या मेरे सगे ! पक्षपात और मनमुटाव पर लानत भेजिए !

अस्तु। हे द्वारका भाई ! आपने जो कहा, सो तो कहा ही, किन्तु कुछ ऐसे लेखकों का भी जिक्र किया कि जो "कुछ ऐसे भी हैं जिनके पेशे का कोई नाम तो नहीं दिया जा सकता, पर इतना कहा जा सकता है कि वे 'राजनीति' करके गाड़ी चला रहे हैं।" मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि आपने लेखक या पत्रकार के पवित्र पेशे को ऐसा-वैसा कहकर कैसे बदनाम किया ? आप उस बेचारे राजनीतिक लेखक को हीन-दृष्टि से क्यों देखते हैं ? फिर, इतनों की टाँग खींच कर साथ ही आप यह भी कहते हैं कि "इस संबंध में किसी का और कुछ कहना केवल किसी-न-किसी पक्ष का पुष्टीकरण होगा।"

पक्ष लेते भी जाते हैं और अपने को पक्षातीत भी कहते जाते हैं। इन्साफ के तराजू के सामने बैठकर पलड़ों के झुकाव की तरफ मन ललचाना कोई पक्ष-रहितता थोड़े ही कहलाती है ? आपने अपने को कहा तो 'विवेचक' है, किन्तु प्रत्यालोचन करते-करते बढ़ गए हैं पक्षपात की ओर—राही जी की ओर !

सो, बुरा मत मानना, हे द्वारका भाई ! न तो मैं आपका विरोध ही कर रहा हूँ और न आपकी पुष्टि ! मैं क्या, कोई भी स्वाभिमानी लेखक आपकी बातों से सहमत नहीं हो सकता। एक स्थान पर आप कहते हैं कि 'आज का लेखक (विशेषकर हिंदी का) लिखकर अपनी जीविका नहीं चला पा रहा है—इक्के-दुक्के भाग्यशाली को छोड़कर"—और दूसरी ओर आप यह भी कहते हैं कि "दर-असल लेखक को सिर्फ लेखक ही रहने दिया जाय तभी साहित्य का वास्तविक अर्थ में सृजन हो सकता है…।" आखिर आपको किसी एक छोर पर ठहर कर ही तो दूसरे छोर को देखना चाहिए।

भाई जी की दृष्टि यदि मेरे दिसंबर-अंक के लेख पर गई होगी तो उन्होंने पढ़ा होगा कि लेखक बेचारा प्रकाशक बनकर—प्रेसाधिकारी बनकर—क्या सुख पाता है ? यदि भाईजी के शब्दों में, लेखक शाक-भाजी की दूकान करले या पनवाड़ी बन जाए, तो प्रकाशक बनने में ही क्या आपत्ति है ? मेरा मत है कि निज का प्रेस हो तो वह प्रेत के समान है, और यदि प्रकाशक बनकर किसी दूसरे प्रेस की शरण में जाया जाय तो फिर उस लेखक-कम-प्रकाशक का 'राम-नाम सत्य है' ही हुआ। वह बेचारा प्रकाशक क्या बनेगा, बल्कि अपनी लेखक की छाप भी गँवा बैठेगा। न ख़ुदा ही मिला—न बिसाले सनम !

× × ×

यह बात आपकी मानी कि लेखक कॉलिज में झख मारकर, रेडिओ डाइरेक्टर से माथा-पच्ची कर, अभागा संपादक होकर, विज्ञापन आफिस में कापी-राइटर होकर तथा येनकेन-प्रकारेण, अपनी जीविका चलाता ही है। परन्तु, दादा! इस बात का भी ध्यान रहे कि उपर्युक्त सभी (आपके शब्दों में) पेशे धारण करके भी लेखक इतना अशान्त नहीं है, जितना कि प्रकाशक होकर!

भाई, मैं दुविधे की नहीं, दो-टूक कहवा पसन्द करता हूँ। बकरी की तीन टाँग जैसी हामी भरना मुझे नहीं आता। वास्तव में, जो सत्-साहित्यकार है, वह इन (प्रकाशनों के) पचड़ों में नहीं पड़ता। वह मान और नाम का भूखा है। भूखा मर जाता है, पर किसी के सामने हाथ नहीं पसारता—अनुचित नहीं करता। यह भी बात है कि सरस्वती का पुजारी धन का लोभी नहीं होता। (यद्यपि हाथ आता हुआ धन किसको बुरा लगता है फिर भी) अन्याय या बेईमानी का पैसा उसे पसन्द नहीं होता। सच्चे लेखक और साहित्यिक का सिद्धान्त होता है—"हम हंस हैं मानसरोवर के, मुकता तज चून न चाटहिंगे"। हमारे पूर्वज साहित्य-साधना को छोड़ कर इस बहुधंधी धुन में—कब प्रकाशक बने? इसी से तो उनके साहित्य का डंका आज भी बज रहा है। लेखक के लिए धन से संपन्न होने से कहीं अधिक चरित्र की बात है—साहित्य से सम्पन्न होना। और, इसके लिए आवश्यक है कि वह लगन के साथ साहित्य के द्वारा ही अपनी और समाज की सेवा करता चले।

यह व्यक्तिगत आक्षेप की बात नहीं है। भाई द्वारका प्रसाद जी ने जोरदार शब्दों में कहा है कि "लेख के इस छोटे-से कलेवर में इस वस्तुस्थिति के कारणों के विश्लेषण में नहीं जाया जा सकता, लेकिन वास्तविकता यही है, इससे इन्कार करने की जुर्रत कोई नहीं कर सकता।"

मेरे भाई, लेख का कलेवर छोटा हो या बड़ा, इससे विषय-व्याख्या का कोई संबंध नहीं। रही बात कारणों के संश्लेषण-विश्लेषण की—अपनी निगाह से ही उसको वास्तविकता का ठेका दे देना कोई अक्लमन्दी नहीं। फिर यह फतवा दे देना भी उचित नहीं कि कोई आपकी कही हुई बात के विरुद्ध कहने की जुर्रत ही नहीं करे। यह तो ईश्वरीय पुस्तक-पाक का कोई आर्ष-प्रमाण नहीं, जोकि अकाट्य हो! यह तो गणराज्य के अधिकार और साहित्य के मुक्तिमंत्र के तहत विवेचना का खुला क्षेत्र है। कितने ही लेखकों ने प्रकाशक बनने का प्रयत्न किया और अन्त में उन्होंने प्रेस, कागज, टाइप, मशीन, केस और आखिर में घरवार तक बेचकर इस शौक से विदा लेते हुए कलम सम्हाली और उसे ही जीविका का साधन बनाया।

एक साहित्यिक को असफल दिखाकर पान की दूकान खोलने का उदाहरण दिया गया है। मेरी आँखों-देखी बात है—सफल नाट्याचार्य पंडित नारायण प्रसाद 'बेताब' दिल्ली के चाह-रहट में पूरे बीस वर्ष तक प्रकाशक रहे। परन्तु इस प्रकाशन-कार्य से उनकी संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई। अन्त में प्रेस को अपने साले के हवाले कर बंबई चित्रपट-संसार में पहुँचे। वहीं लेखक रहकर ही उन्होंने जीवन बिताया और लेखन में सफल भी हुए।

एक लेखक के लिए यह उचित है कि वह अपनी लेखन-वृत्ति के साथ-साथ जीविका के लिए और कोई भी उद्योग करे, पर प्रकाशक बनने की चेष्टा न करे, क्योंकि वह उसके हित में अवांछनीय है।



सेमल के फूल, धुँधले तारे, बिखरे विचार



श्री चन्द्रकान्त वर्मा

● एक दिन एक किताब की दूकान पर किताबें पसन्द कर रहा था।

एक ग्राहक आये और कहने लगे—"मुझे 'मृगनयनी' चाहिए।"

विक्रेता ने उनके सामने किताब रखी। दाम पूछा तो वह भी बतला दिया।

उन्होंने लौट-पलटकर किताब देखी, फिर कुछ विचार किया। बोले—"दाम तो इसका कुछ ज्यादा मालूम होता है। अगर कोई कम दाम की हो—"

उन्होंने कुछ इस तरह कहा, मानो किसी "सेकेन्ड हैन्ड" किताब की दूकान पर बातचीत कर रहे हों। यह नहीं, इससे ज्यादा फटी-चिटी। चिन्दी उड़ी हो तब भी कोई परवाह नहीं; मगर दाम इससे सस्ता होना चाहिए। साथ-ही-साथ यह भी ठीक था कि वे माँग रहे थे वही किताब।

विक्रेता ने चट आलमारी से दूसरी किताब निकाली। उसे उनके सामने रख दिया। कहने लगा—"तब आप इस 'मृगनयनी' को लें। इसका दाम कम है। यह साढ़े तीन में ही आ जायगी।"

मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। पहली बार जो किताब दिखलाई गई थी उस 'मृगनयनी' को मैं पढ़ चुका था। वह श्री वृन्दावनलाल वर्मा की सुप्रसिद्ध पुस्तक है। फिर यह दूसरी 'मृगनयनी' कौन-सी बला है?

उत्सुकतावश किताब को हाथ में लेकर देखा तो पाया कि पुस्तक का नाम है "मृगनयनी या मृगछाला।" लेखक हैं श्री त्रिभुवनपति सिंह, साहित्य-सम्पादक "लोकमान्य", कलकत्ता। प्रकाशक हैं : अशोक पुस्तक मन्दिर, १६३ महात्मा गान्धी रोड, कलकत्ता ७। मूल्य साढ़े तीन ठीक बतलाया गया था।

प्रकाशक ने ऊपर ऐसा कव्हर छापा है कि केवल 'मृगनयनी' नाम ही अधिक स्पष्ट होकर आँखों के सामने उभर आता है। यह अच्छी बात नहीं। इससे नीयत की कुछ गड़बड़ी-सी लगती है।

प्रकाशक ने इस तरह के अपने काम से विक्रेता को सहारा दिया। विक्रेता ने भी अगर खरीदार को बुद्धू बनाने की कोशिश की तो इसीलिए कि जहाँ लोग दाम सस्ता सुनते हैं, चट हाथ बढ़ाकर कहते हैं—लाइए। चीज चाहे जैसी भी हो।

लगता है जैसे न अध्ययन का कोई क्रम है, न रुचि है। इस तरह किताब खरीदने से तो यही अच्छा है कि पुस्तकालय से लाकर अच्छी किताबें पढ़ा करें। जहाँ खरीदने की बात आई कि सस्ते के फेर में पड़ गए। कपड़े की दूकान पर आप जाते हैं तो कहते हैं कि मुझे असली तसर का माल दीजिए; दाम चाहे जो लग जाय। यहाँ बाफ्ता वगैरह से काम नहीं चलने का। घड़ी की दूकान पर जाते हैं, तो साफ-साफ पहले ही जता देते हैं कि दाम चाहे जो ले-लो; मगर चीज टिकाऊ होनी चाहिए। ऐसी चीज तो मुझे बिल्कुल ही नहीं चाहिये कि जिसे लेकर हम रोज-रोज घड़ीसाज के यहाँ दौड़ते रहें।

मगर किताब की दूकान!⋯वह तो जैसे सूनी रहती है। लोग किताब की दूकान पर कम-से-कम जाते हैं। ऐसे तो हजारों लोग आपको मिल जायेंगे, जो दस-पन्द्रह वर्षों से किताब की दूकान पर गये ही न हों। अगर

कभी भूले-भटके गये भी तो सस्ती•••!•••••• सिनेमा की टिकट सस्ती नहीं, सिगरेट सस्ती नहीं,•••किताब सस्ती ही चाहिए••••••चाहे किताब कूड़ा ही क्यों न हो।•••रुचि को परिष्कृत कीजिए, अध्ययन को जीवन में सम्मिलित कीजिए। जो समय आपका फालतू बच जाता है, जीवन के उस अंश को बेकार मत बरबाद कीजिए। अच्छी किताबें पढ़िये।

● किताब की दूकान वही थी; लेकिन घटना दूसरे दिन की है।

कुछ लड़कियाँ आईं। बोलीं—"प्रेमचन्द की किताब बताइए!"

विक्रेता उन्हें प्रेमचन्द की किताब दिखलाने लगा। वे सारी किताबें देखती रहीं, मगर पसन्द एक भी नहीं आई। फिर जैनेन्द्र-कुमार, फिर भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अनूपलाल मंडल, ये, वो, हर अच्छे लेखकों की किताबें देखती रहीं। मगर उन लेखकों की एक किताब भी नहीं खरीदी गई।

जब वे जाने लगीं, तो बनारस के एक बदनाम लेखक की कुछ किताबें खरीदकर लेती गईं।

दूकानदार उनकी रुचि को भाँप कर एक सुप्रसिद्ध अश्लील पुस्तक का नाम लेकर पूछने लगा—"कहिये तो वह भी दिखलाऊँ?"

लड़कियों ने कहा—"नहीं जी, उसे पढ़ चुकी हैं!"

कुप्रवृत्ति की वासना लड़कियों में शायद ज्यादा रहती है; मगर उसे वे बहुत धीरे-धीरे तरह-तरह की ओट और आडम्बर के द्वारा प्रकट करती हैं। लड़कों में वह बात नहीं। उस घटना के कुछ देर के बाद ही कुछ लड़के आये और बनारस के उसी बदनाम लेखक का नाम लेकर कहने लगे कि अमुकजी की किताब है? उन्होंने खुलकर माँगा, खुलेआम उन किताबों पर बातें कीं, फिर जो तबीयत में आई वही किताब खरीदी, और चले गये।

कुछ ऐसा लगता है कि यहाँ किताबों का पठन, मात्र मनोरंजन के लिए नहीं, साहित्यिक रुचि या जानकारी को तृप्त करने के लिए ही नहीं, बल्कि दमित यौन-वासनाओं की मानसिक पूर्ति के लिए भी होता है। यह खतरनाक प्रवृत्ति वर्षों से चल रही है; मगर कोई इस ओर ध्यान देनेवाला नहीं। हम कहते हैं कि जो नुकसान ऐटम-बम से भी नहीं होता, उससे भी अधिक नुकसान इस तरह के वासनामूलक साहित्य के प्रचार से हो रहा है।

● हाँ, कभी-कभी मैं किताब की दूकान पर चला जाता हूँ और बैठा रहता हूँ। कुछ मित्रों को यह बुरा मालूम होता है और वे मेरा

मजाक उड़ाते हैं कि बैठने के लिए कोई जगह नहीं मिली तो जाकर किताब की दूकान पर बैठ गये। किताब की दूकान न हुई कोई युनिवर्सीटी हो गई।

बुरा न मानिये। किताब की दूकान युनिवर्सीटी न सही, मगर कोई फालतू चीज भी नहीं। प्रेमचन्द ने किताब की दूकान पर बैठ कर पढ़ते हुए ही लेखक बनने की प्रवृत्ति पाई थी। किताब की दूकान ने संसार को अनातोले फ्रांस के समान संसारप्रसिद्ध लेखक दिया है जिन्होंने 'थाया' जैसी पुस्तक लिखी थी और १६२१ में नोबुल पुरस्कार से सम्मानित हुए थे। किताब की दूकान को हेय दृष्टि से देखना गलत है।

मगर हिन्दी की पुस्तकों की दूकान को किस तरह लोग रखते हैं! ऐसा लगता है जैसे कबाड़खाना हो। किताबें इस तरह पटकी जाती हैं जिस तरह बोरे पटके जाते हैं। तमाम धूल-गर्द पड़ी रहती है। सजावट का तो नाम भी नहीं। किताब को इस तरह बेचते हैं, जिस तरह मूँगफली बेची जाती है। जब तुम कोई किताब किसी के सामने रख रहे हो तो उसे इस तरह आदर के साथ रखो जैसे तुम किसी का हृदय रख रहे हो। किताब केवल पदार्थ ही नहीं, उसके साथ भावनाएँ सम्मिलित हैं। उन भावनाओं का सम्मान होना चाहिए। किताब बिक्री करते हो तो किताबों का महत्त्व समझो। किताबों का आदर करो। जिस तरह मन्दिर को पवित्र, साफ और सुन्दर बनाकर रखा जाता है उसी तरह सरस्वती का यह पुस्तक-मन्दिर भी दिखलाई दे।

मैं जानता हूँ कि मेरे मित्र जो पुस्तक की दूकान के नाम पर मेरा उपहास करते हैं वे उन दूकानों की गन्दगी और हल्केपन को दृष्टि में रखकर ही ऐसा करते हैं।

• एक लेखक मित्र हैं। वे पुस्तक-प्रकाशन की चर्चा कर रहे थे। इस बात से तो वे निश्चिन्त ही थे कि पुस्तक का प्रकाशन आप करना ही ठीक होता है। मगर उसकी रीति क्या हो?

* स्वयं अपनी पूँजी लगाकर प्रकाशन करें?
* कोऑपरेटिंग बनाकर प्रकाशन करें?
* अपना प्रेस कर लें, तब प्रकाशन करें?
* किसी मुख्य पुस्तक-विक्रेता की एजेन्सी ध्यान में रखकर काम करें?

हिन्दी का लेखक उससे भी शान्ति नहीं पा सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। लिखना और चीज है, व्यापार और चीज है। फिर भी उसकी जरूरतें ऐसी हैं कि बाध्य होकर उसे इस तरह सोचना ही पड़ता है। लिखने के

अलावा उससे सम्बद्ध सारी झंझटें ! नैया कैसे पार लगेगी ?

मुझे एक कहानी याद आ गई कि एक आदमी रेलगाड़ी पर यात्रा कर रहा था। उसने अपना सारा माल अपने सिर पर ही लाद लिया था। बेंच पर बैठे हुए भी वे अपने सिर पर अपनी गठरी लेकर बैठे हुए थे।

लेखक का जीवन अगर ऐसा बनाकर रखते हो, तो फिर अन्याय और उपेक्षा और कहाँ है ?

रूस के लेखकों के बारे में आप नाक-भौं सिकोड़ कर कहते हैं कि हत्तेरा भला हो, ये तो बस प्रौपैगैन्डा का ही साहित्य लिखते हैं ! हाँ, उनके साहित्य में प्रौपैगैन्डा जरूर रहता है; मगर सरकार ने उन साहित्य के स्रष्टाओं का मूल्य भी तो आँका है। सरकार की ओर से उन्हें सम्मान मिलता है। वे रूस के धनी लोगों में गिने जाते हैं। आज के रूस में लेखक ही सबसे धनी हैं।

और आपके देश में, आपकी भाषा के साहित्य में अच्छे लेखकों का क्या स्थान है ? समाज ने उन्हें क्या सम्मान दिया है ? फिर सरकार ? आये दिन सुनते हैं कि सरकार के विभागों में लेखक घुटता रहता है। अभी हाल में अच्छे-अच्छे हिन्दी-साहित्यकारों में से कुछ को आकाशवाणी में बुलाया गया था। उनमें अधिकांश श्रेष्ठ साहित्यकार आकाशवाणी को प्रणाम करके चलते हो गये। तब कहा जाने लगा कि सरकार तो लेखकों के प्रति सहानुभूति रखती है; मगर वे रेडियो के ढाँचे में फिट नहीं बैठ पाते। ऐसे मिसफिट सर्वश्री साहित्यकारों में हैं : भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, हरिकृष्ण प्रेमी—कितना-कितना नाम गिनावें। जब ये ही सरकार में मिसफिट हैं, तो फिर औरों की क्या गिनती !

● एक बंगाली लेखक से बातचीत हो रही थी। उनकी किताबें बहुत प्रसिद्ध थीं। पूछा—"आपको अविराम इस तरह लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है ?" कहने लगे—"मैं अक्सर किताबों की दूकान पर चला जाता हूँ। वहाँ एक-से-एक जिल्द की पुस्तकें, तरह-तरह की डिजाइन, तुरत-तुरत बिकनेवाली किताबें—ये सारी बातें मुझे प्रेरणा देती हैं। मैं समझने लगता हूँ कि मैं अभी तक एक अप्रकाशित लेखक हूँ। प्रकाशन की भावना मुझे प्रेरित करती है। मैं बेचैन हो जाता हूँ और मेरी कलम तेजी से चल पड़ती है। जब मैं लोगों को अपनी किताब खरीदते हुए देखता हूँ, तो मेरा उत्साह और भी अधिक हो जाता है और कलम की तेजी मानो रुकना ही नहीं चाहती।"

मगर यदि ये हिन्दी के लेखक होते, तो किताब की दूकान पर इन्हें क्या प्रेरणा मिलती ?

जार्ज बर्नार्ड शा किताब की दूकानों पर जाकर स्वयं अपना प्रौपैगैन्डा कर आते थे।

"क्यों साहब, जार्ज बर्नार्ड शा की किताबें हैं आपके यहाँ ?"

"नहीं तो। कौन जार्ज बर्नार्ड शा ?"

"आप शा को भी नहीं जानते ? फिर भी कहते हैं कि आप पुस्तक-विक्रेता हैं। क्या तमाशा है !"

"जार्ज बर्नार्ड शा ?"

"जी हाँ, वह संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटककार है।"

यदि बर्नार्ड शा की तरह हिन्दी का लेखक अपना प्रौपैगैन्डा करे, तब ? लोग उसे किस दृष्टि से देखेंगे ?

● एक विवाह की बात है। वहाँ वर-वधू को बहुत-से उपहार भेजे गये थे। सारी उपहार की चीजें बड़े आदर के साथ देखी जा रही थीं। तरह-तरह से उनकी चर्चा हो रही थी। मगर

एक बहुमूल्य उपहार वहाँ सबसे अधिक उपेक्षा पा रहा था। वह उपहार था : इन्साइक्लोपीडिया और हिन्दी के चुने हुए उपन्यासों और काव्यग्रंथों का सेट। लोग उस पर अपनी उड़ती हुई निगाहें डालते। ऐसा लगता था मानो यह कोई चीज ही नहीं। हालाँकि दाम के खयाल से भी वह उपहार बहुमूल्य था।

परन्तु उसकी कोई चर्चा नहीं थी।

समाज पुस्तकों का महत्त्व कब समझेगा? आदर के योग्य पुस्तकें कब आदर पा सकेंगी! जबतक यह नहीं होता तबतक हिन्दीभाषी समाज भी आदर नहीं पा सकेगा। यह भी एक प्रकट सत्य है।

• रेलगाड़ी की यात्रा। सेकेन्ड-क्लास का कम्पार्टमेन्ट। कई भाषा बोलनेवाले स्त्री-पुरुष वहाँ थे। उनलोगों के पास अपने पढ़ने के लिए अपनी-अपनी भाषा की किताबें थीं। एक हिन्दीभाषी भी थे; लेकिन उनके पास अपनी भाषा की एक भी पुस्तक नहीं थी। वे अँगरेजी की किताब इस गौरव के साथ पढ़ रहे थे मानो अँगरेज तो चले गये, अब अँगरेजी के महत्व को सम्भालने की सारी जिम्मेवारी इनकी है। अगर भूल से भी देशी भाषा की चीज पढ़ें तो अन्धकूप में गए।...

जब लोग काफी दूर निकल गये तो आपस में बातचीत होने लगी। देश की प्रमुख समस्याओं पर चलती हुई बात भाषा-समस्या पर भी पहुँची। जो लोग हिन्दी नहीं जानते थे, कहने लगे कि हिन्दी में रखा ही क्या है। वह राष्ट्रभाषा-जैसे उत्तरदायित्व का पद सम्भालने के लायक बिलकुल नहीं है।

मैं पूछने ही जा रहा था कि आपका ज्ञान हिन्दी का कहाँ तक है, कि वे अँगरेजी उपन्यास वाले सज्जन बीच में ही टपक पड़े। उनलोगों की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहने लगे—"आपलोग ठीक कहते हैं। हिन्दी में कुछ नहीं है। हालाँकि मैं हिन्दी भाषाभाषी हूँ, फिर भी यह स्वीकार करता हूँ कि हिन्दी प्रान्तीय भाषाओं से बहुत पीछे है। उसका साहित्य अभी कोरा है। राष्ट्रभाषा का पद तो अभी बहुत दूर की चीज है। अँगरेजी के राष्ट्रभाषा रहने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।"

जिस ढंग से वे बात कर रहे थे उससे साफ पता लग रहा था कि वे प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का ज्ञान क्या रखेंगे कि स्वयं अपनी हिन्दी के साहित्य से भी कोरे थे। उन्होंने सच कहा या झूठ कहा, इस बात की बहस से मेरा प्रयोजन नहीं। मैं केवल इतना ही कहूँगा कि संसार के किसी भी देश का, कोई भी भाषा बोलनेवाला नागरिक, अपनी भाषा और अपने साहित्य के प्रति इतना अज्ञान और इतनी उपेक्षा नहीं रख सकता। यह हिम्मत है तो है केवल हिन्दी बोलनेवाले लोगों में।

प्रान्तीय भाषाभाषी अपनी भाषा और अपने साहित्य से जितना प्रेम रखते हैं उतना भी हिन्दीवालों में हो जाय...

× × × ×

इस तरह के बहुत-से विचार आते हैं और बिखर जाते हैं। अपने ही ये विचार ऐसे लगने लगते हैं जैसे ये निर्गन्ध सेमल के फूल हैं, मन के आकाश में ये धुँधले तारे हैं जिनमें दीप्ति नहीं, आकर्षण भी नहीं।...हीनभावना से हम कितने पीड़ित हैं?......ये मेरे अपने विचार हैं जो मन के निभृत कोने में दीपशिखा के समान जल रहे हैं।......



हिन्दी में सेक्स-साहित्य



श्री द्वारका प्रसाद

भारतवर्ष का यौन-साहित्य शायद संसार का प्राचीनतम है। जबकि योरोप में साहित्य तो क्या, सभ्य समाज तक में यौन-चर्चा को बुरा समझा जाता था, उसके हजारों साल पहले संस्कृत में कामसूत्र और अनंगरंग-जैसी रचनाएँ हो चुकी थीं, जिनमें लौकिक, सामाजिक और वैज्ञानिक ढंग पर यौन-विज्ञान का विवेचन करने का आदर्श प्रयास किया गया था। आज भी ये पुस्तकें अपना सानी नहीं रखतीं। वात्स्यायन का काम-सूत्र तो भारतीय यौन-साहित्य का प्रतिनिधि माना जाता है और विश्व की अधिकतर सभ्य भाषाओं में इसके कई-कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी साहित्य की परम्परा सीधे संस्कृत साहित्य से आई है, यह निर्विवाद है। यौन-साहित्य के संबंध में भी यही बात होनी चाहिए। इसलिए हिन्दी में तब भी न सिर्फ संस्कृत के अनुवाद, बल्कि स्वतंत्र रूप से लिखित यौन-संबंधी पुस्तकें चल रही थीं, जब इंगलैंड में मेरी स्टोप्स और हैवलॅक एलिस का बहिष्कार किया जा रहा था। हिन्दू धर्म और समाज प्रारंभ से ही उदार रहे हैं और स्वतंत्र चिन्तन को हमेशा प्रोत्साहन दिया है। यहाँ का साधारण शिक्षित आदमी भी कोक-शास्त्र खरीदता-पढ़ता रहा है, जबकि मेरी स्टोप्स के यह लिखते ही कि स्त्री के अंदर भी कामेच्छा रहती है, सारा अँग्रेजी समाज बौखला उठा था और उसे इस पर आश्चर्य हुआ था कि एक वैज्ञानिक महिला इतना बड़ा असत्य कैसे लिख सकती है।

लेकिन, आश्चर्य की बात तो यह है कि जबकि यौन-विषयों में एकदम अंधकार में पड़ा हुआ यूरोपीय साहित्य, जो आज से चालीस-पचास साल पहले प्रायः शून्य-सा था, आज हजारों अच्छी यौन-विषयक पुस्तकों का एक अनमोल भाण्डार बन गया है, जिसे नये-नये वैज्ञानिक और लेखक और भी समृद्ध बनाते जा रहे हैं, हिन्दी का वर्तमान यौन-साहित्य बस नाम लेने भर का रह गया है। लेखक इस बात का दावा तो नहीं कर सकता कि हिन्दी में प्रकाशित इस विषय की हर पुस्तक को इसने पढ़ा है, लेकिन इतना तो कह ही सकता है कि जहाँ तक संभव हो सका है इसने देखने की कोशिश अवश्य की है। इस बल पर यह कुल मिलाकर यही कह सकता है कि बावजूद इसके कि इस दिशा में कुछ प्रयास हुआ है, और कुछ तो काफी अच्छी चीजें भी हिन्दी में आई हैं, हिन्दी का वर्तमान यौन-साहित्य निराशाजनक ही है।

आप अगर दृष्टि उठाकर देखने की चेष्टा करें तो यौन-विषयक मुख्यतः दो ही प्रकार की पुस्तकें आपको देखने में आयेंगी—एक तो अनुवाद, दूसरी मौलिक। अनुवाद आपको कक्कोक तथा वात्स्यायन की पुस्तकों के संस्कृत से और मेरी स्टोप्स की पुस्तकों के अँग्रेजी से मिलेंगे। मौलिक कही जाने वाली पुस्तकों में मुझे एकाध को छोड़ कोई भी ऐसी नहीं मिली, जो इस विषय के किसी भी अधिकारी वैज्ञानिक द्वारा लिखी गई हो। अगर कविराज हरनाम दास वैद्य और पंडित पद्मकान्त मालवीय और मन्मथनाथ गुप्त आदि को आप जानते हों, तो आप इनमें से किसी भी सज्जन को यौन-विशेषज्ञ नहीं कह सकते। पहले के दो लेखकों की पुस्तकों को वैज्ञानिक यौन-पुस्तकें नहीं कह सकते, व्यावहारिक परिवार-परिचालन-शास्त्र जैसा कुछ कहना चाहें तो भले ही कह लें। मन्मथनाथ गुप्त की पुस्तकों को आधुनिक अर्थ में वैज्ञानिक इसलिए कहा जा सकता है कि उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण रख कर लिखने की चेष्टा की है,

यद्यपि बीच-बीच में अवैज्ञानिक तथ्यों का भी पुट काफी डाल दिया है—शायद गलतफ़हमी के कारण। इसी तरह की कुछ अन्य यौन-पुस्तकें भी हैं, जिनमें कुछ तो काफी तगड़ी भी हैं, पृष्ठ-संख्या और मूल्य दोनों में, जो लेखकों की मूल-रचना के रूप में, प्रकाश में लाई गई हैं। दुर्भाग्य से ये पुस्तकें मात्र अँग्रेजी पुस्तकों की पंचमेल मिठाइयाँ हैं। कुछ नामी और साधारण पुस्तकों को उठाकर लेखकों ने उनका अपनी धारणा के अनुसार संपादन कर डाला है—लगता है, लाल पेन्सिल से अंश-विशेष पर निशान लगा लिया है—फिर उनका हिन्दी अनुवाद कर डाला है। लेकिन, चूँकि वे मौलिक ग्रन्थ की रचना कर रहे थे, यह बात बीच-बीच में उन्हें याद आती रही थी, इसलिए उनपर अपनी टीका भी देते चले हैं। ऐसे लेखकों का अध्ययन अच्छा हो सकता है, लेकिन इस विषय का "फर्स्ट-हैंड" ज्ञान उन्हें नहीं। इसलिए वे आधिकारिक रूप में कुछ भी नहीं कह सकते। "इसने यह कहा है और उसने वह कहा है" की शैली छोड़ इनके लिए अन्य उपाय नहीं। अगर आप इन्हें मौलिक रचना कहना चाहें, तो आपको मना कौन कर सकता है!

अन्य विषयों के प्रकाशनों के मुकाबले हिन्दी में यौन-सत्साहित्य का सर्वथा अभाव ही समझिए। (यौन-सत्साहित्य शब्द का मैंने जान-बूझ कर ही प्रयोग किया है। वर्ना बनारस की कचौड़ीगली और दिल्ली के दरीबाकलं और मुजफ्फरनगर और अमृतसर की सस्ती रुचि वाली इस विषय की पुस्तकें बाजार की सस्ती दूकानों और फुटपाथ पर काफी से अधिक दिखलाई पड़ती हैं। शायद आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि कविराज हरनाम दास की पुस्तक "विवाहित आनन्द" पान की दूकानों पर भी बिकती है और लाख से ऊपर के इसके संस्करण हो चुके हैं)। प्रस्तुत लेख को लिखते समय लेखक ने "पुस्तक-जगत" और "प्रकाशन समाचार" के पाँच अंक का एक-एक पृष्ठ देख डाला—हर विज्ञापन और हर अगले महीने और पिछले महीने की प्रकाशित पुस्तकों के नामादि देखे। उसे स्वयं इस पर आश्चर्य हुआ कि उक्त अंकों में विज्ञापित तथा उल्लिखित हजारों किताबों में—जिनमें इतिहास, विज्ञान, धर्म, नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि हर विषय की किताबें हैं—एक भी यौन-पुस्तक का कहीं जिक्र नहीं। इसे आप एक बहुत ही साधारण "रैन्डम सैम्पुल सर्वे" तो कह ही सकते हैं; क्योंकि उक्त दोनों मासिक पत्र पुस्तक-व्यवसाय के पत्र हैं और दवाओं और टुथपेस्ट के न तो विज्ञापन छापते हैं और न पुस्तक-जगत से बाहर की बातों की चर्चा करते हैं।

(शायद कोई सज्जन इस पर आपत्ति उठावें कि मेरे इस सर्वेक्षण में एक भूल है—वह यह कि "नर-नारी" नाम के एक यौन-विषयक पत्र का विज्ञापन पुस्तक-जगत में है, तो मैं उनसे यह कहना चाहूँगा कि इसे आप एक अपवाद समझ लें। वैसे इसका विज्ञापन देख कर यह जाना भी कैसे जा सकता है कि यह पत्र सेक्स-संबंधी है? विश्वास न हो, तो स्वयं देख लें।)

मैं यहाँ यह चर्चा नहीं उठाना चाहता कि वैज्ञानिक यौन-साहित्य की आवश्यकता है या नहीं, और अगर है तो किस हद तक। यह प्रश्न निर्विवाद है और हर समझदार व्यक्ति मानता है कि इसकी आवश्यकता भी है और उस आवश्यकता की कोई सीमा नहीं। मैं तो सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि हिन्दी का वर्तमान वैज्ञानिक यौन-साहित्य शून्य-सा ही है, जो बड़े दुर्भाग्य की बात है।





इटली का नया साहित्य



श्री एन्ज़ो तुर्ब्यानि

[लेखक जिनोआ इटली के निवासी और अपनी मातृभूमि में एक हिन्दी-भक्त साधक हैं। हमारे आग्रह पर 'पुस्तक-जगत' परिवार की सदस्यता स्वीकार कर उन्होंने यह निबंध भेजने की कृपा की है। हिन्दी-भारती की सेवा वे जैसी बोली में कर रहे हैं, उसे हम श्रद्धावश ज्यों-का-त्यों देते हुए हर्ष अनुभव करते हैं—सम्पादक]

हम इस सदी के साहित्य का अच्छी तरह से ऐतिहासिक अनुमान नहीं कर सकते, क्योंकि वह हमारे काल के अत्यंत निकट है। समालोचना करने वाले सभी व्यक्ति एक ही मत के नहीं होते। यह सहज है कि आगामी वर्षों में इस शती के साहित्य की सच्ची समालोचना करना संभव होगा। हम बतला सकते हैं कि इस सदी के पहले वर्षों में ही इटली के लेखक एक नया साहित्य स्थापित करना चाहते थे, जो अन्य यूरोपीय देशों के वाङ्मय के अधिक समीप होता। हिंदी शब्दों के सहारे इटली के नवीन साहित्य को समझाना अत्यंत कठिन है, क्योंकि उनमें ऐसे काव्य-संप्रदाय हैं, जिनके नाम केवल यूरोप की कुछ भाषाओं में ही अनुवादित किए जा सकते हैं और तब, हम बार-बार अँगरेजी शब्दों का प्रयोग करने लगेंगे। हमारे नवीन साहित्य में ही, एक ओर काव्य की भाषा सरलातिसरल होती जाती है, पिछली शैली समाप्त हो जाती है और नवीन संप्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं—जिनके बीच 'क्रेप्यूस्कलरिज़्म,' 'फ्यूटरिज़्म,' 'नवीन रोमेंटिसिज़्म' मुख्य हैं; दूसरी ओर नई कहानी का आरंभ है—जिसका फ्रेंच, अँग्रेजी, जर्मन तथा रूसी साहित्य के साथ घनिष्ट संबंध है। उनमें वास्तव जीवन के वर्णन करने का सतत प्रयत्न है, तथा कुछ लेखक मानव की आत्मा को समझने की कोशिश भी करते हैं। यथार्थवाद और कहानी का संप्रदाय हमारे कालखंड की संस्कृति के योग्य है एवं भविष्य में ही उनके परिणाम अधिक महान हो जाएँगे। हमारे नए साहित्य के नेता ब० क्रोचे हैं। भले ही वे सच्चे साहित्यकार न हों, पर एक बड़े चिन्तक तो थे ही और 'क्रीटिका' पत्रिका, जिसे कि उन्होंने स्थापित किया, सन् १९४३ तक इटली के सांस्कृतिक जीवन का प्रधान पत्र रहा। क्रोचे इटली की संस्कृति के लिए महान् हैं और हमारे लिए अमृत रहेंगे। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि क्रोचे अपने जीवन के अंतिम वर्षों में इटली की युद्धोत्तर अवस्था को नहीं समझ पाए। हमारी शती के बहुत-से प्रसिद्ध लेखक और कवि हैं। युद्धोत्तर-काल के साहित्यकार भी बहुतेरे हैं। कहानीकारों तथा उपन्यास लिखने वालों में एमील्यो चेक्कि का नाम अतिविदित है। वे समालोचक हैं और अत्यन्त पढ़े हैं। उन्होंने अद्भुत निबंध लिखे हैं। उनकी मुख्य कृतियाँ ये हैं—"लाल मीन", "कुछ", "मेक्सिको", "अर्कार्या† में हुआ हूँ"। चेक्कि मानव-मन के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं और अपने लेखों में ही प्रायः कवि हैं। वे अन्य लेखकों के साथ "शेन्टा" पत्रिका के सहकर्त्ता भी रहे हैं।

† इटली की एक सरित

चेक्कि के साथ कार्दारेल्लि का नाम भी स्मरणीय है। वे "क्लासिक कलचर" को बहुत चाहते हैं और शैली के उस्ताद माने जाते हैं। उनकी कृतियाँ हैं—"शेर", "जमाने में सफ़र", "शहरों पर आसमान", "कहानियाँ व सूरतें"। वे सतत "मानसिक आराम" की तलाश करते हैं और उनके विचार सपने सरीखे हैं।

उपन्यासकारों के बीच रिक्कार्दो बाक्केल्लि बहुत प्रसिद्ध हैं। वे शास्त्रीय साहित्य के उत्तम ज्ञाता और अजीब कहानियों और उपन्यासों के स्रष्टा हैं। उनकी कल्पनाएँ उन्नत हैं और वे सामाजिक जीवन को अच्छी तरह से ही जानते हैं। उनकी पहली कृतियाँ तो कविताएँ हैं, (जिनमें हैं—"कविता का प्रेम" और "याद करता हूँ") किन्तु महानतम कृतियाँ तो ऐतिहासिक उपन्यास ही हैं। जिनमें "पो * सरित पर चक्की" और "लम्बे पुल पर शैतान" बहुप्रशंसित कृतियाँ हैं। ये परम्परावादी लेखक हैं। समाज को चाहनेवाले होकर भी क्रान्ति के शत्रु हैं। शायद ये हमारे काल के सबसे महान् उपन्यासकार हैं। कवियों के बीच उंगरेत्ति का नाम प्रसिद्ध है। उनकी कविताएँ सुन्दर हैं और वे मानव की वेदनाओं को अच्छी तरह समझते हैं। कुछ हद तक वे रोमांटिक हैं। उनके प्रत्येक शब्द अर्थ एवं सौन्दर्य के प्रतिनिधि हैं। उनकी भाषा सरल है।

मोन्ताले एक महान कवि ही कहे जायेंगे। उनकी कविता तपस्वी की है। वे जीवन को बिना अर्थ का मानते हैं, मगर उनकी कृतियाँ वास्तविक हैं। उनके पद ध्यानपूर्ण होते हैं। वे विलक्षण कवि हैं और हम चाहते हैं कि वे भविष्य में ही अधिकाधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते चलें। उनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है "घटनाएँ"। कुआसिमोदो, अ० गत्ति भी काफी प्रसिद्ध कवि हैं। कुआसिमोदो शेक्सपीयर के उत्तम अनुवादक भी हैं।

* यूनान का प्रदेश



लेखक वैसी चीजें प्रायः कम ही लिखते हैं जो वे सोचते हैं। वे केवल वही चीजें लिखते हैं, जोकि दूसरे सोचते हैं या सोचते होंगे। —एलबर्ट हुबार्ड



संस्कृत गीत : उत्तर काल

श्री माधव सूरि

श्रीजयदेव, जोकि संस्कृत गीति-गिरा के नायकमणि हैं, वे भी आचार्य गोवर्धन के प्रति कहते हैं—

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य-गोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।"

अर्थात्, शृंगार-श्रेष्ठता में उन्नत रचनाओं से गोवर्धन का मुकाबला करनेवाला कोई नहीं। आचार्य गोवर्धन (ई० १११६ में) अंतिम बंग-राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि कहे जाते हैं। इनकी 'आर्या-सप्तशती' के मुक्तक-गीतों में काव्य का ऐसा प्रथमान्तिम आदर्श है कि हिन्दी का कौन रीतिकालीन मान्य कवि है जोकि उनका भावापहारक नहीं? हिन्दी और संस्कृत के सुधी पाठक जानते हैं कि 'सुभग व्यजन-विचालन' की छाया में बैठकर ही कविवर बिहारीलाल को 'नेक उतै उठि बैठिए' वाला दोहा सूझा। पं० श्री पद्मसिंह शर्मा की 'प्रौढि-प्रकर्ष' वाली दलील उस दोहे को इस आर्या से ऊँचा नहीं उठा सकती। क्योंकि आर्या की राजसी शृंगार-शोभा में, रोम-रोम पसीजते तन पर उबटन न लगने की जो चर्चा है, वह सिर्फ पसीजती तल-हथी पर मेंहदी न लगने की चर्चा में इतनी खुल और खिल नहीं सकी। 'व्यजन-विचालन-शिथिल-भुजा' वाली शिकायत तो बिहारीलाल बूते के मुँह पर ही पड़ी है।

स्त्रियाँ शील, लज्जा, कोमलता, पर-निर्भरता की मारी हुई तो होती ही हैं, उनसे यों भी अपने प्रिय के आगे नितान्त अपनी बात कहते नहीं बनती है, अनुभव में भी पुरुष के मुकाबले कची होती हैं, और तिसपर इस दर्द को कौन नहीं जानता कि संस्कृत साहित्य में उन्हें अपने प्रियतम की भाषा संस्कृत में प्रियतम से बात करने तक का हक नहीं है, बल्कि इसके लिए उन्हें प्राकृत में ही निवेदन करना पड़ता है। प्रियतम की विरहिनी नायिका को, उसके इस भाषा-विरह की उपमा के साथ जोड़कर, कितनी संवेदना की बात कह दी है आचार्य गोवर्धन ने—

"न सवर्णो न च रूपं
न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः,
बाला त्वद्‌विरहादपि
जातापभ्रंशभाषेव।"

अर्थात्, न वैसा वर्ण, न उस तरह का रूप, न वैसा संस्कार, न वैसी प्रकृति—तुम्हारे विरह में तुम्हारी प्रिया सचमुच अपभ्रंश-भाषा ही हो गई।

लगभग गोवर्धन के समय के 'हाल' कवि भी गीत के प्रसिद्ध स्रष्टा रहे हैं। किन्तु, उनका महत्व स्रष्टा से अधिक द्रष्टा का ही रहा है। उस काल में लोक-प्रचलित विभिन्न कवियों के एक करोड़ गाथा-मुक्तकों की उन्होंने चर्चा की है और उनमें से सात-सौ का उन्होंने संकलन-संपादन भी किया। 'हाल' की चर्चा इसी पत्रिका के किसी अंक में मेरे एक विद्वान मित्र ने की है, केवल उनसे यह बात छूट गई थी। यहाँ यह साफ कर देना अनुचित नहीं होगा कि इन गीति-मुक्तक आर्याओं की भाषा लोकभाषा, अर्थात् प्राकृत ही थी और वे अपनी लोकरसता के कारण इतनी प्रिय हुईं कि उन्हें संस्कृत-उच्चारण में बाँधकर राजदरबारों में भी पढ़ा जाने लगा। उनकी इस लोकरसता और लोक-प्रियता से प्रभावित होकर जब लक्ष्मणसेन आदि राजाओं के दरबारी कवियों ने उन्हें संस्कृत में पलटना शुरू किया और संस्कृत में भी आर्याओं का लिखना आरंभ किया; तो उस समय के

लोकरसिकों ने इस अरसिकता से दुखी होकर उनपर व्यंग्य कसना प्रारंभ किया—

"वाणी प्राकृतसमुचितरसा
बलेनैव संस्कृतं नीता,
निम्नानुरूपनीरा
कलिन्दकन्येव गगनतलं।"

अर्थात्, जो वाणी प्राकृत में रस-रस भींजी हुई थी, उसे बलपूर्वक संस्कृत में उतार कर ऐसे ही गंदा कर दिया गया जैसे कि स्वर्ग में शोभा पानेवाली कालिन्दी को धरती पर उतार कर गँदला कर दिया गया हो। आर्या, जोकि लोक-जीवन के आदिकाव्य वेद का छन्द है, उसे संस्कृत के श्रीहर्ष और उनके उत्तरकाल के रीतिबद्ध दरबारी काल में लोकजीवन ने बड़ी तेजी से अपनाया। वेद और हर्ष के बीच वाले काल में संस्कृत और प्राकृत की दो बराबर और अलग-अलग पराकाष्ठायें रहीं और उनमें ज्ञान-विज्ञान और साहित्य की कलाकृतियों की भरमार रही, किन्तु वह लोकोन्मुखता का मजा, जोकि लोकगीतों या गीतों में रहता है, कुछ अपवादों को छोड़कर, कम ही आया। यों गीतात्मक मुक्तकों का जितना संबंध लोकलय से होता है, उतना दरबारों से नहीं। फिर भी, इन आर्याओं की लोकप्रियता की देखादेखी बहुत-से दरबारी कवियों ने संस्कृत में गीति-काव्यों की सृष्टि की। इन संस्कृत कवियों को कालिदास आधारस्वरूप 'मेघदूत' दे ही चुके थे। तदनुसार धोयी (१२वीं सदी) ने 'पवनदूत', वामनभट्ट बाण (१५ वीं सदी) और रूपगोस्वामी (१६ वीं सदी) ने 'हंसदूत', विक्रम (१३ वीं सदी) ने 'नेमिदूत' आदि काव्य लिखे। मगर, उनमें नकल, शास्त्रीयता और जनरंजन की खींचतान के कारण न तो कालिदास-जैसा संस्कृत-साहित्य का मजा आ सका और न गोवर्धन वाला लोक-साहित्य का स्वभाव। इन कवियों में केवल अमरुक ही, आनन्दवर्धन के कथनानुसार 'एक-एक पद में एक-एक प्रबन्ध कहनेवाले', ऐसे अपवाद हैं, जिन्होंने आर्याओं की लोकोन्मुखता और संस्कृत की नागरिकता की समरसता को इस प्रकार साधा—

"प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः,
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः,
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते?"

अर्थात्, मेरे प्रियतम के जाने के निश्चय के साथ ही मेरी कलाई इतनी क्षीण हो गई कि कंकण आप-ही-आप गिर चले, प्रिय अश्रु भी निकल चले, संतोष एक क्षण के लिए भी नहीं रुका, मन तो पहले से ही जाने के लिए तैयार था, अब हे प्राण! तुम भी तो किसी-न-किसी दिन जाने वाले ही हो—तो मेरे प्रियतम की इस जाने की खबर के साथ ही क्यों नहीं चले जाते?

इन लोक-शृंगारी गीतों के अलावा स्तोत्रों, उपदेश-गीतों और वाणियों की भी एक लोक-साहित्य-सरणि इस बीच रही। किन्तु, जहाँ स्तोत्र ब्राह्मणों और पूजापाठियों के हाथों में और वाणियाँ कुछ आर्ष प्राणियों के मुख तक ही सीमित रहीं, वहाँ उपदेश जरूर जनमानस में गहरे पैठे। इसका एकमात्र कारण यह रहा कि पौराणिक और औपनिषदिक सपाट प्रत्यक्ष उपदेशों के बजाय, संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकवि क्षेमेन्द्र (१०५० ई०) ने 'सेव्यसेवकोपदेश', 'चारुचर्या', 'चतुर्वर्गसंग्रह', 'समयमातृक' आदि व्यंग्यरंग के ग्रन्थों का, दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' के आदर्श के अनुसार, परोक्षोपदेश-शैली में निर्माण किया। अपनी अंतिम मौलिक रचना 'देशोपदेश' और 'नर्ममाला' में उनके

व्यंग्य उस सामाजिक और राजनीतिक पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, जो आज तक के किसी भी व्यंग्य-साहित्य के लिए ईर्ष्या का विषय है।

यहाँ जयदेव के विषय में इतनी जगह नहीं है कि उनकी गीति-गिरा के विषय में थोड़ा भी कहा जा सके। फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि जहाँ शब्दों और लयों के नाते वे गीतकारों में सर्वप्रमुख हैं वहीं वे नागर-शृंगार की उस पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए हैं, जहाँ दरबारी प्रशंसा या शास्त्रसिद्ध भक्तों को कुछ रस भले ही मिले, मगर गोवर्धन की आर्याओं और अमरुक के लयों के उच्छल सौन्दर्य का पान करनेवाले जन-जीवन को उतना रस नहीं मिला। यह तो 'भक्ति' का ही नारा था कि बाद में लोगों ने उसे गाना शुरू किया।

संस्कृत गीत, जिनका सुंदर प्रारंभ पूर्वकाल में आदि वेद ऋग्वेद से हुआ, उनका वैसा ही समापन वेदान्तस्वरूप शंकराचार्य द्वारा हुआ। सुन्दर और सहृदयतापूर्ण उपदेश तथा मार्मिक प्रार्थना के, जगद्गुरु के दो पदों में ही गीति-साहित्य की सारी स्वरमूर्च्छना देखी जा सकती है। पहला छन्द, अनुप्रासी शब्द और पदसंक्षेप का अनुपम आदर्श, यह है— .

"बालस्तावत्क्रीडासक्तः,
तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः,
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः,
पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।"

और दूसरा, साहित्य-सौन्दर्य की पराकाष्ठा और तांत्रिक सहृदयता का उदाहरण, जिसमें कि भगवती कामाक्षी के सौभाग्य-सिन्दूर की आराधना प्रबल-कवरी-भार-तिमिर में तिरोहित अरुणिमा की तरह की गई, यह है—

"तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी
परीवाहः स्रोतः सरणिमिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर—
द्विषांवृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।'

जगद्गुरु के प्रभाव, प्रचार और सरस साहित्य का ही वह प्रताप था कि संस्कृत राजप्रियता के बजाय शनैः-शनैः जनप्रियता की ओर बढ़ी, किन्तु तबतक मूल संस्कृत का युग ही समाप्त हो चला था और जनता ने संस्कृत के अपभ्रंशों के अपभ्रंशों को—आधुनिक भाषाओं को—अपनाना शुरू किया। जिसमें कि चैतन्य, विद्यापति और चंडीदास जैसे लोकरंजक आए।



जीवन में आधी गलतियाँ तो केवल इसलिए होती हैं कि जहाँ हमें विचार से काम लेना चाहिए वहाँ हम भावुक हो जाते हैं और जहाँ भावुकता की आवश्यकता है, वहाँ विचारों को अपनाते हैं।

—जान कालिंस

जितना ही अधिक हम अध्ययन करते हैं, उतना ही अधिक ज्ञान आता है। जितनी अधिक हम तपस्या करते हैं, हमें यह ज्ञात होता जाता है कि हम कितने अल्पज्ञानी हैं।

—वाल्तेयर

बातों के कतुड़े

★ सोवियत रूस की जनता आज प्रेमचन्द के साहित्य से जितनी दिलचस्पी ले रही है, प्रेमचन्द के प्रति उतनी उत्सुकता भारत के पाठकों में भी नहीं दिखलाई देती।

★ हिन्दी में मुस्लिम साँस्कृतिक तथा धार्मिक साहित्य की कमी है। इस दिशा में अधिकारी लेखकों तथा प्रकाशकों का ध्यान जाना चाहिए।

★ हिन्दी के दो वर्तमान उपन्यासकार पहले पुस्तक-विक्रेता का धन्धा कर चुके हैं: श्री अनूपलाल मंडल और श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी।

★ इस पंचवर्षीय योजना-काल में बिहार के डाकखानों का इतना विस्तार हुआ है कि दिहातों में दैनिक समाचार-पत्र पाने की दिक्कतें बहुत कम हो गई हैं।

★ हिन्दी की तुलना में बंगला का आलोचनात्मक साहित्य आधा है और सृजनात्मक साहित्य प्रायः चौगुना।

★ भारत के समान ही फ्रांस के आधुनिक कवि तथा लेखक प्रायः अर्थाभाव के शिकार रहते हैं।

★ पढ़ने की आदत बहुधा बचपन से ही लगती है। बच्चों का वर्तमान साहित्य जितना अच्छा होगा हिन्दी-साहित्य का भविष्य भी उतना ही उज्ज्वल रहेगा।

★ यदि पढ़ी-लिखी महिलायें पुस्तक-विक्रय का कार्य स्वीकार करें तो उनकी सफलता शत-प्रतिशत निश्चित है।

★ उच्चकोटि का साहित्य रूस तथा जापान में सबसे ज्यादा पढ़ा जाता है।

★ लोग अँगरेजी को बहुसंख्यक लोगों की भाषा बतलाया करते हैं, परन्तु चीनी भाषा सबसे अधिक संख्या के लोगों में प्रचलित है।

★ यह कहना गलत होगा कि दिहातों में दर्शन की किताबें नहीं खपतीं। गाँव के लोग योगवाशिष्ठ बहुत ज्यादा खरीदते हैं। इसका कारण है कि उसका दर्शन सुस्पष्ट, सुलझा हुआ तथा शैली रोचक है। सस्ती-से-सस्ती कीमत होने पर भी उपनिषद् की गूढ़ पुस्तकें दिहातों में बहुत कम बिकती हैं।

★ आधुनिक हिन्दी के उन्नायक भारतेंदु हरिश्चंद्र की लिखने की गति बहुत तेज थी। वे बहुत तेज लिखते थे और बहुधा कम-से-कम समय में ही पुस्तक का प्रणयन कर लेते थे। यही कारण रहा कि वे अपनी छोटी आयु में ही बहुत-कुछ लिख गये।

★ सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य क्षितिमोहन सेन काशी के निवासी हैं। इनके पिता भारतेन्दुजी के चिकित्सक थे। बचपन में आचार्य क्षितिमोहन भारतेन्दुजी से मिल भी चुके हैं।

★ आधुनिक बंगला के उन्नायक ईश्वरचंद्र विद्यासागर भारतेन्दुजी को बहुत मानते थे। वे उन्हें लिखने के लिए बहुत प्रोत्साहित करते रहते थे।

★ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हास्य पर भी पूरा अधिकार रखते थे। हास्य-साहित्य पढ़ना उनका प्रिय विषय था।

★ बिहार के बंगालियों में स्वर्गीय कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय ने हिन्दी की बड़ी-से-बड़ी सेवाएँ की हैं।



सच्चे मित्रों के चुनाव के पश्चात सर्वप्रथम और प्रधान आवश्यकता है: उत्कृष्ट पुस्तकों का चुनाव।

—कोल्टन



प्राचीन भारत संबंधी अध्ययन-ग्रन्थ



भारत की सभ्यता अति प्राचीन है। विश्व के अन्य देशों को सभ्यता जब छू भी नहीं गई थी, बल्कि वे पूर्णरूप से असभ्य थे तभी भारत सभ्यता की चोटी पर पहुँचा हुआ था। नालन्दा, महेंजोदड़ो, तक्षशिला की खुदाइयों से यह बात स्पष्ट हो गई है। भारतीय प्राचीन साहित्य में भी इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि अति प्राचीन काल में भारत ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल, वास्तु कला, सैन्य-प्रणाली आदि में पूर्णरूप से सुदक्ष था। भारत के प्राचीन साहित्य का मन्थन कर विद्वानों ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है वह लोगों को चकाचौंध में डालने लायक है। इन विषयों को सर्वसुलभ करने के लिये 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' से कई ग्रन्थ इधर प्रकाशित हुए हैं। उन ग्रन्थों के पढ़ने से भारत का प्राचीन गौरव सुस्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारत की सांग्रामिकता—इस ग्रन्थ में प्राचीन काल के रणवाद्यों और शस्त्रास्त्रों के नाम, रथों के आकार-प्रकार, महारथियों की ध्वजाओं के चिह्न, व्यूहों के नाम, व्यूह-रचना की विधि, युद्ध की वेश-भूषा, युद्ध-क्षेत्र के नीति-नियम, चतुरंगिणी सेना की संख्या और बनावट, शिविर-संगठन प्रणाली, दूतों और जासूसों की निपुणता, दुर्गनिर्माण कला, खड्ग युद्ध, गदा युद्ध, मल्ल युद्ध, जल-युद्ध और आकाश-युद्ध के वर्णन मिलते हैं। उस युग में ही भारतीयों की युद्ध-कला-कुशलता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारों ने युद्ध के जैसे प्रलयंकर साधन उपस्थित कर दिये हैं, वैसे ही साधनों के वर्णन हमारे प्राचीन साहित्य में भी पाये जाते हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में युद्ध संबंधी अनेक अद्भुत आग्नेय अस्त्रों और उनकी लोक-संहार-लीला तथा युद्ध-कौशल का जो विशद वर्णन मिलता है, उसे आधुनिक विज्ञान के हिमायतियों को ठंढे दिमाग से अवश्य पढ़ना चाहिये। इस पुस्तक में उन विषयों की स्पष्ट झलक मिल जाती है।

सार्थवाह—इस ग्रन्थ के विषय में भारतीय पुरातत्व के माननीय विद्वान डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल के कुछ शब्द उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा।

"सार्थवाह के रूप में डाक्टर मोतीचन्द ने मातृभाषा हिन्दी को अत्यन्त श्लाघनीय वस्तु भेंट की है। भारतीय संस्कृति से संबंधित इस महत्व-पूर्ण विषय पर विश्व की किसी भी भाषा में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है।.....पुस्तक के विषय हैं—प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्रायें, क्रय-विक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम और पद्धति। वैदिक युग से लेकर ११वीं शती तक के भारतीय साहित्य (संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि), यूनानी और रोमदेशीय भौगोलिक वृत्त, चीनी यात्रियों के वृत्तान्त एवं भारतीय कला में जो सामग्रियाँ बिखरी पड़ी हैं, उन्हें खोज-ढूँढकर तथा जोड़कर लेखक ने सार्थवाह-रूपी भव्य सुमेरु का निर्माण किया है, जिसकी ऊँची चोटी पर भारतीय संस्कृति के ज्ञान का प्रखर सूर्य तपता हुआ दिखाई पड़ता है।......पुस्तक पढ़ते-पढ़ते पश्चिमी रत्नाकर और महोदधि के उस पार के देशों और द्वीपों के साथ भारत के संबंध के कितने चित्र सामने आ जाते हैं। गुप्तकाल में भारत की नौ-सेना के बेड़े कुशल-क्षेम से थे।.....भारत-भूमि की रक्षा

और विदेशी-व्यापार, दोनों क्षेत्रों में वे पटु थे।"

यातायात के साधन और व्यापार का राजनीति से गहरा संबंध है। इस ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी यथासाध्य खुलासा करने का प्रयास किया है।

हर्ष-चरित—यों तो इस ग्रन्थ का संबंध श्रीहर्ष के जीवन-चरित्र से है, जैसा कि इसके नाम से प्रगट होता है, लेकिन इस ग्रन्थ में तत्कालीन वेश-भूषा, रहन-सहन, सजावट, राजदरबार की विधियों का वर्णन, घोड़ों का वर्णन, निर्जित सामंतों के प्रति हर्ष की नीति, प्रतीहार और द्वारपाल, दीवाने-आम और दीवाने-खास, दरबार में वार-विलासिनी आदि का विशद वर्णन है। राजा लोग जब विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करते थे, उस समय उनके साथ जो सामग्री चलती थी और उसका जिस तरह विन्यास होता था, उसका भी रोचक वर्णन इस ग्रन्थ में है। इसके साथ-ही-साथ जंगलों के विविध प्रकार के वृक्षों और पशु-पक्षियों का वर्णन भी इस ग्रन्थ में मिलता है। दार्शनिक विचार की विविध प्रणालियों का दिग्दर्शन भी लेखक ने कराया है। मतलब यह कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से तत्कालीन भारत की अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है, जिनसे भारत का उत्कर्ष प्रगट होता है।

गुप्तकालीन मुद्रायें—सभ्यता की सबसे बड़ी निशानी मुद्रा है। जंगली जीवन में मनुष्य को मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों मुद्राओं की आवश्यकता बढ़ती जाती है और उसी के अनुसार उनका प्रकार भी बढ़ता जाता है, ताकि विनिमय के माध्यम की सुविधा जनसाधारण को हो। मुद्राओं का अध्ययन केवल राजाओं से संबद्ध इतिहास के अध्ययन के लिये ही नहीं, वरन् तात्कालिक राजनीतिक स्थिति और शासन-पद्धति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। उदाहरण के लिये, प्राचीन भारत में गणतंत्र-राज्य थे या नहीं, यह विवाद का विषय था, लेकिन जब मालव, यौधेय, शिवि आदि गण-राज्यों के सिक्के मिले, तब गणराज्यों के अस्तित्व का सिद्धान्त सबको मान्य हुआ। मुद्राओं की बनावट से, उनमें प्रयुक्त शुद्ध या अशुद्ध धातु से, उस समय की आर्थिक अवस्था का भी ज्ञान हो जाता है। यदि मुद्रायें निगमों द्वारा चलाई गई हों, तो उनसे यह भी ज्ञात होता है कि उस राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक था। तत्कालीन धार्मिक चेतना और प्रवृत्ति की जानकारी भी मुद्राओं से होती है। मुद्राओं पर अंकित चित्रों से कला के विकास की भी जानकारी होती है। इससे प्रगट है कि मुद्राओं का अध्ययन कितना महत्वपूर्ण है और उस देश की वास्तविक दशा पर उनसे कितना प्रकाश पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने गुप्त-काल में प्रचलित विविध मुद्राओं का विवरण, उनका आकार-प्रकार, रूप और मूल्य आदि प्रस्तुत किया है। ये मुद्रायें प्रमाणित करती हैं कि गुप्त-काल में भारत उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ था।

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा : इस ग्रन्थ के विद्वान लेखक ने वैदिक काल से आरंभ करके भारतीय साहित्यिक निधि का मन्थन कर, उसमें से विज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों के संबंध में प्राप्य सामग्री का संचय किया है और उसे समन्वित रूप में हमारे सामने पिरोकर प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हमारे देश में समुत्पन्न वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की एक झाँकी मिल जाती है। यदि गत दो-तीन शताब्दियों का इतिहास छोड़ दिया जाय, तो शेष शताब्दियों में भारत ने संसार की ज्ञान-परंपरा में अच्छा नेतृत्व किया है, यह इस ग्रन्थ से भली-भाँति प्रतिपादित हो जाता है।

हमारा अतीत यह बतलाता है कि विचार-स्वातंत्र्य और नवीन प्रयोगों के प्रति प्रवृत्ति हमारी पुरानी परम्परायें हैं। हमारी यह पुरानी प्रवृत्ति आज भी हमें उत्साहित कर सकती है और देश के गौरव को उन्नत करने में अवश्य सहायक हो सकती है।

—ग्रन्थकीट



यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे मरते ही संसार तुम्हें न भूल जाय तो या तो पढ़ने योग्य रचनाओं की सृष्टि करो या वर्णन करने योग्य कर्म करो।

—फ्रैंकलिन



एक माँग : अनुवाद-पुस्तकालय



श्री समरेश

इतने दिनों से हिन्दी के नाम पर जीने-जिलाने के बावजूद हममें से कोई इसका हिसाब नहीं बता सकता है कि कितने विभाषी या विदेशी लेखकों ने हिन्दी की किन-किन पुस्तकों का कहाँ-कहाँ अनुवाद किया है और हिन्दी की किन-किन पुस्तकों के अनुवाद की आवश्यकता किन-किन भाषाओं में अब भी बनी हुई है। इसी प्रकार, हम यह भी नहीं कह सकते कि संसार या देश की इतर-भाषाओं की पुस्तकों में से किन-किन के कितने-कितने अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं और किन-किन आवश्यक पुस्तकों का अनुवाद होना बाकी है। इस गैरजानकारी के कारण जो सबसे अधिक प्रत्यक्ष बुराई सामने आती है वह यह है कि बहुत सारे हिन्दी-प्रकाशन एक ही विभाषी पुस्तक के अनुवाद में एक साथ हाथ लगा देते हैं और इसके बजाय किसी दूसरी आवश्यक पुस्तक का अनुवाद होना छूट जाता है। यदि पैसा या गुजारा कमाने के अलावा हिन्दी भाषा की सेवा और सम्मान करना भी कोई लक्ष्य हो, तो साहित्य-एकेडमी, राष्ट्रभाषा परिषद्, हिन्दी साहित्य सम्मेलनादियों की पहली ही जवाबदेही यह होती है कि एक ऐसी योजना बनावें कि संसार और देश की सभी दूसरी भाषाओं की उचित पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में हो जाय और इसी प्रकार हिन्दी की सभी उचित पुस्तकों का संसार और देश की सभी दूसरी भाषाओं में। इस पहली जवाबदेही में यह बात तो सन्निहित ही है कि अनुवाद प्रामाणिक हों और एक पुस्तक पर कई संस्थाओं के व्यर्थ पड़ जाने के बजाय अधिकाधिक पुस्तकें अनुवादित हों। अपने देश की दूसरी उर्दू, मराठी, बंगला आदि भाषाओं में भी साहित्य-एकेडमी और क्षेत्रीय भाषाओं के संगठनों की ओर से यही काम हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एकेडमी या साहित्य-संगठन ही अनुवाद-प्रकाशन में हाथ डालें, बल्कि आवश्यक तो यह है कि वे अपने भाषा और साहित्य के क्षेत्र को केवल समय-समय पर यह विवरण देते रहें कि कौन-कौन-सा प्रामाणिक अनुवाद किस भाषा से किस भाषा में हो चुका है और किसका अनुवाद होना चाहिए। एकेडमी या साहित्य-संगठनों की ओर से यह विवरण तैयार करने तथा विवरण के अनुसार खोज करने वालों को सहायता देने के लिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी और सभी क्षेत्रीय भाषाओं का कम-से-कम एक अनुवाद-पुस्तकालय अवश्य हो। मैं ऐसे पुस्तकालय के लिए कुछ इस प्रकार की योजना दे सकता हूँ—

(१) पुस्तकालय दो प्रमुख खंडों में बँटा हुआ हो। पहला खंड : उस भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद, और दूसरा खंड : दूसरी भाषा से उस भाषा में अनुवाद।

(२) फिर दोनों खंड विषयशः बँटे हुए हों, जैसा कि सामान्य पुस्तकालयों में होता है।

(३) पुस्तक-सूची के स्तंभ ये हों—(क) मूल पुस्तक का नाम (ख) भाषा (ग) लेखक (घ) प्रकाशक (ङ) प्रकाशन-वर्ष, संस्करण और तारीख (च) मूल्य (छ) अनुवादित नाम (ज) अनुवादक (झ) प्रकाशक (ञ) प्रकाशन-वर्ष, संस्करण और तारीख (ट) मूल्य (ठ) मूल पुस्तक और अनुवाद के पुस्तकालय में आने की तारीख—आदि।

(४) आलमारी और विषय-सूची, दोनों में, एक ही विषय की क्रम-संख्या में, 'क' और 'ख' खंड करके, मूल और अनुवाद अगल-बगल रखे जायँ।

(५) एक पुस्तक के कई मूल या कई मूल के कई अनुवाद होने पर विषय की क्रम-संख्या के बाद 'क-१'—'क-२'—'क-३' या 'ख-१'—'ख-२'—'ख-३' जैसी संख्या देकर काम चलाया जा सकता है।

(६) इस देश में पूरक-अनुपूरक करके मतदाता-सूची तो वर्ष में ही बार-बार छपा करती है, किन्तु यह देखकर दुःख होता है कि बड़े-बड़े पुस्तकालयों तक में छपी हुई पुस्तक-सूची नहीं है। अनुवाद-पुस्तकालय के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है कि उसकी सूची पर्याप्त मात्रा में, बिक्री तक के लिए, छापी जाय। कम-से-कम दस नई पुस्तकों के जुड़ते ही पूरक-सूची तत्काल छापकर जोड़ ली जाय और दस नई पुस्तकों से कम की प्राप्ति की स्थिति में लिखित या टंकित सूची सूचना-पट्ट पर टाँगी जाय।

प्रान्तीय या भाषाक्षेत्रीय आधार पर इस प्रकार के एक सम्पन्न पुस्तकालय का निर्माण अत्यावश्यक है और यह निर्माण पुस्तकालय-प्रेमी साधारण जन या किसी पुस्तक-व्यसनी प्रकाशक के बूते के बाहर की बात है, इसलिए ही मैंने कहा है कि यह कार्य साहित्य-एकेडमी या राष्ट्रभाषा-परिषद् या क्षेत्रीय भाषाओं के प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलनों की तरफ से हो। हाँ, इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि उक्त तीनों भाषा-साहित्य-संगठन की तरफ से एक-एक कर ऐसे तीन पुस्तकालय खड़े हों, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि अपने भाषा-क्षेत्र में ऐसे एक भी सम्पन्न पुस्तकालय का निर्माण हो।

जहाँ तक हिन्दी की बात है, हमने बँगला आदि भाषाओं की पुस्तकों के बहुत-से अनुवाद पढ़ने बाद कुछ परेशानियों का अनुभव किया है। मसलन, शरत् बाबू के 'देना-पावना' नामक उपन्यास को ही लीजिए। हिन्दी में मैं इसके दस अनुवाद तो पढ़ चुका हूँ। और, उन दसों में, पहले वाक्य में ही, एक-दूसरे अनुवाद में ऐसा विभेद है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अनुवाद के नाम पर शरत् बाबू पर निश्चय ही जुल्म ढाया जा रहा है। इसी प्रकार अनुवादकों ने 'गीतांजलि' की भी कम दुर्गति नहीं की है। मैं समझता हूँ कि अपनी इसी भ्रष्टता को छुपाने के लिए ही हिन्दी में किसी अनुवादित पुस्तक पर यह हवाला नहीं छापा जाता है कि मूल के किस प्रकाशन और किस संस्करण का वह अनुवाद है। जिस रूस को लोग सही-सही पुस्तक न छापने के विरुद्ध बदनाम करते आए हैं, वहाँ तो अनुवाद के पहले पृष्ठ पर ही मूल के टाइटिल का फोटो तक छाप दिया जाता है। मैं समझता हूँ कि इस बात की कानूनी हिदायत होनी चाहिए कि अपने देश में कोई प्रकाशक मुखपृष्ठ के द्वितीय पृष्ठ पर अनुवाद की अधिकार-घोषणा और किस नाम के पुस्तक का, किस प्रकाशन के किस संस्करण का वह अनुवाद है इसकी घोषणा बिना छापे अनुवाद नहीं निकाल सके। ऐसा होने से अनुवाद में ईमानदारी तथा सावधानी आएगी तथा उक्त अनुवाद-पुस्तकालयों को भी कौन-से मूल का कौन-सा अनुवाद है—यह समझने और तदनुसार पुस्तकों को व्यवस्थित रखने में सरलता मिलेगी।



प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

विज्ञप्ति

[१]

यूनेस्को ने हिंदी, तमिल, बंगला और उर्दू के नये पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिए लिखी जानेवाली पुस्तकों पर पुरस्कार देने की घोषणा की है। यह इस प्रकार की पुस्तकों के लिए पहली प्रतियोगिता है, जिसे यूनेस्को ने भारत सरकार के सहयोग से आरम्भ किया है।

पुरस्कार के लिए हिंदी की चार, तमिल की तीन, बंगला की दो और उर्दू की एक पुस्तक चुनी जायगी। इनमें से प्रत्येक पुस्तक के लेखक को ४८० डालर (लगभग २,२८० रुपये) पुरस्कार दिया जायगा।

इससे लेखकों को नये पढ़े-लिखे व्यक्तियों के वास्ते उच्च कोटि की पुस्तकें लिखने के लिए बढ़ावा मिलेगा।

नये पढ़े-लिखे का मतलब उन व्यक्तियों से है, जो नवसाक्षरों से अधिक पढ़ चुके हैं, परन्तु जो अभी क्लिष्ट भाषा नहीं समझ सकते।

पुस्तकें सामान्य विज्ञान, आर्थिक तथा सामाजिक विकास या अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर हों अथवा इन विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकों के अनुवाद हों। भाषा अच्छी और आसानी से समझ में आनेवाली हो।

भारत सरकार सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार खंडों के लिए प्रत्येक पुरस्कृत पुस्तक की १,५०० प्रतियाँ खरीदेगी। पुस्तकों का मूल्य शिक्षा मन्त्रालय निर्धारित करेगा। इसमें से २५ प्रतिशत कमीशन भी काटा जायगा, क्योंकि प्रकाशक इतना कमीशन विक्रेताओं को देते हैं।

पुस्तक साधारणतया ९६ से १४४ पृष्ठ और अनूदित पुस्तक १६० से २५६ पृष्ठ तक की होनी चाहिए। प्रतियोगिता के लिए प्रत्येक पुस्तक की पाँच प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये। पांडुलिपियाँ स्वीकार नहीं की जायंगी। पुस्तकें पहुँचने की अन्तिम तारीख ३० अप्रैल, १९५९ है।

जो लेखक इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी और नियम आदि जानना चाहते हों वे 'असिस्टेंट एजूकेशन एडवाइजर (एस० डब्ल्यू०-२) मिनिस्ट्री आफ एजूकेशन, कमरा नं० २६, 'एम' ब्लाक, नई दिल्ली-२ से मिल सकते हैं।

[२]

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय ने पाँचवीं अखिल भारतीय बालोपयोगी ग्रन्थ-स्पर्धा के लिए ३० पुरस्कारों की घोषणा की है जिनमें ५ पुरस्कार १-१ हजार रुपये के और २५ पुरस्कार ५-५ सौ रुपये के होंगे। १-१ हजार के ५ पुरस्कारों में दो पुरस्कार हिन्दी ग्रन्थों के लिए निर्धारित हैं बशर्ते पुस्तकें आवश्यक गुण-सम्पन्न प्रस्तुत हों।

पुरस्कार हिन्दी, सिन्धी और उर्दू के सर्वोत्तम ग्रंथ या पाण्डुलिपि के लेखक को दिया जायगा जिससे विभिन्न भारतीय भाषाओं के लिए पुरस्कारों का उचित वितरण सम्भव हो जाय। पुरस्कार योग्य ग्रंथ ३ से ६ साल और ७ से १४ साल के बालकों के उपयोगी दृष्टि से दो श्रेणियों में छांटे जायंगे।

इन पुरस्कारों के सिवा राज्य सरकारें अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में बालसाहित्य की वृद्धि के लिए पुरस्कारों की रकम या संख्या बढ़ा सकती हैं।

पुस्तकें किसी भी क्षेत्रीय भाषा में दाखिल की जा सकती हैं। ग्रंथों की रचना किसी भी दशा में पाठ्य-पुस्तकों जैसी न हो। भाषा और शैली के निर्णयार्थ विचार का मुख्य आधार बच्चों का उसके प्रति आकर्षण और अभिरुचि रहेगी। पुरस्कार के लिए केवल मौलिक कृतियों पर ही विचार होगा। किसी असाधारण विदेशी प्रकाशन के अनुवाद पर भी स्वीकृति के

लिए विचार हो सकेगा। और, ऐसी दशा में पुस्तक की केवल दो हजार प्रतियाँ ही खरीदी जायंगी। यदि कोई पाण्डुलिपि पुरस्कार के लिए चुनी गयी तो उसपर तबतक पुरस्कार न दिया जायगा जबतक वह सचिवालय की दृष्टि में सन्तोषजनक रूप में प्रकाशित न हो जाय।

सन् १९५७-५६ में प्रकाशित ग्रंथ ही दाखिल किये जाने चाहिये। ग्रन्थ दाखिल किये जाने के समय उसका लेखक जीवित हो। दाखिल हुए प्रत्येक ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर लेखक का नाम स्पष्ट रूप से लिखा होना चाहिये। ऐसे ग्रंथों का समुचित रूप से सचित्र होना जरूरी है। ३ से ६ साल तक के वर्ग के बच्चों के योग्य पुस्तकों के चित्र की रेखाएँ मोटी, गिनी-चुनी और तथ्यात्मक हों। विषम रंगों का प्रयोग वांछनीय है। चित्र ऐसे हों जो बच्चों की कल्पना को विकास का अवसर दे सकें।

७ से १४ साल के वय-वर्ग के बच्चों के ग्रंथ में चित्र अधिक विवरणयुक्त और रंग मृदुतर रह सकते हैं। बच्चों के लिए अपरिचित बातें भी इनमें प्रस्तुत की जा सकती हैं। साहसिक कहानियों का चित्रण ऐसा हो कि बच्चों की कल्पनाएँ उल्लसित हो सकें। वैज्ञानिक विषय सचित्र रखे जायं जिनसे वे उसे आसानी से समझ सकें।

लेखक द्वारा जमा किये गये प्रत्येक ग्रंथ के साथ खजाने में ३) जमा करने की चालान रसीद रहनी चाहिये और प्रकाशकों द्वारा प्रेषित पुस्तक के साथ ५) की चालान रसीद अपेक्षित होगी। जहाँ खजाना न हो वहाँ पुस्तक के साथ क्रास पोस्टल चेक 'शिक्षा सचिवालय के अवर सचिव, नयी दिल्ली' के नाम भेजे जायँ।

प्रत्येक ग्रंथ या पांडुलिपि के मुख-पृष्ठ के पृष्ठ भाग में हिन्दी या अंग्रेजी में निम्नलिखित विवरण अंकित रहें—१—किताब का नाम, २—वय-वर्ग ३ से ६ या ७ से १४, ३—लेखक का नाम-पता, ४—प्रकाशक का नाम-पता, ५—प्रकाशन का साल, ६—भाषा, ७—न्यूनतम मूल्य, ८—खजाने के चालान का नम्बर, ९—ग्रंथ मौलिक है या अनुवाद।

हिन्दी, सिन्धी और उर्दू के प्रत्येक ग्रंथ की ५ प्रतियाँ 'सहायक शिक्षा अधिकारी, बी० ३ सेक्शन, शिक्षा सचिवालय, एम-ब्लाक, नयी दिल्ली, के पते पर २५ मई, सन् १९५९ तक भेजी जायँ। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की पुस्तकें सम्बद्ध राज्य के शिक्षा-सचिवालय के पास भेजी जायँ। इन पुस्तकों के भेजने की भी अन्तिम तिथि २५ मई, सन् १९५९ ही है। इस स्पर्धा का परिणाम १४ नवम्बर, सन १९५९ के बाल-दिवस पर घोषित होगा।

समाचार

—उत्तर प्रदेश सरकार ने आयुर्वेदिक एवं तिब्बी विषयों पर उत्कृष्ट रचना के लिए कुल २,३०० रुपये के बारह पुरस्कार प्रदान किये हैं। ये पुरस्कार उत्तर प्रदेश आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी के सुझाव पर दिये गये हैं। इन पुरस्कारों में चार प्रत्येक तीन सौ रुपये, तीन प्रत्येक दो सौ रुपये और पाँच प्रत्येक सौ रुपये के हैं। पुरस्कार प्राप्त करनेवालों तथा उनकी कृतियों के नाम निम्नलिखित हैं—प्रत्येक तीन सौ रुपये—डाक्टर मुकुन्द स्वरूप वर्मा (वाराणसी), 'शल्य प्रदीपिका,' श्री एच० एम० तैयब (अलीगढ़) 'इस्मुलऐन और अत्तिबाये कदीम' और 'अल-आशरे-मकालत फिल ऐन' (दो पुरस्कार) तथा सैयद मुहम्मद कमालुद्दीन हुसेन (अलीगढ़) 'इशराह'। प्रत्येक दो सौ रुपये—डाक्टर रमानाथ द्विवेदी—'बाल-रोग-चिकित्सा,' डाक्टर लक्ष्मीशंकर गुरु (वाराणसी) 'आदर्श गृह विज्ञान भाग १' और डाक्टर पी० आर० शर्मा 'यूरीन टेस्ट'। प्रत्येक सौ रुपये-डाक्टर प्रकाशचन्द्र गौड़—'जन स्वास्थ्य विज्ञान', कविराज

प्रभाकर चटर्जी (कलकत्ता)— 'राजयक्ष्मा चिकित्सा', डाक्टर रमेशचन्द्र वर्मा— 'सूचीवेध विज्ञान', श्री मथुराप्रसाद दीक्षित (झांसी)— 'रोगि मृत्यु विज्ञानम्' और डाक्टर एस० पी० मेहता (दिल्ली)—'पैसे-पैसे की आजमूदा'।

—उत्तर प्रदेश के छात्रों में विज्ञान विषय के अध्ययन के लिए अधिकाधिक अभिरुचि उत्पन्न करने के उद्देश्य से राज्य सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा अभी हाल में आयोजित एक वैज्ञानिक अनुसन्धान प्रतियोगिता के परिणामों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के विज्ञान विषय लिए हुए १४ छात्रों को १,८०० रुपये के पुरस्कार दिये गये हैं। इनमें से दो-दो सौ रुपये के चार पुरस्कार डिग्री कक्षाओं के छात्रों को, सौ-सौ रुपये के शेष दस पुरस्कार उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के छात्रों को प्रदान किये गये हैं।

—पंजाब के राज्यपाल श्री एन० वी० गाडगिल ने कल पंजाब भाषा विभाग द्वारा आयोजित वार्षिक साहित्यिक समारोह में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक तथा सुप्रसिद्ध पंजाबी नाटककार श्री बलवन्त गार्गी को ११-११ सौ रुपया नकद और एक-एक पोशाक पुरस्कारस्वरूप भेंट किया।

—साहित्य अकादमी की बंगला परामर्शदात्री परिषद् ने, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लेखों का बंगला और देवनागरी लिपि में संग्रह प्रकाशित करने का निर्णय किया। यह कार्य १९६१ में मनाये जानेवाले कवि के शती समारोह के संबंध में किया जायगा। संग्रह का कार्य प्रोफेसर बुद्धदेव वसु और काजी अब्दुलबादुद करेंगे। संग्रह तीन जिल्दों में होगा और इसका अनुवाद तीन भारतीय भाषाओं में होगा।

—डाक्टर केसकरने आज लोकसभा में बताया कि प्रशासन विभाग की योजना है कि वह प्रसिद्ध लेखकों द्वारा लिखे वर्तमान भारत के निर्माताओं के जीवन-चरित्र छपवाये। इस श्रृङ्खला की दो पुस्तकें—दादाभाई नौरोजी और राजा राममोहन राय—दो-तीन महीनों में तैयार हो जायंगी।

—कलकत्ते के 'राष्ट्रीय पुस्तकालय' में एक पुस्तक मिली है, जिससे यह कहा जाने लगा है कि 'अलालेर घरेर दुलाल' बंगला का पहला उपन्यास नहीं है। यह उपन्यास १८५७ में श्री प्यारी चन्द्र मित्र द्वारा लिखा गया था और अबतक इसी को बंगला का पहला उपन्यास माना जाता था किन्तु राष्ट्रीय पुस्तकालय में 'फूलमनी आर करुनार काहिनी' नामक जो पुस्तक मिली है, वह १८५२ में एक अंग्रेज महिला, श्रीमती हन्ना कैथेराइन मुलेन्स द्वारा लिखी गयी थी। किन्तु अब उसे भी पहला उपन्यास न मानकर १८२३ में प्रकाशित 'नव-बाबूविलास' को ही प्रथम बंगला उपन्यास कहा जा रहा है। इसे श्री भवानीचरण बनर्जी ने 'प्रमथनाथ शर्मा' के उपनाम से लिखा था। वे 'समाचार चन्द्रिका' तथा 'संवाद कौमुदी' के सम्पादक थे और शायद उन्होंने ही 'समाचार दर्पण' में १८२१ के दो अंकों में 'बाबू' का चरित्र-चित्रण कर शिक्षा के साथ मन-बहलाव की सामग्री दी थी।

—बंगाल सरकार ने बूढ़े और असमर्थ लेखकों को ५० से २०० रुपये तक पेन्शन देने की एक स्थायी नीति बनाने का निश्चय किया है। इस सम्बन्ध के नियम आदि लगभग बनकर तैयार हो गये हैं।

—भारतीय संस्कृति की अन्तरराष्ट्रीय अकादमी के निर्देशक डाक्टर रघुवीर एम० पी० ने कहा कि अंग्रेजी भाषा देश में सबसे बड़े निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करती है। अंग्रेजी रखने से केवल लगभग २० लाख सरकारी कर्मचारियों का हित होगा। आपने कहा कि भारत में अंग्रेजी रखना अप्रजातांत्रिक

और अस्वाभाविक है, क्योंकि अंग्रेजी जनता की भाषा नहीं है और भारत की सांस्कृतिक परम्परा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। डाक्टर रघुवीर ने कहा कि १६ करोड़ जनता हिन्दी बोलती और लिखती है और ६ करोड़ जनता इसको समझती है। यह भारत के मध्य-भाग की भाषा है और देश की अन्य सभी भाषाएँ—तमिल और मलयालम् को छोड़कर—इससे मिलती-जुलती हैं। यदि गाँवों को भारतीय प्रजातंत्र का आधार बनाना है तो हिन्दी को अवश्य सरकारी भाषा होना चाहिये। आपने कहा कि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों को संस्कृत से अनिवार्य रूप से लेना होगा क्योंकि वर्तमान भारतीय भाषाओं में से किसी में भी यह क्षमता नहीं है कि उनके शब्दों के आगे-पीछे प्रत्यय आदि जोड़कर नये शब्द बनाये जा सकें।

—गुजराती और मराठी के प्रसिद्ध लेखक काका साहब कालेलकर को राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति वर्धा ने इस वर्ष महात्मा गाँधी पुरस्कार प्रदान किया है। ६ और १० मई को समिति के आयोजित वार्षिकोत्सव के समय उक्त पुरस्कार प्रदान किया जायगा।

—लोकसभा में प्रश्न के उत्तर में सूचना और प्रसारमंत्री के संसदीय सचिव श्री जोशी ने बताया कि नेताजी सुभाषचन्द्र वसु के भाषणों तथा लेखों का संग्रह तैयार करने में सहायता देने के लिए एक सलाहकार समिति बनायी गयी है। भाषण और लेख एकत्र किये जा रहे हैं। बंगाल सरकार को भी लिखा गया है और आजाद हिन्द फौज के जीवित सैनिकों से भी सहायता ली जा रही है।

—आंध्र में राज्य सरकार ने गत वर्ष पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया था। इस दिशा में जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनका विवरण जनता के सामने रखा गया है। राज्य सरकार के शिक्षा-विभाग ने पाठ्य-पुस्तकों के छापने के लिए लगभग दस लाख रुपये की लागत से एक मुद्रणालय स्थापित किया है। मुद्रणालय के लिए जो मशीनें मंगायी गयी हैं, वे विदेशी मुद्रा की कमी के कारण समय पर नहीं आयी हैं, फिर भी कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। सबसे अधिक खपत तेलुगु भाषा की पाठ्य-पुस्तकों की होती है, अतः पाठ्य-पुस्तक-मुद्रणालय द्वारा तेलुगु की पाँचवीं पुस्तक का प्रकाशन गत वर्ष राज्य सरकार ने अपने हाथ में लिया था। इस वर्ष तेलुगु की पहली और दूसरी पुस्तक का राष्ट्रीयकरण किया गया है। पहली पुस्तक की १२॥ लाख और दूसरी पुस्तक की ११॥ लाख प्रतियाँ छापी जा रही हैं।

—तुलसी भवन, दुर्ग रामनगर, वाराणसी के तत्त्वावधान में आज चार वर्षों से गोस्वामी जी की रचनाओं के प्राचीन पाठों का अनुसन्धान-कार्य हो रहा है। संस्था ने सैकड़ों हस्तलेखों का पाठसंग्रह वैज्ञानिक पद्धतियों से कोष्ठ-पत्रों और कार्डों के सहारे किया है। साथ ही पाठ-समस्या से सम्बन्धित अनेक अन्य साक्ष्यों का भी संग्रह किया गया है।

—अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ के प्रधान-मंत्री ने परिपत्र जारी किया है कि अमेरिकन बुकसेलर्स एसोसिएशन द्वारा लन्दन में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक प्रदर्शनी जून १४ से १८ तक हो रही है। उनकी ओर से सूचना प्राप्त हुई है कि इसमें जो हमारे सदस्य भाग लेना चाहें वे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें—अमेरिकन बुकसेलर्स एसोसिएशन, डुडले हाउस ३६-३८ साउथेम्पटन स्ट्रीट, लन्दन डब्ल्यू-सी-२ (इंग्लैण्ड)।

—भारत में निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पानेवालों की संख्या सन् १९५६-५७ में ६३,३५,३३५ रही। निम्नांकित राज्यों में यह संख्या इस प्रकार विभक्त है—आंध्र-४,०३,१६५ : आसाम—३,०७,५५६ ;

बिहार—६२,६२७ : बंबई—२४,७०,८३४ : केरल—२,६७,७६६ : मध्य-प्रदेश—२,२७,४७५ : मद्रास—८,०८,६४६ : मैसूर—५,८६,३२५ : उड़ीसा—३,५६१ : पंजाब—२,५१,७२७ : राजस्थान—२५,१५१ : उत्तर प्रदेश—४,६१,६७४ : पश्चिम बंगाल—३,३५,८१४ : दिल्ली—१,१६,०७७।

—केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को १, १३१ लाख रुपयों की सहायता राज्य-योजनाओं के लिए दी है, जिसमें शिक्षा-योजना भी आती है।

—बंबई राज्य में १६५७-५८ के वर्ष में ४०१६ पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। जिनमें गुजराती की १५०१, मराठी की १२०६, अँगरेजी की ६७२, हिन्दी की २०० और संस्कृत की २७ पुस्तकें थीं।

—शिक्षा-मंत्री श्रीमाली ने राज्य-सभा में बताया कि हिन्दी में पदार्थ-विज्ञान (तात्विक) पदार्थ-विज्ञान (प्रायौगिक), और समाज-विज्ञान संबंधी तीन वैज्ञानिक इतिहास ग्रंथों के निर्माण का भार इलाहाबाद, जब्बलपुर और लखनऊ के विश्वविद्यालयों पर, भारतीय कहावतें और लोक-कथाओं के कोष का भार बनारस विश्वविद्यालय पर, भारतीय पुराणगाथाओं पर विश्वकोष बनाने का भार अलीगढ़ विश्वविद्यालय पर दिया गया है।

—लखनऊ, २ अप्रैल। राज्य सरकार ने संस्कृत के १२ लेखकों को उनकी उत्कृष्ट कृतियों के लिए ४,८५० रुपये के पुरस्कार दिये हैं। ये पुरस्कार सरकार द्वारा नियुक्त संस्कृत परामर्श-दात्री समिति की सिफारिशों पर दिये गये हैं। एक हजार पाँच सौ रुपये का उच्चतम पुरस्कार मेरठ के आचार्य द्विजेन्द्रनाथ को 'संस्कृत-साहित्य-विमर्शः' नामक पुस्तक पर मिला है। इसके बाद १,००० रुपये का पुरस्कार वृन्दावन, मथुरा के श्री विश्वेश्वर को 'खगोलप्रकाशः' और 'मनोविज्ञान-प्रवेशिका' नामक पुस्तकों पर दिया गया है।

—नौ लेखों का एक संग्रह 'भारत का साहित्य' नाम से अभी हाल में ही मास्को में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में श्री शेलीशेव द्वारा कविश्रेष्ठ सूर्यकांत त्रिपाठी निराला पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख है। इस संग्रह में वर्तमान बंगला साहित्य पर भी एक समीक्षात्मक लेख, भारतीय नाटकों का विकास, जयशंकर प्रसाद का कृतित्व तथा कृष्णाचन्द्र के उपन्यास 'बावन पत्ते' पर भी एक परिचयात्मक लेख है।

—आचार्य भावे अपनी कश्मीर पदयात्रा के पूर्व कुरान पर अधिकृत टीका लिख लेंगे। आध्यात्मिक क्षेत्र में आचार्य भावे की 'गीताई' और 'गीता प्रवचन' पुस्तकें सर्वाधिक लोकप्रिय रही हैं।



कई बार देखा गया है कि मुर्गी, जिसने सिर्फ अंडा दिया है, ऐसा शोर मचाती है, मानो उसने किसी नक्षत्र को जन्म दिया हो!

—मार्क ट्वेन

एक मूर्ख भी एक मिनट में उतने प्रश्न कर सकता है जिनका उत्तर एक दर्जन बुद्धिमान एक घंटे में भी नहीं दे सकते।

—लेनिन



चट्टान का बेटा (उपन्यास)

लेखक—श्री ना० पेंडसे

अनुवादक—शैलेन्द्र कुमार सिंह

प्रकाशक—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे

मूल्य—चार रुपये

अपनी 'भाषा भगिनी' हिन्दी को यह आदर्श 'उपहार' देकर सचमुच ही 'सभा' ने बहुत बड़ा उपकार किया है। अंचल चाहे कितना भी फटा-चिटा हो, उसमें पनाह या महत्व पाने का अमृत आग्रह ही तो आंचलिकता है। नपुंसक पर दरिद्र और ममत्वशील पिता, चरित्र-रहित लाचार माँ, अनाथ पर दायित्व वाली दयालु मौसी, दिनकर सरीखा असहाय पर उदार मित्र, सुशिक्षिता किन्तु समाज-लांछिता पत्नी—समाज से कटे हुए इतने लोगों के और अपने भी जारज जीवन के साथ बापू उसी फटे-चिटे अंचल में अपने पुरुषार्थ के जोर से पनाह और महत्व दोनों पा लेता है। बापू के साथ ये सभी पात्र अपने विरुद्ध यथार्थ के सारे कषाघातों को उतना ही सहते हैं। उनमें और बापू में केवल इतना ही अन्तर है कि वह उनके साथ अंचल-जीवन के रथ में अपने पुरुषार्थ के कारण सबसे आगे जुता हुआ है और इसीलिए अपने अभीष्ट पर उसके कदम सबसे पहले पड़ते हैं। ये सारे असहाय अपने-अपने उत्साह को लेकर आशावाद के सतेज वाहन हैं। उपन्यास के सभी पात्र और उनके शब्द अकाट्य हैं। किन्तु, लगता है कि कुछ जल्दबाजी या असावधानी के कारण कहीं-कहीं अनुवादक से अशुद्ध भाषा का प्रयोग हो गया है।

छलाँग (हास्य-कथायें)

लेखक—शौकत थानवी

अनुवादक—हृदयेश सिंह

प्रकाशक—साधना प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य—दो रुपये

प्रस्तुत उर्दू के उक्त हास्य-कथा-लेखक की तेरह कहानियों का संकलन है। ये कहानियाँ हास्य के लिहाज से, उर्दू-साहित्य की मौजूदा प्रगति के मुकाबले कुछ पुरानी पड़ती हैं, क्योंकि इनमें पुराने सामन्ती रोमांसों, नई नाजनीनों के नखरों और उचन्त दुस्साहसों के अलावा वह कुछ नहीं है जिसमें कि वर्ग-विभेद से बिगड़े हुए हुलिए का यह समाज अपना व्यंग्यरूप देख सके। इनमें, 'छलाँग' या 'बीमारी की छुट्टी' जैसे बनावटी दुस्साहसों, 'सेकेंड हैंड कार' या 'शादी का इश्तहार' जैसे सेकेंड-हैंड रोमान्सों, 'साँप और लाठी' जैसे बचकाना पलायनों और 'नाम के पति' जैसे जोरू के गुलामों की चर्चा, आज के समाज-व्यस्त व्यंग्य के मुकाबले, बहुत ही व्यक्तिगत, बनावटी और क्षुद्र है। आज के मनस्तत्वी पाठकों को 'चार गलतियाँ' शायद ट्रेजेडी ही लगे।

बाल-साहित्य

(१) सोने की संदूकची : मूल्य—१·२५

(२) सयाना मूरख : मूल्य—१·२५

(३) मौत की मौत : मूल्य—०·६०

लेखक—कृष्णचन्द्र

(४) अमर ज्योति : मूल्य—१·२५

लेखक—मोहन

प्रकाशक—बम्बई प्रकाशन प्रा० लि०

(१) 'सोने की संदूकची' की कहानी, स्वार्थी चूहे के विरुद्ध उदार चिड़िया की लड़ाई और उन दोनों को लेकर पशुओं और पक्षियों के वर्गयुद्ध से बढ़कर, एकछत्री गिद्ध की शरण में जाती है। और, गिद्ध एक सौदागर की शरण

में पुष्ट होकर उसे अपनी एक उदार मानवी बहन से कामपूरक संदूकची दिलाता है। जिससे एक महल निकलता है और ईर्ष्यालू जाबिर सुल्तान उसे महल हटा लेने को कहता है वर्ना उसके बेटे की माँग करता है। वह बेटा बाबा-यागा जादूगरनी के प्रताप और जाबिर की बेटी की सलाह पर चलकर जाबिर को परास्त करता है और उसकी बेटी से शादी करता है। कहानी में बालोचित भाषा और नाटकीयता तो अच्छी निबाही गई है, पर जादुई जोर वाली इस परी-कथा से बच्चों में क्या सतर्कता आ सकेगी, यह प्रश्न बना ही रहता है।

(२) 'सयाना मूरख' छोटी-छोटी चार उत्साहप्रद कहानियों के कारण 'सोने की संदूकची' से अधिक उचित है। इसमें, 'मूर्ख बुढ़िया' जिसमें कि कुल्हाड़ी के शोरवे के नाम पर सिपाही ने कंजूस बुढ़िया को ठगा, 'मूर्ख नंबरदार' जिसमें कि एक मूर्ख बुढ़िया के बुद्धिमान बेटे से एक नंबरदार परिवार समेत ठगाया, बहुत अच्छी कहानियाँ हैं। 'मूर्ख धनवान' पुरानी यक्ष-कथा जैसे प्रश्नों और उनके जीवनदर्शनी उत्तरों के कारण अच्छा है। हाँ, उसमें 'बादशाह' के बजाय राजा का चित्र जरूर अखरता है। 'मूर्ख भेड़िया' वाली कहानी भारतीय बच्चों की समझ के परे है, क्योंकि 'लोमड़ी की खाल के कालर की माँग' करनेवाली गाँव की बुढ़िया और सर्दी में जमी हुई नदी की बर्फ में भेड़िए की दुम का फँसना, उनके लिए बेकार की बातें हैं।

(३) 'मौत की मौत' का प्रारंभ सिपाही याकूब की उदारता, मौजीपन और दिलेरी से होता है और समाप्ति उसके इन्हीं स्वभावों के कारण त्रस्त मौत का 'दबे पाँव, चोरी से' उसके गाँव में आने से। इस बीच वह एक मकान के भूतों को अपनी कामदात्री थैली में बंद कर पिटवा चुका था और मौत तक को ताबूत में बन्द कर बहा चुका था। यद्यपि भूत और जादू

की थैली को अपने वश में कर सिद्धि प्राप्त करने में उतना सतर्क तत्व नहीं है, फिर भी याकूब के मौजी स्वभाव और सावधान चरित्र के कारण ऐसे प्रसंग दब-से जाते हैं। यही कारण है कि ऐसे प्रसंगों के होते हुए भी कहानी की बालोपयोगिता अकुंठित रह गई है।

(४) 'अमर ज्योति' भारतीय अल्पसंख्यकों के धर्मों के प्रवर्तक जरथुष्ट्र, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और नानक का, बालोपयोगी शब्दों में अतीव उपादेय चरितवर्णन है।

झील और कमल (उपन्यास)

लेखक—ए० हमीद

अनुवादक--श्यामू संन्यासी

प्रकाशक—बंबई प्रकाशन (प्रा०) लि०

मूल्य—छह रुपये

प्रस्तुत का भारतनिवासी अनवर-नामक

हीरो कमाने के लिए रंगून जाता है, मगर उसे सत्तू और जनेऊ का पता नहीं। जहाज पर सत्तूभोजी तथा जनेऊधारी रंगून जाने वाले मेहनतकशों का, 'सफेद धागा' पहने, 'कच्चा बेसनी आटा' खाते और 'रामायण' गाते पूरबी 'घसियारे' आदि कहकर जब वह मजाक उड़ाता है तो प्रगतिशीलता और सामाजिक मर्यादा की धज्जी उड़ने लगती है। रंगून पहुँच कर यद्यपि वह अखबार में नौकरी करता, रेडिओ में स्क्रप्ट-राइटर होता और जापानी हमले का शिकार तक बनता है, मगर ये बातें बहुत ही गौण हैं। असली बातें तो हैं—ईरानी अस्मत-फरोश लड़की दरख्शाँ से 'प्याज के छिलके'-जैसा प्यार, बौद्ध लड़की सातें से सरासर 'मुसलमान' होने के बावजूद मुहब्बत, सेठ इसहाक की बेटी अनीजा का गर्भ सूई देकर गिराना, धनी बैरिष्टर की बेटी कमला का बीच वाला आशिक बनना और अंत में एक मोटी जंगली युवती के खारे दूध को भर कटोरा पीकर माँ से मिलने को हिन्दुस्तान लौट आना।

यह हिम्मत की बात है कि इस प्रकार के हीरो को उपस्थित करने के लिए इस उपन्यास की रचना हुई और यह अनुवाद भी हो गया।

हिन्दिया प्रकाशन दिल्ली की पुस्तकें

(१) विवाह विभ्राट (तीन नाटक)
लेखक : प्रताप नारायण श्रीवास्तव
मूल्य : दो रुपये पचहत्तर नये पैसे
(२) कुश और कन्या (उपन्यास)
लेखक : कमल शुक्ल
मूल्य : दो रुपये पचहत्तर नये पैसे
(३) डेढ़ अरब (नाटक)
लेखक : हरिकृष्ण
मूल्य : दो रुपये पचहत्तर नये पैसे
(४) दूब के फूल (कहानियाँ)
लेखिका : लीला अवस्थी
मूल्य : तीन रुपये

(१) 'विवाह विभ्राट' तीन तथा-कथित नाटकों का संग्रह है। पहला 'विवाह विच्छेद' वेश्या-उद्धार, हिन्दू-विधानानुसार डाइवोर्स आदि बहुत-सी बातों के समर्थन में लिखा गया है। इसमें सभी पात्रों को बाप का धन हाथ लगा हुआ है और इसके द्वारा वे अपने या वेश्या के उद्धार का नाम कमा रहे हैं। दूसरे 'स्वराज्य की तस्वीर' में अनगिनत नेताओं, पुलिस-अफसरों और आई-सी-एसों के मौजूदा भ्रष्टाचार बखाने गए हैं। और, तीसरे 'प्रीति भोज' में कामिनी के मुँह से 'सम्मिलित शिक्षा का हामी पुरुषवर्ग इसलिए है कि वह हमको अपने विलास का खिलौना समझता है' इत्यादि कहवा कर इसी को सिद्ध किया गया है। इन तीनों में नाटक की बात तो क्या, सामाजिक संबंधों के साधारण औचित्य तक का अच्छा अभाव है।

(२) 'कुश और कन्या' उपन्यास की भूमिका है कि 'सोने और चाँदी की माया का महत्व उतना नहीं है जितना कि पवित्र कुशों का, पावन कन्यादान कुश का प्रतीक है', और इस भूमिका का मेहराजी द्वारा समर्थन है कि 'उपन्यास में विद्रोह की अग्नि' है। किन्तु, मेरी समझ से 'कुश और कन्या' तथा 'विद्रोह की अग्नि' दोनों ही बातें गौण हैं। क्योंकि, बैजू के बच्चे का बैजू के निस्सन्तान और सम्पन्न साहू द्वारा गोद लिया जाना और एवज में बैजू को आर्थिक सहायता देना; बैजू को बहनोई से आर्थिक और सामाजिक सहायता मिलना; सम्पन्न भतीजी गौरा का बैजू पर प्रणय और प्रणय के तिरस्कृत होने पर बैजू की बेटियों के विवाह में सर्वस्व लगाकर आत्म-हत्या; और अन्त में जमीन्दारी के खत्म होने

से बैजू का भूमिधर होना—आदि प्रसंग 'कुश और कन्या' की उपर्युक्त व्याख्या और 'विद्रोह' की सारी रंग-पत्तियों को काट देते हैं और व्यक्तिगत सहायताओं तथा जमीन्दारी-नाश के सुने-सुनाए फायदों पर आधारित होने से कहानी कोई आग्रह भी नहीं दे पाती।

(३) 'डेढ़ अरब' का नाटक आइ० एन० ए० का इम्फाल में मुकाबला करनेवाली विदेशी फौज के, कश्मीर में पाक-हमलावर कबायलियों का मुकाबला करनेवाली देशी फौज बन जाने तक को लेकर है। नाटक में, फौज से विदेशीपन के मिटने और देशीपन के बनने में वफादारी वाली शर्त के बजाय दूसरी ही शर्त यह है कि जो 'वफाई' (फौजी लड़की, रीता ही सही) पहले सिपाहियों के 'होम-सिकनेस' को मिटाने और उन्हें खुले-आम 'खुश करने' के काम आती थी, वही अब कमांडर (नागेश ही सही) का खानगी तौर पर (शराब छुड़ाकर और "मेरा सब-कुछ तुम्हारा है" कहकर समर्पित होकर) हृदय-परिवर्तन कराने लगी। कश्मीर से हटने के लिए पाकिस्तान का डेढ़ अरब घूस, इस पर नागेश का राजी होना और फिर राजी न होने के लिए रीता का मना लेना; इन बचकानी बातों के अलावा इसमें और भी वाहियात बातें हैं; जैसे—"फाइन-आर्ट हर मुल्क, कौम और मजहब की गिरावट की वजह है और औरत फाइन आर्ट की माँ है" (नागेश का वक्तव्य), फौज के लिए दूसरे मुल्कों से शराब न मँगाई जाय ताकि "डालर की बचत हो" (नागेश को रीता की सलाह), "रिफूजी" औरतें फौजियों के जिम्मे न रखी जायँ क्योंकि फौजियों में "फिर कामदेव ही तो है" (अफसरों को नागेश की हिदायत)—आदि। लगता है कि लेखक को पिछली और आज की फौज के अनुशासन का कुछ पता नहीं।

(४) 'दूब के फूल' की कहानियों में अधिकतर सनातन समाजरूढ़िता में ग्रस्त मध्य-वर्गी हिन्दू-परिवार या कालेज में पढ़ने-पढ़ाने वाले पात्र या पात्रियाँ हैं। 'बिन्दो का भैया' जैसी एकाध कहानी ही घरेलू है। 'अन्तर्द्वन्द' और 'परिणय' महत्वाकांक्षिणी आधुनिकाओं में रोमांटिक घुटन का चित्र और इसके विपरीत 'मैं हूँ रूबी', 'स्वप्न' आदि, पुरुष में रोमांटिक घुटन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'स्वप्न' में ब्याही हुई प्रेमिका-छात्रा के पैरों पर जीने से गिरने से प्रेमी-प्रोफेसर के सिर में बिछिए का धँस जाना, 'बदला' में 'कमर का अभिनय' करने वाली वेश्या से 'छोकरियों के एडवोकेट' की पत्नी का बदला लेना, 'बात की बात' में साथ सिनेमा न चलने के कारण ही भाभी का ननद पर जुल्म, 'परिणय' में मनोविज्ञान के डाक्टरेट सी-आई-डी सुपरिन्टेन्डेन्ट की स्थिति और 'व्यक्तित्व' में 'कम्युनिस्ट विचार' का रमेश और 'लोगों को लड़कियाँ पहुँचाने का पेशा' करनेवाली लगती कीर्ति—बेमतलब की बातें हैं। कुल मिलाकर कहानियाँ अतिसाधारण और अपरिपक्व मति की कृतियाँ भर ही हैं।

साहित्य (त्रैमासिक पत्र)

सम्पादक—शिवपूजन सहाय एवं नलिन-विलोचन शर्मा

प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन एवं बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

मूल्य—वार्षिक-७), प्रति-२)

हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर पर शोध-अनुसंधान और समीक्षा-संबंधी सामग्री देने में यह त्रैमासिक ६ वर्षों से अद्वितीय सेवा करता आ रहा है। प्रस्तुत, नवम वर्ष का तीसरा अंक, तदनुरूप ही उन्नत प्रमाण है। इसमें, रामचरित-मानस से १०४ वर्ष पूर्व के कवि लालचदास

के हरि-चरित्र, बंगाल के दीवान शाह शुजा के समकालीन कवि शेख किफायत का विद्याधर नामक प्रेमाख्यान, कन्नड़-साहित्य की तिथि-क्रम-पूर्वक सूची तथा परिषद् में संगृहीत हिन्दी की प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण आदि प्रसंग, हिन्दी के अनुसन्धानी पाठकों के लिए अत्यन्त ही उपादेय सामग्रियाँ हैं। यदि देश के सभी अच्छे-खासे पुस्तकालयों और विश्वविद्यालयों में इस पत्र की स्थायी पहुँच नहीं है, तो यह उनका दुर्भाग्य है।

योजना (मासिक पत्र)

नववर्ष-विशेषांक

सम्पादक—वेद 'राही'

प्रकाशन—लालारुख पब्लिकेशन्स, सूचना-विभाग जम्मू-कश्मीर सरकार

मूल्य—नहीं दिया गया

प्रस्तुत तीसरे वर्ष का प्रथम अंक, १८० पृष्ठों का, सुरुचिपूर्ण फोटो-चित्र और रंगीन रेखा-चित्रों से समन्वित, सराहनायोग्य है। इसमें कश्मीरी भाषा-साहित्य के संस्कृत और आधुनिक स्रष्टाओं पर विभिन्न लेख विशेष परिचयात्मक बन पड़े हैं। सात कहानियाँ हैं, जिनमें कश्मीरी शृंगार, लय और जीवन का अधिकतर चित्रण है। बाल-संसार और महिला-संघ उन्नत स्तर की रचनाओं से संवलित हैं। इस अंक के अधिकतर लेखक युवक होते हुए भी अपनी रचनाओं के कारण अभिनन्दनीय हैं।

—"लालधुआँ"

बीरबल की गपशप

सम्पादक—ओम्प्रकाश बेरी

प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी—१

मूल्य—एक रुपया पचीस नये पैसे

बीरबल की हास्य-कथाओं ने साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया है। अकबर और बीरबल से संबंधित ये कथायें हमारे घरों में बहुत चाव से कही और पढ़ी जाती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में बीरबल की कुछ ऐसी ही हास्य-कथाओं का संकलन किया गया है। आकर्षक आवरण और भीतर की दो-रंगी छपाई में प्रस्तुत ये कथायें कुछ इतनी मनोरंजक और दिलचस्प हैं कि पाठक का खिंचाव इनकी ओर स्वाभाविक ढंग से हो जाता है। शुद्ध और निर्मल हास्य से ओतप्रोत ये कथायें पाठक के हृदय में स्वतः एक गुदगुदी पैदा करती हैं।

बीरबल अत्यन्त सुतीक्ष्ण बुद्धि का व्यक्ति था। हाजिर-जवाबी में तो उसका मुकाबला करनेवाला उस जमाने में कोई भी व्यक्ति नहीं था। ये कथायें बीरबल की सुतीक्ष्ण बुद्धि और प्रत्युत्पन्नमति (Presence of mind) का बेजोड़ उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

यों तो अगर बीरबल की सारी कथाओं को एक जगह संकलित किया जाय तो एक वृहत् ग्रंथ तैयार हो जाय और ऐसा किया जाना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से बीरबल की बहुत-सी कथायें विलुप्त होने से बच जातीं हैं और साहित्य के लिये एक स्थायी मूल्य की चीज होती हैं, फिर भी यह संकलन छोटे में सुन्दर बन पड़ा है और पाठक के दिल-बहलाव के लिये काफी सामग्री प्रस्तुत करता है।

पत्रकार वृहत्त्रयी

लेखक—गौरी शंकर गुप्त

प्रकाशक-हिन्दी संसद, गायघाट, वाराणसी

मूल्य—एक रुपया पचीस नये पैसे

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास के तीन महारथियों का, प्रस्तुत पुस्तक में, लेखक ने वृहत्त्रयी कहकर परिचय दिया है। वे महारथी हैं—अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, पं० लक्ष्मण

नारायण गर्दे और स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर। इनमें पराड़करजी की सेवाओं से अब हिन्दी-संसार वंचित है और उनकी मृत्यु से हिन्दी-जगत को अपार क्षति पहुँची है। शेष दो व्यक्तियों की सेवायें अभी भी हिन्दी-संसार को किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हैं, जिससे वह अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है।

ये तीनों पत्रकार भारतीय हिन्दी-पत्रकारिता के निर्माण में नींव की ईंट कहे जा सकते हैं। इनका त्याग और अध्यवसाय, इनकी तपस्या और देश-भक्ति, इनकी साधना और लगन, आधुनिक युग के पत्रकारों के लिये अनुकरणीय आदर्श है। पत्रकारिता के क्षेत्र में इनलोगों ने सदा स्वतंत्र पथ का ही अनुसरण किया। लकीर के फकीर बने रहने की प्रवृत्ति इन सम्पादकाचार्यों में नहीं रही। जिसके फलस्वरूप जनता के विचारों को अभिव्यक्ति मिली और जनजागरण के लिये एक ठोस पृष्ठभूमि का निर्माण सम्भव हो सका। वस्तुतः ये सम्पादकाचार्य हिन्दी-पत्रकारिता के मूर्तिमान इतिहास हैं। वे उस प्रकाश-स्तम्भ की तरह हैं जो युग-युग तक आनेवाली पीढ़ियों को दिशा का ज्ञान दिलाता रहेगा।

इस दृष्टि से और भी अनेक दिवंगत और जीवित सम्पादकाचार्यों का नाम लिया जा सकता है, जिसकी एक सूची इस पुस्तक के विद्वान प्राक्कथन-लेखक आचार्य शिवपूजन सहायजी ने दी है। सचमुच इनलोगों की उपेक्षा उचित नहीं है। यह पुस्तक उस दिशा में प्रथम प्रयास के रूप में प्रकट होकर भविष्य के लिये प्रेरणा देनेवाली सिद्ध होगी। यह सचमुच एक सराहनीय कदम है।

हमारे विचार से तो भारतीय पत्रकारिता के इन प्रतिष्ठापकों की अलग-अलग जीवनियाँ लिखने और प्रकाशित करने की आवश्यकता है। पत्रकारिता के माध्यम से इन विद्वानों ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी की महान सेवा की है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इन सम्पादकाचार्यों की जीवनियों से संबंधित छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख कर इसे नीरस होने से बचा लिया है।

—विश्वनाथ



"मुझसे जो कोई मिलता है तो या मुझ फकीर के खानदान के खयाल से या मेरे कलाम (कविता) के सबब से मिलता है। साहब को (अंगरेज अधिकारियों को) खानदान से गरज नहीं, मेरा कलाम समझते नहीं। अलबत्ता (हाजिर होने का) कुछ इनाम देंगे। ऐसी मुलाकात में जिल्लत के सिवा क्या हासिल ?"

—महाकवि मीर तकी 'मीर' (मृत्यु—१८१० ई०)

ब्रिटेन के एक नवोदित लेखक का नया और लम्बा उपन्यास बिल्कुल असफल रहा। उसे सफल बनाने के लिए उसके प्रकाशक ने एक तरकीब सोची। उसने कई हजार प्रतिष्ठित नागरिकों के नाम गुमनाम पत्र इस आशय के भिजवाए कि "अमुक उपन्यास आपको तथा आपके परिवार को अवश्य मनोरंजक लगेगा, क्योंकि आप भी इसके एक पात्र हैं। कहीं-कहीं आपके बारे में कुछ अप्रिय बात है, पर उनका बुरा न मान बैठिएगा।" एक महीने में ही उपन्यास के तीन संस्करण बिक गए।



पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन

कुबेर का पद या मद !



श्री द० व० देशपाण्डे

देवताओं के बीच कुबेर बड़ी भोंड़ी आकृति के माने जाते हैं। अपने समाज में उनपर हास्य-व्यंग्य की बौछारें पड़ती होंगी। सलोनी सूरत वाली देव-देवियाँ उन्हें घृणा की दृष्टि से भी देखती होंगी। पर, राज्य की अर्थव्यवस्था उनके हाथ में होने के कारण उनका पद महत्व में किसी से घट कर नहीं है। उनके द्वारा व्यवस्था के कुशल-संचालन में किसी को संदेह तो नहीं ही होना चाहिए ; क्योंकि 'नीति' के आगे 'कूट' लगाकर भी आजतक उन्हें अपदस्थ नहीं किया जा सका है।

प्रकाशकों में पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशक का स्थान कुबेर का समझा जाता है। निस्सन्देह उसपर भी कुबेर के गुण-अवगुण आरोपित हैं। लेखक बन्धुओं ने उसके व्यंग्यात्मक शब्द-चित्र आँकने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। मित्रप्रकाशकों की नाक-भौंह उसे देखते ही सिकुड़ जाती है। प्रकाशक-वर्ग के बीच जैसे वह अछूत हो। पर, मजेदार बात यह है कि उसकी कृपा के, उसके पद के सभी आकांक्षी हैं। कलम का धनी-से-धनी उसकी छाया ढूँढता है कि उसकी कोई खूबसूरत किन्तु बिसूखी कृति, उसका चारा पाकर दुधारू हो उठे! साथी-प्रकाशक सोचते हैं कि कहीं उनकी कोई प्रकाशित कृति स्कूलों या विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक का रूप ले लेती, तो स्टाक को सुबह-शाम निहारने की निराकार आनन्दोपलब्धि के बजाय, वे भी उस पद का साकार-सुख प्राप्त कर सकते! हिन्दी-जगत् में पाठकों की वर्त्तमान मंदी से निराश होकर, तथाकथित ऊँचे आदर्शों की मीनार पर लटके, ये बन्धु नीचे उतर कर जब पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में आ जुटते हैं, तो हमें आश्चर्य नहीं ; इनके प्रति सहानुभूति ही होती है।

पर, स्थिति यहाँ दूसरी है। भारतीय पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशकों में कुबेर का मद जो हो, किन्तु ये कुबेर के पद पर नहीं ही हैं। क्योंकि, कुबेर बनने की लिप्सा में इनलोगों ने उसकी बदसूरतियाँ ही अपनाई हैं, खूबसूरती नहीं। इस लिप्सा ने इनसे कंचनी काया की ही पूजा कराई है, उत्तरदायित्व की नहीं ; संयम की नहीं। मर्यादा (न्याय-पथ में स्थिति) तो जैसे छोड़कर ही ये पाठ्य-पुस्तकों की सीमा में प्रवेश करते हैं। फलतः इन महानुभावों ने अपनी कुशाग्रता से जहाँ कुछ पाया है, वहीं उपर्युक्त कारणों से खोया अधिक है। और, जो कुछ पाया भी, उसमें वह स्थायित्व कभी नहीं रहा, जोकि इनकी स्वयं की स्थिति को भी कभी ठोस भूमि दे सके। पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन उनके लिए एक जूआ रहा, उत्तरदायित्व नहीं, अतः वह भी, अपने चरित्र के अनुसार ही, इन्हें क्षण भर के निमित्त ललचाकर छलता रहा। कम-से-कम इनका इतिहास तो यही सबक देता है। जैसी-तैसी सस्ती पुस्तकों, कैंची-मार्का पाठ्य-पुस्तकों को प्रकाशित कर, तथा कंचनी काया के सहारे उनपर स्वीकृति की मुहर लगा देश के नौनिहालों पर थोप कर, इनलोगों ने देश के भविष्य को छला है, और वह छल इनके कोष के साथ पाप-राशि बनकर जमा होता रहा है। दुःख की बात तो यह है कि अपनी घोर लिप्सा की मनोवृत्ति और अदूर-

दर्शिता के कारण, विषय के विद्वान अनुभवियों को दर-किनार कर, स्वयं लेखक तक बनकर इन्होंने सात-सवारों में नाम लिखाने की दुर्बुद्धि भी दिखाई। इस कंचनी काया ने सरस्वती के वरद-पुत्रों को भी भ्रमित किया, जिन्होंने अपने स्वाभाविक क्षेत्र का परित्याग कर, पाठ्य-पुस्तकों के प्रणयन में अपनी प्रतिभा के साथ बलात्कार किया।

परिणाम इसके स्पष्ट हैं। अपने समाज में ये सदैव हीनदृष्टि से देखे गए। हीनमनोवृत्ति के साथ इस व्यवसाय में पैठनेवाले लोगों के अन्दर स्वभावतः हीनमनोभावना घर कर गई। परतन्त्रता की बेड़ी कटी और समाज ने अँगड़ाई ली, फिर भी इनका नशा न टूटा—इनकी आँखें कंचनी काया में डूबी ही रहीं। पर, जमाना इनके सम्हलने का इन्तेजार क्यों करता? फलतः राज्य-राज्य की राष्ट्रीय सरकारों ने पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन का राष्ट्रीयकरण कर दिया, या क्रमशः करने लगीं। और, एकबारगी ही इस भूकम्प से पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन-जगत में कोलाहल मच गया। पर, अपनी मर्यादा त्यागने, उत्तरदायित्व से आँखें मूँदने का यह तो स्वाभाविक परिणाम है! इसे तो वे ही रोक सकते थे, या अब भी रोक सकते हैं!

पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन एक पावन कार्य है, मात्र व्यवसाय नहीं। यह न केवल अपने आपको, बल्कि संस्पर्श में आने वाले व्यक्ति-व्यक्ति को पवित्र करता है—लेखक से लेकर शिक्षार्थी तक को! लाखों-करोड़ों होनहारों के बनने-सँवरने का साँचा प्रस्तुत कर, प्रकाशक

देश के भविष्य को स्वरूप देता है। यह पुण्य लुटाकर पुण्य बटोरने की क्रिया हुई। इसलिए यह कार्य महान् उत्तरादायित्व का है, जो संयम और मर्यादा की माँग करता है। अपेक्षा इसी भावना को जगाने की है। और, यह 'नीति' के रूप में आत्मसात् की जानी चाहिए, क्योंकि 'कूटनीति' के रूप में अपनाई जाने पर यह इस व्यवसाय को वह सांघिक शक्ति न दे सकेगी, जिसकी आवश्यकता राष्ट्रीयकरण के बढ़ते चरण को रोकने के लिए आज है।

अबतक प्रकाशकों ने इसे मात्र व्यवसाय मानकर ही अपनाया है। 'अतः अधिक-से-अधिक लाभ' का व्यावसायिक मूल-सिद्धांत इसका लक्ष्य रहा। इसकी उपलब्धि के लिए जायज-नाजायज तरीके अपनाए। इन लोगों ने प्रायः विषय और मनोविज्ञान के आचार्यों की उपेक्षा कर, जिनकी कलम व्यवसाय का साधन मात्र है ऐसे दो-टकहे लेखकों से पुस्तकें लिखवाईं। या फिर ऐसे व्यक्तित्व पकड़े गए जो पुस्तकों को स्वीकृत कराने में योग दे सकते थे। या फिर ऐसे महारथियों के नाम खरीदे गए जिनका प्रभाव स्वीकृति पर पड़ सकता था। निस्संदेह, नामों की इस खरीद-बिक्री में बड़े-बड़े साहित्य-महारथी भी धर्मच्युत हुए हैं, पर यह भी सत्य है कि इसके प्रेरक प्रकाशक ही रहे। यदि लाभ-लोभ ने कुछ अधिक जोर मारा, तो प्रकाशकों ने लेखक बनने की भी धृष्टता कर दी। सामान्यरूप से लेखक का प्रकाशक बनना और प्रकाशक का लेखक बनना—दोनों प्रकाशकों की कुत्सित लिप्सा के ही परिणाम हैं। अन्तर मात्र अंश का है। पहली दशा में लेखक के उचित लाभांश पर और दूसरी दशा में उसके सम्पूर्ण पर, उनकी हिंसक दृष्टि होती है। स्पष्ट है कि यदि पहले का विशेषण 'हीन' है तो दूसरे का 'हीनतर'।

अन्य उन्नत देशों में इस धंधे में लगे व्यक्तियों ने इसे मात्र व्यावसायिक दृष्टि से नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व के रूप में अपनाया। फलतः वे सदा टिके भी रहे और समाज में प्रतिष्ठित भी हुए। वर्गों की श्रेणी जितनी नीचे उतरती गई, पाठ्य-पुस्तकों के प्रणयन में उतनी ही मिहनत प्रकाशकों ने की, उतना ही अधिक समय लेखकों और मनोवैज्ञानिकों ने दिया, जिससे कि नींव की ईंटें मजबूत बन सकें। इसलिए ही वे शोधपूर्ण, वैज्ञानिक, बच्चों के क्रमिक विकास और उनकी शब्द-राशि के अनुकूल पाठ्य-पुस्तकें दे सके। ठीक इसके विपरीत हमारे यहाँ की पाठ्य-पुस्तकें इन सारे आवश्यक गुणों से शून्य हैं। यहाँ वर्ग १ से वर्ग ७ तक की स्वीकृत पाठ्य-पुस्तकों की कोई सूची या पुस्तक-माला प्राप्त न होगी, जिनमें स्तर का एक क्रम, क्रमशः विकसित शब्द-राशि का परिचय और उसके प्रस्तुतिकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण-विशेष के दर्शन हो सकें। तब दो-चार रोज रत-जग्गी कर या कैंची चला कर, निस्सन्देह ऐसी पुस्तकें न तो लिखी जातीं और न प्रकाशित की जातीं।

पाठ्य-पुस्तकों के चित्रण में भी उनका कोई निश्चित सिद्धान्त कभी नहीं रहा। वर्ग एवं आयु-विशेष के बालकों को किस शैली के चित्र आकर्षित करते हैं? उनकी रेखाएँ मोटी होनी चाहिएँ या पतली? चित्रण में विस्तार (details) या अत्यधिक वास्तविकता आयु-विशेष के बालकों पर प्रभाव उत्पन्न कर सकेंगे या उन्हें उलझाकर रख देंगे? शोख और शांत रंगों का प्रभाव विभिन्न आयु के बालकों पर कैसा पड़ता है? अलग-अलग रंगों में मुद्रित अक्षर उनकी आँखों पर कितना और कैसा जोर डालते हैं?—इन प्रश्नों को सोचने-समझने की जरूरत समझी न गई!

मैंने कहा है कि अनुत्तरदायी व्यक्ति, संयम और मर्यादा, दोनों को छोड़कर चलता है।

सबसे अधिक आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि अखिल भारतीय प्रकाशक-संघ, जिसके अधिकतर सदस्य इस राज्य के ही हैं और वे भी महत्त्व के, इस पर मौन हैं। अधिक-से-अधिक २०% कमीशन का बंधन बना कर, अपने ही राज्य में २५% कमीशन स्वयं देकर, प्रसिद्ध कहावत "हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और" को चरितार्थ कर रहे हैं। संघ के उत्तरप्रदेशीय सदस्यों से पूछा जा सकता है कि उनके द्वारा निर्मित और प्रचारित यह बीस प्रतिशत का बंधन क्या अन्य राज्यों के कमजोर प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के लिए ही है, जो उनपर किसी-न-किसी प्रकार से आश्रित हैं? दूसरों को पंचशील का संदेश देने वाले मित्रो, पहले अपने को ही उनसे बाँधो!

खरीद के लिए चुनी पुस्तकों की सूची इस सत्य का उद्घाटन करती है कि अखिल भारतीय स्तर की खाल ओढ़े यह चुनाव-प्रतियोगिता शुद्ध प्रान्तीय है। हाँ, खाल को शरीर पर टिकाने के लिए, उसे अन्य राज्य की दो-चार पुस्तकों के फीते से बाँध अवश्य दिया जाता है। और, ये दो-चार पुस्तकें भी प्रायः वे ही होती हैं, जिनका प्रकाशन-क्षेत्र तो अन्य होता है, पर लेखक उत्तरप्रदेशीय। अब तो और भी राज खुलते जा रहे हैं। सुना जाता है कि वहाँ के शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों की जेब में संस्थाएँ रहती हैं, जिनके लेखक अफलातूनी होते हैं और अधिकतर उन्हीं की पुस्तकें सूची में स्थान पाती हैं। यह हाल उस राज्य का है, जो हिन्दी-संसार का नेतृत्व करने का दंभ करता है—लेखन और प्रकाशन दोनों क्षेत्रों में। यहीं के साहित्य-महारथी और प्रकाशक अन्य राज्यों को ज्ञान-विकास के साधन, पुस्तकों के संबंध में प्रान्तीयता न अपनाने का पंचशीली प्रवचन देते फिरते हैं। यदि किसी राज्य ने, अपने क्षेत्र के साहित्य-उद्योग के विकास के हित में, अंश अलग किया तो दिल्ली तक जमीन-आसमान एक करने में ये बाज नहीं आते। आश्चर्य है कि इसी राज्य में अखिल भारतीय प्रकाशक-संघ के अनेक महत्त्वपूर्ण सदस्य हैं, जो अन्य राज्यों के प्रकाशकों को अपने क्षेत्र में शील और सहिष्णुता की सीख पिलाते हैं। क्या हम पूछ सकते हैं कि इन लोगों ने अपने राज्य में उपर्युक्त धाँधली दूर करने का क्या प्रयास किया है? अपने को इन शीलों से कहाँ तक बाँधा है?

प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने क्षेत्र के साहित्य और उद्योग को प्रश्रय दे, उन्हें विकसित होने में योग दे। यदि इस दृष्टि से वैसी घोषणा कर सरकारी खरीद का महत्त्वपूर्ण अंश अपने राज्य के लेखकों और प्रकाशकों के लिए वह सुरक्षित रख छोड़ता है, तो उसमें तर्कपूर्ण औचित्य है। पर, अखिल भारतीय स्तर की घोषणा कर, ऊँचे आदर्शों की दुहाई दे, प्रान्तीयता का खेल खेलना घोर अनैतिकता का परिचय देना है।

हिन्दी-समिति, उत्तर प्रदेश की पुरस्कार-योजना : एक साहित्यिक षड्यंत्र!

हिन्दी-समिति, सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित पुस्तकों की पुरस्कार-प्रतियोगिता में भी ऐसे ही अनर्थ और अनौचित्य के दर्शन होते हैं। यहाँ भी प्रतियोगिता की योजना-घोषणा अखिल भारतीय स्तर की होती है। पर, हर बार पुरस्कृत ग्रन्थों की सूची चौंका कर रख देती है। करीब दो सौ पुरस्कृत ग्रंथों और लेखकों में ७५ प्रतिशत

उत्तर-प्रदेश के होते हैं—जैसे, यह सूची इस छिपे सत्य को उद्घाटित करती हो कि महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथों का प्रकाशन उत्तर-प्रदेश में ही संभव है, प्रतिभाशालियों को जन्म देने की समर्थता उसकी मिट्टी को ईश्वर-प्रदत्त है ! और इन पुरस्कृत उत्तर-प्रदेशीय ग्रंथों में अधिकतर ऐसे मिलते हैं; जिनकी चर्चा भी कभी सुनी गई नहीं होती; ऐसी पुरस्कृत प्रतिभाएँ होती हैं, जो इतिहासकारों द्वारा अनदेखी रह, डूब जाती हैं ! भविष्य में साहित्य के खोजी विद्वानों के लिए हिन्दी-समिति द्वारा पुरस्कृत ग्रन्थों और लेखकों की ये सूचियाँ बड़े काम की सिद्ध होंगी !

हमारा निवेदन है कि प्रतियोगिता में ऐसी संकुचित मनोवृत्ति का परिपालन उसकी पवित्रता और महत्व, दोनों को नष्ट करता है।

महत्व पुरस्कार-राशि का नहीं, अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठा का है। सामर्थ्य-हीन पुस्तकों पर "अखिल भारतीय स्तर पर पुरस्कृत" की मुहर लगा, उन्हें प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा देने-दिलाने के इस साहित्यिक षड्यन्त्र की, जो प्रान्तीयता के जहरीले परिवेश में पला है, राष्ट्रभाषा के हित की दृष्टि से हम निन्दा करते हैं।

आर० डी० एन्ड डी० जे० कॉलेज, मुंगेर के अंगरेजी विभाग के अध्यक्ष एवं अंगरेजी भाषा और साहित्य के मूर्धन्य पंडित प्रोफेसर श्री कालीकिंकर सरकार के आकस्मिक निधन पर शोक प्रकट करते हुए 'पुस्तक-जगत' परिवार परमात्मा से दिवंगत आत्मा के लिए सद्गति की प्रार्थना करता है।



'पुस्तक-जगत' के नियम

* "पुस्तक-जगत" में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की १० तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है ; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार रायल अठपेजी है और २$\frac{1}{4}$" के दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,
पटना—४

रजिस्टर्ड नं०—पी० ८०४ मूल्य—प्रति अंक–२५ न० पैसे ; वार्षिक–तीन रुपये

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना–४ में मुद्रित एवं प्रकाशित।

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

जून, १९५९ : अंक—१० [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत

हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' द्वारा

लिखित

लोक-साहित्यानुशीलन में नवीनतम

ग्रन्थ-नक्षत्र

भोजपुरी लोक-साहित्य : एक अध्ययन

मूल्य : पाँच रुपये

• • •



ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,

पटना-४

लेखक के लिए प्रकाशक बनना क्यों नहीं वांछनीय है!



श्री मदनजी मिश्र

इस पत्र के प्रारंभ से 'लेखक के लिए प्रकाशक बनना वांछनीय है या नहीं'—इस प्रश्न को लेकर बहुत-कुछ उत्तर-प्रत्युत्तर हो रहे हैं। और, अब मामला कुछ व्यक्तिगत तितास की सतह पर तैरता-सा लग रहा है।

इस प्रश्न को लेकर जो गर्मी पैदा हुई, उसमें लेखकगण ही अधिक तपे--या हाथ सेंकने लगे। प्रकाशकों में से किसी ने भाग नहीं लिया। ऐसा लगा कि या तो उन्हें कमाने-खाने वाले अपने धन्धे से फुर्सत ही नहीं थी, या उन्होंने अपने आसन को भारी मानकर यह समझा कि उनके लेखकगण उनका इन्द्रासन लेने को जब विश्वामित्र-तप कर रहे हैं तो तप की पराकाष्ठा देख ली जाय और यदि वे पराकाष्ठा पर पहुँच ही जायँ तो उनपर चुपके से कोई स्मर-शर छोड़ दिया जाय।

किन्तु, विगत आठ अंकों में लेखकों की तपश्चर्या को देखने से तो यह लगता है कि उन्होंने तपोनिष्ठ होने के लिए पद्मासन के बजाय शीर्षासन ही लगाया है।

चिकित्सक दवा-विक्रेता या दवा-निर्माता भी बने कि नहीं, किसान गोलेदार भी बने कि नहीं, मजदूर कारखाने का मालिक भी बने कि नहीं, गृहिणी अभिभाविका भी बने कि नहीं,—समाज के सभी सक्रिय क्षेत्रों में इस प्रकार के द्वैध-दायित्वों के बहुत-से आकर्षण और प्रश्न हैं। ऊँचा पद और अच्छी प्राप्ति की इच्छा सभी जगह है। फिर, समाज के इतने-सारे अंगों और उनके उत्साहों से कतरा कर—सिर्फ 'लेखक के लिए प्रकाशक बनना वांछनीय है कि नहीं'—इस-जैसा एकांगी प्रश्न क्यों?

क्योंकि इस प्रश्न और उत्तर में लेखकों ने ही भाग लिया है, और क्योंकि लेखक इस बात का दावेदार है कि वह समाज और उसके व्यक्तियों के चरित्र को साधारण-जन से अधिक बढ़कर समझता है, और क्योंकि वह द्रव्यार्थक 'अर्थ' के प्रति अपने को निरीह भी मानता है—इसीलिए यहाँ उसके विरुद्ध अपने-आप ही दो प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। पहला तो यह कि उसने किसान, मजदूर और गृहिणी आदि समाज के दूसरे सक्रिय वर्गों से, इस पत्र के विगत कालमों में, अपने जीवन के स्वार्थों को अलग क्यों कर लिया? और, दूसरा यह कि उसका 'सत्यं शिवं सुन्दरं' या 'सत् चित् आनंद'-मय साहित्य को साधनेवाला 'कविर्मनीषी' अपने पेशे से इतना हतोत्साह क्यों हो गया, कि वह इस प्रकार सोचने लगा?

मेरा मत है कि चिकित्सक यदि दवा-विक्रेता बनना ही चाहे तो बन जाय, किसान यदि गोलेदार बनना चाहे तो वह भी बन जाय, मजदूर यदि कारखानेदार होना चाहे तो हो जाय, गृहिणी यदि अभिभाविकात्व चाहे तो वह भी प्राप्त कर ले; किन्तु लेखक के लिए—नैतिक, आर्थिक, सामाजिक, किसी भी दायित्व को देखते हुए—प्रकाशक बनना कदापि वांछनीय नहीं है। क्योंकि बाकी लोगों के साथ, कला वाली उस नैतिकता के लगाव के बजाय, आर्थिक या सामाजिक लगाव भर ही है। शिक्षक के पुस्तक-विक्रेता बन जाने से जो हानि समाज के शिक्षाप्रेमियों और शिक्षार्थियों को हो सकती है, लेखक के प्रकाशक बन जाने से उससे कम किसी कदर नहीं। लेखक स्वतंत्र है,

इसीलिए कोई भी सरकारी या अर्धसरकारी विभाग उसके प्रकाशक बनने पर वैसी रोक नहीं लगा सकता, जैसी रोक शिक्षक पर, किसी दूसरे पेशे को पकड़ने पर, लगाई गई है।

आखिर, प्रजातन्त्र या समाजवाद—जिसकी दुहाई आज के जमाने में बहुत ज्यादा दी जा रही है—उसका, पेशे के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप क्या है? यही न, कि एक व्यक्ति पर एक दायित्व और एक ही कार्य दिया जाय! यदि एक ही व्यक्ति बहुत-सारे दायित्वों और कार्यों को, अपनी महैषणाओं के अधीन हो कर, अपने जिम्मे ले ले, तो शेष अन्यों के लिए क्या दायित्व और क्या कार्य बचेंगे? संसार के सभी देशों में सरकारी नौकरशाही और जनसंख्या के आधिक्य के कारण, जन-जीवन के लिए (प्राइवेट सेक्टर के लिए) बहुत थोड़े-से ही दायित्व और कार्य यों ही बचते हैं। उस पर, यदि सभी क्षेत्रों में, अपने जिम्मे ढेर-सारे दायित्व और कार्य समेट लिए जायँ, तो इस हड़पाहड़पी से अपने बादवालों के लिए जीवन और उसके रस का साधन क्या बचा रहेगा? यह मानना उचित है कि आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को कुछ व्यक्तिविशेषों द्वारा हड़पाने का असर तत्काल होता है, किन्तु वह असर मानव-मन पर उतना स्थायी प्रभाव नहीं डालता जितना कि नैतिक और साहित्यिक व्यापारों को इस प्रकार हड़पना। इसकी कसौटी हिन्दी में ही है। क्या वैसे लेखक, प्रकाशक और विक्रेता—तीनों एक साथ बननेवाले—कोई साहित्यकार अपने तीनों कामों को योग्यतापूर्वक निबाह पा रहे हैं? यहाँ 'साहित्यकार' शब्द से यदि आप मान्यकोटि के, या अपने साहित्य-क्षेत्र में सुपरिचित लोगों को ही लेंगे, तो मेरे कहने का तात्पर्य स्पष्ट रहेगा।

जहाँ तक जीविका का संबंध है, जबतक साहित्यकार तैयारी की स्थिति में रहता है, तो उसे कोई-न-कोई दूसरा काम करना ही पड़ता है। वह चाहे रेडिओ में स्क्रिप्ट-लिखना हो, चाहे अध्यापन हो; मगर वह काम प्रकाशन भी है—ऐसा मैं नहीं मानता। क्योंकि, पहले तो, उन नौकरियों का चरित्र दूसरा है—यानी नौकरी मात्र है; प्रकाशन-जैसा 'व्यापार' नहीं; और दूसरे, प्रकाशन उसी पेशे की व्यापारिक परिणति है—जिसके आधार लेखक हैं। अतः इस काम से उन्हें कुछ बदला हुआ मजा नहीं मिल सकता है, जिसके कारण उन्हें उत्साह के बजाय उकताहट मिल जाती है। तीसरे, व्यापार और भावुकता में वैसा विरोध है, कि इस क्षेत्र में जाने से लेखक के लिए आवश्यक भावुकता मर जायगी। चौथे, वह दरियादिल होने के बजाय दुनियादार लालची होकर अपनी प्रतिभा की पकड़ गँवा बैठेगा। पाँचवें, कोटिगत लेखकों की हालत, प्रकाशक बनने पर, उपर्युक्त प्रकार की ही होती जा रही है।

सतही बातों को छोड़कर, व्यवस्था और मानवात्मा की गहरी बात जरा लेखकों को ही सोचनी चाहिए। रेडियो, या फिल्म-डिवीजन, या एकेडमी आदि के स्क्रिप्ट-लेखक आदियों की प्रतिभा क्यों कुंठित हो रही है? क्या वे प्रकाशक बन जाते या पान की दूकान खोल लेते तो उनकी प्रतिभा पर शान चढ़ने लगती?—दोनों प्रश्नों का उत्तर होगा—'नहीं!'। फिर, 'पुस्तक-जगत' के विगत अंकों में इस प्रकार की आत्म-हारा दलीलें क्यों दी गईं? इसका उत्तर है कि यहाँ भी सतही तौर पर ही सोचा गया। गहराई की बात तो अनुचित व्यवस्था वाली ही थी—जिस व्यवस्था के विरुद्ध बोलने में मुझसे पूर्ववर्ती लेखक, पता नहीं क्यों, लजा-से गये। यह जरूर सत्य है कि कलम से साहित्य चलाने वाला गरीब लेखक, अपने साहित्य की पूछ और पर्याप्त माँग होने के पहले तक, कहीं-न-कहीं

अध्यापकी या स्क्रिप्ट-राइटरी-जैसी नौकरी करेगा ही। मगर वह उससे ज्यादा पैसा देने वाली पान-दूकानी या हलवाई-होटलगिरी करना नहीं चाहेगा। क्यों? इसलिए कि वह समझता है कि स्क्रिप्ट-राइटरी या अध्यापकी उसके लेखकत्व से कुछ लगा हुआ पेशा है, जबकि दूकानदारी से उसका दूर का भी वास्ता नहीं है। तो फिर, प्रकाशक बनने में भी तो वही दूकानदारी वाली बात आ जाती है।

कुछ और गहरे जाकर सोचा जाय। यह तो अर्थ (धन) साधन और रोजी-कमवाने की सारी व्यवस्था का ही दुर्गुण है कि समाज की एक लड़की, जोकि नृत्य-संगीत-शिक्षिता है, एक इंजीनियर से ब्याह दी जाती है और आगे चल कर उसके साधे हुए रस का सोता ही सूख जाता है। ऐसे ही, एक पहलवानी या स्पोर्ट्स में सधा हुआ छात्र, अपने स्पोर्ट्स के ही सार्टिफिकेटों की बदौलत, कचहरी का क्लर्क बना दिया जाता है, नकि किसी स्पोर्ट्स-क्लब का शिक्षक-उपशिक्षक। लेखक तो, फिर भी, प्रतिभा की नाव के साथ डूबनेवाली उस लड़की, या स्पोर्ट्स का मन मारे हुए बेचारे क्लर्क से, कहीं अधिक अच्छे और अनुकूल वातावरण में जी लेता है, जबकि वह अध्यापक या स्क्रिप्ट-राइटर या प्रूफ-शोधक तक की नौकरी करता है। फिर भी, लेखकों का ही यह पहला दायित्व है कि समाज की इन विकास-अवरोधी स्थितियों के विषय में निराकरण सोचें और समाज को उन स्थितियों के विरुद्ध विकासोन्मुख होने का मंत्र, बल और उत्साह दें। यह काम उनके हित और ईमान का भी काम है। इसमें, केवल लेखक के अभाग्य का रोना रोने, या लाचार लेखकों के लिए पान की दूकान और समर्थों के लिए प्रकाशक बनने के पलायनवादी सुझाव भर दे देने से, काम नहीं चलेगा। वैसा होने पर, हड़पाहड़पी की भावना उस हद तक बढ़ेगी कि कला के लिए जो उचित नैतिकता होती है वह स्खलित हो जायगी। बुनियादी चाह तो यह होनी चाहिए कि लेखक अपने लेखकपन से ही—और जीविका वालों की तरह—गुजारा कमाए। और, लेखक अपने पूरे ईमान के साथ यही चाहता भी है। इस बुनियादी माँग पर अपनी मंजिल का फासला तय करने पर ही वाजिब स्वार्थ; सामाजिक, साहित्यिक और देश तथा व्यक्ति के सांस्कृतिक हित सध सकते हैं। जैसे, लेखक अपने-अपने बाजार-भाव को बढ़ाने के लिए, साहित्य में पूरी तैयारी के साथ, तब प्रवेश करने लगेंगे और उनमें अपने पेशे के प्रति, उक्त प्रकार के भगेड़ूपन के बजाय, जमने की आस्था और तदनुसार योग्यता की प्रतिस्पर्धा और सहयोग का उत्साह आवेगा। लेखकत्व पर ही प्रतिष्ठित हिन्दी के कुछ पुराने लेखकों में, आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद, ऐसा भाव रह चुका है; और जमाना इसका गवाह है कि तब, अबसे अधिक पके हुए साहित्य और अनुसन्धानपूर्ण शास्त्र हमारे सामने आ चुके हैं। उन्हीं का तप है कि आज हम-जैसे देशी साहित्य के नामलेवा, साहित्य के नाम पर, उनसे बहुत कम कठिनाइयों में जी रहे हैं।

यह प्रश्न दूसरा है कि एकेडमी, रेडियो और सरकारी साहित्य-विभागों तथा नियंत्रित शिक्षा-क्षेत्रों में हमारा साहित्य और उनमें जीविका कमानेवाले साहित्यकार घुट रहे हैं या दम तोड़ रहे हैं। इसके लिए हमें उनकी सम्मान जीविका और साहित्यिक स्वतंत्रता की माँग करनी चाहिए, नकि उन्हें यह सलाह देनी चाहिए कि वे स्वतंत्रता के नाम पर पान-दूकान खोलें, या (पैसे से मजबूर होने के बावजूद) प्रकाशक बन जायँ। ब्रिटेन आदि देशों में साहित्य ने जो तरक्की की है, और अपनी प्रतिभा को अकुंठित रखते हुए साहित्यकारों ने जो रेडियो, स्कूलों, सरकारी साहित्य आदि के

महकमों में आत्मानुरूप रोजी-रोटी भी कमाई है, उसका एकमात्र कारण यही है कि उन नौकरियों को करते हुए भी वे कानूनी तौर पर इतने स्वतंत्र रहे कि उन देशों के मुकाबले तिल बराबर भी हमारे देश के साहित्यकार आजतक आजाद नहीं रह सके ।

यह साहित्यकार की मुक्त प्रतिभा और रोजी-रोटी के लिए की गई उसकी नौकरियों की पाबन्दी का झगड़ा है, नकि लेखक और प्रकाशक का झगड़ा । यह शिक्षा और प्रसार पर सरकारी नियन्त्रणों के कारण जनता की साहित्यिक माँग के स्वतंत्र विकास के कुंठित होने और, इस विषय में, साहित्यकारों के दरिद्रतापूर्वक यथा-स्थिति को स्वीकार करने का प्रश्न है। इस प्रश्न को लेखक और प्रकाशक के बीच का झगड़ा बनाकर रखना—खासकर लेखकों के ही द्वारा—एक हास्यास्पद शीर्षासन नहीं कहा जायगा तो पद्मासन थोड़े ही कहा जायगा !



मैं उन सबको अभिशाप दूँगा जो मेरी पुस्तकों को स्कूल के लिए पाठ्य-पुस्तक बनाएँगे और शेक्सपीयर की तरह मुझे भी बच्चों के लिए भय और घृणा की चीज बना देंगे। बच्चों को सताने के लिए मैंने नाटक नहीं लिखे।

—बरनाड शा

स्त्री-विरोधी व्याकरण



श्री शंकर घोष

कार्तिक ने रातों-रात चाहा कि उसे एक ऐसी प्रेमिका मिले जो एक ओर तो रूपसी हो और दूसरी ओर नृत्य-संगीत में निपुण, लेखिका और रसिका भी हो। कार्तिक की समस्या थी कि जिसमें उसके चाहे हुए ये-सब गुण हों, उसको किस प्रकार खोज कर ऊपर किया जाय? वास्तविक जीवन में जिस प्रकार कार्तिक-जैसों की इस समस्या का समाधान होता है, कथा-उपन्यासों में भी उसी प्रकार हुआ; अर्थात् कथा में कार्तिक जिस नायिका के सम्पर्क में पहले-पहल आया, उसमें ही उसने अपने उक्त आदर्शों को पाया। कार्तिक-जैसों की ऐसी समस्या का समाधान इसी प्रकार होता आया है, हुआ है और होवेगा। किन्तु, इस समस्या की आड़ में जो भाषा की समस्या छिपी हुई थी, वह कार्तिक की प्रौढत्वप्राप्ति के साथ-साथ बड़ी हो ही रही है।

समस्या को जरा स्पष्ट कर कहा जाय। कार्तिक ने चाहा था कि उसे 'नदी के द्वीप' की नायिका 'रेखा' के समान विदुषी, या किसी अन्य उपन्यास की लेखिका नायिका के समान लेखिका प्रेमिका प्राप्त हो। यहाँ, 'विदुषी' कहने से विद्वान लोग छँट जाते हैं और 'लेखिका' कहने से लेखकगण। यदि कार्तिक की कामना होती कि उसे 'विद्वान' या 'लेखक' प्रेमिका चाहिए, तो 'विद्वान' और 'लेखक' कही जाने मात्र से उसकी चाही हुई ये प्रेमिकाएँ पुरुष नहीं हो जातीं। बल्कि, समझा तो यह जायगा कि विदुषी की विद्या की ख्याति और लेखिका के लेखिकात्व की प्रतिष्ठा केवल स्त्रियों के बीच ही सीमाबद्ध नहीं है, बल्कि सभी स्त्री-पुरुषों के मिलजुलकर विचार करने पर भी उनका आसन हर तरफ अटल है। तब प्रश्न उठता है कि क्या व्याकरण की आड़ लेकर कार्तिक यह कहना चाहता था कि स्त्री चाहे कितनी ही प्रतिष्ठित हो जाय, पर उसका कृतित्व किसी दिन पुरुष के साथ तुलनीय नहीं हो सकता? कार्तिक का उद्देश्य ठीक इसके विपरीत था—इस बात को माना जा सकता था, यदि 'मानव' कहने से उसमें मानवियाँ भी सम्मिलित नहीं मानी जातीं, यदि—पारमाणविक युद्ध होने से पृथ्वी पर मानव का लोप हो जायगा—ऐसा कहने से यह समझा जाता कि तब पृथ्वी पर केवल मानवियाँ ही बच जाएँगी और उन पर कार्तिक की चिन्तित नायिका-जैसी किसी सर्वगुण-सम्पन्ना नायिका का राज्य होगा।

कार्तिक-जैसों के क्षेत्र में व्याकरण के प्रति ऐसे अन्धानुकरण से कुछ भी नहीं आता-जाता; क्योंकि, स्त्री चाहे कितनी भी बड़ी 'लेखिका' क्यों न हो, वह यदि 'लेखक-पांक्तेय' नहीं हो सकी, तो भी, कार्तिक-जैसों के लिए कोई दूसरा चारा नहीं है। किन्तु, कार्तिक की चिन्ता से हटकर, जीवन के दूसरे क्षेत्रों में तो इस प्रश्न का इतना सहज समाधान होना असंभव है। यदि कोई समालोचक कहें कि फलानी देवी हिन्दी की श्रेष्ठ लेखिका हैं, तो क्या वे यह कहना चाहते हैं कि वह देवी जी लेखिकाओं के बीच श्रेष्ठ लेखिका हैं? यदि समालोचक महोदय का मत यही है, तो हमें कुछ कहना नहीं है। किन्तु, यदि उनका वक्तव्य है कि हिन्दी में जितने भी लेखक-लेखिका हैं, उनमें उक्त देवीजी का स्थान सर्वोपरि है, तो ऐसा होने पर, उन्हें मात्र 'श्रेष्ठ लेखिका' कह देने में कोई स्वल्पोक्ति हुई या नहीं? यदि कहा जाय कि 'श्रेष्ठ लेखिका' का माने है—लेखक-लेखिकाओं में श्रेष्ठ, तो क्या यह आगे बढ़ी हुई अतिशयोक्ति नहीं हुई? हाँ, यह दूसरा अर्थ ठीक नहीं है—यह तब

स्पष्ट हो जाता है, जबकि हम कहें कि कार्तिक-चन्द्र हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक हैं। ऐसा कह देने पर, हिन्दी की कोई लेखिका उनके समकक्ष नहीं है—इस बात को कहने का कोई प्रयोजन यहाँ शेष नहीं रह जाता। यदि 'श्रेष्ठ' के बजाय 'विख्यात' लेखक-लेखिकाओं की बात ले ली जाय, तो भी समस्या एक ही रह जाती है। अर्थात्, जो पुरुष विख्यात है, वह स्त्री-पुरुष दोनों समुदायों में ही ख्यातिमान है, किन्तु स्त्री की ख्याति तो केवल स्त्री-समुदाय में ही सीमाबद्ध है। व्याकरण से बँधी हुई लीक को पकड़कर चलने पर, जिस सिद्धान्त पर हम पहुँचते हैं—वह होता है कि स्त्री केवल स्त्री-मानव ही है, मानव नहीं—हाँ, मानव कहने से, उसमें स्त्री-मानव, अर्थात्, मानवी भी सिमटा आती है।

इस समस्या का एक और पहलू भी है। अनीता चट्टोपाध्याय को 'समिधा' और 'मरीचिका' नामक उपन्यास का लेखक कहा जाय या लेखिका कहा जाय? सुना है कि वे पुरुष हैं और 'अनीता चट्टोपाध्याय' उनका छद्मनाम है। यदि यही सही हो, तो उन्हें लेखक कहने से व्याकरण में भूल हो जाती है और लेखिका कहने से तथ्य में। यह तर्क दिया जा सकता है कि व्याकरण इस-जैसे व्यापार में हर समय तथ्य को मानकर नहीं चलता है और व्याकरण के स्त्री-पुरुष वास्तवजगत के स्त्री-पुरुष नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु, जहाँ स्त्रीत्व और पुरुषत्व के विषय में किसी संदेह की गुंजाइश न हो, वहाँ व्याकरण के ऐसे स्वेच्छाचार को व्यावहारिक जीवन में बर्दाश्त करना मुश्किल है। मान लीजिए, स्त्री के छद्मनाम से विख्यात, किसी पुरुष-लेखक को लक्ष्य कर कोई सम्वर्धना-सभा हो रही है। उस सभा के संयोजक क्या उस दाढ़ी-मूँछ वाले पुरुष-लेखक का परिचय देंगे कि "ये हिन्दी की ख्यातनामा लेखिका—(फलानी) देवी हैं"? मेरा ख्याल है कि उस साक्षात्-सभा में उनको 'लेखिका' कहने से काम नहीं चलेगा, व्याकरण चाहे रसातल में चला जाय—फिर भी नहीं।

जरा और सीधी बात पर आया जाय। फलाने महोदय की पुत्री श्रीमती फलानी देवी अध्यापिका हो गई हैं! 'अध्यापक' ही हो जातीं तो क्या आपत्ति होती? इन्दिरा गाँधी तो काँग्रेस-जैसी दिव्य संस्था की 'सभापति' हो गई हैं—तो उन फलाने महोदय की पुत्री ने ही क्या अपराध किया कि 'अध्यापक' नहीं कहला सकतीं? अथवा, काँग्रेस का 'सभापति', स्त्री-पुरुष चाहे कोई भी हो, एक-जैसे ही दायित्व का अधिकारी होगा--किन्तु अध्यापन के दायित्व में, स्त्री और पुरुष अपने दायित्व के विषय में भिन्न हो जाते हैं? यदि अध्यापन का दायित्व सभी क्षेत्रों में एक ही है, तो फिर अध्यापक-अध्यापिका में प्रभेद करने का क्या अर्थ? कहा जा सकता है कि इस प्रभेद का उत्तरदायित्व प्रकृति पर है, व्याकरण पर नहीं। किन्तु, प्रकृति का नियम भी तो हम हर समय मानते हों, ऐसी बात नहीं। विजयलक्ष्मी पंडित हमेशा 'राष्ट्रदूत' ही रह गईं—'दूती' नहीं। भले ही पति के अभाव में स्त्री नौकरी-चाकरी करके अपनी सन्तानों का पालन करे, किन्तु वह अपने बच्चों की 'अभिभाविका' मात्र ही रह सकती है, 'अभिभावक' नहीं। 'अभिभाविका' कहने से यह अवश्य समझा जाता है कि उस अभिभाविका के ऊपर भी एक अभिभावक का अस्तित्व है, किन्तु 'अभिभावक' के विषय में मान लिया जाता कि वह तो स्वयं सम्पूर्ण होगा ही।

इस प्रभेद के समर्थन में युक्ति वहाँ रह सकती है, जहाँ इस स्त्री-पुरुष-भेद का कारण, कार्यों का भेद हो। जैसे, फलानी श्रीमती केवल 'अध्यापक' ही नहीं हों, बल्कि गृहिणी भी हों। 'गृहिणी' होने का अर्थ हुआ कि वे अपने स्वामी (गृहपति) का कुछ-कुछ दायित्व

सम्हालती हैं। किन्तु, गृहपति के सारे दायित्वों को सम्हालना उनके लिए उसी तरह से असम्भव है, जिस प्रकार गृहपति के लिए अपनी गृहिणी के सारे दायित्वों को सम्हालना। अर्थात्, प्रकृति ने जहाँ-जहाँ स्त्री-पुरुष के बीच फर्क डाल दिया है, वहाँ पर फर्क रखना औचित्यपूर्ण ही होगा। और, यह फर्क वहाँ भी चल सकता है, जहाँ कि स्त्री-सूचक शब्दों और संबंधों के विषय में कुछ कहना पड़ता है, और उसका स्पष्ट परिचय देना होता है। 'शैल' यदि स्त्री हैं, तो सरकारी कालेज की 'अध्यापिका' हैं और यदि पुरुष हैं, तो हुए 'अध्यापक'। किन्तु 'शैलबाला' कहने पर इस व्याकरण का कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि, 'शैलबाला' उसी प्रकार उक्त कालेज में 'अध्यापक' हैं जिस प्रकार 'शैलकुमार'।

प्रश्न उठ सकता है कि इतने दिनों तक हमलोग जो नियम मानते चले आए हैं, ऐसा होने पर, वह क्या हमारी भूल है? पहली बात तो यह है कि हमने इस नियम को अपनी मर्जी लगाकर माना है! श्रीमती इन्दिरा को काँग्रेस का सभापति और श्रीमती विजयलक्ष्मी को भारत का राष्ट्रदूत कहते समय व्याकरण ने कहीं भी हमारे मुँह पर कोई रुकावट नहीं डाली। दूसरी बात यह है कि अबतक स्त्री-पुरुष के अपने-अपने कामों का एक सिमाना निर्धारित था और व्याकरण को मानकर भाषा भी उसी तरह मर्यादित थी। आज, चाहे स्त्री-शिक्षा के प्रसार के ही चलते हो, या स्त्रियों के संबंध की जितनी सामाजिक बाधायें थीं उनके टूटने के कारण ही हो; वह विभेद कम हो गया है और भविष्य में और भी कमेगा। अतीत के उदाहरण देकर वर्तमान को बाँधने की चेष्टा, आखिरकार इस विषय में तमादी दलीलों की ताकत पर जबर्दस्ती दखल देने की चेष्टा के अलावा और-कुछ नहीं ही होगी। इस चेष्टा के सफल होने में अनेक विघ्न भी हैं। यदि भविष्य में हिन्दी की किसी विज्ञान-विषय की लेखिका ने नोबेल-पुरस्कार पाया, तो सत्योन्माद की खातिर में पड़कर और अपने व्याकरण को जलांजलि तक देकर हमें उनकी आख्या देनी होगी, "नोबेल-पुरस्कार-प्राप्त प्रथम हिन्दी वैज्ञानिक"—महिला वैज्ञानिक नहीं। उन्हें "प्रथम महिला वैज्ञानिक" की आख्या इसलिए नहीं देनी होगी, क्योंकि तब उसका अर्थ यह होने लगेगा कि उनसे पहले हिन्दी भाषा के कोई ऐसे 'पुरुष वैज्ञानिक' भी हो गये हैं, जिन्हें कि यह नोबेल-पुरस्कार मिल चुका है। साहित्य में नोबेल-पुरस्कार पाने के विषय में बँगला भाषा को लेना होगा। मान लीजिए, उस भाषा में, यदि कोई स्त्री, साहित्य में नोबेल-पुरस्कार पावें, तो वे होंगी—साहित्य में नोबेल-पुरस्कार पानेवाली पहली बंगाली लेखिका। क्योंकि, वहाँ ऐसे प्रथम लेखक के नाम से रवीन्द्रनाथ ठाकुर पहले ही आ चुके हैं।

इस विषय में पुरुषों के लिए भी कोई कल्पनीय कामना सचमुच है ही क्या? यदि किसी सज्जन की कोई आत्मीया, परीक्षा में अच्छी उत्तीर्णता प्राप्त कर, किसी कॉलेज में अध्यापन का भार ग्रहण करें, तो उन्हें अध्यापक न कह कर अध्यापिका कहने से कुछ आत्मतृप्ति का लाभ भले ही हो सके, किन्तु इससे, उन सज्जन की आत्मीया अध्यापक हुई हैं—इस सत्य का कोई खंडन नहीं हो सकेगा। नामकरण के कारण कोई बाधा उत्पन्न हो तो उनका परिचय देते समय अवश्य ही उनको उनकी 'आत्मीया' ही कहना पड़ेगा, किन्तु नामकरण में कोई लिंग-जैसी बाधा न होने की स्थिति में, उनका परिचय देना होता है—'आत्मीय'। कालेज में जो जिनको पढ़ाते हैं—वे हैं उनके अध्यापक; और जो पढ़ते हैं—वे सभी स्त्री-पुरुष हुए छात्र। वे प्रोफेसर हुए 'विद्वान'—स्त्री-जाति के समान

[शेष पृष्ठ ६ के नीचे]

बा के क
तों टु ड़े

● कहा जाता है कि चीन से ही उपन्यास लिखने का आरम्भ हुआ। वहाँ ऐसे उपन्यास भी मिलते हैं जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व लिखे गए हैं और फिर भी उपन्यास की विशेषताओं से परिपूर्ण हैं।

● सबसे पहला कथाकार ईसोप माना जाता है। वह ईसा-पूर्व सातवीं शताब्दी में हुआ था। वह ग्रीस में रहता था; लेकिन यह कहा जाता है कि वह ग्रीस का निवासी नहीं था, बल्कि किसी दूसरे देश से गुलाम बनाकर वहाँ लाया गया था। उसके बाद उसकी कहानियों की प्रतिभा के कारण उसे गुलामी से मुक्ति दे दी गई।

● भगवान की कथा कहनेवाले कथावाचक तो होते ही हैं; लेकिन पहले भारत के गाँवों में कहानी कहनेवाले किस्सागो घूमते फिरते थे। वे शीत-बसन्त, ढोला-मारू, राजा शंख, अलीबाबा, जहानआरा आदि की कहानियाँ सुनाया करते थे। सन् १९३५ के आसपास से यह प्रथा उत्तर-प्रदेश के गाँवों से लुप्त हो गई। अब भी काश्मीर में राविश कहे जानेवाले लोग वहाँ कहानियाँ सुनाने का काम करते हैं।

● श्रवणकुमार की पद्यबद्ध कहानी सुनानेवाले बरुआ कहे जाते थे। वे गाँवों में जाकर तीन बजे भोर से पाँच बजे तक एकतारा बजाते हुए कहानी सुनाया करते थे। सूर्योदय होने के साथ उनका कहानी सुनाना बन्द हो जाता था।

● बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक नरक के दृश्यों का चित्रपट बनाकर दिखलानेवाले गाँव-गाँव में घूमते मिलते थे।

● राबिन्सन क्रूसो नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक डैनियल डेफो को, तत्कालीन प्रिन्स आफ वेल्स का विरोध करने के कारण, जेल की हवा खानी पड़ी थी।

● भारत के महान पुरुषों ने अधिकतर जेल में रह कर ही पुस्तकों का प्रणयन किया है। जैसे : लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद आदि।

● बंगला के सुप्रसिद्ध कोष-निर्माता हरिचरण बाबू कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जमीन्दारी में गुमाश्ता थे। उनकी उत्कट प्रतिभा को देखकर रविबाबू ने उन्हें कोष का काम करने का प्रोत्साहन दिया। वे बहुत दिनों तक अपनी भाषा की सेवा करके ९७ वर्ष की उम्र में मरे।

● उर्दू के महाकवि मीर ने फारसी में 'तजकिरे मीर' के शीर्षक से आत्मचरित लिखा है। अभी हाल में ही उसकी पांडुलिपि प्राप्त हुई थी। उस पुस्तक से उनके जीवन और काल पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

● हिन्दी के विद्वानों की धारणा है कि खालिक-बारी कोष के कर्त्ता पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखनेवाले तथा फारसी के प्रसिद्ध भारतीय महाकवि अमीर खुसरो थे। अर्सा हुआ, उर्दू के डॉ० अब्दुल हक ने "उर्दू" नामक जर्नल में इस भ्रम का युक्तिपूर्वक खंडन कर दिया था; लेकिन हिन्दी के विद्वानों को इसकी कम जानकारी है। डॉ० हक के अनुसार खालिक-बारी के कर्त्ता लाहौर-निवासी जियाउद्दीन खुसरो थे। उनका समय १८ वीं सदी माना जाता है।

● ब्रजभाषा के महाकवि पद्माकर भट्ट की मातृभाषा तेलगू थी।

● रूस के महान लेखक मैक्सिम गोर्की के नाम पर उनके जन्मस्थान के नगर का नाम 'गोर्की' रख दिया गया है। संसार के इतिहास में साहित्यकार के ऐसे सम्मान का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

● लखनऊ में अपनी बाकी उम्र गुजार देनेवाले पटने के प्रसिद्ध उर्दू महाकवि 'यास' या यागाना चंगेजी साहब का, उग्र मतभेद के कारण, उनके सजातियों ने मुँह काला करके गदहे पर चढ़ाकर जूलूस निकाला था। गालिब के बढ़ते हुए सम्मान के कारण चंगेजी साहब उनके घोर विरोधी बन गये थे। उन्हें गालिब में कोई गुण दिखलाई नहीं दे पाता था। गालिब के विरोध में उन्होंने कविताएँ तक लिखी हैं।

● सुप्रसिद्ध आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी छोटानागपुर के रहनेवाले हैं। उन्होंने सेन्ट कोलम्बा कालेज हजारीबाग से बी० ए० पास किया था।

● महाकवि गंग को निम्नलिखित ६ पंक्तियों पर ३६ लाख रुपए दिए गए थे।

चकित भँवर रहि गयो गवन नहिं करत कमल वन।
अहि फन मनि नहिं लेत तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यौ चक्क-चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पदमिनी पुरुष न चहैं न करैं रति॥
खल भलित शेष कवि गंग भन अमित तेज रविरथ खस्यौ।
खानान खान बैरमसुवन जबहि कोप करि तँग कस्यौ॥



[पृष्ठ ७ का शेष]

केवल 'विदुषी' ही नहीं। और, यदि स्त्री-जाति के अन्य गुण भी उन प्रोफेसरों में हों—जैसे नाचना, गाना, बच्चे-पालना और गृहकार्य चलाना आदि—तो भी वे 'विद्वान' ही कहाएँगे। कार्तिक ने अपनी प्रेमिका के लिए नाचना, गाना, विद्वत्ता आदि गुणों के अलावा रूपसी भी होने की जो कामना की थी, उसका प्रकृति ही निर्णय करती है, न कि व्याकरण।





चेक साहित्य : नई प्रवृत्ति



श्री कारेल ब्रुशक

१९४८ में साम्यवादी सत्ता के आगमन के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया में साहित्य का प्रशासनीकरण निस्संदेह सम्पूर्ण सोवियत-मंडल में सबसे अधिक सख्त था। सामयिक पत्रिकाओं के प्रकाशन का अधिकार प्रशासन द्वारा स्वीकृत एवं नियंत्रित लोक-संस्थाओं द्वारा सुरक्षित, तथा पुस्तकों का प्रकाशन साम्यवादी दल से गुप्त रूप से संबंधित छः प्रकाशन-गृहों में केन्द्रित होने के कारण ज़्दानोव-स्कूल से असंतोष की कोई भी अभिव्यक्ति संभव न थी। इसके अतिरिक्त, स्तालिन की मृत्यु के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया के साहित्य में कोई स्वतंत्रता या उदारता न आई। जबकि रूस, पोलैंड और हंगरी में इस दिशा में अनुक्रमिक किन्तु सतत प्रवृत्ति प्रत्यक्ष थी, चेकोस्लोवाकिया में मात्र आकस्मिक और ऐकान्तिक विस्फोट होते रहे।

१९५४ में कुछ युवक आलोचकों को, समाजवाद के निर्माण में तरुणों के प्रयासों की मिथ्या आशावाद द्वारा प्रशंसा करनेवाली कविताओं के कला-संबंधी मूल्यों पर, आपत्ति करने की अनुमति दी गयी। १९५५ में जेनेवा-सम्मेलन के पश्चात् अधिक उदार वातावरण की संभावना प्रतीत होने लगी। वीतेजस्लेव नेज्वाल ने, जो शायद चेकोस्लोवाकिया का सबसे महान जीवित कवि था तथा ब्रेटन और जारा का मित्र था और युद्धपूर्व तक फ्रांस की कला तथा साहित्य के समर्थक-आंदोलन के स्तंभों में से था, गुईलौम एपोलिनेयर पर एक रचना प्रकाशित की [चेकोस्लोवाकिया की लेखक-परिषद् के साप्ताहिक 'लिटेरानी नोविनी' में]। प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक बाद, कारेल कापेक के उत्कृष्ट अनुवादों के माध्यम से, एपोलिनेयर का चेकोस्लोवाकिया की कविता पर बड़ा प्रभाव पड़ा, किन्तु १९४८ से (अधिकांश पाश्चात्य कवियों के साथ ही) वह भी तथाकथित 'बुर्जुआ-वादी ह्रास' और 'वाह्याचारिता' की सूची पर चढ़ गया। यद्यपि नेज्वाल की रचना, सतत रूप से 'एकरूप' होनेवाले काव्य की क्रांति की एक करुण प्रतिवाद मात्र ही थी, तथापि उसे सरकारी आलोचक मिलान जारिस ने अत्यधिक कड़े शब्दों में फटकारा। बाद, लेखक-संघ के सभापति जॉन द्रदा ने, उन 'सिद्धांत-रहित व्यक्तियों' के नाम, 'जिन्होंने जेनेवा-वायु में वायु-दिशासूचक पंखों की तरह चक्कर काटना' शुरू कर दिया था, एक चेतावनी निकाली।

फिर भी, सोवियत दल की बीसवीं कांग्रेस के पश्चात्, चेकोस्लोवाकिया के लेखकों के एक अधिवेशन की घोषणा हुई और इसके दीक्षान्त-समारोह के पूर्व, साधारण वाद-विवाद के क्रम में, अधिक स्पष्ट भाषण सुनाई पड़ने लगे। १९४८ के बाद पहली ही बार इसका समर्थन किया गया कि 'साहित्य में संतोषजनक परिणाम नहीं दीखे हैं'। इसका कारण व्यक्तित्व-उपासना का हानिकारक प्रभाव बताया गया। आलोचना के लिए एक बार द्वार खुल जाने पर, वे भी जो अर्से से मौनधारण किये थे, शिकायतें करने लगे। इन अभियोगों में प्रतिविम्बित साहित्यिक जीवन का चित्र सुपरिचित है। पश्चिम से पृथकत्व : 'पाश्चात्य साहित्य इने-गिने-चुने व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो गया'''। सरकारी आदर्श के अनुसार साहित्य का मार्ग-निर्धारण : 'मार्क्स और लेनिन सभी गुणों से सम्पन्न माने गये' और गंभीरतापूर्वक इसकी घोषणा की गयी कि उन्होंने ललित और सौन्दर्य-

कला की पद्धति में विस्तार लाया है, यद्यपि यह सब नहीं है। सरकार द्वारा अनुमोदित एकमात्र भावदशा : 'मुस्कुराता आशावाद—साहित्य में सभी प्रकार के द्वन्द्वों का प्रतिषेध' [जॉन कौटिक द्वारा लि० नो० में]। इसका परिणाम हुआ कि प्रशासन की सफलता के बारे में लेखकों ने झूठी बातें कहीं और इसकी असफलताओं के विषय में वे मौन रहे, जैसा कि उनमें से एक ने अपनी कुछ पूर्व की रचनाओं का खंडन करते हुए एक लेख में स्वीकार किया। उन्होंने स्वीकार किया कि जिस योजना के विषय में उन्होंने बहुत आशावाद के साथ लिखा था, उसकी स्थितियाँ अच्छी नहीं थीं। प्रशासन हास्यास्पद माँगें करता, योजनायें बदलता और अच्छे अभिप्राय के लोग जेल में बन्द कर दिये जाते। एक प्रसिद्ध अभियन्ता ने आत्म-हत्या करली और मृत्यु के पूर्व कहा : 'वे या तो झूठ बोलते हैं या मौन रहते हैं, वे सच नहीं कहते। आखिर हम सब क्या निर्माण कर रहे हैं?...सब चीज मिथ्या है, धोखा है, गन्दगी है।' लेखक ने लिखा कि उनकी रचना का उद्देश्य उन लाखों लोगों की प्रतिष्ठा की रक्षा करनी थी; जिनके काम, उत्साह और शायद जीवन की भी बर्बादी हुई थी, और ऐसा मानकर कि उसने स्वयं भी उनसे झूठ ही कहा था, उसने प्रतिज्ञा की कि वह फिर कभी ऐसा नहीं लिखेगा जिसकी सचाई पर उसकी आत्मा को विश्वास न हो। उसने अपने कथन की समाप्ति लेखकों को यह चुनौती देते हुए की : 'आप जनता की आत्मा हैं! आप जनता पर नियंत्रण हैं! बीते दिनों की तरह आप सचाई के साथ निन्द्य व्यवहार न करें! हम आप पर एक बार फिर विश्वास करने के लिए तैयार हैं। हम आपके सत्शब्दों की प्रतीक्षा कर रहे हैं' [लादीस्लैव द्वारा लि० नो० में]।

चेकोस्लोवाकिया के लेखक-संघ की बैठक जब प्रेग में २२ से २६ अप्रिल, १६५६ तक हुई, तो उन प्रमुख विषयों का, जिनपर अधिकांश सदस्यों का मत सरकारी नायकत्व से भिन्न था, सूत्रीकरण पहले ही कर लिया गया था। पार्टी का रुख, जैसा कि कांग्रेस को दिये गये एक खुले पत्र में अभिव्यक्त किया गया था, उदार था : 'हमारी साम्यवादी पार्टी कभी भी साहित्यिक रचना के लिए लेखकों को निर्देशित नहीं करेगी। हमलोग सदा साहित्य के प्रशासनीकरण तथा रचनात्मक शक्तियों के बन्धन के विरुद्ध रहे हैं। वास्तव में पार्टी का राजनैतिक उद्देश्य, समाजवाद एवं साम्यवाद के हित, सभी कलाकारों को प्रकट और निष्कपट रूप से जीत लेने का रहा है और रहेगा' (रूदे प्रावो)। साहित्य के प्रति पार्टी का परिवर्तित रुख ऐसी परिमित आलोचना सहन कर लेने का था, जो समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध निर्देशित न हों; फिर भी, लेखकों को मात्र विषयगत साक्षी न होकर समाजवाद की ओर से पूँजीवाद के विरुद्ध क्रियाशील योद्धा होना चाहिए। अधिवेशन के सभापति उपन्यासकार जॉन द्रदा के उद्घाटन-भाषण का यही स्वर था। किन्तु द्रदा का विवरण शीघ्र ही चिरपरिचित सम्पादकीयों के ढर्रे पर अति-सामान्य मुहावरों का एक संकलन मात्र बताया जाकर खारिज कर दिया गया और भाषण अधिक प्राणवन्त होने लगे। पूर्णरूप से, या तो प्रतिनिधिगण दूसरे किसी के अपकर्मों की आलोचना करने लगे, या अपने दोषों को स्वीकार करने लगे। सर्वसामान्यरूप से पहली ही बार यह कहा गया कि लेखकों को चुप कर दिया गया है, वे अपनी कृतियों के प्रकाशन में असमर्थ हैं, उनकी आर्थिक स्थिति नष्ट कर दी गयी है और उन्हें आत्महत्या के लिए बाध्य किया गया है। नियंत्रण के तिहरेपन के ठोस उदाहरण दिये गये; पहला 'स्वेच्छित' जिसे लेखक स्वयं अपने ऊपर डालता है और जिसकी

प्रशंसा राजनैतिक चेतना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के रूप में होती है, दूसरा प्रकाशनगृहों का नियंत्रण करनेवाली संस्थाओं के अधिकारियों द्वारा डाला जानेवाला, और तीसरा पर्यवेक्षक अधिकारियों द्वारा।

बहुत लेखकों ने स्वीकार किया कि उन्होंने साहस की कमी के कारण विरोध नहीं किया; अन्य लेखकों ने कहा कि उनके विरोध कभी मुद्रित ही नहीं हुए। लौकिक रीति से 'समाजवादी यथार्थवाद' का व्यवहार कांग्रेस में नहीं हुआ, इसे तत्ववाद कहा गया और इसके प्रभावों के विषय में अनेक एकमत हुए।

१६४८ से ही निरादृत, युद्धपूर्व काल के दो प्रसिद्ध कवियों, फ्रांतिशेकह्वबिन और जारोस्लेव सेईफर्ट, के भाषणों से सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। ह्वबिन के भाषण के विषय थे : महाकवि फ्रांतिशेक हालास, जिसका राजकीय दाहसंस्कार हुआ था और जिसकी कृतियों की भर्त्सना उसकी मृत्यु के तुरत बाद सरकारी आलोचकों द्वारा हुई; कवि कॉन्सटेनटिन बियेबल, जिसे कलह-प्रिय पार्टी-प्रचारकों के चलते आत्महत्या करनी पड़ी और अनेक अन्य लेखक जिन्हें मौन बना दिया गया था, और जो अब उत्पीडित थे। उसने बताया कि वह स्वयं भी कई सप्ताहों से, मेलारमे के एक 'सॉनेट'—जिसका विषय एक हंस है, जिसके पंख बर्फ में जम गये हैं—का अनुवाद कर रहा था और ऐसी कविता, प्रचलित आदेशानुसार वर्त्तमान एवं इसके कर्त्तव्यों और समस्याओं से, दूर थी। सेईफर्ट ने अन्य वक्ताओं से भी कुछ आगे बढ़कर दो दलीलें दीं : 'मौन बना दिये गये और बहिष्कृत लेखकों के सहयोग माँगा जाय तथा बन्दी लेखकों के 'भाग्य' को सरल किया जाय।'

इसमें संदेह नहीं कि निर्दिष्ट सीमाओं का अतिक्रमण हो चुका था और प्रशासन ने इसे अवरुद्ध करने का निर्णय किया। यह कार्य प्रजातंत्र के सभापति एन्टोनिण जेपोटोकी द्वारा स्वयं किया गया था, जो कांग्रेस में, तीन सामाजिक उपन्यासों के लेखक होने के कारण एक सह-लेखक के रूप में, न कि अपनी सरकारी हैसियत से, बोला। उसने उन्हें सुस्त और धूर्त बताया, जिन्होंने कहा कि प्रचलित स्थितियों और भय के कारण उन्हें झूठ बोलना पड़ा तथा ह्वबिन, सेईफर्ट और अन्य की आलोचनाओं को उसने व्यक्तिगत अतिलाभ का प्रलोभन बताया। वास्तव में उसने उन्हें राजनैतिक रूप से अविश्वासी बताकर कलंकित किया : 'मैं उनके काव्यसंबंधी गुणविशेष को स्वीकार करता हूँ तथा मैं कभी नहीं चाहता हूँ कि वे कवि के रूप में उपेक्षित हों। किन्तु, मैं उन्हें नये साम्यवादी जीवन के योद्धाओं और स्तंभों के रूप में नहीं स्वीकार करता हूँ' (लि० नो०)। यद्यपि उसके भाषण से पूर्वतर्कों के प्रति वर्त्तमान उत्तेजना और उमंग तो दूर नहीं हुई, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस का कोई भी परिणाम प्रत्यक्ष नहीं होगा।

कांग्रेस के ठीक बाद, संघ के सरकारी पत्र में प्रकाशित प्रमुख लेख : 'प्रशासन के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन' था। यह कहना झूठ होगा कि सम्पूर्ण चेक-साहित्य असत्यों से विषाक्त था, आलोचकगण कठिनाइयों को असत्यरूप से बढ़ा-चढ़ा कर कहते रहे थे। समाजवादी साहित्य से संघर्ष करनेवाले लेखकों के दोषों की तुलना, समाजवाद के दुश्मनों के अपराध से करने में, सेइफर्ट गलत था और उसके सिद्धांत अवश्य अस्वीकृत किये जायेंगे (लि० नो०)। यदि लेखक अपने स्वतंत्र एवं उदार विचारों के अनुसार कार्य करने के लिए तैयार भी रहते, तो उन्हें सबसे प्रमुख अभाव था—अपनी रचनाओं के प्रकाशन और प्रचार के साधनों का। इस बात की याद उन्हें स्तालिनवादियों के प्रतिनिधियों में एक के द्वारा अशिष्टरूप से दिलायी गयी थी—'सामयिक पत्रों के प्रकाशन का

अधिकार राजकीय महत्त्व की संस्थाओं द्वारा सुरक्षित है' [लुदविक वेसेली द्वारा लि० नो० में]।

इसके पश्चात्, अशान्त आशा-भरी एक अवधि आई। किन्तु, चूंकि पोलैंड में वाद-विवाद ने जोर पकड़ लिया था, इसकी उपेक्षा अब संभव नहीं थी। अब भी जो लोग समाजवादी यथार्थवाद पर वाद-विवाद करने लगे थे, वे लेखक नहीं बल्कि युवक आलोचक थे। हंगरी की क्रांति से अन्तिम धक्का लगा। लेखकों और पार्टी-समूह के बीच गंभीर अन्तर-प्रत्यक्ष होने लगे, विशेषरूप से स्लोवाकिया में। स्लोवाक पार्टी के मंत्री कारोल बेशिलक ने, अपने एक भाषण में, कुछ लेखकों को चेतावनी देते हुए कि प्रकाशन के साधनों पर पार्टी का नियंत्रण है तथा उनके इच्छानुसार सब-कुछ प्रकाशित न होगा, उन्हें 'मध्यवर्गीय अराजकतावाद और उदारवाद' के वशीभूत बताकर, उनकी भर्त्सना की। उसी वर्ष, स्लोवाकिया के लेखक-संघ ने, संगठन और इसके पत्र में सुव्यवस्था लाने के लिए 'गंभीर साम्यवादी अन्तर्बीज' की अपील की [स्लोवाक कम्युनिस्ट पार्टी के दैनिक पत्र प्रवदा में]। संघ दृढ़ रहा और इस भाषण का एकमात्र परिणाम हुआ कि कट्टर स्तालिनवादियों में से दो लेखिका, कतेरिना लाजारोव और उपन्यासकर्त्री क्रांतिशेक हेको, ने त्यागपत्र दे दिया। उसी वर्ष अप्रील में, स्लोवाकिया की साम्यवादी पार्टी की कांग्रेस में, बेशिलेक फिर लेखकों की उदार प्रवृत्तियों, उनके विषयी विज्ञानवादी प्रवेश-मार्गों और गलत दृष्टिकोणों के विरुद्ध बोला; किन्तु वह पहले से अधिक सफलता न पा सका।

स्तालिन-युग की तुलना में वर्त्तमान स्थिति बहुत हद तक सरल है। मृत या जीवित अनेक लेखकों की, जिनके नाम अबतक सूची में थे, रचनायें अब फिर प्रकाशित होने लगीं, या कम-से-कम उन पर मुद्रण-संबंधी वाद-विवाद होने लगे। काफ्का जैसे ह्रासोन्मुख लेखकों पर लेख आये और विदेशी साहित्य का सिंहावलोकन हुआ। उस वर्ष, प्रथम पाँच महीनों में, पाश्चात्य साहित्य से ५१ अनुवाद मुद्रित हुए, जबकि रूस तथा अन्य ऐसे 'जनतन्त्रों' से ४२ मुद्रित हुए। ग्रीन के 'शान्त अमरीकी' और हेमिंग्वे के 'वृद्ध और सागर' के अतिरिक्त, ये सब अनुवाद या तो उच्चकोटि के, अथवा सरकारी तौर से प्रगतिवादी समझे गये लेखकों की रचनाओं के थे। इहरेनवर्ग, पेनोवा, नेक्रासोव और दूदीन्तशेव की विवादास्पद रचनाओं के अनुवाद अप्रकाशित रहे। बन्दी लेखक तबतक नहीं छोड़े गये।

आलोचना के क्षेत्र में उदार और स्वतंत्र विचार सबसे अधिक प्रकट हैं। समाजवादी यथार्थवाद, पाश्चात्य संपर्क और अन्य विवादास्पद प्रश्नों के व्यवहार में, आलोचक सर्वाधिक स्पष्टभाषी हैं। उन्होंने १९४२ में, उपन्यासकार व्लादीस्लाव वंकुरा के द्वारा (जिसे नाजियों द्वारा फाँसी दे दी गयी) अवैध घोषणा-पत्र में यह माँग सूत्रित की: 'साहित्य, कला और पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक लेखक, कलाकार और वैज्ञानिक विचार, कार्य एवं अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वतंत्र रहे' [वेतोस्लाव च्वातिक द्वारा नोवी जिवोत में]। किन्तु, रचनात्मक कृतियों में नये वातावरण के चिन्ह कम हैं। इस पर वाद-विवाद का विनाशकारी प्रभाव पड़ा है। उपन्यासकार समकालीन प्रसंगों से बचते हैं। दूसरी ओर, प्रकाशित लघु-कथाओं में मुख्यरूप से वर्त्तमान की ही चर्चा रहती है। तत्त्ववादी लेखक, कड़ी या व्यंग्यपूर्ण आलोचना की परवाह किये बिना, पहले जैसे ही हैं। नई प्रवृत्ति के अनुयायी खो-से गये हैं। उन्होंने भावात्मक नायकों को हटा दिया है। वे समाज का विषयगत चित्रण करने की चेष्टा करते हैं और असंतोषजनक स्थितियों के विषय में यथार्थ जीवन से प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु, सामाजिक

व्यवस्था एवं इसके मुख्य निर्माणकर्त्ता अब भी नियंत्रित हैं।

कविता में, जो बराबर चेक-साहित्य की मुख्य शक्ति रही है, एक सच्चा परिवर्त्तन हुआ है। समाजवाद के निर्माण की प्रशंसा में कम कवितायें लिखी जाती हैं। चेक कविता शृंगार संबंधी, चिन्तनशील और व्यंग्यपूर्ण है तथा इसमें मद्धिम धार्मिक स्वर भी है। नयी कविता, अपने पोलिश प्रतिरूपों की भाँति ही, यथार्थता का कटु-चित्रण करती है; किन्तु, बेज़िक के 'पोयेम फार एडल्टस्' से, जिसे अब प्रशंसा मिली है, उसकी शैली कम वर्णनात्मक है तथा उसका मनोविज्ञान अधिक सूक्ष्म है। युवक कवियों की रचनायें पाश्चात्य पाठकों को पुराने ढर्रे की प्रतीत होंगी; साथ ही, अकृत्रिम और सर्वग्राही भी, क्योंकि किसी कवि में एक साथ ही वरलैन, रिल्के, पास्तरनाक, टी०एस० ईलियट, एडगर एलेन पो आदि अनेकों के विभिन्न प्रभाव प्रतिध्वनित हो सकते हैं। इतने दिनों तक एकरूप रहने के बाद, युवक कवि अपने लिए कोई आकार पाने के पूर्व, विभिन्न विदेशी शैलियों के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं।

अपर्याप्त गद्यानुवाद किसी कविता के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकता है, किन्तु सामान्य भाव तो प्रतिभासित कर ही सकता है। मिलान कुन्देरा, जिसकी भर्त्सना समाजवादी यथार्थवाद के प्रति अभावात्मक मनोवृत्ति रखने के कारण सोवियत आलोचक व्ही० ओग्नेव द्वारा हुई, अस्तित्ववाद से निकट के युवक कवियों में प्रमुख हैं। अपनी कविता 'फंदा' में वह एक कर्मचारी के जीवन के एक दिन का चित्रण करता है:

"सब-कुछ दूर फेंककर शाम में
वह पत्नी के साथ लेट जाता है।
पानी में गिरने की तरह
उसके साथ पड़कर
वह सब-कुछ भूल जाता है।"

प्रातः जगने पर वह देखता है:

"बाहर, गँदला सुनहला सूरज
टेबुल के नीचे फेंके जूते
कुर्सी पर ऊर्ध्वकाय मूर्ति-सी चोली
और उसकी बगल में—
सिर्फ मांस, चमड़ा और रोमकूप;
मुर्झाये उल्कापात की तरह भारी—
उसकी आकारहीन सुप्त पत्नी।"

वहाँ से भागकर वह काम पर जाता है:

"समय-सूचक घड़ी, साजघर;
तिपाई और कागज, शोरबा,
सभा, अर्थहीन वाद-विवाद
और फिर लौटना,
वही तिपाई और कागज,
शाम में अंधेरा इन्हें
घेर लेता है।"

वह अपने फ्लैट लौटकर आता है और उसके अस्तित्व का अर्थहीन चक्र पूरा हो जाता है। वहाँ अपनी पत्नी में वह भूल जाता है—जिन्दगी, दुनिया और अपनी पत्नी को भी।

बहुत दिनों से मौन रहे वृद्धकवि व्लादमिर होलन की कविताओं की भाँति, नई कल्पित कथाओं के निर्माण की प्रवृत्तिवाली कवितायें भी हैं। उसकी हाल ही प्रकाशित 'ओड टू ज्वाय' में, जिसके साथ उसने १९४६ की तिथि बड़े अर्थपूर्ण ढंग से जोड़ी है, अपनी दुनिया में लीन रहनेवाली एक दास-बालिका के नैराश्य का चित्रण है:

"उसे अपने बचपन का और इसलिये
अमरता का बोध होता था,
वह एकबार फिर नौ वर्षों की थी
दैवी-सहगान भी तो नौ हैं।
क्रिसमस-केक की अच्छी महक,

पर, वह एक बच्चे की तरह
गीत गाना पसन्द करती;
नयी मछली के मुँह की तरह
कष्ट से खुलते चाँद के सेक्स के
विषय में
वह कुछ भी नहीं जानती।"

उसके फर्श रगड़ने के कार्य का चित्रण, शृंगारिक प्रतीकवाद से भरा है:

"भाग्य ने,
जो स्वयं उसके प्रेम के योग्य बनना
न जानता था,
उसके सर को फर्श पर झुका दिया;
कपोलकल्पित सिम्पलगेड की
टकराती चट्टानों से
बढ़कर आए विशुद्ध जल से भरी
बाल्टी की बगल में।"

× ×

गिरे हुए देवदूत के कृत्रिम केश से
वह फर्श को पोंछती हुई रगड़ती।

× ×

उसका रगड़ना
ईसामसीह के लिये
दरी बुनते बुनकर की थरकी की
तरह था।
उसका रगड़ना
उसके घुटनों के दो सितारों से टकराये
चेल्डीयन ज्योतिष की पराकाष्ठा-
सा था।
जब वह रगड़ती,
शब्द और प्रेम
एक-दूसरे को खोजते,
और जब वे मिलते,
तो चुप्पी छा जाती।"

'ओड टू ज्वाय' का अन्त असंगत रूप से होता है। एक मक्खी को उड़ाने के सिलसिले में वह, एक पैराफिन-लैम्प से टकराती है, जल जाती है और दो दिनों के बाद मर जाती है।

बहुत समय के लिए प्रकाशन से बहिष्कृत किये गये और कांग्रेस में प्रसंगवश आये कामिल बेद्नार की, 'काठ का ईसामसीह' जैसी धार्मिक प्रेरणावाली कवितायें भी आ रही हैं:

"हम अपने शब्दों में,
घुटने टेक प्रणाम करें।
हम अपने रूपकों में,
घुटने टेक प्रणाम करें।
हेरॉड के लोभी सैनिकों के द्वारा
छोड़े गये पुआल की उपेक्षा करते हुए,
हम जीवन में गिरजे घर की तरह
प्रवेश करें!"

... ...

"भाई और बहन
हम ईसामसीह के उपदेश को
अपनी आँखों के सामने
और अपनी वाणी में
और अपने पगों में
और अपने कार्यों में
अपने आरंभ से अन्त तक रखें!"

वृहत् जनप्रिय-संदेश देनेवाले साहित्य के विभिन्न रूपों में पशुकथा भी एक है। युवक-कवि मिलोस मेकुरेक का 'एक अनुभवी पक्षी के सिद्धांत' मर्मवेधी व्यंग्य का एक अच्छा उदाहरण है। एक अनुभवी पक्षी के लिए यह जानना महत्वपूर्ण है कि:

"मन में जो भी आये,
उसे नहीं गाना है,
परन्तु एक पक्षी को
पिंजड़े के एक पक्षी को
पक्षी के योग्य गीत गाना है।
कम्पित स्वर में गान-निष्पादन के हेतु
हल्के और साफ स्वर में भी गाना है।
पक्षी के भोजन के बारे में
नकि पिंजड़े के बारे में गाना है।

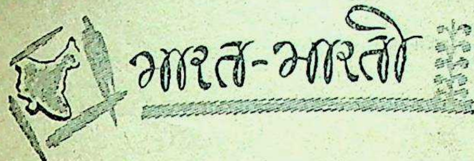
अपने विषय में स्वार्थी-सा नहीं
सोचना है,
बल्कि अपने घरों में रहती सोन-मछलियों
के नाम पर,
सूखी मक्खियों तक के नाम पर गाना है,
जो, जैसा ज्ञात है, गूँगी होने के कारण,—
गा नहीं सकतीं।"

पोलैंड और हंगरी के अपने सह-कर्मियों के विपरीत, चेक लेखकों ने संस्कृति-स्वातंत्र्य के लिए प्रशासन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला और अधिक स्वच्छंद होने के अवसर पाने में वे पीछे रहे। फिर भी, वे सही रास्ते पर थे। किन्तु, बाद में, पार्टी के द्वारा संभव हस्तक्षेप के चिह्न दीखे। केन्द्रीय-समिति की एक बैठक में, सैद्धांतिक प्रश्नों के वाद-विवाद के क्रम में, बहुत वक्ताओं ने चेक लेखकों की स्थिति की आलोचना की। उनके विचार, सभा के बाद के प्रस्ताव में शामिल थे, जिसमें अशिष्टतापूर्वक कहा गया था कि 'कला में स्वतः-प्रवृत्ति, सैद्धांतिक निष्क्रियता, विचारशून्यता और आकार-हीनता, पार्टी को अमान्य हैं और कला को साम्यवाद के हित युद्ध करना चाहिए।'

यह देखना शेष है कि चेक लेखक लौटते हैं या नहीं। उनमें से एक ने इसे अपने साप्ताहिक 'कुलुटर्नी जिभोत' में इस प्रकार व्यक्त किया है: 'न तो २०वीं कांग्रेस और न चेक लेखकों की कांग्रेस के प्रभावों को उल्टा जा सकता है। हममें से कोई कुछ भी सम्मान-भावना रखकर संभवतया कुछ भी वापिस नहीं ले सकता है, एकदम नहीं।'

[अनुवाद : मकावा]





संस्कृत आर्या : निदाघ-शृंगार



सुश्री सुमति पंजियार

कुछ पहले, एक बंधु ने चाहा कि वे अपनी संस्था के मंच से संस्कृत-साहित्य के ऋतु-गीतों के आधार पर नृत्य-नाट्य प्रस्तुत करें। तब, ग्रीष्म के ऐसे ही दिन थे, अतः निदाघ-संबंधी रूपायन ही उचित समझा गया। गीतों के चुनाव के विषय में उन्होंने मुझसे सहायता चाही और मैंने अपनी तबतक की जानकारी को पर्याप्त समझते हुए, उन्हें कालिदास-रचित ऋतुसंहारम् के निदाघ-प्रकरण को रूपायित करने का परामर्श दिया।

किन्तु, वह रूपायन प्रभावहीन रहा। आज, जबकि मैं गोवर्धनाचार्य-प्रणीत आर्यासप्तशती को समझ चुकी हूँ, तो यही कह सकती हूँ कि उस रूपायन के लिए ऋतुसंहारम् को चुनने में मैंने बड़ी ही जल्दबाजी से काम लिया। क्योंकि, उसमें केवल कुछ स्थूल उपादानों के वर्णन के अलावा, कोई भावात्मक विशेषता नहीं थी। उसका प्रारंभ होता है ग्रीष्म के संताप से बचने के लिए कुछ साधन-प्रसाधन की बँधी-चुनी चर्चा के साथ; मध्य होता है मेढ़क-साँप और मोर आदि वनचर जीवों के समदुखीपन के वर्णन में और अन्त होता है—"व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन" अर्थात् "महल की छत पर सुंदरियों के संग गाते-बजाते तुम्हारी रात सुख से बीते"—आदि सामन्ती मंगलकामना को लेकर! इस आदि, मध्य और अन्त के बीच, कहीं भी न तो वसन्त और निदाघ का कोई फर्क समझ में आता है और न उद्दीपित तथा उद्दीपक का लगाव। सचमुच ही, इसे कालिदास की कृति नहीं मानने में, मनीषियों ने इस औचित्य को भी समझ लिया होगा।

आर्यासप्तशती में, अन्य ऋतुओं की अपेक्षा, निदाघ का वर्णन कुछ प्रमुख है। यों तो सारी-की-सारी आर्यायें, साधन-प्रसाधन के अनावश्यक बोझ के बजाय, सीधे मन की बात रख देने में अद्वितीय हैं; किन्तु मैं प्रतिज्ञावश निदाघ के ही उदाहरण दे रही हूँ।

× × ×

निदाघ-शृंगार पर पड़ी हुई उपचारों की यवनिका उठी, और तब यह आर्या सुनाई पड़ी :—

"मलयजमपसार्य घनं
वीजनविघ्नं विहाय बाहुभ्याम्,
स्मरसन्तापादगणित-
निदाघमालिङ्गते मिथुनम् ॥"
(४५१)

अर्थात्, काम-सन्ताप के आगे निदाघ का ताप इतना तुच्छ प्रतीत हुआ कि उस प्रिय-प्रिया-युगल ने चन्दन लगाना, वीणा बजाना और एक-दूसरे को पंखा झलना तक छोड़कर, एक-दूसरे को भर-बाँह आलिंगन में कस लिया।

आखिर, ग्रीष्म का कैसा भी ताप इस काम-सन्ताप के समक्ष शीतल ही तो है। यदि इन दोनों सन्तापों की तुलना करनी हो, तो उसके लिए ठंढी पड़नेवाली रात कोई समय नहीं है। वह तो दिन के मुकाबले जहाँ शीतल होती है, वहीं इतनी छोटी भी होती है कि संयोग का हाथ आया समय भी लगे हाथ लुट-सा जाता है :—

"भवति निदाघे दीर्घे
तथेह यमुनेव यामिनी तन्वी,
द्वीपा इव दिवसा अपि
तथा क्रमेण प्रथीयांसः।"
(४१२)

अर्थात्, इस निदाघ में यमुना के समान यामिनी ज्यों-ज्यों दुबली होती जाती है, त्यों-त्यों यमुना के बीचवाले द्वीपों के समान दिन भी बढ़ता जाता है।

तो क्या, प्रिय का यही इंगित है कि प्रिया उनसे यमुना-पार के द्वीप में मिले ? किंतु, इस दिन में ही ? नहीं, दिन में और उस दहकते हुए द्वीप में जाने का साहस उस बेचारी में नहीं है ! पर, प्रिय तो दिन के ही लिए कह-से रहे हैं :—

"ग्रीष्ममये समयेऽस्मिन्
विनिर्म्मिते कलय केलितरुमूले,
अलमालवालवलयच्छलेन
कुण्डलितमिव शैत्यम् ॥"
(४१२)

अर्थात्, इस तपते हुए ग्रीष्म की दोपहरी में भी, अपने प्रणय-केलिवाले तरु के नीचे, जलसिंचन के निमित्त बनाए गए आलवाल के घेरे के रूप में, शीतलता को कुंडली मार कर बैठा हुआ देखती हो न !

तो क्या वहीं ? मगर, फिर यह क्या कह रहे हैं प्रिय ? :—

"प्रमदवनं तव च स्तनशैलं
मूलं गभीरसरसाञ्च,
जगति निदाघनिरस्तं
शैत्यं दुर्गत्रयं श्रयति ॥"
(३६०)

अर्थात्, इस निदाघ के द्वारा परास्त होकर शैत्य जिन तीन दुर्गों में पनाह ले रहा है, वे हैं—अन्तःपुर का उद्यान, गहरे सरोवर का तल और तुम्हारा शिला-कठोर स्तन।

हठात् यह कैसी लम्पटता ? अभी तो पूरी तरह मतलब भी नहीं समझ पाई थी बेचारी, कि 'शैत्य' की तलाश के सहारे-सहारे पहुँच गए कहाँ-से कहाँ तक ?···जाय, मरे यह तुम्हारा शैत्य !···मगर, लो !···और सुनो ? कहते हैं कि शैत्य गरीब तो मर ही चुका ! :—

"अपमानितमिव सम्प्रति
गुरुणा ग्रीष्मेण दुर्बलं शैत्यम्,
स्नानोत्सुकतरुणीस्तन-
कलशनिबद्धं पयो विशति ॥"
(५३)

अर्थात्, यह निर्बल शीत बेचारा तो इस भीषण ग्रीष्म से अपमानित होकर, नहानेवाली तरुणियों के स्तन-कलशों को अपने गले में बाँधकर इस सरोवर में जैसे डूब ही मरा है।

× × ×

पिछले ग्रीष्म की ही तो बात है, जबकि यह तुम्हारी प्रिया नई-नई आई थी। कुछ दिन बाद, जब उससे निदाघ की चर्चा चली, तो उसने तुम्हारे प्रति अपनी यह हालत मुझसे कही थी :—

"स्पर्शादेव स्वेदं जनयति
न च मे ददाति निद्रातुम्।

प्रिय इव जघनांशुकमपि
न निदाघः क्षणमपि क्षमते ।।"
(५२५)

अर्थात्, मुझे छूता है तो पसीने-पसीने हो जाती हूँ; मुझे इतना तंग किए हुए है कि सोने तक नहीं देता; मेरा जाँघ ढँकना तक इसे क्षण के लिए भी बर्दाश्त नहीं; यह निदाघ तो मानो मेरा प्रियतम ही हो गया।

उसी ग्रीष्म के बीच, कुछ ही दिनों के लिए तो तुम परदेश गए थे! जानते हो, तब उस बेचारी पर क्या गुजरी?:—

"द्रावयता दिवसानि
त्वदीय विरहेण तीव्रतापेन,
ग्रीष्मेणेव नलिन्याः
जीवनमल्पीकृतं तस्याः ।।"
(२७६)

अर्थात्, ग्रीष्म के समान तीव्रतापी तुम्हारे विरह के कारण लम्बे दिन उससे काटे नहीं कटते थे, और तुमने अपने वियोग के द्वारा उसका जीवन उसी तरह क्षीण कर दिया था, जिस प्रकार ग्रीष्म कमलिनी के जीवन को क्षीण कर देता है।

× × ×

और, ए सखि! तूने अपने प्रियतम को इतना भोलाभाला भी कैसे समझ लिया? इस बात को साफ समझ ले कि:—

"दाक्षिण्यान्त्रदिमानं
दधतं साभानुमवमंस्थाः,
रौद्रीमुपागतेऽस्मिन्
कः क्षमते दृष्टिमपि दातुम् ।।"
(२८३)

अर्थात्, तेरा प्रियतम तो सूर्य के समान है, अतः इसकी उपेक्षा मत कर। यह तो दक्षिणायन के सूर्य के समान ही इसके दाक्षिण्यगुण का फल है कि तुझे इतना सरल प्रतीत हो रहा है। वर्ना, जब रौद्री दिशा पर चढ़े हुए सूर्य के समान इसका पारा गरम होगा, तो तू इससे आँख मिलाने का साहस तक नहीं कर सकेगी।



डाकू बनाम साहित्यकार



श्री गोविन्द सिंह

ढिंढोरा पीटा जाता है कि साहित्यकार समाज-निर्माता है। उसका महत्व राजनेता से कहीं अधिक है। साहित्य की समृद्धि ही समाज की, मानवता की समृद्धि है; साहित्य का मूल्यांकन ही देश का मूल्यांकन है; वगैरह-वगैरह कितनी बातें सुनी जाती हैं और आये दिन साहित्यकार तथा देश के नेता इन बातों को दुहराते रहते हैं। मैं भी एक छोटा-सा साहित्यकार हूँ। मैं इस बात का डंका पीटने का साहस नहीं कर सकता, हालाँकि मैं मानता हूँ कि ऊपर जो-कुछ कहा गया है, वह सब सत्य है, पर स्थिति मैं इसके ठीक विपरीत देख रहा हूँ और एक अरसे से देखता आ रहा हूँ। समाज की, देश की स्थिति देखकर मैं कह सकता हूँ कि साहित्यकार का आज कुछ भी मूल्य नहीं है। मूल्य है तो केवल डाकुओं का, समाज-विरोधी तत्वों का, पाखंडी नेताओं का!

मुझे खूब याद है कि जब आचार्य चन्द्रबली पान्डेय का निधन हुआ था, तो यह समाचार बड़े-बड़े समाचार-पत्रों में एक कोने में छोटे शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ था। इसके विपरीत, डाकू मानसिंह के मारे जाने की खबर इन्हीं अखबारों में बड़े-बड़े शीर्षक के साथ प्रमुख स्थान पर प्रकाशित हुई थी। आज भी आये दिन अखबारों में डकैती, चोरी, बलात्कार, गबन, धोखाधड़ी के समाचार शानदार ढंग से प्रकाशित होते हैं और हमारे बड़े-बड़े वयोवृद्ध साहित्यकारों की जयन्तियों अथवा जन्म-तिथियों या उनके संबंध के समाचार किसी कोने-कतरे में छपते हैं। नेताओं के भाषणों से पूरा पृष्ठ भरा रहता है, पर बड़े-बड़े साहित्यकारों के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भाषण स्थान ही नहीं पाते हैं।

अब आप ही बतायें कि डाकू बड़ा या साहित्यकार!

सुनते हैं, कुछ राज्यों की सरकारें साहित्यकारों को प्रतिवर्ष पुरस्कार देती हैं। (उत्तरप्रदेशीय सरकार ने तो इस वर्ष पुरस्कार की राशि १०० रुपये तक कर दी है। कहीं अगले वर्ष पचीस या पचास रुपये का भी पुरस्कार न मिलने लगे!) ये पुरस्कार ५०० रुपये, ३०० रुपये के होते हैं। भूलेभटके १-२ पुरस्कार १०० रुपये के भी हो जाते हैं। केंद्रीय सरकार की साहित्य-अकादमी २००० रुपये का पुरस्कार देती है। यही संस्था फिल्मों पर १०००० रुपये का प्रथम पुरस्कार देती है और साहित्य पर केवल २००० रुपये का पुरस्कार देती है। इसके विपरीत, डाकू मानसिंह

???

अध्ययनशील पाठकों से प्रश्न

१. उर्दू को हिन्दी की एक शैली कहा जाता है; मगर इसका इतिहास क्या है?
२. अमृतलाल चक्रवर्ती किस भाषा के लेखक तथा पत्रकार थे?
३. अंगरेजी सीखने में हमें ज्यादा अक्षरों की जानकारी करनी पड़ती है या हिन्दी सीखने में!

इन प्रश्नों के उत्तर आपको इसी अंक में अन्यत्र मिल जायँगे।

के लिए ५०००० रुपये का पुरस्कार था। देवीसिंह, सुरता, रूपा, लाखन के लिए १०००० रुपये का पुरस्कार है। डाकुओं के नाम पर लाखों रुपये फूँके जाते हैं, पर हमारी राज्य सरकारें साहित्यकारों को ५००, ३००, १००, रुपये के पुरस्कार दे रही हैं। मानो, असन्तुष्ट भिखमंगों को भीख दी जा रही है। स्वतंत्रता-संग्राम के पीड़ितों को भी १५–२० रुपया मासिक दिया जा रहा है। यह दशा है! इससे तो स्पष्ट है कि हमारी अपनी सरकारें साहित्यकारों से कहीं अधिक महत्व डाकुओं को देती हैं।

जिस देश के अखबारों और राज्य सरकारों का यह रूप होगा, उस देश में साहित्यकार होना सचमुच एक अभिशाप है। राज्य सरकारों, अखबारों का यह रूप है; प्रकाशकों का शोषण अलग से है; हिन्दी के पाठकों की, खासकर पुस्तकें खरीदकर पढ़नेवालों की, संख्या कम है; शिक्षा का प्रसार भी उतना नहीं है; आर्थिक स्थिति अलग डाँवाडोल है; सिनेमा का आकर्षण भी एक ओर खींच रहा है; यौन-सनसनी वाली पुस्तकों का आकर्षण अलग से है। इन तमाम विपरीत परिस्थितियों से घिरा हुआ आज का सात्विक साहित्यकार कैसे अपना जीवन-यापन कर सकता है? ऐसा साहित्यकार केवल दधीचि की भाँति अपनी हड्डियों का उत्सर्ग कर रहा है।



हिन्दी उपन्यास : हम क्या पढ़ते हैं ?

पटना से प्रकाशित हिन्दी प्रकाशन विषयक एक मासिक-पत्रिका 'पुस्तक-जगत' ने अपने कुछ अंकों में 'वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत कुछ लेखकों तथा विद्यार्थियों, विद्यार्थिनियों का हिन्दी पुस्तक पढ़ने के विषय में डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के नेतृत्व में सर्वेक्षण किया था। सर्वेक्षण के आधार पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं, वे चौंकानेवाले ही नहीं है, बल्कि हिन्दी पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय के लिए मार्गदर्शन करने की क्षमता रखते हैं। सर्वेक्षण मूलतः उपन्यासों की लोकप्रियता, उसके कारण, उपन्यास पढ़ने में आनेवाली अड़चनों तथा उपायों से सम्बद्ध है।

लेखकों ने प्रेमचन्द के 'गोदान' को सर्वप्रथम, अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' को ध्यान देने योग्य बात है कि जीवन के प्रवाह में बहनेवाले चरित्रों की ओर और विशेषतः लेखक द्वारा किए गए चरित्र-चित्रण की ओर पाठकों का ध्यान कम गया है। लेखकों में घटना-वैचित्र्य को साठ प्रतिशत पाठक पसन्द करते हैं।

छात्राओं में 'पुरुष और नारी की सम्बन्ध-सीमा एवम् अधिकार-क्षेत्र के संकोच-विस्तार के निर्धारण' की समस्या महत्व रखती है। प्रेम की रोमांटिक प्रवृत्ति से बहुत कम छात्राएँ आकृष्ट हैं—सड़क नापनेवाले मजनुओं के लिए यह दुख की खबर है! पारिवारिक जीवन, व्यवहार-क्षेत्र और वास्तविक समस्याओं के उद्घाटन-विश्लेषण में आस्था रखनेवाली छात्राओं की संख्या अस्सी प्रतिशत है। जीवन के प्रति 'तरल भावाकुलता और भावुकतापूर्ण उन्मेष' का एकदम अभाव है।

सर्वेक्षण की कुछ न्यूनताएँ हो सकती हैं, मत देनेवालों में सत्य का आग्रह भी नहीं हो सकता,

चार समस्यायें : पाँच टिप्पणियाँ

द्वितीय और जैनेन्द्र के 'सुनीता' को तृतीय स्थान प्रदान किया। इनमें नये लेखक पुस्तक खरीद-कर पढ़ते हैं, प्रसिद्ध लेखक कम पुस्तकें खरीदते हैं और पढ़ते हैं—खासकर भेंट में आई हुई पुस्तकें पढ़ने का प्रयत्न करते हैं।

छात्र-छात्राओं में प्रेमचन्द के 'गोदान', 'गबन' तथा 'सेवासदन' लोकप्रिय उपन्यास हैं। ये छात्र-छात्राएँ अधिकतर ग्रामों से पढ़ने के लिए नगर में आए हैं परन्तु प्रेमचन्द की लोकप्रियता के विषय में उनके कारण देखने योग्य हैं। प्रेमचन्द के विषय में उनका कहना है कि वे 'ग्रामीण जीवन का यथार्थ और कारुणिक चित्रण' अच्छी तरह करते हैं। 'मध्यवर्गीय जीवन और उसकी चिन्ताओं का विश्लेषण-विवेचन' उन्हें पसन्द आता है। लेखकों में भी सामाजिक परि-पार्श्वता (सोशल बैक ग्राउण्ड) की आकांक्षा रखनेवालों की संख्या साठ प्रतिशत है। पर मतदाताओं की संख्या कुल पाठक-समुदाय की संख्या के अनुपात में नगण्य भी कही जा सकती है, परन्तु जो निष्कर्ष ऊपर वर्णन किए गए हैं उनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि :

(१) उपन्यास पढ़े जाते हैं। (२) सीधे-सादे मन बहलानेवाले उपन्यासों का जमाना लद चुका है पर मनोविज्ञान के नाम पर चलने-वाली धींगामुश्ती ज्यादा नहीं चल पाएगी। (३) पाठकों में नगर-निवासी और ग्राम-निवासी का भेद आज भी विद्यमान है; ग्राम के संस्कार (या शायद नॉस्टेल्जिया—'घर की ओर') नागरी संस्कारों को मात नहीं दे पाए। पतलून के भीतर धोती पहनने वालों की संख्या नगण्य नहीं है। (४) उपन्यास पढ़े अवश्य जाते हैं पर लेखक अपनी कृति के विषय में पाठकों की प्रतिक्रिया जिस प्रमाण में और प्रकार की पाना चाहता है, नहीं पाता। लोकप्रियता के कारण जहाँ भी बतलाए गए हैं

बिल्कुल किताबी हैं जो डेढ़-दो रुपये की सस्ती समालोचना—अध्ययन सीरीज़ में बिखरे पड़े होते हैं। मौलिक चिन्तन छुट्टी पर है। (५) मौलिक उपन्यासकार का अर्थ बहुतों को मालूम नहीं है। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय हिन्दी के उपन्यासकार माने गए हैं—शरच्चन्द्र के अनुवादकों को बधाई! (६) महिलाएँ अपरिपक्व वयस में परिपक्व बुद्धि का परिचय दे रही हैं—पर तंगी पैसों की है और समस्या आज के समाज में नारी के स्थान की है। (७) हिन्दी के एक अजीब उपन्यासकार (सस्ती पर उत्तेजित करनेवाली 'गरम' किस्मों की चीजों को उपन्यास में स्थान देनेवाले) कुशवाहा कान्त अब भी लोकप्रिय हैं।

हम अपने यहाँ के पाठकों के प्रति भावुकता अपनाते हुए बड़ी-बड़ी बातें प्रायः कह जाया करते हैं, पर इस सर्वेक्षण से सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ कुछ भी गम्भीरतापूर्वक नहीं पढ़ा जाता, विचार करना तो बहुत दूर की बात होगी। कोई नयी चीज छपती है, चार मित्रों और दो पत्रिकाओं में उसपर चर्चा होती है और चाय की प्याली में का तूफान खतम हो जाता है। 'साक्षरता नहीं है'—वाला नारा, साहब के जमाने में ठीक था, पर इतने वर्षों बाद आज भी हम उसी बीहड़ बन में हैं—मन नहीं मानना चाहता। यह बहुत बड़ी समस्या है जो बहुत छोटी मालूम पड़ती है।

—'राष्ट्रवाणी' (पूना)
मई अंक से संपादित

शिक्षा का राष्ट्रीयकरण नहीं हो !

राजपुरा (पंजाब), २७ अप्रैल। 'सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षा-पद्धति नहीं होनी चाहिए'—यह विचार अ० भा० बुनियादी शिक्षा सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन के अंतिम दिन यहाँ भाषण करते हुए आचार्य विनोबा भावे ने प्रकट किया।

शिक्षा पर सरकारी प्रभाव का मतलब जनता के विचार एवं मस्तिष्क को बाँध रखना है। सरकारी शिक्षा-पद्धति से प्रभावित व्यक्ति मताधिकार को अपने मनोनुकूल व्यवहार करने में विफल रहता है। आपने सरकार द्वारा पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण का विरोध किया तथा बतलाया कि पाठ्य-विषय एवं शिक्षा-प्रणाली को सरकारी प्रभावों से बचाने की चेष्टा करनी चाहिये। शिक्षा-प्रणाली में किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं आनी चाहिये तथा शिक्षा का माध्यम लड़के की मातृभाषा होनी चाहिये। अनिवार्य अंग्रेजी शिक्षा के लिए कोई काल नियत नहीं होना चाहिये।

हिन्दी ही क्यों ?

कुछ लोग मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा जोरदार है और हिन्दी कमजोर साबित हुई है, इसलिए अंग्रेजी ही रक्खी जाय। भले ही अंग्रेजी भाषा बहुत जोरदार है, परन्तु भारत में वह नहीं चलेगी। जिसे परदेश में जाना हो या परदेश के साथ व्यवहार रखना हो उसे तो अँग्रेजी की जरूरत होगी ही। फिर सिर्फ इंगलिश का ज्ञान रखें तो भी हम गलती करेंगे। अगर हम सिर्फ अंग्रेजी ही सीखते हैं तो चाहे राजी हो या बेराजी हमें इंगलैंड और अमेरिका के गुट में शामिल होना पड़ेगा। हमारा चिंतन एकांगी होगा। हमें अंग्रेजों के चश्मे से देखना होगा। चीन की हालत जाननी हो तो अंग्रेजी की किताबें ही पढ़नी होंगी। रूस का ज्ञान भी उन्हीं की दृष्टि से करना होगा।

हम अंग्रेजी को विश्व मानते हैं। विश्व के ज्ञान के लिए अंग्रेजी भाषा जरूरी है, मानते हैं तो हम खतरे में हैं। वास्तव में हमें तो रूसी, चीनी और अरबी भाषा में भी पारंगत होना पड़ेगा, अपने इर्द-गिर्द जो भाषा हो उसे भी सीखना होगा। जर्मनी, स्पेनिश व फ्रेंच आदि मुख्य-मुख्य भाषाएँ सीखनी होंगी। हाँ उनमें एक अंग्रेजी भी होगी और वह थोड़ी ज्यादा मात्रा में होगी, क्योंकि अंग्रेजी के साथ हम लोगों का ज्यादा संबंध आ गया है।

रामदास ने ऐसे लोगों के लिए एक पदवी दी है। उन्होंने लिखा है कि दो प्रकार के मूर्ख होते हैं, एक तो सादे मूर्ख और दूसरे पढ़त-मूर्ख। तो इस तरह राय बनाने वाला पढ़त-मूर्ख ही साबित होगा।

सारांश में मैं कबूल करता हूँ कि एक विदेशी भाषा के तौर पर अंग्रेजी भाषा का ज्ञान चाहिए, परन्तु दूसरी भी भाषा का ज्ञान जरूरी है, इतने बुढ़ापे में भी मैंने जर्मन भाषा सीखी, मेरे मन में किसी भी भाषा के लिए कोई भी पूर्वग्रह नहीं है, इसलिए हमें एक-दूसरे की भाषा सीखनी चाहिए और उसमें यह दृष्टि रखनी चाहिए। सारे भारत के लिये सोचते हैं तो अंग्रेजी भाषा कितनी भी अच्छी हो, वह सारे भारत में और भारत के बाहर भी अनुकूल नहीं। केवल अंग्रेजी हम सीखेंगे तो दुनिया के लिए ठीक नहीं सोच सकते।

—विनोबा भावे

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता बन्धुओं से

आपको संयुक्त हिन्दी प्रकाशक की ओर से रजिस्ट्री सम्बन्धी फार्म मिला होगा। इसमें इस गुट्ट की ओर से दावा तो यह किया गया है कि यह पुस्तकों को प्रकाशित मूल्य पर बेचने तथा कमीशन-दर को नियमित करने के उद्देश्य से बना है। पर, इसका वास्तविक उद्देश्य ५-७ समृद्ध प्रकाशकों द्वारा गवर्नमेंट के आर्डरों पर एकाधिकार करने के सिवाय और कुछ नहीं है। अन्यथा कमीशन नियमित करते हुए गवर्नमेंट के आर्डरों पर २०% कमीशन की छूट देने का क्या मतलब ? यदि परस्पर संगठित होकर साधारण ग्राहकों के लिए कमीशन-प्रथा बिलकुल बंद हो सकती है, लाइब्रेरियों के लिए अधिकतम कमीशन १२½% नियत किया जा सकता है, तो क्या कारण है कि गवर्नमेंट के आर्डरों पर २०% कमीशन रक्खा जाय ? क्या वह भी १०% या १२½% नहीं किया जा सकता ?

कमीशन-दर के नियमन का प्रश्न पहले-पहल अखिल भारतीय प्रकाशक संघ के प्रथम अधिवेशन में आया था। इसके पेश होने पर मैंने यह सुझाव रक्खा था कि सरकारी आर्डरों पर कमीशन-दर नियत करने से पहले प्रकाशकों द्वारा पुस्तक-विक्रेताओं को दिये जाने वाले

कमीशन की निम्नतम दर नियत की जाय और उस दर को दृष्टि में रखते हुए गवर्नमेंट के आर्डरों पर कमीशन-दर नियत होनी चाहिए। पर, मेरा यह सुझाव अखिल भारतीय प्रकाशक संघ के मुख्य संयोजक, भारती भंडार के मैनेजर श्री वाचस्पति पाठक को स्वीकार नहीं था। अतः यह सारा प्रश्न ही टल गया। और, उसके बाद कई बार प्रयत्न करने पर भी, अखिल भारतीय प्रकाशक संघ में कमीशन-दर के नियमन का प्रश्न हल न हो सका। इलाहाबाद की एक बैठक में इस विषय पर कई घंटे बहस होने पर प्रकाशकों का बहुमत इसके विरुद्ध रहा। अतः, संयुक्त हिन्दी प्रकाशक नाम के इस नये गुट्ट की नींव डाली गई और इसके मुख्य संयोजक भी, प्रतीत होता है, भारती भंडार के मैनेजर श्री वाचस्पति पाठक तथा दिल्ली के चार-पाँच समृद्ध प्रकाशक ही हैं।

भारती भंडार तथा संयुक्त हिन्दी प्रकाशक के कई सदस्य प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेताओं को निज प्रकाशनों पर १५% और २०% कमीशन देते हैं और गवर्नमेंट के आर्डरों पर भी वे २०% ही कमीशन नियत कर रहे हैं, अर्थात् गवर्नमेंट और पुस्तक-विक्रेता में वे कुछ भेद ही नहीं रखना चाहते; बल्कि गवर्नमेंट को वे पुस्तक-विक्रेताओं से भी अधिक कमीशन देना चाहते हैं। क्या इसका यह स्पष्ट अर्थ नहीं कि यह गुट्ट केवल गवर्नमेंट के आर्डरों पर एकाधिकार करने की दृष्टि से जुटा है।

आज लोकतंत्र का जमाना है। संयुक्त हिन्दी प्रकाशक के सभी सदस्य अखिल भारतीय प्रकाशक संघ के भी सदस्य हैं। जब वे लोग वहाँ कमीशन-नियमन की ये शर्तें पास न करवा सके तो क्या उनका कर्त्तव्य न था कि बहुमत के आगे सिर झुकाते? पर, ऐसा न कर वे एक छोटा-सा गुट्ट बना कर आपको अपने प्रकाशन न देने की धमकी दिखा कर रजिस्ट्रेशन फार्म पर हस्ताक्षर करने को बाध्य कर रहे हैं। संयुक्त हिन्दी प्रकाशक का विधान क्या है, इसके पदाधिकारी कौन हैं, इसका पता-ठिकाना क्या है, यह कुछ भी आपको नहीं बताया गया, पर आपके पास रजिस्ट्रेशन के लिए एक फार्म आ गया है जिसमें एक धमकी के साथ आपको उस फार्म पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया जा रहा है। क्या यह पिस्तौल दिखा कर शर्तें मनवाना नहीं है? और, आपके आत्म-सम्मान को खुली चुनौती नहीं है? मैं आशा करता हूँ कि आप इसका पूरे जोर से विरोध करेंगे और इसकी शर्तों पर हस्ताक्षर करने से स्पष्ट इनकार कर देंगे।

मैं कमीशन के नियमन का विरोधी नहीं हूँ, बल्कि सबसे बड़ा समर्थक हूँ। पर, यदि इसकी कुछ शर्तें तय होनी हों, तो वे भारत भर के प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के प्रतिनिधियों के सम्मिलित सम्मेलन में तय होनी चाहिएँ। उसका यह कर्जनशाही तरीका नहीं, जो संयुक्त हिन्दी प्रकाशक गुट्ट ने अपनाया है। आशा है आप मेरे पत्र पर गम्भीरता से विचार करेंगे और इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति तथा विचारों से मुझे अवगत कराने का कष्ट करेंगे, जिससे इन कुछ-एक प्रकाशकों के विरोध के लिए संगठित ठोस कदम उठाया जा सके।

—धर्मचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन, जालंधर
२७-४-५६

संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक के संयोजक के नाम पत्र

प्रिय श्री ओंप्रकाश जी,

आपका २८ तारीख का पत्रांक ११२ मिला। जबतक आपके यहाँ सरकारी आर्डरों पर २० प्रतिशत कमीशन देने की छूट है तबतक हमारे

लिए इस संस्था का मेंबर बनना संभव नहीं। यदि पारस्परिक संगठन द्वारा सर्वसाधारण के लिए कमीशन बिलकुल बंद किया जा सकता है, सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए कमीशन १२½ प्रतिशत नियत हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि सरकारी आर्डरों के लिए १२½ या १५ प्रतिशत कमीशन नियत न हो सके। सरकारी आर्डरों के लिए २० प्रतिशत कमीशन रखना ही इस बात का प्रबल प्रमाण है कि यह संस्था पुस्तक-व्यवसाय की सुव्यवस्था के लिए नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट प्रकाशकों की स्वार्थ-सिद्धि की दृष्टि से बनी है। संयुक्त हिन्दी प्रकाशक के कुछ प्रकाशक सदस्य, जैसे भारती भंडार, पुस्तक-विक्रेताओं को निज प्रकाशनों पर २० प्रतिशत ही कमीशन देते हैं और सरकारी आर्डरों पर भी वे २० प्रतिशत कमीशन ही देना चाहते हैं, अर्थात पुस्तक-विक्रेता और सरकारी आर्डर में भेद ही नहीं रखना चाहते। इस हालत में जो प्रकाशक पुस्तक-विक्रेताओं को निज प्रकाशन पर २५ प्रतिशत कमीशन देते हैं, वे यदि सरकारी आर्डरों पर भी उतना ही कमीशन दे दें तो उन्हें बुरा कैसे कहा जा सकता है?

कमीशन-दर के नियमन के हम विरोधी नहीं, पर सबसे बड़े समर्थक हैं। लेकिन इसके लिए यदि कोई सार्वजनिक नियम बनाये जाने हों, तो वे प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के किसी प्रतिनिधि सम्मेलन में तय होने चाहिएँ। यदि कुछ-एक प्रकाशक एक गुट बनाकर कुछ नियम तय करके उन्हें दूसरों पर थोपना चाहें तो कोई भी स्वाभिमानी विक्रेता या प्रकाशक उन्हें स्वीकार नहीं करेगा।

आपके मेंबर काफी बन गये हैं और बनते जा रहे हैं, पर हम शुरू से कुछ बिगड़े दिमाग के रहे हैं। गवर्नमेंट और युनिवरसिटी द्वारा प्रतिरोध हमें अपने असूलों से नहीं गिरा सके तो आप लोगों का असहयोग भी हमें अपने असूलों से नहीं गिरा सकेगा और सम्भवतः हमें अकेले ही आपके विरोध में खड़ा होना पड़ेगा।

भवदीय
धर्मचन्द्र नारंग
जालंधर, ३०-४-५६



जो कुछ काम नहीं करता केवल वही आलसी नहीं है, आलसी वह भी है जो अपने काम से भी अच्छा काम पा सकता था।

—सुकरात

!!!

अध्ययनशील पाठकों से प्रश्न

उत्तर

१. इस शैली का कोई इतिहास नहीं है और न लिखने का प्रयास किया गया है।
२. हिन्दी के।
३. अंगरेजी के लिए हमें १०४ अक्षरों से जानकारी करनी पड़ती है। २६ बड़े अक्षर, २६ छोटे अक्षर; फिर लिखने के २६ बड़े और २६ छोटे अक्षर।



हिन्दी में दर्शन-साहित्य



श्री गंगापति गौड़

भारतीय दर्शन के आदि स्रोत वेद और उपनिषद् ही माने जाते हैं। वेदों और उपनिषदों के अनुवाद द्वारा वैदिक मुद्रणालय अजमेर ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सभी उपनिषदों के सरल हिन्दी अनुवाद गीताप्रेस गोरखपुर के उपलब्ध हैं और सस्ते होने के कारण साधारण हिन्दी शिक्षितों ने उनसे पर्याप्त लाभ उठाया है। श्री रामगोविंद त्रिवेदी के सम्पादकत्व में सुलतानगंज भागलपुर के गंगा कार्यालय ने, ८खंड़ों में ऋग्वेद का सुन्दर और सरस अनुवाद प्रकाशित कर देश में सबसे महत्वपूर्ण हिन्दी-सेवा की है। वैदिक आर्य पुस्तकालय बरेली से प्रकाशित स्वामी दर्शनानंद द्वारा छह उपनिषदों के अनुवाद, बंबई से प्रकाशित स्वामी अच्युतानन्द-रचित 'दशोपनिषद् भाषा', कल्याण का उपनिषद् अंक, पं० गदाधर मिश्र रचित 'चतुर्विंशत्युपनिषत्सारसंग्रह', हरिप्रकाशजी रचित 'अष्टोपनिषद् भाषा फक्का' आदि उपनिषदों के सुन्दर हिन्दी अनुवाद और व्याख्या माने जा चुके हैं। इसी प्रकार, विवादास्पद वैदिक विषयों पर प्रकाश देने में पं० भगवद्दत्त रचित 'ऋग्वेद पर व्याख्यान', वेदों के भाष्य के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित कुंजी 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका', अथर्ववेद-सामवेद-यजुर्वेद पर दामोदर सातवलेकर, पं० वीरेन्द्र शर्मा एवं रामस्वरूप शर्मा की प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं। वैदिक ज्ञान और इतिहास पर प्रकाश देने में योगिराज अरविंद का 'वेद-रहस्य' और पं० बलदेव उपाध्याय के 'आचार्य सायण और माधव' 'वैदिक संस्कृति' 'वैदिक वाङ्मय' आदि, अन्य प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

इसके बाद गीता का क्रम आता है। इस विषय में लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' सबसे बड़ा प्रमाण है। तदनन्तर 'ज्ञानेश्वरी गीता', दामोदर सातवलेकर की 'भगवद्गीता की टीका', पं० ज्वाला प्रसाद का 'गीताभाष्य वार्तिक' आदि दूसरे समर्थ अनुवाद आते हैं। महात्मा गाँधी की गीताभक्ति के प्रभाववाले अर्थों में सर्वाधिक मूल्य की टीका आचार्य विनोबा भावे का 'गीता प्रवचन' विशेष सराहनीय है। पं० सुन्दरलाल जी का 'गीता और कुरान' हिन्दू-मुस्लिम दोनों मतों के दार्शनिक विचारों की सर्वबोधी विवेचना है। कल्याण का गीतांक, इस विषय में अतिप्रचलित हो ही चुका है।

षड्-दर्शनों में न्याय-सूत्र के कई प्रसिद्ध अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा का 'न्यायदर्शन' इस प्रसंग में सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके अलावा शास्त्रप्रकाश कार्यालय मधुरापुर मुजफ्फरपुर से प्रकाशित उदयनारायण सिह रचित और पं० ज्वाला प्रसाद शर्मा कृत अन्य भाषा-टीकाएँ भी अतिप्रसिद्ध हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शनों पर 'न्याय दर्शन' और 'वैशेषिक दर्शन' नामक अत्यन्त उपादेय टीका पटना कालेज के दर्शनाचार्य प्रो० श्री हरिमोहन झा ने की है। सांख्य दर्शन पर वैदिक संस्थान ज्वालापुर (हरिद्वार) के श्री उदयवीर शास्त्री ने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक एक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ दिया है। षड्-दर्शनों में योगसूत्र ही ऐसा प्रमुख है, जिसके सर्वाधिक हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं। जिनमें गीताप्रेस के अनुवाद और स्वामी आनंदमंगल कृत 'सर्वसिद्धान्तशिरोमणि' नामक शंका-समाधान-ग्रंथ विशेष ग्राह्य हैं। मीमांसा का अबतक एक ही अनुवाद उपलब्ध है और वह है पं० देवदत्त

शर्मा रचित 'मीमांसा-सूत्र' नामक भाषा-टीका। वेदान्त विषय पर अनुवाद और मौलिक पुस्तकों को जोड़ देने से यह विषय दर्शन के सभी विषयों से अधिक निकलेगा। यहाँ सभी को गिनाना असंभव है। इनमें पं० सूर्यदीन शुक्ल और पं० नृसिंहदेव की टीका साधारण हिन्दी पाठकों को काफी काम दे सकती है। रामचन्द्र वर्मा कृत, हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस से प्रकाशित, समर्थगुरु रामदास के वेदान्त विषयक उपदेशों का 'हिंदी दासबोध' नामक अनुवाद, बड़े ही काम का है। वेदान्त पर कुछ स्वतंत्र ग्रन्थों में से स्वामी विवेकानंद के 'ज्ञानयोग' का जगन्मोहन वर्मा द्वारा अनुवाद, सम्पूर्णानन्द जी का 'चिद्विलास', कल्याण का वेदान्तांक साधारण पाठकों के लिए बड़े ही काम के हैं।

वैदिक दर्शन के आधार पर हिन्दी में स्वतंत्र सिद्धान्त-ग्रंथ भी पर्याप्त हैं। जिनमें गंगा प्रसाद उपाध्याय के 'जीवात्मा', 'धर्म के आदि-स्रोत', 'आस्तिकवाद'; बलदेव उपाध्याय का 'धर्म और दर्शन' एवं परमहंस और स्वामी रामतीर्थ के ग्रंथों के अनुवाद विशेष द्रष्टव्य हैं।

यद्यपि भारतीय नास्तिकवाद में प्रमुख चार्वाक पर कोई ग्रंथ हिन्दी में नहीं है, पर अन्य विदेशी नास्तिकवादों पर आधारित बहुत-से ग्रंथ हैं। इनमें श्री राहुल का 'वैज्ञानिक भौतिक वाद' लक्ष्मण शास्त्री का 'जड़वाद और अनीश्वरवाद' आदि विशेष चर्चास्पद रहे हैं।

बौद्ध दर्शन-ग्रंथों में लगभग सभी के अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध हैं। इस विषय में सबसे अधिक काम राहुल जी ने ही किया है। पाली से इनके प्रमुख अनुवाद हैं—दिग्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, विनयपिटक और धम्मपद। भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'मिलिंद पनहा' का 'राजा मिलिंद से प्रश्न' नामक तथा भिक्षु धर्मरक्षित ने 'सुत्तनिपात' का अनुवाद किया है। बौद्धधर्म पर आचार्य श्री नरेन्द्रदेव का 'बौद्धधर्म दर्शन' नामक ग्रंथ विशेष उपादेय है। इसके अलावा अन्य अध्ययन-ग्रंथों में श्री बलदेव उपाध्याय का 'बौद्ध दर्शन मीमांसा' एवं श्री चन्द्रधर शर्मा का 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' विशेष ग्राह्य हैं।

जैन दर्शन-ग्रंथों में गोपाल दास जीवभाई पटेल का 'कुकुंदाचार्य के तीन रत्न', कोठिया द्वारा अनुवादित न्यायदीपिका, कैलाशचन्द्र द्वारा अनुवादित 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' एवं जगदीशचन्द्र द्वारा अनुवादित 'स्याद्वाद मंजरी' विशेष द्रष्टव्य हैं। इधर जैन-ग्रंथों पर शोध एवं अनुवाद का कार्य और आगे बढ़ा है। भारतीय उत्तर दर्शन —अर्थात् चार्वाक, जैन और बौद्ध के सम्मिलित अध्ययन के लिए—उदयनारायण सिंह द्वारा अनुवादित माधवाचार्य-रचित 'सर्वदर्शन-संग्रह' पढ़ना चाहिए।

इनके अलावा विभिन्न दर्शनों के परिचय के लिए कुछ अत्यन्त उपादेय ग्रंथों में हैं—राहुल जी का 'दर्शन दिग्दर्शन' प्रो० हरिमोहन झा का 'भारतीय दर्शन परिचय', डॉ० देवराज का 'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' और डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त के 'इंट्रोडक्शन टू इंडियन फिलासफी' तथा प्रो० हरियाना के 'एसेंसियल्स आफ इंडियन फिलासफी' का अनुवाद।

हिन्दी में पाश्चात्य दर्शनों के मौलिक ग्रंथों का अनुवाद नहीं के बराबर ही है। हाँ, कुछ मिला-जुला परिचय देने के लिए इतिहास के तौर पर कुछ किताबें लिखी गई हैं। जिनमें बाबू गुलाब राय, शशधर दत्त और डॉ० देवराज की पुस्तकें आती हैं। मौलिक के अनुवादों में मिल का 'उपयोगितावाद' ज्ञान प्रकाश मंदिर मेरठ द्वारा, लाला कन्नोमल द्वारा अनुवादित हर्बर्ट स्पेन्सर की 'ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसा' और हैकल का 'विश्व प्रपंच' हिन्दी में आ चुके हैं। (शेष अगले पृष्ठ के नीचे)

प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

समाचार

—आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, उत्तरप्रदेश ने आयुर्वेद तथा तिब्बी साहित्य के उच्च कोटि के हस्तलिखित ग्रन्थों को एकत्र करके उनके प्रकाशन की व्यवस्था करने का निश्चय किया है। अकादमी के अध्यक्ष द्वारा इस सम्बन्ध में आज एक प्रेस-विज्ञप्ति में कहा गया है कि जिन व्यक्तियों के पास तत्सम्बन्धी उच्च कोटि के हस्तलिखित ग्रन्थ हों और किसी कारणवश उन्हें प्रकाशित करवाने में असमर्थ हों वे ऐसी पाण्डुलिपियाँ अध्यक्ष, आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, उत्तरप्रदेश, तुलसीमार्ग, लखनऊ के पास भेजकर उनके विक्रय के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करें।

—केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों और अधिकारियों में हिन्दी सीखने की प्रवृत्ति घट रही है। भारत सरकार के गृह-मंत्रालय ने १ अक्तूबर, १९५५ से दिल्ली और अन्य नगरों में काम कर रहे केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को हिन्दी सिखाने की जो योजना आरम्भ की थी, उसके अन्तर्गत १९५८-५९ वर्ष में हिन्दी सीखनेवालों की संख्या विगत वर्ष की अपेक्षा लगभग ५००० कम रही। १९५८-५९ में १६,६४४ अधिकारियों ने इन हिन्दी कक्षाओं में भाग लिया जबकि १९५७-५८ में यह संख्या २२,००० थी। इतना ही नहीं, १९५८-५९ में हिन्दी प्रशिक्षण के जो नये ३६ केन्द्र खोलने की योजना विचाराधीन थी, उनमें से केवल तीन अम्बाला, अमृतसर एवं कटनी केन्द्र ही उक्त वर्ष में खोले जा सके। इसके विपरीत, १९५६ में भारत सरकार ने १७ और १९५७-५८ में ३३ केन्द्र विभिन्न नगरों में प्रारम्भ किये थे। जनवरी और जून १९५८ ई० की परीक्षाओं में बैठे कुल ६२०१ कर्मचारियों में से केवल ३,४९६ उत्तीर्ण हो सके। इस साल ५३ केन्द्रों में ८१० कक्षाएँ ली गयीं और इनमें १६२ अध्यापकों ने पढ़ाया।

—विदर्भ के प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में अध्यक्ष पद से श्री वियाणी ने कहा कि पहले प्रकाशक आदि द्वारा लेखकों पर जुल्म की शिकायत की जाती थी, पर अब सत्ता ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। अनेक लेखक और विचारक सरकारी नौकर हो गये हैं। राज्याश्रय की यह वृत्ति स्वतन्त्र-साहित्य के निर्माण की दिशा में घातक प्रमाणित होगी।

—देवघर १५ अप्रैल। भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्री ढेवर ने गत १२ अप्रैल को यहाँ हिन्दी विद्यापीठ के तत्त्वावधान में आयोजित एक सभा में कहा कि भारत की सभी भाषाएँ राष्ट्रभाषाएँ हैं। परन्तु देश में एक ऐसी भाषा अवश्य होनी चाहिये जिसे सभी लोग आसानी से समझ सकें और अपने मनोभाव प्रकट कर सकें। हिन्दी निश्चय ही उस स्थान को ग्रहण करती है। अपने भाषण में आपने आगे कहा

(शेष पृष्ठ २९ का)

आधुनिक पाश्चात्य चिंतन के—अस्तित्व, नव्य यथार्थ, नव्य प्रत्यय, तार्किक प्रत्यक्ष, ज्ञान-तत्व-ईश्वर-विज्ञान आदि—नवीन वादों के पुस्तकों के अनुवाद की बात तो दूर, पूर्ववर्ती रशेल, शिलर, लौक, बर्कले, डेकार्ट, प्लेटो आदि विचारकों के ग्रंथों का अनुवाद तक नहीं है। विश्व की इन सभी उन्नत विचारधाराओं को पढ़ने का अवसर जबतक हिन्दी के सभी साधारण पाठकों को नहीं मिलेगा, तबतक अपने भाषा-क्षेत्र में कोई दार्शनिक चिन्तन और प्रयोग नहीं हो सकेंगे और भविष्य के लिए हम विश्वविचारों में कोई नई देन नहीं दे सकेंगे।



कि मैंने हिंदी का व्याकरण नहीं पढ़ा है परन्तु हिन्दी बोलता और समझता हूँ। आपने अपना अनुभव बतलाते हुए कहा कि हिन्दी सीखना आसान है, समझना उतना ही आसान है और बोलना सबसे आसान है। भारत की एकता के लिए हमें हिन्दी को प्राथमिकता देनी ही होगी।

—मद्रास विधान-सभा में कल शिक्षामन्त्री श्री सुब्रह्मण्यम ने कहा कि राज्य सरकार ने १९६६-६७ तक सम्पूर्ण राज्य में ६ से ११ वर्ष की अवस्था के बच्चों को मुफ्त तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा देने का निश्चय किया है।

—भारत सरकार ने जापानी भाषा में हिन्दी व्याकरण प्रकाशित करने के लिए भारतीय दूतावास के मार्फत ओसाका विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सावा को ८२६१ रुपये का तदर्थ अनुदान देना मंजूर किया है। ५ हजार रुपये का दूसरा अनुदान यूरोप के प्रसिद्ध भारती विद्याविद् प्रोफेसर लुई रेनो द्वारा तैयार किये गये संस्कृत कोश के प्रकाशक को देने के लिए स्वीकार किया गया है।

—सरकारी भाषाओं की संसदीय समिति ने यह सिफारिश की है कि सन् १९६५ के बाद, जब हिन्दी भारतीय संघ की मुख्य भाषा हो जायगी, जबतक आवश्यक होगा, अंग्रेजी ऐसे कार्यों के लिए प्रयुक्त होती रहेगी जो संसद और कानून द्वारा निश्चित किये जायँगे।

—भारत स्थित चेक राजदूत ने आज प्रधान मंत्री से मिलकर उन्हें उनकी आत्म-कथा सम्बन्धी पुस्तक के चेक भाषा में किये गये अनुवाद की एक प्रति भेंट की। नेहरूजी की दूसरी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' का चेक भाषा में गत वर्ष ही अनुवाद हो चुका है।

—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के सूचनानुसार १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक इस वर्ष हिन्दी साहित्य के निबन्ध पर दिया जायगा। निबन्ध के अन्तर्गत निबन्ध-रीति, समालोचना, भाषा-विज्ञान, जीवन-चरित्र, भ्रमण-वर्णन आदि साहित्य की गणना की जायगी। यह पारितोषिक निम्नलिखित विषयों में से प्रत्येक वर्ष एक-एक विषय पर दिया जाता है, यथा—काव्य, निबन्ध, इतिहास, समाज-शास्त्र, दर्शन, तात्विक विज्ञान और व्यावहारिक विज्ञान। क्रमानुसार इस वर्ष का पारितोषिक निबन्ध विषय पर दिया जायगा। ५००) का सेकसरिया महिला पारितोषिक किसी महिला लेखिका को उसकी स्वरचित हिन्दी की मौलिक रचना के सम्मानार्थ दिया जायगा।

—नई दिल्ली, ५ मई। केन्द्रीय सूचना तथा प्रसार मंत्री डाक्टर केसकर ने आज लोकसभा में एक सदस्य को यह लिखित उत्तर दिया कि १९५८ में १९१ पत्रों के प्रकाशन बन्द हुए। प्रेस तथा रजिस्ट्रेशन कानून १९५५ की धाराओं के अन्तर्गत २७२० पत्रों ने अपना वार्षिक विवरण नहीं दिया।

—असमिया भाषा में महाभारत के अनुवाद के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। भारत सरकार के विज्ञान अनुसंधान एवं संस्कृति विभाग ने इस कार्य के लिए आसाम सरकार को ४० हजार रुपये का अनुदान स्वीकृत किया है।

—वैज्ञानिक अनुसंधान और संस्कृति उपमंत्री, श्री मनमोहन दास ने राज्यसभा में श्री महेश्वर नाइक के प्रश्न के उत्तर में यह स्वीकार किया कि हाल में भारत और रूस के बीच एक समझौता हुआ है, जिसके अन्तर्गत रूस अपनी शिल्प-विषय की पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद भारत को देगा। उन्होंने बताया कि इस समझौते के अन्तर्गत रूस की सरकार १९५९ और १९६० में बम्बई की भारतीय शिल्प-विज्ञान संस्था को भेंट स्वरूप ३० लाख रूबल का सामान भेंट करेगी, ५० भारतीय विशेषज्ञों

को अपने खर्च पर रूस की संस्थाओं में ट्रेनिंग देगी, भारत में रूस के प्रोफेसर और शिक्षक भेजेगी और भारत में प्रकाशित करने के लिए उच्च कक्षाओं की रूसी पाठ्य-पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद करने का प्रबन्ध करेगी।

—पिछले सप्ताह न्यूयार्क पब्लिक लाइब्रेरी ने भारतीय राजदूत श्री एम० सी० छागला को स्वर्गीय लाला लाजपतराय के संस्मरणों की एक पाण्डुलिपि भेंट की। भारतीय स्वाधीनता के इस अमर सेनानी ने यह पाण्डुलिपि ४० वर्ष पूर्व इस पुस्तकालय को सुरक्षित रखने के लिए दी थी। इस में लालाजी के १६१४ से लेकर १६१६ तक के जीवन और कार्यों के संस्मरण हैं। लालाजी ने यह समय अमेरिका और जापान में रहकर बिताया था। १६०७ में उन्हें निर्वासित करके बर्मा भेज दिया गया था। १६१४ में वे इंगलैंड में थे और बाद में वे प्रथम विश्व-युद्ध के समय कई साल जापान और अमेरिका में रहे थे।

—विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए बम्बई के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने अपील की कि देश की विराट एकता को ध्यान में रखकर ही हिन्दी का प्रचार और प्रसार श्रेयस्कर हो सकता है। जीवित भाषा का यह लक्षण ही है कि वह अन्य भाषाओं के शब्दों को सदैव आत्मसात् करती रहे, अन्यथा उसके जीवन का स्रोत ही समाप्त हो जाएगा। देश के हिन्दी-प्रेमी महानुभाव अब केवल शासन पर ही अवलम्बित न रहकर आत्म-प्रेरणा से स्वतः ऐसे कार्यक्रम और योजनाएँ बनाएँ ताकि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का शीघ्रातिशीघ्र विस्तार हो।

—संस्कृत-विश्व-परिषद् का छठा वार्षिक अधिवेशन ३-४ अप्रैल को पुरी में सम्पन्न हुआ। इसकी स्थापना ११ मई १६५१ को सोमनाथ में हुई थी। भारत और विदेशों में इसकी ६०० शाखाएँ स्थापित हो चुकी हैं। परिषद् की तरफ से भारतीय विद्याभवन परीक्षाओं का संचालन करता है। परीक्षाओं में हर साल तीस हजार विद्यार्थी बैठते हैं। पिछले आठ सालों में परिषद के पाँच अधिवेशन हो चुके हैं।

—विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत आयोजित पुस्तक प्रदर्शनी का उद्घाटन नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलगुरु श्री वडकस ने किया। उन्होंने कहा, "जब तक हम अपनी भाषा में ज्ञानार्जन नहीं कर सकते तब तक अँग्रेजी या दूसरी विदेशी भाषाओं की बराबरी नहीं कर सकते। अपनी भाषाओं को अपनाने के लिए हमें तुरन्त दृढ़ कदम उठाने चाहिएँ। अँग्रेजी समृद्ध भाषा हो सकती है, पर वह हमारी भाषा-भगिनी कदापि नहीं हो सकती।"

—जोधपुर में अंतर प्रांतीय कुमार साहित्य परिषद् के कार्याध्यक्ष डा० देवराज उपाध्याय ने अपने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य में हिंदी-भाषा-भाषियों से अहिंदी प्रदेशीय भाषायें सीखने का अनुरोध किया है। उन्होंने कहा कि दक्षिण और उत्तर भारत के बीच भावात्मक एकता की स्थापना करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। हिंदी पर जो साम्राज्यवाद का लांछन लगाया जाता है, उसका सबसे सुंदर प्रतिकार व समुचित और श्रेयष्कर उत्तर हम उत्तर-भारत के निवासी दक्षिणी और अहिंदी भाषायें सीख कर ही दे सकते हैं। अपने वक्तव्य के अंत में परिषद् के कार्याध्यक्ष ने बताया कि परिषद् ने अगले महीने से ही जोधपुर में भाषा-संगम की स्थापना से अहिंदी प्रदेशीय भाषायें सिखलाने का निश्चय कर लिया है।





पुस्तकालय : एक भी ऐसा हो



श्री नारायण अग्निहोत्री

अभी इस संबंध में जो योजना बने, दूसरी योजनाओं की तरह वह भी ऐसी होनी चाहिए कि अगले ५० वर्षों की माँगों की पूर्ति कर सके। यदि ऐसे पुस्तकालय खुलें जो १० वर्षों की माँग भी पूरी न कर सकें, तो वे ५ वर्षों में ही बंद हो जायेंगे। मुझे विश्वास नहीं कि अपने बिहार प्रान्त में एक भी पुस्तकालय इस प्रकार का है, जो अगले ५० वर्षों की माँग के मुकाबले ठहर सके।

यह विचारणीय है कि अगले ५० वर्षों में यहाँ की आबादी आज से ड्योढ़ी से अधिक तो हो ही जायगी। इसके साथ ही तबतक सभी लोग शिक्षित भी हो जायेंगे और उनमें अपनी समस्याओं को समझने तथा उनका निदान ढूँढने के लिए पुस्तकालयों में आने का आग्रह भी बढ़ेगा ही। हमें इस गुंजाइश के साथ ही पुस्तकालय बनाने की योजना तय करनी चाहिए।

पुस्तकालय को अपने क्षेत्र के स्वतंत्र अध्ययन, खेल-कूद और व्यायाम, सांस्कृतिक आयोजन आदि का केन्द्र होना चाहिए। औद्योगिक प्रशिक्षण एक अलग और बड़ा विषय है। अतः, चर्खा-कर्घा या सिलाई आदि के शिक्षण का केंद्र भी पुस्तकालय में हो और उसमें महिलाएँ जुटा करें—इस विचार का कोई अर्थ नहीं है। फिर तो लुहारी और टिन, बिस्कुट तथा साबुन-उद्योग भी वहाँ क्यों नहीं सिखाया जाय ? ऐसे ही, साधारण प्राथमिक चिकित्सा या स्वयंसेवकों की व्यवस्था तो पुस्तकालय में की जा सकती है, मगर वहाँ अस्पताल या पलटन-जैसी व्यवस्था का कोई अर्थ नहीं।

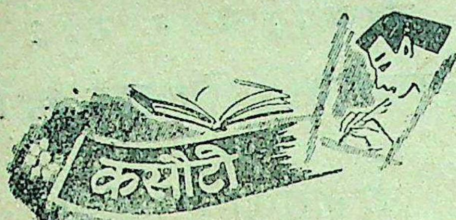
पुस्तकालय में स्वतंत्र अध्ययन, वयस्क शिक्षण, संगीत-नृत्य-नाट्य आदि आयोजन, प्रदर्शनी कक्ष, छोटे खेल-कूद और अखाड़े, गोष्ठी और सांस्कृतिक सभा आदि ही होना चाहिए—इसके अलावा राजनीतिक जलसे, पार्टियाँ और दावतें, उद्योग और रोजगारी तथा औषधालय आदि का आयोजन विषयान्तर ही है और उनमें उलझने से पुस्तकालय के अपने प्रमुख उद्देश्य में आर्थिक और व्यवस्था-संबंधी कटौतियाँ पड़ जाती हैं।

कम-से-कम हर जिला-केन्द्र और प्रमंडल-केन्द्र में, अगले ५० वर्षों की आवश्यकता को समझते हुए, जिस प्रकार का और जिन साधनों से सम्पन्न एक पुस्तकालय बनना चाहिए, उसके लिए मैं कुछ मूलभूत योजनाएँ यों दे रहा हूँ—

(१) जिला-केन्द्र में कम-से-कम बीस हजार और प्रमंडल-केन्द्र में कम-से-कम दस हजार पुस्तकों से सम्पन्न, कमरों और आलमारियों वाले पुस्तकालय की योजना होनी चाहिए। जिनमें क्रमशः २०० और १०० व्यक्तियों के एक साथ बैठकर पढ़ने का, बेंचों और टेबुलों के साथ, एक बड़ा कमरा अवश्य हो। उसमें पुस्तकालय-कार्यालय का छोटा और पुस्तकाध्यक्ष-कार्यालय का उससे तीन गुना बड़ा कमरा अलग से हो।

(२) उसके सामने एक खुला और पेड़-पौधों से घिरा मैदान होना चाहिए, जिसमें कि कम-से-कम क्रमशः दो हजार और एक हजार आदमी बैठ कर सांस्कृतिक आयोजन आदि देख सकें। मैदान के सिरे पर कम-से-कम बीस और चालीस व्यक्तियों के आसीन होने के लायक इस प्रकार का ऊँचा मंच होना चाहिए कि उस पर नाटक आदि भी खेले जा सकें।

(शेष अगले पृष्ठ के नीचे)



अंगारे (उपन्यास)

लेखक—नरोत्तम नागर

प्रकाशक—हिन्दिया प्रकाशन, दिल्ली

मूल्य—पौने तीन रुपये

प्रस्तुत ग्रामीण वातावरण पर लिखा गया उपन्यास है। किन्तु, इसमें उस स्वभाव का सर्वथा अभाव है, जिसकी अपेक्षा ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यासों से की जाती है।

उपन्यास की कथा आदि से अन्त तक रुक-रुक कर चलती है और सारा उपन्यास ही वस्त्र पर पेबन्द लगाने की तरह बेतरतीब टुकड़ों से भरा हुआ है। पहले से पन्द्रहवें परिच्छेद तक कथा ऐसी प्रवाह-हीन है कि उबा देती है। सोलहवें परिच्छेद में आकर घटना-चक्र में कुछ तेजी आती है, कुछ मोड़ आते हैं और कथा कुछ जोर पकड़ती है। किन्तु, उपन्यासकार से इसका भी निवाह न हो सका और पुनः यह आई हुई बाढ़-जैसी स्थिति उसी उकताहट भरी बालुका-भूमि में सूखने लगती है और पाठकों को केवल निराशा ही प्राप्त हुई रहती है।

पात्रों का चित्रण भी उतना ही अव्यवस्थित है। लगता है कि उपन्यास के सारे-के-सारे पात्रों को घर छोड़कर भागने की बीमारी-सी लगी हुई है। पतिया, मोहिनी, स्वामी आदि सभी नारी और पुरुष पात्र घर छोड़कर पलायन कर जाते हैं। उपन्यास में कोई भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे आदर्श कहा जा सके, और जो परिस्थितिवश मानवीय अपराधों को करके भी पाठक की सहानुभूति के योग्य हो। स्त्री-पात्रों में पतिया ही कुछ पाठकों की आस्था की पात्री हो पाती है, पर उसका भी इस हद तक विकास नहीं हो पाता है कि याद रखी जा सके। नामकरण भले ही ग्रामीण हो, पर पात्रों में वांछित ग्रामीणता का अभाव बहुत बुरा लगता है।

(गत पृष्ठ का शेष)

(३) इसी प्रकार कम-से-कम क्रमशः एक हजार और पाँच सौ सभासदों के बैठने के लायक एक सभाभवन भी हो और उसमें कम-से-कम तीस और बीस व्यक्तियों के बैठने या नाटक खेलने के लायक मंच हो।

(४) एक बड़ा गैरेज; मूर्ति, चित्र, फर्नीचर, पुराने अखबार आदि रखने के चार कमरे और अतिथियों के लिए दो कमरे अलग से हों।

(५) जलकल या कूप तथा कम-से-कम १० व्यक्तियों के शौच-स्नान की व्यवस्था हो, जिनमें ६ पुरुषों के निमित्त और ३ स्त्रियों के निमित्त हों।

(६) मैदान से अलग, कम-से-कम क्रमशः १०० और ५० व्यक्तियों के लायक एक घिरा हुआ अखाड़ा बना रहे। जिसमें कि क्षेत्रीय व्यायाम के सभी साधन हों।

(७) सभी कर्मचारियों के लिए उचित ढंग के पारिवारिक निवासगृह भी पुस्तकालय की हद के अंदर ही हों।

यदि इतनी स्थापनात्मक तैयारी कर ली जाय और उनका उपयोग पूरी तरह से किया जाय तो पुस्तकालय २५-५० वर्ष तक लोगों की पुस्तकालय संबंधी सांस्कृतिक माँग ही पूरी कर सकता है। इन माँगों को उद्योग, चिकित्सा और अन्य बड़ी सेवाओं तक बढ़ाना इसलिए निरर्थक है कि वे पहले तो अन्य क्षेत्रीय हैं और दूसरे उन्हें जोड़ देने से पुस्तकालय की इतनी आवश्यक तैयारी भी असंभव या मजाक होती जायगी।



अन्तिम दो परिच्छेदों में बूढ़े बाबा की अकारण योजना और उनके द्वारा हिन्दी साहित्य के कुछ प्रमुख कवियों और लेखकों की कृतियों की (जिनकी चर्चा 'दो शब्द' नामक भूमिका में उपन्यासकार ने की है) पंक्तियों को कहवा कर उपन्यासकार ने किस लक्ष्य की सिद्धि चाही है—यह मेरी समझ में नहीं आया। फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि इस बाबा की योजना जान-बूझकर कथा को लम्बा करने के लिए ही की गई है। और, इससे उपन्यास का कला-सौन्दर्य बढ़ने के बजाय घट ही गया।

यह रचना कोई कोटि नहीं बना पाती है और उस पर मुद्रण-संबंधी अशुद्धियों की भरमार इसे और भी खराब कर रही है।

ज्ञान-विज्ञान

(१) कोलम्बस

(२) उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की कहानी

प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—प्रत्येक के : दो रुपये

(१) कोलम्बस नामक यह कृति अंगरेजी की प्रसिद्ध पुस्तक The Voyages of Christopher Columbus का हिन्दी में अनुवादित-रूप है।

कोलम्बस ने एक नई दुनिया की खोज की थी। कोलम्बस के साहस, कौशल, क्षमता और परिश्रम की गाथा को लेखक ने अत्यन्त औपन्यासिक ढंग से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। कथा का वीर नायक कोलम्बस आदि से अन्त तक अपने सामर्थ्य के कारण सारी कथा पर छाया रहता है और पाठक के आकर्षण का केन्द्र बना रहता है। विज्ञान और साहित्य का इतना अच्छा समन्वय कम ही देखने को मिलता है। विज्ञान की चर्चा के बावजूद कहीं भी प्रसंग नीरस नहीं होने पाया है और उपन्यास-पाठ जैसा आनन्द बना रहता है।

अनुवाद की भाषा सरल और सहज है।

(२) इस पृथ्वी के दो छोरों पर दो प्रदेश स्थित हैं। जिसका ज्ञान लोगों को बहुत दिनों तक एकदम नहीं था। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के नाम से विख्यात इन दो छोरों पर स्थित प्रदेशों की दुनिया ही विचित्र है। यहाँ की पृथ्वी, वातावरण, निवासी—सभी की एक अपनी विचित्रता है।

इन्हीं विचित्र प्रदेशों की सर्वप्रथम यात्रा, अमरीकी नौ-सेना के दो वीर सैनिकों ने—जिनके नाम राबर्ट ई० पेरी और रिचर्ड ई० बायर्ड थे—की। पेरी उत्तरी ध्रुव पर पहुँचने वाला पहला व्यक्ति था और बायर्ड हवाई जहाज द्वारा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की यात्रा करने वाला पहला व्यक्ति।

पुस्तक में इन्हीं वीर सैनिकों की ध्रुव-यात्रा की रोमांचकर कथा रोचक ढंग से कही गई है। पुस्तक अंगरेजी की प्रसिद्ध पुस्तक The Conquest of the North & South Poles का सुन्दर अनुवाद है। अनुवाद मूल के समान ही सुन्दर और प्रेरक है।

पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है।

कैदी की करामात (उपन्यास)

लेखक—अलेक्जेंडर ड्यूमा

अनुवादक—श्रीकान्त व्यास

प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—डेढ़ रुपया

प्रस्तुत, फ्रांस के विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक ड्यूमा के 'काउंट आफ मोंटक्रिस्टो' नामक प्रख्यात उपन्यास का अनुवादित-रूप है। ड्यूमा ने लगभग तीन सौ उपन्यास लिखे

(शेष अगले पृष्ठ के नीचे)



पुस्तक-आवरण: मूल सिद्धान्त



श्री चार्ल्स रोजनर

आज भी अनेक प्रकाशक हैं, जो आवरण पर होनेवाले खर्च को, पुस्तक पर लागत मूल्य की दृष्टि में अधिक मानते हैं। पर, धीरे-धीरे उनके विचारों में क्रान्ति आ रही है। वे अब कम-से-कम यह स्वीकारने लगे हैं कि थोड़े-से प्रयास से इस हानि को लाभ का रूप दिया जा सकता है। यदि आकल्पन और उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाय तो पुस्तक-आवरण पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने में काफी दूर तक सहायक हो संकता है और विज्ञापन के साधन के रूप में, यदि कुछ अधिक नहीं तो कम-से-कम, अपने मूल्य को निस्सन्देह सार्थक कर ही सकता है।

पर, इसकी कुछ शर्तें हैं। पहली शर्त है—इसकी समुचित सम्पादन-योजना। इसका महत्व आवरण के शैल्पिक और कलात्मक पहलुओं से कहीं अधिक है। क्या आवरण को प्रकाशन-संस्था की विशेषता का निरूपक होना चाहिए? पुस्तक-विशेष के आवरण पर उसके नाम या लेखक के नाम को अधिक प्रकाश देना क्या उचित होगा? मुखपृष्ठ या पुट पर कितने पाठ की सार्थकता है और उसका क्रम क्या हो? इसका सूचनात्मक होना उचित होगा या प्रदर्शनात्मक? आवरण की सार्थकता और सफलता के लिए, पुस्तक की प्रूफ-कापी और शिल्प विधान संबंधी आवश्यकताओं के साथ-साथ, शिल्पी को उपर्युक्त प्रश्नों के समाधानपूर्वक अनुदेशों का दिया जाना नितान्त आवश्यक है। किसी आवरण-विशेष की सफलता या असफलता के लिए सज्जाकार या शिल्पी को कुछ ही अंश तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। और, ऐसी स्थिति भी प्रायः अपर्याप्त संक्षेपण के कारण ही उत्पन्न होती है। सबसे पहले आर्थिक पहलू सामने आता है; उदाहरण-स्वरूप, प्रथम मुद्रण की संख्या ही यह निर्धारित

(गत पृष्ठ का शेष)

जिनमें 'श्री मस्कटीयर्ज' और प्रस्तुत को सर्वाधिक ख्याति मिली।

'कैदी की करामात' की कथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, यद्यपि मूल कथा का इतिहास से कोई सीधा या साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इसमें एक ऐसे युवक के साहस, धैर्य और प्रेम की कथा का वर्णन है; जो निर्दोष होते हुए भी तत्कालीन राजा द्वारा बन्दी बना लिया गया था। इस पर नेपोलियन का साथ देने और सिंहासनारूढ़ राजा को पदच्युत करने के षड्यंत्र में सम्मिलित होने का आरोप था।

यह कथा आदि से अंत तक रोचक, रोमांचकर और ऐतिहासिक रंग में रंगी हुई है। युवक एडमन्ड और बंदी पादरी का चरित्र बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है। चिरबंदी होते हुए भी उसमें मानवोचित गुणों की पूर्ण स्थिति बनी हुई है।

अनुवाद में आकर भी कथा का आकर्षण क्षीण नहीं हो सका है, यही इस पुस्तक की प्रशंसा है। अनुवाद की भाषा सरल और शैली परिमार्जित है।

—विश्वनाथ



करती है कि प्रकाशक उस पुस्तक के आवरण पर कितना व्यय कर सकता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण सत्य है कि कभी-कभी प्रकाशक प्रतियोगिता के नशे में बहकर, पुस्तकों के आवरण में अनेक रंगों का प्रयोग कर, उसे व्यर्थ का खर्चीला बना बैठते हैं। यह उन लोकप्रिय पुस्तकों के संबंध में कहीं अधिक सत्य है, जिन्हें चमकदार आवरणों वाली पत्रिकाओं के पाठकों की आँखों को अपनी ओर आकर्षित करना होता है।

आर्थिक आवश्यकताओं के बंधन से, इन आवरण-संबंधी मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों में कोई, फर्क नहीं आता। ये मूलतः दो ही हैं :—(१) पाठ स्पष्ट हों; (२) चित्रात्मक अभिव्यक्ति पुस्तक के चरित्र की परिचायिका हो। किसी भी आवरण-शिल्पी को यह नहीं भूलना चाहिए कि पहली चीज, जो लोगों की नजर के बीच गुजरती है, वह आवरण ही है। वास्तविकता से बहका ले जानेवाले अनर्गल आवरण से अधिक नुकसान पहुँचानेवाली चीज, पुस्तक में दूसरी नहीं हो सकती। अनर्गल आवरण, झूठे विश्वास पैदा कर घोर नैराश्य के गर्त में ढकेल दे सकता है।

अब सोचना यह है कि एक आवरण-शिल्पी के समक्ष चित्र-रचना के समय कौन-कौन-सी निर्दिष्ट सामग्रियाँ होती हैं। पुस्तक की पांडुलिपि या प्रूफ, आवरण पर अंकित किया जानेवाला पाठ, कोई विचार या अंश-विशेष संबंधी संकेत जिसकी चित्रात्मक अभिव्यक्ति लेखक या प्रकाशक आवरण पर चाहता हो, और अन्ततः शिल्प-विशेष से जुड़ी अनेक संभावनाएँ—ये कुल चीजें उसके सामने होती हैं। इस अंतिम में सबसे महत्वपूर्ण है, विभिन्न रूपों में अंकित अक्षर-समूह; किन्तु यहाँ भी उसे अपनी पसन्द को पुस्तक के शीर्षक और रंगों की निर्दिष्ट संख्या तक ही सीमित रखना होता है। उसके पास पूर्वांकित कतिपय अलंकरण-सामग्रियाँ भी होती हैं। अक्षर और अलंकार, धन (Positive) या ऋण (Reverse) प्रत्येक रूप में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। इससे कागज को एक अलग रंग के रूप में प्रयुक्त करने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। शिल्पी, आवरण के पाठ को पूर्वनिश्चित और स्व-अंकित अक्षर-रूपों को मिलाजुला कर या सम्पूर्ण पाठ को स्व-अंकित अक्षर-रूपों में ही, व्यक्त कर सकता है और लेटर-प्रेस की सीमा का अतिक्रमण किए बिना ही इन पाठों के संग विभिन्न शिल्प-शैली के चित्रों को जोड़ सकता है। वे सारे चित्र, जो लाइन-ब्लाक में उतारे जा सकते हैं; जैसे—रेखा-चित्र, काष्ठ-चित्र, स्क्रैपर-बोर्ड; सुविधापूर्वक पाठों के संग भी चित्रित हो सकते हैं। हाफटोन-ब्लाक की व्यवस्था होने पर, क्रमशः क्षीण होते हुए रंगों या फोटो-चित्रों को भी, अक्षरों के साथ व्यक्त करने में कोई कठिनाई नहीं है। इन साधनों का स्वतंत्र या मिश्रित रूप से उपयोग कर, एक शिल्पी, दो रंगों में ही अत्यन्त प्रभावोत्पादक आवरण प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता है। हाँ, लेकिन शर्त है कि उसे कूची, कलम और शैलियों पर अधिकार हो। रंगीन कागज का प्रयोग कर वह दो रंगों से ही अपनी प्रभावोत्पादकता की सीमा को और भी विस्तार दे सकता है। लेटर-प्रेस के द्वारा चार रंगों के हाफटोन-ब्लाकों में पूर्णतया रंगीन आवरण प्रस्तुत करने की प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित है।

लिथोग्राफिक विधि से मुद्रित आवरण थोड़ी संख्या में छपने पर बड़े मँहगे, पर बड़ी संख्या की स्थिति में सर्वथा अपनाने योग्य हैं। आफसेट की विधि, बड़ी संख्या होने पर, न केवल सस्ती पड़ती है, बल्कि शिल्पी की कला को पूर्णरूप से अभिव्यक्ति देने की समर्थता भी उसी में और विधियों से अधिक है।

हमने अपनी पिछली पंक्तियों में कहा है कि आवरण-चित्रण के लिए एक चित्रकार के पास निम्नलिखित चीज़ों का होना आवश्यक है; जैसे पुस्तक-विशेष संबंधी आवश्यक सूचनाएँ, शिल्प-कौशल, कल्पना एवं सृजनात्मक शक्ति। पर प्रश्न उठता है कि एक श्रेष्ठ आवरण प्रस्तुत करने के लिए क्या इतनी ही चीजें पर्याप्त हैं? सम्भवतः नहीं। पुस्तक का आवरण न तो 'कला कला के लिए' जैसी बातों का नमूना है और न स्वतंत्र रचनात्मक चित्र। वह वस्तुतः वस्तु-विशेष पर लिपटा हुआ पोस्टर है— विज्ञापन का साधन! लेकिन यहाँ भी अन्य वस्तुओं के पोस्टर से इसकी पर्याप्त भिन्नता है। निश्चित रूप से, अन्य पोस्टरों के मुकाबले, इसकी विज्ञापन-शक्ति में बहुत कम प्रत्यक्ष-प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है। प्रथमतः, किसी फिल्मी पोस्टर और सिनेमा-घर में चलती हुई फिल्म में जगह की काफी दूरी होती है, जो आवरण और पुस्तक-विशेष में नहीं होती। यह स्वाभाविक समीपता आवरण-शिल्पी पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध डाल देती है।

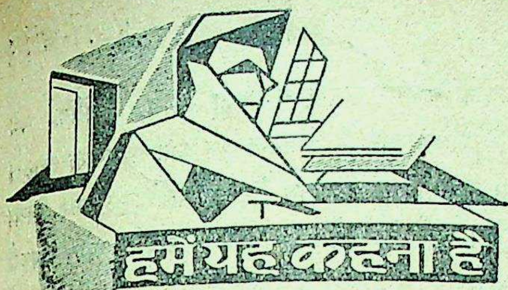
इसके अतिरिक्त, एक शिल्पी को आवरण के द्वैध-प्रयोजन पर सदैव ध्यान रखना होता है। आवरण को, दूकान के अन्दर और बाहर के शीशे, दोनों जगहों पर विज्ञापन का कार्य सिद्ध करना होता है। दूकान के अन्दर शान्त वातावरण के बीच आवरण निहारने और बाहर कोलाहल के बीच दूकान के शीशे में पड़े आवरण पर उड़ती नजर डाल लेने में बड़ा अन्तर है। इन दोनों दृष्टियों के विभेद और उनकी स्वतंत्र मानसिक प्रतिक्रियाओं के प्रति शिल्पी को सजग रहना पड़ता है।

फिर, प्रदर्शन की समस्या भी कम जटिल नहीं है। आज के युग में दूकान के बाहरी शीशे और काउंटर, दोनों पर जगह पाने की भीषण प्रतियोगिता के प्रति शिल्पी की सजगता आवश्यक है। कभी-कभी शीशे में पुस्तकों के हिस्से एक-दूसरे से ढँक जाते हैं। साथ ही, कुछ पुस्तकें सीधी, कुछ आड़ी, कुछ तिरछी, कुछ उलटी प्रदर्शन-शीशों में लगाई जाती हैं। अतः, यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि पुस्तक-आवरण के रूप में हमें दो-पहल वाली नहीं, बल्कि तीन-पहल वाली चीज प्रस्तुत करनी होती है। पुस्तक का आवरण एक साथ ही, उसका पोस्टर और पैकेट दोनों ही है। और, एक पैकेट मूलतः तिपहला होता है। अतः एक आवरण-शिल्पी और प्रकाशक को, आवरण को केवल चौरस स्थिति में रखकर ही निर्णय नहीं लेना चाहिये। आवरण को स्थाणु-पुस्तक (dummy book) पर लगा कर; उसे सीधी, चौरस और आड़ी स्थिति में अन्य पुस्तकों के बीच रखकर और विभिन्न कोणों से निरख-परख कर ही निश्चय लेना सर्वथा उचित है।

आवरण ऊपर लिपटा होता है, अतः हम पुस्तक के मुख-भाग, पुट और पृष्ठ-भाग तीनों का व्यवहार कर सकते हैं। निश्चित रूप से मुख्यता मुख-भाग और पुट की ही है, किन्तु पृष्ठ-भाग भी सार्थक उपयोग की अन्य संभावना का सृजन करता है और कुछ विशेष स्थिति में—जैसे, एक या संबंधी विषयों की माला-(Series) रचनाओं के अन्य शीर्षकों के प्रदर्शन के निमित्त—बड़ी खूबसूरती से इसका सार्थक उपयोग किया जा सकता है।

पुट की प्रयोग-विधि विवाद का विषय रही है। उसपर अक्षरांकन का क्रम क्या हो— खड़ी हालत में ऊपर से नीचे या ठीक उसके विपरीत, या पड़ी हालत में एक किनारे से दूसरे किनारे तक? जो भी हो, किसी भी दशा में पुट पर स्पष्ट और पुष्ट अक्षरों के लिए पर्याप्त स्थान तो होना ही चाहिए। उसका अंकन जिस रूप में हो, अधिक-से-अधिक स्पष्टता और मुख-भाग

(शेष पृष्ठ ४० के नीचे)



पुस्तक-व्यवसाय : संगठन और सिद्धान्त

व्यवसाय में जिस संबंध से किसी को सहयोगी या कमीशन आदि रियायतों का अधिकारी समझा जाता है, वह तीन ही है। पहला—वह या तो एजेन्ट जैसा कर्मचारी हो, दूसरा—वह या तो पूँजी लगाने और मन्दी या घाटा झेलने तक के लिए तैयार हो और तीसरा—उसका वही कारोबार हो। कमीशन आदि कमाई या रियायत देने के यही सिद्धान्त हैं। इस आधार पर पुस्तक-व्यवसाय में विक्रेता या एजेन्ट ही कमीशन के अधिकारी हैं और सरकार या प्राइवेट थोक-खरीद वाले इन उपर्युक्त तीन शर्तों में से किसी भी गत के न होने के कारण किसी रियायत के अधिकारी नहीं हैं। पुस्तक-उत्पादक याने प्रकाशक यदि सरकार या अर्ध-सरकार को कमीशन देते हैं, और खास कर विक्रेता जैसे स्थायी हकदार से अधिक कमीशन देते हैं, तो अपने नितान्त व्यक्तिगत और तात्कालिक स्वार्थ को साधते हैं नकि संगठित और स्थायी स्वार्थ को। इधर संयुक्त हिन्दी प्रकाशक की ओर से इसी प्रकार की सिद्धान्त-विहीन चेष्टा हो रही है और अपनी इस चेष्टा के पक्ष में व्यक्तिगत ढंग से, औचित्य के आधार पर विरोध करने वालों को सख्त शब्दों में जवाब दिए जा रहे हैं। यह सिद्धान्त और निश्चित लक्ष्य का प्रश्न है और समूचे पुस्तक-व्यवसाय का प्रश्न भी है। यह न तो केवल प्रकाशकों का स्वार्थ है और न खासकर उन प्रकाशकों का जिनके पास शोर मचाने या फब्ती कसने या जोर आजमाने के लिए अपने साधन हैं। अभी हिन्दी के अधिकतर पुस्तक व्यवसायियों की योग्यता इतनी ही है कि वे किसी की तेजी या भड़क में आकर किसी कागज पर दस्तखत कर सकते हैं। मगर सही कायदा तो यह है कि (१) सैद्धान्तिक विषयों पर काफी बहस-मुबाहसा, बल्कि शहर-शहर की निचली कमेटियों और मेम्बरों तक में इस हद तक बहस-मुबाहसा चलाया जाय कि सब अपनी कहकर और दूसरे की सुनकर अपना पक्ष-विपक्ष तय कर लें और तब कोई ऐसा-वैसा राष्ट्रीय सिद्धान्त बने। (२) सिद्धान्त संबंधी बहसों के पहले, पक्ष या विपक्ष में हस्ताक्षर जैसा लेकर, मत खोलने का काम तो करना ही नहीं चाहिए। किन्तु, संयुक्त हिन्दी प्रकाशक संघ की ओर से कोई वैसा कार्य नहीं हुआ और न किसी वैसे कार्य को करने के लिए (हालाँकि वह भी अशुद्ध कार्य होता, फिर भी) संयुक्त हिन्दी प्रकाशक जैसी उपसमिति बनी। फिर भी, संयुक्त हिन्दी प्रकाशक ने लोगों से यह दस्तखत लेना शुरू किया कि सरकार को बीस प्रतिशत से अधिक कमीशन नहीं दिया जाय और जो विक्रेता नहीं माने उसका बहिष्कार किया जाय और इस प्रकार विक्रेता को पुस्तक-व्यवसाय में कमीशन पाने के मामले में अपने-आप सरकार से कम दरजा मिले। हमारे ख्याल से इस प्रकार का दस्तखती तरीका जारी कर संयुक्त-प्रकाशक के कर्ता-धर्ताओं ने ये ऐब किए हैं—(१) कमीशन का यह करार कमीशन के हकदारों से बिना पूछे-गछे ही जारी किया है (२) बाजार का भरोसा न कर, सरकार से सीधी सौदेबाजी का रास्ता निकाला गया है (३) इस मसविदे पर व्यक्तिगत पहुँचों के द्वारा दस्तखत कराने का यह अर्थ दिया है कि यह मसविदा किसी सिद्धान्त-वक्तव्य से बाहर की चीज है।

हमारी राय है कि (१) पुस्तक-विक्रेताओं को दरकिनार न किया जाय, क्योंकि तब यह अर्थ लगेगा कि प्रकाशक, जो विक्रेता भी हैं, उन्हें बाजार से निकाल कर अपना दखल चाहते हैं। (२) पुस्तक-विक्रेता को दिया जाने वाला कमीशन उनके साथ बैठकर पहले तय कर लिया जाय ; क्योंकि सरकार से सीधी सौदेबाजी करने का अर्थ होता है कि प्रकाशक अपने अतिसामर्थ्य से सरकार को यह मनमानी छूट देकर विक्रेताओं के लिए उस क्षेत्र को हमेशा के लिए बंद कर रहा है।



(पृष्ठ ३७ का शेष)

के साथ समुचित संतुलन ही उसका आधारभूत सिद्धान्त है।

यद्यपि स्वतंत्र पुस्तक के आवरण की समस्या ही शिल्पी और प्रकाशक के लिए साधारणतया सर्वाधिक होती है, पर एक माला की पुस्तकों के आवरण-जैसी अन्य समस्याएँ भी उसके आगे आती हैं। ऐसे आवरणों के चित्रण में कठिनाई यह है कि पुस्तक के अलग-अलग व्यक्तित्व के साथ-साथ पूरी माला (Series) की चारित्रिक विशेषता का निरूपण इनमें आवश्यक होता है।

विज्ञान और शिल्प-संबंधी ग्रंथों के आवरण ऐसे होने चाहिएँ कि वे शालीनता और संयम से पुस्तकों की योग्यता और विश्वस्तता को व्यक्त कर सकें। क्योंकि अतिरंजन, विशेषज्ञों को आकर्षित करने के बजाय झुँझलाता ही है। बाल-साहित्य भी एक समस्या सृजन करता है। बच्चों के अभिभावक प्रायः ऐसे आवरणों में विश्वास करते हैं, जो स्पष्टतया न केवल पुस्तकों की विषय-वस्तु को, बल्कि आयु-वर्ग तथा लिंग-जाति को भी अभिव्यक्त करते हैं।

पुस्तक-आवरण की सार्थकता-निरर्थकता को लेकर पिछले दिनों जो भी विवाद खड़े हुए हों, पर अब तो यह निश्चितप्राय है कि अब वह प्रकाशन का आवश्यक अंग हो चुका है। प्रकाशकों को इसे व्यवसायान्तर्गत न्यूनतम व्यय और सर्वोपरि प्रभावोत्पादक विज्ञापन के रूप में स्वीकार करना चाहिए। अन्य वस्तुओं के उत्पादक, अपनी उत्पादित सामग्री में ही प्रदर्शन के निमित्त, पुस्तक-जैसी ही सर्वथा श्रेष्ठ और पर्याप्त सतह की चीज का, सदा हृदय से स्वागत करेंगे। विज्ञापन-संस्थाओं से संबंधित नवोदित कलाकारों के लिए पुस्तक-आवरण शिक्षण-परीक्षण का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

यद्यपि पुस्तक-आवरण की परिकल्पना प्रकाशक और रचना चित्रकार करता है, पर अन्ततः उसका उत्पादन मुद्रक के हाथों होता है। प्रकाशक के लिए बहुत भारी संख्या में पुस्तक का साधारण संस्करण करने की जगह, अपेक्षाकृत कम संख्या में संस्करण करना, अधिक संतुलित और स्वस्थ अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण का परिचय देता है। आज से दस वर्ष पूर्व भले ही ऐसा न समझा जाता हो, पर अब तो ऐसा अनुभव किया जाने लगा है (हिन्दी में अभी ऐसा अनुभव किए जाने की स्थिति पैदा नहीं हुई है—अनुवादक)। ऐसी स्थिति में, आवरण का मुद्रण, मुद्रक के लिए, एक इतना छोटा धन्धा हो जाता है कि वह स्वभावतः उस पर धन-मन देने में कोई आर्थिक लाभ नहीं देखेगा। पर, मुद्रक आवरण को यदि आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं, बल्कि आत्म-विज्ञापन के साधन के रूप में देखे तो उसे इसका लाभ स्पष्ट हो जायगा। मुद्रक के नाम के साथ, स्वस्थ और सुन्दर मुद्रित आवरण उसके सुनाम का सबसे बड़ा प्रचारक होता है।



हिन्दी पुस्तकें पुरस्कारार्थ आमंत्रित

उत्तर प्रदेश सरकार ने भारतीय संघ के समस्त राज्यों के हिंदी लेखकों को अपने उन मौलिक ग्रन्थों को पुरस्कारार्थ भेजने के लिए आमन्त्रित किया है जो १ जनवरी, १६५८ के पश्चात् प्रकाशित हुए हों। राज्य सरकार हिन्दी साहित्य निधि से प्रतिवर्ष ५०,००० रुपये से अधिक धन पुरस्कार स्वरूप प्रदान करती है।

पुरस्कारार्थ पुस्तकों की ८ प्रतियाँ सचिव, हिंदी समिति, रायल होटल, लखनऊ के पते पर १५ जून, १६५६ तक पहुँच जानी चाहिए।

जो लेखक अपनी पुस्तकें पुरस्कारार्थ भेजने के इच्छुक हों, उन्हें स्पष्ट शब्दों में ये सूचनाएँ प्रत्येक प्रति के भीतरी मुखपृष्ठ पर चिपका देनी चाहिए—लेखक का नाम, स्थायी पता, पुस्तक का विषय, मौलिक है अथवा अनूदित (यदि अनूदित हो तो मूल लेखक का नाम भी देना चाहिए), पुस्तक पुरस्कारार्थ पहले कहीं भेजी गयी अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त लेखक को पुस्तक के प्रथम संस्करण की प्रकाशन तिथि तथा संक्षेप में पुस्तक की मुख्य विशेषता भी देनी चाहिए।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* "पुस्तक-जगत" में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की १० तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार रायल अठपेजी है और २¾" के दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१[illegible].००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,
पटना–४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

जुलाई, १९५९ : अंक—११ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक—अखिलेश्वर पांडेय

१५ अगस्त, १९५९ को प्रकाशित

'पुस्तक-जगत'

•

नव-वर्ष-विशेषांक

•

विशिष्ट कोटि का

विज्ञापन-मंच

बहुप्रशंसित तीन उपन्यास

* रक्त और रंग

लेखक : श्री अनूपलाल मंडल

मूल्य : पाँच रुपये

* लोहे के पंख

लेखक : श्री हिमांशु श्रीवास्तव

मूल्य : सवा सात रुपये

* राह का पत्थर

लेखक : श्री विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त

मूल्य : पौने तीन रुपये



बहुचर्चित तीन नाटक

* अभिज्ञान शाकुन्तल

रूपान्तरकार : श्री राधाकृष्ण

मूल्य पौने दो रुपये

* कसाई

लेखक : श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

मूल्य : दो रुपये

* जीवन-कण (एकांकियाँ)

लेखक : श्री रामदीन पाण्डेय

मूल्य : एक रुपया



ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

लेखक के लिए प्रकाशक बनना क्यों नहीं वांछनीय है



श्री दयानन्द वर्मा

लेखक प्रकाशक के विरुद्ध सदा से कहता चला आया है, क्योंकि उसकी लेखनी में शक्ति है जो कल्पना को साकार कर सकती है; बेजान में जान डाल सकती है। प्रकाशक को कभी अपनी सफाई पेश करने का अवसर नहीं मिला, यदि मिला तो वह उसे लेखकों की भाँति प्रभावशाली ढंग से कह नहीं पाया। फल यह हुआ कि प्रकाशकों के विरुद्ध एक सशक्त गुट बनता रहा और मात्र लेखक ही उसे निर्विरोध बनाता रहा।

प्रकाशक बनने की बात लेखक इसलिए सोचता है, क्योंकि केवल लेखनी के सहारे वह अच्छे स्तर का जीवन गुजारने योग्य आजीविका नहीं जुटा पाता। विदेशी लेखकों की आय देखकर उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और वह अपनी दयनीय स्थिति का कारण प्रकाशक को समझ कर यह दायित्त्व स्वयं सम्भालने के लिए आतुर हो उठता है, किन्तु अपनी अल्प आय का मूल कारण जानने का प्रयत्न नहीं करता। यदि वह जानने का प्रयत्न करे तो यह बात उसके सामने स्पष्ट हो जायगी कि भारत के पुस्तक-व्यवसाय में पड़े हुए अधिकतर लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने का मूल कारण पाठकों की संख्या का कम होना है।

पहिले तो यहाँ पढ़े-लिखे लोग ही थोड़े हैं। जो हैं वे हिंदी, उर्दू, इंग्लिश, बंगला, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं में बँट जाते हैं। उन में से यदि हम केवल हिन्दी भाषा-भाषियों को खोजें, तो हमें यह जान कर निराशा होगी कि बहुत-से उनमें से वे होंगे जिन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त कोई पुस्तक कभी छुई ही न होगी। शेष जो एक्स्ट्रा-स्टडी (अतिरिक्त अध्ययन) के तौर पर पढ़ते हैं तो माँगकर, किराये पर लेकर अथवा लाईब्रेरियों के सहयोग से। अर्थात् जो पाठक पढ़ने में रुचि रखते भी हैं तो वे सिनेमा, फर्नीचर या कपड़ों पर खर्च करते समय बचत नहीं दिखाते बल्कि उन्हें पुस्तकों के बजट में ही कमी की गुँजाइश दिखाई देती है। अब सोचिए कि यदि हमारे (लेखक, ग्राहक, पुस्तक-विक्रेता, आर्टिस्ट, प्रेस-मालिक आदि) माल के उपभोक्ताओं (कन्ज्यूमर्ज़) की यह दशा है तो, इस व्यवसाय में लगे किसी भी व्यक्ति को अधिक लाभ की आशा रखनी ही क्यों चाहिए?

इस मामले में लेखक-प्रकाशकादि सब का भाग्य-निर्माता वह पाठक है जो बिना लेखक-प्रकाशकादि का हक़ अदा किए पठन का आनन्द लेता है। यह हम सबकी मिली हुई समस्या है जो पाठक पर नैतिक दबाव डालने से भी नहीं सुलझेगी, किन्तु एक दिन स्वयमेव सुलझ जाएगी—उस दिन—जिस दिन भारत का हर पढ़ा-लिखा व्यक्ति, चाहे वह पढ़ने का शौक रखता हो या नहीं, अपने ड्राइंग-रूम में पुस्तकों का एक शैल्फ रखे बिना हीनता की भावना महसूस करेगा। विदेशों में ऐसा अब है और हमारी अगली पीढ़ी इसे भारत में भी अवश्य देखेगी। उस दिन केवल अच्छा सोफा-सैट हमारे अच्छे जीवन-स्तर का परिचायक न रहेगा बल्कि पुस्तकों की आलमारी अनिवार्य रूप ग्रहण कर लेगी। उस दिन इस व्यवसाय में लगे सभी व्यक्ति सम्पन्न हो जायेंगे। उस दिन भारत का लेखक प्रकाशक बनने की नहीं, किसी पर्वतीय प्रदेश में भ्रमण की बात सोचेगा।

प्रश्न यह उठता है कि जबतक यह दशा भारत में पैदा नहीं होती तबतक के लिए लेखक को प्रकाशक बनने में क्या हर्ज है?

इतना तो दूर से दिखाई देता ही है कि भारत का प्रकाशक भारत के लेखक से अधिक सम्पन्न होता है। किन्तु, निकट जाने पर हमें पता लगता है कि जिन प्रकाशकों को देखकर हम 'प्रकाशक' के नाम को ही सम्पन्नता का कारण समझ बैठे हैं, वे तो ३६ करोड़ की जनसंख्या में बीस-पच्चीस ही होंगे (इतनी संख्या के लेखक भी सम्पन्न हैं), किन्तु उनसे सौ गुने प्रकाशक ऐसे भी होंगे जिनके आप नाम भी न जानते होंगे। आप इसलिए उनके नाम नहीं जान सके हैं, क्योंकि वे दो-चार पुस्तकें प्रकाशित करके इस मैदान में धनोपार्जन करना चाहते थे (जैसे कि बहुत से लेखक-गण अब भी सोच रहे हैं)। किन्तु, वास्तविकता यह है कि यह व्यवसाय इतनी अधिक पूँजी माँगता है जितना कि और कोई बड़ा व्यवसाय। इस व्यवसाय में जिसके पास जितने अधिक मेल के प्रकाशन होंगे उतनी ही दूरी तक उसकी पहुँच होगी। और, एक पुस्तक के प्रकाशन पर कितना खर्च होता है यह सभी जानते हैं।

अब यदि कोई लेखक अपनी दो-चार कृतियाँ प्रकाशित करके यह समझे कि वह अपनी आजीविका की समस्या सुलझा लेगा, तो गलत है। दो-चार मेल लेकर वह दूर की लाईब्रेरियों तथा पुस्तक-विक्रेताओं के पास कैसे पहुँचे? भारत-भ्रमण का खर्च वह दो-चार पुस्तकों के भरोसे नहीं वहन कर सकेगा। उसे किसी प्रकाशक के द्वारा ही अपने प्रकाशन बेचने में लाभ दिखाई देगा। और, प्रकाशक उसकी कृति को दूर तक फैलाने के बदले भरपूर कमीशन माँगेगा। उस लेखक की दशा पर तनिक ध्यान दीजिए जिसने प्रकाशक बनने के सपनों को साकार करने के लिए पूँजी जुटाई, प्रकाशन के दायित्व सम्भाले और जो बचा उसका बड़ा भाग मुँह-माँगी कमीशन के रूप में निकल गया। तिस पर भी यह सन्देह रहा कि प्रकाशक उसकी कृति से उतनी सहानुभूति रखेगा भी कि नहीं, जितनी कि वह अपने प्रकाशन से रखता है। उस लेखक ने क्या पाया प्रकाशक बनकर—जिस प्रकाशक के पास वह पाण्डु-लिपि लेकर जाया करता था उसके पास छपी हुई पुस्तक लेकर गया। अन्तर कुछ भी नहीं!

हाँ, यदि लेखक प्रसिद्ध हो तो उसे ये समस्याएँ नहीं सतातीं। वह अपने नाम की प्रसिद्धि के अनुसार जो कमीशन नियत करेगा, उसकी रचना बिकेगी। किन्तु, प्रसिद्ध लेखक को तो रायल्टी भी मुँह-माँगी मिल सकती है। फिर वह इस झंझट में फँस कर अपने साहित्य-सृजन में कमी क्यों करे? मुँह-माँगी रायल्टी मिलने के बावजूद यदि प्रकाशक का भाग वह स्वयं पचाना चाहे तो उसे लोभ ही कहा जाएगा। वह लोभ प्रकाशक बनने के बाद उसे प्रेस-मालिक के दायित्व सम्भालने के लिए भी विवश कर सकता है। तो क्या फिर वह यह दायित्व सम्भालने के बाद अपने पेशे के प्रति ईमान्दार रह सकेगा?

ऊपर मैं जो कठिनाइयाँ कह आया हूँ वे नये लेखकों के प्रकाशक बनने पर सामने आती हैं। वह पाण्डुलिपि लेकर जाए तो पारिश्रमिक कम मिले—स्वयं प्रकाशित करे तो मुँह-माँगा कमीशन देना पड़े। बल्कि, कभी-कभी लागत के भाव पर सारा स्टाक ही बेचना पड़े। इससे अच्छा तो यह है कि वह कम पारिश्रमिक ग्रहण करके अपनी कृति किसी प्रकाशक के द्वारा ही छपवाए (यहाँ मैं उन प्रकाशकों से कुछ नहीं कहूँगा जो किसी लेखक की विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं)। इतना तो ठीक है कि प्रकाशक नये लेखक की रचना प्रकाशित करके रिस्क अवश्य उठाता है। यदि पुस्तक चल गयी तो प्रकाशक को भी लाभ और लेखक की अगली पुस्तक का भी मार्केट बन गया। यदि न चली तो प्रकाशक की अन्य

दो-चार पुस्तकों की कमाई लेकर गोदाम की शोभा बन गयी।

ध्यान रहे यह सब-कुछ मैंने उन लेखकों के लिए लिखा है जो आजीविका के लिए प्रकाशक बनना चाहते हैं। वे लेखक इस कोटि में नहीं आते, जो केवल इसलिए प्रकाशक बनना चाहते हैं, कि कोई अन्य प्रकाशक उनकी रचना को प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं और वे किसी भी मूल्य पर उसे 'छपाना' चाहते हों। वे प्रकाशन का यह शौक जारी रख सकते हैं। यदि वे सफल हो गए तो बहुत अच्छा, अन्यथा वे प्रकाशन में उठाई गयी हानि को 'छपाई की फीस' के रूप में सहन कर सकेंगे।

हाँ, यदि लेखकों की आर्थिक स्थिति अच्छी हो और वे व्यावसायिक बुद्धि रखते हों, तो उनके प्रकाशक बनने में हानि नहीं। इससे पुस्तक-व्यवसाय को कुछ और कुशल व्यवसायी मिल जाएँगे और लेखकों में से भी छँटनी हो जाएगी। (हालाँकि आजीविका के लिए प्रकाशक बनने का विचार स्पष्ट करता है कि आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, फिर भी) इससे दो नयी बातें पैदा होंगी:—

१. प्रकाशन का उत्तरदायित्व उसे लेखक नहीं रहने देगा।

२. अपने अन्य लेखक-बन्धुओं से वह वही व्यवहार करने लगेगा जो वह स्वयं प्रकाशक से पाना नहीं चाहता। क्यों? क्योंकि प्रकाशकों की समस्याओं को वह निकट से देख चुका होगा। फिर, उसके लेखक सहयोगी उसकी मजबूरियों को न समझ कर उसके विषय में यही कहने लगेंगे—"अब तो वह प्रकाशकों की बोली में बात करने लगा है।"

उसके लेखक सहयोगी चाहे कुछ कहते रहें, मैं समझता हूँ कि अच्छी आर्थिक स्थिति रखने वाले लेखकों के लिए प्रकाशक बनने में कुछ हर्ज नहीं। उनके लिए यह एक नया प्रयोग ही तो है। यदि हानि हो गयी तो कमर टूटने का खटका नहीं। किन्तु, इधर-उधर से कठिनतापूर्वक रुपया जुटा कर लेखक से प्रकाशक बनने वालों को मैं परामर्श दूँगा कि:—

—यदि वे नये हैं तो उन्हें कम पारिश्रमिक लेकर भी किसी अन्य प्रकाशक के द्वारा प्रसिद्ध होने का प्रयत्न करना चाहिए और स्मरण रखना चाहिए कि बहुत बड़े लेखकों के प्रारम्भिक दिन भी बड़े कष्ट से बीते थे।

—यदि वे प्रसिद्ध हैं तो उन्हें मुँह-माँगी रायल्टी मिल सकती है। ऐसी दशा में उन्हें इस झंझट में न फँस कर साहित्य-सृजन में ही मग्न रहना चाहिए।



सेल्समैन के पाँच गुण



श्री राधाकृष्ण

१. लगन और विश्वास
२. ज्ञान
३. कौशल
४. साहस
५. धीरज

पुस्तक-विक्रय का कार्य दूसरे प्रकार के अन्य कार्यों से भिन्न है।

हमारे यहाँ पढ़ने की ओर रुचि कम-से-कम दिखलाई देती है। जो पढ़ना हुआ लोग स्कूल-कॉलेजों में ही पढ़कर इतिश्री कर लेते हैं। उसके बाद समझते हैं कि अब पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं। अब पढ़कर क्या होगा? जो पढ़ना था, पढ़ लिया। हमारे यहाँ पढ़ने की ओर झुकाव ही नहीं।

जीवन-संघर्ष में लोग इस तरह फँसे हुए हैं कि समाचार-पत्र तक की ओर आँख उठा कर देखने की फुरसत नहीं। फिर ये नए-पुराने लेखक, नई और विभिन्न साहित्य की धाराएँ, नए विषय, नई बातें, फिर नई बातों की नई बातें—इस तरह की पुस्तकें पढ़ना जैसे संग्राम जीतना ठहरा। इतनी फुरसत कहाँ है? अपनी समस्याओं को लेकर ही चित चंचल रहता है। जीवन में रोज उलझन की नई-नई गाँठ पड़ती जाती है। टहलने की फुरसत नहीं, नाते-रिश्ते, शादी-व्याह में आने-जाने की फुरसत नहीं, घर में अपने परिवार के बीच स्थिरता से बैठने की भी फुरसत नहीं। फिर किताबें किस तरह पढ़ी जायँ?

और, कमाई भी तो पूरी नहीं पड़ती। मासिक वेतन आने की देर है, जाते उसे देर नहीं लगती। आटा-चावल, साग-सब्जी, दूध-दही, इनका रोज-रोज का खर्च है। इन चीजों के बिना काम किसी तरह चल ही नहीं सकता। घी खाने को मयस्सर नहीं, दालदा से काम चलाते हैं। फिर कपड़े चाहिएँ। नंगा रहा नहीं जायगा। इसके अलावा आये-गये हैं, इष्ट-मित्र हैं, पान-पत्ता है। भूले-भटके कभी सिनेमा देख लिया तो देख लिया। फिर कुछ बचता ही कहाँ है जो आदमी पढ़ने के लिए किताबें खरीदे? देश गरीब है, आदमी गरीब हैं। फुरसत भी नहीं। किताब खरीदना कोई जरूरी नहीं समझा जाता। जब दोस्तों और ताश-शतरंज से ही समय निकल जाता है तो पढ़-पढ़कर किताबों से कौन सिर मारता रहे?

इसी परिस्थिति में आपको किताबें बेचनी हैं। आप कहते हैं किताबें बिकेंगी कैसे? माल लेनेवाला कोई दिखलाई ही नहीं देता।

हाँ, यह ठीक है कि गेहूँ और चने की तरह किताबों की बिक्री नहीं है। किताब बिकती नहीं, किताबें बेची जाती हैं। किताबें अपने आप में खास आकर्षण नहीं रखतीं, वह आकर्षण आपको पैदा करना है। आपके भीतर वह शक्ति होनी चाहिए कि आप ग्राहक के मन में किताब के प्रति आकर्षण पैदा करके किताबें बेच लें।

अनाज और कपड़ा तथा मकान और दवा के सामान के अलावा और कोई भी चीज ज्यादा जरूरी नहीं। फिर भी दूसरी चीजें हैं जो बाजार में निरन्तर बिक रही हैं। बार्निश और पेन्ट भी कुछ इसी तरह की चीजें हैं। एक शताब्दी पहले लोग इनका व्यवहार कम-से-कम करते थे; मगर आज आपको कोई ऐसा मकान नहीं मिलेगा जिसमें पेन्ट न हो, ऐसी कोई कुर्सी नहीं मिलेगी जिसमें बार्निश न की गई हो। पेन्ट और बार्निश बेचे जाते हैं। बेचनेवाले उसे बेचते हैं और उससे पूरा फायदा उठाते हैं। अमेरिका की एक टेरेल पेन्ट कम्पनी है। सन्

१६२६ में उस कंपनी ने ७५,००,००,००० रुपयों के पेन्ट और बार्निश बेचे थे। उस समय लड़ाई का जमाना भी नहीं था। बाजार में संसारव्यापी मन्दी जा रही थी। मन्दी के जमाने में जो व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता होती है उसे प्रत्येक व्यापारी जानता है। फिर भी उस कम्पनी ने ७५ करोड़ का माल बेच लिया। क्या यह कम आश्चर्य की बात है ?

नहीं, इसमें आश्चर्य की बात नहीं। उस कम्पनी के पास उस साल ३५० सेल्समैन थे जो उसके माल की बिक्री बढ़ा रहे थे।

सेल्समैन व्यापार के स्तम्भ हैं। उनका चुनाव सावधानी से करना चाहिए। वह चीजों की उपयोगिता के विषय में लोगों को आकर्षित करता हो। हमारे यहाँ इस चीज की ओर बारीकी से विचार नहीं किया जाता। ट्रेनिंग की भी कोई व्यवस्था नहीं। जिसे पाया सेल्समैन बना दिया। सबसे पहले तो यह देखा जाता है कि हमारे ही नाते-रिश्ते का कोई आदमी बेकार तो नहीं। अगर है तो उसी को दूकान पर बैठा दो। भानजा है वह जहाँ-तहाँ जाकर लोगों से किताबों के लिए सम्पर्क बढ़ावेगा। बाबूजी रिटायर कर गए हैं। अब वे क्या करेंगे, दूकान देखेंगे। मगर इस तरह के कामों से जितना लाभ होना चाहिए उतना ही होता है। बाजार बढ़ नहीं पाता। बिक्री की सीमा बँध जाती है। लोग झींखते हुए कहते हैं कि बीस साल से किताबों के इस बिजिनेस में हूँ ; लेकिन अभी तक वही हाल है। मगर जिस तरह बिना पाँव के आदमी नहीं चल सकता उसी तरह बिना सेल्समैन के किताबों का रोजगार नहीं चल सकता।

और, सेल्समैन ! भाई, तुम्हारी हालत पर तो मुझे तरस आती है। किताबों का सेम्पुल लेकर आप इस तरह चल रहे हैं जैसे कोई सैनिक युद्धक्षेत्र में जा रहा हो। किताबों के बारे में इस तरह बातें कर रहे हैं जिससे साफ जाहिर हो जाता है कि आप किताबों के बारे में कोई जानकारी नहीं रखते। न कागज पहचानते हैं, न कागज का साइज जानते हैं, न छपाई की परख है और न लेखकों के नाम ही मालूम हैं ; फिर भी आप किताबों की बिक्री कर रहे हैं। माफ कीजिएगा। इस तरह काम नहीं होता। जब तक युद्ध की नीति-पद्धति सैनिक नहीं जानता, तब तक वह कदापि लड़ाई में सफल नहीं हो सकता। हाँ, अंग-भंग कराकर या जान बचाकर निकल भागे तो बात दूसरी है। आपको जानना चाहिए कि आप क्या काम कर रहे हैं। इस चीज की क्या आवश्यकताएँ हैं, इसकी खपत कहाँ होगी, कैसे होगी। आपको जानना चाहिए कि हम किन लोगों से मिलें और किससे किस तरह की बात करें।

बहुत-से सेल्समैन ग्राहकों का ही दृष्टिकोण रखते हैं। उसी तरह की बात करते हैं, उसी प्रकार का तर्क देते हैं और समझते हैं कि मैं ही ठीक हूँ। परन्तु सेल्समैन ग्राहकों से भिन्न होता है। उसके पास ग्राहकों के हर तर्क का सन्तोषजनक उत्तर होना चाहिए। अपने काम के प्रति निष्ठा तथा विश्वास चाहिए। तब ही वह अपने काम में सफल हो सकता है। ग्राहकों के पास अपने तर्क हैं। होने दीजिए। उससे आपका काम नहीं चलेगा। आपके पास तो इस बात का तर्क होना चाहिए कि किताब देकर आप उनके मनोरंजन और ज्ञान में वृद्धि कर रहे हैं। किताब खरीदना उनके लिए बहुत जरूरी चीज है। जब आप किताबों के प्रति दिलचस्पी जगाकर उनके द्वारा अपनी पुस्तकों की बिक्री कर सकेंगे तभी आप अच्छे सेल्समैन समझे जायेंगे।

तब आप अवश्य कहेंगे कि किताब उनके लिए भोजन-आच्छादन की तरह कौन-सी जरूरी चीज है जो वे खरीद ही लेंगे ? मैं कहूँगा कि

भोजन-आच्छादन के सिवा और भी बहुत-सारी ऐसी चीजें हैं जो बाजार में धड़ल्ले के साथ बिक रही हैं। लिपस्टिक, काजल, नेलपालिश, हजारों ऐसी चीजें हैं जिनके प्रति सेल्समैन शौक पैदा कराकर लाखों का सौदा कर लेते हैं। कोई भी आदमी अपनी इच्छा से जीवन का बीमा नहीं कराना चाहता; लेकिन बीमा की पालिसियाँ रोज बिक रही हैं। जीवन-बीमा की हालत तो यह है कि हम साढ़े बारह सौ जमा करते हैं तो हमें हजार रुपये मिलते हैं। फिर भी बीमा की पालिसियाँ बिकती रही हैं और बिकती ही जाती हैं। फिर, किताबों में ही ऐसी कौन-सी बात है जो वे बिक नहीं सकतीं? असल चीज है शौक पैदा कर देना। यह काम आप तभी कर सकते हैं जब आप किताबों के बारे में सब कुछ जानते हों। यहाँ अधकचरे ज्ञान से काम नहीं चलेगा। आपके पास पूरे तर्क होने चाहिएँ।

सेल्समैन के लिए पाँच गुण जरूरी हैं—अपने काम के प्रति पूर्ण विश्वास, व्यापार का तथा बातें करने का ज्ञान, कौशल, साहस और धीरज। अभी हाल में ही इंगलैंड के समाचार-पत्रों ने इस बात की ओर ध्यान दिया कि इंगलैंड में बने हुए सामानों का बाजार मन्दा हो गया है। उनके माल विदेशों में नहीं जाते। अगर यही हालत रही तो आगे चलकर भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। उस माल को निकालने के लिए आर्डर लेनेवाले और सेल्समैन की जरूरत है। उस सेल्समैन में किन आवश्यक गुणों का होना अनिवार्य है? इस प्रश्न के उत्तर में समाचार-पत्रों ने सेलसमैन के लिए इन पाँच गुणों का होना अनिवार्य बतलाया। एक बार फिर से सुन लीजिए — अपने काम के प्रति पूर्ण निष्ठा, व्यापार का तथा बातें करने का पूर्ण ज्ञान, कौशल, साहस और धीरज।

ग्राहकों की ओर से जो तर्क दिये जाते हैं वे असंख्य हैं। आप अपने पक्ष में कम-से-कम ६ अकाट्य तर्क अवश्य रखें। ग्राहक को विश्वास दिलावें कि आप उसके मन में किताबों के प्रति प्रेम पैदा कर रहे हैं। अपने अकाट्य तर्कों का मीठे-मीठे प्रयोग कीजिए। पहले-पहल आपको अपने आप से ही तर्क करना होगा। दोनों ओर के वजनदार उत्तर निकालने होंगे। आपको यह हमेशा खयाल रखना होगा कि प्रत्येक बिक्री का उद्गम आपका मन है। जहाँ जाकर आप फेल कर जाते हैं वहाँ बार-बार जाइए और उनके मन में किताबों के प्रति सच्चा प्रेम जगाइए। पुराने ग्राहकों से पाँच हजार का सौदा कर लेने की अपेक्षा नए ग्राहकों से पाँच रुपए का माल बेचना भी अधिक सफलता कही जायगी। नए ग्राहकों को आकृष्ट कीजिए। उन्हें इस बात से अवगत कराइए कि आप

(शेष पृष्ठ ८ के नीचे)

जीवन की कमाई और पुस्तकें



श्री शिशिरकुमार गुप्त

अमेरिका के अंकशास्त्रियों ने एक हिसाब निकाला था कि किस पेशे का व्यक्ति अपने जीवन-काल में कितना कमाता है। ये आँकड़े बड़े दिलचस्प हैं।

पेशा	काम के वर्ष	कमाई [डालर में]
१. डाक्टर	४२	१,०८,०००
२. वकील	४३	१,०५,०००
३. इंजीनियर	४३	६५,३००
४. कालेज के अध्यापक	४४	६६,३००
५. सामाजिक कार्य करनेवाले	४५	५१,०००
६. पत्रकार	४६	४१,५००
७. मंत्री	४४	४१,०००
८. पुस्तकालयाध्यक्ष	४६	३५,०००
९. अध्यापक	४५	२६,७००
१०. नर्स	४०	२३,३००
११. किसान	५१	१२,५००
१२. खेत-मजदूर	५१	१०,४००

यदि आप लेखक या पुस्तक-विक्रेता हैं तो एक बार इन आँकड़ों की परीक्षा कीजिये। आप सोचें कि किताबों की बिक्री की गुंजाइश कहाँ है? यदि डाक्टरों को लें, तो पाते हैं कि जो डाक्टर जितना अधिक कमाता है उसके पास अवकाश उतना ही कम है। पढ़ने का अवकाश उसे कम-से-कम मिलता है।

वकील दिमाग का काम करता है। उसे आराम के लिये फुरसत निकालनी ही पड़ती है। फुरसत के समय वह जी बहलाने के लिये पढ़ता है। गम्भीर अध्ययन से वह रुचि नहीं ले सकता। उसका पेशा भी कुछ ऐसा है कि वह अपराधियों और अपराधों के बारे में जानकारी रखे। उसका झुकाव अक्सर जासूसी पुस्तकों की ओर होता है। इससे अपराधों की जानकारी भी होती है और तबीयत भी बहल जाती है।

इंजीनियर का काम कुछ ऐसा है कि वह अपने का सदा थका-थका-सा पाता है। पढ़ने की ओर उसका झुकाव कम होता है। वह दिलचस्प किताबें चाहता है; मगर उनमें भी थोड़ी ही रुचि ले सकता है। कला सम्बन्धी पुस्तकों की ओर उसकी रुचि देखी जाती है।

कालेज के अध्यापक अपने विषय का गहरा अध्ययन करनेवाले होते हैं; लेकिन वे अपने कालेज के पुस्तकालय पर ही अधिक निर्भर करते हैं। साहित्य पढ़ानेवालों के अतिरिक्त दूसरा विषय पढ़ानेवाले प्रायः किताबें कम-से-कम खरीदते हैं।

पत्रकार पढ़ता है। उसे ऐसी पुस्तकें चाहियें जिनकी भाषाशैली आकर्षक हो तथा विषय भी ऐसा रहे कि उसकी दिलचस्पी बढ़ती जाय। वह हर तरह की पुस्तकों से दिलचस्पी ले सकता है, बशर्ते कि वह रोचक शैली में लिखी गई हो। हाँ, यह बात दूसरी है कि हमारे यहाँ पत्रकार गिनती में बहुत थोड़े हैं। जो हैं उनमें खरीदकर किताब पढ़ने के शौकीन बहुत ही कम नजर आते हैं। हमारे देश के पत्रकार विदेशी पत्रकारों के अनुपात में बहुत कम पाते हैं।

पानी में रहनेवाली मछली पानी पीने के लिये कुएँ पर नहीं जाया करती। पुस्तकालय में काम करनेवाले पुस्तकें खरीद कर नहीं पढ़ा करते। अध्यापकों को पढ़ना चाहिये और वे पढ़ना चाहते भी हैं; लेकिन कम वेतन और गृहस्थी का जंजाल उन्हें इस तरह घेरकर रखता है कि किताब खरीदने के लिये उनके हाथ आगे बढ़ नहीं पाते। जब वे पढ़ते हैं तो अक्सर बालोपयोगी पुस्तकों से रुचि लेते हैं। इससे

उन्हें बच्चों की मनोवृत्ति की जानकारी होती है।

नर्स बहुधा रोगियों के बीच रहती हैं, उनकी अपनी इच्छायें अपूर्ण रहती हैं। उन्हें रात के समय जगना पड़ता है। स्वेच्छानुसार वे जीवन बिता नहीं पातीं। वे अक्सर अतृप्त रहती हैं। उनका झुकाव अक्सर विलासितापूर्ण उपन्यासों की ओर अधिक रहता है।

बाकी बचे सबसे अधिक संख्या के किसान। इनमें अशिक्षा है। इसके अलावा किसान के जो लड़के पढ़ जाते हैं वे शहरों में रहकर नौकरी करना ही अधिक पसन्द करते हैं। किसानों का जीवन विशृंखल हो रहा है। प्रतिदिन बदलनेवाले नये कानून, टैक्स, पंचायत आदि के कारण उनका जीवन अजीब तरह का हो रहा है। जो किताबें उन्हें मिलती हैं उनमें वे अपनी समस्याओं का दर्शन कर नहीं पाते। उन्हें किताबों की जरूरत है। यदि हिन्दी के लेखक इस ओर ध्यान दें, तो एक मार्ग है।

फिर भी एक चीज होती है आदत, सो किताब खरीदने की आदत किसानों में कम है। लेकिन पहले उन्हें उनके मन के लायक किताबें मिलें भी तो!



(पृष्ठ ६ का शेष)

उनके हाथ किताब बेचना नहीं चाहते, बल्कि उनकी सेवा करना चाहते हैं। आप सचमुच उनकी सेवा की ओर ध्यान दीजिए।

हाँ, आपको अपने काम के प्रति लगन और विश्वास चाहिए; मगर लगन और विश्वास पूरी मात्रा में हो! अधकचरे विश्वास और हल्की-फुल्की लगन से काम नहीं चलता। सोलहों आने निष्ठा हो, तब काम चलेगा। दूसरी चीज है ज्ञान। उसे प्राप्त करने के लिए अपनी जानकारी बढ़ाते जाइए। काम कौशल के साथ करें। ग्राहक के सामने अपनी चीजों को पूर्ण विश्वास के साथ रखिए। उन्हें अपनी किताबों के प्रति आकृष्ट कीजिए, उनकी दिलचस्पी जगाइए, खरीदने की इच्छा पैदा कीजिए और बिक्री कीजिए।

मगर यह काम ऐसा नहीं कि बातों-ही-बातों में काम बन जाय। इस कूचे में भयंकर-से-भयंकर निराशाओं का सामना करना पड़ता है। पग-पगपर अरमान कुचले जाते हैं, घड़ी-घड़ी नैया डूबती नजर आती है। इसे सहन करने के लिए धीरज और सहिष्णुता बहुत आवश्यक है। अपने चेहरे पर जरा भी मैल न आने दीजिए। मन में निराशा की छाया तक न पड़ने पावे। हमेशा आपके चेहरे पर मुसकुराहट बनी रहे, हमेशा आप अच्छी-अच्छी किताबों के साथ जनता की सेवा के लिए तत्पर रहें। आपके सामने निराशा इसीलिए आती है कि आप उसे परास्त करते हुए आगे बढ़ें। आपका भविष्य उज्ज्वल है इसमें कोई सन्देह नहीं।



वैदिक भाषा में मैं बोलता हूँ कि 'विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्!' यह ऐसा गृहस्थ बननेवाला है कि जो इस तरह से गृहसेवा करेगा कि जिससे वह सारी दुनिया की सेवा कर सकता है और घर की सेवा भी कर सकता है।

—आचार्य विनोबा

पुस्तकें भी चलती हैं !



श्री प्रबोध बर्मन

प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेताओं का अनुभव है कि पुस्तकों में अपनी शक्ति नहीं होती। पुस्तक अपनी ताकत से आप चल नहीं पाती। पुस्तकों को चलाना पड़ता है। ग्राहक जल्दी किताब खरीदने को तैयार नहीं होते। जबरदस्ती उनकी इच्छा जगाकर उनके गले से किताबें मढ़नी पड़ती हैं। फिर भी हर चीज के अपवाद होते हैं। यहाँ उन २० पुस्तकों की सूची दी जा रही है जिनकी प्रतियाँ २० लाख से अधिक बिक चुकी हैं। इनमें कई पुस्तकें तो आज के बाजार में भी धड़ल्ले के साथ बिकती जा रही हैं। आइये, एक बार इन पुस्तकों पर नजर डाल लीजिये :

१. एलिस इन वन्डरलैन्ड [कैरोल]
२. बेन हुर ... ... [वैलेस]
३. क्रिस्मस कैरोल ... [डिकेन्स]
४. गान विथ द विंड ... [मिचेल]
५. हाउ टु विन फ्रेन्ड्स ऐन्ड इन्फ्लुएन्स पीपल ... ... [कारनेगी]
६. इन हिज स्टेप्स ... ... [शेल्डन]
७. इश्माएल ऐन्ड सेल्फ-रेज्ड ... [साउथवर्थ]
८. आइवनहो ... ... [स्कॉट]
९. लास्ट आफ द मोहिकँन्स ... [कूपर]
१०. लिट्ल वोमेन ... ... [अल्काट]
११. मदर गूज़ ... ...
१२. वन वर्ल्ड ... ... [वेन्डेल विल्की]
१३. द रोब ... ... [डौगलस]
१४. रॉबिन्सन क्रूसो ... ... [डेफो]
१५. सी हियर, प्राइवेट हरग्रोव्ह [हरग्रोव्ह]
१६. स्टोरी आफ द बाइबिल ... [हर्लबट]
१७. टाम सॉयेर ... ... [मार्क ट्वेन]
१८. ट्रेजर आइलैन्ड ... [स्टेवेन्सन]
१९. ए ट्री ग्रोज इन ब्रुकलिन ... [स्मिथ]
२०. अंकिल टाम्स कैबिन ... [स्टो]



बातों के टुकड़े

● लोगों का खयाल है कि रेडियो रखनेवाले समाचार जानने की सुविधा के लिए रेडियो रखते हैं; लेकिन अमेरिका के 'एडीटर ऐन्ड पब्लीशर' का कहना है कि ७ में केवल १ ही ऐसा व्यक्ति होता है जो समाचारों की सुविधा के खयाल से रेडियो रखता है। ज्यादा-से-ज्यादा लोग समाचारों के लिए समाचार-पत्र पर ही निर्भर करते हैं।

● मार्कट्वेन के ऊपर ३०५ पुस्तकें लिखी गई हैं जबकि मार्कट्वेन की लिखी हुई पुस्तकों की संख्या अमेरिका के अन्य लेखकों की अपेक्षा कम है।

● पूर्णियाँ कालेज के प्रिन्सिपल जनार्दन झा 'द्विज' ने सबसे पहले प्रेमचन्द जी पर पुस्तक लिखी थी।

● पढ़नेवालों को चाहिए कि वे अपने भोजन में 'विटामिन ए' की मात्रा पूरी रखा करें। विटामिन ए० की कमी का प्रभाव आँखों के ऊपर पड़ता है।

● अक्सर एक विचित्र बात देखने में आती है। पुरुष स्त्रियों को कहानी और उपन्यास पढ़ने की कम-से-कम सलाह दिया करते हैं। इसके विपरीत स्त्रियाँ हमेशा कहानी और उपन्यास पढ़ने की सलाह पुरुषों को दिया करती हैं।

● बहुधा पाया जाता है कि ४७ वर्ष की उम्र के बाद पढ़नेवालों के शौक में कुछ कमी आ जाती है।

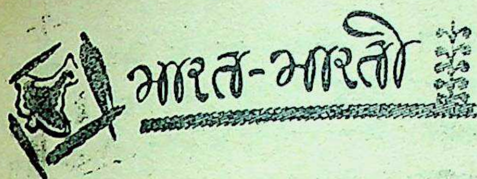
● पुस्तकों का व्यवसायी जब कहता है कि मैं इस धन्धे को छोड़कर कोई दूसरा व्यापार करूँगा, तो आपको यह समझना होगा कि यह आदमी अपने काम से एक सप्ताह की छुट्टी चाहता है।

● ६४ फी-सदी व्यवसायियों ने ४५ से ६५ वर्ष की उम्र के बीच सफलता पायी है। अगर आप ७० के हैं तब भी आपके लिए अवसर है। १० फी-सदी बड़े-बड़े काम करनेवालों की उम्र ७० से ८० साल तक की रही है।

● ज्योतिष-विद्या पर स्त्रियों का कम विश्वास होता है।

● सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक थामस एडिसन भाग्य या संयोग पर विश्वास नहीं करता था। उसका कहना था कि मेरा कोई भी आविष्कार संयोगवश नहीं हुआ है। मेरे सारे आविष्कार कर्म के प्रतिफल हैं।

● जेम्स ह्वाइटकौम्ब रिले ने एक कविता लिखी थी—"मेरी पुरानी प्रिया!" (An old sweetheart of mine) उस कविता की रायल्टी में उन्हें इतने रुपये मिले थे कि उसका औसत प्रति शब्द १५००) रुपयों से अधिक होता है।



भारतीय लिपि विकास : परम्परा



श्री देवव्रत सान्याल

"निरन्तर जन-मन को आयत्त करने की चेष्टा में निरत रहना ही मानव-मनोभाव का धर्म है। मनोभाव की इसी एकान्त आकांक्षा से, अत्यन्त प्राचीन काल से ही, कितने इंगित, कितनी भाषाएँ, कितनी लिपियाँ चलती आयीं; अनेक पेड़ों, पत्तों और कागजों पर—तूलिका से, कलम से और खोदनी से न जाने कितने लिखे गये;—आँक-जोख आदि के कितने प्रयास होते रहे। ऐसा इसलिये हुआ कि मैंने जो सोचा, वह एक मन से दूसरे मन में, एक काल से अनेक कालों में चिन्तित और अनुभूत हो कर प्रवाहित होते रहें। मेरे घर-द्वार, माल-असबाब शरीर-मन, और इस प्रकार मेरे सुख-दुःख की सामग्रियाँ नष्ट हो जायेंगी, केवल मैंने जो सोचा है, अनुभव किया है, वही चिरदिन मनुष्य की बुद्धि का आश्रय लेकर सजीव संसार के बीच संजीवित रहेगा।" (रवीन्द्रनाथ)

इसी एकान्त आकांक्षा ने ही, लिखना प्रारम्भ करने के लिए प्रेरणा दी है। मोहंजोदड़ो एवं हड़प्पा में जो पुरातत्त्व आविष्कृत हुआ है, उससे बहुत-सी लिपियों का पता चला है। उन लिपियों का पाठोद्धार आजतक नहीं हुआ है। पाठोद्धार होने से भारतीय सभ्यता का एक नया इतिहास आविष्कृत होगा। किन्तु, जो आविष्कृत इतिहास हमलोगों के सामने अभी मौजूद है, उसकी सहायता से भारतीय लिपि-विद्या के क्रमविकास की धारा का पता चलता है एवं यह कहा जा सकता है कि ख्रीष्ट-पूर्व पंचम शतक के पहले भी भारतवासी लिखना जानते थे।

सम्राट अशोक ने अपने अनुशासनों को दो प्रकार की लिपियों में उत्कीर्ण कराया था—एक खरोष्ठी लिपि और दूसरी ब्राह्मी लिपि। यह खरोष्ठी लिपि फिनिशीय वर्णमाला से आई है। यह दाहिने से बाँयी ओर लिखी जाती थी एवं अफगानिस्तान और पंजाब में व्यवहृत होती थी। अशोक-राज्य के इतर राज्यों में ब्राह्मी लिपि का ही प्रचलन था। यह लिपि बाँये से दाहिनी ओर लिखी जाती थी और वर्त्तमान काल की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं, जैसे, देव-नागरी, बंगला, उड़िया, मैथिली, शारदा, गुरुमुखी, मराठी प्रभृति ने इस ब्राह्मी के विकार से ही जन्म प्राप्त किया है। ब्राह्मी लिपि के समान ही वे बाँये से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं। अधिकांश क्षेत्रों में ब्राह्मी लिपि के बाँये से दाहिनी ओर लिखित होने पर भी, ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक की प्राप्त एक मुद्रा के अनुसार उसके दाहिने से बाँयी ओर लिखे जाने का प्रमाण उपलब्ध हुआ है। कुछ लोग इस दृष्टान्त के अनुसार प्रमाणित करना चाहते हैं कि ब्राह्मी-लिपि भी फिनिशीय वर्णमाला से उद्भूत है। इस मत को स्वीकार करना कष्टसाध्य है। किन्तु फिनिशीयों से वाणिज्य-व्यवहार की ही यह परिणति है—यह सिद्धान्त ही समीचीन मालूम होता है। ब्राह्मी-लिपि में संस्कृत और प्राकृत लिखी जाती थीं। "अरण्यों ने कितने दिनों तक रोदन किया—अशोक की महावाणी कितने शतवर्षों तक मानव-हृदय का मूक संकेत से आह्वान करती रही। उस अरण्य-पथ से कितने राजपूत गये, पठान गये, वर्गियों की तलवारें विद्युत की भाँति क्षिप्र-वेग से दिग-दिगन्त में कठोराघात करती चलीं—किन्तु किसी ने उन इंगितों को नहीं समझा। समुद्रपार के जिस क्षुद्र द्वीप की बात की कल्पना अशोक ने कभी न की थी—शिल्पी जब पाषाण-

फलक पर अशोक के अनुशासनों को उत्कीर्ण कर रहे थे, जिस द्वीप का अरण्यचारी "द्रुयिद-गण" अपनी पूजा के आवेग में भाषाहीन प्रस्तर-स्तूपों को स्तम्भित कर रहा था—सहस्र वर्षों के बाद उस द्वीप से एक विदेशी ने आकर कालान्तर के मूक इंगित पाश से उनकी भाषाओं का उद्धार किया था। राज-चक्रवर्त्ती अशोक की इच्छा इतने वर्षों के बाद पूरी हुई।" (रवीन्द्रनाथ)

भारतीय ऐतिहासिक और भारतीय इतिहास-प्रिय जनसाधारण बराबर इस विदेशी के ऋणी रहेंगे। इस विदेशी का नाम है—"जेम्स प्रिन्सेप" । सन् १८३७ ई० में उसने इस लिपि का पाठोद्धार कर इतिहास के एक नये अध्याय की सूचना दी थी। प्रो० बूलार, कनिंघम प्रभृति विदेशियों के निकट भारतीय ऐतिहासिक ऋणी हैं। प्रो० बूलार प्रणीत "Indian Paleography" आज भी लिपिविदों के लिये आकर-ग्रन्थ है।

किस समय भारतवर्ष में पहले-पहल लिखना प्रारम्भ हुआ था, यह आज भी निरूपित नहीं हुआ है। प्राचीन भारतीय-साहित्य में भी इसके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं है। विभिन्न ग्रन्थों के रचना-काल को लेकर पण्डितों में प्रचण्ड मतभेद आज भी है। डा० बुलार के अनुसार वशिष्ठ के "धर्म-सूत्र" का रचना-काल खीष्ट-पूर्व अष्टम शतक है और कुछ लोग कहते हैं कि यह खीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक का है। अध्यापक गोल्डष्टुकर कहते हैं कि पाणिनि का रचना-काल है खीष्ट-पूर्व अष्टम शतक और कोई कहते हैं कि यह है चतुर्थ शतक। इन दोनों ग्रन्थों में ... लिपि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि मौखिक काव्य की रचना हो सकती है किन्तु मौखिक व्याकरण की रचना असम्भव है। पाणिनि के अष्टाध्यायी-सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन है कि पाणिनि ने मौखिक रचना की थी। गुरु के निकट जुबानी सुनकर शिष्य शिक्षालाभ कर सकता है, किन्तु उससे लिखित ग्रन्थ के अस्तित्व की सम्भावना नष्ट नहीं होती है।

सन् १८९८ ई० में कर्नल क्लाकसटन द्वारा उद्घाटित पिप्पराया नामक स्थान में आविष्कृत एक पात्र पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लिपि का आनुमानिक काल खीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक है। यही आविष्कृत लिपियों में प्राचीनतम है। इसके बाद का निदर्शन है सोहगरा ताम्र-लिपि—यह ब्राह्मी लिपि में लिखित है—डा० स्मिथ के मतानुसार यह लिपि अशोक से अर्द्ध-शताब्दी पूर्वकाल की है। खीष्ट-पूर्व तृतीय शतक में अशोक के समय से इस लिपि का एक धारावाहिक इतिहास मिलता है। खीष्ट-पूर्व तृतीय शतक में अशोक ने साम्राज्य के विभिन्न अंशों में अपने अनुशासनों को उत्कीर्ण कराया था। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने यह काम मुष्टिमेय जनसाधारण के लिये कभी नहीं कराया था एवं यह निश्चित है कि उस समय जनसाधारण भी उस लिपि से अभिज्ञ थे।

विभिन्न युगों में यह लिपि अति स्वाभाविक कारण से ही परिवर्त्तित हुई है एवं गुप्त-युग में ही हमलोगों ने प्रादेशिक वर्ण-मालाओं में पहले-पहल स्वातन्त्र्य लक्ष्य किया था। उसके बाद यह वर्णमाला षष्ठ एवं सप्तम शताब्दी में पूर्व और पश्चिम भारत में दो स्वतन्त्र पद्धतियों से लिखी जाती थी। पश्चिम-भारत में व्यवहृत सिद्ध-मातृका वर्णमाला ही रूपान्तरित होती हुई नागरी में परिणत हुई है—और पूर्व-भारत की वर्णमाला से बंगला लिपि की उत्पत्ति हुई है। उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रण-यन्त्र प्रवर्तित होने के कारण इन सभी लिपियों को निर्दिष्ट रूप मिला है। "प्राचीन युग के अक्षर जैसे-जैसे बदलते गये, वैसे ही वे संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भाषाओं में लिखित होते आये।

नागरी या देव-नागरी लिपि में पहले संस्कृत ग्रंथ अधिक छापे जाते थे, इस आधार पर कुछ लोग सोचते हैं कि देवनागरी संस्कृत की स्वकीय लिपि है एवं जैसे संस्कृत से बंगला भाषा की उत्पत्ति हुई है, वैसे ही देव-नागरी से बंगला लिपि का उद्भव हुआ है। किन्तु, वास्तव में यह ठीक नहीं है। देव-नागरी और बंगला परस्पर भगिनी-स्थानीय हैं—दोनों ब्राह्मी लिपि से स्वाधीनरूप से उद्भूत हैं। देव-नागरी का आदि-स्थान है गुजरात, राजपूताना और पश्चिम हिन्दुस्तान। पूर्व काल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में देव-नागरी लिपि संस्कृत लिखने के लिये ही व्यवहृत होती थी—समग्र भारतवर्ष में इसका प्रचलन नहीं था। अंग्रेजों के काल में विभिन्न विश्वविद्यालयों की प्रचेष्टा से देव-नागरी लिपि को ही भारतीय सार्वजनीन लिपि बनाया गया है—इस प्रकार विगत लगभग अस्सी-नब्बे वर्ष के भीतर भारत के विभिन्न प्रदेशों में संस्कृत के कारण ही एक लिपिगत ऐक्य आया है। यद्यपि उड़िया, बंगला, तेलेगु, मलयालम प्रभृति वर्णमालाओं में आज भी यथेष्ट परिमाण में संस्कृत किताबें छापी जाती हैं।"* किन्तु, देव-नागरी से उनका कोई आन्तरिक योग नहीं है एवं देव-नागरी अक्षर में मुद्रित संस्कृत-पुस्तकें आज उन सबों के लिये दुर्बोध्य हैं। संस्कृत का पठन-पाठन भी इसलिये आज क्रमावलुप्त है।

* भाषा-प्रकाश : बंगला व्याकरण— श्री सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय,—पृ ५०३





मायकोवस्की : वास्तविकता



श्री के० एस० कारोल

मास्को विश्वविद्यालय में फ्रांस की अठारहवीं शताब्दी के साहित्य पर एक भाषण-माला प्रस्तुत करने के लिए गत अक्टूबर (१९५८) को सोरबोन के तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर एम० एटिम्बल आमंत्रित किये गये थे। वापसी में उन्होंने बताया कि छात्रों के बीच वार्तालाप का मुख्य विषय दुदिन्त्सेव अथवा कोचेकोव की पुस्तकें नहीं, बल्कि सोवियत की विज्ञान-अकादमी द्वारा मायकोवस्की पर प्रकाशित एक किताब थी, जिनमें कि अब तक के अप्रकाशित कागजात, जैसे ट्राटस्की को मायकोवस्की द्वारा लिखा गया पत्र, शामिल हैं।

यह पुस्तक, जिसका नाम 'Fresh Light on Mayakovasky' है—इस समय पश्चिम में प्राप्त है। कागजातों में मायकोवस्की द्वारा, बिना हस्ताक्षर और बिना इस संकेत के कि यह किसके नाम से संबंधित है, पहली सितम्बर १९२२ का एक लम्बा स्मृति-पत्र है। सोवियत के विशेषज्ञ चूँकि इसे मायकोवस्की और ट्राटस्की के बीच पत्र-व्यवहार का एक अंश मानते हैं इसलिए, अगर यह बात गलत भी हो, यह पत्र महत्त्वपूर्ण है। लंबे कलेवर की इस पुस्तक में सत्योद्घाटन करने वाली कुछ अन्य हस्तलिपियाँ भी हैं जिनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है। कुल मिलाकर, सोवियत बुद्धिजीवियों के लिए यह ख्रुश्चेव द्वारा बीसवीं काँग्रेस में दिये गए गुप्त भाषण से कम झकझोरनेवाला नहीं हो सकता है।

गोर्की से भिन्न, सोवियत लेखकों के बीच मायकोवस्की अत्यन्त कीर्तिशाली हैं। प्रत्येक नगर में उनके नाम से एक चौक अथवा सड़क, एक कारखाना अथवा स्कूल है। उनके ग्रन्थ एक बार नहीं, कई बार लाखों की संख्या के संस्करणों में प्रकाशित हुए हैं और सोवियत-साहित्य के सरकारी पाठ्यक्रम के आधार-ग्रन्थ माने गये हैं। इससे यह धारणा बनती है कि साहित्य का बनैला बीज बोने के बाद मायकोवस्की भविष्यवादियों से पृथक होकर काव्य में समाजवादी यथार्थवाद का अगुआ हो गया। अन्य सभी सोवियत लेखकों की अपेक्षा उसने राजनैतिक संघर्ष की सबसे बढ़कर हिमायत की, क्रांति के दुश्मनों के क्रूर खात्मे का वह अभिनेता था—संक्षेप में भविष्य में स्तालिन-प्रणीत पर्ज का औचित्य-मीमांसक था।

मायकोवस्की की अपनी ही लेखनी ने, कम-से-कम कुछ हद तक इस कपोल-कल्पना को झुठलाया। पूर्वोक्त रचनाओं के स्वरूप, समाजवादी यथार्थवादियों द्वारा रचित स्तरों से अत्यन्त निम्न थे। किन्तु उसके भाषणों के कुछ अंश, जिन्हें सन्दर्भ से छाँट-छाँट कर निकाला गया था, उसको अपने पक्ष की सूची में नत्थी करने के लिए स्तालिनवादी सिद्धांत-शास्त्रियों द्वारा व्यवहार में लाए गए। उदाहरण के लिए, मायकोवस्की के 'Selected works' (१९५३) में पर्त्सोव की प्रस्तावना में कथन है : 'मायकोवस्की ; काव्य में समाजवादी यथार्थवादी ढाँचे, एक ढाँचा जिसने कि उसके क्रांतिकारी विकास की वास्तविकता को सही-सही चित्रित किया ; का एक उत्सुक शिष्य हो गया।' नई पुस्तक में इस विषय पर कोई चर्चा नहीं है, बल्कि इसमें जो सामग्रियाँ हैं उनसे, बिना किसी शंका की गुंजाइश के, यह स्पष्ट होता है कि समाजवादी यथार्थवाद की तरफदारी से बहुत दूर, कवि मायकोवस्की इसका

तीव्र विरोधी था और कम्युनिस्ट कलाकारों पर इस प्रकार के किसी शुष्क सिद्धांत के लादे जाने के प्रयास के खिलाफ उसने खूँखार लड़ाई लड़ी थी।

चित्र-कला के सम्बन्ध में उसके द्वारा दिए गए ६ फरवरी १६२५ के एक भाषण का अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"मैंने हाल में सोवियत चित्रकारों की एक प्रदर्शनी देखी और मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहूँगा : क्या इसी को आप संस्कृति कहते हैं? मैंने कामरेड ब्रोदस्की का 'कामिन्टर्न इन सेशन' नामक एक चित्र देखा, और जिस निन्द्य गहराई के साथ कुरुचि और कुत्सा के प्रति कम्युनिस्ट चित्रकारों का झुकाव है उससे मैं विक्षुब्ध हो गया। साथियो, क्षमा करें, मैं कामिन्टर्न के नेताओं के इस चित्र और १६०१ में रेपिन द्वारा चित्रित किये गये जार की राज-परिषद् के चेहरों में कोई अन्तर नहीं पाता हूँ। इसके बावजूद कि जिनका मैं हृदय से आदर करता हूँ, उन चेहरों में मैं कोई अन्तर नहीं पाता हूँ।"

इस शुरुआत के बाद मायकोवस्की उन छद्म-कलाकारों, जिन्होंने प्रमुख वक्ताओं का चित्र बनाने के लिए सरकारी बैठकों में प्रवेश पाया था, के खिलाफ कठोर अभियान करने लगा और जो बात चित्रकला के सम्बन्ध में सत्य थी, वही सत्य नाटक, सिनेमा तथा अन्य सभी कला-रूपों के सम्बन्ध में भी था। मायकोवस्की ने कहा कि वह जारकालीन रूस के बुर्जुआ से उत्तराधिकार-रूप में आयी हुई क्लासिकल कलाओं के विरुद्ध है, और एक नई साम्यवादी कला के लिए, क्रांतिकारी, केवल वस्तु में ही नहीं बल्कि इसके स्वरूप में। नौजवान सोवियत छात्रों के लिए आज यह पढ़ना अवश्य आश्चर्यपूर्ण होगा कि मायकोवस्की ने खुलकर, और आमतौर से, स्तानिस्लावस्की नेमिरोविच दन्चेन्को का यह कह कर उपहास किया कि मेयरहोल्ड—जिसकी अभी तक नियमवादी कहकर भर्त्सना की जाती है—सच्चा क्रांतिकारी नाटककार था। मायकोवस्की कहता है कि कम्युनिस्ट लेखकों और कवियों का लक्ष्य टालस्टाय और पुश्किन की कृतियों की नकल करना नहीं बल्कि पूर्णरूप से उभार में लाकर साहित्य को क्रांतिमुख बना देना है।

अपनी इसी सिद्धि के लिए, और उनलोगों से लड़ने के लिए जिन्हें वह 'जीर्ण-शिल्पी' की संज्ञा देता था, मायकोवस्की ने Lef. नामक पत्र की बुनियाद डाली। उसके इस अभियान का इतिहास स्वयं मायकोवस्की द्वारा अपनी पत्नी और अपनी पत्नी के पहले पति आस्कर ब्रिक को लिखे गए पत्रों से जाना जा सकता है। एक परिचयात्मक टिप्पणी में लिलि ब्रिक कहती है कि जब वह मायकोवस्की से मिली थी तो वह विवाहिता थी, किन्तु चूँकि मायकोवस्की और उसके पति आपस में बेहद घनिष्ट मित्र थे, इसलिए उसने लिखा : 'हमलोगों ने अपना जीवन आध्यात्मिक रूप से बिताया और अधिकांश समय दैशिक तौर पर, तीनों ने साथ-साथ रहकर।' मायकोवस्की के शत्रु अपने भाषणों में प्रायः ब्रिक का उल्लेख, उसे उच्छृंखल बताते हुए, कवि मायकोवस्की की दुष्प्रेरणा के रूप में करते हैं।

Lef. ने अन्य पत्र-पत्रिकाओं और यहाँ तक कि प्रवदा और इज्वेस्तिया के भी विरुद्ध कुछ भयानक युद्ध किए। आज के विद्यार्थी को यह जानकर बड़ा ताज्जुब होगा कि प्रवदा और इज्वेस्तिया उन दिनों आजकल की भाँति कोई धार्मिक आदेश-पत्र नहीं माने जाते थे और एक अच्छा कम्युनिस्ट तथा क्रांतिकारी लड़ाका, मायकोवस्की की तरह, उन पत्रों को चुनौती देने का अधिकार रखता था। कला के

क्षेत्र में किसी प्रकार के एकाधिपत्य के दुश्मन मायकोवस्की ने २२ जनवरी १६२३ के 'क्रुजक' में लिखा :

"साम्यवादी कला का क्षेत्र लचीला है जो संक्षिप्त परिभाषाओं एवं सिद्धांतीकरण तक संकुचित नहीं।"

Lef. केवल १६२३ और १६२५ के बीच चालू रहा। पुनः दो वर्षों के मध्यान्तर के पश्चात्, यह १६२७ और १६२८ के बीच New Lef. के नाम से उपस्थित हुआ— 'सरकारी आलोचना' के प्रति अपनी ठोस मुखालफत को बरकरार रखते हुए। एक उल्लेखनीय उदाहरण इज्वेस्तिया में पोलोंस्की द्वारा Lef. पर किए गए आक्रमण के प्रत्युत्तर में २३ मार्च, १६२६ का मायकोवस्की का भाषण है। मायकोवस्की ने स्मरण दिलाया है कि यह उसीके पत्र की खूबी है कि सोवियत के उन महान् साहित्यिक व्यक्तियों को, जो सरकारी रुचि से बहुत दूर पड़ गए, पाठक भी मिल सके। उसने 'इजाक बबेल' (१६२४ में) का एक निदर्शन प्रस्तुत किया :

"साथियो, जबकि तीन वर्ष पूर्व बबेल इस राजधानी में अपनी लघु-कथाओं का संकलन लेकर आया था, उसका स्वागत संगीनों से किया गया था। उनलोगों ने उसे कहा था : "अगर सचमुच ऐसी बातें तुमने लाल-घुड़सवारों के बीच पाई थीं तो तुम्हें समादेशक-अधिकारी को सूचित करनी चाहिए थी, बजाय इसके कि तुम इन बातों को अपनी कहानियों में दर्ज करते।" दूसरों ने कहा : "क्यों यह आदमी स्वर्ग के बारे में लिखता है, जैसे कि हमलोगों के पास ऐसी परिस्तानी कहानियाँ काफी संख्या में हों ही नहीं। यह साहित्य नहीं है।" इसके बाद बबेल Lef. के कार्यालय में हमलोगों के पास आया, और, चूँकि हमलोग घिसी-पिटी आलोचनाओं की नीति के खिलाफ थे, हमलोगों ने उन कहानियों को प्रकाशित किया। आज, इज्वेस्तिया भी, पोलोंस्की के मुँह के जरिये यह स्वीकार करता है कि हमलोगों ने बबेल की कहानियों को प्रकाशित करके ठीक किया था और यह भी कबूल करता है कि बबेल सोवियत-साहित्य का एक अति मूल्यवान रत्न है।"

आज जिन्होंने इन विस्मृत और अप्रकाशित भाषणों को पढ़ा है, उन्हें मालूम है कि उस 'अति मूल्यवान रत्न' को कैसा भविष्य देखना पड़ा। बबेल, जो स्तालिन-प्रणीत पर्ज की अवधि में गोली से उड़ा दिया गया, ही एकमात्र ऐसा शव नहीं है जो इन उपर्युक्त कागजातों में पुनः हाजिर हुआ है। मेयरहोल्ड, पिल्नक, बुखारिन (जिसे कि मायकोवस्की ने काव्य के एक बहुत बड़े अधिकारी कलाकार के रूप में पेश किया है), कोल्तजोव तथा अन्य अनेकों जो पाठकों की दृष्टि से गुजरते हैं, यहाँ ईमानदार आदर्शवादियों और सचमुच विश्वासी कम्युनिष्ट योद्धाओं के रूप में उपस्थित किए गए हैं।

यह भीरु तथा अर्ध-लज्जाजनक पुनःस्थापन नहीं है, बल्कि स्तालिनवादी आतंकों के शिकार होनेवालों के प्रति श्रद्धांजलि का एक सच्चा आडम्बर है। इसके अलावा, उन खतों में, मायकोवस्की के नोट-बुक में, एक अप्रकाशित कविता के रूप में समय को ताक कर मारा गया एक बम है। इसका शीर्षक 'सम्राट' है और यह रूस के शाही परिवार की हत्या के ग्यारह वर्षों बाद स्वर्दलोवस्क के नाम लिखी गयी थी। इसमें मायकोवस्की ने लिखा है :

"जब मुझे एक आदमी की उम्र को कम करने के लिए कहा जाता है तो मैं अपना मत इसके खिलाफ प्रकट करता हूँ। एक अत्यन्त निकम्मा जीवित आदमी भी, बहुत ही जंगली मनुष्य भी, एक मृत व्यक्ति से अधिक काम का है। हमलोग, जिन्होंने कि इतिहास की गति

को मोड़ दिया है, जिन्होंने कि पुरानी समाज-व्यवस्था को सदा के लिए खुरच कर अलग कर दिया है, हमलोग, कम्युनिस्ट और मनुष्य, अपने हाथों से खून को टपरते नहीं देख सकते।"

मायकोवस्की को आतंकवाद का हिमायती बतलानेवाली सतर्कतापूर्वक पोषित सरकारी कपोल कल्पना के नाम, इतना ही।

अंत में, यह क्या सच है—जैसा कि सभी सरकारी जीवनवृत्तों में कहा गया है—कि लेनिन और स्तालिन ने मायकोवस्की को मित्रवत् संरक्षण दिया? पुस्तक में एक बार भी स्तालिन के नाम का उल्लेख नहीं है, किन्तु कुछ पृष्ठों में मायकोवस्की के प्रति लेनिन के 'नकारात्मक' रुख की चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत ६ मई १९२१ को मंत्रिमंडल की बैठक के समय लूनाचर्स्की को लेनिन की लिखी गई एक हस्तलिपि की प्रतिलिपि भी है। "क्या तुम लज्जित नहीं हो", इस हस्तलिपि में प्रश्न है, "मायकोवस्की के 'One Hundred and Fifty Millions' को पाँच हजार प्रतियों के संस्करण में प्रकाशित करने के लिए? मेरी राय में, उसका केवल दशांश ही प्रकाशित होने के लायक है, और पुस्तकालयों आदि के लिए पंद्रह सौ प्रतियों से अधिक नहीं।"

सत्य ही, मायकोवस्की की कविताओं में से, एक ने, जिसमें नौकरशाही पर आक्रमण किया गया था, लेनिन को प्रसन्न किया था, और लेनिन ने सन् १९२२ की धातुशोधकों की कांग्रेस में इसकी पूरी चर्चा की थी। किन्तु, इस कथन का भी संपादन स्तालिनवादियों ने किया, जैसा कि इस नए ग्रन्थ से प्रकट होता है। उन्होंने लेनिन का जो वाक्य उद्धृत किया वह इस प्रकार है: 'काव्य की खूबियाँ चाहे जो हों, मैं इसका जिम्मा लेता हूँ कि राजनीतिक विचारधारा के अंशरूप में यह ठीक है।' इसके पूर्व का जो वाक्य स्तालिनवादियों ने गोल कर दिया, वह इस प्रकार है: 'मैं इस कवि का प्रशंसक नहीं हूँ, यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इस क्षेत्र में दखल देने की अपेक्षित योग्यता मुझमें नहीं है।'

इन रहस्योद्घाटनों के चलते लेनिन की ख्याति, जो कहीं अधिक ठोस नींव पर स्थित है, में बट्टा लगना संभव नहीं। किन्तु नौजवान रूसी, जो 'One Hundred and Fifty Millions' जैसी कविताओं से हार्दिक रूप से परिचित हैं और इन कविताओं के प्रशंसक हैं, यह चीज़ नोट कर सकते हैं कि महान् शिक्षक (लेनिन) जीवन के हरएक पहलू का सर्वदा सर्वोत्तम न्यायाधीश नहीं था, और उसमें इस बात को स्वीकार करने की ईमानदारी थी। किन्तु नौजवान रूसी अपने आप से पूछ सकते हैं कि स्तालिन, ख्रुश्चेव अथवा प्रेसीडियम के किसी अन्य सदस्य को जीवन के हर एक पहलू में इस प्रकार का खोखला अधिकार-ज्ञापन करने का क्या हक है? क्या लेनिन के समान गलतियाँ इनसे नहीं हो सकती हैं?

जहाँतक मायकोवस्की का प्रश्न है, ये कागजात उसकी ख्याति में वृद्धि करनेवाले हैं, क्योंकि ये मायकोवस्की को एक परोपकारी, तीव्र, उत्साही और पूर्णरूप से मौलिक मनुष्य के रूप में प्रकट करते हैं। वास्तव में इन कागजातों के माध्यम से, आत्महत्या के २८ वर्षों बाद आज, अपनी शहादत की प्रेरणा से मायकोवस्की अपने देश की सेवा कर सकता है; क्योंकि कपोल-कल्पनाओं को नष्ट करके और राजनैतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए जिस तरीके से उसकी कविताओं को हथकं[illegible] बनाया गया उस भेद को खोलकर, वह नौजवान सोवियत बुद्धिजीवियों को सरकारी प्रवचनों के प्रति सावधान रहने और स्वतः सत्य की छानबीन में प्रवृत्त रहने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है।

—अनुवाद: वन्यकुसुम



मुद्रण : अक्षर-समस्या



श्री शुभेन्दु

पाठक के समक्ष भाव-प्रकाश के लिए लेखक का एकमात्र हथियार कलम ही है, किन्तु जनसाधारण के पास उसके वक्तव्य को पहुँचाने का दायित्व मुद्रण-यन्त्र पर ही निहित है।

हमारी वर्णमाला में स्वर और व्यंजन वर्णों को मिलाकर कुल ६५ अक्षर हैं, किन्तु मुद्रकों की अक्षर-समष्टि है लगभग ४८३। यति-चिह्नादियों की तादाद को छोड़ देने पर, किसी भी भाषा का मुद्रित रूप अकल्पनीय है। किन्तु, मुद्रण में संयुक्त वर्णों के आधिक्य ने ही सारी समस्या को बढ़ाकर रख दिया है। हाथ से कम्पोज करने पर मुद्रक को ४८३ से अधिक अक्षरों का व्यवहार करना पड़ता है और हाथ से कम्पोज कराने या हाथ-कम्पोज वाली पुस्तकों की मात्रा सारे विश्व में संख्यागरिष्ठ ही है। हमारे यहाँ कम्पोज कराने के दो प्रकार के यंत्र प्रचलित हैं—मोनोटाईप और लाईनोटाइप। मोनोटाइप के द्वारा संयुक्त अक्षरों को रखने पर अक्षर-संख्या होती है ३१६। लाइनोटाइप में संयुक्त अक्षरों की व्यवस्था के सीमित होने और 'कार' और 'फला' का व्यवच्छेद करने पर भी अक्षर-संख्या २६२ से कम नहीं हो पाती। अंगरेजी और रोमन वर्णमाला को हाथ या यंत्र से कम्पोज करने पर अक्षरों की संख्या एक ही—अर्थात् लगभग ८० ही—रहती है। क्योंकि, अंगरेजी में संयुक्ताक्षरों वाला बखेड़ा नहीं ही कहा जा सकता है। इस प्रकार, अपनी भाषा में मुद्रण की समस्या क्षिप्रता की कमी है, और क्षिप्रता की कमी का अर्थ हुआ मुद्रण-व्यय। उदाहरण-स्वरूप, कहा जा सकता है कि यदि अंगरेजी में एक घंटे में एक पृष्ठ कम्पोज किया जा सकता है तो अपनी भाषा में हमें एक पृष्ठ के लिए लगाना होगा डेढ़ घंटा, और अंगरेजी का एक पृष्ठ अपनी भाषा में मुद्रित होगा सवा से लेकर डेढ़ पृष्ठ।

अंगरेजी वर्णमाला के संस्कार के संबंध में जार्ज बर्नाड शॉ जो 'विल' कर गए हैं, उससे इस समस्या के गुरुत्व पर और भी प्रकाश पड़ता है। बर्नाड शॉ ने अंगरेजी वर्णमाला के २६ वर्णों के बजाय, सम्राट पंचम जार्ज के अंगरेजी उच्चारण के आधार पर, स्वर और व्यंजन मिलाकर ४० वर्ण बना देने का विचार दिया है। उदाहरणस्वरूप, कहा जा सकता है कि अंगरेजी में—cough और thought; bone, gone, done और mouse; rose, casual और sugar आदि—शब्दों में एक ही स्वर या व्यंजन वर्ण के विभिन्न उच्चारणों की जटिलता के समाधान के लिए ही उक्त 'विल' द्वारा सन्धान की माँग की गई है। उनकी युक्ति जो भी हो, किन्तु विलायत के मुद्रकों ने अबतक उसे ग्रहण नहीं ही किया है। यदि २६ वर्णों के बजाय मुद्रण-वर्णमाला को इस प्रकार अधिक-संख्यक कर दिया जाय, तो अंगरेजी कम्पोज के सभी मौजूदा लाइनो और मोनो वाले यंत्र एक साथ बदलने पड़ेंगे, मुद्रकों के मूलधन-खातों में विराट व्ययस्फीति की अपेक्षा होगी और अंगरेजी मुद्रण का व्यय बहुपरिमाण में बढ़ेगा—यह सोचकर भी शायद वे आतंकित हुए हों। २६ अक्षरों की जिस सेना ने समस्त विश्व के ज्ञान-विज्ञान, सागर-तरंग, सम्पन्न भूमि और मरु-प्रांतों पर जय का झंडा गाड़ रखा है—उस जय की गति इस संशोधन से व्याहत होगी, यह आशंका कोई अकारण नहीं है।

अंगरेजी के मुकाबले हमारी वर्णमाला के अक्षरों की संख्या कितनी बढ़ी हुई है, इसके हम जानकार हैं ही। समस्या है कि हमारे कम्पोजीटरों को जिस अक्षर-केस से एक-एक अक्षर चुनकर कम्पोज करना पड़ता है, उस अक्षर-केस में विभिन्न अक्षरों के स्थान नियुक्त करने में काफी अराजकता का सामना करना पड़ रहा है। इस अराजकता का प्रारंभ भारत में सबसे पहले मुद्रण के प्रयोजनस्वरूप ही हुआ था, जबकि श्रीरामपुर प्रेस से बंगला भाषा में भारत की सबसे पहली आधुनिक छपाई वाली पुस्तक बाइबिल का मुद्रण हुआ। अंगरेज ही बंगला भाषा और भारतवर्ष के प्रथम मुद्रक थे। अंगरेजी अक्षरों के कम्पोजिंग में वे तेज तो थे ही। बंगला मुद्रण के लिए उन्होंने श्रीरामपुर के बंगाली मिस्त्री पंचानन कर्मकार से सहायता ली और जिस यंत्र से अंगरेजी अक्षरों की ढलाई होती थी, उसी में बंगला अक्षरों के 'डाई' बनवा कर लगवाए और अपनी जैसी सरलता से ही बंगला अक्षरों की ढलाई शुरू की। बंगला छपाई के सम्बन्ध में उनके कर्तव्यों की इतने में ही इतिश्री हो गई। उसके बाद लगभग ४८३ संख्यक विभिन्न अक्षरों को टाइप केसों में सजाने की—जिससे कि कम्पोजीटर नियमित रूप से उन्हें उठाकर कम्पोज कर सकें—बात आई। अंगरेजों के समक्ष इस स्थान-निर्णय की समस्या का उस समय कोई मूल्य नहीं हुआ। उन्होंने अंगरेजी के दो केसों की प्रणाली की जगह, बंगला के अक्षराधिक्य के लिए, बढ़ा कर चार केसों की प्रणाली कर दी एवं अंगरेजी के प्रधान केस में जो अक्षर जहाँ रहते थे, उच्चारण-साम्य के आधार पर उन्हीं-उन्हीं स्थानों पर बंगला अक्षरों को रखकर रूपान्तरण भर कर दिया। अर्थात् केस में जो स्थान था 'एल' का वहाँ 'ल', 'बी' की जगह 'ब', 'टी' की जगह 'त', 'एन' की जगह 'न', 'डी' की जगह 'द', 'सि' की जगह 'क' इत्यादि कर दिया और इस केस सजाने की प्रणाली का नाम धर दिया—'विद्यासागर-शैली'! जैसे कि विद्यासागर महोदय की राय से ही वह केस तैयार हुआ हो! अंगरेजी अक्षरों के लिए केस नियुक्त करने के पूर्व, अंगरेजी शब्द-समूह में वर्ण-व्यवहार की पौनःपुनिकता और एक वर्ण के साथ दूसरे के स्थान-पारस्पर्य के संबंध में जो गवेषणा कर ली गई थी एवं उस गवेषणा का सारा श्रेय एक मुद्रक को उपलब्ध हुआ था, यह बात केरी मार्शमैन आदि प्रमुख मुद्रण-विशेषज्ञ नहीं जानते हों, यह बात नहीं हो सकती। किन्तु, बंगला-मुद्रण को उस प्रकार प्रारम्भ करने के कारण वे वैसा गौरव नहीं पा सके। अंगरेजी के सिवा किसी विदेशी भाषा के प्रति वैसी गवेषणा और तदनुरूप नियोजन करने में वे कुछ नाराज रहे। लाचार होकर बंगला भाषा-भाषी और तदनुसार सभी देशी भाषा-भाषियों ने बिना किसी द्विधा के केसों की वैसी ही व्यवस्था मान्य कर ली और एकबार भी नहीं सोचा कि वे इस प्रकार देशी भाषाओं की कितनी क्षति कर गए हैं! तबसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष हो रहा है कि बंगला भाषा और बाकी देशी भाषाओं की अत्यन्त उन्नति हुई है, उनकी विश्व-साहित्य में विशिष्ट स्थिति हुई है, विदेशों में सम्मानजनक अनुवाद भी हुए हैं, किन्तु विद्यासागर के नाम पर प्रचारित टाइप-केसों की वह उलझनपूर्ण और अयोग्य स्थिति आज तक प्रचलित है। अंगरेजों से 'नेटिव भाषा' को इससे अधिक की आशा थी भी नहीं, किन्तु अपने विद्वत्समाज और पाठकों से तो उनकी इन भाषाओं को पूरी आशा थी, इस बात को आजादी के इतने दिनों बाद और उनके राष्ट्रभाषा घोषित होने के बाद यदि कहा जाय, तो क्या यह छिद्रान्वेषण करना होगा? मौजूदा हाथ-कम्पोजिंग की केस-व्यवस्था को 'विद्यासागरी

शैली' वाली अराजकता के बजाय यदि 'हिटलरी जुल्म' कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। लाइनो और मोनो टाइप के क्षेत्र में भी, जहाँ देशवासियों ने यन्त्र-साधन द्वारा मुद्रण-सुलभता की आशा की थी, केसों का वही अवैज्ञानिक रूप है। इसी से आज देशी भाषायें व्यय के क्षेत्र में विलासिता का ही नामान्तर बनी हुई हैं।

इस अक्षर-केस के विभ्राट के मूल में श्रम और धन की बर्बादी है। गवेषणा द्वारा निराकरण कर लेने पर यदि वर्णों की पौनःपुनिकता और शब्द-गठन में अक्षरों का स्थान-पारम्पर्य सचमुच निर्णीत हो जाय और तदनुसार टाइप-केस और लाइनो-मोनो की व्यवस्था कर ली जाय; तो इस समस्या का लगभग आधा समाधान हो जाय। शेष और सबसे बड़ी समस्या बचती है, वर्णमाला के सभी अक्षरों को अक्षर-केस के स्वल्प आयतन में बद्ध करना। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अक्षर-केस के आयतन का ह्रास बिना किए समस्या का पूरा-पूरा समाधान नहीं हो सकता। आयतन के ह्रास की बात सोचते ही सबसे पहली समस्या खड़ी होती है उच्चारणात्मक ध्वनियों की रक्षा के रूप में। हम जैसा उच्चारण करते हैं हू-बहू वैसा लिखते तो नहीं हैं, फिर भी लेखकगण चाहते हैं कि छपाई के समय उनके उच्चारण की विशुद्धता बरकरार रहे। यद्यपि हममें से कोई 'श' 'ष' 'स' के उच्चारण में अपने मुँह को माँजे हुए नहीं है, फिर भी हमें छपाई में दन्त्य, तालू और मूर्धा वाली कारसाजी चाहिए ही। फिर भी, इन आलोचनाओं की जड़ जहाँ पर है वहीं लौट कर निवेदन करना पड़ रहा है कि इस समस्या का मेरे विचार से कुछ ऐसा ही निराकरण होना चाहिए—

(१) अक्षर-रूप, अनुस्वार, हलन्त और मात्रा आदि प्रयोगों में विकल्प को छोड़ दिया जाय और एक निश्चित रूप अपनाया जाय।

(२) वर्णमाला के आयतन को कम किया जाय।

(३) व्यंजनों से लगे हुए स्वर-चिह्नों को ऊपर और नीचे न लगाकर दायें और बायें लगाया जाय और संयुक्ताक्षरों का भी ऐसा ही प्रयोग किया जाय। इससे ऊपर और नीचे का स्पेस कम होगा; कम जगह में अच्छी, पूरी और साफ छपाई होगी और मात्राओं के टूटने या भरने के झंझट से मुक्ति मिलेगी। अबतक के मात्रा-प्रकार से प्रति-लाइन एक-तिहाई जगह की बर्बादी हो रही है जिसमें व्यर्थ का कागज लग रहा है।

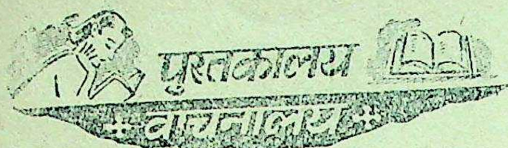
शेष निवेदन है कि यदि उच्चारणगत बनावटों के संबंध में हम लेखक और मुद्रक ही कुछ त्याग करें तो हमारी इस 'सरलीकरण'-प्रचेष्टा के विरुद्ध हमारे पाठकगण क्यों मजाक उड़ाने लगेंगे?

[श्री शुभेन्दु जी ने यद्यपि बंगला के आधार पर ये विचार दिए हैं, फिर भी समान शैली के नाते ये हिंदी पर भी लागू होते हैं—संपादक]



मैं सरकार से कहता हूँ कि आप अपने विभागों की अलग-अलग परीक्षा लीजिये। उन परीक्षाओं के लिए कोर्स, फीस आदि तय कीजिये। फिर जो कोई वह परीक्षा देना चाहेगा, वह देगा और पास होगा, तो उसे नौकरी मिलेगी। उसके लिए यह जरूरी नहीं होगा कि वह फलानी 'डिग्री' प्राप्त किया हुआ हो या फलाने स्कूल में पढ़ा हुआ हो। इससे लोगों को अपनी इच्छा के अनुसार स्कूल चलाने में उत्साह मालूम होगा और गुरुजनों की प्रतिष्ठा स्थापित होगी।

—बिनोवा



पुरानी पुस्तकें: संग्रह और कूड़ा

श्रीमती शर्वरी सिंह

जिस पुस्तक को हमने नहीं पढ़ा है वह चाहे दो सौ वर्ष पुरानी हो चाहे चार सौ, मगर हम पाठक-पाठिकाओं के लिए तो नई ही है। हम पाठक-पाठिकाओं का उन पुस्तकों के प्रति आग्रह साधारणतया इस नएपन के भाव को लेकर ही होता है, किन्तु अनुसन्धानियों का ऐतिहासिक कारणों को लेकर। इसी आग्रह को लेकर देश-देश में अनुसन्धानियों की ओर से पुरानी पुस्तकों की खोज जारी रही है। उनकी इस खोज की राह में सहायक होते हैं शौकीन ग्रन्थ-संग्रहकारी और ग्रन्थागारों तथा पुस्तकालयों के अधिकारी। क्योंकि दुष्प्राप्य या अवलुप्त पोथियों को जुटाने का उन्हें भी नशा होता है।

फलतः, पुरानी पोथियों का कारबार एक विश्वव्यापी व्यवसाय के रूप में खड़ा होता है और इस पृथ्वी पर प्रतिवर्ष आदान-प्रदान होता है, करोड़ों-करोड़ रुपयों की जराजीर्ण पुस्तकों की बिसाती-दूकानों और कबाड़-खानों में।

पुरानी पुस्तकों के फ्रांस के व्यवसायियों ने एक गाइड प्रकाशित किया है, ताकि पुरानी पुस्तकों के क्रेता और विक्रेता दोनों को सुविधा प्राप्त हो। उस गाइड को देखने से पता चलता है कि पृथ्वी के तेरह देशों में १६६३ बड़े-बड़े ऐसे प्रतिष्ठान हैं, जिनका व्यवसाय है पुरानी पुस्तकों की खरीद-बिक्री। लंदन का 'ए० बी० बुकमेन्स ईयरबुक' इस व्यवसाय का और भी अच्छा गाइड है। उसमें ऐसे साढ़े पाँच हजार व्यवसायियों का अता-पता दिया हुआ है। इसके अलावा वहाँ 'दि क्लिक' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी इस विषय पर जारी है। इस पत्र के संपादक और सम्वाददाता, पत्र के ५८ भागों और ७५६ विभागों में, एक वर्ष में, लगभग दस लाख पुरानी पुस्तकों की सूचना पाठकों को दिया करते हैं।

हमारे देश में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। फिर भी, कलकत्ता जैसे एक-दो बड़े शहरों में कुछ विराटाकार पुराने ग्रन्थों के प्रतिष्ठान हैं, जो बाकायदा अपने कैटलग जारी करते हैं। किन्तु, इन दो-एक शहरों में ही, इन प्रतिष्ठानों के अलावा पुरानी पुस्तकों के व्यवसाय का अधिकाधिक भाग उन साधारण दूकानदारों के हाथ में है, जो घर-घर घूम कर पुरानी पुस्तकें इकट्ठी करते हैं और उनकी दूकान फुटपाथों पर लगाकर बैठते हैं। लोग अपने घरों की पुरानी पुस्तकें उनके हाथ बेच देते हैं, वे पुस्तकें दूकान बनकर फुटपाथों पर सजती हैं और लोग घर में फिर नई किताबें खरीदते हैं। इस प्रकार फुटपाथों पर पुरानी किताबें हो जाती हैं और घर में नई किताबें। लोग बड़े संग्रहालयों में पहुँचते हैं और अपने देश के बड़े संग्रहालय कोई वैसी व्यवस्था नहीं रखते कि घरों और फुटपाथों के उन विक्रेताओं से संबंध रखें और उन पुस्तकों को उपलब्ध करें।

अन्ततः, यह तो आवश्यक है ही कि सभी अप्राप्य, अमुद्रित या पुरानी पोथियों के विषय में अन्वेषियों और पाठकों को सूचना मिले। इसके लिए हर जिला-पुस्तकालयों में पुराने ग्रन्थों और तत्संबंधी सूचनाओं को इकट्ठा करने तथा उनका कैटलग प्रकाशित करने का एक विशेष विभाग रखा जाना चाहिए, जो ग्रामीण पुस्तकालयों से उनके क्षेत्रों की वैसी चीजें पाने का प्रयास करे। किन्तु वैसा नहीं हो रहा है और इस रचनात्मक काम को कोई महत्व दिए बिना ही जिलों के पुस्तकालय कुछ

रटी-पिटी प्रदर्शनात्मक लीक पर अपने-आप को लिए जा रहे हैं।

पुरानी पोथियों के विषय में भी कुछ बातें स्पष्टरूप से समझ लेनी आवश्यक हैं। पहली बात तो यह है कि उनमें से बहुत ही आवश्यक पुस्तकें न पढ़ी गई हैं और न मुद्रित की गई हैं और वे आलमारियों, फुटपाथी दूकानों और नासमझ संरक्षक श्रद्धालुओं के पास रखी-रखी सड़-सड़कर कूड़ा हो रही हैं। और, दूसरी बात यह है कि इस संग्रह के नाम पर बेजाने-सुने बहुत-सी कूड़ा-पुस्तकें भी इकट्ठी की जा रही हैं। इन दोनों स्थितियों और उनके अन्तर को साफ समझ लेना इसलिए आवश्यक है कि मैं बिहार के दो-एक जिला-पुस्तकालयों में इस अन्तर को न समझने के कारण आई हुई दुःस्थिति देख चुकी हूँ। एक नवनिर्मित, किन्तु बिहार में श्रेष्ठमान्य पुस्तकालय में सील-बन्द शीशे की आलमारी में सजी हुई कुछ हस्तलिखित पोथियों को मैंने दूर से देखा। मुझे कुतूहल हुआ और मैंने उन पोथियों पर कुछ विवरण पढ़ना चाहा। किन्तु, पुस्तकालयाध्यक्ष से पता चला कि उन पोथियों पर वहाँ कोई विवरण ही नहीं बना है। तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे पोथियाँ पढ़ी ही नहीं गई हैं और शीशे में प्रदर्शन के लिए सजाकर यों ही जमाने से सड़ाई जा रही हैं!

ऐसी दुःस्थिति को समाप्त करने के लिए, जहाँ जिला-पुस्तकालय पांडुलिपियों और पुरानी पोथियों को संकलित करने का काम करें, वहीं प्रान्त के किसी एक विश्वविद्यालय के अधीन उन पुस्तकों और पाण्डुलिपियों को विषयोचित समझने के लिए एक कमीशन या फैकल्टी भी होनी चाहिए जो उनके कूड़ा बनने के पहले ही उन्हें पढ़कर उनकी उपादेयता समझ ले और पुस्तक की कलेवरी क्षीणता और विषय की महत्ता के लिहाज से प्राथमिकतापूर्वक उन्हें मुद्रित करे।

अबतक पुराने पुस्तकों के ढेर में, कौन कूड़ा है, कौन रत्न है और कौन रत्न कागज के सड़ने के कारण जल्द-से-जल्द कूड़ा बनने जा रहा है, इसका हमें पता ही नहीं है। चाहिए तो यह कि रत्न-पुस्तकों का मुद्रित संस्करण जल्द-से-जल्द देश के पाठकों तक पहुँच जाय, अन्यथा उनकी मौन समाप्ति के दिन अत्यन्त ही निकट हैं।

पुरानी पोथियों की यदि हमें जानकारी नहीं मिलती है, तो उसके उपर्युक्त कारणों के अलावा एक और हास्यास्पद कारण भी है। वह है पूजा की भावना। सभी जानते हैं कि तिब्बत के मठों पर चीन ने हाल ही में जो दुर्भाग्यपूर्ण बमबाजी की थी, उसमें न जाने कितनी महत्वपूर्ण अज्ञात पोथियाँ ध्वस्त हो गईं। वे पोथियाँ उन मठों में शायद सैंकड़ों वर्षों से रखी हुई होंगी। यदि वे इन सैंकड़ों वर्षों के अवसर का लाभ उठाकर मुद्रित हो गई होतीं, तो उनके इस प्रकार सर्वनष्ट हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु, पोथी-पूजा की भावना ने उन मठाधिकारियों को अबतक वैसा करने नहीं दिया और हमें जहाँ उस पोथीनाशी बमबारी पर दुःख है, वहीं पोथियों के ऐसे पूजापन्थी संरक्षकों पर भी।



यह बात ठीक है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासन कम है। लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उनमें इतना भी अनुशासन कैसे बचा है? क्योंकि आज हिंदुस्तान में जो तालीम दी जा रही है, उसका वास्तविकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। —बिनोवा

प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

—आंध्र प्रदेश हिन्दी महासभा ने, एक प्रस्ताव पारित कर सरकारी भाषा सम्बन्धी संसद समिति की सिफारिशों को अविलम्ब लागू करने का आग्रह किया है और राय व्यक्त की है कि केन्द्र की सरकारी भाषा का स्वरूप उसी स्थिति में निखरेगा जब संविधान के परिशिष्ट आठ में उल्लिखित क्षेत्रीय भाषाओं को राज्य सरकारों द्वारा राजकीय भाषाओं के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। राजकीय भाषा के लिए विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं से एकरूपतावाली शब्दावली तैयार की जानी चाहिये। महासभा ने केन्द्रीय सरकार से गैरहिंदी भाषा-क्षेत्रों में हिंदी का प्रचार करने के लिए एक करोड़ रुपये का अनुदान देने का आग्रह किया है।

—हिन्दी संसार के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र का २४ मई को सीतापुर में अचानक निधन हो गया। ६६ वर्षीय पण्डित जी का निधन गंधौली नामक उनके गाँव में अपराह्न लगभग तीन बजे हुआ। मिश्रजी अनेक वर्षोंतक हिंदी की मासिक पत्रिका 'माधुरी' के सम्पादक रहे हैं और बाद में उन्होंने अपने गाँव से ही 'साहित्य समालोचक' नामक एक पत्र निकाला था। मिश्रजी हिन्दी के ख्याति-प्राप्त समालोचक थे और उनकी 'देव बिहारी' कृति, तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने 'मोहन विनोद', 'नट नागर विनोद', 'गंगा भरण, 'नव रस तरंग', 'मतिराम ग्रन्थावली' आदि कई ग्रन्थों का सम्पादन किया है।

—शिक्षा सचिवालय ने गत मास १५ हजार रुपये का अनुदान प्रामाणिक हिन्दी कोष का संशोधित संस्करण और हिन्दी साहित्य-माला के प्रकाशन के लिए वाराणसी की नागरी प्रचारिणी सभा के लिए स्वीकृत किया है। इसी समय वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के लिए ६ हजार का एक अनुदान स्वीकृत किया जिससे समिति का ६ वाँ अधिवेशन और प्रदर्शनी का आयोजन हो। आगरा की अखिल भारतीय हिंदी परिषद् को गत अप्रैल में १५।। हजार रुपये का अनुदान अखिल भारतीय हिन्दी महाविद्यालय (आगरा) में हिन्दी अध्यापकों की प्रशिक्षा के लिए मंजूर किया गया। केरल सरकार को सन १६५८-५६ के साल में हिन्दी अध्यापकों की नियुक्ति में सहायता के लिए (८१, १६८) का सांकेतिक अनुदान स्वीकृत किया गया।

—वाल्मीकि-रामायण के तृतीय खण्ड का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने के लिए केंद्रीय वैज्ञानिक गवेषणा और संस्कृति मन्त्रालय ने लन्दन स्थित शान्ति सदन को ५ हजार रुपये की सहायता प्रदान की है। इसके पूर्व मंत्रालय उक्त संस्था को १२ हजार रुपये की सहायता दे चुका है।

—१६४६-५० से १६५५-५६ तक की अवधि में बुनियादी स्कूलों की संख्या ३२,१८२ से बढ़कर ४७,८१३ हो गई, जिनमें १६५५-५६ में ४,८४२ ऊँचे बुनियादी और ४२,६७१ छोटे बुनियादी या प्राथमिक बुनियादी थे। इन तीनों तरह के बुनियादी स्कूलों में १६५५-५६ में ८०,६०,२०७ विद्यार्थी पढ़ रहे थे। इनमें से ३६,३६,६५४ लड़के और ११,२३,२५३ लड़कियाँ थीं। छोटे बुनियादी स्कूलों में विद्यार्थियों की कुल संख्या ६७,३०,४५६ थी। १६५६ तक जो जानकारी सरकार को मिली है उससे पता चलता है कि अध्यापकों को शिक्षा देनेवाले स्कूलों की संख्या ६६६ थी। इनमें से ३३ स्नातकोत्तर कालेज थे और ६३३ ट्रेनिंग स्कूल।

—मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद ने विगत २५ मई १६५६ को पचमढ़ी में भूतपूर्व विन्ध्य प्रदेश सरकार की विभिन्न वार्षिक साहित्यिक प्रतियोगिताओं—जैसे देव-पुरस्कार

इत्यादि को जारी रखने का निर्णय किया। अब ये समस्त मध्य प्रदेश के लिए कर दिये गये। परन्तु २१००) का देव पुरस्कार अखिल भारतीय स्तर का रहेगा।

—'हिंदी प्रचारक' के सम्पादक, अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के संयुक्त मंत्री श्री कृष्णचन्द्र बेरी २३ मई को कलकत्ते से के० एल० एम० हवाई जहाज द्वारा वियेना में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक कांग्रेस में भाग लेने को रवाना हो गये। वहाँ से आप लन्दन ब्रिटिश फेडरेशन आफ मास्टर प्रिन्टर्स के आमन्त्रण पर जायेंगे और तत्पश्चात् मास्को विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापकों के निमन्त्रण पर रूस जायेंगे।

—नयी दिल्ली, २६ मई। भारत सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीयग्रन्थन्यास द्वारा आरम्भ में प्रकाशित होनेवाले ५ ग्रन्थ तत्काल छप रहे है। इनमें डाक्टर राधाकृष्णन् लिखित 'कल्कि' के (जो १२ भाषाओं में प्रकाशित होनेवाला है) और सन् १९४२ के आन्दोलन पर लिखित हिन्दी उपन्यास 'ज्वालामुखी' के तेलगू और मराठी संस्करण हैं। अन्य ग्रन्थों के अनुवाद, जो निकट भविष्य में ही प्रकाशित होंगे, उनमें श्री आनन्दकुमार स्वामी लिखित 'भारतीय कला का परिचय' और डाक्टर सी० वी० राम लिखित 'विज्ञान के दिग्दर्शन' भी हैं। परमाणु शक्ति पर डाक्टर होमी भाभा और 'तटस्थ की पुकार' शीर्षक श्री राजगोपालाचारी की पुस्तक भी छपने वाली है।

—नयी दिल्ली, २६ मई। रेलवे स्टेशनों के बुकस्टालों पर अंग्रेजी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं की कैसी पुस्तकें रखी जायँ, यह सलाह देने के लिए रेलवे मण्डल ने एक तदर्थ समिति बनायी है।

—वाचनालय सलाहकार समिति ने हाल में भारत सरकार को अपनी जो रिपोर्ट दी है उसमें उसने सुझाया है कि प्रत्येक नागरिक को वाचनालय की निःशुल्क सेवा प्राप्त हो। राजकीय और केन्द्रीय स्तर पर वाचनालयों की एक २५ वर्षीय योजना बनायी जाय और सम्पत्ति-कर के प्रत्येक रुपये पर ६ नये पैसे का एक अतिरिक्त कर बैठाकर निःशुल्क वाचनालय सेवा के लिए धन एकत्र किया जाय। रिपोर्ट में बतलाया गया है कि द्वितीय आयोजन के अन्त तक सम्पूर्ण राष्ट्र केन्द्र, राज्य और जिलास्तरीय वाचनालयों की शृंखला से गुंथ जायगा। बतलाया गया है कि मार्च सन् १९५४ के अन्त तक देश में ३२ हजार वाचनालय रहे हैं जिनमें अधिकांश का आकार लघु था। उनके पास प्रायः ७१ लाख पुस्तकें थीं जिनके ३ करोड़ ७७ लाख वाचक प्रतिवर्ष मिले। इस सेवा पर ५० लाख रुपया व्यय हुआ।

—अमृतसर में ३१ मई को केन्द्रीय शिक्षामंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने घोषित किया कि सरकार को शिक्षा-संस्थाओं पर एकाधिकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे देश में प्रजातन्त्र के विकास में कमजोरी आ जायगी। एक स्थानीय स्कूल में पुरस्कार-वितरण करते हुए शिक्षामंत्री ने कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में, ढाँचे में एकरूपता लाने से निजी स्कूलों की स्वयं आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रयोगात्मकता समाप्त हो जायगी और काम का एक ढर्रा बंध जायगा, जो प्रजातन्त्र की भावना के विरुद्ध है। डाक्टर श्रीमाली ने कहा कि राज्य सरकारों को उन संस्थाओं की उदारतापूर्वक सहायता करनी चाहिये जो नया प्रयोग कर रही हों। सरकार द्वारा चलायी जा रही संस्थाओं में भी अभिभावकों, अध्यापकों और विद्यार्थियों को मिलकर शिक्षा की योजना तैयार करनी चाहिये।

—हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य ललिताप्रसाद शुक्ल का २५ मई

को जयपुर में स्वर्गवास हो गया। आचार्य शुक्ल लगभग ५६ वर्ष के थे।

—'कान्सटैन्स मिसाल' नामक पुस्तक ग्वेटेनबर्ग बाइबिल से भी अधिक पुरानी छपी हुई पुस्तक मानी जाती है। यह सन् १४५० और १४५५ के बीच जर्मनी में छापी गयी थी।

—'तास' संवादसमिति ने बतलाया कि प्राचीन भारतीय 'कौटिल्य' की सुप्रसिद्ध राजनीतिक-आर्थिक विज्ञान की कृति 'अर्थशास्त्र' का प्रथम रूसी भाष्ययुक्त संस्करण ७०४ पृष्ठों में छपकर लेनिनग्राड में तैयार हो गया है। इसके १५० अध्याय १५ जिल्दों में छपे हैं। प्रसिद्ध रूसी संस्कृतज्ञ श्री ब्लाडिमिर कल्यानोव ने इसकी प्रेस-कापी तैयार की।

—इस वर्ष का अमेरिकी पुलितजर-पुरस्कार, राबर्ट लुइस टेलर को उनके उपन्यास 'दि ट्रैवेल्स ऑफ जैमी मेकफिटर्स' पर और आर्चिबाल्ड मेक्लैश को उनके नाटक 'जे० बी०' पर मिला।

—मौन्टगुमरी अलबामा में, एक बच्चों की पोथी पर, जिसमें कि एक काले और उजले खरगोश की शादी की चर्चा थी, रोक लगा दिया गया और उसे पुस्तकालयों और शिक्षणों से निकाल दिया गया। क्योंकि उससे वहाँ के शासन की रंग-भेद नीति का विरोध होता था।

—गायना के दो भाई-बहन एन्ड्रू और एन्थुला जिल्दसाज हैं। ये मशीनों के सहारे उत्तम और ऊँचे उत्पादन का प्रयास नहीं करते हैं। किन्तु इनकी हर जिल्दसाजी कला का एक ऊँचा नमूना है। एक पुस्तक की जिल्दसाजी में इन्हें एक पखवारा तक लग जाता है और सम्पूर्ण क्रिया हस्तशिल्प की होती है। आवरण के आकल्पन से लेकर उसकी रंगसाजी और उपयोग की चीजें, पुस्तक की विषय-वस्तु से सामंजस्य रखनेवाली होती हैं।

—कुशवाहा कान्त के अधिकांश उपन्यासों के प्रकाशक चौधरी एण्ड सन्स, वाराणसी—१ पर कुशवाहा कान्त के छोटे भाई जयंत कुशवाहा ने इस आधार पर मुकदमा किया था कि उनके बड़े भाई स्व० कुशवाहा कान्त ने अपने उपन्यासों के कापीराइट चौधरी एण्ड सन्स को नहीं लिखे थे। परन्तु, विद्वान न्यायाधीश ने चौधरी एण्ड सन्स के पक्ष में फैसला किया है और कुशवाहा कान्त द्वारा संस्थापित चिनगारी प्रेस एवं प्रकाशन में ३५,०००) की डिक्री की चुकती तक के लिए ताला लग गया है।



पाठकों के समक्ष एक योजना

"उनके प्रश्न : इनके उत्तर"

इस शीर्षक का स्तम्भ हम १५ अगस्त १९५९ को प्रकाशित होनेवाले नव-वर्ष-विशेषांक से जारी करने जा रहे हैं। पाठकों से निवेदन है कि साहित्य, भाषा, कला, इनके स्रष्टा, अथवा इस पत्रिका में विभिन्न लेखकों के विचारों के संबंध में अपने प्रश्नों को हमारे निम्नोक्त पते पर भेजें। हम इस स्तम्भ में; उनके प्रश्नों से संबंधित विषयों के विशेषज्ञों द्वारा उत्तर प्राप्त कर; प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता, दोनों के नाम-पते के साथ; प्रश्न और उत्तर प्रकाशित किया करेंगे।

सम्पादक 'पुस्तक-जगत'
ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४



गीतांजलि

कवि—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर
अनुवादक—सत्यकाम विद्यालंकार
प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली
मूल्य—एक रुपया

'परिचय' में अनुवादक के दो वचन हैं : 'जिसे रवीन्द्र के काव्य का आनन्द लेना हो उसे बंगला भाषा सीखनी होगी' और 'मैंने गीतों का यथार्थ अनुवाद करने का प्रयत्न किया है'। किन्तु, अनुवाद पढ़ने से अनुवादक न तो बंगला भाषा सीखे हुए लगते हैं, न रवीन्द्र-काव्य का आनन्द पाये हुए और न उनके अनुवाद में यथार्थ ही है। प्रमाणस्वरूप, अनुवाद में कुछ अनर्थ यों हैं :—पहले ही पद में : 'आपनारे शुधू घेरिया-घेरिया' जैसे मुहावरे का मक्खी की जगह मक्खी जैसा अर्थ 'अपनी ही परिक्रमा करते-करते', 'घूरे मरि' = 'जीर्ण-जर्जर होता जा रहा हूँ', 'अमारे ना जेन करि प्रचार आमार आपन काजे' के 'जेन' जैसे संयोजक-अव्यय के अर्थ से पलायन कर और पंक्ति के बादवाले अर्धविराम को पूर्णविराम में अनूदित कर स्वतंत्र अनर्थ किया गया है : 'मैं अपने सांसारिक कार्यों में अपने को व्यक्त नहीं कर पाता'। दूसरे पद में : 'वंचित करे बाँचाले मोरे' = 'तूने कठोर अंकुश का प्रयोग कर मुझे भस्म होने से बचा लिया', 'ए जे तव दया जानि-जानि हाय' = 'मैं इसका रहस्य समझ गया'। तीसरे पद में : 'मने भेवे मरि जानि की हवे' = 'चिन्तित हो गया कि वहाँ मेरा अपना कौन होगा'। चौथे पद में : 'नांइ वा दिले सान्त्वना' = 'सान्त्वना देने की भिक्षा नहीं माँगता'। पाँचवें पद में : 'युक्त करो हे सबार संगे' = 'अखिल विश्व के समान उन्नत करो'। नवमें पद में : 'डाँड़ धरे आज बोस् रे सबाई' = 'सब जन तेरी पतवार पकड़े बैठे हैं'। और, आगे भी : 'नीते चाउ तो लउ' = 'नहीं देना है तो नहीं दे', 'केंदे बेड़ाय' = 'व्योमविहार कर रहा है' आदि असंख्य अनर्थ भरे पड़े हैं। संयोजक-अव्ययों को छोड़कर पूर्णविराम चला देने, 'गाँथबो', 'साजाबो' आदि किसी क्रिया का सकाल अनुवाद न करने और अपना मनगढ़न्त देते जाने से तो सारी पुस्तक ही व्याप्त है।

मुखपृष्ठ का पठान-कट कुन्तल और छिदरी डाढ़ी वाला सुनहरा चित्र तो ऐसा बचकाना है कि रविबाबू के बजाय देवेन्द्र सत्यार्थी का ही अधिक लगता है। रविबाबू के नाम के साथ कहीं 'ठाकुर' और कहीं 'टैगोर' यों भी बुरा है और 'टैगोर' वाला देहलवी टोन तो और भी बुरा। और, जब अनुवाद ही इतना भ्रष्ट है, तो कलेवर की क्या बात ?

—'लालधुआँ'

प्यास के पंख (उपन्यास)

लेखक—यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
प्रकाशक – राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य—दो रुपये

शर्माजी का यह मौलिक उपन्यास आकार में लघु अवश्य है, परन्तु इसकी आत्मा अत्यन्त ही विशाल है। नारी की युग-युग की पीड़ा को उपन्यासकार ने यहाँ समेट लिया है।

प्राचीन रूढ़ियों और आधुनिक मान्यताओं के बीच जकड़ी नारी के घुटते जीवन की पीड़ा की यह कथा, विषय और टेकनीक दोनों दृष्टियों से पूर्णतः मौलिक रचना है। नारी-चरित्र का अत्यंत ही सूक्ष्म अध्ययन उपन्यासकार ने इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है, जोकि सामाजिक और पारिवारिक अत्याचारों से मर्माहत है।

वीणा और विमला के चित्रण द्वारा कथाकार ने संघर्ष के दो पक्षों को अभिव्यक्त किया है। वीणा को आत्म-पीड़ा में ही सुख मिलता

है। "उसे शाश्वत वेदना की आवश्यकता थी—धीरे-धीरे तिल-तिल कर जलना। जलहीन मीन की तरह तड़प-तड़प कर अन्त के निर्दयी अंक में सोना।" जीवन के प्रति उसका यही दृष्टिकोण था। दूसरी ओर, विमला सारी मान्यताओं को तोड़कर मुक्त होना चाहती थी। यह कृत्रिम बंधन उसे स्वीकार नहीं—यह घुटन उसके लिए असह्य था।

हमारे सामने एक समस्या है—क्या मानव की इस तृष्णा का कोई अन्त नहीं?

'चारों ओर प्यास, प्यास, प्यास! उफ! क्या हम युग के अभिशापों से बचकर उस सत्य और उस सुख को नहीं खोज सकते, जो जन-जन का कल्याण करता है।"

इसका एक ही समाधान है कि हम इस तृष्णा का अन्त कर दें—इस प्यास के पंख को ही काट दें।

उपन्यास का अन्त भी पूर्ण नाटकीय ढंग से हुआ है। भाषा, विषय और टेकनीक सभी की इसमें विशेषता है।

गाता जाए बंजारा

लेखक—साहिर लुधियानवी

प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—दो रुपये पचास नये पैसे

साहिरजी के गीतों का यह संकलन किसी विशेष परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। चित्रपट के पार्श्व-गायक और गायिकाओं के कंठ पर उतर कर ये गीत पाठक और लाखों जनता के बीच पहले ही पहुँच चुके हैं। इन गीतों को सर्वत्र एक स्वर से प्रशंसा मिली है। गीतों में केवल छिछला प्रणय-निवेदन ही नहीं, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय भावना की भी अभिव्यक्ति है। सच तो यह है कि साहिरजी ने फिल्म के गिरे हुये स्तर को ऊँचा उठाकर, उसे "मानसिक गंदगी से निकालकर निखरे और सुथरे साहित्य से परिचित कराया।" इन गीतों का साहित्यिक मूल्य भी है, यद्यपि यह ठीक है कि फिल्म के लिये गीत लिखनेवाले गीतकारों की अपनी मर्यादायें हैं जिनकी उपेक्षा वे नहीं कर सकते। कथा, पात्र और परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही उन्हें गीतों की रचना करनी पड़ती है, जिससे एक स्वाभाविक कमजोरी उनमें आ जाती है।

इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता इनका प्रगतिवादी रूप है जिसके द्वारा गीतकार ने समाज के असामाजिक तत्वों पर व्यंग्य किया है।

इस पुस्तक का महत्व इसलिये भी है कि यह लोगों में घर कर गई इस धारणा का—कि फिल्म में गंदे गीतों को ही स्थान मिलता है और उन गीतों के लिखनेवाले गीतकार भी निम्न कोटि के हैं—निवारण करने का यथेष्ट मौका देती है।

बाल-साहित्य

(१) बच्चों की सरकार मूल्य १.००

(२) देश हमारा मूल्य १.२५

लेखक—मोहन लाल गुप्त

प्रकाशक—मधु प्रकाशन, वाराणसी

आज के बच्चे देश के भावी नागरिक हैं, अतः उनके स्वस्थ मानसिक विकास के लिये स्वस्थ साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रस्तुत उनको उस दिशा में विकसित करने की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है।

नन्हे-मुन्नों के लिये लिखी गई 'बच्चों की सरकार' में लेखक के कुछ लघु-एकांकी संग्रहीत हैं। खेल-कूद में व्यक्तित्व का निर्माण, मनोरंजन के साथ शिक्षा—लेखक का यही उद्देश्य है। संग्रह में 'वेषभूषा सम्मेलन' और 'चौराहा' दो एकांकी अत्यन्त ही रोचक हैं।

लेखक की दूसरी कृति 'देश हमारा' भी नन्हे-मुन्नों के लिये ही लिखी गई है।

इसमें छोटी-छोटी बारह कवितायें संग्रहीत हैं जो मुख्यतः देश, आजादी, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रपिता आदि विषयों पर लिखी गई हैं। कवितायें बच्चों में राष्ट्रीय भावना की नींव रखने और उन्हें राष्ट्र के प्रति जागरूक बनाने में सहायक सिद्ध होंगी।

मृणालिनी

लेखक—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

सम्पादक—गोविन्द सिंह

प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

मूल्य—एक रुपया पचास नये पैसे

बंगला के महान उपन्यासकार स्व० बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की सुविख्यात कृति का यह संक्षिप्त संस्करण मुख्यतः किशोर पाठकों के लिये प्रस्तुत किया गया है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह उपन्यास भावपूर्ण और रोमांचकारी स्थलों से भरा पड़ा है। प्रेम और कर्त्तव्य के बीच विकसित युवक हेमचन्द्र का चरित्र अत्यन्त ही प्रभावशाली बन पड़ा है। मृणालिनी के त्याग और धैर्य की कथा सचमुच अनुकरणीय है।

अनुवाद की भाषा सहज और सरल है। पुस्तक छपाई-सफाई की दृष्टि से सुसज्जित और स्वस्थ है, यद्यपि बीच-बीच में मुद्रण-संबंधी भूलें हो गई हैं।

डेविड कापरफील्ड

मूल लेखक—चार्ल्स डिकेन्स

रूपान्तरकार—श्रीकान्त व्यास

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—डेढ़ रुपया

डेविड कापरफील्ड, चार्ल्स डिकेन्स का ख्यातिप्राप्त उपन्यास है, जिसका अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में हो गया है।

प्रस्तुत उसी प्रसिद्ध रचना का संक्षिप्त रूपान्तर है जो मुख्यतः किशोरों के लिये लिखा गया है।

डेविड कापरफील्ड, एक असहाय बालक की दर्द भरी कहानी है। यद्यपि कथा का अन्त सुखमय है, पर कथा का मूल-भाग प्रारम्भ से अन्त तक दुखमय ही है। वर्णन की मौलिकता ने कथा को अत्यन्त ही रोचक बना दिया है।

रोचक शैली और सरल भाषा में रूपान्तरित यह उपन्यास मूल के भाव को व्यक्त कर सका है, इसमें सन्देह नहीं। —विश्वनाथ



एक समस्या : एक टिप्पणी

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता बंधुओं से

"तुंग श्रृंग" जून १९५९ के अंक में मुझे दो बातें एक साथ देखने को मिलीं। पहली बात तो यह कि "क्लब से प्राप्य नवीनतम पुस्तकों की सूची केवल सदस्यों के लिये ··· तैंतीस प्रतिशत से पचास प्रतिशत कमीशन पर··· क्लब की सदस्यता निःशुल्क है"··· आदि-आदि, तथा दूसरी बात यह कि "हिन्दी पुस्तक व्यवसाय में घातक संक्रामक रोग की तरह फैली हुई कमीशन सम्बन्धी होड़ का नियमन···"

मैं तो एक पाठक मात्र हूँ। मुझे ये दो बातें समझ में नहीं आईं। किताब-महल संस्था का पता ५६ ए० जीरो रोड इलाहाबाद है, और तैंतीस एवं पचास प्रतिशत कमीशन देने वाला यह क्लब भी ५६ जीरो रोड इलाहाबाद पर ही है। दिमाग को बहुत दौड़ाया कि इन दोनों का भेद निकालने में समर्थ हो सकूँ, पर इस ध्रुव सत्य से अपना तर्क अलग नहीं कर सका कि दोनों में व्यवसायात्मक प्रवृत्ति मौजूद है। तब एक ही भवन में, एक ही स्थल पर और शायद एक ही संस्थान के अधीन यह रंग-स्थल कैसा? इस क्लब में बिकने वाला साहित्य अधिकतर किताब-महल का ही है, जो कि संयुक्त-प्रकाशक-संघ का सदस्य है।

यह तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि इलाहाबाद का यह क्लब पुस्तकें बेचता है। अतः यह भी पुस्तक-विक्रेताओं की श्रेणी में आता है। यदि यह क्लब तैंतीस और पचास प्रतिशत कमीशन किताब-महल की पुस्तकों पर दे सकता है और संयुक्त-प्रकाशक-संघ का यदि सदस्य नहीं है और किताब-महल इस क्लब को अपना प्रकाशन खुले हाथों बेचने को दे सकता है, तो संयुक्त-प्रकाशक-संघ का अस्तित्व खतरे से कतई खाली नहीं। तब राजस्थानी कहावत स्वतः ही चरितार्थ हो जाती है कि— पगे बलती नहीं दीसै, पण डूंगर बलती दीसै। यह कैसे हो रहा है, संघ बताये?

आशा है, संघ के नाम पर वस्तुतः धमकी भरा समाचार छाप कर येनकेन-प्रकारेण अपना प्रकाशन निकालने के इच्छुक प्रकाशक बन्धु तनिक स्वार्थ-त्याग की भावना से काम लेंगे और पुस्तक-व्यवसाय को अपने स्वार्थ के आगे अधोपतित होने से बचायेंगे। यदि ऐसा बुरा प्रयास न रोका गया, तो वह दिन भी निकट आनेवाला है जब प्रकाशक लोग पुस्तक-विक्रेता का जामा पहन कर, ए या बी पता लिखकर हजारों रुपयों का व्यवसाय कर लेंगे और स्थानीय पुस्तक-विक्रेता भूखों मर जायेंगे। साथ ही, हम जैसे पुस्तक-प्रेमी पाठकों का भविष्य भी कमीशन के प्रलोभन में अन्धकारमय हो जायगा। अतः, इस भावना के साथ, मैं संयुक्त-प्रकाशक-संघ के मंत्री महोदय से यह ज्ञात करने का अभिलाषी हूँ कि यह इण्डियन बुक क्लब संस्था क्या है और किस सिद्धांत का प्रतिपादन कर एक पाठक को एक पुस्तक पर तैंतीस से पचास प्रतिशत कमीशन देता है? यदि यह अनर्थ न रोका गया तो पुस्तक-विक्रेताओं में संघ के प्रति रोष भड़क उठने की शंका है और इसका उत्तरदायित्व सीधे 'संघ' पर होगा।

—रामदत्त थानवी, सुमेर प्रेस, जोधपुर



* बंगला के उपन्यास "साहेब, बीबी, गोलाम" के तीन वर्षों के अन्दर तेरह संस्करण निकले और बिक गये।
* यदि गोस्वामी तुलसीदास अभी तक जीवित होते तो उन्हें अपनी रचनाओं की रायल्टी ७५,००,०००) रुपयों से कम नहीं मिले होते।



कमीशन-अनुबन्ध : और संयुक्त हिन्दी प्रकाशक

इधर हिन्दी की साहित्यिक पुस्तकों की खरीद-बिक्री में कमीशन की बढ़ती हुई होड़ की रोक-थाम के लिए आवाज़ बुलन्द की जा रही है। यह अपेक्षित भी है। इसके बहुत सारे कारणों में निम्नांकित दो-तीन प्रमुख हैं : (क) श्रेष्ठ साहित्यिक पुस्तकें, जो निस्सन्देह बाजारू सस्ती पुस्तकों के मुकाबले उत्पादन-व्यय के हिसाब से महँगी होती हैं पर जिनका मूल्य-निर्धारण उत्पादक को बाजार के प्रतियोगितात्मक दर के अनुसार ही करना पड़ता है, इस कमीशनी होड़ की दौड़ में पिछड़ जाती हैं। फलतः, समुचित बिक्री के अभाव में, श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशक और प्रणेता, दोनों मारे जाते हैं। साहित्य की यह उपेक्षा देश के सांस्कृतिक स्तर को भी नीचे गिरा देती है। (ख) उपर्युक्त स्थिति की प्रतिक्रिया में, सक्षम होने के निमित्त, श्रेष्ठ साहित्यों का प्रकाशक उत्पादन-व्यय पर अधिक-से-अधिक लाभांश रख कर उनका मूल्य-निर्धारण करता है। फलतः, उनकी कीमत इतनी अधिक होती है कि सामान्य आर्थिक स्तर का पाठक उन्हें चाहकर भी अपना नहीं पाता। ऐसी पुस्तकें बड़े पुस्तकालयों और शौकीन रईसों के ड्राइंगरूमों का शृंगार होकर रह जाती हैं, जबकि उन्हें घर-घर की अमूल्य सम्पत्ति के रूप में होना चाहिए। विकास के पथ पर उठते चरण को गति देने के लिए, हमारे देश को आज श्रेष्ठ, पर सस्ती पुस्तकों की अपेक्षा है।

यदि जनता जागरूक होती तो अपनी आवश्यकता को समझते हुए वह स्वयं इसकी माँग करती। और, तब उस आवाज़ में बुलन्दी होती। उत्पादक बाजार की नब्ज टटोल कर स्वयं श्रेष्ठ और सस्ती पुस्तकें भारी संख्या में लेकर सामने आते। कम-से-कम लाभ की स्थिति में, कमीशन की वर्तमान गलाघोंटू होड़ आपसे-आप मिट जाती। पुस्तक-विक्रेताओं की भी दृष्टि अधिक-से-अधिक कमीशन की ओर न होकर (जिससे कि वे कम अदद बेचकर अधिक लाभ ले सकें), कम लाभांश पर, भारी संख्या में माल खपाने पर, होती।

किन्तु, दुर्भाग्य है कि यहाँ स्थिति दूसरी है। रुचि-शून्यता के स्थान पर रुचि-सम्पन्नता लानी है। इसका एक मार्ग है कि श्रेष्ठ साहित्यिक पुस्तकों का मूल्य-निर्धारण, जन-साधारण के आर्थिक स्तर को दृष्टिगत रखकर, किया जाय; जिससे कि वे उन्हें अपनाने को क्षमतापूर्वक आग्रही हो सकें। लेकिन, पुनः यह अवस्था पुस्तक-व्यवसाय के तीनों मूल-स्तंभ—लेखक, प्रकाशक और प्रकाशक-बिक्रेता—से इस समय त्याग की माँग करती है। देश के परिवर्तन-क्षण में ऐसे अवसर आते हैं। और, जिसने थोड़ा जागरूक होकर, देश की आवश्यकता को व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर किया है, वही यश और धन दोनों का भागी हुआ है। रुचि-सम्पन्नता का स्वस्थ बीज बोकर ही अच्छी फसल काटने की आशा की जा सकती है। पर, प्रारंभ में इन बीजों पर कमर की गाँठ तो ढीली करनी ही होगी।

कमीशन की होड़ पर अंकुश लाने की यह आवाज़, यदि देश को श्रेष्ठ पर सस्ती

साहित्यिक पुस्तकें देने की सर्वथा सराहनीय और अपेक्षित मनोवृत्ति के पुण्यस्थल से उठी है, तो इसकी गूँज सर्वत्र फैलेगी। विरोध का स्वर उठ न सकेगा। किन्तु, यह प्रमाण माँगता है। पहले ऐसी पुस्तकों से बाज़ार पाट दो, जिनकी कीमतें अभी अधिक हैं उन्हें कम कर दो; फिर कमीशन की लक्ष्मण-रेखा खींचो। पर, अपने लाभांश को घटाए बिना प्रकाशक-वर्ग द्वारा लक्ष्मण-रेखा खींचने का दुराग्रह, पुस्तक-विक्रेता और पाठक दोनों को शंकित करेगा।

यों, व्यावसायिक बेबसी में अनुबन्ध-पत्र पर हस्ताक्षर दे देने की बात और है। पर, नैतिकतापूर्वक प्रतिज्ञा के परिपालन के लिए, उसके संकल्प को स्वस्थ पृष्ठभूमि और पवित्र मनोभूमि चाहिए। इनकी अनुपस्थिति में, व्यवसाय के क्षेत्र में प्रतियोगिता की स्वाभाविक वासना कमीशन-अनुबन्धन के नियम के वाक्यांश "किसी भी रूप में" की पवित्रता नष्ट कर देगी। कमीशन का मोर्चा टूटेगा नहीं, मात्र बदलकर रह जाएगा। कमीशन का पर्यायवाची 'खाते-नाम' होकर प्रकट होने लगेगा। नकदी चिट्ठा काटकर अनुबन्धित विक्रेता 'हंस-सरोवर' के नाम 'पंडा-ब्रदर्स' को सम्पूर्ण सुविधाओं के साथ पुस्तकें दी जाएँगी, और वह भी इन नियमों के प्रवर्तक-सदस्यों द्वारा ही। और, यह कोढ़ 'अन्य को पुस्तकें नहीं बेचेंगे' के नियम को गला देगा। प्रतिज्ञा-पत्र की ऊपरी पट्टी इस दुर्गन्ध को भला ढँक सकेगी?

कमीशन-अनुबन्धन साधन ही हो सकता है—सस्ती और श्रेष्ठ पुस्तक-प्रकाशन का साधन—स्वयं साध्य नहीं। साध्य होकर, यह वर्ग-विशेष मात्र की स्वार्थ-साधना का संकेत ही हो सकता है।

कमीशन सम्बन्धी अनुबन्धन की संस्था संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक और उसके सदस्यों से हम इसी महत् उद्देश्य की घोषणा और उसकी आपूर्ति की अपेक्षा करते हैं। इसके अन्य पहलुओं पर हमने पिछले अंक में अपने विचार रखे हैं। इन दोनों विचारों के आधार पर कमीशन-नियमों के नीतिज्ञ प्रवर्तकों से हम अपील करेंगे कि वे : (१) 'संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक' की जगह इस संघ का नाम 'संयुक्त पुस्तक-व्यवसायी संघ' स्वीकार करें; क्योंकि यह संस्था मात्र गिने-चुने प्रकाशकों की ही नहीं, बल्कि बहुसंख्यक पुस्तक-विक्रेताओं और अल्पसंख्यक प्रकाशकों का संयुक्त मोर्चा उपस्थित करती है। वर्तमान नाम से साम्प्रदायिकता की बू आती है। (२) प्रथमतः, हिन्दी पाठकों को दृष्टि में रखकर अपना लक्ष्य तथा सम्पूर्ण पुस्तक-व्यवसाय की दृष्टि से अपने उद्देश्य निर्धारित करें। उनके कार्यान्वियन के लिये योजनाबद्ध प्रोग्राम दें। और, उन्हें आधारभूत कर संघ का विधान प्रस्तुत करें तथा उसपर अखिल भारतीय स्तर पर सहयोग पाने की चेष्टा करें—छोटे और बड़े की वैभेदिक सामन्ती भावना का परित्याग कर। सबकी सुनें और सुधार करें। मात्र नियम बनाकर जमीन्दारी भावना और प्रणाली से उन्हें मनवाने के दुराग्रह द्वारा व्यक्ति के 'अहं' को ठोकर न लगावें। (३) सदस्यता मात्र प्रवेश-शुल्क के नाम पर न स्वीकारी जाय। चूँकि यह प्रश्न शुद्ध नैतिकता से सम्बन्धित है, अतः प्रत्येक आवेदक की पृष्ठभूमि और कार्यप्रणाली की परख रखकर ही उसे सदस्यता दी जाय। (४) सदस्यों के रूप में अंगीकृत विक्रेताओं की व्यापारिक नैतिकता में पूरी आस्था रखी जाय। ऐसी स्थिति में आवश्यक होगा कि प्रकाशक स्वयं पुस्तक-विक्रेता के वेश में उनके क्षेत्र में कूदकर उनके अंश को हड़पने का यत्न न करें।

इतना कुछ होने पर ही कमीशन-सम्बन्धी नियमों की सफलता संभव है।

'पुस्तक-जगत'

[हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि मासिक पत्र]

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

१/८ डबल क्राउन के १०० से ८० पृष्ठों में ह्वाइट प्रिंट पर बहुचित्रित रंगीन छपाई तथा विशेष सजधज के साथ। साहित्यिक और व्यावसायिक दोनों दृष्टिकोणों से संग्रहणीय। साढ़े सात हजार प्रतियों में मुद्रित।

१५ अगस्त १९५९ का सितंबर के अंक के रूप में

नव-वर्ष विशेषांक

का

विज्ञापन-दर

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	: ५५.००	भीतर का पूरा पृष्ठ	: ४०.००
आवरण अंतिम " (पूरा)	: ५५.००	भीतर का आधा पृष्ठ	: २५.००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	: ५०.००	भीतर का चौथाई पृष्ठ	: १५.००

अतिरिक्त रंगों की छपाई पर, प्रति छपाई २० प्रतिशत अलग से।

साधारण अंकों का विज्ञापन-दर

[१५ अगस्त १९५९ के उक्त विशेषांक के बाद से डबल क्राउन १/८ वाला बड़ा साइज ही जारी रहेगा, किन्तु पहले जैसा ही यह विज्ञापन-दर कायम रहेगा]

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	: ५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	: ५०.००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	: ४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	: ३५.००
भीतर का आधा पृष्ठ	: २०.००
भीतर का चौथाई पृष्ठ	: १२.००

चौथाई पृष्ठ से कम का विज्ञापन हम न ले सकेंगे।

विज्ञापन विभाग, 'पुस्तक-जगत'

रजिस्टर्ड नं०—पी० ८०४   मूल्य—प्रति अंक-२५ न० पैसे ; वार्षिक-तीन रुपये

१५ अगस्त, १९५९ को प्रकाशित

'पुस्तक-जगत'

नव-वर्ष-विशेषांक

डबल क्राउन १/८ के नए आकार, ह्वाइट प्रिंट कागज, १०० पृष्ठों तक, बहुचित्रित रंगीन छपाई और उन्नत अध्ययन-सामग्री के साथ !

नए स्थायी स्तम्भ

* विश्व-भारती * भारत-भारती * वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण * सूचनाएँ : विज्ञप्तियाँ * प्रकाशन-कला * कसौटी [पुस्तक-समीक्षा] * नए प्रकाशन * समस्याएँ : टिप्पणियाँ * बातों के टुकड़े * उनके प्रश्न : इनके उत्तर [विषय-विशेषज्ञों द्वारा प्रश्नकर्ताओं के प्रश्नों के उत्तर] * पुस्तकालय-वाचनालय * दृष्टिकोण [किसी सम्मानित पुस्तक पर उसके प्रकाशक, लेखक और विभिन्न पाठकों के विचार] * हमें यह कहना है [सम्पादकीय]

विशेष निबंध-विषय

* भारतीय प्रकाशन : भूत, वर्तमान, भविष्य * प्रकाशन और नए लेखक * एक योजना : हिन्दी में पाठक कैसे बढ़ें ? * पाठ्य-पुस्तकों की समस्याएँ * शिक्षा और साहित्य पर राजकीय हस्तक्षेप वांछनीय है कि नहीं * पुस्तक-प्रकाशन : उत्तरदायित्व * पुस्तक-विक्रय : उत्तरदायित्व * बिहार का प्रकाशन : भूत, वर्तमान, भविष्य * हिन्दी में अनुवाद * हिन्दी के अनुवाद * हिन्दी मुद्रण में एकरूपता * प्रूफ-पाठ : विश्लेषण * पुस्तकालय और सरकारी अनुदान * पुस्तक और पुरस्कार * राज्याश्रय और साहित्यकारों की जीविका * प्रकाशन क्षेत्र के तीन महान : संस्मरण * हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ * बिहार में पत्र-पत्रिकाएँ * पत्र-पत्रिकाएँ : पाठकों की समस्या * हिन्दी में कोष और संदर्भ-ग्रंथ * वयस्क-साहित्य की समस्याएँ * बाल-साहित्य की समस्याएँ * हिन्दी भाषा की समस्याएँ * प्रकाशन और विक्रय : मेरे अनुभव * विभिन्न वर्गों की वाचन-प्रवृत्ति * युद्धोत्तरकालीन विदेशी कविता, कथा और राजनीतिक साहित्य * हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के राष्ट्रीय पुरस्कार पानेवाले ग्रन्थ आदि ।

मूल्य—एक रुपया : ग्राहक-सदस्यों को यथाक्रम



ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०,
पटना-४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित ।

पुस्तक-जगत



हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

अगस्त, १६५६ : अंक—१२ [प्रकाशन का पंचम वर्ष] संपादक : अखिलेश्वर पांडेय

क्या लेखक के लिए प्रकाशक बनना वांछनीय है ?



श्री मधुकर गंगाधर

'पुस्तक-जगत' के पिछले कई अंकों में इस अखिल-भुवन-व्याप्त प्रश्न पर गंभीर विवेचना एवं विचार प्रस्तुत किये गये। कुछ लोगों ने स्वयं भोगे अनुभवों के सहारे, विषय की गंभीरता को समझते हुए, उत्तरदायित्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये; कुछेक लेखकों ने इस 'शीर्षक' की ओट से अपनी हीन-भावना का प्रलाप एवं व्यक्तिगत बैर को प्रकट किया। सब मिला कर निष्कर्ष कुछ खास नहीं निकला। और, यह कोई बड़ी अथवा नई बात नहीं हुई; क्योंकि ऐसे प्रश्नों के सामूहिक उत्तर अक्सर पगडंडी-पंथी होते ही हैं। यह इसलिये भी संभव हुआ कि प्रश्न को विश्लेषित करने के बजाय फतवामार समाधान प्रस्तुत किया। एक और भी बात ध्यान देने योग्य हुई। जैसा कि जून-अंक में श्री मदनजी मिश्र ने संकेत किया 'इस प्रश्न को लेकर जो गर्मी पैदा हुई, उसमें लेखकगण ही अधिक तपे—या हाथ सेंकने लगे। प्रकाशकों में से किसी ने भाग नहीं लिया।'

श्री मदनजी के इस कथन में सत्य की काया स्थूल है। लेखकों ने मिलकर, लेखकों की समस्या पर विचार किया और प्रकाशक को एक कल्प-वृक्ष समझा। और, इस बात का खंडन प्रस्तुत अंक के पहले एक प्रकाशक (श्री दयानन्द वर्मा) ने किया। इन दोनों नामों ने मिलकर लेखकों के सामने प्रकाशक बनने के लिये वर्जना की तर्जनी उठाई है, यद्यपि दोनों के विचार में काफी अन्तर है। श्री मदनजी मिश्र ने लेखकों से कहा है कि प्रकाशक बनने से वे स्तरीय-सिंहासन से नीचे आयेंगे और श्री वर्मा ने कहा है कि लेखकों के लिए प्रकाशक बनना पहाड़ी अभियान है।

प्रस्तुत प्रश्न की गंभीरता को समझने के लिए यह मुनासिब है कि हम प्रस्तुत प्रश्न को उसकी सम्पूर्ण व्यापकता के साथ तोलें। पिछले अंकों में अक्सर ऐसा हुआ है कि प्रश्न के आंशिक सत्य को चिंतन का आधार बनाया गया है, फलस्वरूप निष्कर्ष विकलांग रहा है। यह समस्या मात्र नौसिखुए अथवा भारतीय साहित्यकारों के साथ नहीं है। इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस-जैसे देशों में भी, जहाँ एक पुस्तक प्रकाशित होने पर लेखक निकटवर्ती मोटर-कंपनी को फोन करता है, कुछ लेखक-कवि फुटपाथ के किनारे दो आने, दस पैसे में कवितायें बेचते हैं। और, उन लेखकों के साथ, जिन्हें पहली पुस्तक पर कार खरीदने का सौभाग्य मिलता है, कभी-कभी ऐसा क्षण आता है कि वे भी प्रकाशक बनने का ख्वाब देखते हैं।

हमारे अभी के सोचने का विषय वस्तुतः बहुत बेढंगा है। बेढंगा इसलिये कि इस प्रश्न के साथ एक ऐसा जुड़वाँ पैदा है, जो प्रस्तुत प्रश्न का समाधान अपने आप में लिये है। क्या लेखक के लिए प्रकाशक बनना जरूरी है? क्या प्रकाशक के लिए लेखक बनना जरूरी है। जो बंधु लेखन-कला को देव-दत्त मानते हैं, वे चटाक् से उत्तर दे देंगे, किन्तु वैसे लोगों के लिए हमारे वैज्ञानिकों ने चंद्रलोक तक सीढ़ी तैयार कर दी है। धरती का कोई भी समझदार आज यही कहेगा कि या तो दोनों प्रश्न एक-से अनोखे हैं या एक-से बेहूदे।

कारण है। आज के वैज्ञानिक-औद्योगिक युग में श्रम-विभाजन के सहारे संसार की महफिल रौशन है। लेखन एक कला है, जिसका उत्स मनोवैज्ञानिक एवं वातावरणगत है,

विकास सदा अभ्यास का अनुयायी है। प्रकाशन के साथ भी यही बात है। अगर हम यह मान लें कि पहले के गाँवों की तरह आज एक ही आदमी को ज्योतिषी और शिक्षक और वैद्य और न्यायाधिकारी होना संभव और आवश्यक है, तो यह माना जा सकता है कि लेखक प्रकाशक बने या प्रकाशक लेखक बने। विषय को गंभीरतापूर्वक सोचने पर पता चलता है कि आज का लेखक केवल लेखक बना रहना चाहता है, कवि केवल कवि रहना चाहता है, वह एक साथ लेखक और कवि नहीं होना चाहता। इसमें सूक्ष्मता आती जा रही है, कोई केवल उपन्यास या नाटक या निबंध या गीतों पर 'विधा-विशेषज्ञ' होने का प्रयास कर रहा है। प्रकाशकों के साथ भी ऐसी ही बात है। वह टेक्स्ट-बुक छापे या केवल नाटक छापे या विनोबा-साहित्य छापे—एक समस्या है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत प्रश्न का समाधान स्वयं उपस्थित हो जाता है।

लेकिन ऐसा प्रश्न आज हमारे सामने है। नहीं मानने का कोई कारण नहीं; क्योंकि 'पुस्तक-जगत' ही नहीं, कई जगह यह प्रश्न उपस्थित किया गया एवं किया जा रहा है, तथा उसमें बड़ी संख्या में लोग भाग लेते हैं। इसका एक ही कारण है। हमारे देश में अभी लेखन और प्रकाशन—दोनों व्यवसाय कच्चे हैं। फलस्वरूप लेखक और प्रकाशक दोनों के साथ अपनी दिक्कतें हैं। लेखक रोता है, प्रकाशक पेट नहीं भरता है; प्रकाशक रोता है, तुम्हारी किताबों से मुझे क्या मिला? और, इस समस्या के मूल में पाठकों की कमी, प्रेस-व्यवसाय का अधूरा इसलिये मँहगा सौदा, कागजों की कमी और सरकारी आफिसों की धाँधली वगैरह है। कुछ प्रकाशक हैं, जो रालस पर चलते हैं, कुछ लेखक भी हैं जो हेलिकॉप्टर उड़ाते हैं। मोटी और कीमती पुस्तकों की बातें छोड़िये, पाकेट-बुक की प्रतियाँ पाँच-सात हजार से अधिक नहीं छापी जाती हैं। फिर रायल्टी क्या मिलेगी? और लेखक, वह या तो लकीर पीटता है या सर। हिन्दी की बात लीजिये, प्रेमचन्द ने पाठक तैय्यार किये—उनके वंशधर पानी की तरह पेट्रोल उड़ाते हैं।

आदिम-युग से हर व्यक्ति मिहनत और अक्ल की रोटियाँ खाता आया है। आज भी वही बात है। जो जितनी बड़ी अक्लमन्दी कर दिखाता है, समाज उसे उतनी ही इज्जत और उतनी ही सुविधायें देता है। इस धरातल पर लेखक और प्रकाशक एक समान असहाय हैं।

फिर भी इस सवाल का एक हिस्सा बचा रह जाता है। मिहनत की कमाई खाना सही है, किन्तु किसी और की मिहनत हड़प लेना गुनाह है। अक्ल जब फरेब और जालसाजी का रूप ले ले, तो समाज का बेड़ा डूबने लगता है। इस प्रश्न की सत्यता की जाँच करने के पहले हमें इस बात को साफ कर लेना होगा कि जितने प्रकाशकों के सर पर ताज हैं, क्या वे लेखकों की मिहनत पर आधारित हैं? फिल्म में लेखकों की कहानियाँ ली जाती हैं—पैसे भी अच्छे मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी लेखक और फिल्म-निर्माता में आकाश-जमीन का अन्तर है। जौहरी या सिमेन्ट का ठेकेदार भी राजमहल बना लेता है। और, प्रकाशकों की ओर से यदा-कदा कहते सुना है: लेखक भैय्या! फुलस्केप पर स्याही छिड़ककर तुमने पुस्तक तो दे दी, मगर यह कटिंग, बाईंडिंग, छापे की लोहे वाली मशीन? यार, बड़ी पूँजी लगी है!

और, इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखक और प्रकाशक का झमेला सम्पूर्ण धरती पर फैले पूँजी और श्रम के संघर्ष से भिन्न नहीं और कोई उत्तर देनेवाला प्रिंस क्रोपाट्किन ही हो सकता है जिसके गले में ताकत हो और कह सके कि वकील बनो या डॉक्टर, पहले समाज

की आर्थिक और राजनीतिक हालत सुधारनी होगी, तभी मानव का कल्याण संभव है।

इस प्रश्न-पूत के साथ कुछ खिलौने भी हैं। लेखक की ओर से भेंट किये गये :

१. प्रकाशक 'गुण' से ज्यादा 'प्रभाव' पर ध्यान देता है, फलस्वरूप वह निर्मम व्यवसायी है।

२. प्रकाशक कम रॉयल्टी देता है।

३. प्रकाशक रॉयल्टी का हिसाब ठीक नहीं करता है और ज्यादा प्रतियाँ छाप कर बेच लेता है।

प्रकाशकों की ओर से :

१. प्रकाशन 'बिजनेस' है, विक्रमादित्य का दर्बार नहीं कि 'गुणज्ञों' के नाम धर्म-खाता खोला जाय।

२. देश में कागज एवं पाठकों के अभाव के कारण कम प्रतियाँ छपती हैं फिर ज्यादा रॉयल्टी कैसे दी जाय ?

३. कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं, जो केवल 'एडवान्स' खाते हैं, पांडुलिपि से भेंट नहीं होने देते।

दोनों ओर के खिलौने वास्तविक रोचकता लिये हैं और फलस्वरूप इन खिलौनों की वजह से बाल-बुद्धि लेखक और दूध-पीते प्रकाशकों में खटपट भी हो जाती है। किन्तु ये घटिया बातें हैं, जिनका मूलसमस्या से कम ही संबंध है। मूल समस्या है कि लेखक कबीर का कौन-सा दोहा गाये :—

कहे कबीर दो नाव न चढ़िये
दोनों चलै बीच में गिरिये,

या

कहे कबीर दोनों पर चढ़िये
एक डुबै, एक लै रहिये !

यह प्रश्न बहुत हल्का नहीं है कि तुरत जवाब दे दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई एक जवाब संभव भी नहीं है। व्यक्ति की प्रतिभा, प्रवृत्ति, साधन और वातावरण के अनुसार ही कोई काम होता है। लियोनार्डो-डा-विन्ची जैसे बहु-धंधी या हेनरी-फोर्ड जैसे एक-धंधी, क्या सब हो सकते हैं ? फिर लेखक क्या हो—प्रकाशक या अपनी कृतियों को देश-विदेश पहुँचाने वाले जहाज का कप्तान या कि केवल लेखक—आज की अर्थ-नीति और राजनीति की पेचीदगी में कहना कठिन है। इलिया-एहरेनबुर्ग-जैसे लेखक प्रकाशक तथा नागार्जुन जैसे कृतियों को कछुए के अंडे की तरह प्रकाशकों के घर फेंक कर फक्कड़ रहने वाले दो सीमान्त हमारे सामने हैं।



पिछले महायुद्ध में लेखक अपनी पांडुलिपियाँ अपने साथ लेकर मर गए। प्रकाशक ने कहा—वह किताब छाप नहीं सकता ; क्योंकि कागज नहीं मिलता। शिक्षा-विभाग को इस ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं था। किसी को उस वक्त याद न आया कि लेखक भी कोई जीवधारी है और आज जब लेखक अपने लिए कहीं जगह पा ले, तो इसपर नुक्ताचीनी कैसी ? फिर रेडियो की नौकरी क्यों ? नौकरी-मात्र क्यों नहीं ? लेखक भी तो मनुष्य ही है ! मेरी समझ से तो इस देश में लेखक सबसे अधिक असुरक्षित है। उसके लिखने की 'मजदूरी' कोई भले ही दे दे ; किन्तु उस 'मजदूरी' के लिए उसे जितना श्रम करना पड़ता है, उसकी तुलना में मजदूरी होती भी क्या है ?

—पं० माखनलाल चतुर्वेदी

हिंदी-सेवा या आत्म-प्रवंचना



डॉ० रामखेलावन पांडेय

हिंदी का यह सौभाग्य ही मानना पड़ेगा कि इसमें लेखकों, आलोचकों, प्रकाशकों और विक्रेताओं का अभाव नहीं है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि प्रत्येक लेखक को आलोचक अथवा प्रकाशक मिल ही जाता है, बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि अलग-अलग देखा जाय तो इनमें से प्रत्येक की संख्या कम नहीं है। हिंदी के विशाल क्षेत्र को देखते हुए यह संख्या पर्याप्त नहीं भी मानी जा सकती है और इनमें से कितने उच्च कोटि में आवेंगे, इसका लेखा-जोखा यदि भिड़ का छत्ता नहीं तो झगड़े का घर जरूर है। इनमें से प्रत्येक का दावा है कि वह हिंदी की सेवा कर रहा है और उसकी शिकायत है कि हिंदीवाले उसकी सेवाओं का उचित मूल्य नहीं आँकते ; नहीं आँक पाते। यह भी कहा जाने लगा है कि वे आँक सकने की क्षमता संभवतया नहीं रखते। इनकी मानसिक क्षमता और ईमानदारी पर आए दिन आक्षेप किए जाते हैं। गुप्तजी ने लिखा है—"जय देव-मंदिर-देहरी। समभाव से जिस पर चढ़ी। नृप-हेम-मुद्रा और रंक-वराटिका।" और, इनमें से अधिकांश को भ्रम हो गया कि उनकी "रंक-वराटिका" और "हेम-मुद्रा" में अन्तर देखना साहित्य-सेवा का अनादर करना है। सेवा को साधना मान लेना साधारण है और इस प्रकार सेवक अपने को साधक कहने लगा तो आश्चर्य ही क्या ? आधुनिक काल के आरम्भ में, जिस समय हिंदी को राजकीय मान्यता नहीं मिली थी, हिंदी में लेखन को सेवा का नाम दिया गया, जो उचित ही था। समय परिवर्त्तित तो हुआ, हिंदी में लिखना ही हिंदी की सेवा न रहा, फिर भी सेवक बने रहे और इतने से ही जब संतोष न हुआ तो सेवक साधक बने और अपने को दधीचि मानने को विवश। काव्यप्रकाशकार मम्मट को इनकी समझ में यह बात न सूझी थी—इनलोगों को तरस खाना पड़ता है—नहीं तो अर्थ-प्राप्ति और यशोपलब्धि के साथ साहित्य-सेवा की चर्चा वह अवश्य करता। सो, लेखक यश और अर्थ के लिए लिखता है, यद्यपि यश से अर्थ और अर्थ से यश मिलता है, इसे स्मरण रखना ही उचित होगा। इसका अर्थ हुआ साहित्य **अथवा हिंदी की सेवा करनेवाला सबसे पहले अपना सेवक है और उसके बाद ही सेवक अथवा साधक।** अपनी सेवा के लिए हिंदी को माध्यम बनाने वाले को क्या हिंदी का सेवक मानना ही होगा ? यदि व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष को भ्रम हो गया हो, तो क्या उस भ्रम का हमें भी पोषण करना ही पड़ेगा ? कुछ उदाहरण दे रहा हूँ। मैं अध्यापक हूँ और हिंदी का ही। हिंदी में कुछ लिखने का शौक भी पालता रहा हूँ। तो क्या हिंदी की सेवा है या आत्म-सेवा ? हिंदी मेरी जीविका का साधन रही है, **हिंदी मेरी सेवा करती आई है, मैं तो उसकी सेवा नहीं करता।** यदि मैं कम्पोजिटर होऊँ अथवा प्रूफ-रीडर, एवं पर्याप्त अंगरेजी-ज्ञान के अभाव में केवल हिंदी के अक्षरों को ही जोड़ूँ-मिलाऊँ तो क्या यह भी हिंदी की सेवा होगी ! मैं यदि प्रकाशक बनूँ तो हिंदी की पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ेंगी ; अंगरेजी का बाजार-भाव तो नहीं घटा है पर इसे समझनेवाले छात्र कम हो गए। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए हिंदी के माध्यम से विषयों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में हिंदी-पुस्तकें छापता होऊँ—चाहे उनका नाम

'एक अध्ययन', 'एक समीक्षा' अथवा 'विवेचनात्मक अनुशीलन' ही क्यों न हो—तो क्या सभी से हिंदी-सेवा मनवाने का मुझे यत्न करना ही चाहिए ? यदि अंगरेजी तथा अन्य भाषाओं के माध्यम से कार्य करने का सामर्थ्य रखते हुए हिंदी के माध्यम से ही अपने आप को अभिव्यक्त करूँ, व्यक्तिगत कार्यों का संपादन हिंदी के माध्यम से ही सम्पन्न करूँ तो हिंदी-सेवा जरूर कही जाय, किंतु यदि दर्शन अथवा तर्क-शास्त्र की पाठ्यानुकूल पुस्तकें लिखूँ तो हिंदी-सेवा नहीं होगी; क्योंकि हिंदी के माध्यम से उन पुस्तकों की खपत अधिक होती है। अंगरेजी में वाग्मिता प्रदर्शित करने की क्षमता रखते हुए यदि विधान-सभा अथवा संसद में हिंदी-भाषण करूँ तो हिंदी की सेवा होगी, अन्यथा नहीं। **विवशता को सेवा की संज्ञा नहीं मिल सकती ; अपनी उन्नति के लिए हिंदी को सोपान बनानेवाले हिंदी के सेवक नहीं, साधक नहीं। इन्हें एक सीमा तक हिंदी का शत्रु ही मानना चाहिए।**

प्रत्येक लिखनेवाला लेखक नहीं होता, प्रत्येक लेखक लिखता तो है ही (टंकन की सुविधा के कारण लिखने की प्रणाली शिथिल होती जाएगी, एवं सम्पन्न लेखक साधारणतया लिखता नहीं लिखवाता है)। यदि लिखनेवाले को लेखक होने का भ्रम हो जाय तो इसकी चिकित्सा क्या है ? भ्रम क्यों होता है ? इसे यदि साधारण दृष्टि से भी देखा जाय तो इसमें दोष मिलेगा हिंदी के पितामहों का, क्योंकि वे अपने प्रारंभिक काल की तुला पर आज के नव-लेखन को तौलने लगे हैं। इन बड़े-बूढ़ों की आशीर्वाद-व्यवस्था कम कुफल के बीज नहीं बोती ! आलोचकों की वरदहस्तता कम कगारे नहीं ढाहती। यदि लेखकों अथवा कथाकारों के संबंध में यह कहता हूँ कि 'बंगला और

अंगरेजी के ग्रंथ वे इसलिए पढ़ते हैं कि उनका कितना अंश बेखटके पचाया या खपाया जाय, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि आलोचक इस रोग से मुक्त हैं, अथवा मैंने—आलोचक कहे जाने के कारण—आलोचकों के वर्ग को अलग कर रखा है। बिहार राज्य के एक अतिप्रसिद्ध साहित्यकार ने कहीं कहा था कि आलोचक दलाल हैं और हमें दलालों की जरूरत नहीं। हम बेखटके अपना माल बाजार में निकाल लेते हैं, आलोचक अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बने रहें। ऐसे लोगों का गर्जन होता है कि साहित्य की गति आलोचकों के कारण अवरुद्ध होती है। सचमुच यदि आलोचक दलाल है, तो उसकी आलोचना को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं होगा। दलालों को दलाली जो देनी पड़ती है, उसे देने को जब लेखक तैयार नहीं होता, तो दोनों में भिड़न्त होगी ही। मुफ्त की दलाली तो नौसिखुए करते हैं,

सधे दलाल नहीं। दलाली चाहनेवाले साहित्यकार कहते हैं—"देखो न इन आलोचकों को, इनके पास किताबें भेजीं, प्रायः सौ प्रतियाँ नष्ट हुईं और इनके कान पर जूँ तक न रेंगी। भला मेरी साहित्य-साधना का यह अपमान!" मैं उनसे कहना चाहूँगा—"नहीं भैया, यह साहित्य-साधना का अपमान नहीं, तुम्हारी बुद्धि का चक्कर है। दलाली करानी है तो घाघों के पास मत फटको, नौसिखुओं को चारे लगाओ।" हिंदी साहित्य के संबंध में एक जगह घोर चर्चा उठी तो किसी ने कहा (मैं बैठा था, अतः व्यंग्य मुझ पर था) "आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी में कोई आलोचक नहीं हुआ।" मैंने उनसे कहा—"ठीक ही तो है, यदि तुम आचार्य शुक्ल के बाद हिंदी में किसी को आलोचक नहीं मानते, तो मुझे एकदम बुरा नहीं लगता। लेकिन एक बात और! यदि प्रेमचन्द के बाद किसी को उपन्यासकार, प्रसाद के बाद किसी को नाट्यकार अथवा कवि, एवं निराला के बाद किसी को मैं कवि न मानूँ तो इसी न्याय से तुम्हें भी बुरा तो नहीं लगना चाहिए।" तात्पर्य यह है कि हिंदी का प्रत्येक सेवक अपनी सेवाओं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, एवं अपनी साधना को सिद्धि की चरम परिणति, एव अन्यों की सेवा-साधना को तुच्छ और नगण्य मानता है और औरों से इसे मनवाने की चेष्टा भी कम नहीं करता। **साधना को सिद्धि मानना प्रवंचना की अन्तिम सीमा होती है।**

आलोचक अपने बुखार को आलोचना, अपनी खीझ और झुँझलाहट को विवेचना कहे तो क्या उन्हें भी हम सेवा की संज्ञा दें ही। मित्रता-निर्वाह नीर-क्षीर-विवेक नहीं, व्यावहारिक ज्ञान की परिणति है। इनमें कुछ रहस्यवादी हैं और कुछ हैं सम्प्रदायवादी। रहस्यवादी अपनी अटपटी वाणी में कोई उलटबाँसी कह देता है और मारिए इसपर अपना माथा। ब्रह्मज्ञान तो शायद साधना के बल पर मिल भी जाय, पर इनके शब्द-ब्रह्म का ज्ञान नहीं मिल सकता। सम्प्रदायवादी कहता है—अब तो मूड़ दिया, कमाओ-खाओ और कुछ-कुछ अथवा थोड़ा-बहुत हमें भी खिलाओ। कुछ भंडारी हैं और कुछ महंथ। भंडारी कहता है, जो भांडार में आ गया ठीक है, "जो आवता है सो आने दो" और महंथ इतने से ही संतोष कर लेता है कि मेरे गुरुद्वारे में माथा टेक गया, क्या इतना ही कम है? कोई नवलेखक जब गुरुद्वारे में पहुँचा तो महंथ ने आशीर्वाद दिये, अभयता का वरदान दिया और अपने मंत्र का कवच। बस क्या, भारतेन्दु के शब्दों में, वे "कुप्पा भए हैं सुन के बफरते माल।" और ये हैं हिंदी के सेवक, हिंदी-सेवा के हामी।

लेखकों की चर्चा भी थोड़ी हो जाय। रोनी-सूरत बनाये चले आ रहे हैं, कहीं मुठभेड़ हो गई तो शिकायतों की गठरी खुली। भला देखिए तो अन्याय! दस वर्षों तक लिख रहा हूँ, प्रकाशक पाण्डुलिपियाँ लौटा देते हैं, सम्पादक कविताएँ नहीं छापते और राष्ट्रभाषा परिषद् प्रोत्साहन पुरस्कार नहीं देती। लोग भूल जाते हैं कि प्रकाशक सभी पाण्डुलिपियाँ नहीं छाप सकते, सम्पादक केवल कविताएँ ही नहीं छापते और राष्ट्रभाषा सभी नए लेखकों को प्रोत्साहन पुरस्कार नहीं दे सकती। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के राँची अधिवेशन में एक प्रस्ताव आया कि सरकार लेखकों के लिए वजीफे की व्यवस्था करे जिससे वे निश्चिन्त रह कर साहित्य-सेवा कर सकें। सुनने में बात भली ही लगी, किन्तु, जरा सोचा जाय। वजीफे की घुड़दौड़ में पचास प्रतिशत का लेखन-कार्य यदि छूटा नहीं तो मन्द जरूर पड़ेगा। प्रसिद्ध लेखकों की चिन्ता है कि उनकी पुस्तकें पाठ्य-क्रम में लग जायँ, सभी को

अपनी-अपनी दुश्चिन्ताएँ हैं, उनसे मुक्ति मिल जाय। पुस्तकें इस दृष्टि से लिखी जाती हैं, और वे पाठ्य-क्रम में नहीं आईं तो इनका आक्रोश सहन करना पड़ता है बोर्ड के सदस्यों को। मैं यह नहीं कहता कि बोर्ड के सदस्य पूर्वग्रह-मण्डित नहीं; अथवा इनके निर्णय सदा उचित एवं आग्रहहीन होते हैं, किन्तु, इतना तो कहना ही चाहूँगा कि पाठ्य-क्रम के लिए रचित ग्रंथ साहित्य-सेवा के लिए नहीं हैं, साहित्य-साधना के परिणाम नहीं हैं।

सेवकों की सेवाओं और साधकों की साधना को आकार देनेवाले हैं प्रकाशक। प्रकाशक व्यवसायी हैं और व्यवसाय का उद्देश्य है द्रव्योपार्जन। कुछ लेखक प्रकाशक हुए और प्रारंभिक युग में उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की; उनका लेखन-कार्य छूटता-सा गया, व्यवसाय फैलता-फूलता और फलता रहा। हिंदी के लेखकों का ध्यान उनकी ओर सहज भाव से गया और लेखकों को प्रकाशक बनते देर नहीं लगी। जिनकी पुस्तकें पाठ्य-ग्रंथ के रूप में स्वीकृत हो गईं अथवा स्वीकृत करा ली गईं, तो प्रकाशक बनना और अधिक सहज तथा स्वाभाविक हो उठा; क्योंकि ऐसी पुस्तकें खपती अधिक हैं और इनके लेखकों की आशाएँ असीम हो उठती हैं। सभी प्रकाशक दूध के धोए हो भी नहीं सकते और इनके द्वारा किया गया हिसाब-किताब संतोष-जनक नहीं हुआ तो लेखक का दोष क्या है? ऐसे लेखक, जिनके कई ग्रंथ पाठ्य-क्रम में स्वीकृत हैं, अथवा वे जो स्वीकृत कराने की क्षमता रखते हैं, प्रकाशक बनते हैं। ऐसे प्रकाशन आलोचकों को पहुँचाए जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं को समीक्षार्थ समर्पित किए जाते हैं (कभी-कभी इनकी आलोचनाएँ लिखकर अथवा लिखवा कर भेज दी जाती हैं)। अनुकूल आलोचनाओं की आकांक्षा रहती है जिनसे पाठ्य-ग्रंथ-निर्धारण-समितियों के सदस्यों को प्रभावित-आतंकित करने में सुविधा हो। अनुकूल आलोचना लिखने वाले को महत्तम आलोचक कहा जाता है। इस प्रकार ऐसे आलोचक समर्थ साहित्यकार की प्रशंसाओं का भार वहन करते हैं। प्रतिकूल अथवा पूर्णतया अनुकूल आलोचना अथवा समीक्षा नहीं, तो आलोचक को साहित्यिक संवेदनारहित, पक्षपातपूर्ण और कूढ़मग्ज माना गया। सबसे बड़ी कठिनाई है कि ये सभी हिंदी के सेवक हैं, साधक हैं।

इनकी देखा-देखी प्रकाशकों से असन्तुष्ट नवलेखक दुस्साहस कर बैठें, तो उनकी लाचारी है। यशःप्रार्थी किन्तु साधन-सम्पन्न नवलेखकों को सुविधाएँ हैं, वे अपने साधनों के बल पर ग्रंथ प्रकाशित करा लेते हैं, उन पुस्तकों की भेंट मित्रों और प्रसिद्ध व्यक्तियों को मिल जाती है। साधनहीन लेखक यदि दुस्साहस कर बैठता है, तो धक्के खाता है। हिंदी की सेवा का अर्थ हो गया है, कविता लिखो, कहानी लिखो, नाटक लिखो, उपन्यास लिखो, और यदि कुछ न लिख सको तो आलोचना ही लिख डालो। उस युग को अब तक समाप्त हो जाना चाहिए था जिसमें इनका लेखक साहित्य-सेवक के रूप में स्वीकृत किया जाता था। हिंदी की सेवा करनी है तो उन विषयों की ओर ध्यान ले जाइए जिनका हिंदी में अभाव है। स्वाभाविक क्षमता है, कविता जरूर लिखिए, किन्तु अपनी नासमझी को कविता का नाम देकर प्रचलित करने की चेष्टा मत कीजिए। सम्मानित संस्थाएँ भी सेवकों का—स्वयं-सेवकों (अपने आपकी जो सेवा करे) का दल संगठित कर रही हैं, ये भी साहित्य की सेविकाएँ हैं—हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; हिंदी साहित्य सम्मेलन, बिहार; राष्ट्रभाषा परिषद् आदि। इनमें आत्म-सेवी स्वयंसेवकों को सेवा करने का अबाध अवसर उपलब्ध है।

आत्म-सेवी स्वयंसेवक भी हिंदी के सेवक हैं, साधक हैं।

कहावत है "गँवार की भैंस ब्यायी तो सभी मटके लेकर दौड़े।" हिंदी के सेवकों में मटके लेकर दौड़ने वालों की संख्या किसी प्रकार अल्प नहीं। महात्मा गाँधी ने गाँव की सोयी आत्मा जगायी, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की अनिवार्यता का उद्घोष किया। प्रेमचंद की भाषा में ऐक्य-संगठन की मान्यता का प्रतिफलन है। गाँवों की ओर लौट चलने का जो संदेश उन्होंने दिया था, उसका साहित्यिक संयोग "गोदान" है। गोदान कृषि-सभ्यता का शोक-गीत है। गोदान की भाषा गँवारू नहीं, उसमें प्राकृतिक वातावरण और सहज अभिव्यक्ति की सुरक्षा है। सहज अभिव्यक्तियाँ "लमही" की ही नहीं हैं। हिंदी-भाषी क्षेत्र के ग्राम-संयोजन की उपयुक्तता उसमें है। एक नई ऊँटनी चली आंचलिकता की, उसकी टकसाल खुल गई, प्रगतिवादियों ने इन बैलगाड़ियों में प्रगति के नए रबर के टायर बाँधे! बस क्या, शहरों की सड़कों पर मटरगश्ती लगानेवाले गाँवों की ओर लपके। क्षेत्रीय भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें व्यंजना की अपार क्षमता है, इसमें संदेह नहीं, किन्तु यह क्षमता किसके लिए है? उसके लिए, और केवल उसके लिए है जो उस भाषा के मर्म को आत्मसात् कर चुका हो। व्यंजकता शब्द की आरोपित एवं प्रक्षेपित सम्पदा है जिसके मूल में रूढ़ि-संयोजन-शीलता एवं प्रयोजनमूलक संघटना है। कलम-कुदाल लेकर साहित्य-बाड़ी में नई पौध लगाने के सोत्साही लेखकों को यह कैसे समझाया जाय? यह साहित्य की सेवा नहीं, फैशन की सेवा है। एक रंग की कई छायाएँ हैं, एक गंध की भिन्न कोटियाँ हैं, इनके लिए नवीन शब्द-संयोजन चाहिए। यह सब न समझ-बूझ जेब में आंचलिकता को ढोनेवाले साहित्यिक भी हिंदी के सेवक ही हैं। अर्थात् हिंदी में सेवा और साधना की चर्चा-ही-चर्चा है; सेवकों और साधकों का प्रचार-ही-प्रचार है!

यह गाढ़ा समय है, हिंदी को सेवकों की नहीं, स्नेहियों की अपेक्षा है। जिनमें आवेश हो, आग्रह हो, साधना को केवल मार्ग मानने का साहस न हो। सेवा और साधना प्रवंचना-मात्र न हो।



उपन्यास : कल्पना और यथार्थ



श्री संजय

राम के जन्म के पहले ही रामायण की रचना हो गई थी—इस रूपक के जैसा सत्य, लगता है कि, साहित्य के क्षेत्र में और दूसरा नहीं है। इस एक बात के बीच ही सर्वाधिक स्पष्टता के साथ कहा गया है कि वास्तव सत्य और साहित्यिक सत्य कदापि एक नहीं हैं। कवि की कल्पना से राम की जो जन्मभूमि निर्धारित होगी, वह 'अयोध्या से भी अधिक सत्य' है। किन्तु, रवीन्द्रनाथ की इस धारणा को आज कुछ नए सिरे से कह देने की आवश्यकता है। क्योंकि, आज आपने देश के नए साहित्य-निर्माता और पाठक जड़-सत्य को ही साहित्य का चरम-सत्य मानने के लिए उतावले हो रहे हैं। फलतः, साहित्य से धीरे-धीरे कल्पना विदा ले रही है। पाठकों की इच्छा पूर्ण करने के लिए सन्नद्ध साहित्यकारों के द्वारा, लगता है कि, अन्ततः कल्पना को मृत्यु वरण करना होगा—जिसका अर्थ होता है, साहित्य की ही आत्महत्या।

किन्तु, साहित्य का सम्पूर्ण 'ट्रेडिशन' दूसरी ही बात कहता है। साहित्य का प्राण केवल विशुद्ध प्रतिच्छवियों का ही बिम्बधारक नहीं है, बल्कि कल्पना का ग्राहक है। साहित्य का प्रकृत रस कल्पना का आश्रय पाकर ही पूर्णता प्राप्त करता है।

अँगरेजी साहित्य में पृथिवी के सभी देशों के चरित्र हैं, किन्तु वे सभी अँगरेजी में ही वार्तालाप करते हैं। 'अरेबियन नाइट्स' के नाट्याभिनय में बगदाद के बेगम-बादशाह तक अँगरेजी में ही बातचीत करते हैं। केवल वातावरण की अभिव्यक्ति के कारण ही वे अपने अँगरेजी उच्चारण को कुछ अरबी ढंग पर विकृत कर लेते हैं। किन्तु, इसके लिए किसी ने अबतक आपत्ति नहीं की। बर्नाड शॉ के पात्र जिस प्रकार अनर्गल ठट्ठेदार और अर्थपूर्ण बातें करते हैं, वास्तव जीवन में किसी अँगरेज को वैसी बात करते हम नहीं देखते हैं। फिर भी, उनके विरुद्ध हमारी कोई आपत्ति नहीं है।

किन्तु, एक इससे भी बड़ी बात है। लगता है कि पाठकों की वास्तव सत्य की भूख को मिटाने के फेर में साहित्य कुछ दिनों में ही भूगोल में रूपान्तरित हो जायगा। एक अंचल का क्षेत्र, उसकी छवि, परिवेश, वहाँ क्या प्राप्त होता है और क्या नहीं होता, वहाँ के लोगों की भाषा और चरित्र—इस सब का यथायथ वर्णन करना भौगोलिकों का दायित्व है, साहित्यिक का नहीं। इसके बावजूद, आज हममें से कोई दो महीने कश्मीर के पहाड़ों पर काट आते हैं, एक महीना गंगा-कोसी के मछुओं के साथ रह लेते हैं, या कोई लंका-द्वीप की किसी जोड़ी को किसी बन्दरगाह पर उतरते देख लेते हैं और शुरू कर देते हैं एक आंचलिक या वास्तववादी उपन्यास। और, पाठकगण अपने अपरिचित और अगत भूगोल को साहित्य समझकर देने लगते हैं वाहवाही। वाहवाही तो इन सब लेखकों को अवश्य मिलनी चाहिए और उनके साहित्य-रस के कारण मिलनी चाहिए, अर्थात् उनके उपन्यास में जितनी कल्पना है उसी के लिए ही—वास्तव चित्रों के लिए नहीं। यह वाहवाही इस कारण भी नहीं मिलनी चाहिए कि समाज-जीवन या परिवेशनों के चित्र डाकुमेन्टरी फिल्मों में और भी स्पष्ट, और भी जीवन्त होकर उपस्थित किए जाते हैं। यदि साहित्य की वास्तवता कृतित्व भर ही है, तो डाकुमेन्टरी फिल्म साहित्य से भी अधिक ऊँचे दर का शिल्पकर्म अवश्य है।

फोटोग्राफ और चित्र-शिल्प में अन्तर समझाने के लिए, एक ख्यातनामा कलाकार ने अपने छात्र को, एक खूँटा तोड़कर भागती हुई गौ का फोटो लेने और फिर उसका एक कल्पनाशील चित्र बनाने का अलग-अलग आदेश दिया। अन्तर यह हुआ कि फोटोग्राफ में जहाँ वास्तव शरीर मात्र छपा और हड़की हुई गाय का गति-वेग नहीं आ सका, वहीं चित्र में अपने सम्पूर्ण गतिवेग के साथ गाय और उसका आलम्बनरूप परिवेश तक आया। यही हुआ शिल्प का सत्य।

संसार का कोई भी महत्वपूर्ण उपन्यास या गल्प कल्पना की ही सृष्टि है। अपने किसी प्रकृत चरित्र या जीवन के साथ उसका संबंध क्षीणतम ही है। किन्तु, वह महत् सृष्टि या साहित्य, केवल इसी कारण से कि उसकी कथा सत्य है, बहिरंग के काल्पनिक होने के बावजूद, अपने अन्तर की छाँव के विषय में सम्पूर्ण होता है।

विश्व के महान साहित्यों में अधिकतर ऐसे ही हैं, जो एकमात्र कल्पना की ही सृष्टि हैं और वास्तव जीवन से जिनका कोई संबंध नहीं है। राबिन्सन क्रूसो की कहानी ही ली जाय। किसी अज्ञात द्वीप में जहाज-डूबे हुए नाविकों का आश्रय लेना एक स्वाभाविक घटना है, किन्तु उस स्वभाव की कहानी की रचना की गई है कल्पना के आधार पर। मेटरलिंक का 'ब्ल्यू बर्ड' और भी अधिक काल्पनिक है। पृथ्वी में सबसे बड़े मोती को पाने वाली स्टेइनबेक की कहानी प्रायः अलौकिक कांड ही है। किन्तु इन पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते ये सब गल्प विशुद्ध सत्य ही लगने लगते हैं और यहीं साहित्य सार्थक हो जाता है। इसका कारण है कि युक्ति की दृष्टि से, विज्ञान की दृष्टि से, भूगोल की दृष्टि से इन गल्पों का सब-कुछ उद्भट होने पर भी गल्प का वक्तव्य परम सत्य है और कथा-कथन की कुशलता के कारण वह उद्भट भी स्वाभाविक होकर उपस्थित हुआ है, साहित्य की रससिद्धि कर गया है। बच्चों को कहानी के माध्यम की तरह इतिहास, भूगोल या विज्ञान का परिचय देना ही साहित्य का प्रकृत उद्देश्य नहीं है, साहित्य का प्रकृत साफल्य है रससृष्टि !

रामजन्म के पहले रामायण की सृष्टि तभी हो सकती है, जबकि स्रष्टा साहित्यकार में कल्पना-शक्ति का उदात्त ऐश्वर्य हो। इस कल्पना-शक्ति ने ही ज्ञानी को भविष्य-द्रष्टा और विज्ञानी को गवेषणा-प्रिय किया है। साहित्यिक की प्रेरणा ने ही मनुष्य को चाँद पर जाने की चाह दी थी। जो प्रमाणित हो रहा है या आविष्कृत हो रहा है, उसे बहुत पहले ही अपनी कल्पना-दृष्टि से देख पाए थे साहित्यिक ! उनकी यही कल्पना दूसरों के मन में, वैज्ञानिकों के मन में, प्रेरणा जगाती रही, पथ दिखाती रही। बहुत-से साहित्यिकों की कल्पना भी व्यर्थ होती है, जैसे बहुत-से वैज्ञानिकों की गवेषणा भी व्यर्थ जाती है। अधिकांश वैज्ञानिक ही अपने जीवन के शेष प्रहर में जानते हैं कि असम्भव और असत्य को लेकर सर खपाने में ही उनकी उमर गुजर गई। फिर भी, कुछ कल्पनाएँ सत्य सिद्ध होती हैं—इसी एक आधार पर हमें सभी कल्पनाओं को मूल्य देना होता है—प्रश्रय देना होता है। उस मूल्य को देने का औचित्य भी तभी सार्थक और प्रेरक सिद्ध हो सकता है, जबकि उनमें साहित्य रस का संचार करता रहे।

किन्तु, आज के साहित्य का दुर्भाग्य है कि उसके पाठक और समालोचक युग की हवा को मानकर, एक-एक समय एक-एक आदर्श के अन्धानुसरण में, साहित्य की अन्यान्य शाखाओं को, वैचित्र्यों को, असाहित्य कहकर उड़ा देते हैं। इसीलिए वास्तव की पिपासा मिटाने की झोंक में कल्पना को जहर पिलाकर मिटा देने लगते हैं।



बातों के टुकड़े

● राँची के डा० यदुगोपाल मुकर्जी भारत के पुराने क्रान्तिकारियों में हैं। उन्होंने बंगला में अपनी आत्मकथा लिखी है—"विप्लवी जीवनेर स्मृति"। उस ग्रंथ का मूल्य १२॥) है। फिर भी जैसे ही उसका प्रकाशन हुआ कि हाथोंहाथ जैसे उसकी लूट-सी हो गई। अब वह पुस्तक अप्राप्य पुस्तकों में मानी जा रही है, क्योंकि लेखक ने प्रकाशक को अभी तक दूसरे संस्करण की अनुमति नहीं दी है।

● स्टेनली गार्डनर की घटनापूर्ण जासूसी पुस्तकें आजकल संसार में सबसे ज्यादा बिक रही हैं। पहले वे कैलिफोर्निया में वकालत करते थे। उनकी पुस्तकें जब चल निकलीं तो उन्होंने १६३५ में अपनी वकालत छोड़ दी और पहाड़ के ऊपर लकड़ी का एक मकान लेकर रहने लगे। वहाँ वे डिक्टोफोन के द्वारा अधिक-से-अधिक रचनायें प्रस्तुत करते जा रहे हैं। उनके उपन्यासों के अनुवाद एक दर्जन विभिन्न भाषाओं में हो चुके हैं। अभी उनकी अवस्था ६० साल से कुछ ही ज्यादा है।

● बंगाल के महान उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी को देखकर रामकृष्ण परमहंसदेव ने कहा था कि तुम्हारा नाम ही बंकिम (टेढ़ा) नहीं, वस्तुतः तुम हो भी बंकिम।

● विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने चौदह वर्ष की उम्र से लिखना आरम्भ किया था।

● प्रेमचन्द ने सबसे पहले अपने मामा पर कहानी लिखी थी।

● हिन्दी के आरम्भिक काल में पटना हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन का सबसे बड़ा केन्द्र था। उस समय पटने का खड्गविलास प्रेस हिन्दी प्रकाशन का नेतृत्व करता था। भारतेन्दु जी की सारी पुस्तकें पहले वहीं से प्रकाशित हुईं।

● इङ्गलैन्ड में स्कूली छात्रों को अध्यापक लोग नियमतः पुस्तकालयों में ले जाया करते हैं। इस तरह उन्हें बचपन से ही पुस्तकालयों में जाकर पढ़ने की आदत लगती है।

● स्वनामधन्य साहित्यकार सुदर्शन जी ने आर्यसमाज के उपदेशक की हैसियत से अपना जीवन आरम्भ किया था। उस समय भजन गानेवाले उपदेशक सुदर्शन जी को अपने आगे कोई चीज नहीं लगाते थे। उनका कहना था कि बी० ए० पास करने से क्या होता है? ये भजन गाकर जनता को तनिक आकृष्ट नहीं कर सकते।

● स्वीडेन में भी लेखकों की आर्थिक स्थिति का प्रश्न है। इस सवाल को उस देश ने विचित्र रूप से हल किया है। वहाँ के पुस्तकालयों में यह नियम है कि जिस पुस्तक को पढ़ने के लिए पाठक ले जाता है उसके लिए उसे प्रति पुस्तक एक पेनी (प्रायः एक पैसा) देना पड़ता है। वह पैसा जमा होकर लेखक के पास चला जाता है। इस पद्धति से कई लेखकों की अच्छी-खासी मदद हो गई है।

● महिलाओं के लिए सुश्री का विशेषण सबसे पहले कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने चलाया था। उस समय यह विशेषण केवल कुमारियों के लिए चलता था। अब तो श्रीमती के स्थान पर भी सुश्री का प्रयोग चल रहा है।

तीन समस्याएँ : तीन टिप्पणियाँ

भाषा : साहित्य : समस्या

प्रेम का अभाव रहते हुए भी नैराश्य के गीत-गाना, किसी उच्च-आदर्श का आकर्षण न रहते हुए पुराने आदर्शों को गिराना, सौंदर्य की प्रेरणा न रहते हुए काव्य-रचना के लिए प्रवृत्त होना यह आज के वाङ्मय में एक सम्प्रदाय का लक्षण बन गया है। इस सम्प्रदाय में 'सौंदर्य' का न केवल अभाव है, सौंदर्य की कामना का भी अभाव है। आज कोमलता को दुर्बलता माना जा रहा है। परम्परा-पालन निर्जीव माना जाता है, औचित्य भंजनीय समझा जा रहा है। नया अनुभव, उसे व्यक्त करने के लिए नया साहित्यिक रूप; यह आज का नया संकल्प बन गया है। अब अनुभूति-चित्रण का साधन हृदय मानने के बजाय बुद्धि मानी जा रही है। अनुभवों के साथ तादात्म्य पाने के बजाय उसका विश्लेषण करने में नव-सम्प्रदाय विश्वास रखता है। पाठकों का हृदय आकर्षण से स्वाधीन कर लेने के बजाय विपरीतता से प्रक्षुब्ध करने में नवसाहित्यिक लगे हुए हैं।

साहित्य के उत्कर्ष का अर्थ, व्यक्तिवादी और सिद्धांतवादी लेखकों के किये हुए विक्षिप्त प्रयोग नहीं। समाज के सांस्कृतिक जीवन में साहित्य को सच्चा स्थान प्राप्त होना ही सच्चा उत्कर्ष है। प्रयोग और प्रगति के नाम पर मराठी साहित्य आज मराठी जनजीवन से दूर हो गया है। मराठी भाषा में आज जितना विचार-प्रधान और ज्ञानवर्धक वाङ्मय का निर्माण हो रहा है, उतना पहले कभी भी नहीं हुआ होगा; लेकिन ललित तथा विचार-प्रधान साहित्य में सैकड़ों नये लेखक जिस भाषा का उपयोग करते हैं उसे देख कर यह लगता है कि अब मराठी मर रही है। प्रान्तीय भाषाओं के दर्जे का प्रश्न, अंग्रेजी तथा हिन्दी के कल के दर्जे के साथ सम्बद्ध है। हमारे अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा हिन्दी होना अपरिहार्य है और इसलिए हिन्दी का अध्ययन आवश्यक है। लेकिन सिर्फ अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार का ही विचार हुआ और जन्मभाषा के अभ्यास और विकास पर कुछ सोचा नहीं गया तो स्वराज्य में भी परराज्य के दोष कायम रह जायेंगे।

—श्री के० क्षीरसागर

(महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के ४१ वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से)

शिक्षा : सरकारी नियंत्रण

सर्वोदयी नेता श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने हाल में कहा है कि शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण लोकतन्त्र की हत्या है। केरल के शिक्षा-कानून के प्रश्न पर हो रही चर्चा के समय आपने कहा कि जहाँ तक केरल में शिक्षा का प्रश्न है, केरल की कोई पृथक् समस्या नहीं है वरन् वह अखिल भारतीय समस्या है।...भारत के अन्य राज्यों में यह नियन्त्रण अपेक्षाकृत कुछ कम हो सकता है और केरल में वही कुछ अधिक करने की चेष्टा की जा रही है, किन्तु सिद्धांततः दोनों में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं।...कांग्रेस द्वारा शासित भारत के अन्य राज्यों में शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण क्या कम है? ...लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभागों द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखवाई जाती हैं तथा वही उन्हें प्रकाशित करता है। ये सारी बातें क्या हैं! क्या शिक्षा पर यह सब सरकारी नियन्त्रण नहीं है? क्या कांग्रेसी सरकारें कह सकती हैं कि वे अपने ढंग से शिक्षा को नियन्त्रित नहीं करतीं? सिद्धांततः कांग्रेस शिक्षा के सरकारी नियन्त्रण को स्वीकार करती है। प्रश्न यही हो सकता है कि यह नियन्त्रण कहाँ तक हो। जब सरकारी नियन्त्रण का सिद्धांत मान लिया जाता है तब स्वभावतः जिस

पार्टी की सरकार अस्तित्व में आयेगी वह अपने दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा को नियन्त्रित करे तो आश्चर्य की कौन-सी बात है? केरल में वर्तमान में कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार है और कम्युनिस्ट पार्टी अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षा पर भी पूर्ण सरकारी नियन्त्रण में विश्वास करती है। ऐसी स्थिति में यदि केरल सरकार ने कांग्रेसी राज्यों की अपेक्षा सरकारी नियन्त्रण में वृद्धि की है तो उसे दोष क्यों दिया जाता है?

सर्वोदयी नेताओं का कहना है कि शिक्षा पर किसी प्रकार का सरकारी नियन्त्रण लोकराज्य की हत्या करने में सहायक होता है। शिक्षा के नियन्त्रण के माध्यम से अधिकारारूढ़ पार्टी नयी पीढ़ी को सूक्ष्म शैक्षणिक तरीकों द्वारा अपने ढाँचे में ढालने का प्रयास करती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विचार-स्वातन्त्र्य एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण के लिए अनुकूल वातावरण रह ही नहीं जाता। समाज के सन्तुलित विकास की दृष्टि से यह बात घातक होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस राष्ट्र में भी शिक्षा के सरकारी नियंत्रण पर अत्यधिक जोर दिया गया वह प्रारंभ में तेजी के साथ कुछ प्रगति करता हुआ प्रतीत होता है किन्तु कुछ ही वर्षों में वह अपने पड़ोसियों के लिए खतरा पैदा कर देता है और साथ ही आन्तरिक विद्रोह के बीज भी बो देता है। इस प्रकार जब भी शिक्षा पर अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण के द्वारा समाज की नयी पीढ़ी को एक ही ढाँचे में ढालने का प्रयास किया जाता है, तो समाज में अनायास ही विस्फोटक स्थिति पैदा हो जाती है। इस तथा अन्य दृष्टियों से भी शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण का समर्थन नहीं किया जा सकता। शिक्षा का नियन्त्रण सरकार के हाथ में नहीं वरन् समाज के विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियों के हाथ में होना चाहिये। सरकार का कार्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना एवं आवश्यक साधन प्रस्तुत करना होता है। सिद्धांत की दृष्टि से यह सही होते हुए भी व्यवहार के दृष्टि से यह देखा जाता है कि शिक्षा-संस्थाओं को पूर्णतः स्वतंत्र कर दिया जाय तो वे भी संतुलित ढंग से प्रगति नहीं कर पातीं। शिक्षा-संस्थाओं में आनेवाली खराबियों को दूर करने के लिए सरकार हस्तक्षेप नहीं करती तो उनका ह्रास रोकना कठिन हो जाता है। सच तो यह है कि सर्वत्र संतुलन की आवश्यकता है। जो शिक्षा-संस्थाएँ स्वस्थ ढंग से प्रगति कर रही हैं, उनमें सरकारी हस्तक्षेप जरा भी न होना चाहिये। इसके साथ ही सरकारी हस्तक्षेप एवं नियंत्रण जब भी हो उसका उद्देश्य शिक्षा-संस्थाओं का स्वस्थ विकास ही होना चाहिये। सरकार स्वयं शिक्षा का संचालन न करे, कारण, जब भी वह ऐसा करेगी नियंत्रण बढ़ता ही जायगा।

—'आज' १६-६-५६

उच्च-शिक्षा का माध्यम

हिन्दी अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रश्न अब भी इसीलिए जटिल बना हुआ है कि इस प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय स्तर पर जितनी चर्चा हो रही है उसका अंशमात्र भी इस प्रश्न को हल करने के लिए ठोस कार्य नहीं किया गया है। जबतक यह कार्य न किया जायगा प्रादेशिक भाषाएँ उच्च-शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकतीं और अंग्रेजी का काल बढ़ाने के लिए सभी को विवश होना पड़ेगा। प्रादेशिक भाषाओं को उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता स्कूल-कालेजों में पढ़ाये जानेवाले विभिन्न विषयों, विशेषकर वैज्ञानिक विषयों की अच्छी पुस्तकों का प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध होना ही है। यही नहीं, स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अन्वेषण कार्यों के लिए भी प्रादेशिक भाषाओं में पुस्तकें सुलभ होनी चाहियें। निस्संदेह कुछ

पुस्तकें गत कुछ वर्षों में अवश्य लिखी गयी हैं; किन्तु वे मुख्यतः अनुवाद हैं। वे विषय की ताजी जानकारी नहीं दे पातीं। विभिन्न विषयों पर अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तकों के अनुवाद के बजाय विषयों के अन्तर्गत आनेवाले विचारों को स्पष्ट करनेवाली पुस्तकों की आवश्यकता है। ऐसी पुस्तकें वस्तुतः बहुत कम है। जो पुस्तकें लिखी जा रही हैं उनकी एक विशेषता यह भी होती है कि एक विषय की विभिन्न पुस्तकों में प्राविधिक शब्दावली में एकरूपता नहीं होती। एक ही भाषा की पुस्तकों का जब यह हाल है तब एक ही विषय की किन्तु विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखी गयी पुस्तकों की प्राविधिक शब्दावलियों में कितना वैभिन्य होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस स्थिति के कारण विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं स्वतन्त्र अध्ययन करनेवालों को अत्यधिक कठिनाई होती है। यदि स्थिति संभालने के लिए अभी से दृढ़-संकल्प के साथ प्रयास न किया गया तो आगे चलकर यह कार्य अत्यधिक कठिन हो जायगा। डाक्टर देशमुख ने हाल में प्रेस-सम्मेलन में उक्त प्रश्न पर चर्चा कर कहा है कि ऐसी स्थिति में अंग्रेजी को ही दस वर्ष तक उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाये रखना चाहिये। जो स्थिति है उसमें विवश होकर ऐसा करना भी पड़ सकता है। किन्तु, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अध्यक्ष ने इस समस्या को हल करने के लिए क्या समुचित कदम उठाये हैं?

—'आज' २८-५-५६



लेखक : मातृभूमि आँसू : आग्रह



श्री हितवादी

"जो भी दण्ड दें, मैं नतशिर होकर सभी स्वीकार करूँगा। किन्तु, कॉमरेड! मुझे इस देश से निर्वासित नहीं करें"—खुश्चेव के समक्ष वृद्ध कवि पास्तरनाक ने निवेदन किया था। इस निवेदन को और भी स्पष्टरूप से उन्होंने लिखा—"सोवियत-भूमि से अपने भाग्य को विच्छिन्न करने पर अपने अस्तित्व की कोई कल्पना तक मैं नहीं कर सकता। रूस के बाहर मेरे जीवन का अर्थ है मृत्यु!"

रूस ही क्यों, अपनी जन्मभूमि से बाहर देश-देश में आज भी बहुत-से लेखक हैं। अधिक या कम, हमेशा से रहते आए हैं। किंतु क्या वे बच सके थे? भिन्न देश की जमीन पर लेखक क्या जी सकते हैं? छब्बीस वर्ष के तरुण पोलिश लेखक मारेक लास्को का तो कहना है—"नहीं! नहीं जी सकते! मैं नहीं जी सकूँगा!" पश्चिम जर्मनी में मिला हुआ सत्कार, पश्चिमी यूरोप में मिली हुई आन्तरिकता, प्रशंसा, स्तुति, और यहाँतक कि एक जर्मन-कन्या का प्यार—कोई भी उनके मन से स्वदेश के प्रति इस आग्रह को नहीं हटा सके। चाहे मित्रों और प्रशंसकों की गोष्ठी हो, चाहे घर की बैठकें हों,—वे हर जगह माँ से बिछुड़े हुए बच्चे की तरह बीच-बीच में चीख ही पड़ते हैं—"मैं अपने देश जाऊँगा! ए राइटर विदाउट हिज कन्ट्री इज नथिंग! मेरी किस्मत में जो भी बदा हो, मगर मैं देश जाऊँगा। भला हो, बुरा हो, मगर पोलैंड मेरा देश है। वहाँ जाने पर मेरा क्या हश्र होगा, मैं यह नहीं जानता। क्योंकि, इस विषय में मेरी कोई पूर्व-अभिज्ञता नहीं है। इस बार जाऊँगा और अभिज्ञता का अर्जन करूँगा!"

लास्को ने गत वर्ष के मार्च महीने में अपना देश छोड़ा था। इस समय भी वे वार्सा में नहीं लौटे हैं। लौट नहीं सके। इस समय इजराइल में रह रहे हैं और वहाँ अपने मित्रों में कहते फिर रहे हैं—"दो-एक महीने यहाँ रहकर, उसके बाद बर्लिन के रास्ते से मैं अपने देश लौट जाऊँगा। माँ ने लिखा है उनको डर है कि वे अब किसी दिन मुझे नहीं देख सकेंगी। मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ? मैं अपने देश अवश्य लौटूँगा! विदाउट पौलैंड आई गो डाउन!"

किन्तु, पश्चिम-यूरोप की धारणा कुछ और ही है। वहाँ के लोगों का विश्वास है कि देश लौटने पर सदा-सदा के लिए ये प्रतिभावान तरुण लेखक कारागार के अतल अन्धकार में डाल दिए जायेंगे। क्योंकि, उनके देश का सरकारी मिजाज आज उनके विरुद्ध खड्गहस्त है।

यह बात लास्को के लिए भी अज्ञात नहीं है। वे जानते हैं कि कलम पकड़ने के बाद से ही वे सरकारी नजरों में देशद्रोही न होने पर भी विद्रोही के रूप में तो गण्य ही हैं। पोलैंड में जब कम्युनिस्ट शासन की स्थापना हुई थी, लास्को उस समय केवल तेरह वर्ष के किशोर थे। अपनी जवानी को उन्होंने सबसे पहले पहचाना था एक होटल में 'बेल-ब्वाय' होकर और उसके बाद क्रमशः छह वर्षों तक टैक्सी ड्राइवर की सीट पर बैठकर।

जीवन की यही तिक्त अभिज्ञता जब तरुण लास्को के हाथ से छोटी कहानियों के रूप में निकल चली, उसी समय लोगों की समझ में यह आने लगा कि पोलैंड के समृद्ध कथा-साहित्य में एक समर्थ हाथ ने प्रवेश किया है। उसी

प्रकार, यह बात भी अधिक दिन नहीं छिपी रह सकी कि किसी सरकारी फतवे की ताकत पर इस हाथ को बाँधना असम्भव है।

देखते-न-देखते लास्को तरुण पाठकों के बीच जनप्रिय हो गए। पूर्व-योरोप के तरुणों के हाथ-हाथ में उनकी रचना तारुण्य के मुख-पत्र के रूप में पहुँचने लगी। उनकी चार-चार कहानियों का फिल्मीकरण हुआ। पाठकों के वोट पर टैक्सी ड्राइवर लास्को, पोलैंड के सर्वाधिक जनप्रिय लेखक निर्वाचित हुए। छात्रों के समाचार-पत्र 'पो प्रस्तू' के वे साहित्य-सम्पादक नियुक्त हुए। स्वभावतः उसके पृष्ठों में नई बातें प्रकाशित होने लगीं, ऐसी बातें जो प्रचलित प्रथा को चौंका दें। लास्को सरकार के लिए चिन्ता का कारण हो चले। सरकार ने उस पत्र पर रोक लगा दी। उसके बाद प्रकाशित हुआ 'यूरोपा'। किन्तु, पार्टी के समालोचकों ने उसको भी चलने नहीं दिया। उन्होंने टीका की कि लास्को 'सिनिक' और 'डिमोरलाइजर' है।

इन पत्र-पत्रिकाओं पर रोक लगाने पर भी लास्को पर कोई रोक नहीं लग सकी, उसे जेल नहीं दिया जा सका। क्योंकि उसका प्रथम उपन्यास "द एट्थ डे आफ द वीक" उस समय बाजार में आ चुका था और केवल पाठक ही नहीं, बल्कि समालोचकों की राय के कारण भी वह उस वर्ष के श्रेष्ठतम साहित्य के रूप में पुरस्कृत हो गया था। और, पोलैंड और पश्चिम जर्मनी दोनों ने मिल कर लगे हाथ उसे फिल्मा भी दिया था। सरकार ने निरुपाय होकर कहा कि इस फिल्म का पोलैंड में प्रदर्शन नहीं चलेगा।

लास्को ने कहा—"खैर, मैं पश्चिम जर्मनी जाना चाहता हूँ। मुझे एकबार वहाँ हो आने दिया जाय!"

सरकार ने कोई आपत्ति नहीं की। रास्ते में लास्को पैरी में उतर गए। वहाँ के एक कम्युनिस्ट पत्र ने उनका इन्टरव्यू लिया—"क्या आप कम्युनिस्ट हैं?" "इस पृथ्वी पर कम्युनिस्ट नामक कोई वस्तु नहीं है"—लास्को ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया। फिर प्रश्न हुआ— "पोलैंड में लोगों का जीवन कैसा है?" "जीवन?"—लास्को कहते गए, "वहाँ हमलोगों के जीवन का अर्थ है—Reduction of dreams—the reduction of desires—a moral atrophy-the inability to react to the vileness one sees at every step, every day!"

बर्लिन पहुँचते ही सुना गया कि सोवियत साहित्य-समालोचकों ने उनको खारिज कर दिया है और पोलैंड की पार्टी के मुखपत्रों ने उनका नाम दिया है—"जार्ज वारवेल का मंत्रशिष्य!" कहीं-कहीं उनकी पुस्तकें भी रोकी गईं। लास्को क्रुद्ध हुए और सीधे पार्टी-कालेज के सम्पादक से उन्होंने जानना चाहा कि: "यह जो सालों-साल से मुख पर एक टुकड़ा हँसी तक लाए बिना मेरा नगर वारसा अपना जीवन बिता रहा है, उसके लिए कौन उत्तरदायी है? तुम या मैं? यह वारसा, जहाँ कि गरीबों की सबसे बड़ी सम्पत्ति है एक बोतल 'वोदका' (शराब)—यह वारसा, जहाँ कि एक लड़की एक बोतल वोदका से मूल्य में कहीं अधिक सस्ती है—मैंने तो उस वारसा को नहीं बनाया है; बल्कि उस वारसा ने ही तो मुझे ऐसा बनाया है!"

इसी प्रकार के वाद-विवाद और उत्तर-प्रत्युत्तर में 'वीसा' की मियाद समाप्त हो गई। इसी बीच पश्चिम के प्रकाशकों ने उन्हें पर्याप्त पैसे भी दिये। पश्चिमी लेखकों ने सम्मान और समवेदना दी। और, सबसे बड़ी बात तो यह सुनी गई कि जर्मन-अभिनेत्री सोनिया जिमान ने इस तरुण लेखक को अपना हृदय ही दे दिया। सोनिया लास्को के "एट्थ डे आफ द वीक"

की नायिका हो चुकी थी। उसके साथ जिस रीति से उनका सम्पर्क गहरा होता गया—इससे लास्को ने भी कहीं इनकार नहीं किया। किन्तु, सहसा एक दिन देखा गया कि अपने स्वाधीन जीवन की सारी शर्तें, निश्चिन्त स्वाच्छन्द्य, यहाँ तक कि सोनिया के हृदय-सम्बन्ध तक को हटाकर, लास्को धीरे-धीरे चलकर बर्लिन में स्थित पोलिश मिलिटरी-मिशन के काउन्टर पर आकर उपस्थित हो गए। —"कितने दिनों के बाद मैं अपने देश लौट रहा हूँ! कृपया मेरे 'विसा' की मियाद बढ़ा दीजिए न!"

किन्तु मिलिटरी-मिशन राजी नहीं हुआ। उसने कहा—"मियाद बढ़ाने के लिए तुम्हें एक दफा खुद अपने देश में जाकर दरखास्त करना होगा।" लास्को ने कहा—"अच्छा! यदि ऐसी ही बात है तो मैं इसे फिर कभी बढ़वाऊँगा!" इस उत्तर से शायद सोनिया जैसे उनके अन्यान्य हितैषी आश्वस्त हुए हों कि भला हुआ, एक दीवाना युवक आखिर में बच ही गया!

किन्तु लास्को हँसते हैं—"क्या, भय के मारे रुक गया हूँ, यही तुम सब समझते हो? मैं अपने देश तो लौटूँगा ही! I see no possibility, no accusation, no consequence which could tear me away from my land and my home."

इसके बाद लगभग एक वर्ष हो रहा है। किन्तु, लास्को अबतक अपने देश नहीं लौटे। सोनिया कहती है—वे अब नहीं लौटेंगे। बन्धुगण कहते हैं—लास्को आखिर तक क्या करेंगे, यह कहना मुश्किल है। लास्को ने इधर तेल-अबीब से पता दिया है कि यह कोई मुश्किल नहीं है। वे अपने देश लौटेंगे ही। हाँ, वहाँ लौटकर वे लेखक का काम नहीं करेंगे, बल्कि कोई और दूसरा कार्य करेंगे। —"मैंने चिरजीवी जीवन की अपने किसी स्वप्न तक में कभी कल्पना नहीं की है। किन्तु, मुक्ति के लिए मृत्यु तक को वरण कर लेने को ही मैंने महत् माना है। इसीलिए मुझे अपने देश लौटना ही होगा!"

छब्बीस वर्ष के तरुण लास्को यदि अन्त में देश लौट ही जायँ, तो विस्मय की कोई बात नहीं होगी। वेदना का कारण तो यही होगा कि उन जैसे देशप्रेमी साहित्यस्रष्टा को स्वदेश की मिट्टी पर ही मृत्यु-वरण करना पड़े। और यदि, अपने कहे के मुताबिक उन्होंने कलम नहीं पकड़ने की ही कुर्बानी दी, तो वही हमारी सभ्यता के लिए लाज से मर जाने की बात होगी।

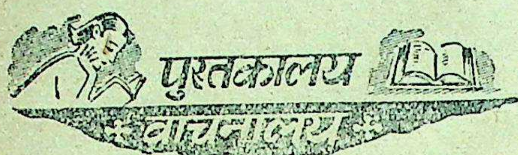


हर महान वैज्ञानिक सत्य को तीन स्थितियों में से गुजरना पड़ता है: सबसे पहले लोग कहते हैं कि वह धार्मिक ग्रन्थों के विरुद्ध है, फिर वे कहते हैं कि वह तो पहले ही खोजा जा चुका था, अन्त में वे कहते हैं कि वे उसमें हमेशा से विश्वास करते रहे हैं।

—अगेसिज

केवल वही स्वतंत्र है जिसकी स्वतंत्रता का श्रेय सत्य को प्राप्त है, शेष सब परतंत्र है।

—कूपर



कैटलग : जन-पुस्तकालय

श्री सुवीर रायचौधुरी

टाइमटेबुल और पंचांग के यदि आवश्यक और नियमित पाठक हुआ करते हों, तो पब्लिक लाइब्रेरी का कैटलग भी उचित चीज है। यों तो किसी भी ग्रन्थागार का परिचय ग्रन्थसूची ही होती है, किन्तु इस विषय में पब्लिक लाइब्रेरी सर्वाधिक सुविदित है। उसकी, कागज साटकर चिपकाए हुए टूटे काँचोंवाली आलमारी से लेकर साधारण पाठक तक, सभी अपनी विशेषता में अनन्य ही हैं। एक कोटि के पाठक ऐसे हैं, जो गीता-उपनिषद् के जितने सटीक संस्करण निकले हैं, उन्हें छोड़कर दूसरी चीज नहीं पढ़ते। कुछ का आग्रह केवल भ्रमण-कथाओं तक ही सीमित है और कोई-कोई ऐसे भी हैं जो 'पुस्तक' शब्द का एकमात्र अर्थ समझते हैं—उपन्यास! ये सभी, पुस्तकें पढ़ने के अधिक या कम अभ्यस्त हैं; किन्तु ये पुस्तक के विषय में कोई समालोचना—यहाँ तक कि विज्ञापन भी—देखने के पक्षपाती नहीं हैं। इसीलिए इन्हें एकमात्र निर्भर होना पड़ता है लाइब्रेरी के कैटलग पर। कैटलग, जो एक लाल मोटी जिल्द की वही है और जिसपर सुनहरे अक्षरों में लाइब्रेरी का नाम और स्थापना की तिथि दी हुई है। कुछ पन्ने अवश्य ही फटे हुए, पुस्तकों की तालिका विषयानुसारी: जैसे उपन्यास, कहानी, जीवनी, रस-साहित्य, मनस्तत्व और यौनविज्ञान इत्यादि। मान लीजिए कि आप कहानियों के पढ़ने के आदी हैं और कैटलग के पन्नों पर खोज-पड़ताल कर आपने एक गल्प-पुस्तक का नाम दिया। अब ग्रन्थागारिक (जिसे साधारणतः जूता सिलाई से लेकर चण्डीपाठ तक—ग्रन्थागार के जितने काम होते हैं—सभी करना पड़ता है) ने आलमारी का मुरचा लगा हुआ ताला खोलकर पुस्तक बाहर निकाल दी। पुस्तक के पृष्ठों को पलटकर आपने यह पाया कि वह असल में एक उपन्यास है, जिसे परिच्छेद-परिच्छेद पर अलग-अलग शीर्षक लगा देखकर, कहानी-संकलन समझ मारा गया है।

अवैतनिक ग्रन्थागारिक उस समय तीन दूसरे सभ्य पुरुषों के लिए चन्दे की रसीद काट रहे हैं। अतः, पुस्तक बदल देने की माँग करने में अपको निश्चय ही संकोच होगा।

खैर, यह अच्छी बात नहीं है। "समालोचना-साहित्य में कथा की धारा (उत्तर भाग)"—इसे आपने चटकीले निबन्ध की पुस्तक समझकर देखा, तो प्रकट हुआ कि वह एक कथा-संग्रह है। मैंने एक ग्रन्थागार में 'मनस्तत्व और यौनविज्ञान' शीर्षक सूची में उल्लिखित पाया कि वहाँ "बंगाल में स्त्रियों के आचार" नामक पुस्तक भी है।

साधारणतः यह होता है कि कई लेखक यदि एक ही मूलनाम के हों तो वे अपनी पद्धति में अन्तर कर, या विभिन्न उपनाम धारण कर, अपने को स्पष्ट करते हैं। किन्तु पब्लिक लाइब्रेरियों के कैटलगों में ऐसे लेखकों के नामों से उक्त दोनों प्रकार के विभेद अधिकतर हटे हुए ही मिलेंगे। इसके अलावा एक और दोष है। अधिकतर लेखक अपने नाम के पहले, और नाम तथा पदवी या पद्धति के बीच में किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं लगाते हैं, किन्तु इन पब्लिक लाइब्रेरियों में कुछ ऐसा आत्मरूपी पुराणपन्थ है कि वहाँ शुरू में श्री, उसके बाद नाम, उसके बाद अपने मन-मुताबिक 'कुमार' 'लाल' 'प्रसाद' आदि, और उसके बाद पद्धति, पदवी या उपनाम आदि जोड़कर लिख दिया जायगा—

'श्री अमुक कुमार गुप्त' आदि। जो छद्मनाम से लिखते हैं, कैटलग में कल्पना लगाकर उनका नाम निकाल दिया जायगा असली। यदि ग्रन्थों के नाम नवीन प्रयोगों के कारण कुछ अपरिचित हों, तो उच्चारण साम्य पर उनके नाम को विकृत प्रस्तुत करना कोई असम्भव बात नहीं है। जैसे 'चालचित्र' की जगह 'चलचित्र' एहरेनबुर्ग के उपन्यास के अनुवाद 'पारी का पतन' की जगह 'नारी का पतन' आदि। यदि उपन्यास का नाम किसी मनुष्य के नाम पर हो तो लेखक का नाम उपन्यास के नाम की जगह पर पहुँच जाय, तो कोई विचित्र बात नहीं।

पब्लिक लाइब्रेरी के कैटलग में सबसे बड़ी समस्या है रवीन्द्र-साहित्य के श्रेणि-विभाजन की। उनके अधिकतर ग्रन्थ तो यद्यपि 'विविध' में ही डाल दिए जाते हैं, फिर भी सभी पुस्तकों को तो 'विविध' में डालना सम्भव नहीं होता। फलस्वरूप 'पंचभूत' कहीं कहानियों में है और कहीं निबन्ध में। 'गीतिवितान' हो जाता है संगीत और 'गीतांजलि' रह जाती है काव्य। 'चतुरंग' विभिन्न खंडों में दर्ज किया जाता है, किन्तु 'चार अध्याय' रह जाता है उपन्यास!

प्रश्न उठ सकता है कि पब्लिक लाइब्रेरी के कैटलग में कोई अच्छा संस्कार क्यों नहीं है? इसका उत्तर सहज है। अधिकांश पब्लिक लाइब्रेरियों के ग्रन्थागारिक होते हैं अवैतनिक। उन्हें आफिस जाना होता है, सौदा-सुलफ करना होता है, और शेष समय में ग्रन्थागार का काम करना होता है। उस ग्रन्थागार में भी वे अकेले ही एक सौ टुकड़े में बँटे होते हैं। वे पुस्तक लौटाते हैं और देते हैं, सज्जनों के चन्दे की रसीद काटते हैं और हिसाब रखते हैं, आलमारी के काँच साफ करते हैं और फूटे काँचों पर कागज की चिप्पी साटकर जोड़ते हैं। इसके अलावा ऐसा भी होता है कि जब वे किसी को पुस्तक दे रहे होते हैं, उसी समय बगल-मुहल्ले के किसी परिचित या पुस्तकालय-अधिकारी के घर की कोई लड़की दौड़ती आती है और उनसे कहती है—"नई काकी ने कहा है कि चुनकर कोई अच्छा-सा उपन्यास माँग ला!" अब उन्होंने 'नई काकी' की योग्यता और पढ़ने के 'मूड' का बहुत-कुछ अन्दाज कर, बहुत-सी पुस्तकों को उलट-पलट कर, एक किताब दी। अभी दम भी नहीं लेने पाए थे कि कुछ ही देर में वह लड़की फिर दौड़ी हुई आई और बोली—"नई काकी ने कहा है कि इस किताब को तो वे कभी का पढ़ चुकी हैं। वे दूसरी किताब चाहती हैं!" और फिर, नए सिरे से वही धन्धा! इन्हीं धन्धों के बीच उन्हें वर्ष में एक-आध बार फुटपाथी दूकानों से पुस्तकालय के लिए किताबें भी खरीद लानी होती हैं। किन्तु, प्रत्येक पुस्तक को स्वयं पढ़ देखने का उनके पास समय कहाँ? अतः, जल्दी-जल्दी ही शुरू के पन्ने पलट कर विषय समझा और विभाग-बद्ध खाते पर चढ़ा कर नम्बर दे दिया। अपनी जवानी के दिनों में शायद किसी दिन साहित्य अथवा स्वदेशी-आन्दोलन में भाग लेने का अवसर मिला था, इसीलिए वे अपने जीवन के इस अपराह्न में उसकी स्मृति का भार वहन किए चल रहे हैं अपनी बस्ती के पुस्तकालय के ग्रन्थागारिक के रूप में!

किन्तु, पब्लिक लाइब्रेरियों के कैटलगों में और भी विस्मय है। कोई गवेषक अपने प्रांतीय, राष्ट्रीय और भाषा-साहित्य-परिषदों के ग्रन्थागारों में घूम-फिर कर और कैटलगों को उलट-पुलट कर निराश लौट रहे हैं। कहीं भी 'संजीवनी' पत्रिका की पुरानी फाइल नहीं मिली। अन्त में, निराश स्थिति में ही, इस बस्ती के उस जाकड़ ग्रन्थागार में यों ही आए और उसकी पूरी फाइल पा गए। एकदम चकमक, झकमक! इस फाइल को पढ़ने का सौभाग्य उनके पहले किसी और को नहीं हुआ था शायद!



कवि वारेन हेस्टिंग्स

श्री पान्थ

अंगरेजी साहित्य के इतिहास में वारेन हेस्टिंग्स नामक किसी कवि का कोई उल्लेख नहीं है। जिस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास में मेरे बड़े मामा का नाम उल्लेखनीय नहीं हो सका। फिर भी, बड़े मामा कवि थे इसे मैं अपनी आँखों और कानों से देख-सुन चुका हूँ। और, वारेन हेस्टिंग्स मेरे मामा से किसी कदर कम कवि नहीं थे, इसे मैं नहीं देखने पर भी प्रमाणित कर सकता हूँ।

वारेन हेस्टिंग्स को कवि प्रमाणित करना सचमुच ही कोई आसान काम नहीं है। इस विषय में प्रमुख असुविधा तो यही है कि हेस्टिंग्स अपनी पत्नी को अत्यन्त चाहते थे। उस जमाने के कवि स्त्री को नहीं चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। किन्तु वे स्त्री की अपेक्षा 'मानस-सुन्दरी' को ही अधिक चाहते थे, यह बात तो है। और, खासकर बड़े घराने के हेस्टिंग्स-जैसे कवि तो अधिक चाहते ही थे। फिर भी, आश्चर्य तो यह है कि हेस्टिंग्स अपनी दोनों स्त्रियों को समान रूप से ही चाहते थे। बड़े मामा भी ऐसे ही थे। बड़े मामा की पहली स्त्री, अर्थात् बड़ी मामी जब गुज़र गई थीं, उसी समय तीन-तीन जिल्दों वाली दो-दो बहियों में भरी हुई उनकी कविताओं को पढ़ने के बाद मेरी धारणा हुई थी कि वे अब जल्द-से-जल्द साधू हो जावेंगे। पहली पत्नी के वियोग के बाद काशिमबाजार या मुर्शिदाबाद से लिखी गई हेस्टिंग्स की चिट्ठियों को पढ़ने से भी लगता है कि वे भी साधू हो जायेंगे। मगर हेस्टिंग्स साधू हुए नहीं। बल्कि इसके बजाय वे गवर्नर जेनरल हो गए और कवि हुए। और, जल्द ही सुनने में आया कि हेस्टिंग्स, बैरन ईम्हफ की सुन्दरी स्त्री के प्रति मुग्ध हैं, और देखते-न-देखते यह भी देखा गया कि मराठों पर विजय पाने की तरह उसे भी जीतकर ले आए हैं। मेरे बड़े मामा के लिए यह स्त्री-विजय वाला युद्ध, लगता है कि, इतना सहज नहीं हुआ। क्योंकि वार्द्धक्य, वंश-रक्षा इत्यादि युक्तियाँ उनके पक्ष में वैसी सबल नहीं थीं, जैसी कि होनी चाहिएँ। इसके अलावा, मेरे मामा और हेस्टिंग्स, इन दोनों के कवि-जीवन में एक और पार्थक्य भी था, जिसका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। हेस्टिंग्स की पहली पत्नी जब मरी थीं तबतक वे अच्छी चिट्ठियाँ भले ही लिख लेते थे, किन्तु कविता लिखना नहीं जानते थे। उनकी कविता का उत्स एवं मोहिनी शक्ति, दोनों ही, उनकी दूसरी स्त्री हुईं। बड़े मामा की दूसरी स्त्री, यानी मेरी बड़ी मामी तो मामा की कविता वाली कापियों पर अंतिम कागज हुईं, अर्थात् मलाट की जिल्द!

जो हो, कवि का सबसे बड़ा प्रमाण उसकी कविता ही है। सो, चाहे जीवन का प्रथमार्ध ही हो या शेषार्ध ही हो,—वारेन हेस्टिंग्स और बड़े मामा, दोनों ने ही कुछ-कुछ कविताएँ लिखीं। इसलिए हम अनायास ही उन्हें 'कवि' नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। किन्तु, आगे चलकर, समालोचकगण उनकी कविता को वाहियात पद्य कह कर हँसी में उड़ा सकते हैं, इसी भय से उनको 'कवि' कहने से बाज आना भी उचित ही होगा। क्योंकि, कविताओं को वाहियात कह देने से मेरे बड़े मामा की, कुछ नुकसान होने योग्य स्थिति न होने पर भी, हेस्टिंग्स का तो अपमान है ही—क्योंकि वे सम्मानी व्यक्ति हैं। सुतरां, भारत के प्रथम गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स सचमुच कवि थे,

इसके प्रमाणस्वरूप में उनकी कुछ कविताएँ अवश्य उपस्थित करूँगा; किन्तु इसके पूर्व कवि होने के शास्त्र-सम्मत कुछ लक्षणों के विषय में दो-एक बातें कह रहा हूँ।

पहला लक्षण तो यह है कि हेस्टिंग्स काव्य-रसिक व्यक्ति थे और अपने राज-काज से फुर्सत पाने पर कविता लिखते और पढ़ते थे। दूसरा लक्षण है कि वे फूल, आकाश, पेड़-पौधे आदि या 'प्रकृति' को प्यार करते थे। प्रकृति-प्रेम कोई ठट्ठे की बात नहीं है; क्योंकि वह प्रेम सबमें नहीं होता। हाँ, बड़े मामा में था। उन्होंने सब्जी का बगीचा लगाया था। कचहरी से लौटकर वे हमेशा गाजर-मूली के खेतों में पानी पटाया करते थे एवं सरसों के फूल की पकौड़ी उनका अत्यन्त प्रिय भोजन था। हाँ, इस विषय में हेस्टिंग्स उनसे एक बित्ता ऊपर अवश्य थे। वे केवल अपने बाग-बगीचों की देखभाल ही नहीं करते थे, बल्कि एक बार एक वृक्ष के शोक में एक लम्बी कविता भी कर गए थे। वह वृक्ष आँधी में गिर गया था। चाहते तो अपने लाट साहब वाले मिजाज के मुताबिक उस आँधी तक के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर सकते थे, किन्तु उसके बजाय उन्होंने कविता के द्वारा प्रकृति को उलाहना भर ही दे छोड़ा। यदि इतने से भी यह प्रमाणित न हो कि हेस्टिंग्स सचमुच ही कवि थे, तो मैं इसके लिए शेष तीसरे प्रमाण को सामने रखूँगा। वह प्रमाण यह है कि वे गाय को बड़ा प्यार करते थे। उनके अलिपुर वाले घर में एक गृहस्थ गाय थी। हेस्टिंग्स स्वयं लिख गए हैं कि वे उसे बहुत चाहते थे और वह गाय भी उनके आते ही दुम उठाकर उनकी अगवानी को दौड़ पड़ती थी। दूसरी संस्कृति वाले कुलीन अंगरेज-कुलों में हेस्टिंग्स जैसा गो-भक्त दुर्लभ है। मेरे बड़े मामा को भी एक दुधार गाय थी। बड़े मामा ग्रामवासी थे और गाय एक परोपकारी जीव है—इसे उनकी हड्डी-हड्डी जानती थी। किन्तु, हेस्टिंग्स का गो-प्रेम मामा के मुकाबले और भी ऊँचा और स्वार्थहीन था। गाय उपकारी या अबला जीव है, इस नाते नहीं; बल्कि अपने "भद्र, नम्र स्वभाव और नैतिक चरित्र के उच्च मानव होने के नाते" ही वे गो-प्रेमिक थे। कवि के सिवा क्या और किसी के बूते इस प्रकार निरीह प्रेम करना सम्भव है?

अब कवि वारेन हेस्टिंग्स की कविता पर कुछ कहा जाय। अपने बड़े मामा से अब विदा लेने के सिवा मेरे लिए और कोई चारा नहीं है; क्योंकि, उनके जीवन-काल में ही उनकी कुल पाण्डुलिपियों से बड़ी मामी ने चूल्हा जलाने जैसा काम कर लिया था। द्वितीय मिसेज हेस्टिंग्स भी मेरी बड़ी मामी से इस नाते कोई कम नहीं थीं। उन्होंने भी अपने पति हेस्टिंग्स की पत्र-पत्रिकाएँ, चिट्ठी-पत्री और उनका मन—इत्यादि तमाम नश्वर स्मृति-चिह्नों को इस प्रकार चाट-पोंछ कर साफ कर दिया कि उनका पहला विवाह या पहला दाम्पत्य-जीवन इतिहास के लिए एक गवेषणा का विषय बना हुआ है।

जो हो, हेस्टिंग्स की कुल काव्य-कृतियों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। पहला भाग है: उनकी द्वितीया पत्नी मिसेज इमहफ या 'मरियम बीबी' से सम्बन्धित। दूसरा भाग है: वे स्वयं और उनकी 'प्रियतमा मरियम'। तीसरे भाग में है: उनकी अन्नदाता 'जन कम्पनी' या 'बार्क' जैसे उनका अन्न छीननेवाले षड्यंत्रकारी। बड़े मामा की कविता में, जहाँ तक मुझे याद है, अपने विषय की उनकी कोई चर्चा नहीं थी। यदि कुछ चर्चा थी भी तो बड़ी मामी की, या कहीं-कहीं श्रीमान अमुकचन्द्र बहादुर की—अर्थात् बड़े मामा जिन जमीन्दार महोदय के सिरिस्तादार थे, उनकी वन्दना।

हेस्टिंग्स के कवि-कर्म की प्रेरणा उनकी

'मरियम' थीं, यह मैं कह ही चुका हूँ। उन्होंने मरियम को कलकत्ते में रहने के लिए बहुत-से ऐश्वर्य के साधन दिए थे—सुखसागर वाला नन्दन-भवन, गंगा-विहार के लिए मयूरपंखी नाव, तामदानी पालकी, स्वास्थ्य-रक्षा और सैर-सपाटे के लिए घोड़ा और कितनी ही चीजें। और, अन्त में उसके हाथ में सौंप दी एक कविता की किताब—सुन्दर चमड़े की जिल्द में बँधी, सुवर्ण-हस्ताक्षरों में लिखी—जिसके कवि स्वयं वारेन हेस्टिंग्स! उस पुस्तक के उत्सर्ग-पृष्ठ पर लम्बी पत्नी-वन्दना के साथ हेस्टिंग्स ने लिखा :—

"This Book replete with many a varied lay,

Which stream; though diverse, from one common source,

To thee, my Marian seeks its destined course;

* * * *

For it was from thee alone its glowing ray,

My genius drew, that with resistless force.

Impelled me first to sing, else mute, or hoarse...."

ये पंक्तियाँ महाकवि कालिदास की सरस्वती-वन्दना-जैसी लगने पर भी, हेस्टिंग्स के प्रणय की सच्ची भावना को ही व्यक्त करती हैं। यदि मरियम-जैसी उनकी प्रणयिनी न होती तो उनकी कविता का होना भी असम्भव ही होता।

मरियम जब आँखों के सामने होती; हेस्टिंग्स तब आश्वस्त रहते और जब मरियम आँखों से दूर होती, तब वे हो जाते कवि। या तो चिट्ठियाँ लिखते, नहीं तो कविता। हेस्टिंग्स की चिट्ठियों को पढ़ने से मन में नेपोलियन की बात याद आ पड़ती है। वही अप्रतिरोध्य आवेग, वही कर्कश-कठोर दिन की कार्यसूची। चिट्ठियों

भ्रम-संशोधन

प्रस्तुत पत्र के गत अंक में. चौधरी एण्ड संस, वाराणसी एवं चिनगारी प्रेस एवं प्रकाशन, वाराणसी के संबंध में पेज २६, कालम दो के अंत में एवं पेज २६ पर जो क्रमशः समाचार एवं विज्ञापन प्रकाशित हुए हैं, श्रद्धालु पाठक उनमें निम्न सुधार कर लें—"हर्जे-खर्चे के साथ डिक्री हुई है; किंतु डिक्री की निश्चित राशि का निर्णय न्याय-कमीशन के अधीन है।"

इस भ्रमपूर्ण समाचार एवं विज्ञापन-प्रकाशन के लिए हमें हार्दिक खेद है।

—संपादक

की आड़-आड़ में सारी रात जाग-जाग कर हेस्टिंग्स कविता लिखे जाते थे। नाश्ते के टेबुल पर खान-पान के बीच सम्मिलित सम्भ्रान्त अतिथिगण हेस्टिंग्स के इस काव्यमय रतजगे को समझ जाया करते थे। उनमें से कोई-कोई, खान-पान के बीच चटनी के समान, हेस्टिंग्स की इस हालत पर चुटकी भी ले लिया करते थे, किन्तु वे घबड़ाते नहीं थे; क्योंकि इस चुटकी का कारण मरियम के प्रति उनका प्रेम ही था। एक दिन उन्होंने मरियम को एक कविता भेजी और साथ में यह चिट्ठी: "यदि तुम मनोयोगपूर्वक इस कविता को पढ़ोगी, तो मेरे कवि-कृतित्व की प्रशंसा करने लगोगी। (तुम्हारे प्रति अपने पत्नि-पातिव्रत्य के संबंध में मैं अवश्य निस्सन्दिग्ध हूँ।) फिर भी उस प्रशंसा की कोई आवश्यकता नहीं। इसे फाड़कर फेंक देना; क्योंकि कविता के हिसाब से इसका कोई मूल्य नहीं है।"

तब मरियम इंगलैंड में थीं। यह सन् १७८४ ई० की बात है। हेस्टिंग्स पालकी पर चढ़कर कलकत्ते से काशी जा रहे थे। सरकारी कागज-पत्रों के अलावा उनके साथ विल्किन्स का अँग-

रेजी में महाभारत का भावानुवाद भी था। पढ़ते-पढ़ते उन्हें रुरु और प्रमद्वरा का उपाख्यान अच्छा लग गया। उस समय उनकी पालकी पटने पहुँच चुकी थी। उन्होंने वहीं ठहरकर उस उपाख्यान के आधार पर एक लम्बी कविता की रचना की। लगे हाथ, पहली ही डाक से, उन्होंने उस कविता को विलायत भी भेज दिया। उस कविता के अन्त में कई पदों में उन्होंने मरियम को लिखा : "मरियम! क्या तुम यह जानती हो कि विदेश की इस कथा को मैं तुम्हारे लिए लिखकर क्यों भेज रहा हूँ? सुनो :—

"To me, and to my state, alike belong.
The subject; and the moral of my song."

उस समय तक हेस्टिंग्स पर लगे हुए इतिहास-प्रसिद्ध आरोपों की जाँच शुरू नहीं हुई थी। मिसेज हेस्टिंग्स ने भी हेस्टिंग्स की प्रशंसा में एक कविता हेस्टिंग्स को लिखकर भेजी। उसके उत्तर में कविता द्वारा ही हेस्टिंग्स ने धन्यवाद-ज्ञापन किया। कविता जैसे उनका स्वभाव हो गई थी। इसी बीच उनके जीवन-काल की रंग-भूमि पर बार्क का आविर्भाव हुआ। हेस्टिंग्स ने लिखा :—

"Oft have I wondered that, on Irish ground,
No poisonous reptiles ever yet were found;
Revealed the secret stands, of Natures' work
She saved her venom to create Burke!"

शत्रुओं के पराजित होने के बाद ऐबट नाम के एक शिल्पी ने हेस्टिंग्स की एक तस्वीर बनाई। अपना वह चित्र हेस्टिंग्स को इतना अच्छा लग गया कि उन्होंने उत्साह में आकर उस चित्र की प्रशंसा में ही एक कविता लिख दी—अपनी प्रशस्ति-मूलक कविता। उसका लगभग मर्मार्थ है कि, "अबतक शत्रुओं ने हेस्टिंग्स को इस प्रकार चित्रित किया है, मानो वह कोई राक्षस हो। उसका जबड़ा इस कान से उस कान तक फैला हुआ, दाँत बाघ और सियार जैसे, आँखें ऐसी कि जैसे वह सभी समय क्रुद्ध हो और जिनमें खून की तृष्णा तथा दस्युओं-जैसा नशा हो, उसकी तरफ देखने पर लोग भय से काँप उठते हैं और महिलाएँ मूर्छित हो जाती हैं।··· किन्तु अब? अब आकर देखे वह अभागा, 'बार्क' और उसके संगी-साथी कि उसकी वह आँख कैसी 'मेटाफिजिक' है" इत्यादि। इस कविता में भी मरियम की चर्चा है; क्योंकि मरियम उनकी इन दोनों आँखों को सबसे अधिक हमेशा से पहचानती आई थी। वे ही तो उसके बन्धु थे।

पत्नी और अपनी चर्चा की कविताओं के अलावा हेस्टिंग्स की दो और कविताएँ उल्लेखनीय हैं। उनमें से एक है 'जन कम्पनी' विषयक। उसमें जन-कम्पनी ने व्यवसाय से आगे बढ़कर किस प्रकार राजत्व भी ग्रहण कर लिया था, उसका विवरण है। दूसरी कविता में कम्पनी और उसकी सेवा में अपनी तत्परता की उन्होंने चर्चा की है; उसका अंतिम पद विलायत जाते हुए, जहाज पर बैठकर, उन्होंने लिखा। इस कविता को उन्होंने अपने परवर्ती गवर्नर सर जान शोर के नाम समर्पित किया। उसमें उन्होंने अपने मन की बात कही। क्लाइब बहुत दिन जिए थे—"To hate his envied lot"—किन्तु हेस्टिंग्स बहुत दिन बचना नहीं चाहते थे। फिर भी, वे जितने दिन बचते हैं, उतने दिनों के लिए निम्नोक्त चीजों को पाना चाहते हैं :—

"A state above the fear of want
Domestic love, Heavens choicest grat—
Health, leasure, peace and ease."

इस सूची में 'कवि-ख्याति' कहीं भी नहीं है। मेरे बड़े मामा भी कवि के हिसाब से कोई ख्याति नहीं चाहते थे। फिर भी, मैंने आज हेस्टिंग्स साहब की कविता के विषय में यह-कुछ लिख ही दिया। इसका कारण है कि दुर्धर्ष वारेन हेस्टिंग्स एक कवि-विरोधी वातावरण में रहते हुए भी सचमुच कवि थे। अपने बड़े मामा के विषय में भी मुझे कोई सन्देह नहीं है। फिर भी, उनकी कविता को मैंने इस चर्चा में छोड़ दिया। यदि मामा की कविता मेरे हाथ में होती तो भी मैं उनकी चर्चा नहीं कर सकता; क्योंकि, बड़े मामा नितान्त ग्राम के गृहस्थ मनुष्य थे। सभी गृहस्थ कम या ज्यादा कवि होते हैं। वारेन हेस्टिंग्स मामूली गृहस्थ नहीं थे—बल्कि वे थे भारत के अधीश्वर, भारतवर्ष के प्रथम गवर्नर जेनरल! कविता लिखना गवर्नर जेनरलों का पेशा नहीं है, विशेषतः वारेन हेस्टिंग्स-जैसे गवर्नर जेनरल का। इसलिए पद्यों में बड़े मामा से निकृष्ट होने पर भी, कवि के हिसाब से वे बड़े मामा से भी बड़े हैं।



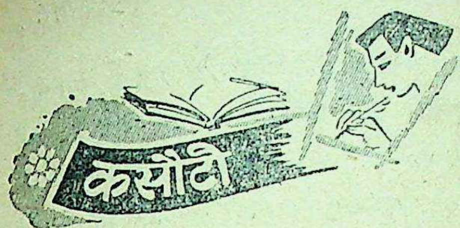
अध्ययनशील पाठकों से प्रश्न

१. सम्वत् १६८० में हिन्दी-संसार की कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी?

२. क्या साहित्यकार और आलोचक में कोई फर्क है? किस बात का? इन दोनों में आप किसे महत्त्वपूर्ण समझेंगे?

३. देवनागरी से सम्बन्धित कैथी लिपि का आविष्कार कब हुआ था? इसका क्या इतिहास है? किस प्रान्त की अदालतों में इस लिपि का व्यवहार होता था? कब तक उस प्रान्त की अदालतों में कैथी लिपि का व्यवहार होता रहा?

४. आंचलिक उपन्यास तथा कहानियों में उस अंचल के लोकजीवन तथा रीति-रिवाजों की प्रमुखता होनी चाहिये या आंचलिक भाषा-विकृति की?



विदा (नाटक)

लेखक—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रकाशक—हिन्दी भवन, जालंधर

मूल्य—१·७५ न० पै०

यह औरंगजेब से विद्रोह करनेवाले शाहजादा-शाहजादी अकबर-जेबुन्निसा पर आधारित है। विद्रोह में असफल अकबर दुर्गादास के सुपुर्द बाल-बच्चों को कर 'विदा' हो जाता है। यह प्रेमीजी के दूसरे नाटकों-जैसा उत्साहप्रद नहीं है। इसके लगभग सभी पात्र सामने वाले को तलवार देकर कहते हैं कि लो यह मेरी गरदन पर चलाओ, और ऐसे ही, अपना विश्वास साधते हैं। इसमें बहुत-सी अशालीन बातें हैं, जैसे—जेबुन्निसा का औरंगजेब से पूछना : "आप खुश होकर मुझे चूम लेते थे, क्यों चूमते थे ?" अपने चचा के लिए कहना : "आपके बड़े भाई मरहूम दाराशिकोह" अपने भाई से लंबी साँस लेकर कहना : "मेरे जीवन में ऐसा कोई मूर्ख नहीं जो कहे—तुम कभी मेरी नजर से दूर न हो"—औरतबाजी का आरोप गिनाते हुए सेनाधिकारी दिलेर खाँ का अपने सम्राट् से कहना : "जब स्वयं सम्राट का यह हाल रहा, तो बेचारे सेनापतियों का इसके अतिरिक्त क्या हो सकता था ?", "गलत या सही जो भी विचार आपने बना लिए हैं"—अकबर का अपने सम्राट पिता से कहना : "अपने पिता से राजसिंहासन के लिए संघर्ष करना बहुत बड़ा अपराध नहीं है; क्योंकि यह तो मुगल-राजवंश की परंपरा बन चली है" दुर्गादास-जैसे वयोवृद्ध के समक्ष अपनी आवारगी के पक्ष में दलील देना : "औरंगजेब के जैसे शुष्क-हृदय बाप का बेटा ऐसी रंगीन तबीयत का क्यों हुआ ? यह असल में अपने पिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही तो है"—औरंगजेब से उसकी बेगम उदयपुरी का तुम-ताम में कहना : "और तुम समझते हो कि उदयपुरी के हाथ में राजसत्ता आएगी तो वह आपके पदचिह्नों पर चलेगी ?" : "दाराशिकोह के हत्यारे से उदयपुरी प्यार नहीं कर सकती"—इत्यादि।

यह स्वभाव से परे सतही आख्यान-व्याख्यान का विस्तार भर ही है।

पार्वती (नाटक)

लेखक—उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक—हिन्दी भवन, जालंधर

मूल्य—एक रुपया पचीस न० पै०

दो अंकों और दो प्रमुख दृश्यों का यह नाटक सामाजिक है। खेलने लायक है। इसमें महरी, और थोड़ी ही देर के लिए आनेवाले अनुभूति और हैडमास्टर बड़े मस्ताने चरित्र हैं, जो बहुत ही कम मिला करते हैं। हाँ, इसकी कहानी इल्मी के बजाय फिल्मी अवश्य हो गई है—फैशन-परस्त बीबी के चक्कर में अफसर पति द्वारा अपनी गरीब माँ का तिरस्कार, और बाद में घूसघास में फँसने पर जुगल-जोड़ी द्वारा माँ की चरण-पूजा। सुखान्त वाला सीन अच्छा बना है और नाटक की प्रधान पार्वती (माँ) प्रायश्चित्त की देवी होने पर भी नाटकीयता के नाते खूब निबही है।

इसमें कुछ अतिरंजन ऐसे भी हैं, जिनसे नाटकीयता की हानि होती है। मसलन—शुरू की 'साधारण वेश' वाली १८ वर्ष की रीता का ७८ वें पृष्ठ पर यकायक 'स्वदेशी आन्दोलन में एक बार विदेशी कपड़ों का पिकेटिंग' करने पर जेल हो आई और तब से खादी पहनने वाली हो जाना। वह तब १८ वर्ष की है जबकि आजादी मिले २-३ साल हो चुके हैं और इस हिसाब से 'स्वदेशी आन्दोलन' में शरीक होने के नाते उसकी यह उम्र सही नहीं

ठहरती—अपने पति के विरुद्ध गुलाब की हद से ज्यादा बात : "बस पड़ गया यह ढोल गले में, अब पीट रही हूँ"—गुलाब के विरुद्ध लड़की रीता की यह प्रौढ़ टिप्पणी : "लगता है जैसे अविकसित मन में कुछ भ्रान्तियाँ सिद्धान्त बन गए हैं"—परमानन्द के आगे पत्नी द्वारा उपस्थित अपने पिता के दोनों पत्र, अन्तरात्मा और परमानन्द का कथोपकथन, सौभाग्यवती का दामाद के घर में वैसा पेश आना—तेज-तराज महरी से रंगीले का 'ब्याह' वाला मजाक—रंगीला, महरी, सौभाग्यवती और गुलाब का मिलकर 'हा हा हू हू' नाचना—६७ पृष्ठ पर परमेसुरी के जाने की चर्चा के बिना ही पार्वती का लंबा आकाशभाषित, दहाड़ मारकर रोना और संपूरन की बहू का उस दहाड़ते रोने को नहीं समझकर यह पूछना कि "आज तुम वहीं खा लेना···अरे रो रही हो ?"—पार्वती-जैसी के मुँह से यह नागर वाक्य :" क्लर्की, एक मामूली क्लर्की" और "मजदूरी की रोटी तुम्हारे महलों के वैभव से ज्यादा स्वादिष्ट है"–आदि।

कलाकार (नाटक)

लेखक—प्रोफेसर जयनारायण एम० ए०
प्रकाशक—जय प्रकाशन, राँची
मूल्य—एक रुपया

इस नौ पृष्ठ की भूमिका वाले अड़सठ पृष्ठ के छोटे-से 'नाटक' में बहुत-से अनर्थ हैं। मसलन—मोहन का यह शान्तिपाठ कि "कोई किसी कि हत्या नहीं करता, हम-तुम एक माध्यम हैं, निमित्त मात्र"—रेखा का मोहन से कहना कि "मैं न रहूँगी पर मेरी याद तो रहेगी, मुमताज न रही पर मुमताज की याद··"—जट्टा का गाना "हरामजादी कहीं की, अपने मेंहदी रचाती है"—आई०-जी० का कहना "मान लो सत्तर प्रतिशत काँगरेसी बेईमान हैं"—एस०-पी० रेखा को पकड़ लेता है, रेखा उसकी बाँह में दाँत गड़ा देती है, एस-पी० उसे छोड़ देता है और फिर पकड़ लेता है, इसी बीच ए०-एस०-पी० मोहन आकर एस०-पी० की गरदन पकड़कर उसे बाहर निकाल देता है और एस०-पी० गाली बकता हुआ चला जाता है—सिपाही ए०एस०पी० मोहन से कहता है "यहाँ आने की क्या जरूरत थी, हुकुम होता तो (रेखा को) डेरे पर पहुँचा देता" और मोहन सिपाही को जोर से थप्पड़ मारता है—"कवि जी सुर-सुर कर गड़ाक् से चाय पी जाता है"—खादीधारी सिपाही—नेता नरेश अपनी बहन रेखा के विषय में उसके चहेते मोहन से कहता है "अविवाहित लड़कियों के लिए गाँव में रहना मुश्किल है"—मोहन उस रेखा से यों प्रणय-निवेदन करता है "काश, कोई नारद (मंदरीक वाली 'नारदा' तो नहीं ?), कोई रत्ना (तुलसीदास वाली ?) मेरे जीवन में भी प्रेरणा भरती"—नरेश का कहना "कविता से राजनीति को अलग समझना पलायनवाद है···आजादी के बाद काँग्रेस मुर्दा हो गई है"—एस०-डी०-ओ० के पेशकार का 'बंद हो गए' आई०-सी०-एस० को 'ई०-सी०-एस०' कहना—इत्यादि।

ऐसे ही, इस नाटक के दृश्य भी—पुराने मकान का कमरा, जिसकी खिड़की से कोशी की पतली धारा पारे-जैसी दिखाई पड़ती है—बरामदा—गाँव में कपड़े की दूकान—नदी किनारा—सड़क—भागलपुर का बँगला—टीन का मकान-एस०-पी० का बँगला—पटना सचिवालय में आई०-जी० का दफ्तर-तैलंगाना का अशान्त क्षेत्र—पटना अस्पताल का कौटेज—और अन्त में अजन्ता की गुफा तक चले जाते हैं।

और, इस कुल करतूत की तारीफ में लेखक ने भूमिका बाँधी है—"इस नाटक में ऐसा कोई भी दृश्य नहीं जिसे प्रस्तुत करना दुस्साध्य हो··आधुनिक रंगमंच की माँग है कम-से-कम दृश्यों का विधान, जैसा बर्नार्ड शॉ के नाटकों

में है"—"मैंने समस्याओं के भँवर में स्वयं गोते लगाए हैं"—"मैंने शिल्प की कोई असाधारण कठिनाई अनुभव नहीं की"—आदि।

बाबा की सारंगी (नाटक)

लेखक—बाबूराम सिंह लमगोड़ा

प्रकाशिका-प्यारी देवी, साधना प्रकाशन, औसानगंज, वाराणसी

विक्रेता—आनंद पुस्तक भवन, वाराणसी

मूल्य—दो रुपये

इसमें—"(अन्दर जाती हुई) देखती हूँ! (कहकर अन्दर चली जाती है)" (पृष्ठ ८१) और "(पुनः लोटा लेता हुआ) लाओ! (कहकर लोटा ले लेता है)" (पृष्ठ ७४) आदि नाटक लिखने की भूलें हैं। "देखता है और फिर पुनः कुछ मुस्कुरा देता है" (पृष्ठ ८१), "नवाब अपनी मौसी की लड़की की आबरू खराब कर दी" (पृष्ठ ८८), "नाम ही तक सुनी थी" (पृष्ठ ५५), "आ गए सारंगी के नागर! बड़ी गुस्से में हैं"(पृष्ठ २२), "भीड़ में पीसते-पीसते बचा हूँ" (पृष्ठ १२), नास्ता, चित्कार, कौतुहल और एक ही वाक्य में तू और तुम के जुड़वाँ व्यवहारों जैसी अशुद्धियों की भरमार है। इसमें यह हालत है कि: "सूरदास—(जाता हुआ) (अच्छा बेटी) (कहकर चला जाता है)"।

यह 'पेट की आग' से सारंगी सीखे हुए एक साधु की कहानी है, जो "नृत्य के दवाब के कारण कोमल स्नायु फट जाने" से मरी हुई अपनी प्रेमिका की याद दिलाने पर "पानी थपथपाने से कोई लाभ नहीं" कहकर दुख प्रकट करता है; एक वेश्या की उत्तराधिकारिणी को कोठे पर ठहर कर नाच-गाना सिखाता है; वेश्या के डूब मरने तथा उसकी उत्तराधिकारिणी के पाँव में छुरा लगने से कंठ खराब हो जाने पर अपने गुरु के 'आश्रम' लौट आता है और अपने शिष्य को अपनी ही तरह ब्रह्मचर्यपूर्वक सारंगी साधने का व्रत देकर नदी में डूब जाता है।

यह नाटक असतर्क भावुकता और अयोग्यता के साथ लिखा गया है।

चंदा मामा दूर के (बालोपयोगी उपन्यास)

लेखक—हिमांशु श्रीवास्तव

प्रकाशक—बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४

मूल्य—१·२५ नए पैसे

प्रस्तुत उपन्यास बाल-साहित्य के अंतर्गत एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। अबतक बाल-उपन्यास के नाम पर राजा-रानी, शेर-भालू और पर्वतों की लंबी कहानियाँ ही मिलती रही हैं। यों, बच्चों के लिए उपन्यास बहुत कम लिखे गए हैं।

प्रस्तुत में लेखक ने बड़े सहज भाव से, उपन्यास के माध्यम से, बच्चों को दैनिक शिष्टाचार और चरित्र-निर्माण की बातें बतलायी हैं। प्रारंभ से अंत तक पढ़ने की उत्सुकता कम नहीं होती। पुस्तक के भीतर चार चित्र हैं। हमारी समझ से भीतर कुछ और चित्र होने चाहिए थे। फिर भी, प्रकाशक और लेखक का यह कार्य अत्यंत सुन्दर है।

—"लालधुआँ"

इन्सान या शैतान (उपन्यास)

लेखक—स्टीवेन्सन

प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली

मूल्य—एक रुपया

उक्त प्रकाशन के हाल में जारी सस्ते पाकेट बुकों में से यह पुस्तक 'डॉ० जैकिल एण्ड मिस्टर हाइड' का अनुवाद है। लेखक हैं स्टीवेन्सन—अंगरेजी के ख्यातिलब्ध लेखक। यह पुस्तक उस समय लिखी गई थी, जब उपन्यास का अर्थ

'रहस्य और रोमांच और उपदेश' तक सीमित था। अपने उस युग में पुस्तक लोकप्रिय भी रही।

हिन्द पाकेट बुक—अपने ढंग का अनोखा प्रकाशन शुरू हुआ है। हम सब के बधाई का पात्र है। किन्तु, लगता है, निकट-भविष्य में 'एरण्डोऽपि द्रुमायते' वाली कहावत इसके भी साथ चरितार्थ होगी। 'इन्सान या शैतान' के प्रकाशन से हिन्दी का लाभ? शायद हिन्दी, कथा का वह युग पार कर चुकी है। रहस्य-रोमांच के प्लेटफारमी पाठकों के लिए यह निश्चय ही अच्छा है। लेकिन, हिन्दी के अपने ढंग के इस अकेले प्रकाशन का दायित्व थोड़ा और बड़ा है। हिंदी-पाठक की हैसियत से मेरा निवेदन है कि अनुवाद कराने के पहले प्रकाशक गंभीरता से विचार करें।

अनुवाद, रोमन के बदले नागरी लिपि या 'नावेल' का 'उपन्यास' छाप देना ही नहीं है। प्रस्तुत अनुवाद, भाषा व भाव की बहुत सारी उलझनों को लिए है। "ये सब बातें इसके विरुद्ध थीं, और ये सब बातें मिलकर भी उस अन्तक अज्ञात ग्लानि, घृणा और भय का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती थीं......" आदि इस-उस से भरे वाक्यों का आधिक्य खटकता है। हिन्दी के अनुवादकों को कम-से-कम एक दफा 'स्पार्टक्स' के सफल अनुवादक अमृतराय का 'आदि विद्रोही' देख लेना चाहिए।

दाम के लिहाज से पुस्तक खरीदने योग्य है।

—मधुकर गंगाधर



कविः करोति पद्यानि, लालयत्युत्तमो जनः।
तरुः प्रसूते पुष्पाणि, मरुद् वहति सौरभम्॥

कवि पद्यों की रचना करता है और उन पद्यों से प्रेम उत्तम श्रेणी का (अर्थात् विद्वान्) मनुष्य करता है। जैसे वृक्ष पुष्पों को उत्पन्न करता है और वायु उसकी सुगन्धि को ढोती है।

प्रकाशन-संबंधी सूचनाएँ

—राज्य शिक्षासचिवों और शिक्षण-कार्यकारी वर्ग के सदस्यों की संयुक्त बैठक में अध्यक्ष-पद से भारत सरकार के शिक्षा-सलाहकार श्री के० जी० सैयदैन ने कहा कि राष्ट्रीय जीवन की अर्थव्यवस्था में शिक्षा के प्रति न केवल भावना या दानवृत्ति के आधार पर वरन् आर्थिक दृष्टिकोण से उदार, व्यापक एवं समन्वित विचार की जरूरत है। प्रोफेसर गैलब्रेथने भी अपनी पुस्तक चलतापुर्जा समाज में कहा है कि 'शिक्षा में लगा धन ही गुण और संख्या की भी दृष्टि से समाज की प्रगति का मौलिक सूचक होता है।' शिक्षा के लिए प्रथम और द्वितीया आयोजन में जो साधन निर्धारित किये गये वे विशाल आवश्यकताओंको देखते अत्यन्त अनुपयुक्त रहे हैं। यह धारणा गलत है कि छात्रों की पीढ़ियाँ पूर्व की अपेक्षा क्रमशः निकम्मी ही सामने आ रही हैं। मैं स्पष्ट कह दूँ कि ऐसी बात मानने को मैं तैयार नहीं। मेरी तो धारणा है कि आज के छात्र पहले के उत्तम छात्रों से भी अच्छे होते हैं। शिक्षा और बेकारी के ताल-मेल के प्रश्न पर आपने कहा—बेकारी की समस्या सर्वाधिक बाधक है और गम्भीर सामाजिक संकट बना हुआ है। पर, यह समझना चाहिए कि शिक्षा का इसमें योगदान सीमित ही है। बेकारी का वास्तविक प्रश्न आर्थिक और औद्योगिक है और रोजी के नये अवसर प्रस्तुत करने ही होंगे जिससे प्राविधिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति स्थान पा सकें।

—मार्क्स और एन्जिलस ने भारत के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आंदोलन (१८५७-५६) पर जो कुछ लिखा था, उन सब को पुस्तकाकार में मास्को स्थित राजकीय राजनीतिक साहित्य प्रकाशन मण्डल ने प्रकाशित किया है। ये लेख मार्क्स कृत "भारत का कालक्रम बद्ध इतिहास" से लिये गये हैं।

—पटना, ३० जून। कुमार प्रकाशन पटना द्वारा अतिशीघ्र एक बालकोपयोगी सचित्र मासिक का प्रकाशन होने जा रहा है। १ अगस्त १९५९ तक उसके प्रथम अंक के प्रकाशित हो जाने की पूरी संभावना है।

—मुद्रण स्याही उद्योग में हड़ताल की सम्भावना से लन्दन की 'स्याही की सड़क'—फ्लीट स्ट्रीट के सूख जाने की आशंका है। फ्लीट स्ट्रीट को स्याही की सड़क इसलिए कहा जाता है कि लन्दन के अधिकांश पत्र वहीं से प्रकाशित होते हैं। उक्त हड़ताल से लन्दन के ४६ पत्रों का प्रकाशन, जिनकी दैनिक बिक्री कुल मिलाकर ४ करोड़ ७० लाख है, ठप हो जायगा।

—पूर्व वर्षों की भाँति इस वर्ष भी उत्तर प्रदेश सरकार साहित्य, विज्ञान तथा कला पर प्रस्तुत उत्कृष्ट संस्कृत ग्रंथों के लेखकों को पुरस्कृत करेगी। जिनका प्रकाशन जनवरी, १९५८ के बाद हुआ है। पुस्तकें प्राप्त करने की अन्तिम तिथि आगामी १५ सितम्बर है। कला एवं साहित्य पर तो केवल उत्तर प्रदेश के लेखकों की ही पुस्तकें स्वीकार की जायँगी, परन्तु विज्ञान, यथा—अर्थशास्त्र, भौतिकी रसायन शास्त्र आदि विषयों पर बाहर के लेखक भी अपनी कृतियाँ भेज सकते हैं। पुरस्कार दो प्रकार के होंगे—यथा प्रोत्साहन पुरस्कार और उत्कृष्टता पुरस्कार। प्रोत्साहन पुरस्कार २० वर्ष से कम वय के लेखकों के लिए हैं और उत्कृष्टता पुरस्कार वयस्क लेखकों के लिए। पुरस्कार के लिए पुस्तकें सचिव, हिन्दी समिति, रायल होटल, लखनऊ को भेजी जानी चाहिएँ।

—नयी दिल्ली, २८ जून। यहाँ आगामी फरवरी में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद द्वारा समस्त भारतीय भाषाओं में प्रकाशित विज्ञान एवं टेक्नोलाजी से सम्बन्धित

(शेष पृष्ठ ३२ पर)



संस्कृत : एक असंस्कृत दलील

अपने युग में ही संस्कृत एक सामन्ती या दरबारी भाषा मानी जा चुकी है, यह किसी के लिए अप्रकट नहीं है। अपने देश के समक्ष आज जो भाषा का प्रश्न है वह यही है कि जन-साधारण का काम किस भाषा द्वारा चले। हिन्दी यदि संस्कृत से उत्पन्न होने का कुछ भी साम्य रखती है, तो उतना तो देश की दूसरी भाषायें भी रखती हैं। हिन्दी को राष्ट्रव्यापी मानने के पक्ष में केवल यही तर्क उचित है कि वह देश में औरों से अधिक जारी है और सबसे अधिक दूसरे शब्दों को पचा और घिसा सकी है। अंगरेजी किसी भी दूसरी देशी भाषाओं के मुकाबले जहाँ अधिक सामन्ती और अल्पव्यापी है, वहीं संस्कृत तो उससे भी अधिक है। इस देश में कुछ 'क्रिया को न समझने वाले ग्यानी' अंगरेजी और संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए, दो परले सिरे की जिद ठाने हुए हैं। यदि इस जिद को, उन ग्यानियों की अपनी-अपनी मातृ-भाषाओं पर लोग लानत समझने लगें, तो क्या बुरा है? इस देश में कोई आधुनिक विज्ञान की चीज नहीं बनी है और समाज तथा साहित्य-संबंधी नई रीतियों का प्रचलन नहीं हो सका है, तो उनके लिए शब्द ही कहाँ से आवेंगे? ऐसी हालत में, जिस तरह अंगरेजी दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपने उच्चारण में अपना लेती है, वैसे ही हिन्दी और देशी भाषाएँ भी अपनावें! इसमें कंगाली या कोताही काहे की?

इधर संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए एक हल्ला मचाया गया था मिरज वाले मराठी साहित्य-सम्मेलन में और दूसरा हल्ला मचाया है संस्कृत की पत्रिका 'दिव्यज्योतिः' ने अपने जून वाले संपादकीय में। मिरज वाला प्रस्ताव तो गिर गया, मगर दिव्यज्योतिः वाला सम्पादकीय अपना हाथ जिन दलीलों के साथ उठाए हुए है, वे हैं: (१) देश के सुमति-सम्पन्न जन हार्दिक रूप से इच्छा करते हैं कि संस्कृत का सार्वजनिक प्रचार हो (२) राष्ट्रपति प्रभृति, सारे-के-सारे प्रान्त और केन्द्र के मंत्री और शिक्षाशास्त्री, हमेशा और प्रतिदिन समुद्घोषणा कर रहे हैं कि संस्कृत सारे देश की पढ़ाई में अनिवार्य होनी चाहिए। इन्हीं कुछ 'सुमतिसम्पन्न', 'राष्ट्रपति' और 'सारे-के-सारे' मंत्री और शिक्षाशास्त्रियों के नाम पर उसने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए 'बहुत बार लिखा और बहुत बार लिखने भी वाला है'। किन्तु, इस बार वैसा लिखने के बजाय कुछ 'संशोधन' (या प्रस्ताव?) यों उपस्थित करता है: (१) उच्च-कक्षाओं में संस्कृत अनिवार्य की जाय (२) शासकीय परीक्षाओं में आवश्यक की जाय (३) प्रशिक्षण-परीक्षाओं में संस्कृत का एक अनिवार्य पत्र हो (४) विश्वविद्यालयों के कुलपति और परीक्षायोजक संस्कृत अवश्य जानें, नहीं तो उनकी नियुक्ति नहीं हो (५) संस्कृत सीखे हुओं को ही भारत का राजदूत बनाया जाय, नहीं तो वे भारत का प्रतिनिधित्व किसी प्रकार नहीं कर सकेंगे।

हमारी समझ में यह बात नहीं आती है कि भाषा का ज्ञान ही जिनका विषय है उनके अलावा शेष विषय वालों को, उन्हें विषय-ज्ञान के लिए और प्रोत्साहित करने के बजाय,

जबर्दस्ती भाषा-दर-भाषा का कड़ुआ काढ़ा पिलाना कौन-सी बुद्धिमानी है? क्या हिन्दुस्तान से आगे बढ़े हुए और भी कोई देश हैं, जहाँ विषयों के ज्ञान को छोड़ कर, भाषा-ज्ञान का ऐसा बुरा आलिंगन किया जाता है? क्या यह मुमकिन है कि पचपन में ही पक-झर जानेवाला आज का कोई व्यक्तित्व पहले तो मातृभाषा में माहिर हो, फिर अंगरेजी में पंडित हो, फिर हिन्दी में होशियार हो, फिर अपने विषय का भी विशेषज्ञ बने और फिर संस्कृत भी सीख ले? इसके बजाय यदि मातृभाषा, कामचलाऊ हिन्दी और अपना विषय—केवल इन तीनों पर ही तालीम को बढ़ाया जाय, जैसा कि सभी बढ़े हुए देशों में होता है, तो क्या बुरा है?

'दिव्यज्योतिः' के वे सारे-के-सारे 'संशोधन' या प्रस्ताव निरर्थक तो हैं ही, बल्कि 'सारे-के-सारे' मंत्री और शिक्षाशास्त्री संस्कृत का 'सार्वजनिक' प्रचार चाहते हैं—यह बात झूठी भी है। हाँ 'राष्ट्रपति' या एक-दो 'मंत्री' संस्कृत के पंडित न होकर भी यदि संस्कृत को चाहते हैं, तो यह उनकी श्रद्धा है, जिसके लिए संस्कृत-भाषा की पत्रिका होने के नाते 'दिव्यज्योतिः' को अवश्य ही हर्ष या कृतार्थता प्रकट करनी चाहिए।

एक टोटेलिटेरियन रुख

गत जून वाले 'साहित्य-परिचय' के सम्पादकीय में, रेलवे बुक-स्टालों के एकाधिकारी अनुबन्ध के विरुद्ध जो-कुछ कहा गया है, सिद्धान्ततः उसका साथ हम भी देते हैं। किन्तु, उस प्रचलित 'एकाधिकारी अनुबन्ध' के बजाय हिन्दी-प्रकाशक-संघ के साथ अनुबन्ध होने की माँग का साथ देना, शायद अहिन्दियों और सर्वसाधारण पुस्तक-व्यवसायियों को खतरे में डाल सकता है। क्योंकि, हमारी शंकाओं के अनुसार उसके साथ इस अनुबन्ध का अर्थ होता है—टोटेलिटेरियन अनुबन्ध। इसके बजाय यह अनुबन्ध राज्य-राज्य के संगठनों के साथ हो, तो इस विकेन्द्रित रूप से क्षेत्रीय भाषा-साहित्य और सम्बन्धित उद्योग को उन्नति मिले। हाँ, अखिल भारतीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के व्यवसायी इन क्षेत्रीय संगठनों से अवश्य ही वैसा सम्बन्ध बनावें, ताकि उनकी चीजों का भी वहाँ उचित प्रतिनिधित्व हो।

पुस्तकों एवं पत्रिकाओं की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जायगा।

—बम्बई राज्य की माध्यमिक शिक्षा के लिए नियुक्त एकीकरण समिति ने सिफारिश की है कि अंग्रेजी ऐच्छिक आधार पर दर्जा ५ से छात्रों को पढ़ायी जाय। प्राइमरी शिक्षा की दर्जा ४ तक की पढ़ाई समाप्त होने पर ही अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू की जा सकती है। साथ ही समिति ने यह भी सिफारिश की है कि हिन्दी को अनिवार्य विषय में रखना चाहिये।

—नेपाली अकादमी द्वारा नेपाली का एक वृहत् शब्दकोष (एनसाइक्लोपीडिया) तैयार किया जा रहा है। इस चित्रमय शब्दकोष में लगभग सवा लाख शब्द होंगे तथा इसे हिन्दी शब्दागार के आकार के दस भागों में प्रकाशित किया जायगा। शब्दकोष का संपादन नेपाल अकादमी के उपकुलपति श्री बालचन्द्र शर्मा कर रहे हैं।

—तिब्बती भाषा, संस्कृति और धर्म के अध्ययन के लिए लद्दाख में शीघ्र ही एक अध्ययन-केन्द्र खुलेगा। बताया जाता है कि तिब्बत की अशांति से फलस्वरूप लगभग ४०० लद्दाखी विद्यार्थी तिब्बत में ही रह गये हैं। अध्ययन केन्द्र में उच्चस्थ लामाओं द्वारा शिक्षा दी जायगी और अध्ययन काल ५ वर्षों का होगा।



पाठकों के समक्ष एक योजना

"उनके प्रश्न : इनके उत्तर"

इस शीर्षक का स्तम्भ हम १५ अगस्त १९५९ को प्रकाशित होनेवाले नव-वर्ष-विशेषांक से जारी करने जा रहे हैं। पाठकों से निवेदन है कि साहित्य, भाषा, कला, इनके स्रष्टा, अथवा इस पत्रिका में विभिन्न लेखकों के विचारों के संबंध में अपने प्रश्नों को हमारे निम्नोक्त पते पर भेजें। हम इस स्तम्भ में; प्रश्नों से संबंधित विषयों के विशेषज्ञों द्वारा उत्तर प्राप्त कर; प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता, दोनों के नाम-पते के साथ; प्रश्न और उत्तर प्रकाशित किया करेंगे।

सम्पादक 'पुस्तक-जगत'

ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित।

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

सम्पादक : अखिलेश्वर पाण्डेय

नववर्ष विशेषांक

वांछनीय है कि नहीं ?

शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण



श्री राजकमल चौधरी

तय है कि, कारण सही या गलत हों, स्वाधीनता के बाद अपने देश की जीवन-पद्धति में और जीवन-मूल्यों में संभाव्य-असंभाव्य परिवर्त्तन आए हैं। परिवर्त्तन के शुभत्त्व और सार्थकता पर विचार नहीं करके भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि स्थितियों और वस्तुओं को व्यावसायिक बातों से तौला-परखा जाने लगा है। मानव-मूल्यों (ह्यूमेन-वैल्यूज) से अधिक उपयोगिता को स्थान मिलने लगा है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में तो अवश्य ही, विज्ञान-कला-साहित्य के शिक्षा-क्षेत्रों में भी।

शिक्षा का मात्र उद्देश्य ज्ञानार्जन, या ज्ञान-सुलभ आनन्द, या आत्म-बोध, या आत्म-तृप्ति नहीं मान कर; शिक्षा-प्राप्ति की भौतिक-आर्थिक उपयोगिता मान लिया गया है। यह मान्यता अनर्गल है, ऐसा कहने का साहस मुझमें नहीं है; क्योंकि इस मान्यता का कारण समाज की समकालिक व्यवस्था है, केवल मन की आस्था नहीं। मन की आस्थाओं का युग शायद, बीत चुका है, या शायद, कभी था ही नहीं; और जो है, उसके अस्तित्त्व से इन्कार करना उपादेय नहीं है।

एक महत्त्वपूर्ण और नवीन घटना और भी हुई है। कला और साहित्य का उद्देश्य भी बदल दिया गया है, और इन्हें भी शिक्षा का एक बलिष्ठ-स्वस्थ माध्यम बना लिया गया है। यह नहीं भी मानें कि नाटककार पँचसाला-दससाला योजनाओं पर, शराबबन्दी और जापानी तरीके की खेती पर नाटक और रूपक लिखने लगे हैं या कवियों की काव्यशक्ति भूदान-आन्दोलन या सर्वोदय-फिलॉसॅफी या ग्राम-चुनाव की पर्चेबाजी में नई अभिव्यक्तियाँ ग्रहण कर रही है; फिर भी, इतना तो मानना ही चाहिए कि जहाँ कला और साहित्य के विषय में कहा गया था कि परम सुन्दर की अनुभूति और इस अनुभूति की अभिव्यक्ति के अलावा इनकी अन्य कोई उपलब्धि या परिणति या गति नहीं है; अब लगभग यह निश्चित-सी स्थापना की गई है कि समाज के व्यक्ति-समूह को अच्छे ढंग से रहने-जीने की तरफ प्रेरित करना ही कला और साहित्य का उद्देश्य है।

यानी, मास-एजुकेशन और कला-साहित्य में कोई भेद नहीं; कवि सामाजिक वक्ता है, चित्रकार सामाजिक उपदेशक ...... पिकासो का चित्र 'गैरेनिका' इसलिए महान नहीं है कि उसमें जीवन के विराट विध्वंस के शिवत्त्व को अंकित किया गया, बल्कि इसलिए महान है कि वह फासिस्टों के खिलाफ खुला विद्रोह था, आदि-आदि।

शिक्षा और साहित्य के राष्ट्रीयकरण का सवाल इस स्थापना के बाद ही शुरू होता है। क्योंकि, संस्कृति और सभ्यता, और इनके सारे उपादान अब देश की संपत्ति नहीं हैं, देश की पूंजी बन गई हैं। क्योंकि, कोणार्क-तिरूवमलाई-खजुराहो-महाबलीपुरम् की कलामूर्त्तियाँ अब म्यूजियमों में कैद हो गई हैं और उन्हें देखने के लिए टिकट खरीदने पड़ते हैं। क्योंकि, तुलसी और कबीर और गालिब और इक़बाल जन-सामान्य के ओठों और कण्ठों से ऊपर उठकर पोस्टल-स्टाम्पों पर छपने लगे हैं। शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण आवश्यक, नितान्त आवश्यक हो गया है।

अपने देश का यह युग राष्ट्रीयकरण का ही युग है। यातायात के साधनों से लेकर जीवन-बीमा के व्यवसाय तक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। बैंक, फैक्टरियाँ, लोहे-कोयले के खान, खेती-बारी, यहाँ तक कि चाय-सिगरेट के स्टाल तक के राष्ट्रीयकरण की बात आए-दिन सुनी जाती है। यों, यह बात और है कि अपने देश में स्थापित-विकसित होता हुआ यह 'राष्ट्रीयकरण', शब्द के किसी भी अर्थ में राष्ट्रीयकरण नहीं है, शासनीकरण है; और हमें सोने के नाम पर सिर्फ पीतल दिया जा रहा है।

सही राष्ट्रीयकरण तभी हो सकता है, जब शासन और राष्ट्र दोनों एक ही इकाई, एक ही 'यूनिट' हों—और, ऐसा अभी तक अपने देश में नहीं है, यह बात सभी लोग निश्चित रूप से समझते हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा-पद्धति के राष्ट्रीयकरण को पेश किया जा सकता है। शिक्षा-पद्धति को सरकारी नियमों-उपनियमों और निर्धारित तरीकों से चलाया जाता है। फ्री-प्राइमरी-एजुकेशन है, टेक्स्ट-बुक-कमीटियाँ हैं,

शिक्षा-बोर्ड हैं, पूरा-का-पूरा स्टेट और सेन्ट्रल शिक्षा-विभाग है। लेकिन, इतना सारा कुछ होने पर भी क्या छात्रवर्ग को सही शिक्षकों द्वारा सही ढंग की शिक्षा मिल रही है? फिर भी क्या, शिक्षा-पद्धति बनानेवालों और अन्य संपन्न परिवारों के बच्चे हिल-स्टेशनों और बड़े शहरों के प्राइवेट स्कूलों में ही नहीं पढ़ते? फिर भी क्या, ऊँची सरकारी-गैरसरकारी नौकरियाँ पानेवाले अधिकांश लोग अभी तक मिशनरियों के कान्वेन्ट-स्कूलों और विदेशी शिक्षागृहों से नहीं आते हैं?

सभाओं-मीटिंगों में ऊँची मेज पर माइक के सामने खड़े होकर राष्ट्रीय शिक्षा और शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का नारा देना बहुत अच्छा लगता है—लेकिन, सभी नारेबाज लोग भली-भाँति जानते हैं कि शिक्षा को व्यवसाय के तराजू के पलड़ों पर तौलने से, शिक्षा पानेवाले विद्यार्थी और जो-कुछ हो जाएँ, सही नागरिक नहीं बन सकते। शिक्षा को, शिक्षा की पद्धति को, शिक्षण-संस्थाओं को राजकीय सहायता मिले, प्रोटेक्शन मिले; यह बहुत अच्छी बात है। मगर, देश की सरकार स्कूलों-कालेजों को फैक्टरियों के मानिन्द बना दे, शिक्षा का राष्ट्रीयकरण कर दे, तो इस फैक्टरी से टाइप-फाउन्डरी के ढले हुए अक्षर भले ही पैदा हों (जिनपर अल-जेबरा के फार्मूले और तवारीख की तारीखें और पद्य के छन्द लिखे हो सकते हैं); मगर, एक भी आर्य्यभट्ट या लीलावती, पाणिनि या शंकराचार्य्य, अश्वघोष या कालिदास पैदा नहीं हो सकता। संयोग से पैदा हो भी जाए, तो वह शिक्षा-पद्धति के कारण नहीं, अपनी सशक्त प्रतिभा (जो फैक्टरी के मशीनी वातावरण में भी जीवित रह सकी) के कारण ही हो सकेगा।

और, जहाँ तक साहित्य या कला का प्रश्न है, कुछ वर्षों पहले अमरीकन पूँजीपतियों ने मिनिएचर-फार्म में लग-भग ऐसी ही कोशिश की थी। साहित्यकारों-कलाकारों की कई बड़ी जमातों और कई बड़े व्यक्तित्वों को एक जगह जमा करके उनसे अन्तर्राष्ट्रीय स्केल पर, पूँजीपतियों के हित में प्रचारवादी साहित्य-रचना करवाने की चेष्टा की गई। पिछले महायुद्ध के समय में फौजियों के लिए पल्प-लिटरेचर बड़े पैमाने पर लिखा गया। फ़िशर, लेविस, बेरी, गिशनर जैसे प्रसिद्ध लेखक एयर-टाइट कमरों में बन्द होकर सम्मिलित रूप से साहित्य रचने लगे। साहित्य को प्रेस-रिपोर्टिंग और ललित-कलाओं को विज्ञापन-प्रसाधन बना दिया गया।

साहित्य को राष्ट्रीयकृत कर दिया जाए, तो इससे भी अधिक भयानक प्रतिफल निकलेंगे। साहित्य किसी भी हालत में किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ बेचने का व्यवसाय नहीं है। और, साहित्य के राष्ट्रीयकरण का अर्थ होगा प्रेमचन्द के सूरदास या शरच्चन्द्र के श्रीकान्त से नेशनल-सेविंग-सर्टिफिकेट के पक्ष में रेडियो से भाषण दिलवाना…!

कहते हैं, सोवियत रूस में व्यक्तिगत पूँजी, व्यक्तिगत व्यवसाय नाम की कोई चीज नहीं है। खेतों-फैक्टरियों से लेकर दर्शन और विज्ञान की अनुसंधान-संस्थाओं तक, सभी का पूरा राष्ट्रीयकरण हो चुका है। अर्थात्, साहित्य और कला की संस्थाएँ, प्रकाशन-समितियाँ, लेखक-संघ, सभी राष्ट्रीयकृत हैं। और, रूस जैसे श्रीसम्पन्न देश में भी; जहाँ की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था भी, निश्चय ही, हमारे देश से अधिक मजबूत है, साहित्य और कला का यह राष्ट्रीयकरण अंशतः भी सफल नहीं हो सका है। शोलोखोव और एकाध अन्य नामों को छोड़कर (अगर पेस्तरनाक का नाम लेना न भी चाहें), वर्तमान

रूसी साहित्य में एक भी ऐसा नाम नहीं है, जिसे विश्वसाहित्य की कतार में रक्खा जा सके। सोवियत रूस ने बड़े-बड़े इंजीनियर और एग्रिकल्चरिस्ट पैदा किये हैं, पुश्किन या तुर्गनेव नहीं पैदा हो सके।

साहित्य और कला, दोनों मनुष्य की परम व्यक्तिगत संपत्ति है। इसे सामाजिक पूँजी बनाने की चेष्टा में कभी सफल नहीं हुआ जा सकता है। हाँ, यह जरूर है कि साहित्य और साहित्यकार की आर्थिक सीमाएँ हैं, विवशताएँ हैं। राष्ट्र की सरकार का यह कर्त्तव्य होता है कि इन सीमाओं को दूर करने में वह सहायता करे। किन्तु, प्रकाशक सरकार हो जाए तो न बोरिस पेस्तरनाक का 'डा० ज़िव्वागो' छप सकेगा, न लुई आरागों का 'ला कम्यूनिस्ते'; और लेखक सरकारी हो जाएँ, तो न कोई निराला पैदा हो सकेगा, न कोई नजरुल इस्लाम!



एक दिन कुआँ फरियाद लेकर समुद्र के पास पहुँचा; बोला—"नदियों को ही प्यार करते हो—हमें तो कभी पूछते भी नहीं! पिता के घर में ऐसा पक्षपात क्यों?" समुद्र ने कहा—"चारों तरफ दीवार खींचकर बैठने वालों को जो मिलता है, वही तुम्हें मिल रहा है। प्यार चाहते हो तो अपनी दीवारें तोड़कर बाहर आ जाओ और हर दिल के किनारे बहो।"

—महमूद तैमूर

'अश्क' के दो विशिष्ट ग्रन्थ

संकेत

शताधिक आधुनिक हिन्दी लेखकों के सहयोग से संकलित, श्री अश्क द्वारा सम्पादित अभूतपूर्व ग्रन्थ, जिसमें आधुनिक उपन्यास, कथा, नाटक, एकांकी, लघु-कथा, निबन्ध, संस्मरण और काव्य का बेजोड़ प्रतिनिधित्व प्रस्तुत है।

'संकेत' में हिन्दी की सभी साहित्यिक धाराओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। यह एक ऐसा संकलन है जो हिन्दी में मील के पत्थर सरीखा माना जा सकता है। —**'नई दुनिया' इन्दौर**

'संकेत' सर्वांगसुन्दर प्रकाशन है। समसामयिक साहित्य का प्रतिनिधि है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व माना जायगा। हिन्दी के साहित्य-भण्डार में ऐसी संग्रहणीय और स्पृहणीय सामग्री संचित करने के लिए हार्दिक बधाई। इससे हिन्दी का गौरव बढ़ा है और आगे भी बढ़ता रहेगा।—**आचार्य शिवपूजन सहाय**

'संकेत' देखकर हृदय आनन्द से भर गया। जिस भाषा में इतनी अच्छी चीजें लिखी जा रही हैं उसमें गत्यवरोध कहाँ है? आशा है, रसज्ञ पाठक संकेत की हर प्रति बाजार से उठा लेंगे·· — **दिनकर**

'संकेत' इतना विशालकाय ग्रन्थ और इस मुस्तैदी के साथ तैयार किया गया, यह हिन्दी प्रकाशन में एक विशेष घटना है। —**जगदीशचन्द्र माथुर**

'संकेत' ऐसे अच्छे प्रकाशन के लिए बधाई। ऐसे जितने प्रयत्न हिन्दी में हुए हैं, उनमें सर्वोत्तम।

—**रामवृक्ष बेनीपुरी**

डबल डिमाई, ६०० से ऊपर पृष्ठ, एंटिक कागज, प्रत्येक लेखकों के चित्र, चार रंग का मुखपृष्ठ, मूल्य : मात्र—१५ रु०।

सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ

'अश्क' प्रेमचन्द के जमाने से कहानी लिखते हैं और निरन्तर प्रगति करते, नयी प्रेरणाओं और विचार-धाराओं, नवीन दृष्टिकोण और शिल्प-विधान को अपनाते हुए आज भी सृजनरत हैं। प्रेमचन्द के बाद की लगभग चौथाई सदी में हिन्दी-कहानी ने जो प्रगति की है, अश्क की कहानियाँ उसकी प्रतीक हैं।

इन तीस-बत्तीस वर्षों में अश्क ने लगभग डेढ़-दो सौ कहानियाँ लिखीं, जिनमें से श्रेष्ठतर ७० कहानियाँ चुनकर हमने इस बृहद् संग्रह में प्रस्तुत कर रखी हैं।

अश्क ने जीवन को भरपूर जिया है और बेगिनती अनुभूतियाँ सँजोई हैं, इसी कारण प्रस्तुत संग्रह में अभूतपूर्व विविधता आ गयी है। इसका प्रकाशन बड़ा सुन्दर हुआ है।

डिमाई ६०० से ऊपर पृष्ठ, बढ़िया कागज, मोनो की छपाई, रेक्सिन की जिल्द, लेखक की संस्मरणात्मक लम्बी भूमिका और नवीन चित्र, चार रंग का मुखपृष्ठ।

मूल्य : मात्र १५ रु०

मित्रों को प्रेमोपहार देने की चीज है। कोई भी पुस्तकालय इससे वंचित न रहना चाहिए।

सभी बड़े पुस्तक-विक्रेताओं और ह्वीलर के बुक-स्टालों पर प्राप्य।



नीलाभ के नये प्रकाशन

*

सत्ती मैया का चौरा : उपन्यास : मूल्य १२ रु०

चार दिल चार राहें : "

साहब को जुकाम है : नाटक : मूल्य ३·७५ न०पै०

नीलाभ प्रकाशन, ५ खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद

अध्ययन और समाज



श्री राधाकृष्ण

पुरातन काल की बात है। दो अपरिचितों की भेंट होती थी, तो दोनों परस्पर एक-दूसरे का परिचय प्राप्त करते थे। फिर आपस में बातें होने लगती थीं। ब्रह्म क्या है, उसका रूप क्या है, उसे प्राप्त करने का मार्ग क्या है। या फिर साहित्य की बातें होती थीं। कालिदास और भास के नाटक, बाणभट्ट की कादंबरी। इसी भाँति आयुर्वेद की बातें, शाक्त और शैव तंत्र की बातें।...इन बातों के द्वारा लोग एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करते थे। बातों-ही-बातों में अनजान आदमी भी वार्ता-विषयक बहुत-सारी बातें जान लेता था। परन्तु, इस तरह की बातों के लिए विशाल और गहरे अध्ययन की आवश्यकता थी, और वह चीज इस भारत में थी। लोग विद्याध्ययन के पीछे शौक से अपना समय बिताते थे। उस समय प्रकाशन की सुविधा नहीं थी। पुस्तकें इतनी आसानी से नहीं मिल पाती थीं। तब भी लोग हताश नहीं थे। किताबों की खोज होती थी। जहाँ से अच्छी किताबें मिलती थीं, लोग उन किताबों की प्रतिलिपि पाने का प्रयत्न करते थे। अध्ययन का शौक कम नहीं था।

परन्तु आज-कल! दो नये लोगों में भेंट होती है। क्या नाम है आपका? कहाँ रहते हैं? कितने बाल-बच्चे हैं? क्या काम करते हैं? कितना कमाते हैं? इतनी जानकारी करने के बाद फिर वे दूसरे नये यात्री की ओर मुड़ते हैं और उनसे भी यही-सारे सवाल पूछने लगते हैं कि क्या नाम है? कितने बाल-बच्चे हैं? क्या करते हैं? कितना कमाते हैं?...ऐसा लगता है कि इतनी जानकारी ही बहुत है। इस जानकारी के बाद वे फिर तीसरे नये यात्री से वही प्रश्न पूछना शुरू कर देंगे। यह तो पुरुषों की बात हुई। स्त्रियों में भी विवाह-शादी की चर्चा, गहने की चर्चा, कपड़े और गृहस्थी की चर्चा के अलावा और कोई बात नहीं हो पाती।

इसके विपरीत यूरप की ओर देखें। वहाँ भी समाज है, सामाजिक जीवन है; लेकिन इस तरह की अनर्गल बातों में समय बिताने के लिए कोई तैयार नहीं। लोग एक-एक मिनट का उपयोग कर रहे हैं। रेलगाड़ी में दो यात्री हैं। अगर उनलोगों की आपस में जान-पहचान नहीं, तो एक-दूसरे से बात करने का भी प्रयत्न नहीं करेंगे। ये अपनी रुचि की किताब पढ़ रहे हैं, वे अपनी रुचि की चीज पढ़ रहे हैं। स्त्री-पुरुष भी हैं तो आपस में बकबक नहीं कर रहे हैं। दोनों अलग-अलग किताब पढ़ने में लगे हुए हैं। जहाँ जिसका स्टेशन आया उतर गया। न राम-सलाम, न बातचीत, न अपने अधकचरे ज्ञान का प्रदर्शन। समाज में वे एक हैं, परन्तु व्यक्ति के हिसाब से उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनी हुई है। एक व्यक्ति रोज रेलगाड़ी पर अपने गाँव से लन्दन आते थे। रेलगाड़ी पर जो थोड़ा-सा समय मिलता था उसीके अन्दर उन्होंने डेढ़-दो वर्षों में लैटिन का अध्ययन कर लिया। ऐसी एक महिला का वृत्तान्त भी है जिन्होंने अपने अवकाश का थोड़ा-सा समय लगाकर कई भाषाओं की अभिज्ञता प्राप्त करके अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया था। इस प्रकार यूरप-अमेरिका में हर आदमी अलग है। हर आदमी अपनी रुचि की पुस्तकें पढ़ रहा है। हर तरह की किताबें छप रही हैं और लाखों की संख्या में बिक रही हैं। इधर भारत में अध्ययन के स्थान पर बातों का वात्याचक्र चल रहा है। लोग सारी जिन्दगी एक ही किस्म की बातें करते हुए रह जाते हैं। आश्चर्य यह है कि वे इसी में प्रसन्न रहते हैं। अगर पढ़ने-लिखने की बात चली, तो कहेंगे ऊँह, अजी पढ़कर क्या होगा? या कहेंगे कि जो पढ़ना था, पढ़ लिया, अब फिर किताब लेकर कौन सिर मारे!

इस सामाजिक ढाँचे में अध्ययन के लिए कोई स्थान ही नहीं। अगर कोई आदमी अफसर है, तो वह हर जगह हर समय अफसर ही है। अपनी स्त्री के सामने भी वह अफसरी करेगा, अपने बेटों के आगे भी वह अफसर ही है। वह कभी इस बात की आवश्यकता महसूस नहीं करता कि पढ़कर साहित्य या अपनी रुचि के विषयों की किताबों को जरा देख तो जायँ। उन्हें टी-पार्टी, डिनर-पार्टी में जाने का समय है, क्लबों में जाकर ताश खेलते हुए गप्प लड़ाने का समय है; लेकिन पढ़ने के नाम पर पूछिये तो कहेंगे कि मेरे पास कोई समय ही नहीं। रोज समाचार पत्र आता है, उसे पढ़ने का अवकाश ही नहीं निकाल पाता तो फिर उपन्यास और कहानी और यह-वह पढ़ने का समय कहाँ से आवे?

जनता भी उनका अनुकरण करती है। जिस तरह बड़े लोग चलते हैं उसका अनुकरण सदा से होता आया है। फलतः आज अध्ययन की रुचि नहीं, आज पढ़ना अनावश्यक माना जाता है। आज बातें करने में आदमी अपना अधिक-से-अधिक समय लगा देगा; लेकिन चुपचाप पढ़ने के लिए उसके पास एक मिनट भी नहीं बच पाता। उधर प्रकाशकगण अच्छी-बुरी हर तरह की किताबें छापते हैं; लेकिन बिक्री के नाम पर 'जय सीता राम' का नाम लेकर रह जाते हैं। यहाँ तो पढ़ने की आदत ही नहीं।

नहीं पढ़ने की जो बुराइयाँ हैं वे भी इस देश में कम नहीं। अपना काम करने के बाद जितनी कुत्सा, जितनी कूट-नीति-राजनीति, जितना पारस्परिक षड्यंत्र होना चाहिये; वह-सब इस देश में होता है। एक वकील दूसरे वकील का विश्वास नहीं करता। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी का विश्वास नहीं करता। मनुष्य यहाँ अपना मूल्य खो बैठा है। पैसा कमाना ही सब-कुछ हो गया है। उसके लिए जो-कुछ करना चाहिए वह सब-कुछ यहाँ होता है। वैसे, पैसा विदेशों में भी मुख्य लक्ष्य बनकर रहा और वह हमारे देश से ज्यादा है। परन्तु, वे पैसा कमाते हैं तो उसका भोग भी करते हैं। यहाँ उसका उल्टा है। हरएक का जीवन कंटकाकीर्ण है, हर आदमी परीशान है। लोग जीवन से हतोत्साह हो रहे हैं। उत्साह जैसे खो गया है। दिन-रात समाज के अपने आदमियों से अपना बनकर बातचीत कर रहे हैं; लेकिन फिर भी अपना कोई नहीं। त्याग की जगह भोग को जीवन का लक्ष्य बनाया तो वह भोग भी नहीं हो पाता। यूरप में लगता है जैसे हर आदमी अपने व्यक्तित्व के कठघरे में बन्द होकर अपनी रुचि के अनुकूल कुछ कर रहा है; लेकिन यहाँ हर आदमी का व्यक्तित्व खुला हुआ है और फिर भी न सुख है न भोग है; जीवन अकारथ चला जा रहा है। लोग एक साथ मिलकर भी एक नहीं हो पाते। आपस में विश्वास नहीं। पहले तो आदमी चोर-डाकू से ही भय रखता था, अब अपने मित्र से भी भयभीत रहा करता है।

इस मानसिक अव्यवस्था का कारण क्या है? ईसा मसीह ने एक बार कहा था कि जो-कुछ मुँह के अंदर आता है उससे आदमी दूषित नहीं होता, बल्कि जो-कुछ मुँह से निकलता है उससे आदमी दूषित होता है। यही बात हमारे समाज में लागू है। हमलोग फिजूल अपना और दूसरों का समय बातों में बहुत ज्यादा नष्ट कर रहे हैं। जिस चीज का कोई अध्ययन नहीं उसी चीज के प्रति अपना ज्ञान प्रदर्शित करते हुए अपने को निष्णात साबित करने के प्रयत्न में हम लगे हुए हैं। अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाकर नहीं रखते। अपनी रुचि का स्वयं तो परिष्कार नहीं करते और उसके बदले दूसरों की रुचि को परिष्कृत करने के पीछे अपना सारा समय नष्ट करते चले आ रहे हैं। ईसा मसीह ने अपनी बात की व्याख्या इस तरह की है: "जो मुँह में जाता है वह पेट में उतरता है और मल के रूप में बाहर निकल जाता है। लेकिन जो चीजें मुँह से निकलती हैं वे हृदय से निकलती हैं और आदमी को दूषित करती हैं। उस हृदय के अन्दर से ही दुष्ट विचार, दुराचार, चोरियाँ, झूठी गवाही, नास्तिकता आदि निकलते हैं। इनसे ही आदमी दूषित होता है।" क्या हमारा समाज इस प्रकार के दूषण से बचा हुआ है? उससे बचने का उपाय क्या है? मानसिक उन्नति तथा एकता के लिए क्या उपाय है!

व्यक्ति के विकास द्वारा सामाजिक उन्नति और सुरुचि का मार्ग कौन-सा है ?

हमारा देश तपस्या का देश रहा है। जो-लोग आज के हमारे साहित्यिकों को ओछा बतलाकर हँसते हैं, उनकी दरिद्रता का उपहास करते हैं, उनसे मैं विनयपूर्वक सादर निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे साहित्यकार आज भी एक सच्ची तपस्या में निरत हैं। आज वे अमान्य हैं, क्योंकि सत्ता ही सब-कुछ कर रही है। आज अधिकारों का युग है। लेखक के पास अधिकार नहीं। वह तो प्रेम का सूत्र पकड़कर चलता है। प्रेम के द्वारा ही आप उसकी तपस्या को आँक सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जब आप उसकी तपस्या के समीप पहुँचेंगे तो आपके समाज का अनावश्यक कूड़ा-कचरा आप-से-आप साफ हो जायगा। रुचि में परिष्कार होगा। लोग मानसिक एकता के सूत्र में बँधेंगे। समाज सुन्दर होगा। राष्ट्र आगे बढ़ेगा और सारी दुनिया को सुन्दर तथा शक्तिसम्पन्न बनाने में योग देगा।

अध्ययन का आन्दोलन लेखक-प्रकाशक का आन्दोलन नहीं है। वह एक सामाजिक पुण्यकार्य है। इस सामाजिक पुण्यकार्य के लिए कानून नहीं बनेगा। यह जनता को स्वयं करना है। यह जनता का मुक्तिमार्ग है। यह रचनात्मक कार्यक्रम है; परन्तु इस रचनात्मक कार्यक्रम को संघबद्ध होकर नहीं किया जाता। यह व्यक्ति-व्यक्ति की चीज है। इसे व्यक्तिगत रूप से ही आरम्भ करना होगा। आप अपनी अध्ययनशीलता को जाग्रत कीजिए। दूसरा जब जागेगा तब जागेगा। एक दिन सबको जागना है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं।



'सम्भव' 'असम्भव' से प्रश्न करता है—"तुम्हारा निवास कहाँ है ?" उत्तर मिलता है—"अक्षम व्यक्तियों के सुहावने सपनों में !"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हमारे नये प्रकाशन

• दशरथ-नंदन श्रीराम

(चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य)

वाल्मीकि रामायण के आधार पर रामकथा। रोचक, प्रेरणा-दायक।

पृष्ठ ४५० : मूल्य ५.००

• परमहंस की कथाएँ

(महाबीरप्रसाद पोद्दार)

रामकृष्ण परमहंस की मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ।

सचित्र : दोरंगी छपाई : पृष्ठ ८०
बड़े साइज में : मूल्य १.५०

• प्रभु पधारे

(स्व० झवेरचंद मेघाणी)

गुजराती के सुप्रसिद्ध उपन्यास-कार का हृदयस्पर्शी उपन्यास। सजीव शैली, भावपूर्ण वर्णन, शिक्षाप्रद कथानक।

पृष्ठ २०० : मूल्य २.००

• कथा-सरित्सागर

(सोमदेव-कृत ग्रंथ का भावानुवाद)

प्राचीन साहित्य का अनमोल ग्रन्थ। कथा-कहानियों का अटूट भण्डार। सुपाठ्य और संग्रहणीय।

पृष्ठ ५५० : मूल्य ६.००

• तमिल साहित्य और संस्कृति

(अवधनंदन)

तमिल भाषा, साहित्य और तामिलनाड की संस्कृति का ज्ञानवर्द्धक विवेचन।

पृष्ठ २५० : मूल्य सजिल्द ३.५०

• समुद्र के जीव-जन्तु

(सुरेशसिंह)

जल में रहनेवाले जीवजन्तुओं का सचित्र ज्ञानवर्द्धक परिचय।

दोरंगी छपाई : बढ़िया चिकना कागज : आकर्षक तीन रंग का आवरण : पृष्ठ ४८ बड़े साइज में : मूल्य १.५०

इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी पुस्तकें निकली हैं।
विस्तृत जानकारी के लिए लिखें।

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न



श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

शिक्षा पर राज्य सरकार का नियंत्रण किस सीमा तक होना चाहिए, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर मतभेद स्वाभाविक है। चाहे शिक्षा-पद्धति हो या कोई दूसरी पद्धति, नियंत्रण के अभाव में उसका नियमित कार्यान्वयन कभी-कभी कठिन हो जाता है। इतना होने पर भी, यह सच है कि कड़ा नियंत्रण विकास का बाधक होता है। नदी के सम्यक् प्रवाह के लिए दोनों तटों का नियंत्रण स्वाभाविक और उचित है, किंतु दोनों तटों के बीच में कोई नियंत्रण रखना प्रवाह की गति को रोकना है। शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से हमें यह विचार करना है कि स्कूल, कालेज और उनके पाठ्यक्रम तथा प्रशासनिक पद्धति पर सरकार किस तरह और किस सीमा तक अपना नियंत्रण रखे।

शिक्षा का दायित्व सरकार के ऊपर है और इसका विधिवत् उल्लेख भारत के संविधान में है। जहाँ दायित्व रहता है वहाँ अधिकार भी स्वयं आ जाता है, पर संविधान में किसी अधिकार की चर्चा नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के संबंध में अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए या उसके बदले में सरकार अपने लिए पूरा अधिकार ले लेती है। शिक्षा के मद में सरकार को प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। सरकार यह समझती है कि उसके धन का व्यय उचित रीति से हो, इसलिए शिक्षा-संस्थाओं पर अपना नियंत्रण बनाये रखना उसके लिए आवश्यक है। इसी प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि शिक्षा के प्रचार या विकास में राजकोष से जितना धन खर्च होता है उससे कहीं अधिक धन प्रजा की ओर से खर्च होता है। सरकारी आँकड़े ही इसके प्रमाण में दिए जा सकते हैं। पूरे सरकारी खर्च से चलनेवाले स्कूलों और कालेजों की संख्या नगण्य है। हाँ, अधिकांश स्कूलों और कालेजों को सरकारी सहायता प्राप्त होती है, पर ऐसी सहायता से उनका पूरा काम नहीं चलता। पूरी सरकारी सहायता से चलनेवाले स्कूलों और कालेजों में भी व्यवस्था का ही खर्च सरकारी रहता है, उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों को प्रवेश-शुल्क, पाठ-शुल्क, परीक्षा-शुल्क आदि के रूप में बहुत खर्च करना पड़ता है। हिसाब लगाकर देखा जाय तो शिक्षा के पूरे मद में खर्च होनेवाली रकम का एक-चौथाई अंश सरकार देती है और तीन-चौथाई अंश जनता को देना पड़ता है। यह औसत का अनुमान है। किसी-किसी राज्य में इसका अनुपात न्यूनाधिक हो सकता है। इससे मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नागरिकों की संपत्ति पर सरकार का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। अधिकार के बिना कोई सरकार जीवित ही नहीं रह सकती। इसी अधिकार के कारण सरकार को जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। मुख्य है कर्त्तव्य-पालन, अधिकार उससे प्रसूत होता है। प्रजातंत्र के समुचित विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को कम-से-कम अधिकार या नियंत्रण रखना चाहिए।

भारत के तीन विश्वविद्यालय तो केंद्र-शासित हैं, किंतु अन्य सब विश्वविद्यालय अप्रत्यक्ष रूप से राज्य-शासित हैं। राज्य-शासित कहने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि विश्वविद्यालयों को चलाने के लिए राज्य सरकार जो धन देती है उसके आधार पर वह अपना कुछ अंकुश रखती है। यों, सारी अंतरंग व्यवस्था के लिए विश्वविद्यालय को पूरी स्वतंत्रता है, और यह उचित भी है। किंतु, स्कूलों के बारे में ऐसी स्थिति बिल्कुल नहीं है। सरकारी, गैर-सरकारी स्कूल, सब सरकार के भार से दबे हुए हैं। कुछ स्कूलों को पूरा व्यवस्था-खर्च सरकार की ओर से मिलता है और कुछ को सौ-पचास रुपये मासिक सरकारी अनुदान मिलता है। कुछ ऐसे भी हैं जो सरकारी अनुदान नहीं लेते या जिन्हें नहीं मिलता। वे सब सरकारी नियंत्रण में लगभग एक-जैसे ही हैं। उनकी शिक्षा-पद्धति, उनकी प्रबंध-समिति, उनकी पाठ्य-प्रणाली, उनकी पाठ्य-पुस्तकें; सब पर सरकार सवार है। स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए यह स्थिति अनुकूल नहीं है। यदि समुचित रीति से भारतीय प्रजातंत्र में हमें शिक्षा का प्रचार करना है, तो यह अधिकार अधिक-से-अधिक नागरिकों को देना चाहिए और कम-से-कम सरकार को अपने पास रखना चाहिए।

शिक्षा-शास्त्रियों का यह विचार नया नहीं है कि देश की शिक्षा-पद्धति राजकीय नियंत्रण से स्वतंत्र होनी चाहिए। यह

एक आदर्श है, इसकी प्राप्ति का प्रयत्न हमें करना चाहिए। विकसित तथा प्रबुद्ध प्रजातंत्र में शिक्षा को स्वतंत्र ही छोड़ा गया है, लेकिन भारत-जैसे नवजात प्रजातंत्र में इसकी आवश्यकता पर पूरा विचार किया ही नहीं गया। यों, राष्ट्र के नेताओं तथा अधिकारियों ने समय-समय पर अपने वक्तव्यों में इसकी आवश्यकता को महसूस किया है, पर इस संबंध में वे अबतक कुछ कर नहीं सके हैं।

विगत ३१ मई को भारत सरकार के शिक्षा-मंत्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली ने अमृतसर में अपने एक भाषण में कहा—**"सरकार को शिक्षा-संस्थाओं पर एकाधिकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे देश में प्रजातंत्र के विकास में कमजोरी आ जायगी।...शिक्षा के क्षेत्र में, ढाँचे में एकरूपता लाने से, प्राइवेट स्कूलों की स्वयं आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रयोगात्मकता समाप्त हो जायगी और काम का एक ढर्रा बँध जायगा, जो प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।"**

डॉ० श्रीमाली की उक्ति का हम समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि वे अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा करें। उनके हाथ में अभी शिक्षा का शासन-सूत्र है। वे चाहें तो शिक्षा को भारतीय प्रजातंत्र में उचित स्वतंत्रता मिल सकती है। किंतु, खेद की बात है कि बहुधा उचित बात से उचित काम का संबंध नहीं रखा जाता।

आचार्य विनोबा भावे शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण के पूरे विरोधी हैं। उनकी तरह देश के अन्यान्य सर्वोदयी नेता भी शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखना चाहते हैं, किंतु एक सरकार है जो सिद्धांत के रूप में उचित कहती है, पर प्रयोग में ठीक इसका उल्टा करती है। इस चक्र-व्यूह को तोड़ना कठिन हो जाता है। विगत २७ अप्रैल को राजपुरा (पंजाब) में अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन के अवसर पर आचार्य भावे ने स्पष्टरूप से कहा—**"सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षा-पद्धति नहीं होनी चाहिए। शिक्षा पर सरकारी प्रभाव का मतलब जनता के विचार तथा मस्तिष्क को बाँध रखना है। सरकारी शिक्षा-पद्धति से प्रभावित व्यक्ति मताधिकार को अपने मनोनुकूल व्यवहार करने में विफल रहता है।"**

आचार्य विनोबा भावे शिक्षा के ऊपर सरकारी नियंत्रण के विरोधी तो हैं ही, वे वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति—चाहे परंपरागत हो या बुनियादी—के कट्टर आलोचक भी हैं। वे इसके परिणाम को उपस्थित करते हुए कहते हैं—**"यह बात ठीक है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासन कम है, लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उनमें इतना भी अनुशासन कैसे बचा है! क्योंकि आज हिंदुस्तान में जो तालीम दी जा रही है, उसका वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है।"**

आचार्य विनोबा भावे बुनियादी तालीम के पुरोहित हैं, किंतु बुनियादी तालीम का जो प्रयोग सरकारी नियंत्रण में किया गया और जो किया जा रहा है, वह पूरी तरह विफल हो रहा है। इसमें जिनको संदेह है वे पिछले बीस वर्षों के इतिहास को देखें। बुनियादी तालीम में स्वावलंबन का जो प्रलोभन था, वह दूसरे प्रकार के प्रलोभन में बदल कर रह गया। आज प्रत्येक बुनियादी स्कूल पर सरकार को जितनी रकम खर्च करनी पड़ती है, वह परंपरागत की अपेक्षा बहुत अधिक है। परिणाम भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो रहा है। सिद्धांत में जो शिक्षा-पद्धति उपयोगी मालूम पड़ती है, वह प्रयोग में क्यों व्यर्थ हो रही, इस समस्या पर देश के मनीषियों को तथा सरकार को विचार करना चाहिए।

शिक्षा-पद्धति पर सरकारी नियंत्रण को लेकर केरल में उपद्रव खड़ा हो गया और इसका निराकरण कुछ दिनों के लिए केरल पर राष्ट्रपति के शासन द्वारा किया गया। यह निराकरण अंतिम नहीं माना जा सकता। यह बात दूसरे रूप में भारत के अन्य राज्यों में भी है। शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण खराब है तो दूसरे राज्यों में सरकारी नियंत्रण अच्छा कैसे माना जा सकता है! केरल में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध जब आंदोलन चल रहा था तब सर्वोदयी नेता श्री धीरेंद्र मजूमदार ने कहा था—**"शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण लोकतंत्र की हत्या है। जहाँ तक केरल में शिक्षा का प्रश्न है, केरल की कोई पृथक् समस्या नहीं है, वरन् वह अखिल भारतीय समस्या है।......भारत के अन्य राज्यों में यह नियंत्रण अपेक्षाकृत कम हो सकता है और केरल में वही कुछ अधिक करने की चेष्टा की जा रही है, किंतु सिद्धांततः दोनों में कोई**

उल्लेखनीय अंतर नहीं।......कॉंग्रेस द्वारा शासित भारत के अन्य राज्यों में सरकारी नियंत्रण क्या कम है? लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभागों-द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखवाई जाती हैं और वही उन्हें प्रकाशित करता है। ये सारी बातें क्या हैं! क्या शिक्षा पर यह सरकारी नियंत्रण नहीं है? क्या कॉंग्रेसी सरकारें कह सकती हैं कि वे अपने ढंग से शिक्षा को नियंत्रित नहीं करतीं?"

श्री मजूमदार के कथन में स्पष्टवादिता का पुट बहुत अधिक है। देश के सर्वोदयी नेतागण कॉंग्रेसी सरकारों का पोषण पाकर भी उनके सभी कार्यों के समर्थक नहीं हैं, यह देश के लिए सौभाग्य की बात ही मानी जा सकती है।

इंग्लैंड एक महान् जनतंत्रीय राष्ट्र है और उसका प्रभाव हमारे भारतीय जीवन तथा शासन पर अत्यधिक है। अंगरेजों की दी हुई शिक्षा-प्रणाली को अबतक हम किसी-न-किसी प्रकार ढोते चले जा रहे हैं, थोड़ी-बहुत कतरब्योंत कर हम उसी प्रणाली को चलाते जा रहे हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इंग्लैंड में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण नहीं है, पर अंगरेजी सरकार ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भारत में शिक्षा को अपने पूरे नियंत्रण में रखा और जैसा पाठ उन्होंने अपने लिए अच्छा समझा, वैसा ही हमें पढ़ाया। भारतीय इतिहास, सभ्यता, संस्कृति; सबको दबाकर उन्होंने अपने प्रभुत्व के तेज से हमारी आँखें चौंधिया दीं। भारत की राष्ट्रीय सरकार ने जहाँ-तहाँ इसके सुधार के प्रयत्न किए हैं, यह प्रशंसा की बात है। किंतु, सरकार के लिए जनता का—प्रजातंत्रीय जनता का—पथ-प्रदर्शक मात्र रहना ही श्रेयस्कर है। जनता का हाथ पकड़ कर रास्ते पर घसीटना अच्छा नहीं। जीवन में उच्छृंखलता को संयत रखने के लिए नियंत्रण आवश्यक है, किंतु नियंत्रण का स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसका बोध हमें प्रत्येक क्षण होता रहे। यथासंभव तटस्थ दर्शक की भाँति सरकार को शिक्षा-संस्थानों के विकास को देखते रहना चाहिए और जहाँ कर्त्तव्य-च्युति मालूम पड़े वहाँ व्यवस्थापकों को इसके लिए चेतावनी दे देनी चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो राष्ट्रघातक ही माना जा सकता है। इससे न तो सरकार का लाभ है और न जनता का। कभी-कभी इसके लिए व्यर्थ ही सरकार को परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं, बदनामियाँ सहनी पड़ती हैं। यह सब क्यों? सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसकी स्वीकृत तथा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें बाजार में सबसे अच्छी हैं, सस्ती हैं और राष्ट्रीय विचारों से परिपूर्ण हैं। किसी पाठ्य-पुस्तक में गाँधी-जवाहर के नाम आ जाना ही उसकी राष्ट्रीयता की पहचान नहीं हो सकती। शिक्षा पर सरकार यदि नियंत्रण रखना ही चाहती है, और अप्रबुद्ध प्रजातंत्र में कुछ सीमा तक इसकी आवश्यकता भी मानी जा सकती है, तो उसे अपना नियंत्रण पाठ्य-क्रम तक ही सीमित रखना चाहिए। कुछ दिनों के बाद यह भार भी देश के संमान्य शिक्षा-शास्त्रियों तथा मनीषियों के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तकों के लिए टेंडर माँगना तो ऐसा ही मालूम पड़ता है जैसे ठेकेदारों से कम-से-कम कीमत में अच्छी-से-अच्छी चीजें सप्लाई करने के लिए कहा जाता हो। शिक्षा के क्षेत्र में इस बुरी प्रथा को जल्द-से-जल्द छोड़ देना चाहिए। एक दक्षिणी लेखक ने पाठ्य-पुस्तकों की स्वीकृति की वर्त्तमान पद्धति पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि जैसी-तैसी सस्ती पुस्तकों, कैंची-मार्का पाठ्य-पुस्तकों को प्रकाशित कर तथा कंचनी काया के सहारे उनपर स्वीकृति की मुहर लगाकर और उन्हें देश के नौनिहालों पर थोप कर, प्रकाशकों ने देश के भविष्य को छला है और वह छल इनके कोष के साथ पाप-राशि बन कर जमा होता रहा है। इसमें व्यंग्य है, और मार्मिक व्यंग्य है!

मद्रास हाईकोर्ट के जस्टिस श्री पी० बी० बालकृष्ण अय्यर ने पाठ्य-पुस्तक-संबंधी एक मुकदमे के निर्णय में कहा—"इस वर्ष की सेकेंडरी स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट के निमित्त मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित अँगरेजी की एक पाठ्य-पुस्तक (स्कॉट-लिखित—Quentin Durward का संक्षिप्त संस्करण, जिसका संपादन सरकारी ट्रेनिंग कालेज की महिला प्रिंसिपल ने किया है) उल्लेखनीय सफलता नहीं पा रही है। एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है। अविस्तृत अध्ययन के लिए सरकार द्वारा अँगरेजी की पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित करने का

वर्त्तमान प्रयास पूर्णतः असफल रहा है। संकुचित मनोवृत्ति के कारण यह विचार आज सहसा अनुमोदित नहीं किया जा सकेगा कि इस तरह का काम वैयक्तिक उद्योगों के अधीन ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। शिक्षा-धारा के अंतर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक विपत्तिजनक है।"

बैंक, मिल, फैक्टरी आदि के राष्ट्रीयकरण की बात समझ में आती है, पर शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बड़ा असंगत मालूम पड़ता है। स्वाधीन राष्ट्र में जो शिक्षा दी जायगी वह निश्चय ही राष्ट्रीय शिक्षा होगी और राष्ट्र की आवश्यकता तथा महत्वाकांक्षा के अनुकूल होगी। आर्थिक क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण बहुत हद तक उचित माना जा सकता है, पर शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण को प्रश्रय देना कुछ ऐसा ही मालूम पड़ेगा, जैसे किसी तंग और खड़े गमले में वृक्ष रोप कर उसे बढ़ने दिया जाय। परिणाम यही होगा कि उस वृक्ष का फैलाव गमले की परिधि तक ही सीमित रहेगा। गमला टूटने के बाद भी उसका जो विकास होगा उसमें उसका विकार स्वाभाविक रूप से रहेगा।

अभी हाल में केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय के निमंत्रण पर यूनेस्को की ओर से डॉ० हेनरी, पाठ्य-पुस्तकों के संबंध में अनुसंधान करने तथा अपनी सलाह देने, भारत आए थे। पूरे साल भर यहाँ रहकर और भारत के अनेक राज्यों के स्कूलों का निरीक्षण-परीक्षण कर उन्होंने अपना जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है, वह कई दृष्टियों से हमारे लिए मार्गदर्शक है। पाठ्य-पुस्तक के संबंध में उनका विचार है कि उसमें विषय के बारे में मौलिक सूचनाएँ रहनी चाहिएँ, विषय की गंभीरता से उसे बोझिल नहीं बनाना चाहिए। पाठ्य-पुस्तक अपने विषय की अंतिम पुस्तक नहीं होती, ज्ञानार्जन के लिए उस विषय का समस्त साहित्य सदैव खुला रहना चाहिए। अंगरेजी पाठ्य-पुस्तकों के बारे में उन्होंने बड़ी कड़ी टिप्पणी की है। उनका कहना है कि जहाँ-जहाँ वे गए, उन्होंने प्रायः पाया कि अंगरेजी पाठ्य-पुस्तकों में अंगरेजी रहन-सहन का ही जिक्र है। भारतीय छात्रों के लिए, जो केवल अंगरेजी भाषा सीखना चाहते हैं, ब्रिटेन की विदेशी जीवन-प्रणाली का वर्णन एक दुर्वह भार है। एक प्रकार से डॉ० हेनरी ने हमें सावधान किया है कि विदेशी भाषा सीखने के लिए विदेशी संस्कार अपनाना जरूरी नहीं है, शायद विघातक ही है।

भारतीय प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास के लिए यह परम आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी नियंत्रण की मात्रा कम-से-कम की जाय। यह कैसे किया जाय, इस पर शिक्षा-शास्त्रियों, मनीषियों तथा सरकार को मिलकर विचार-विमर्श करना चाहिए।

पुस्तक-व्यवसाय : भारतीय मंच



श्री सदानन्द भत्कल, एम० ए०, एल-एल बी०

स्वतन्त्रता आई! भारतीय जगत के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में चरण गतिशील हो उठे। शिक्षा का क्षेत्र अपवाद बना न रहा। और, तदनुरूप ही इसके पुस्तक प्रकाशन और वितरण की दुनिया में भी एक नई जिन्दगी आ गई। वस्तुतः, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता भी थी और विशेषतया उद्योग और व्यवसाय के तेजी से उठते कदमों के साथ उनके व्यवस्था और टेकनिकल कार्यों के संचालन-संपादन के लिए। इसे अनुभव कर ही, देश के सामाजिक और आर्थिक नवनिर्माण के लिए नियोजित सम्पूर्ण योजना में अन्य कई विषयों से कहीं अधिक शिक्षा पर जोर डाला गया है।

अन्य समस्याओं की तरह ही, शिक्षा के क्षेत्र में भी कठिनाइयाँ थीं और हैं। यहाँ, इनका विवेचन समीचीन न होगा। किन्तु, उनमें दो सबसे मुख्य कठिनाइयों की चर्चा तो हम कर ही सकते हैं। वे हैं—प्रथमतः, शिक्षण-संस्थाओं में वृद्धि की तुलना में प्रशिक्षित जनों की संख्या में कमी और दूसरे, करोड़ों को शिक्षित करने की दुःसाध्य क्रिया सम्पन्न करने की दृष्टि से पूँजी की कमी।

देश की आर्थिक योजना में विस्तृत नदी-घाटी योजनाओं को विशिष्टता दी गई है और तदनुरूप ही सहायक उद्योगों और कतिपय मूल-उद्योगों में वृद्धि हुई है। भौतिक विज्ञान की प्रत्येक शाखा में राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ कार्यरत हैं। फलस्वरूप विज्ञान और शिल्प के सभी विषयों की पुस्तकों की माँग बढ़ी है। यह माँग स्थिर न होगी, बल्कि, देश में उच्चतर शिल्प की चार संस्थाओं के स्थापित होने पर, आनेवाले वर्षों में बढ़ेगी ही। कला और वाणिज्य संबंधी विविध विषयों की पुस्तकों की माँग में भी तेजी आई है। यह स्वाभाविक ही है कि यह माँग विशेषतया आयातित पुस्तकों से पूर्ण हो। अमेरिकी पुस्तकें जो युद्ध के पहले भारतीय बाजार में दीखती ही न थीं, उन्हें बाजार का अधिकांश अंश प्राप्त हुआ है। १९५८ की आयात-तालिका इस प्रकार है:—

मुद्रित पुस्तकें और पुस्तिकायें:—

इंगलैंड—	रु० ६२,५७,३६६
अमेरिका—	रु० ४६,००,५३०
अन्य देश—	रु० ५,१८,२६४
	कुल १,१३,७६,१६०

यह कहा जा सकता है कि अमेरिकी पुस्तकें विशेषतया विज्ञान एवं शिल्प क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा अंगरेजी पुस्तकें समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में विद्यार्थियों एवं अध्यापकों द्वारा खरीदी जाती हैं। पुस्तकों के आयात में; भारतीय पुस्तक-व्यवसाय को—अनेक पुस्तक विक्रेताओं और कतिपय प्रकाशक प्रतिनिधियों को—स्थापित कर; एक सुन्दर शुभारम्भ दिया। आयात-प्रतिबंधों ने विदेश के बहुत सारे प्रकाशकों को अपने प्रकाशनों के वितरण के लिये भारत में प्रतिनिधि या वितरक नियुक्त करने को प्रेरित किया।

यह ध्यान देने की बात है कि युद्धोपरान्त विदेशी प्रकाशक व्यापार-संचालन और उधार-खाते के प्रतिबंधन में अधिक सजग रहे हैं। यही कारण है कि कुछ विदेशी प्रकाशकों ने इस देश में अपनी शाखायें स्थापित करना श्रेयस्कर समझा है।

भारत में प्रकाशन-व्यवसाय ने निश्चित रूप से पर्याप्त प्रगति की है। प्रायः प्रत्येक प्रकाशक-प्रतिनिधि ने, जो पहले विदेशी पुस्तकों के वितरक बन संतुष्ट थे, अपना प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया है। जो पहले से प्रकाशन के मैदान में थे, उन लोगों ने अपनी योजना को विस्तार दिया है। प्रकाशकों की एक भारी संख्या भारतीय भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करने में जुटी है। अंग्रेजी भाषा में भारतीय प्रकाशन भी बड़ी तेजी से बढ़ रहा है और बहुत-से प्रकाशकों को इस क्षेत्र में उत्साहवर्द्धक विदेशी बाजार भी मिला है। शोध-संस्थानों एवं वैयक्तिक रूप से लेखक-प्रकाशकों के अतिरिक्त, कई प्रकाशकों के अंग्रेजी प्रकाशनों की सूची अत्यन्त पुष्ट है। पुस्तक-उत्पादन और उसमें लगी चीजों की विशिष्टता की दृष्टि से भारतीय प्रकाशन ने बहुत उन्नति की है। यह निश्चित है कि कुछ वर्षों के दौरान में ऐसे प्रकाशकों की संख्या पर्याप्त

होगी जो देशव्यापी स्वस्थ और सुसंस्कृत व्यावसायिक परम्परा के साथ अपने को सुदृढ़ कर लेंगे। इस स्थिति के लिए हमारी भारतीय सरकार कुछ कम प्रशंसा की पात्र नहीं है, जिसने मुद्रण-आकल्पन के लिए पुरस्कार-संयोजन किया है और अन्य राज्य-सरकारों के साथ सर्वांगीण सुन्दर बाल एवं वयस्क साहित्य के प्रकाशन के लिए विभिन्न पुरस्कार-योजनाएँ जारी कर लेखकों और प्रकाशकों को प्रोत्साहित किया है।

निस्सन्देह, फिर भी भारतीय प्रकाशन का सबसे भारी हिस्सा पाठ्य-पुस्तकों का ही है। नवनिर्माण की वर्त्तमान अवस्था में स्वभावतः पाठ्य-क्रमों में निरन्तर परिवर्त्तन होते रहे हैं, जिस कारण प्रकाशक प्रायः दोषारोपण की मुद्रा में रहा है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इधर भारी संख्या में अच्छी और विशिष्ट पुस्तकें पाठ्यक्रमानुसार प्रकाशित हुई हैं। यह अनुमान है कि प्रकाशनों में ५०% निम्न और माध्यमिक विद्यालयों के लिए पाठ्य- पुस्तकें, २०% साहित्यिक पुस्तकें, १०%से १५% तक बाल-साहित्य तथा शेष धार्मिक, ऐतिहासिक समाज-विज्ञान तथा शिल्प-संबंधी पुस्तकें होती हैं। विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र में साहित्य बड़ी तेजी से प्रणीत हो रहा है—मूल कृति एवं प्रतिष्ठित पुस्तकों के अनुवाद, दोनों रूपों में।

बम्बई और कलकत्ते की मुद्रण-संस्थाएँ समय के प्रति सजग रही हैं और उन्होंने सुरुचिपूर्ण चीजें बाजार को दी हैं। मद्रास और दिल्ली की संस्थाएँ भी इस क्षेत्र में निरन्तर प्रगति कर रही हैं। पुस्तकों में अधिकांशतः की मोटे कवर-कागजों से बँधाई होती है, अतः कड़ी और पक्की बँधाई अबतक योग्य-स्तर को नहीं पहुँच पाई है।

मेरी दृष्टि में प्रकाशक-विक्रेता के संबंध प्रायः सर्वत्र संसार में एक-से हैं। ये उन्हें दो परस्पर विरोधी कैम्पों में विभक्त कर देते हैं। वास्तविकता तो यह है कि यहाँ स्थिति और भी बुरी है; क्योंकि भारतीय प्रकाशक और विक्रेता इस स्थिति में नहीं हैं कि वे एक-दूसरे की समुचित सहायता कर सकें। साहित्यिक प्रकाशन के क्षेत्र में पुस्तकों की कमजोर माँग, प्रकाशकों को अत्यन्त अल्प संख्या में संस्करण निकालने को बाध्य करती है (इसमें वे कुछ पुस्तकें, जिनके लेखकों को राजनीतिक या अन्य प्रकार की प्रसिद्धि प्राप्त है, अपवाद रूप में ही हैं)। एक पुस्तक की कीमत, युक्तियुक्त और ग्राहक की जेब के अनुकूल होने के लिए, लागत-मूल्य के साढ़े तीन गुनी से अधिक नहीं होनी चाहिए। लेखकों का पारिश्रमिक १५% है, जो निस्सन्देह बहुत अधिक है। पुस्तक-विक्रेताओं को २५% से ३३⅓% कमीशन देना होता है। नतीजा यह है कि प्रकाशक विज्ञापन पर, जितना कि चाहिए, खर्च नहीं कर पाता। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भी कम ही है, जो पुस्तक-समालोचना को पर्याप्त स्थान दे पाती हैं।

पुस्तक-विक्रेताओं को बहुत कम उधार की सुविधा प्राप्त है। उनके पास विज्ञापन के साधन भी कम ही हैं। सीमित माँग और बढ़ते हुए व्यय-मदों के कारण वह समुचित संख्या में पुस्तकें रख नहीं पाता। भारतीय प्रकाशनों की सर्वांगपूर्ण तालिका का अभाव भी उसे बाँध देता है। प्रकाशन-केन्द्रों से दूरस्थ पुस्तक-विक्रेताओं को भाड़े का खर्च भी काफी देना होता है।

एक सुदृढ़, स्थायी केन्द्रीय संस्था की अनुपस्थिति भारतीय पुस्तक-व्यवसाय-व्यवस्था का सर्वाधिक चिन्तनीय तथ्य है; यद्यपि यह स्वीकारा जा सकता है कि ऐसी संस्थाओं के स्थापन में खड़ी होनेवाली समस्याओं एवं कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए कतिपय पूर्व-स्थापित संघों ने जो प्रगति की है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। 'दि फेडरेशन आफ पब्लिशर्स एन्ड बुकसेलर्स इन इन्डिया' की स्थापना सन् १९५२ में हुई थी। ऐसी कोई भी संस्था एक दिन में निर्मित नहीं होती है। इस संस्था का उत्तरदायित्व काफी बड़ा और महत्त्व का है। इस बात का निर्णय लेना बड़ा कठिन है कि एक अखिल भारतीय पुस्तक-व्यवसायी-संघ क्या रूप ले! उलझी हुई स्थिति यहाँ है; क्योंकि प्रकाशन और विक्रय कार्यों के बीच रेखा खींचना इस देश में मुश्किल है। यहाँ दोनों क्रियाएँ प्रायः एक ही संस्था सम्पन्न करती है। अपेक्षा है कि भारत जैसे उपमहादेश के प्रत्येक नगर में, प्रत्येक जिले में पुस्तक-विक्रेता-संघ हो, उसकी राज्याधार पर समिति हो, जिसका पुस्तक-विक्रेता-संघ की केन्द्रीय परिषद् में प्रतिनिधित्व हो। भाषाधार पर प्रकाशक-संघों की भी जरूरत है, जो एक प्रकाशक-परिषद् की केन्द्रीय समिति से जुड़े हों। ऐसी दो परिषदें मिलकर एक संयुक्त संघ का निर्माण करेंगी—एक प्रभावशाली, लाभप्रद और सुदृढ़ संस्था का निर्माण। ऐसी संस्था का निर्माण, आवश्यक है कि, एकदम निचली सीढ़ी से किया जाय। ऐसी आशा की जानी चाहिए कि आनेवाले कुछ वर्षों के भीतर इसे स्थापित किया जा सकेगा। साहित्यिक पुस्तकों के लिए, हिन्दी

और मराठी को छोड़कर, अन्य भाषाओं में अबतक प्रकाशक-संघ नहीं हैं। गिनती के कुछ पुस्तक-संघ भी हैं—प्रभावशाली रूप में दिल्ली में, कुछ जगहों में दुर्बल स्थिति में, और कई केन्द्रों में, जहाँ पुस्तक-व्यवसाय प्रौढ़ता पर बिलकुल है ही नहीं। सभी स्थानीय, क्षेत्रीय और भाषावार संघों को, वर्त्तमान 'फ़ेडरेशन' में, जो प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं का संयुक्त मोर्चा उपस्थित करती है, संबद्ध हो जाना चाहिए।

'दि सदर्न लैंग्वेजेज बुक ट्रस्ट' और 'दि बुक इन्डस्ट्री काउंसिल ऑफ साउथ इन्डिया' ने अपने सत्प्रयास से इस क्षेत्र को एक सूत्र में बाँधा है, अपनी कई सुगठित योजनाओं के सहारे जन-समुदाय में पाठन-प्रवृत्ति बढ़ाई है तथा व्यवसाय-संबंधी समस्याओं का वैज्ञानिक निदान ढूँढ निकाला है।

ऐसा लगता है कि भारत का पुस्तक-व्यवसाय यह धारणा बनाए बैठा है कि कीमत-प्रतियोगिता ही एकमात्र समस्या है, जो हल करने को है। उन संघों को, जिन्होंने मात्र इसी प्रश्न पर अपनी क्रियाओं को केन्द्रित रखा है, सफलता नाममात्र को मिल पाई है, जबकि अन्य समस्याओं को भी अपने कार्य-क्षेत्र में रखनेवाली संस्थाएँ अधिक व्यावहारिक, अधिक सफल रही हैं।

रूस और अमेरिका ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भारत में पुस्तकों का अव्यावहारिक ढंग से मूल्य गिराने में योग दिया है। विचारशील पुस्तक-विक्रेताओं के लिए विदेशी सहायता-प्राप्त साहित्य का प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का रहा है। यद्यपि यह स्वीकारा जा सकता है कि ये सारी योजनाएँ, जो विशुद्ध प्रोपैगेंडा साहित्य के प्रचारार्थ प्रारंभ हुई थीं, अब कहीं अच्छी, काम की तथा मनोरंजक पुस्तकें देने की ओर उन्मुख हैं। फिर भी, यह अनुभव किया जाना चाहिए कि अनार्थिक मूल्य अन्ततः व्यवसाय-समुच्चय के लिए घातक है। जब यह तय है कि भविष्य में सरकारी अनुदान प्राप्त साहित्य अधिक-से-अधिक आयेगा तो यह स्थिति विशेष और मननपूर्वक विचार की अपेक्षा रखती है।

बहुत-से लोग भारतीय पुस्तक-व्यवसाय पर दुखदरूप से गंदला हो जाने का आरोप लगाते हैं। किन्तु मेरी समझ में, ऊपर वर्णित विषम कठिनाइयों को दृष्टिगत रखते हुए, भारतीय पुस्तक-व्यवसाय उन्नति के मार्ग पर है। ऐसे प्रकाशकों की संख्या काफी बड़ी है जो दक्ष संपादक-मंडल की देखरेख में पुस्तकें प्रकाशित करते हैं, उन्हें सुनियोजित विज्ञापन देते हैं और जिनका व्यवहार लेखकों के साथ ईमानदारी का तथा पुस्तक-विक्रेताओं के साथ लाभ के समुचित बँटवारे का है। ऐसे पुस्तक-विक्रेताओं की संख्या भी कुछ कम नहीं है, जो अपने को नवीनतम प्रकाशनों से सूचित रखते हैं, साहसपूर्वक खतरा उठाते हैं और वस्तुतः समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।

पर, आज की वास्तविक समस्या है पुस्तकों के लिए अधिक माँग पैदा करने की। "दि सदर्न लैंग्वेजेज बुक ट्रस्ट" की योजना सफल न हो सकी, क्योंकि वह अपने कठिन और सु-आकांक्षित परिश्रम से पाठक-वृद्धि नहीं ला सका। पुस्तकों की बढ़ती माँग की अनुरूप-संख्या में प्रकाशन करने में प्रकाशक सदैव तत्पर रहेंगे। जो भी हो, यह क्रिया धीरे-धीरे रंग पकड़ेगी। कहीं भी पुस्तक-व्यवसाय की रीढ़ पुस्तकालय हैं। इधर भारत में पुस्तकालयों का सर्वेक्षण हुआ है। लेकिन उनका पर्यवेक्षण अभी प्राप्य नहीं है। १६५४-५५ की विवरण-तालिका के अनुसार वयस्कों के लिए वाचनालयों के अतिरिक्त पुस्तकालयों की संख्या १३,००० से ऊपर थी। किन्तु इन पुस्तकालयों में पुस्तकों की ३२० जैसी निम्न औसत-संख्या थी और पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं पर इस अवधि में औसत व्यय मात्र १२५) था। लेकिन मेरा विश्वास है कि यह स्थिति बदलेगी। पुस्तकालय बढ़ेंगे और उनको मिलने वाले अनुदान भी। व्यवसाय-संबंधी पत्रिकाएँ—'दि इंडियन पब्लिशर एंड बुकसेलर', 'पुस्तक-जगत' और 'प्रकाशन-समाचार'—मिशनरी लगन के साथ पुस्तक-व्यवसाय को संगठित करने के सत्प्रयास में जुटी हैं। 'नेशनल बुक ट्रस्ट' भी निश्चितरूप से कुछ समस्याओं को हल करने में सहायक होगा। राष्ट्रीय पुस्तक-विवरण-सूची भी नियमित रूप से अब प्रकाशित होने लगी है। लेखकों और पुस्तकों के और भी अधिक तथा अच्छे ढंग से विज्ञापन देने के प्रयास भी हो रहे हैं। और सर्वोपरि, बढ़ती हुई शिक्षा एवं सामाजिक शैक्षणिक जागरूकता के साथ पाठकों में वृद्धि आएगी ही। और, पुस्तक-व्यवसायी-संघ अनुभवों से सीखेंगे तथा एक ऐसे संगठन का निर्माण कर सकेंगे, जो इस व्यवसाय को उन्नति और विकास की ओर ले जाय और इसके सदस्यों में सहयोग की भावना भर सके।

संयुक्त हिन्दी प्रकाशक : समन्वय : अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ



श्री रामदत्त थानवी

[थानवीजी जोधपुर के निवासी और हिन्दी के जाने-माने प्रकाशकों में से हैं। प्रस्तुत निबन्ध में, पुस्तक-व्यवसाय के संगठन के सम्बन्ध में आपके अपने अनुभवपूर्ण विचार हैं।—सम्पादक]

हिन्दी साहित्य का प्रकाशक, प्रकाशन, पुस्तक-विक्रेता और पाठक ऐसे तत्सम्बन्धित तत्व हैं जिनके पारस्परिक सम्बन्धों पर ही हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार आधारित है। इन्हीं तत्वों के समन्वय से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि सम्भाव्य है। इन्हीं के सम्बल से साहित्यसेवी लेखकों को सरस्वती की उपासना करने का एवं साथ-ही-साथ जनप्रिय होने का सुअवसर मिलता है।

दासत्व के बंधनों में बद्ध लेखक की वाणी में यदि उग्र-भावना का प्रादुर्भाव हो जाता था तो 'भारत-भारती' जैसी अमर जनकृति के जब्त तक हो जाने में भी देर नहीं दिखलाई पड़ती थी। इसी तरह चाँद कार्यालय से प्रकाशित पं० सुन्दरलाल-रचित "भारत में अँग्रेजी राज्य" भी जब्त किया जा सकता था अथवा जलवाया जा सकता था। जब हिन्दी की पुस्तकें ही थोड़ी थीं, तो प्रकाशन ही कितना अधिक होता ? इसलिये गुलाम भारत में हिन्दी के प्रकाशक, अल्पसंख्यक प्रकाशकों की संख्या में आते थे।

उपन्यास-बहार-ऑफिस जैसे प्रकाशक अपना सत्त्व मिटा कर भी जनता में साहित्य-प्रचार करने में गतिमान रहे, परन्तु स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी को विधान में महत्वपूर्ण स्थान मिलते ही भारत भर में हिन्दी-लेखकों और प्रकाशकों की बाढ़-सी आ गई। लेखकों की अन्तर्वेदना ने मुक्त-कण्ठ से अतीत के संस्मरण पाठकों के आगे रखने चाहे और बरसाती प्रकाशकों ने उन अद्वितीय कृतियों का प्रकाशन करते समय हास्यास्पद स्थिति कर डाली।

सैकड़ों लेखकों की हजारों प्रतियों के असंख्य प्रकाशक तो अवश्य बन गये, परन्तु पाठकों की पठन-प्रवृत्ति में रुचि और अभिवृद्धि आशातीत नहीं दिखलाई दी और यदि कुछ साहित्य-सेवा से चेतना जगी तो आर्थिक समस्याओं में उलझे पाठक मँहगी पुस्तकों को खरीद कर पढ़ भी न पाते थे। पुस्तकों का प्रकाशन थोड़ा, कम आकर्षक, साधारण मुद्रण परन्तु अधिक मूल्य के लगाने के कारण, पाठक पुस्तकों की ओर से उदासीन ही रहते थे और ऐसी परिस्थिति में पाठक एवं पुस्तक-विक्रेताओं के बीच एक समस्या का विषय बन गया यह पुस्तक-व्यवसाय, जो कई वर्षों तक जटिलतर होता गया।

व्यक्तिगत क्रय-स्तर से बिल्कुल विपरीत, शालाओं और पुस्तकालयों की खरीद का स्तर था। सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं में पुस्तकों की खरीद का चक्र चला, लेकिन उसके पीछे पुस्तकों की अधिक कीमत और उससे प्रकाशकों को अधिक लाभ होने वाली भ्रान्त धारणा ने कमीशन की माँग को प्रस्तुत किया। समर्थ प्रकाशकों ने कमीशन को ज्यादा नहीं सोचा, परन्तु अपने प्रकाशनों का साधारण विक्रय अवरुद्ध पाकर इस मीठे जहर को अपनाया। संस्थाओं को कमीशन दिया जाने लगा। होड़ की पाशविक प्रवित्ति ने इस प्रणाली में और बुराइयों का समावेश किया। सरकार या संस्थाओं के नाम पर खरीद करने वाले व्यक्ति, अपनी रुपये पाने की लालसा को इस रूप में तृप्त करने के लिए, पुस्तक खरीद करने लगे। शनैः-शनैः साधारण व्यक्ति की पुस्तक-क्रय-भावना दिन-प्रति-दिन निर्मूल होती गई और सरकारी एवं गैरसरकारी संस्थाओं का निर्माण अबाधगति से होने लगा।

कमीशनरूपी दानव ने इस भाँति अपने मायावी जालों में प्रकाशक को बाँधना शुरू किया, परन्तु इसके विपरीत जन-जन के साहित्य के प्रचारकों एवं प्रकाशकों ने तथा सच्चे पुस्तक-विक्रेताओं ने इस प्रणाली का अन्त करने की बहुत कोशिश की। इण्डियन प्रेस इलाहाबाद ने सस्ती सीरीज का प्रकाशन कर हिन्दी-प्रकाशन-जगत में नया मोड़ दिया। सरस्वती सीरीज ने प्रत्येक पुस्तक आठ आने मात्र में वितरित कर,

कमीशन के दानव का गला ही घोंट दिया था ; साथ ही साधारण व्यक्ति के घर में पुस्तक पहुँचाने की, प्रकाशक एवं लेखक की अमर इच्छा को प्रकट रूप भी दिया था।

समय के थपेड़ों ने एवं अदृश्य कारणों ने भले ही इस सीरीज को पल्लवित न होने दिया हो, परन्तु निस्सन्देह इस सीरीज का प्रकाशन बन्द होना इस सत्य को प्रकट करता है कि तत्सामयिक प्रकाशकों में एकता की, संगठन की भावना विद्यमान नहीं थी। वे प्रकाशक हिन्दी-साहित्य को जन-साहित्य बनाने के उद्देश्य को प्रतिपादित करना ही नहीं जानते थे।

स्वतंत्रता की नई जिन्दगी ने ऐसे प्रकाशकों को जन्म दिया जिन्होंने प्रकाशन-व्यवसाय के कलात्मक ढंग को समझ कर, पुस्तक की हस्तलिखित प्रतिलिपि को आकर्षक रूप देकर नव-सुलभ साहित्य-ग्रन्थ बनाना चाहा। हमारे सामने किताब-महल, भारती-भण्डार एवं ग्रन्थ-रत्नाकर के अतिरिक्त नई आशा देनेवाले कुछेक प्रकाशक भी हैं ; जैसे राजकमल-प्रकाशन लि०, राजपाल एण्ड सन्ज, राजहंस प्रकाशन प्रभृति ; जिन्होंने सस्ता साहित्य निकाल कर हिन्दी-जगत में नई क्रान्ति ला दी है। कौन सा ऐसा पाठक है जो राजपाल की नाटकमाला, उर्दू-शायरमाला, कहानीमाला एवं राजकमल की मनोविज्ञान-माला को भुला चुका हो ? इस अबाध कार्यसाधना और प्रकाशन संबंधी नवीनतम ज्ञान के प्रतिफलन ने आज हिन्दी-प्रकाशन के नाम को आदर्श प्रदान किया है।

इतने प्रकाशन और इनका विक्रय तो पुस्तक-विक्रेता करते ही हैं। फिर भी, कमीशन का कुचक्र गरीब पुस्तक-विक्रेताओं पर अधिक प्रभावशाली होने लगा। एक नाम की कई पुस्तकों का होना, अधिक कमीशन और पुस्तकप्रिय पाठकों की सीमित-संख्या; पुस्तक-विक्रय के लिये एक समस्या बन गई।

जबतक प्रकाशकों का अस्तित्व दृढ़ न हो गया, तबतक पुस्तक-विक्रेता का जीवन बहुत खतरे में था। थोड़ी पूँजी और प्रकाशन की नवीनतम पुस्तक को अपनी दुकान में रखना, इस समस्या का निदान नहीं हो सका—जबतक कि पुस्तक का विक्रय न हो। इसलिए छोटे-छोटे पुस्तक-विक्रेता घर-घर जाकर पुस्तकें दे आते और पुस्तकप्रिय पाठकों को पुस्तक खरीदने के लिए बाध्य करने का एकमात्र उपाय उनके पास यही था कि वे खरीददार को मूल्य पर कुछ छूट देते। इस

तरह यह छूट प्रतिस्पर्धा और विक्रय-लालसा से अनुरंजित होकर ६। प्रतिशत से बढ़ कर १८॥। प्रतिशत तक हो गई।

इस कमीशन ने काउन्टर पर पुस्तकें बेचने वाले पुस्तक-विक्रेताओं के सामने जटिल समस्या लाकर रख दी। परन्तु, यह पतन प्रकाशकों पर भी अपना असर डालने लगा। प्रकाशकगण उन पुस्तक-विक्रेताओं को सफल पुस्तक-विक्रेता मानने लगे जो ज्यादा कमीशन देकर भी उनकी पुस्तकें बेचता हो। वे ऐसे पुस्तक-विक्रेताओं को पुस्तक उधार भी देने लगे, परन्तु जो जेब काट कर व्यवसाय करता है; वह कैसे जीवित रह सकता है। यही कारण है कि ऐसे कई पुस्तक-विक्रेता समय के थपेड़ों में अपना बनावटी अस्तित्व सदैव के लिए खो बैठे और प्रकाशकों की पूँजी, जो उनपर बकाया थी, वह भी महागर्त में जा धँसी।

इन झटकों का असर यह हुआ कि प्रकाशकगण स्वयं पुस्तक-विक्रेता बनकर विक्रय-व्यवसाय करने लगे। सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं द्वारा पुस्तक-खरीद पर वे भी कमीशन

की होड़ में प्रतिस्पर्धा करते हुए अधिकतम कमीशन देने लगे। यहाँ तक कि ३३१/४ से ५० प्रतिशत कमीशन देने पर भी सरकारी पुस्तक-खरीद का ताण्डव-नृत्य इन प्रकाशकों के वश में नहीं आया। जो भून छोटी पूँजी के पुस्तक-विक्रेताओं ने की और अपना अस्तित्व गवा बैठे, वही भूल पुस्तक-विक्रय के लोभ में प्रकाशक भी करने लगे। इस लालच से भारती-भण्डार जैसा सिद्धान्तवादी प्रकाशक भी नहीं बच सका और न ही बच सका वह केन्द्रीय-प्रकाशन-विभाग जिसने वैसे ही प्रतिशत पर पुस्तकें बेचीं, जबकि उसके नियम १० प्रतिशत ही सरकारी संस्थाओं को कमीशन देने के हैं।

इस दूषित और हानिप्रद प्रणाली का अन्त आवश्यक था और जबतक व्यवसाय इसको पूरा निर्मूल करने पर दृढ़-प्रतिज्ञ न हो जाता तबतक यह दोष मिट नहीं सकता था। इसलिए प्रकाशकों के मन में अन्तर्द्वन्द्व था। राजस्थान की एक संस्था द्वारा अधिकतम कमीशन ८२ राजस्थान-शिक्षा-विभाग को पुस्तकें बेचने की घटना ने भारतीय हिन्दी-प्रकाशकों को जरूर इस विषय पर सोचने को मजबूर किया। इसी सिद्धान्त पर अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ का निर्माण हुआ। संघ का अहम उद्देश्य भी यही था कि व्यावसायिक कमीशन को छोड़कर अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं को दिये जाने वाले कमीशन की बढ़ती स्पर्धा को रोका जाय। उत्तरोत्तर इस विषय में प्रगति हुई और इस दुखद स्थिति से हमेशा के लिए मुक्त होने के लिए अलग-अलग प्रकाशक अलग-अलग तरीकों से इस पर परीक्षण करने लगे। इस कार्य में हिन्दी-भवन इलाहाबाद, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज एवं आत्माराम एन्ड सन्ज का सामूहिक योग चिरस्मरणीय रहेगा।

इन्हीं प्रकाशकों के अथक योग से १५ प्रकाशकों ने २३ अगस्त ५८ का इलाहाबाद में इस कमीशन को निर्मूल करने पर विचार किया, परन्तु उनसे भयावह भूल यह हो गई कि अखिल-भारतीय प्रकाशक-संघ के सदस्य होते हुए भी उन्होंने उसकी स्वीकृति लिए बिना ही 'संयुक्त हिन्दी-प्रकाशक' जैसी संस्था का निर्माण कर दिया। इस भूल में भूल का तोंता-सा लग गया और प्रकाशकों को यह आभास होने लगा कि ये १५ प्रकाशक अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ पर हावी होने जा रहे हैं। इस सोचने में भी कुछ तथ्य था। उन प्रकाशकों में कुछ ऐसे प्रकाशक भी थे जिन्होंने इस व्यवसाय को एक कुटुम्ब की तरह देखा है और इस कमीशन-प्रणाली को दो विभागों में बाँटने के कतिपय प्रयत्न किये हैं। पहली प्रणाली तो यह कि पुस्तक-विक्रेताओं को कमीशन और दूसरी यह कि सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं को प्रकाशकों द्वारा कमीशन।

परन्तु, दुख इस बात का है कि हिन्दी-भवन इलाहाबाद के अमूल्य सुझावों की उपेक्षा करते हुए उक्त संस्था ने प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता-अनुबन्ध प्रसारित करके पुस्तक-विक्रेताओं को संघ में बाँधना चाहा और प्रकाशकों को कमीशन के अतिरिक्त अन्य व्यावसायिक प्रणालियों से मुक्त रखा जो पूर्णरूपेण अनैतिक और अव्यावहारिक था!

दिल्ली नगर में दिनांक २८-९-५८ से ६-१०-५८ तक होनेवाले सेमीनार के अवसर पर भी कुछ प्रकाशकों में "संयुक्त हिन्दी प्रकाशक" एवं "अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ" के प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद हो गया। आगरा और अन्य नगरों के प्रकाशकों ने, दिल्ली के भी कुछेक प्रकाशकों के साथ तालमेल कर, यह सुझाव दिया था कि संघ के उद्देश्य ही जब समस्त व्यवसाय के लिए हैं तब उनमें आस्था न रख कर नई संस्था का निर्माण करना उचित नहीं। इस विरोध ने "संयुक्त हिन्दी प्रकाशक" के अस्तित्व को खटाई में डाल दिया है।

परन्तु, कुछ प्रकाशकों ने, जिनकी संख्या अत्यल्प, लगभग ११ थी, अपने जोर पर इस संस्था के काम को चालू रखा और भारत भर के पुस्तक-विक्रेताओं को आतंकित कर, ५) प्रति पुस्तक-विक्रेता से वसूल कर, उन्हें पंजीयत कर लिया। यद्यपि गरीब पुस्तक-विक्रेताओं की संख्या ६०० के करीब पहुँच गई है, तदपि प्रकाशकों की संख्या १७ से अधिक न हो पाई। विपरीत इसके; कि १५ से ११ की संख्या होना और ११ से १७ होना जिस प्रगति की ओर संकेत है उसे प्रकाशक बन्धु भली-भाँति जानते हैं; यहाँ उस रहस्य को उद्धृत करने की कतई आवश्यकता नहीं।

दिसम्बर १९५८ के वार्षिक अधिवेशन में उन प्रकाशकों ने, जिन्हें परोक्ष ताड़ना मिली थी, संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक जैसे नवीन संघ का निर्माण किया और उसी समय इसे अखिल भारतीय रूप देने का भी निर्णय ले लिया। पहले व्यक्त किया जा

चुका है इस संघ का निर्माण करना निरी गुटबंदी का ही प्रतिफलन था, अतः प्रकाशकों की संख्या में अभिवृद्धि नहीं हो सकी।

पुस्तक-विक्रेताओं की संख्या में वृद्धि और वह भी आशातीत वृद्धि, और दूसरी ओर प्रकाशकों की संख्या में कमी और फिर नाममात्र की वृद्धि और रुकावट ही एक विडम्बना थी ; और यही विडम्बना इस नवीन शिशु-संघ के कम्पन का कारण बन गई। इलाहाबाद के एक प्रकाशकीय मुखपत्र में संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक की गलाघोंट प्रवृत्तियों का प्रसव होने लगा और इस नवीन स्थिति में संघ के मंत्री को, श्री वाचस्पति पाठक पर, इलाहाबाद के एक प्रतिनिधि हिन्दी-प्रकाशक की संघ-विरोधी गतिविधियों की छान-बीन करने का, उत्तरादायित्व डाला गया। यह अनियमितता और गैर-जिम्मेवारी किस विकास की प्रतीक है ?

सैद्धान्तिक तथ्यों पर उत्तरी भारत के एक प्रमुख मासिक पत्र ने यदाकदा प्रकाश डाला है, पर "रंग लाती है हिना पत्थर पै पिस जाने के बाद" के अनुसार सुझावों का महत्त्व समय ही सिखलाता है। जुलाई १६५६ के "प्रकाशन समाचार" में प्रकाशित संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक के हिसाब के ब्यौरे से पता चलता है कि २३ अगस्त १६५८ से २६ जून १६५६ तक के दस मास लम्बे समय में भी इस संस्था के केवल १७ सदस्य ही हो पाये हैं। संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक द्वारा फरवरी ५६ के अन्त तक बने प्रकाशक सदस्यों की सूची में इन १७ सदस्यों के नाम छपे हैं। इस नामावली को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि आपसी मतभेद के कारण ही प्रथम बैठक के १५ सदस्यों में से ४ सदस्य—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी, हिन्दी भवन इलाहाबाद, किताब महल इलाहाबाद और हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई—इस संस्था से अलग हो गये। इस प्रकार १० मास में इस संस्था ने ४ प्रमुख प्रतिष्ठित प्रवर्त्तक सदस्य खोये, जोकि कमीशन-दानव का नाश करने को चक्रव्यूह की रचना करना चाहते थे ; और ६ अन्य सदस्य बनाये। यदि दूसरे अर्थ में कहा जाय तो "नौ दिन चढ़े अढ़ाई कोस" वाली कहावत चरितार्थ होकर रह गई।

भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है, इसी से हिन्दी-प्रकाशकों का राष्ट्रव्यापी जाल बिछा है, परन्तु १७ सदस्यों की इस संस्था में ६ सदस्य दिल्ली के, ४ इलाहाबाद के, २ झाँसी के

और प्रत्येक नगर वाराणसी, मुजफ्फरपुर, लखनऊ, बम्बई और जबलपुर के १-१ सदस्य हैं। क्या यही भारत के प्रकाशकीय संघ का प्रारूप है ? कहाँ है हिन्दी-साहित्य की जन्मदात्री संस्था नागरी प्रचारिणी सभा काशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, दक्षिण की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, अनाथ विद्यार्थी प्रकाशन गृह पूना अथा एसोसिएट प्रेस मद्रास और इसी तरह कहाँ है इसमें प्रान्तव्यापी प्रकाशकों का प्रतिनिधित्व ? भारतवर्ष के प्रमुख हिन्दी-प्रकाशकों की संख्या १७० से अधिक है ही, अतः इस संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक को सही माने में अखिल भारतीय प्रकाशकों का दशांश बल ही प्राप्त है, जोकि नगण्य ही है।

इस नगण्य संस्था का बलहीन उद्देश्य ही इसको अधोपतित करनेवाला कारण बना। हिन्दी-भवन के भागीदार श्री नारंग ने अपना मन्तव्य प्रकट कर जो शंका प्रकट की थी वह स्वार्थवश किसी मायामय मानव का प्रलाप ही न था, अपितु उन श्रमजीवी पुस्तक-विक्रेताओं के लिये सम्बल था; जिसके द्वारा वे लोग प्रकाशकों के इस लाक्षागृह का परीक्षण

कर सकें। समय ने इस रहस्य को स्वतः प्रकट कर दिया।

यह था संस्था का इतिहास, जिसने भारत को नयी प्रेरणा दी, अपने हिन्दी-साहित्य को बढ़ाने में संगठित होने की; और आँख खोल दी उन गुटबन्दी करने वाले प्रकाशकों की जिन्होंने अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ को ही समस्या में डाल दिया था। लेकिन यह तथ्य अकाट्य है कि पुस्तक-व्यवसाय में फैल रहे कमीशन पर नियंत्रण होना आवश्यक है और इसीलिये संस्था की आधारशिला यह उद्देश्य बिल्कुल ठीक है। परन्तु, १७ सदस्यों का गुट-विशेष और यह वाह्य-गतिरोध इस उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं होने दे सकेंगे। अतः, यदि यह कार्य शीघ्र और सुचारु रूप से करना है तो इस संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक को समाप्त करके समस्त पुस्तक-विक्रेताओं को, न्यूनतम सदस्यता-शुल्क और वार्षिक-शुल्क रखकर, अखिल-भारतीय-प्रकाशक-संघ का स्वीकृत सदस्य बनाया जाय और उक्त संस्था के उद्देश्यों में आंशिक परिवर्त्तन अथवा परिवर्द्धन करके नया उद्देश्य-पत्र एवं अनुबन्ध-पत्र समस्त भारतीय प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं में वितरित किया जाय :—

संशोधन के तत्त्व—

(१) ग्राहक को नाममात्र का भी कमीशन किसी भी परिस्थिति में न दिया जाय।

(२) सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं को १२½ प्रतिशत से अधिक कमीशन किसी भी परिस्थिति में न दिया जाय।

(३) सदस्यता को स्वीकार न करने वाले प्रकाशक अथवा पुस्तक-विक्रेताओं से नैतिक-सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय और उनसे व्यवसाय न किया जाय।

ऐसे और अमूल्य सुझावों का समन्वय करके यदि अखिल-भारतीय-प्रकाशक-संघ इसका कार्य करे, तो वह दिन दूर नहीं कि प्रयागराज की पावन भूमि पर किया गया तपस्वी-मनन सम्पूर्ण आर्यावर्त में पुस्तक-व्यवसाय को एक आदर्श व्यवसाय बनाने में सफल हो। यह खुशी की बात है कि दोनों संस्थाएँ इस पर विचार-विनिमय करने को उद्यत हैं और आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि होनेवाली अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ की बैठक में यह निर्णय हो जायगा कि संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक अपना अस्तित्व अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ में विलीन कर दे, जिससे पुस्तक-व्यवसाय-जगत में नई आभा चमक उठे और कमीशन रूपी दैत्य हमेशा के लिए समाप्त हो जाय।



जिद्दी आदमी अपनी विचारधारा का शासक नहीं, गुलाम होता है। — बटलर

? ?

अध्ययनशील पाठकों से प्रश्न

१. मान लीजिये आप एक ऐसे व्यक्ति हैं जिसे पढ़ने का और सिगरेट पीने का शौक है। संयोगवश आपको जेल में रखा जाता है। वहाँ जेलर आपसे कहता है कि अपने शौक की चीजों में आप केवल एक ही चीज रखने की अनुमति पा सकते हैं। चाहे तो आप पढ़ने के लिए किताबें रखें या फिर पीने के लिये सिगरेट। ऐसी हालत में आप कौन-सी चीज चुनेंगे?

२. मान लीजिये आप किसी जहाज के कप्तान हैं। उस जहाज में छेद हो गया है और जहाज डूब रहा है। आप यात्रियों की जान बचाने के लिये 'लाइफबेल्ट' देते जा रहे हैं। जब आपके हाथ में अन्तिम 'लाइफबेल्ट' बच जाता है तो आप देखते हैं कि आपके सामने चार व्यक्ति खड़े हैं। उनमें एक महान साहित्यकार है, दूसरा सेनापति है, तीसरा सुप्रसिद्ध अभिनेता है और चौथा देशभक्त नेता है। ऐसी हालत में उस अन्तिम 'लाइफबेल्ट' को आप किसे देना पसन्द करेंगे?

पुस्तक और भूमिका



श्री हिमांशु श्रीवास्तव

[लेखक नई पीढ़ी के कीर्तिलब्ध उपन्यासकार एवं रेडियो-नाटककार हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क, अनुभव और अध्ययन से प्रतिफलित उनके ये रोचक विचार मननीय हैं। —सम्पादक]

मेरे इस निबंध का शीर्षक शायद कुछ चौंकानेवाला है। हिंदी भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य हैं। साहित्य की अनेकानेक विधाओं पर विद्वान साहित्य-मनीषियों ने बहुत कुछ लिखा है, साहित्य की सेवा की है।

परन्तु, इसमें चौंकने की कोई बात नहीं। निश्चय ही उपर्युक्त शीर्षक के माध्यम से मैं हिंदी में भूमिका साहित्य का, काल-क्रम से, इतिहास नहीं प्रस्तुत करूँगा। न मेरा यही अभिप्राय है कि किसी व्यक्तिविशेष या भूमिका-लेखक का नाम लेकर टीका-टिप्पणी करूँ। यह पता लगाना शायद बड़ा ही कठिन कार्य है कि हिंदी में सर्वप्रथम किस महान साहित्यकार ने, कौन-सी पुस्तक की सर्वप्रथम भूमिका लिखी। मेरा तात्पर्य यह है कि आज विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोध-ग्रंथों से लेकर साधारण-से-साधारण बाल-साहित्य पर भी भूमिका लिखने का क्रांतिकारी आंदोलन चल रहा है।

मैं प्रस्तुत विषय के अंतर्गत यह चर्चा करना चाहता हूँ कि आखिर इस भूमिका-लेखन-पद्धति के पृष्ठभाग में कौन-सी मनोवैज्ञानिक अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति काम कर रही है। साहित्य का उससे किस अंश तक हित अथवा अहित हो रहा है। मैं यह भी विचार करना चाहूँगा कि भूमिका के माध्यम से सीधे तौर पर किसी रचनाविशेष का रचयिता और रचनाविशेष का पाठक कहाँ तक लाभान्वित होता है।

सर्वप्रथम मैं नए साहित्यकारों को लेता हूँ। आज का नया साहित्यकार यह दावा करता है कि वह पढ़ता बहुत ज्यादा है और लिखता कम है। नया साहित्यकार अपने अध्ययन के संबंध में यह भी दावा करता है कि वह न केवल भारतीय भाषाओं के संबंध में जानता है, बल्कि वह तो विश्व-साहित्य की गतिविधि के बारे में भी पर्याप्त सूचनाएँ रखता है। अमरीका के किसी नए कवि की कविता-पुस्तक जुलाई में प्रकाशित हुई और अगस्त के पहले सप्ताह में वह पुस्तक हिंदी के नए साहित्यकार की टेबुल पर देखी जा सकती है। वह दावा करता है कि वह प्राचीन परम्पराओं का क्रीतदास नहीं, बल्कि वह अपनी मुक्ति और स्वच्छंदता का सूरज स्वयं गढ़ता है। मेरा प्रश्न यह है कि फिर यह भूमिका का संबल क्यों? कथा-संग्रह की प्रेस-कॉपी तैयार हो रही है, उपन्यास किसी प्रकाशक के हाथ अभी नहीं पड़ा है। समस्या यह है कि भूमिका किससे लिखवायी जाय? अमुकजी से कॉलेज में पढ़ चुका हूँ, अमुकजी भाषा-विज्ञान पढ़ाते थे, पांडुलिपि लेकर जाऊं, तो इनकार न करेंगे।

अमुकजी के यहाँ दौड़-धूप शुरू हुई। उत्तर मिला, "पुस्तक प्रेस में जाने दो। छपे हुए फरमें दिखलाना। लिख दूँगा।"

फरमे छपे और नया साहित्यकार पुस्तक की इसी दादा साहित्यकार के यहाँ दे आया। प्रश्न यह है कि अमुकजी ने जीवन भर घर पर नोट पढ़कर, क्लास में लेक्चर देने और भूमिका लिखने के सिवा और कुछ काम नहीं किया, तो वे भूमिका न लिखें, तो क्या करें? लीजिए, महीने भर हाजिरी देने के बाद भूमिका मिल गई। भूमिका में लंबी-लंबी संभावना की बातें हैं। हिंदी साहित्य को इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। और नए साहित्यकार ने समझा, कि चलो अब साहित्य की कचहरी में मेरी रजिस्ट्री हो गई। जब पुस्तक बाजार में आई, तब बिक्री नदारद! जो लोग भूमिका लेखकजी को जानते हैं, उनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो भगवान जानें। पाठकगण को वे शास्त्रीय भाषा वाले लम्बे-लम्बे वाक्य समझ में ही न आए। धोखे से पुस्तक पढ़ने का मौका मिल गया, तो कहावत याद आई, 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया।'

कुछ नए साहित्यकारों का तो और बुरा हाल है। वे बेचारे दौड़-धूप करके पांडुलिपि पर ही भूमिका प्राप्त कर लेते हैं, और प्रकाशकों के यहाँ प्रकाशनार्थ भूमिका के साथ पांडुलिपि लिये पहुँचते हैं। वे प्रकाशक को कहते हैं, "ज़रा पहले भूमिका पढ़ लीजिए। इसके बारे में अमुकजी ने लिखा है..."

उधर प्रकाशक बेचारे का नाकोंदम! वह साहित्यकार के आगे पान की गिलौरियाँ बढ़ाकर कहता है, "सो तो सही है।

मगर अभी हमारे पास पहले से कई पांडुलिपियाँ पड़ी हैं। कागज के अभाव में उन्हें ही छापना दूभर हो रहा है।"

और बेचारा नया साहित्यकार है कि प्रकाशक की बात अनसुनी करके अपनी फाइल से सम्मतियों का पुलिन्दा निकालता है और कहता है, "प्रोफेसर······जी ने भी इसे देखा था। उनका कहना है कि प्रयोग और शिल्प की दृष्टि से तो यह अद्भुत है।"

सरस्वती के इस वरद-पुत्र से गला छुड़ाना आसान नहीं है। लेकिन, गाढ़े में भगवान सबकी रक्षा करता है। तभी अपना खाता-पत्तर लिये प्रकाशक का एकाउण्टेण्ट आ जाता है और कहता है, "चलिए न कोर्ट। सेल्स-टैक्सवाला सारा रजिस्टर मैंने तैयार कर लिया है।"

"अच्छा, फिर कभी दर्शन दीजिए।" कह कर प्रकाशक आज भर के लिए मुक्त हो जाता है।

मैं यह जानना चाहता हूँ कि आखिर भूमिका के प्रति आपकी इतनी गाढ़ी आस्था क्यों है? मेरी समझ से मुख्यतः इनके निम्न कारण हो सकते हैं:—

१. साहित्यिक वर्ग में भूमिका-लेखक का प्रभाव।
२. शायद प्रकाशक इसे शीघ्र प्रकाशनार्थ ले ले।
३. यह संभावना कि भूमिका के बल पर शीघ्र ख्याति मिलेगी।
४. अपरिचित आलोचक भूमिका का दबदबा देख कर जल्द खाँसने की हिम्मत नहीं करेगा।
५. पाठक प्रभावित होंगे।
६. अपने प्रति हीन-भावना को सान्त्वना।

परन्तु, वास्तविकता यह नहीं है। मैंने लंबी-लंबी और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के बावजूद रचनाओं को अप्रसिद्ध होते देखा है। कई भूमिका-लेखकों की स्वरचित कृतियाँ ही पहले प्रकाशक, तत्पश्चात् पाठक का सर-दर्द साबित होती हैं। कभी-कभी एक आलोचक, भूमिका-लेखक का भयानक रूप से (भूमिका में वर्णित संभावनाओं एवं दावों का) खंडन भी करता है। फिर विषय विवाद का हो जाता है। इसके विपरीत कई ऐसी रचनाएँ आई हैं, जिनपर न तो लेखक ने भूमिका दी है और न किसी से भूमिका लिखवायी है, मगर वे जनता-जनार्दन द्वारा समादृत हुई हैं, उन्हें प्रसिद्धि मिली है।

इस भूमिका-लेखन-पद्धति का एक और चित्र हमारे सामने है। यदि हमारे महान भूमिका-लेखक बुरा न मानें, तो मैं कहूँगा कि इस प्रकार उनलोगों ने पेशेवर भूमिका-लेखक का काम किया है और अनेक उगते हुए प्रतिभाशाली साहित्यकारों को, जहाँ-के-तहाँ रोक रखा है। ऐसे भूमिका-लेखक वे हैं, जो लेखकों से कहते हैं, "भाई, मुझे कहाँ फुर्सत है कि पुस्तक पढ़ सकूँ। आप ही कुछ लिख कर लाइए, मैं अपने हस्ताक्षर कर दूँगा।"

इसका परिणाम और बुरा होता है। एक तो मियाँ तुतले और दूसरे मुँह में रोटी। लेखक महोदय ने कलम तोड़ कर भूमिका-लेखक की ओर से स्वप्रशस्ति लिखी और जाकर उनसे हस्ताक्षर करा लाये।—और सौभाग्य से, कहीं पुस्तक की दो-चार जगह अच्छी समीक्षा आ गई कि फिर लेखक महोदय जमीन-आसमान का कुलाबा मिलाने लगे। फल यह हुआ कि 'हर्रे लगे न फिटकरी और रंग चोखा'। अध्ययन और मनन को आप गोली मार कर बैठ गए। अगली रचना आई और आपकी प्रतिभा पंक्चर हो गई।

हाँ, पेशेवर भूमिका-लेखक से मेरा तात्पर्य यह हुआ कि आपकी ओर से मनोनुकूल भूमिका पाकर बेचारा लेखक आपका साहित्यिक एजेण्ट हो गया। आप साहित्य के हर अंग के सुधी-समीक्षक कहे जाने लगे। फिर तो देखिए—"बादल से आ रहे हैं, मजनूँ हमारे आगे।" नई प्रतिभाएँ भूमिका लिखवाने के लिए दौड़ी चली आ रही हैं। नई प्रतिभा वालों ने कोई गोष्ठी की और आपके पास सदारत के लिए प्रार्थना की जा रही है। भला, आप न रहेंगे, तो गोष्ठी कैसे होगी?

इस प्रकार मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अदृश्य रूप से नई प्रतिभाओं का आत्मविश्वास भी हरण किया जाता है।

भूमिका-लेखन-पद्धति का एक और चित्र हमारे सामने है। आज का साहित्यकार, चूँकि वह अपने को बहुत पढ़ा-लिखा समझता है (पढ़ा-लिखा होने से मुझे कोई एतराज नहीं है), अकसर अपनी प्रत्येक पुस्तक पर खूब शीर्षासन-पूर्ण भूमिका देता है। वह ऐसी भाषा अपनाता है, जिसे कोई समझे, कोई समझे ही नहीं। तगड़ी भूमिका का वास्तविक अर्थ यह होना चाहिए कि वह लंबी न हो और थोड़े वाक्यों में ही पते की बातें कही जायँ। मगर, दरअसल होता है क्या कि तगड़ी भूमिका के नाम पर अपनी प्रशंसा की सूची, मित्रों से व्यक्तिगत बैर के बदले के साथ-साथ रचना से पूर्व

और रचनाकाल से लेकर रचना के प्रकाशन तक का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। कम-से-कम एक या आधे पेज में कुछ विदेशी लेखकों के कोटेशन, उनके सिद्धांत से अपने सिद्धांत का मेल तथा मित्रों और प्रकाशक को धन्यवाद भी दिया जाता है। मगर इससे बात बनती नहीं है। मेरी तो यह दृढ़ धारणा है कि संपूर्ण रचना से यदि मैं पाठक को आकृष्ट न कर सका, तो लंबी भूमिका हवा में बंदूक चलाने के समान साबित होगी।

इधर एक कहानी-संग्रह देखने को मिला। उसमें पुस्तक में संगृहीत कहानियों के विषय में तो काफी लिखा ही गया है, साथ ही कहानी-कला पर विस्तृत निबंध भी दिया गया है। रोना इस बात का है कि पुस्तक के प्रकाशित हुए लगभग तीन वर्ष हो गए। पुस्तक का स्टॉक ज्यों-का-त्यों पड़ा है। वैसे ५-७ प्रतियाँ बिकी जरूर हैं।

लंबी भूमिका का सहारा लेनेवाले लेखकों की तुलना मैं उस व्यक्ति से कर सकता हूँ, जो कचहरी में साँप और ताश का खेल दिखला कर भीड़ इकट्ठी कर लेता है और भीड़ जम जाने पर 'रतनजोत' पत्थर बेचना शुरू करता है।

नए लेखकों को तो प्रकाशक दबी जबान में कह भी लेता है कि भूमिका जरा संक्षेप में दीजिएगा। मगर पुराने लेखकों को कौन कहे? वे तो तब से साहित्य की सेवा कर रहे हैं, जब से अदालतों में हिंदी का कोई नाम तक सुनना पसंद नहीं करता था। उन्हें आपने जहाँ टोका, कि श्यामसुंदर दास से लेकर द्विवेदी-युग तक गुजरते हुए आजतक का क्रमबद्ध इतिहास शुरू कर देंगे। अपनी ग्रन्थावली या रचनावली की भूमिका में इस बात की चर्चा भी अवश्य करेंगे कि कलकत्ते में वे किस अमुक स्वर्गीय साहित्यकार के साथ किस नुक्कड़ पर पान खाने जाया करते थे। भूमिका का अजीर्ण तो यहाँ तक देखने में आता है, कि हम पढ़ते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि कब और कैसे भूकम्प में दब गई। इस बीच लेखक कब लाहौर या कश्मीर गया। बीच में वह कई बार बीमार पड़ा। लेखक की पत्नी ने कैसी सेवा-भावना का आदर्श उपस्थित किया। बीमारी की हालत में लेखक के कौन-कौन मित्र मिलने आए। इलाज किस प्रकार, कितने दिनों तक चलता रहा। यही बात छूट जाती है कि प्रस्तुत पुस्तक का अमुक अध्याय लिखते वक्त लेखक को कितनी बार छींक आई थी।

मेरे उपर्युक्त कथनों का तात्पर्य यह नहीं कि सारी भूमिकाएँ निरर्थक होती हैं या भूमिका लिखी ही न जाय। मैं यह कहना चाहता हूँ कि भूमिका को ही अपनी रचना का वकील न बना लिया जाय। साथ ही, आर्थिक दृष्टिकोण से भी मेरे कथन का कुछ अर्थ लगाया जाना चाहिए। कागज की इस भयंकर महँगाई के समय यदि आप सौ पृष्ठों की पुस्तक पर पचीस पृष्ठों की भूमिका देते हैं, तो भला यह कैसे होगा! व्यवसाय की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य सवा सौ पेज की लागत पर निर्धारित होगा और आपकी लंबी भूमिका का भी महँगा मोल पाठकों को चुकाना पड़ेगा।

फिर भी, इतना स्पष्ट कह दूँ कि यदि हिंदी भाषा में भूमिका-साहित्य की अनेक रचनाओं को एकत्र कर हिंदी-साहित्य-भूमिकावली प्रकाशित की जाय और यदि वह सौ खंडों में प्रकाशित हो, तो निश्चय ही उसके नब्बे खंड निरर्थक प्रमाणित होंगे।



एक नवाब साहब उर्दू के महाकवि मीर को अपने यहाँ रहने के लिए ले गए और ऐसा मकान दिया जिसकी खिड़कियाँ एक बाग की तरफ खुलती थीं। जिस दिन मीर साहब उस मकान में आए, संयोग से वे खिड़कियाँ बन्द थीं। मीर साहब ने उन खिड़कियों को खोला भी नहीं और कई बरसों तक उस मकान में रहने के बावजूद उन्हें यह भी पता नहीं था कि खिड़कियों के उधर कोई बाग भी है। एक बार एक मित्र ने बताया तो उन्हें मालूम हुआ। मित्र ने जब इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि बरसों से उन्हें बाग का पता भी नहीं है तो अपनी गजलों के मसविदों की ओर इशारा करते हुए बोले—"मैं तो इस बाग की फिक्र में लगा हूँ कि उस बाग की खबर भी नहीं।"

पुस्तक-व्यवसाय : दो समस्याएँ बिक्री और लेन-देन



श्री रामतीर्थ भाटिया

[भाटियाजी पुस्तक-व्यवसाय के सभी क्षेत्रों का सक्रिय अनुभव रखने वाले, युग देखे हुए व्यक्ति हैं। आपके अनुभव इतने सधे-गँजे हुए हैं कि उर्दू पर अधिकार होने के बावजूद 'पुस्तक-जगत' के लिए कृपापूर्वक हिन्दी में जो कुछ भी लिख रहे हैं, उससे हम कृतार्थ होते रहे हैं। इस समय आप सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली से सम्बद्ध हैं—संपादक]

भौतिकवादी पृष्ठभूमि पर आधारित आधुनिक युग की सुविधाएँ प्राप्त करके भी मानव-जीवन सुखी होने के बजाय उलझा हुआ है। कारोबारी आदमी की उलझनें और अधिक हैं, क्योंकि व्यवसाय बुनियादी तौर पर एक बड़ा गोरख-धंधा ही होता है।

किन्तु, हर कारोवार की अपनी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ होती हैं और उनका अपना एक कारोबारी नेचर भी। हमारा यह काम आदर्शवादी होने पर इसमें आर्थिक लाभ कम है; क्योंकि ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी हैं। आर्थिक दृष्टि से इसका विश्लेषण यह है कि इसमें पूँजी का Turn over (आय) दूसरे व्यवसायों की अपेक्षा बड़ी देर बाद होता है—वह भी चालू काम में जब प्रकाशक और विक्रेता बराबर जुटे रहें तो! एक पुस्तक में जो पूँजी लगती है—चाहे वह पुस्तक बड़ी मारके की हो—लोहा, कागज, अनाज, कपड़ा, आदि की अपेक्षा बड़ी देर के बाद रुपया लौटाती है। और, फिर यह बात भी है कि प्रकाशक के सारे प्रकाशन जोरों से बिकनेवाले (Hot cakes) नहीं होते। भर्ती की पुस्तकें प्रायः अधिक हो जाती हैं जिनकी बिक्री में सालों लग जाते हैं, डेडस्टाक इसके अतिरिक्त है। विक्रेता की दूकान में भी सभी पुस्तकें ऐसी नहीं, जिनके लिए ग्राहकों की माँग जोरदार हो। पहली श्रेणी की पुस्तकों की अपेक्षा दूसरी, तीसरी और चौथी श्रेणियों की पुस्तकों की संख्या अधिक होती है। शायद यही कारण है कि इस व्यवसाय में पूँजीपति-वर्ग के लोग अधिक नहीं आए हैं। वे इस कटु-सत्य को जान गये हैं। अतः, प्रायः कम पूँजी के लोग राम-राम करके काम चला रहे हैं। यदि कोई प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता अपने क्षेत्र से किसी परिस्थितिवश अलग रहे या लापरवाही से एक्टिव न हो और इस काम में गम्भीरता से (Seriously) ध्यान न दे, तो उसका लाखों का स्टाक—चाहे उसमें चोटी के लेखकों की रचनाएँ हों और पुस्तकों के नाम प्रसिद्ध हों—साधारण बाज़ार में कौड़ियों का नहीं रह जायगा। यहाँ तक कि कबाड़ियों के यहाँ भी सौदा नहीं पटता। कबाड़ी भी यह कहते हैं,—"भाई साहब, आप न्यूज़प्रिन्ट की रद्दी—अखबार—लाते तो उससे फल या मिठाई के लिफाफे तो बन सकते"। अखबार की रद्दी का सारे देश में एक भाव है। लेकिन कागज पर छपी और बँधी पुस्तक का कोई मोल नहीं पड़ता। मोटर से लेकर घड़ी के पुर्जे तक का रेट है। सीमेंट, चूना, सूती कपड़ा, बरतन, पाउडर, पेस्ट, मनिहारी के सामान को जब चाहें जाकर बेच सकते हैं। हर समय उनका मार्केट-रेट होता है। लेकिन विद्या और साहित्य की प्रतिमा (पुस्तक) को बाज़ार में ले जाने से चोरी का माल समझा जाता है और बेचनेवाला जुआरी या शराबी। लोग कहते हैं—शाम होने से पहले इसे पैसों की जरूरत है। मनचले तो यहाँ तक कह गुजरते हैं कि आगरा, बरेली या राँची से नहीं आया तो जाने की तैयारी में है। आम बाज़ार को छोड़िए। अपने वर्ग के लोगों को भी देखा है। कई प्रकाशन-संस्थाओं के बंद होने पर, उनकी अच्छी और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें—जिन पर सहकर्मी विक्रेताओं और प्रकाशकों ने वर्षों २५% कमीशन लिया था—बाद में टके-सेर खरीदा और उनकी कमजोरी और मजबूरी का बेजा फायदा उठाया।

यह किसी पुस्तक-विक्रेता और प्रकाशक को बताने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी साहित्यिक पुस्तक का महत्त्व कभी कम नहीं होता। परंतु, ऐसा लगता है कि इस कारो-बार को भगवान ने भी कोई शाप दिया है। पुस्तक-व्यवसाय

में लगे हुए लोगों की कहानी बड़ी करुण है। मैं इसे व्यवसाय कम और झंझट अधिक समझता हूँ। आर्थिक दृष्टि से इसमें कोई सुरक्षा (Security) नहीं। आप इस बात से ही अंदाज़ा लगाएँ कि बैंक और साहूकार कुछ वस्तुएँ गिरवी रख कर व्यापारियों को तो लाखों-करोड़ों रुपये ऋण में देते हैं, परंतु पुस्तकों के स्टाक के बदले (against) बात भी नहीं करते। किसी एक-आध अपवाद से इस बात का खण्डन नहीं होगा। हमारे अस्तित्व का एकमात्र आधार हमारा अपना परिश्रम है। हम अपनी मेहनत, बुद्धि, शक्ति और व्यवस्था के बल पर हर पुस्तक को उचित समय में विशेष स्थान पर बेचने का प्रयत्न करते हैं। तब कहीं हम कागज, छपाई और लेखक-अनुवादक के पारिश्रमिक का पैसा देने के बाद अपना और अपने बच्चों का पेट पालते हैं। इस दीर्घकालीन प्रक्रिया (Long term Process) में दीगर दिक्कतें और समस्याएँ भी हैं। लेकिन हम पुस्तक-व्यवसायियों—विशेषकर हिन्दी वालों—के सम्मुख सबसे बड़ी, पहाड़-जैसी समस्या है बिक्री की। इस समस्या से संलग्न समस्या है लेन-देन की। रोते-पीटते पुस्तक की बिक्री तो हुई, लेकिन यह भी तो देखना है कि उसका पैसा आया कि नहीं अथवा हम केवल बीजक बनाते रहे और रेल-भाड़ा एवं ट्रांसपोर्ट कम्पनियों को किराया देते रहे और कार्बन से हाथ काले करते रहे! यह मैंने ऊपर कहा है कि प्रायः इस क्षेत्र में छोटी पूँजी के लोग हैं। वे पुस्तक-प्रकाशन में खर्च किये गये पैसे की अधिक देर तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। इस व्यवसाय में पैसा जल्द नहीं लौटता। लेकिन, मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ कि आपसी लेन-देन और व्यवहार, हमारे बस का नहीं है। यह बात अधिकांश रूप से व्यवहार करनेवालों के संकल्प एवं मनोवृत्ति पर निर्भर है।

बिक्री

पुस्तक-बिक्री के साधन हैं—(क) खुदरा बिक्री, (ख) पुस्तकालय, (ग) स्कूल-कालेज, (घ) सरकारी खरीद, और (ङ) सीधे आर्डर से बिक्री या एजेन्टों के द्वारा। पुस्तक-बिक्री का अंतिम साधन प्रकाशकों-बिक्रेताओं के अपने क्षेत्र की निजी चालू प्रथा है, जिसका मैं बाद में स्पष्टीकरण करूँगा।

पाठ्य-पुस्तकों छोड़कर आप साहित्यिक पुस्तकों की ओर आइये; क्योंकि पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के बाद यह समस्या अब दूसरे ढंग की हो गई है और अब यह एक स्वतंत्र कारोबार नहीं रहा। भारत इतना बड़ा देश है, किन्तु शिक्षा का प्रतिशत इतना ऊँचा नहीं है। उसे नाममात्र समझें। हमारा देश आर्थिक दृष्टि से भी पिछड़ा देश है। फिर, कई प्रांतीय भाषाओं के होने से इस व्यवसाय में एकरूपता (Uniformity) भी नहीं है। पुस्तक के उत्पादन, मूल्य, व्यावसायिक कमीशन—सबकी भिन्न-भिन्न नीतियाँ हैं। अन्य आंचलिक भाषाओं की अपेक्षा बंगला भाषा की खुदरा बिक्री अपेक्षाकृत अधिक संतोषजनक है। तमिल आदि भाषाओं में भी हिन्दी की अपेक्षा फुटकर बिक्री अधिक अच्छी है। हिन्दी में खुदरा बिक्री बड़ी निराशाजनक है। यदि खुदरा बिक्री अच्छी होती तो जिन अधिकारियों के यहाँ हम टेंडर भरने दौड़े जाते हैं, वे स्वयं हमारे यहाँ सरकारी खरीद के लिए आते और नियम से माल ले जाते। अंग्रेजी के प्रकाशकों में कमीशन सम्बन्धी जो अनुशासन पाया जाता है, उसका एकमेव कारण फुटकर या खुदरा बिक्री है। प्रस्तुत कठिनाई के कारण हिन्दी पुस्तकों का मूल्य बढ़ा हुआ होता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रान्तीय या विदेशी भाषाओं की पुस्तकों का मूल्य भी कम नहीं होता। लेकिन हिन्दी पुस्तकों का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक है, यह स्वीकार करने में शरमाना नहीं चाहिए।

हिन्दी की एक दिक्कत यह भी रही है कि उसका प्रचार-प्रसार सभी प्रान्तों में एक ही गति से नहीं हुआ है। हिन्दी-प्रकाशक आपको बम्बई से लेकर पटने-कलकत्ते तक और मद्रास से लेकर दिल्ली-जालन्धर-अमृतसर तक मिलेंगे। इससे हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का प्रमाण तो मिल जाता है, लेकिन साथ-ही-साथ पुस्तक-व्यवसाय सम्बन्धी बाधा का निर्देश भी होता है। हमें पुस्तकोत्पादन में एकरूपता के दर्शन नहीं होते। लिखाई-छपाई-सम्बन्धी भी अनेकानेक नीतियाँ हैं। किन्तु, हिन्दीतर प्रान्तों की भाषाओं का क्षेत्र सीमित भले ही हो, पुस्तक-उत्पादन से बिक्री तक लगभग एक जैसी पॉलिसी देखने में आती है। खुदरा बिक्री में एक और बाधा है—सिनेमा। पढ़े-लिखे लोग भी, समय काटने के लिए, स्वाध्याय को छोड़कर सिनेमा को प्राथमिकता देते हैं। इस प्रवृत्ति को बदलना आसान नहीं है। यह तो शुरू से ही स्कूलों के बच्चों

में सुरुचि और सुसंस्कार पैदा किए जायँ, तब कहीं पंद्रह बीस साल के बाद कुछ परिणाम निकलेंगे।

खुदरा बिक्री की दृष्टि से हिन्दी की प्रथम नई पाकेट-बुकें बड़ी सफल हुई हैं। इसने हमारे पिछले रिकार्ड और पुरानी धारणा को बदल दिया है। व्यवसाय में नये साहसिक प्रयोग-प्रयास कभी अच्छे परिणाम देते हैं। हिन्दी-पाकेट-बुक-योजना का पहला सुफल तो यह हुआ है कि यहाँ के लोगों में पढ़ने की रुचि और आर्थिक बाधा का पता चला है। प्रसंग से यहाँ यह बता दूँ—यह बात केवल प्रसंगवश लिख रहा हूँ, अन्य किसी उद्देश्य से नहीं—कि अमरीका के पुस्तक-व्यवसाय के लोगों ने अपने एक सम्मेलन में पाकेट-बुक-पद्धति को Handicap (बाधा) और Liability (जवाबदेही) माना था। Bookism (पुस्तकवादिता) और Readership (पाठकवृत्ति) के सच्चे अनुयायी बनाने के बजाय पाकेट-बुकें लोगों में अनुगति की भावना भरती हैं। इस तरह के प्रकाशन-कार्य में पुस्तक-उत्पादन और साहित्य संक्षिप्तरूप में (Abridged) होते हैं, जिनसे लोगों के पाकेट और दिमाग भी संक्षिप्त (Abridged) होते चले जाते हैं। जहाँ तक ठोस बिक्री का अंश है, यह कुल जोड़ जाकर पुस्तकों की 'सेल' कम करती है—बड़ी पुस्तकों के शौकीन भी सस्ती लेने की सोचते हैं।

स्कूलों-कालेजों के लिए और सरकारी खरीद में भी पुस्तकें एकरूपता से नहीं ली जातीं। बाल-साहित्य और प्रौढ़-साहित्य को छोड़कर यदि हम साहित्यिक पुस्तकों की बात करें तो हम देखते हैं कि इस प्रकार की पुस्तकों के लिए प्रायः दो स्थान हैं—पुस्तकालय और शिक्षा-केन्द्र। अब हमारी सबसे बड़ी समस्या यह है कि एक नई पुस्तक छापने के बाद उसकी ३००० प्रतियाँ तीन माह में भी नहीं खपतीं। यदि खप जातीं तो धनराशि का प्रवाह चलता रहता और पुस्तक की कीमत भी कम हो जाती। क्योंकि जब ३००० प्रतियों की तुरन्त बिक्री की व्यवस्था हो जायगी तो प्रकाशक ५००० प्रतियों का प्रथम संस्करण छापेगा और अन्य फायदों के साथ एक फायदा यह भी होगा कि प्रकाशक उसकी कीमत कम रखने में नहीं हिचकेगा। सो, इतने बड़े देश में पाँच हजार पुस्तकालयों का होना कोई लम्बी उड़ान नहीं है। यह साधारण-सी इच्छा है जो आसानी से सक्रिय हो सकती है।

चुनांचे केन्द्रीय सरकार का ध्यान भी इस ओर गया और उसने पुस्तकालय-परामर्श-समिति (Advisory committee for Libraries) नियुक्त की। किन्तु, खेद का विषय है कि समिति की रिपोर्ट ने बीमारी से भी अधिक भयंकर इलाज ढूँढा है और उल्टे-सीधे सुझाव दिए हैं। सबसे विस्मय-जनक सूचना तो यह है कि इस समिति ने पुस्तक-व्यवसाय के किसी व्यक्ति को शंका-समाधान अथवा परामर्श के लिए नहीं बुलाया। इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए कि पुस्तक-बिक्रेताओं और प्रकाशकों को ही इस क्षेत्र का पूरा ज्ञान है और वे ही पुस्तकालय-आन्दोलन के अविच्छिन्न अंग हैं। समिति ने यह उपेक्षा या तो जान-बूझकर की है या फिर हम यों कह सकते हैं कि उसे अपने विषय का और वस्तु-स्थिति का ज्ञान नहीं है।

यहाँ एक बात का उल्लेख बड़ा दिलचस्प रहेगा। यही कांग्रेस—जिसके तत्त्वावधान में केरल में शिक्षा के सवाल पर वहाँ की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध आंदोलन चल रहा है; कि वहाँ की सरकार ने शिक्षा, पाठ्य-पुस्तक एवं साहित्य में भी हस्तक्षेप किया है—पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त अब साहित्यिक पुस्तकों पर भी अपने हाथ मारना चाहती है। पुस्तकालय कमेटी ने जो सुझाव दिये हैं, वह सिवा इसके कुछ नहीं है कि पुस्तकों का जो थोड़ा-बहुत निजी क्षेत्र रह गया है, उसमें भी सरकार हस्तक्षेप करे। यह स्वतन्त्र पुस्तक-व्यवसाय के लिए हानि-कारक है। किन्तु, यह बात यहाँ कह देना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में आज हमारा वर्ग इस उपेक्षा की शिकायत करे। चित्र का एक पहलू यह भी है कि हमारा प्रकाशक-संघ इतना जागरूक और सचेत नहीं रहा, क्योंकि जब हमारा स्वार्थ किसी बात से नत्थी है तो जबरदस्ती सम्पर्क या विरोध के रूप में, अपने वर्ग को कमेटी की गतिविधि से सूचित करना, उसका कर्त्तव्य था। मगर वे साँप के निकल जाने के बाद लकीर पीटने के आदी हैं। इस कमेटी की रिपोर्ट से, जिसमें पुस्तकों की खरीद के लिए एक बुक-ब्यूरो बनाने का सुझाव है, सरकार प्रकाशक के बाद अब बिक्रेता के रूप में हमारी प्रति-द्वन्द्वी बनके आएगी। किताब वालों को समझ लेना चाहिए कि पुस्तकालय-कमेटी की रिपोर्ट पर सारे पुस्तक-व्यवसाय का भविष्य निर्भर है, क्योंकि हमारी आगामी सारी योजनाएँ और ठोस बिक्री का पहला क्षेत्र पुस्तकालय ही है।

कालेजों की बिक्री, बनिस्वत दूसरी जगहों के, कुछ अच्छी है। किंतु इसकी ओर सामूहिक रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। संयुक्त विज्ञापन से बिक्री को, ऐसे और नये स्थानों पर बढ़ाया जा सकता है, इसके लिए मैंने आगे चलकर बिक्री-आयोग (Sale Commission) का सुझाव दिया है।

बिक्री की शृंखला में, सरकारी खरीद की कड़ी में टेण्डर सबसे बड़ी समस्या है जिसके विरुद्ध इस बार बिहार और मध्य-प्रदेश में हमने संयुक्त मोर्चा लिया तो सुधार की कुछ आशा पैदा हुई। किंतु, हमारी प्रतिनिधि संस्थाओं ने मौके का पूरा लाभ नहीं उठाया। एक-दो बार मंत्रियों से मिलने से काम नहीं चलता। दूध में निश्चय ही मक्खन की मात्रा है, लेकिन बिलोकर निकालने का परिश्रम तो करना ही होगा। सरकार के मंत्री सिद्धांत में बात स्वीकार करके भी उसे सक्रिय रूप देने में सालों लगा देते हैं। सो, नीचे जिलों के स्तर तक जिम्मेदार व्यक्तियों के पहुँचने की आवश्यकता है। किसी स्थान पर पंखों के नीचे बैठकर चाय के कप और गप्पशप के साथ प्रस्ताव करने से काम बनने वाला नहीं।

संयुक्त प्रकाशक-संघ

संयुक्त प्रकाशक-संघ के प्रयास से हमें लाभ और हानि दोनों हो सकते हैं। बिक्री पर इसका प्रभाव अच्छा और बुरा पड़ सकता है। यह तो समय बतायेगा, किंतु उद्देश्य निश्चय ही बड़ा उत्तम और आवश्यक है। मुझसे जिस किसी ने भी परामर्श किया, मैंने उसे सदस्य बनने का ही सुझाव दिया। क्योंकि, अपने संगठन के अलावा कमीशन की धाँधली पर नियंत्रण प्रत्येक पुस्तक-व्यवसायी की समस्या है। जिस सरकार के अनुदान पर जो रुपया बंगला, मराठी के प्रांतों को मिलता है, वही सरकार १०% और १२½% तक थोक खरीद पर कमीशन स्वीकार करती है। मगर, वही सरकार राष्ट्रभाषा को नीलाम पर चढ़ाकर २५%—३०% पर टेण्डर माँगती है। सो, सरकार अगर अंधी है तो हमीं उसे लाठी पकड़कर रास्ता दिखा सकते हैं। किंतु, एक बात का भय हमारे सहयोगियों में फैला हुआ है कि कमीशन के भाव तय होने के बाद छोटे प्रकाशकों और बिक्रेताओं को, जिनके साधन सीमित हैं, कोई हानि न पहुँचे। इसका उपाय तो यही हो सकता है कि प्रकाशक-संघ स्वयं सीधे सप्लायर न बने, केवल अपने स्थानीय बिक्रेताओं के द्वारा सप्लाई करे। जहाँ यह एक आदर्श बात है, वहीं परिणाम में अधिक बिक्री और आर्थिक लाभ का रास्ता भी है। यदि सभी प्रकाशक हर जगह सीधे दौड़ जायँ तो स्थानीय विक्रेता पुस्तकों का अचार तो डाल नहीं सकता। वह निराश होकर साहित्यिक पुस्तकों का काम ही बन्द कर देगा। तब उससे यह आशा रखना कि संयुक्त-प्रकाशक-संघ के नियमों का पालन करे, एक मिथ्या-विचार है। मुझे यह घोषणा करते हुए बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि इस सम्बन्ध में प्रकाशक-संघ के दो-तीन बड़े संचालकों से मेरी बातचीत हुई। उन्होंने स्वयं ही युक्तिशील होकर और अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए स्वीकार किया कि प्रकाशक स्वयं सप्लायर न बनें। किन्तु, इसमें जो एक यथार्थ कठिनाई है, उसको व्यवसाय के सामूहिक हित की दृष्टि से नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। जिलों में ऐसे विक्रेता नहीं हैं जिनमें पाँच या दस हजार का आर्डर सप्लाई करने की सामर्थ्य हो। यदि प्रकाशक सहयोग के विचार से माल उधार भी दे दें, तो रुपये की सुरक्षा का कोई आधार नहीं। निस्संदेह जिलों में भी लेन-देन के मामले में अच्छे व्यापारियों की कमी नहीं। किन्तु देखा गया है कि ऐसे व्यापारी अपनी आदत से ही इस हद तक सीधे और शरीफ हैं कि वे सरकारी खरीद के दावपेंच से घबराकर ऐसी सप्लाई का काम ही नहीं करते। वे साहित्यिक पुस्तकों की बिक्री भी अपनी दूकान पर बैठकर ही करना चाहते हैं। अंततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रकाशक-संघ ने जहाँ इतने नियम-उपनियम, माल लेने-न-देने, कमीशन आदि तक पर अंकुश लगाये हैं, उसी सिद्धांत से अपने इस व्यावहारिक औचित्य पर अमल करते हुए यह बात शामिल करनी चाहिए कि प्रकाशक सीधा सप्लायर न बने। जहाँ और दिक्कतों के लिए भी वे हल ढूँढने के लिए प्रयत्नशील हैं, वहाँ इससे सम्बन्ध रखनेवाली कठिनाइयों का भी हल निकल आएगा। मगर याद रखिए कि "कड़ुवा थू और मीठा हप्प" वाली नीति संयुक्त प्रकाशक-संघ को स्थायी नहीं बना सकेगी।

बिक्री के सम्बन्ध में अभी मैंने उल्लेख किया था कि यदि प्रकाशक पुस्तकालय, कालेज, स्कूल और सरकारी खरीद में सीधा सम्पर्क स्थापित करते हैं तो वे उतनी ही रकम का आर्डर पाते हैं जो वहाँ निश्चित अलॉट होती है। किंतु, यदि वे स्थानीय बिक्रेताओं के द्वारा उनको सप्लाई की योजना

बनाते हैं, तो यह एक अनिवार्य कारोबारी स्वभाव है कि जब किसी दूकानदार की पाँच सौ की बिक्री होगी तो वह निश्चय ही उससे अधिक का माल प्रकाशकों से मंगाकर अपने स्टॉक में रखेगा, क्योंकि उसे इस दिशा में प्रोत्साहन मिलेगा। किंतु सीधी सप्लाई में वह निराश होकर, देखा गया है, बाहरी पुस्तकों का काम ही बंद कर देता है। उसकी बिक्री को देखकर उसके साथ के पड़ोसी दूकानदार भी साहित्यिक पुस्तकों की ओर आकृष्ट होकर भारी स्टाक जमा कर लेंगे। इस प्रकार बिक्री का क्षेत्र और ग्रास (Gross) बढ़ जाता है। एक और बात जिसकी ओर हमारे प्रकाशक-वर्ग का ध्यान नहीं जाता है, कि यह देश जो ७५% ग्रामों में ही बसा है, वहाँ राजधानी या दो-चार बड़े शहरों के प्रकाशन-केन्द्रों से दूर से आकर प्रकाशक गाँव-गाँव में जाकर स्कूलों, पुस्तकालयों या सामुदायिक-विकास-योजनाओं से सम्पर्क बना नहीं पाते। केवल जिले के कालेज-पुस्तकालय को देखकर ही लौट आते हैं। इससे आरोप तो लगता ही है, अपितु उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं होती। ये केवल स्थानीय विक्रेता ही हैं जो आस-पास बिक्री के उपर्युक्त स्थानों पर जाकर सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और पुस्तकों की मद में अलाट हुए हजारों रुपयों को लैप्स होने से बचा सकते हैं। मैं यह अपने बीस वर्ष के देश-भ्रमण और इस काम से प्राप्त अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ कि पहले तो बिक्री ही कम और दीगर कठिनाइयाँ हैं; तिस पर भी हजारों-लाखों रुपये, पुस्तक-मद में मिले अनुदान के हर वर्ष मार्च के अंत में लैप्स हो जाते हैं। इसका कारण है कि सरकारी अनुदान के पैसे से राजधानी या बड़े शहरों में जाकर पुस्तकें खरीदने के लिए यात्रा की कठिनाई कई भद्र पुरुष सहन नहीं कर सकते। कई अनुदान इतनी थोड़ी रकम के होते हैं कि उसके लिए वे प्रयास ही बेकार समझते हैं। किंतु, यह थोड़ी-थोड़ी रकमें जाकर हजारों की बनती हैं। यदि हम जिलों के स्तर पर साहित्यिक पुस्तकों का वातावरण बनाने के लिए कोई सक्रिय योजना नहीं बना सकते, तो मैं यही कहूँगा कि स्वयं हमें ही पता नहीं कि इस किश्ती को किस ओर खेकर ले जाना है। इसके लिए मेरा एक सुझाव है कि सरकार की तरह प्रकाशक-संघ भी, (या अच्छा हो कि हम पुस्तक-व्यवसायी-संघ की स्थापना करके और अपने प्रांतीय संगठनों के सहयोग से) एक पुस्तक-बिक्री-

आयोग की स्थायी रूप से नियुक्ति करे, जो बिक्री सम्बन्धी आँकड़ों के अतिरिक्त लेन-देन आदि की कठिनाइयों और तमाम समस्याओं के समाधान का परामर्श, एक पूरी रिपोर्ट के रूप में, हमें दे। क्योंकि जब बीमारी का निदान ही नहीं, तो चिकित्सा तो क्रम से दूसरे नम्बर पर आती है।

अन्यान्य समस्याओं और कठिनाइयों के अतिरिक्त, मेरी और मेरे भ्रमण करनेवाले साथियों की एक यह भी प्रतिक्रिया है कि हमारे यहाँ यदि अधिकांश नहीं तो हर आंचलिक क्षेत्र में जागरूक, सचेत और शिक्षित पुस्तक व्यवसायी लोगों की एक कमी है, जिसे हम ऐसे आयोगों द्वारा ही पूरी कर सकते हैं।

ऊपर मैंने बिक्री के क्षेत्र और जिन स्थानों का जिक्र किया है, वह तो बिक्री का बाहरी क्षेत्र है। इसे हमें अपनी योजना और परिश्रम से बढ़ाना है। अंतिम कड़ी में मैंने प्रकाशकों और पुस्तक-बिक्रेताओं की पारस्परिक प्रचलित प्रथा की ओर इंगित किया था, जो अधिक एजेंटों के जरिये या सीधे आर्डरों द्वारा होती है। उसके लिए इस बने क्षेत्र को भी गंभीरता से दृढ़ बनाएँ। प्रकाशक एजेंटों से, जो उनकी जबान और हाथ हैं, उचित व्यवहार करें। उन्हें विश्वास-पात्र ही नहीं मानें, बल्कि उनकी हर प्रकार की कठिनाइयों में पूरी दिलचस्पी लें; क्योंकि बिक्री से लेकर रुपये-पैसे की वसूली तक के वही एकमात्र साधन उनके पास हैं।

लेन-देन

बिक्री के साथ संलग्न जलता प्रश्न, पुस्तक-व्यवसायियों के लिए, आपसी-व्यवहार यानी व्यापाराना लेन-देन का है। खेद है कि इसका नैतिक स्तर इन दस वर्षों में उत्तरोत्तर गिरा है। बही-खातों में उधार के नामों की भरमार होने लगी है। प्रकाशक और बिक्रेता मेरी इस बात से सहमत होंगे कि सीधी बिल्टी या हुंडी पर माल लेने के लिए कोई माँग ही नहीं करता था। बिल्टी या वी० पी० वापसी की दुर्घटनाएँ भी नाम-मात्र होती थीं। किंतु अब सब इसके उल्टा हो रहा है। हुंडी पर या सीधे माल लेकर उसका पैसा चुकाने के नैतिक और व्यवसाय-सम्बन्धी उत्तरदायित्व को कई महानुभाव भुला देते हैं। इस प्रकार एकतरफ़ा ट्रैफिक से बड़ी परेशानी हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि अच्छे व्यापारियों की कमी नहीं है। किंतु एक ही मछली सारे तालाब को गंदा कर सकती है और यहाँ तो कई मछलियाँ और उनके साथ मगरमच्छ भी हैं। कारोबार में कम्पिटीशन तो होता ही है, सो एक अड़चन यह होती है कि अगर चंद प्रकाशक माल उधार दें और दूसरे न दें तो बिक्री पर प्रभाव पड़ता है। विगत वर्षों में कई ऐसे प्रकाशक मार्केट में आए हैं जिन्होंने केवल अपनी संस्था के स्वार्थ के लिए उधार आदि की प्रथा चलाई। उधार के लिए भी, एक सीमित दायरे और समय के लिए, सभी तैयार हो सकते हैं। बिक्रेताओं की सुविधा के लिए कोई भी बात तय करने को हम सब तैयार हैं, किंतु जब कुछ लोग किसी कीमत पर अथवा किसी स्टेज पर भी अपनी जिम्मेदारी को न समझें तो ऐसे प्रकाशकों और बिक्रेताओं के लिए कुछ-न-कुछ सोचना चाहिए। मैं समझता हूँ कि अब हमारी प्रतिनिधि संस्थाएँ काफी प्रौढ़ हो चुकी हैं। वे यदि संयुक्त प्रकाशक-संघ के नियमों का पालन न करने के लिए माल न देने की धमकी दे सकती हैं, तो इस दिशा में भी कोई कदम उठा सकती हैं। इसके लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं कि हम अपनी एक पंचायत, अपने किसी बड़े संघ की देख-रेख में, नियुक्त करें, जो प्रकाशक बिक्रेता-कर्मचारी-एजेंट-लेखक सबके पारस्परिक झगड़ों और शिकायतों की सुनवाई करे और दोषी को उचित चेतावनी या दंड दे और हमारे वर्ग के लोगों को, सरकार या जिस अन्य स्थान पर पेमेंट-सम्बन्धी दिक्कत हो, सहायता करे। इसमें संदेह नहीं कि सरकारी बिलों या अन्य संस्थाओं से भी हम लोगों को पैसा मिलने में बड़ा लम्बा समय लग जाता है, जिसका परिणाम आगे हमारी लेन-देन पर भयंकर पड़ता है। अगर किसी मजदूर को तनख्वाह न मिले या उसके अधिकारों पर कोई चोट आए तो उसकी यूनियन तुरन्त उसका नोटिस लेती है, तो हमारे अधिकारों की रक्षा के लिए भी कोई सामूहिक प्रयास होना ही चाहिए। हर जगह व्यावसायिक-प्रतिनिधि-संस्थाएँ अपने वर्ग के चौमुखी स्वार्थ और हितों की रक्षा करती हैं।

सरकार के अतिरिक्त आपसी व्यवहार के लिए प्रकाशकों और बिक्रेताओं की विभिन्न सूचियाँ बनाने के लिए भी हमारी संस्था को बाध्य होना पड़ेगा। इस जमाने में कोई काम क्रांतिकारी ढंग से न किया जाय तो कोई परिणाम नहीं निकलता। हमारे ही वर्ग के एक गुट का एक प्रत्यक्ष प्रमाण सामने आया है। दिल्ली में धार्मिक पुस्तक-प्रकाशकों

और विक्रेताओं की एक संस्था है—पुस्तक-विक्रेता-संघ—जिसने अपने संगठन से लेन-देन या अन्य व्यावहारिक सम्बन्ध में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। वी० पी० और बिल्टी लौटने या उधार की बीमारी से वे बेहद परेशान थे, क्योंकि यह बीमारी समस्त हिन्दी-जगत् में है। उन्होंने हिम्मत करके उन व्यापारियों को माल देना केवल बंद ही नहीं किया, अपितु दोषी लोगों की एक ब्लैक-लिस्ट भी प्रकाशित करनी शुरू कर दी, ताकि दूसरे प्रकाशक या विक्रेता सावधान रहें। बिल्टी लौटने पर या उधार का पैसा समय के अन्दर भुगतान न करने पर पहले स्वयं सप्लायर उसको पत्र देता है। साथ ही, संघ का चेतावनी-पत्र भी उसकी ओर चला जाता है। उसी शहर के एक दूसरे अच्छे व्यापारी को भी उस सहकर्मी की इस अनुचित बात की सूचना दी जाती है। यदि वह दूकानदार इन सारी चेतावनियों एवं व्यावसायिक शिष्टाचार की सीमाओं का उल्लंघन कर जाय तो उसका नाम ब्लैक-लिस्ट में प्रकाशित करके अपने क्षेत्र में वितरित किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप उसको कोई माल देने को तैयार नहीं होता। किंतु, उसको भी अपना पक्ष रखने का पूरा अवसर दिया जाता है, ताकि सप्लायर की भूल हो तो उसपर प्रकाश पड़ सके। जब मैंने संघ के एक पदाधिकारी से बात-चीत की तो उन्होंने जो आँकड़े मुझे बताये, वे सचमुच आश्चर्यजनक थे। शुरू में उस वर्ष साठ ऐसी शिकायतें वी० पी०, बिल्टी और उधार की थीं। जबकि दो वर्ष बाद ही यह संख्या पाँच रह गई। सचमुच पंचायत और संगठन में बड़ी बरकत है।

व्यवसाय में बिना सहयोग के कोई काम नहीं होता। सभी प्रकाशक अनुभव करते हैं कि विक्रेताओं के सहयोग के बिना वे शून्य हैं। किंतु अगर विक्रेता भी लेन-देन सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व को समझें तो अपना और व्यवसाय का हित-सम्पादन कर सकते हैं। थोड़ी-सी पूँजी से भी वे हजारों का कारोबार और Turn Over (आय) कर सकते हैं। किंतु जब मनोवृत्ति ही शुद्ध और पवित्र नहीं रहती तो एक की भूल से पूँजी का प्रवाह मार्केट में रुक जाता है और उसकी प्रतिक्रिया सब पर होती है। कई प्रकाशक, जो विक्रेता भी होते हैं, कई बार अपनी ज़िम्मेदारी को अनुभव नहीं करते। दूसरों से यही आशा करते हैं कि वे तो उनका पैसा समय पर दे दें, किंतु वे दूसरे प्रकाशकों के लिए स्वयं यह नीति नहीं अपनाते एवं अपने कर्मचारियों, लेखकों, प्रेस और बाइंडरों के साथ उचित व्यवहार नहीं करते। निश्चय ही इसका फल उन्हें दूसरी जगह भुगतना पड़ता है और साथ में बेचारे ऐसे विक्रेता-प्रकाशक और दूकानदार भी, जिनका व्यवहार अति सुन्दर होता है, उसी वर्ग में होने के कारण दूसरों की गलती के शिकार हो जाते हैं।



हिन्दी में पाठक कैसे बढ़ें : कुछ विचार



श्री रामनारायण उपाध्याय

हिन्दी में पाठक कैसे बढ़ें—इस बात पर विचार करने के साथ ही साथ हमें इस बात पर भी विचार करना है, कि हिन्दी में पाठक क्यों नहीं बढ़ रहे हैं ? इसके कुछ कारण हैं। आइये, हम बारी-बारी से इनका हल खोजें।

इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि, आज भी देश में एक ऐसा वर्ग है जो राष्ट्रभाषा हिंदी तथा हिंदी की पुस्तकों को हेय दृष्टि से देखता है तथा अंग्रेजी की हल्की-फुल्की पुस्तकों को, अपनी बगल में लेकर चलने में गौरव अनुभव करता है। हिन्दी की प्रगति के मार्ग में ये सबसे बड़े रोड़े हैं, लेकिन इन्हें तो हमें समय के हाथों सौंपकर आगे बढ़ना है।

दूसरी बात यह है कि आज लोगों में पढ़ने की रुचि तो बढ़ी है, लेकिन खरीदकर पढ़ने की वृत्ति का अभी निर्माण नहीं हो पाया है।

एक दिन मैंने एक, माँगकर पढ़ने के अभ्यस्त साधन-सम्पन्न महोदय से कहा—"आपको तो पुस्तकें खरीदकर पढ़नी चाहिये।"

बोले—"जब मुफ्त में पढ़ने को मिल जाती है तो क्यों खरीदें।"

मैंने कहा—"इससे लेखक का नुकसान होता है।"

बोले—"लेखक की बात छोड़िये। आपकी आलमारी में जो पुस्तकें रखी हैं, उन्हें यदि मैं पढ़ लेता हूँ, तो इससे आपका कौन-सा नुकसान हो जाता है ?"

मैंने कहा—"आपकी पेटी में जो नोट भरे हैं उनमें से कुछ का यदि मैं उपयोग कर लूँ और बाद में उन्हें ज्यों-का-त्यों आपको लौटा दूँ तो इसमें आपका कौन-सा नुकसान हो जाता है ? मैं आपको पुराने नोटों की जगह नये नोट दूँगा। लेकिन एक ओर तो आप अपने नोटों का भी ब्याज चाहते हैं और दूसरी ओर लेखक की अपना रक्त देकर लिखी गई पुस्तक का बिना मूल्य दिये, मुफ्त में उपयोग करना चाहते हैं, यह कौन-सा न्याय है ?"

वे कुछ चौंके। बोले, "मेरा मतलब यह नहीं। मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि जिस पुस्तक को आपने मूल्य देकर खरीद लिया, उसे पढ़ने में लेखक का क्या नुकसान है ?"

मैंने कहा—"लेखक का संपूर्ण जीवन, उसकी पुस्तक पर निर्भर रहता है। पुस्तक को लिखने तथा उसके प्रकाशित हो जाने पर भी उसे उसके श्रम का मूल्य नहीं मिलता। वरन् पुस्तक की बिक्री पर ही उसके पारिश्रमिक की दर निर्भर रहती है। ऐसी अवस्था में यदि कोई, उसकी पुस्तक को बिना मूल्य दिये बीच में ही पढ़ लेता है, तो वह उसका अप्रत्यक्ष रूप से कितना बड़ा शोषण करता है इसे आप समझ सकते हैं।"

वे तो समझ गये। लेकिन यह प्रश्न आज भी हमारे सामने ज्यों-का-त्यों खड़ा है और इसके लिये हमें खरीदकर पढ़ने की विचारधारा के प्रसार के साथ-ही-साथ माँगकर पढ़ने की वृत्ति का भी जमकर विरोध करना होगा।

तीसरी बात यह है कि, आज हिन्दी के प्रकाशन व्यवसाय में, अच्छी-बुरी पुस्तकों के प्रकाशन की जो बाढ़ आई है उसमें से श्रेष्ठ पुस्तकों को चुनना हिन्दी के एक साधारण पाठक के लिये कठिन समस्या है। एक ही पुस्तक को दो विभिन्न नामों से प्रकाशित करने तथा एक संग्रह की कुछ कहानियों को दूसरे संग्रह में भी खपा देने की वृत्ति ने लेखक और प्रकाशकों की प्रतिष्ठा को कम धक्का नहीं पहुँचाया है। पुस्तकों की सरकारी खरीद ने तो मानो हल्की-फुल्की पुस्तकों पर अपनी प्रामाणिकता की मुहर लगा दी है। आज प्रौढ़-शिक्षा और समाज-शिक्षा के नाम पर गाँवों में जिस प्रकार की पुस्तकें प्रचारित की जा रही हैं उनसे ग्रामीण जनता के ज्ञान में कितने प्रतिशत वृद्धि हुई यह तो आंकिक-विभाग जाने, लेकिन उससे सरकारी बुद्धि पर तरस अवश्य बढ़ा है।

यदि हम सचमुच सत्साहित्य का प्रसार चाहते हैं तो हिन्दी के प्रकाशकों को साहसपूर्वक हल्की-फुल्की विचारहीन पुस्तकों के प्रकाशन का लोभ संवरण करना होगा।

अंत में, जो लोग सचमुच खरीदकर पुस्तकें पढ़ने के अभ्यस्त हैं उनकी कठिनाइयों पर भी हमें विचार करना है। आज पुस्तकों पर पोस्टेज की दरें इतनी बढ़ी हुई हैं कि, एक

रुपये की पुस्तक पर तेरह आने का तो पोस्टेज ही लग जाता है। ऐसी हालत में किसी भी पाठक के लिये घर बैठे अपनी मनपसन्द पुस्तकें मँगा सकना सम्भव नहीं है। इसके लिये हमें डाक-तार-विभाग से भी पुस्तकों पर रजिस्ट्री या साधारण डाक की दरें कम करवाने का प्रयास करना होगा। साथ ही, आज देश के प्रत्येक प्रमुख स्थान में श्रेष्ठ पुस्तकें मिलने की कोई व्यवस्था नहीं है। रेलवे बुक स्टालों पर तो हल्की-फुल्की पुस्तकों ने अपना कब्जा जमा रखा है।

जिस तरह पुस्तकों को उनपर प्रकाशित मूल्य पर ही बेचने के प्रश्न को लेकर एक "संयुक्त हिन्दी प्रकाशक संघ" का निर्माण हुआ है उसी तरह यदि, हिन्दी की चुनी हुई श्रेष्ठ पुस्तकों की विक्री के लिये भी एक "विक्रेता-संघ" की स्थापना होकर उसके जरिये देश के प्रत्येक बड़े शहरों में श्रेष्ठ पुस्तकें मिलने की व्यवस्था की जा सके तो उससे हिन्दी के पाठकों में निश्चित रूप से वृद्धि होगी।



प्रेम ऐसी अद्भुत वस्तु है कि उसका विवेचन करने बैठो तो अन्तर्धान हो जाती है और न विवेचन करो तो समझ में नहीं आती।

—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

मेरा व्यवसाय : मेरे ग्राहक



श्री दयानन्द वर्मा

[लेखक पंजाबी-पुस्तक-भंडार दिल्ली के संचालक हैं और पुस्तक व्यवसाय में प्रकाशन तथा बिक्री का सतर्क अनुभव रखते हैं। बिक्री के प्रसंग के उनके ये समस्या-चित्र मनोरंजक तो हैं ही, उद्बोधक भी हैं—सम्पादक]

पुस्तक-विक्रेता के पास ग्राहक आया, पूछा—"आपके पास कारपेन्ट्री की कोई पुस्तक है ?"

विक्रेता ने कहा—"हाँ" और साथ ही उसने उसके सामने मोटरकार-मरम्मत की कुछ पुस्तकें पटक दीं।

"मैंने कारपेन्ट्री की पुस्तक माँगी थी।" ग्राहक ने 'कारपेन्ट्री' शब्द पर जोर देते हुए कहा। विक्रेता की नींद जैसे अब खुली। बोला—

"ओह! हाँ! मेरे पास 'पेन्ट्री' की पुस्तक भी है। अरे ओ लछमन, बाबूजी को साईनबोर्ड-पेन्टिंग वाली किताब निकाल दे!"

मैं साथ खड़ा हुआ विक्रेता और ग्राहक का यह वार्तालाप सुन कर मन-ही-मन हँस पड़ा। ऐसे ही न जाने कितने लोगों के पास हमारा व्यवसाय है; जो इस धन्धे से रोटी तो कमाते हैं, किन्तु इस विषय में अपना ज्ञान बढ़ाना अधर्म समझते हैं।

मैं जब कभी सपत्नीक साड़ी खरीदने जाता हूँ तो दूकानदार साड़ी की झालरें तक बना कर दिखाता है कि पहनते समय कितनी भली लगेगी? आजकल किस रंग का रिवाज है? कौन-से ब्लाउज़ के साथ कौन-सा रंग ठीक बैठेगा? किन्तु, ऐसे पुस्तक-विक्रेता बहुत कम हैं जो इस प्रकार पाठकों को राय दे सकें या किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को विषयानुसार पुस्तकें छाँटने में सहायता कर सकें।

यह हुई व्यवसाय की बात। अब ज़रा कुछ ग्राहकों के बारे में सुनिए। यों तो प्रतिदिन सैंकड़ों ग्राहकों से मेरा वास्ता पड़ता रहता है, किन्तु कुछेक असामान्य ग्राहक ऐसे भी आते हैं, जिन्हें मैं कोशिश करने पर भी भुला नहीं पाता।

● पिछले दिनों एक सूटेड-बूटेड सज्जन आए। सूरत से पढ़े-लिखे व्यक्ति मालूम पड़ते थे। मुझसे स्कूल की एक पुस्तक माँगी। मैंने उत्तर दिया—"मेरे पास स्कूलों की पुस्तकें नहीं रहतीं।"

उन्हें सम्भवतः विश्वास न आया। पूछा—"तो यह जितनी पुस्तकें आलमारियों में लगी हैं, इनमें स्कूल की एक भी नहीं?"

मैंने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

किन्तु उन्हें अब भी यकीन न आया। बोले—"स्कूल के अतिरिक्त भी भला कोई पुस्तक होती है?"

"क्यों नहीं; किस्सा-कहानी, उपन्यास, नाटक आदि।"

"तो क्या यह सारी दूकान उपन्यास, कहानी आदि से ही भरी है?"—उन्होंने बड़ी मासूमियत से पूछा—"कौन पढ़ता होगा इतनी पुस्तकें?"

वे तो इतना कह कर आगे बढ़ गए और मैं उन सूटेड-बूटेड व्यक्ति की सरलता पर मन-ही-मन मुस्कुराता रह गया, जिन्हें आज पहिली ही बार पता लगा था कि स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त भी कुछ पुस्तकें होती हैं।

● एक सज्जन मेरे पास बहुधा आते थे। हर बार उनके साथ एक नया साथी होता था। संस्कृत के अप्राप्य ग्रंथ माँगना उनकी हॉबी थी। जब मैं उनकी पूछी हुई पुस्तक के मौजूद न रहने की स्वीकारोक्ति करता, तो वे मुस्कुराकर अपने उस दिन के साथी से कहते—"मेरी माँगी हुई पुस्तकें मिलती ही नहीं!"

जैसे यह भी कोई बढ़िया प्रमाण-पत्र हो!

एक दिन अजीब घटना घटी। मैंने उनकी माँगी हुई पुस्तक के लिए 'हाँ' कर दिया। उन्हें निराशा हुई यह सुनकर, क्योंकि वे उसदिन अपने साथी पर उपर्युक्त रोब न गाँठ सके। झेंप कर पुस्तक निकलवाई, उलटा-पलटा, फिर बोले—"इसे अलग से रख दीजिए। मैं कल ले जाऊँगा।"

उसके बाद वे फिर आज तक नहीं लौटे।

● ऐसे ग्राहक तो हर पुस्तक-विक्रेता के पास ढेरों

आते ही हैं जो किसी पुस्तक का आने-दो-आने रुपया कमीशन सुनते ही झट कह देते हों—"अजी, ऐसी पुस्तकें तो आधे दामों पर आम मिलती हैं।"

यदि उनसे 'ऐसी' का स्पष्टीकरण माँगा जाए, तो वे आँय-बाँय-शाँय कहने लगते हैं।

● एक सज्जन ने एक कम बिकने वाली पुस्तक निकलवाई। मूल्य सुन कर बोले—"अजी इनके खरीदने वाले कौन हैं?"

"आप!"—मैंने कहा—"यह पुस्तक आपके लिए मँगाई है!"

"यदि मैं न खरीदूँ तो?"

"तो जो इसे खरीदेगा, मैंने उनके लिए मँगाई है!"

और उन्होंने पुस्तक खरीद ली।

× × × ×

अंत में मैं कुछ ऐसे ग्राहकों के विषय में कहना चाहता हूँ जो पूर्वजन्म की किसी शत्रुता का प्रतिशोध लेने के लिए हमारे पास ग्राहक का रूप धर कर आते हैं। उन्हें लेना-देना कुछ नहीं होता, अपितु पहले से खड़े किसी ग्राहक को भगाना होता है। ऐसे ग्राहकों के इस समय केवल दो उदाहरण दूँगा।

● पहला उदाहरण :—

एक ग्राहक रामायण खरीद रहा है। ये खड़े उसे देखते रहेंगे। जब ग्राहक उसका मूल्य चुकाने के लिए जेब में हाथ डालेगा तो ये उसे एकाएक अपनी राय दे बैठेंगे—"श्रीमान्‌जी, यदि आपको रामायण खरीदनी है, तो अमुक प्रेस की खरीदें!"

राय देने के पश्चात् ये सज्जन तो गए। अब हमारे पास यदि उस प्रेस की रामायण न हो तो हमारे लिए ग्राहक को यह विश्वास दिलाना कठिन हो जायगा कि 'यह' रामायण 'अमुक प्रेस' की रामायण से किसी दशा में कम नहीं है। हमारा कथन चाहे कितना भी सच्चा क्यों न हो, उन सज्जन के डाले हुए प्रभाव को हम नष्ट नहीं कर सकेंगे; क्योंकि ग्राहक की दृष्टि में उनकी राय निःस्वार्थ थी और हमारी स्वार्थपूर्ण।

● दूसरा उदाहरण :—

एक ग्राहक मुझसे उर्दू की डाक्टरी की पुस्तक खरीद रहे थे। साथ खड़े एक सज्जन बोले—"आप हिन्दी क्यों नहीं पढ़ते? हिन्दी में इस विषय पर मैंने अमुक पुस्तक पढ़ी थी। वह बहुत बढ़िया थी।"

मन-ही-मन दाँत पीसते हुए मैंने उन सज्जन से पूछा—"क्यों श्रीमन्, आपने उर्दू की यह पुस्तक भी पढ़ी है? सम्भव है यह आपकी पढ़ी हुई पुस्तक से अच्छी हो?"

बोले—"ऐसा हो ही नहीं सकता! वह सबसे अच्छी पुस्तक है!"

"किन्तु ये साहब तो केवल उर्दू जानते हैं! इनके लिए आप क्या सलाह देते हैं?"

"इन्हें चाहिए कि हिन्दी पढ़ लें! हिन्दी हरेक व्यक्ति को पढ़नी चाहिए!"

मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि हिन्दी हर भारत-वासी को पढ़नी चाहिए। किन्तु, प्रश्न तो यह था कि वह ग्राहक, जो हिन्दी बिल्कुल नहीं जानता, क्या करे? अब पहले वह मुझसे हिन्दी की प्राइमर खरीद ले। फिर वह हिन्दी का इतना ज्ञान प्राप्त कर ले कि उस सज्जन की बतायी हुई पुस्तक पढ़ सके। तत्पश्चात् वह मुझसे उक्त पुस्तक खरीदने आए!

सोचता हूँ, यदि उसके दोबारा आने पर कोई अन्य सज्जन उस ग्राहक को अंग्रेजी की कोई उससे भी अच्छी पुस्तक सजेस्ट कर दें, तो?



मार्क ट्वेन से किसी ने पूछा—"मामूली भूल और बड़ी गलती में क्या फर्क है?"

आपने उत्तर दिया—"मान लीजिए, आप होटल से लौटते वक्त जल्दी में अपना सूती छाता भूल जायें और बदले में किसी का रेशमी छाता उठा लायें, तो वह एक मामूली भूल है। परन्तु, यदि आप बिल्कुल इसके विपरीत कर बैठें, यानी रेशमी छाते को भूल आयें और बदले में सूती छाता उठा लायें, तो यह आपके लिए एक बड़ी गलती है।"

समर्थ प्रकाशकों की कमी



आचार्य श्री शिवपूजन सहाय

आजकल हिन्दी-संसार में नित्य नई पुस्तकें निकल रही हैं। विविध विषय की पुस्तकों के प्रकाशन से साहित्य की नित-नूतन वृद्धि हो रही है। प्रकाशित पुस्तकों में उत्कृष्ट-निकृष्ट कोटि का विवेचन तो पृथक् प्रश्न है, किन्तु जितनी पुस्तकें आज लिखी जा रही हैं, उनमें अधिक-से-अधिक पचीस प्रतिशत ही प्रकाशित हो पाती हैं। यह प्रश्न विशेष गम्भीरता से विचार करने योग्य है। हम प्रायः देखते हैं कि बहुत-से साहित्यकारों के पास अनेक अच्छी रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। हमारा अनुमान है कि समस्त हिन्दी-संसार में हजारों उपयोगी पुस्तकें प्रकाशन के लिए तैयार हैं। उनमें कम-से-कम पचीस प्रतिशत तो निश्चय ही शीघ्र प्रकाशन के योग्य और साहित्य की शोभा बढ़ाने-वाली हैं, परन्तु अपनी उत्तम रचना के भी प्रकाश में न आ सकने के कारण लेखकों और कवियों को जो निराशा होती है, उससे वे हतोत्साह तो होते ही हैं, उनकी प्रतिभा भी प्रफुल्लित नहीं हो पाती। प्रकाशन के प्रोत्साहन से वंचित कितने ही मेधावी साहित्यसेवी अपनी प्रतिभा के कुण्ठित हो जाने की आशङ्का भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार, साहित्य-रचना का मार्ग अवरुद्ध होता है और साहित्य के सम्पत्ति-कोष के बढ़ते रहने में भी बाधा पड़ती है।

वर्त्तमान स्थिति में हिन्दी की अनेक प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के सुसम्पादित होकर प्रकाशित होने की सम्भावना नहीं दीख पड़ती, पर आधुनिक रचनाओं में जो महत्वपूर्ण हों, उनके प्रकाशन का कोई उपाय तो सोचना ही पड़ेगा। नहीं तो साहित्य के उत्तरोत्तर विकास की प्रगति मन्द पड़ जायगी। आज अनेक अहिन्दीभाषी सज्जन भी हिन्दी में साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं और वे जब हिन्दी के प्रकाशकों और साहित्यिक संस्थानों के द्वार खटखटाकर हताश हो जाते हैं, तब खिन्न मन से राष्ट्रभाषा का अभ्युदय चाहनेवालों के प्रति असन्तोष व्यक्त करने लगते हैं। हमें पता है कि अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के कई विद्वानों ने हिन्दी में बड़ी सुन्दर मौलिक पुस्तकें लिखी हैं तथा अपनी भाषा के भी ऐसे ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद किया है, जिनसे राष्ट्रभाषा के साहित्य की अभाव-पूर्त्ति हो सकती है; पर उनमें भी अधिकांश को प्रकाशकों और संस्थाओं से कोरा जवाब ही मिला है। कम-से-कम अहिन्दीभाषी क्षेत्र के सुयोग्य विद्वानों की हिन्दी-सेवा का मूल्याङ्कन और उनका उत्साहवर्द्धन तो किसी हद तक होना ही चाहिए। अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इस समस्या पर विचार करने का अवकाश न हो, तो अखिल-भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ इस पर विचार कर सकता है।

आज हिन्दी के कई प्रकाशक प्रशंसनीय प्रकाशन-कार्य कर रहे हैं। कुछ सार्वजनिक और सरकारी संस्थाएँ भी इस कार्य में तत्पर हैं। तब भी साहित्यस्रष्टा यह शिकायत करते पाये जाते हैं कि क्षमताशाली प्रकाशकों और संस्थाओं से भी उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। किन्तु, नई रचनाओं का दिन-दिन उमड़ता हुआ प्रवाह देखकर साहित्य-संवर्द्धन में संलग्न किसी उत्साही प्रकाशक अथवा संस्था को दोष नहीं दिया जा सकता। प्रकाशन के साधनों की दुर्लभता या महार्घता तथा अर्थ-सङ्कट के इस युग में हमारे कुछ प्रकाशक अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ कर रहे हैं, वह आशा के अनुकूल ही कहा जा सकता है। फिर भी, उपस्थित समस्या का समाधान ढूँढ़ निकालने के लिए यह उचित होगा कि अनावश्यक साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार पर प्रतिबन्ध लगवाने के लिए सरकार से अनुरोध किया जाय। इससे लाभ यह होगा कि अवाञ्छनीय साहित्य के प्रकाशन में जिन प्रकाशकों की शक्ति का अपव्यय हो रहा है, उनके द्वारा लोकोपयोगी संग्रहणीय साहित्य को आश्रय एवं उत्तेजन मिलने लगेगा। किन्तु, सरकार तो वैधानिक कार्य-वाही द्वारा अनिष्टकर साहित्य का प्रचारावरोध मात्र कर सकती है, प्रकाश में लाने योग्य रचनाओं का चुनाव तो प्रकाशकों को ही करना पड़ेगा। जबतक प्रकाशक-वर्ग जागरूक न होगा और उसमें राष्ट्रहित की चेतना उद्‌बुद्ध न होगी, तबतक उसे रचनाओं की उपादेयता कोई नहीं समझा सकता—तबतक निम्न स्तर की रचनाओं की धारा भी न रुकेगी। रचयिताओं की प्रवृत्ति भी सदुद्देश्यगर्भित तभी होगी, जब प्रकाशक केवल

सुरुचिपूर्ण साहित्य ही प्रकाशित करने लगेंगे। इसके बिना मनमानी साहित्य-रचना नहीं रुक सकती।

यहाँ साहित्योपजीवी लेखकों की दूसरी कठिनाई भी विचारणीय है। प्रकाशकों की कमी से निरुपाय हुए लेखकों में कितने ही उत्कण्ठित सज्जन ऐसे भी दृष्टिगत होते हैं, जो अपनी रचना स्वयं ही प्रकाशित कर लेते हैं। किन्तु, जो लेखक नियमित रूप से प्रकाशन-व्यवसाय नहीं करते, उन्हें अपनी भावुकता का फल भोगना पड़ता है; क्योंकि हिन्दी की दुनिया में लेखकों के निजी प्रकाशनों की ही खरीद-बिक्री करनेवाली कोई संस्था या एजेंसी नहीं है; अधिकांश प्रकाशक ही पुस्तक-विक्रेता भी हैं। अतः, भावावेश में अपनी रचना छपा डालनेवाले साहित्यकारों की सुविधा के लिए हिन्दी-क्षेत्र के केन्द्र-स्थलों में विश्वसनीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की बड़ी आवश्यकता है। आज के शोध-युग में तो विश्वविद्यालयों से सम्मानोपाधि पाये हुए विद्वज्जन भी अपने ग्रन्थों के लिए उपयुक्त प्रकाशक की खोज में व्यस्त देखे जाते हैं। वे यदि स्वयं अपना थीसिस छपवाकर लाभान्वित होना चाहें भी, तो साहस उनका साथ न देगा; क्योंकि पुस्तक-विक्रेता-प्रकाशकों के भरोसे काफी लागतवाले ग्रन्थ निकाल डालना घर-बैठे सिर-दर्द मोल लेना है। यदि ह्वीलर-कम्पनी की तरह प्रमुख केन्द्रों में सुसंचालित कम्पनियाँ खोलने की ओर देश के पूँजीपतियों अथवा सहकारिता-सिद्धान्त पर उद्योग-धन्धे चलानेवाले अनुभवी व्यवसायियों की रुझान हो, तो शिक्षा-प्रचार के इस युग में पुस्तकों का व्यापार बड़ा लाभदायक सिद्ध हो सकता है।



सद्यःसाक्षरों के लिए पुस्तकें



प्रो० श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों के प्रयास से देश में वयस्क-शिक्षा का प्रसार हो रहा है। ग्रामीण पुस्तकालयों के द्वारा भी इस दिशा में कुछ कार्य हो रहे हैं। जिन ग्रामीणों की शिक्षा अक्षर-ज्ञान प्राप्त करके ही समाप्त हो गयी थी और जिनके लिए अपनी उस स्वल्प-शिक्षा एवं ज्ञान में वृद्धि करने के साधन सुलभ नहीं थे, वे भी आज पुस्तकालयों से लाभ उठाने के लिए उत्कंठित दिखाई पड़ते हैं। उनमें भी ज्ञानार्जन की बुभुक्षा जाग्रत हो रही है। विभिन्न साधनों के प्रयोग द्वारा अल्प-शिक्षित जनता में पढ़ने की रुचि उत्पन्न करने के प्रयास हो रहे हैं और इसके फलस्वरूप कितने ही निरक्षर वयस्कों ने पढ़ना-लिखना सीखा है और इस समय भी सीख रहे हैं। किन्तु, इसके साथ एक प्रश्न यह है कि इस प्रकार जो लोग सद्यःसाक्षर हुए हैं, उनकी विद्या के संरक्षण एवं सम्वर्धन के लिए कौन-से उपाय काम में लाये जायँ? सद्यःसाक्षर वयस्कों में विद्या की चर्चा होती रहे, उनकी ज्ञान-स्पृहा को निरन्तर प्ररोचना मिलती रहे; इसके लिए उपयोगी साहित्य चाहिये। और, यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के साहित्य का हमारे देश की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में बहुत अभाव है। ग्रामीण पुस्तकालयों में जिस प्रकार की पुस्तकों का संग्रह किया जाता है, उनसे सद्यःसाक्षर जन बहुत कम लाभ उठा सकते हैं।

यह संतोष का विषय है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें सद्यःसाक्षरों के लिए पाठोपयोगी पुस्तकें तैयार कराने में तत्परता दिखा रही हैं और लेखकों को अनेक प्रकार से प्रोत्साहन प्रदान कर रही हैं। विभिन्न भाषाओं में लिखी, सद्यःसाक्षरों के लिए उपयोगी श्रेष्ठ पुस्तकों पर प्रतिवर्ष केन्द्रीय सरकार पुरस्कार प्रदान करती है। इसके साथ ही इस प्रकार की पुस्तकें अधिक संख्या में खरीद कर पुस्तकालयों एवं वयस्क-शिक्षा-केन्द्रों में वितरित भी करती है। केन्द्रीय सरकार की आर्थिक सहायता से राज्य सरकारें प्रतिवर्ष साहित्य-रचनालय (Literary workshop) की व्यवस्था करती हैं, जिनमें नवयुवक साहित्यकारों को लेकर इस बात पर विचार-विमर्श किया जाता है कि सद्यःसाक्षरों के लिए किस प्रकार की पुस्तकें लिखी जानी चाहियें और उनके लिखने की प्रणाली एवं शैली क्या हो? इससे भी नये-नये लेखकों को सद्यःसाक्षरों के लिए पाठोपयोगी पुस्तकें प्रस्तुत करने में प्रोत्साहन मिल रहा है। केवल लेखक ही नहीं, प्रकाशक भी लाभान्वित हो रहे हैं। किन्तु, इन सब प्रयत्नों के बावजूद, पाठोपयोगी पुस्तकें जिस मात्रा में प्रकाशित होनी चाहियें, नहीं हो रही हैं और उनका अभाव खटक रहा है।

कुछ समय पहले तक हिन्दी साहित्य में बालोपयोगी पुस्तकों का भी अभाव था। विशेषकर शिशुओं के अक्षर-ज्ञान के लिए सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से लिखी गयी तथा मनोहर छपाई और साजसज्जा से युक्त पुस्तकों का तो और भी अभाव था। किन्तु, सुख का विषय है कि अवस्था में अब बहुत कुछ परिवर्त्तन हो रहा है और शिशुओं एवं बालक-बालिकाओं के लिए पाठोपयोगी पुस्तकें इधर काफी संख्या में निकल रही हैं। फिर भी, विदेशी बाल-साहित्य की तुलना में इस दिशा में अभी हम बहुत पिछड़े हुए हैं।

सद्यःसाक्षरों के लिए पर्याप्त संख्या में पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो रही हैं, इसका एक कारण यह हो सकता है कि इस सम्बन्ध में लेखकों की स्पष्ट धारणा नहीं है। सद्यःसाक्षरों के लिए किस प्रकार की पुस्तकें उपयोगी हो सकती हैं, क्या-क्या विषय उनके लिए रोचक हो सकते हैं और किस ढंग की पुस्तकों के द्वारा उनकी पाठतृष्णा को उद्दीप्त किया जा सकता है; इन सब बातों पर विशद आलोचना होनी चाहिये। इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही प्रयत्नशील हों और सद्यःसाक्षरों के लिए पाठोपयोगी पुस्तकों के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा लेकर पुस्तकें लिखवायी जायँ, तभी उनकी माँग हो सकती है।

जो पुस्तकें बालोपयोगी होती हैं वे सद्यःसाक्षरों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होंगी; ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बड़े-बड़े अक्षरों में सरल भाषा में लिखी हुई पुस्तकें होने से ही सद्यःसाक्षरों के लिए उपयोगी होंगी, यह बात भी नहीं

है। बच्चों के लिए सरल भाषा में सुन्दर ढंग से छपी हुई रोचक पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। किन्तु, इन पुस्तकों की ओर संभव है, सद्यःसाक्षर वयस्कजन आकर्षित न हों। सद्यःसाक्षर वयस्कों के लिए सहज-सरल भाषा में पुस्तकें लिखी जायँगी, उनमें कठिन शब्द एवं जटिल वाक्य नहीं होंगे और विषय-वर्णन अथवा प्रतिपादन की शैली बोधगम्य होगी; यह तो आवश्यक है ही। नित्य जीवन के व्यवहार में जो शब्द आते हैं और जिनसे वयस्क परिचित होते हैं; ऐसे शब्दों का व्यवहार यथासंभव अधिक किया जाय। आरम्भ में संयुक्ताक्षर वाले शब्दों एवं दीर्घ सामासिक पदों का व्यवहार कम होना चाहिये। विषय रोचक एवं उपयोगी होने पर भी, यदि भाषा सरल नहीं होगी, तो वयस्क कुछ पंक्तियों को पढ़ने के बाद ही यह अनुभव करने लगेंगे कि पुस्तक उनकी समझने की योग्यता से बाहर की वस्तु है। इस प्रकार की पुस्तकों में बड़े टाइप के अक्षरों का प्रयोग किया जाय, जिससे पढ़ने में कष्टसाध्यता न हो। एक सद्यःसाक्षर बालक के लिए जो विषय अरुचिकर एवं दुर्बोध्य सिद्ध हो सकते हैं, वे ही विषय सद्यःसाक्षर वयस्क के लिए रुचिकर एवं ग्राह्य हो सकते हैं। हाँ, शैली में भिन्नता अवश्य होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि जो सब विषय सुशिक्षित जनों के लिए पाठोपयोगी हो सकते हैं उनमें अनेक विषय सद्यःशिक्षित वयस्कों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं; यदि उन विषयों का वर्णन या व्याख्या भिन्न रूप में की गयी हो। वस्तुओं के मूल्य में ह्रास-वृद्धि क्यों होती रहती है, गणतंत्र के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं, खेतों की उपज में किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है, ऋतुपरिवर्तन क्यों होते हैं, महामारियाँ क्यों फैलती हैं; इत्यादि विषय चाहे जितने ही सरल एवं सुबोध ढंग से रखे जायँ, बालक-बालिकाओं के लिए रोचक सिद्ध नहीं हो सकते। किन्तु, ये ही विषय यदि सरल भाषा में सहज भाव से लिखे जायँ, तो सद्यःसाक्षर वयस्कों को उन्हें ग्रहण करने में कठिनाई नहीं होगी।

सद्यःसाक्षर वयस्कों के लिए ज्ञान का क्षेत्र उसी प्रकार विस्तृत है जिस प्रकार सुशिक्षित जनों के लिए। एक सामाजिक मनुष्य के लिए, एक नागरिक के लिए जिन सब विषयों का साधारण ज्ञान अपेक्षित है, ऐसे विषयों का सन्निवेश सद्यः-साक्षरों के लिए लिखी गयी पुस्तकों में किया जा सकता है। इस प्रकार धर्म, दर्शन, राजनीति, नागरिक शास्त्र, अर्थनीति, कृषि, विज्ञान, जीवन चरित्र, भ्रमण, स्वास्थ्य, ग्राम-पंचायत आदि विषयों का स्थूल ज्ञान उन्हें सहज भाषा में लिखित पुस्तकों के द्वारा कराया जा सकता है। सबसे बढ़कर आवश्यकता इस बात की है कि लिखने की प्रणाली बोधगम्य एवं रोचक हो। वार्त्तालाप या कहानियों के रूप में नीरस विषयों को भी सरस ढंग से रखा जा सकता है और अल्प-शिक्षित पाठकों में जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकती है।

सद्यःसाक्षर वयस्कों के लिए जो पुस्तकें लिखी जायँ उनके सम्बन्ध में एक ध्यान देने की बात यह है कि विषय का अनावश्यक विस्तार न किया जाय और पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा न हो। जो लोग काफी उम्र तक अपने जीवन में पढ़ने-लिखने के अभ्यस्त नहीं रहे हैं, उनमें यदि पढ़ने की रुचि उत्पन्न करना अभीष्ट है, तो उनके सामने अधिक पृष्ठों की मोटी पुस्तकें न रखी जायँ। अन्यथा, पुस्तक का आकार-प्रकार देख कर ही वे विरक्ति बोध करने लगेंगे और उसे पढ़ने का साहस नहीं करेंगे। इसलिए आरम्भ में कम पृष्ठों की पुस्तकों से ही उनमें पढ़ने का अभ्यास डाला जाना चाहिए। क्रमशः अभ्यस्त होने पर वे स्वतः अधिक पृष्ठों की पुस्तकों को भी पढ़ना चाहेंगे। सद्यःसाक्षरों के लिए जो पुस्तकें लिखी जायँ वे पचास-साठ पृष्ठों से अधिक की न हों और इसी अनुपात से उनका मूल्य भी हो। आवश्यकतानुसार ये पुस्तकें सचित्र भी हो सकती हैं।

इन दिनों पुस्तक की विषय-वस्तु के साथ-साथ उसकी बाह्य साजसज्जा का भी बड़ा महत्त्व है। खासकर बाल-साहित्य और सद्यःसाक्षर वयस्कों के साहित्य के लिए तो यह अनिवार्य रूप में आवश्यक है। पुस्तक का आवरण-पृष्ठ सुन्दर एवं आकर्षक हो और उसके ऊपर की सजावट या चित्र इस रूप में हों ताकि पुस्तक की विषय-वस्तु का किञ्चित आभास मिल जाय। ऐसा होने से पुस्तक का आकर्षण बढ़ जाता है और ग्राहक उसकी ओर प्रलुब्ध होते हैं।

यहाँ केवल स्थूलरूप में कुछ ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है, जिन पर ध्यान रख कर सद्यःसाक्षर वयस्कों के लिए ग्रन्थ-रचना की जा सकती है।





हिन्दी टाइप : नाम और नाप

श्री सत्येन्द्र कुमार गुप्त

[ज्ञानमंडल लि० बनारस के संचालक तथा हिन्दी प्रकाशन एवं पत्रकारिता के मूर्धन्य के नाते अतिविदित लेखक ने हिन्दी-टाइपों के नामकरण और माप पर प्रकाश देते हुए छपाई में स्थान-संक्षेप की ओर आवश्यक इंगित किया है। ऊपर-नीचे की मात्राओं के कारण हमें सभी टाइपों के बॉडी और फेस में जो बड़ा अन्तर रखना पड़ता है, उसमें बचत करने के लिए मात्राओं को किस रूप में लाया जाय, इस पर भी विचारों का आना हिन्दी-छपाई के हित में आवश्यक है।

—सम्पादक]

हिन्दी के टाइप बहुधा उनके नाप के हिसाब से जैसे १२ प्वाइंट, ग्रेट, चार लाइन पाइका, ६ लाइन पाइका, इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। अक्सर ये प्रचलित नाम, नाप का ठीक आधार नहीं बताते। जैसे ६ लाइन पाइका नाम से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि टाइप कम्पोज किये जाने पर ६ लाइन पाइका अर्थात् १ इंच स्थान लेगा, परन्तु यदि इस टाइप में चार पाँच या अधिक लाइनें कम्पोज करनी हों तो यह ज्ञात होगा कि प्रत्येक २ लाइनों के बीच में काफी लेड दिये बिना इस टाइप का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि किया जायगा तो दो लाइनों के बीच में आमने-सामने वाली मात्रायें आपस में लड़ने लगेंगी या एकदम सट जायेंगी। व्यवहार में लाने के लिये बीच में लेड देना अनिवार्य होगा।

यदि मात्रायें लड़ने की समस्या न हो तो भी प्रत्येक दो लाइनों के बीच में पर्याप्त स्थान होना जरूरी है। यदि हम नागरी लिपि में बहुत घने छपे हुए पृष्ठों को ध्यान से देखें, तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक लाइन (यदि हम लाइन का आरंभ अक्षरों के ऊपर की शिरोरेखा से मानें) का, मात्राहीन अक्षरों के ऊपर की शिरोरेखा से नीचे तक, अक्षरों का जितना विस्तार है, कम-से-कम उतना ही विस्तार दो लाइनों के बीच में छूटे हुए स्थान का भी है। बीच के इस छूटे हुए स्थान को कम नहीं किया जा सकता। मात्राओं के लिये और यदि मात्रायें न हों तो भी एक लाइन को दूसरी लाइन से अलग-अलग पढ़ने के लिये यह छूटा हुआ स्थान अनिवार्य है। और, इसका एक न्यूनतम परिमाण भी है। यह परिमाण यह है कि छपने पर जितना स्थान मात्राहीन अक्षर लेता है कम-से-कम उतना ही स्थान दो लाइनों के बीच में छूटा हुआ होना चाहिए, अधिक हो तो और अच्छा है।

मात्राओं के कारण तथा वैसे भी, प्रत्येक लाइन कम-से-कम मात्रहीन अक्षरों की दूनी जगह लेगी ही। अतएव टाइपों का नाप, फेस का नाप, इसी तथ्य के आधार पर मानना चाहिये और उसे इसी आधार पर, यानी छपने पर मात्राहीन अक्षरों के नाप का दूना जो नाप आता हो उसी नाप के अनुसार, टाइप की संज्ञा दी जानी चाहिए; जैसा मोनोटाइप के हिन्दी अक्षरों के लिए है।

हिन्दी की प्रारम्भिक और मुख्य टाइप फाउंड्रियों के टाइप बहुधा छोटी बॉडी पर बड़े फेस के होते हैं, मगर उनकी संज्ञा फेस के नाप के आधार पर न होकर बॉडी के आधार पर शुरू से ही चली आ रही है। ये संज्ञायें बदली नहीं गयी हैं। इसका कारण टाइपों को छोटा बताने की प्रवृत्ति भी है। हिन्दी में छोटे टाइपों की कमी है। ग्राहक छोटे-से-छोटा टाइप माँगते हैं, फिर बॉडी के नाप के आधार पर सत्यता कायम रखते हुए टाइपों को छोटा बताना तो सहज व्यापारिक प्रवृत्ति है, जो चली आ रही है।

इससे, शुरू में भले ही किसी को कुछ लाभ हुआ हो, परंतु अब लाभ होने की विशेष सम्भावना नहीं है। इस प्रवृत्ति के कारण हिन्दी की कुछ हानि भी हुई है, यानी हिन्दी में छोटे टाइपों की आवश्यकता पर जितना ध्यान आकर्षित होना चाहिये उतना नहीं हो पा रहा है। साधारणतया १२ प्वाइंट के नाम से जो छपाई हो रही है वह लेड लेकर १५ प्वाइंट की होती है और उन छोटे अक्षरों की छपाई जो १० प्वाइंट के नाम से होती है लेड लेकर १२ प्वाइंट की होती है (इससे छोटे टाइपों में छपाई अमूमन नहीं होती)। यानी, हिन्दी-जगत की समस्या है कि १२ प्वाइंट से छोटे अक्षरों में छपाई दुर्लभ है, पर लोग समझते हैं १० प्वाइंट में छपाई हो रही है।

जहाँ साधारणतया अंग्रेजी में ८ प्वाइंट में छपाई हो रही है, हिन्दी में दस प्वाइंट में कोई बहुत फर्क नहीं है। आगे विकास के लिये प्रेरणा को विशेष बल नहीं मिलता।

अतएव, टाइपों का नामकरण फेस के नाप के आधार पर, यानी मात्राहीन अक्षरों का दूना, होना चाहिये और यदि वे छोटी बॉडी पर ढाले गये हों तो 'अमुक पाइंट फेस अमुक प्वाइंट बॉडी पर' कहा जाना चाहिये। यदि नामकरण का यह तरीका अपनाया जाय तो यह सुगम, सत्य के अधिक निकट तथा अधिक वैज्ञानिक भी होगा और हिन्दी में छोटे टाइपों की कितनी आवश्यकता है इसे कम करके नहीं, बल्कि अपने सत्यरूप में बराबर सबके सामने लाता रहेगा और छोटे टाइपों के निर्माण के लिये सतत प्रेरणा देता रहेगा।



'पुस्तक' किसे कहते हैं

'पुस्तक' किसे कहते हैं? आपके टेबुल पर जो टेलीफोन-डायरेक्टरी है, क्या वही पुस्तक है? अथवा पंचांग, रेलवे-टाइम-टेबुल, या बच्चों के व्याकरण को हम पुस्तक मान सकते हैं? हाँ, कानूनन तो हमें मानना ही पड़ेगा! रूस और इन्डोनेशिया के समान हमारे देश में भी ऐसी चीजें 'पुस्तक' नाम के अन्तर्गत ही शुमार की जाती हैं। 'पम्फलेट' या 'पुस्तिका' के अर्थ में, विषय और कलेवर से संक्षिप्त जिन पतली पुस्तिकाओं को समझा जाता है, हमारे देश के कानून में हजार-हजार पृष्ठों के गुरुगम्भीर ग्रन्थों से उनका कोई पार्थक्य नहीं है। किन्तु, यह पार्थक्य इंगलैंड में है। वहाँ किस चीज को पुस्तक माना जाय और किसको नहीं माना जाय, इसका निर्णय होता है उनके कांचन-मूल्य के आधार पर। कम-से-कम दो पेनी दाम होते ही वहाँ कोई भी छपी-बँधी चीज 'पुस्तक'-रूप में स्वीकृति पाने के लिए बाध्य हो जाती है। चाहे वह मासिक-पत्र हो, चाहे वह चार ही पन्ने का राजनीतिक-परिपत्र, चाहे कोई व्यापार-विषयक कैटलग! इटली और आयरलैंड का कानून ब्रिटेन के इस कानून से एकदम उल्टा है। वहाँ पुस्तकों को 'पुस्तक' माना जाता है उनका मूल्य देख कर नहीं, बल्कि पन्ने गिनकर! अगर कम-से-कम एक-सौ पृष्ठों में बँधी न हो, तो इलियट की संग्रहीत सर्वाधुनिक कविता भी वहाँ खारिज कर दी जायगी और 'पुस्तक' की मर्यादा नहीं पा सकेगी। हाँ, इस विषय में हंगरी अवश्य कुछ अधिक उदार है। वह ६४ पन्नों पर ही राजी है। और, आइसलैंड तो हंगरी से भी कम पर, अर्थात् मात्र १७ पन्नों पर ही 'पुस्तक' होने की स्वीकृति देता है।



"यथा वातः च्यावयति भूम्या रेणवन्तरिक्षाच्चाभ्रम्। एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति।"

जैसे हवा धरती से धूल और आकाश से बादल उड़ा ले जाती है। वैसे ही ज्ञान, व्यक्ति और वातावरण से, बुराइयों को उड़ा ले जावे।

—अथर्ववेद १०-१-१३

× × ×

श्री खुश्चेव बड़े विनोदी हैं। उन्होंने कहा कि लेखकों पर एक ही पाबन्दी है—वह यह कि बुरा, भोंड़ा साहित्य-सृजन न करें। और सब भूल-चूक माफ!

—'आज' २७-६, मास्को की चिट्ठी

लेखक : एक अनुभव

एक नए हिन्दी-प्रकाशक का जन्म



श्री गुरुवचन सिंह

[श्री सिंह जी हिन्दी के अतिविदित कथाकारों में हैं। हिन्दी की भगिनी मातृभाषाओं से आकर जिन्होंने हिन्दी की समर्थ सेवा की है उनमें से आप भी एक प्रमुख हैं। प्रस्तुत रूप-प्रसंग उनके कथाकार का एक मार्मिक अनुभव है। —सम्पादक]

दिन शनिवार, दो बजे का समय। दफ़्तर से छूट कर घर आ रहा था। एक फर्लांग की दूरी से घर के सामने एक सज्जन को मैंने सिर झुकाए कुछ सोचते हुए चले आते देखा। जब निकट पहुँचा तो जैसे कुछ चौंक-से गए। फिर मुस्कुराते हुए फौरन मुझसे हाथ मिलाया। कहने लगे—"मैं तो निराश वापस लौट रहा था, अच्छा हुआ आप मिल गए···"—पूछ बैठे—"क्या आपने मुझे पहचाना···?"

मैं उन्हें पहचानने की ही कोशिश कर रहा था। जिस प्रकार वे मुझे स्वयं कुछ विचित्र-से लग रहे थे, उसी प्रकार उनकी मुस्कुराहट और प्रश्न भी। मेरी इस परेशानी को हल्का करने की गरज से वे बोले—"मैं···प्रकाशन से सम्बन्धित हूँ! एक बार पहले भी आप से मिल चुका हूँ।"

मुझे भी कुछ याद आ गई—"जी हाँ!"

मैं उन्हें घर लिवा लाया। बाहर बागीचे में हम रीठे के पेड़ तले बिछी एक चारपाई पर बैठ गए।

मैंने पूछा—"कहिए, कैसे आना हुआ?"

जवाब मिला—"आपका दर्शन करने आ गया। यों तो मैं यहाँ दो दिनों से हूँ। बस आज आपके ही लिए रुक गया।"

"बड़ी कृपा है···कोई सेवा?"—मैंने पूछा।

"धन्यवाद···!"—उन्होंने कहा—"कहिये, क्या-कुछ लिख रहे हैं, आजकल?"

मैंने कहा—"कुछ-न-कुछ चलता ही रहता है!"

वे बोले—"हमें भी कुछ दीजिए···! आपको यह जानकर खुशी होगी कि हम अब हिन्दी की किताबें छापने जा रहे हैं।"

"बड़ी अच्छी बात है"—मैंने कहा—"किस किस्म की किताब चाहते हैं आप?"

"हाई स्टैन्डर्ड की"—वे कुछ गंभीर होकर बोले—"मैं मामूली किसम की घटिया किताबें नहीं छापता।"

मैंने पूछा—"आप किन-किन लेखकों की पुस्तकें छाप चुके हैं···?"

उन्होंने कुछ नाम गिनाए। दुर्भाग्यवश वे नाम मेरे लिए अपरिचित-से थे। मैं यों ही पूछ बैठा—"कहिए, आपने उर्दू-लेखक कृशनचन्दर की भी कोई पुस्तक छाप कर अपने आपको कृतार्थ किया है?"

वे झट बोले—"नहीं जी, मैं किसी ऐसे लेखक की किताब नहीं छापता जो रायल्टी पर पुस्तकें देते हैं। अपना तो हिसाब है, रुपया दो और पांडुलिपि लो···!"—फिर वे मुझसे पूछ बैठे—"आपने अपनी पहली किताबें रायल्टी पर दी हैं याकि प्रकाशक का कापी-राइट है उनपर···?"

मैंने कहा—"उनका मुआमला बीच में लटक रहा है।"—और मैंने प्रश्न किया—"आप कापी-राइट के कितने देते हैं···?"

जवाब मिला—"हम गरीब हैं, ज्यादा तो नहीं देते, लेकिन फिर भी लेखक लेखक में अन्तर होता है। इसलिए रचना देखकर कुछ इधर-उधर करना ही पड़ता है।"

"तब आपका मेरे बारे में क्या ख्याल है···?"—मैंने दूसरा प्रश्न किया।

वे बोले—"अजी, हम आपकी किताब छापने को तैयार हैं। बहुत खूबसूरत तरीके से किताब छापेंगे। और, इतना विश्वास दिला देते हैं कि हम आपकी किताब हिन्दुस्तान के हर कोने में पहुँचा देंगे!"—उन्होंने एक सिगरेट सुलगाया और इत्मीनान से लम्बे-लम्बे कश खींचने लगे। मेरे असल सवाल का जवाब वे हड़प गये थे। इसके पहले कि मैं उनसे कुछ और पूछता, वे बिहार और यू॰ पी॰ के प्रकाशकों को कोसते हुए फरमाने लगे—"अगर सरकार लाइब्रेरियों के लिए इनकी पुस्तकें मंजूर न करे और स्वयं किताबें न खरीदे, तो

इनका दिवाला बोल जाय···! ये क्या जानें किताबें कैसे बेची जाती हैं?"

मैंने कहा—"महोदय, लेखक केवल यह ही नहीं चाहता है कि पुस्तक बहुत खूबसूरत छपे। वह यह भी चाहता है कि प्रकाशक ईमानदारी से उसके पैसे चुकाता करें।"

कहने लगे—"इसीलिए तो हमने अपने यहाँ रायल्टी-बेसिस रखा ही नहीं। हम पांडुलिपि लेते समय किसी से लिखा-पढ़ी भी नहीं करते!"

मैंने कहा—"पर, मैं तो लिखा-पढ़ी किये बिना अपनी पांडुलिपि देता ही नहीं!"

सिगरेट का लम्बा-सा कश खींचते हुए वे बोले—"भाई, मैं तो आपको अपना आदमी समझता हूँ और आप मुझसे सचमुच लेखकों-जैसी बातें कर रहे हैं? आपके लिए हमें सब-कुछ मंजूर है···पर किताब अढ़ाई-तीन-सौ पृष्ठों से कम की न हो··· और हो भी शुरू से लेकर आखिर तक एक ही कहानी!"

मैंने कहा—"लोग तो आजकल 'नावेलेट' छापना अधिक पसंद करते हैं। एक नहीं तो दो नावेलेट, एक पुस्तक-आकार में!"

"नावेलेट क्या होता है···?"—आश्चर्यजनक दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए वे पूछ बैठे।

मैंने कहा—"छोटे आकार का नावेल···!"

"नहीं-नहीं, हमें छोटा नहीं···मोटा नावेल चाहिए··· बेशक आप इसे एक महीने में मन लगा कर लिखिये! लेकिन होवे स्टैन्डर्ड का!"

मैंने मजबूरी जाहिर करते हुए कहा—"भाई, मैं एक महीने में मामूली नावेल भी नहीं लिख सकता। 'स्टैन्डर्ड' की बात तो दूर की है!"

उन्होंने फरमाया—"अजी, हमने तो हफ्ते भर में एक 'उपन्नास' लिखवाया है···आप महीने में नहीं लिख सकते..? खैर, एक नहीं दो महीने में लिखिये, तीन महीने में लिखिये, लेकिन हमारे लिए लिखिये जरूर···!"

मैंने कहा—"मैं आपको अपने हिन्दी उपन्यास का उर्दू अनुवाद दे सकता हूँ···।"

सिगरेट का जला हुआ टुकड़ा एक ओर फेंकते हुए वे बोले—"नहीं जी हम तो आपकी कोई ऐसी पुस्तक लेंगे जिसे हम उर्दू और हिन्दी दोनों में छाप सकें!"

हँसकर मैंने कहा—"तो क्या आपने हिन्दी का प्रकाशक बनने का निश्चय कर ही लिया है?"

दीनभाव से वे बोले—"तो इसके बिना गुजारा ही कहाँ है जी···!"

मैं चुप हो गया।

इत्तिफाक की बात थी, उसदिन मैं सर्वभाषा-कविसम्मेलन (जो दिनकरजी के सभापतित्व में हिन्दी-कविसम्मेलन के रूप में भी सफल न हो सका) के सिलसिले में अपनी एक छोटी-सी जिम्मेवारी निभाने के फेर में सवेरे स्नान नहीं कर सका था और इसी प्रकार सिर्फ नाश्ता ही करके दफ्तर चला गया था। विचार था कि दो बजे नहा-धोकर भोजन करूँगा। लेकिन इधर साढ़े तीन बज चुके थे। नल बंद होने को था। अब उनसे छुट्टी मिले तो कैसे··?

इसी बीच वे एक सबसे अहम और ठोस प्रश्न कर बैठे—"हाँ तो, जी; आप किस विषय पर 'उपन्नास' लिखते हैं? मैंने आजतक आपकी कोई रचना नहीं पढ़ी··!"

करारा तमाचा था। लेकिन सह गया। मैंने कुछ प्रतिष्ठित लेखकों के नाम गिना कर उनसे पूछा—"क्या आपने इनकी रचनाओं का कभी रस लिया है?"

वे बोले—"जी, मैं नावल-वावल बिलकुल नहीं पढ़ता। अभी तक अपनी पैंतीस साल की जिन्दगी में मैंने केवल दस 'उपन्नास' पढ़े हैं।"

मैंने पूछा—"तब क्या पढ़ते हैं?"

कुछ गर्वमिश्रित शब्दों में वे बोले—"मैं धार्मिक किताबें पढ़ा करता हूँ।"

मैंने कहा—"ठीक है, तभी आपने मुझसे ऐसा प्रश्न किया। खैर, मैं जल्दी ही संसार भर के सारे धर्मों पर एक पुस्तक लिखूँगा और उसमें अकबर-आज़म के दीने-इलाही की विशेष रूप से चर्चा करूँगा, और वही पुस्तक आपको छापने को दूँगा!"

वे खिसियाने-से मेरे मुँह की ओर देखने लगे। फिर उन्होंने मुझसे और कुछ नहीं पूछा।

कुछ देर बाद जब वे बिदा हुए, मैंने इत्मीनान की साँस लेते हुए घर में प्रवेश किया। पता चला, नल बंद हो चुका है। टेबुल पर ताजी डाक पड़ी थी। उसमें कुछ ऐसे बड़े प्रकाशकों द्वारा भेजे गये पत्र भी थे, जिन्होंने अभी मेरी कोई नई रचना प्रकाशित कर सकने में असमर्थता प्रकट की थी। और, मैं कुछ अजीब-सी परेशानी महसूस कर रहा था।



अख्यात पाठक



श्री सरोज आचार्य

जिन्होंने शेक्सपीयर को तो पढ़ा नहीं और बाकी चलन्तू कहानियों के ढेर पढ़ गये हैं, ऐसे लोग दुनिया में कम नहीं हैं। 'थार्वार' के व्यंग्य-गल्पों के विषय में एक व्यस्त-वागीश महिला चलन्तू कहानियों की पुस्तक खरीदने गईं और भूल से आधुनिक ढंग के विचित्र प्रच्छदपट से मढ़ा हुआ एक 'मैकबेथ' खरीद लाईं। यद्यपि उनसे भूल हुई थी, किन्तु कोई नुकसान नहीं हुआ और एक साँस में सारी पुस्तक समाप्त कर, उन पाठिका ने अपना सिद्धान्त बनाया कि दस्तूर के मुताबिक 'डंकन' का खून पहले नंबर का रहस्य है; खूनी कोई भी हो सकता है—मैकबेथ, लेडी मैकबेथ, बैंकों, यहाँ तक कि डंकन का भागा हुआ पुत्र भी। शेक्सपीयर ने इस सुकौशल से घटनाओं का विन्यास किया है कि हत्या-रहस्य अन्त तक एक विराट धन्धा बनकर रह गया है। जिन महिला महोदया ने मैकबेथ की इस ट्रेजेडी को पहले नंबर की रहस्य-रोमांचपूर्ण चौंका देनेवाली चीज माना, वे अपने समाज में अकेली नहीं हैं। मैकबेथ के संबंध में ऐसी रंगीन भावना थोड़ी-बहुत सब में ही है। हम सभी अपनी-अपनी झोंक के अनुसार, जिस प्रकार की पुस्तकें पढ़ते हैं, उसी प्रकार उनका अपना-अपना तात्पर्य भी निकाल लेते हैं। अर्थात्, जो बात मैं कहने जा रहा हूँ वह है—साहित्य में 'पपूलरिटी' या जनप्रियता का हेर-फेर होता रहता है। कालिदास, शेक्सपीयर या रवीन्द्रनाथ का 'प्रेस्टीज व्हैल्यू' या मान-मर्यादा, काल के दरबार में विपुल है; किन्तु चलते बाजार-दर में तुलना के लिहाज से उसे बहुत कम ही माना जायगा। लोग कालिदास, रवीन्द्र या दूसरे बड़े कवियों के गानों को केवल उनकी सांस्कृतिक मान-रक्षा के लिए ही कुछ-कुछ सुन लिया करते हैं या सुनने को बाध्य हुआ करते हैं। किन्तु, इन महाकवियों में से यदि किसी का उपन्यास मिलता है, तो वे अवश्य पढ़ते हैं। इनके प्रबन्धों को निश्चय ही कोई नहीं पढ़ता। और, ऐसे पाठकों की संख्या कोई कम नहीं है। रिचार्ड होगार्ड ने कुछ घुमाकर ऐसे पाठकों की व्याख्या अपनी पुस्तक "साक्षरता का व्यवहार" में की है।

पाठक सिर्फ 'साक्षर' हैं, इस बात को कहने का कोई अर्थ नहीं। जो पाठक साधारण चलन्तू कहानियों के अनुरागी हैं; चित्रतारकों के चलन्तू जीवन-नाट्यों को लेकर कल्पना-विहार के उत्साही उन पाठकों के समक्ष बंकिम, रवीन्द्र, प्रेमचन्द प्रभृति का चालू बाजार-दर कम भी हो सकता है। होगार्ड ने कहा कि फिर भी संस्कृति के बाजार में 'प्रेस्टीज' का कुछ मूल्य रह ही जाता है। क्लासिकल संगीत के शुद्ध समझदार शायद अधिक नहीं हैं, फिर भी क्लासिकल संगीत की 'प्रेस्टीज' के आगे उनका स्तब्ध होना ही संस्कृति-संगत है। सभी सिगरेट सिगरेट ही हैं, फिर भी फैशनेबिल लोगों में कुछ गिने-चुने ब्रान्डों की 'प्रेस्टीज' अधिक है। गुण का (और दाम का भी) फर्क अवश्य होता है, किन्तु प्रेस्टीज का दाम और किसी सिगरेट का ऊँचा मूल्य—दोनों एक सूत्र में बँधे हुए हैं।

साहित्य-जगत में प्रेस्टीज और पपुलरिटी का नियम-कानून अलग अवश्य है। किन्हीं-किन्हीं मनीषियों का कहना है कि आजकल ज्ञानात्मक साहित्य से रसात्मक साहित्य का चलन और बाजार-दर बहुत अधिक है। किन्तु, यह अच्छी बात नहीं हुई। रवीन्द्रनाथ ने भी साहित्य में रस के आधिक्य को प्रबल माना है। वह रस भी साक्षर पाठक-गोष्ठी की रुचि के संग मिलकर और अधिक तरल हो जाता है। इस स्थिति से बचने का कोई चारा अबतक हमारी समझ में नहीं आया है। यद्यपि पृथिवी का तीन भाग जल है और एक भाग ही स्थल है, फिर भी मनुष्य स्वभावतः उभयचर नहीं हो सका और स्थलचर ही रह गया। किन्तु, साहित्य-जगत का नियम कुछ दूसरा ही है, केवल इस देश में ही नहीं, दूसरे देशों में भी। पिछले युग की बातें याद करने से आज कोई लाभ नहीं होगा। साक्षरता का अभियान आज जितना ही अधिक आगे बढ़ रहा है, उतना ही अज्ञात-अख्यात पाठक-गोष्ठी का दायरा भी बढ़ रहा है। यहाँ 'अज्ञात' और 'अख्यात' विशेषणों को निन्दाच्छल के नाते व्यवहृत नहीं किया जा रहा है। जो पाठक-गोष्ठी नीरस, विरस, गूढ़-गद्याश्रयी जीवन की बँधी हुई सीमा से

सामयिक मुक्ति पाने के लिए कल्पना की आवेगोच्छल मादकता में मन लगाना चाहती है, उसके लिए रसात्मक गल्प और उपन्यास, चित्रधर्मी कहानी और रहस्य-रोमांच की आवश्यकता है। नवसाक्षर पाठकों की गोष्ठी में पपुलरिटी के लिए, जो रस तरल और गरल दोनों ही हो, उसी का अभियान उचित है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ऐसी अतिरसात्मक प्रवणता एकदम सृष्टिहीन नहीं है। दूसरे भाषा-साहित्य और अँगरेजी में, पपुलरिटी की इस मंजिल को तय करनेवाले साहित्यों की ओर भी कमी नहीं है। साहित्य के ऊपर नव-साक्षरों के आकर्षण को पाने का प्रयास हमारे देश में सभी ओर शुरू है। हमारे ग्रन्थमय साहित्यिक पत्रों में साहित्य की जैसी चर्चा होती है, उसको कौतूहल के साथ देखने-सुनने के बावजूद हमारे बीच की ही अनतिच्छन्न अज्ञात-अख्यात पाठक-गोष्ठी दूसरे पत्रों में रसात्मक आग्रह के साथ अपनी तृप्ति पा रही है। लगभग एक सौ वर्ष पहले 'विल्की कलिन्स' ने अपने अंगरेजी साहित्य के इन अज्ञात और अख्यात पाठकों का नाम दिया था— 'दि अननोन पब्लिक'। ये जो भी हों, इनके लिए ही सस्ते 'पेनी-मैगजीन' आजतक वहाँ अच्छे चल रहे हैं। 'डिकेन्स' की ख्याति हमारी अजानी नहीं है। डिकेन्स ही नहीं, बल्कि मध्य-विक्टोरीय युग में जो अंगरेज कथा-शिल्पी बाजार-दर के हिसाब से सर्वाधिक 'पपुलर' थे, वे और कोई नहीं, 'रेनाल्ड्स' ही थे। इनकी 'लन्दन रहस्य' आदि कहानियों के विषय में हम भारतवासियों की धारणा बहुत ऊँची तो है ही नहीं। फिर भी, उस युग में रेनाल्ड्स सचमुच ही अपने यहाँ साहित्य-सम्राट बने हुए थे। उसका कारण रेनाल्ड्सीय गल्पों का आदिरसाश्रित झोंक भर ही नहीं है, बल्कि वे गल्प वहाँ के अज्ञात-अख्यात नवसाक्षर गरीब मजदूरों के प्रथम गोग्रास बने हुए थे और उच्चवित्त तथा अभिजात-वर्गों के घोर कालिमा-रंजित समाज-चरित्रों को उद्घाटित करने के कारण, उन्हें विपरीत-यौन जैसा आकर्षणात्मक आनन्द देते थे।

रेनाल्ड्स की साहित्यिक ख्याति आज के साहित्य-सागर में बुद्बुद् के समान विलीन हो चुकी है। किन्तु, उससे क्या आता-जाता है? अज्ञात और अख्यात पाठकों की गोष्ठी तो सभी देशों में अमर है, जिनके लिए 'पपुलर' रसात्मक रचनाओं

की सृष्टि और उन सृष्टियों का बाजार-दर अब भी बढ़ा-चढ़ा है। तीन वर्ष पहले के वर्ष में, ब्रिटेन में लगभग २५०० नए उपन्यास प्रकाशित हुए थे, जिनमें से कुछ साहित्यिक जोरवाले केवल ५०० के लगभग उपन्यासों की चर्चा विगत तीन वर्षों में साहित्य-समालोचकों ने की। बाकी दो हजार अख्यात उपन्यासों का उपभोग तो अज्ञात-अख्यात पाठक-गोष्ठी ने ही किया। हमारे देश के हिसाब में भी, इसके विरुद्ध कोई व्यतिक्रम हुआ होगा, हमें ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। अतएव, कौन साहित्य 'जनप्रिय' है, इसका निर्णय तो नव-साक्षर अज्ञात-अख्यात पाठकों की गोष्ठी ही करेगी। इस व्यावहारिक तात्पर्य के संबंध में एक अंगरेज समालोचक की यह सूक्ति प्रातःस्मरणीय है :—

"समस्त जनप्रिय साहित्य, कहने के लिए, एक अर्थ में सस्ते कहे जाते हैं। और, साधारणतः ऐसा कहने का यही प्रमुख अंशार्थ है कि उस साहित्य ने अपने पाठकों को हद-से-हद तक उद्दीप्त किया है।"



बिहार की हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ



श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

शायद ही, इस बात से किसी का ऐकमत्य न होगा कि पत्र-पत्रिकाएँ, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर पर उन्नीत जन-रुचि का प्रत्यक्ष प्रतीक हैं। अतएव, जिस देश में जितनी अधिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, वह देश उतना ही अधिक विकसित होता है, ऐसा माना जाता है। बड़े-बड़े ग्रन्थों को हम बहुमूल्य औषधि मान सकते हैं, किन्तु पत्र-पत्रिकाएँ तो दवा की सुई-जैसी असरदार होती हैं। कहना न होगा कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़कर जो ज्ञान अर्जित कर सकना सम्भव नहीं, वही ज्ञान पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर अल्पधी लोग भी सुखात् अर्जित कर लेते हैं। इसलिए, ज्ञान की व्यापकता की दृष्टि से, पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन अपना एक अलग अस्तित्व रखता है, और यही कारण है कि उनमें पाठकों और लेखकों के लिए भी एक आकर्षण-वैशिष्ट्य निहित रहता है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का जहाँ तक प्रश्न है, ये अब पश्चात्पद नहीं कही जा सकतीं। सम्प्रति, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का बहुशः विकास-वैविध्य हुआ है। भविष्य तो और भी भास्वर है। दिल्ली, राजस्थान, प्रयाग, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद आदि क्षेत्र हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के लिए बड़े ही उर्वर प्रमाणित हुए हैं। ठीक इसके विपरीत बिहार की भूमि मृत-वत्सा कही जायगी। अच्छी-से-अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ यहाँ अवश्य प्रकट होती रहीं, किन्तु सहसा अकाल-काल-कवलित होती गईं। 'हिमालय', 'पारिजात', 'राका', 'पाटल', 'अवन्तिका', 'प्रभाती', 'पंचशील सन्देश', 'राष्ट्रवाणी', 'नवीन भारत' आदि उक्त चर्चा के उदाहरण हैं। असलियत यह है कि बिहार में, खासकर उसकी राजधानी पटने में जितनी पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं या निकलती हैं, सब में अनतिदुर्लभ अहमहमिका की भावना बद्धमूल रहती है, आभ्युदयिक स्पर्धा नहीं। यही कारण है कि यहाँ की प्रकाशित, प्रकाशमान या प्रकाश्यमान हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की पृष्ठभूमि आर्थिक दृष्टि से बड़ी ही अबल होती है। फल यह होता है कि जन्म लेते ही जन्मदाता को सदा के लिए कलपा जाती हैं। यदि पत्र-पत्रिकाओं के जन्मदाता गतानुगतिक-भाव से जन्म देने के बजाय अपनी अर्थ-सत्ता तथा पोषण-क्षमता को ध्यान में रखकर जन्म दें, तो बिहार की भूमि का, पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से, मृत-वत्सा कहलाने का कलंक सदा के लिए छूट जाय।

यों तो, बिहार में पत्र-पत्रिकाओं का अतीत, कहा जाता है कि पर्याप्त स्वर्णिम रहा है। यहाँ उसका संक्षिप्त सिंहावलोकन-मात्र प्रस्तुत है।

सन् १८७२ ई० में पण्डित केशवराम भट्ट तथा पण्डित मदनमोहन भट्ट के सत्प्रयास से 'बिहार-बन्धु' नामक साप्ताहिक पत्र बिहार शरीफ से निकला। यही बिहार का पहला हिन्दी-पत्र था। पहले-पहल मुंशी हसन अली इसके सम्पादक हुए। उसके बाद मुद्रणालय जब बिहार शरीफ से पटना चला आया, तब स्वयं पण्डित केशवराम भट्ट इसका सम्पादन करने लगे। इसमें अधिकांश लेख भट्टजी के ही रहते थे, जो विभिन्न छद्मनामों से छपते थे। भट्टजी के बाद 'बिहार-बन्धु' का सम्पादन-सूत्र पण्डित दामोदर शास्त्री सप्रे के हाथ में आया। इस प्रकार, यह साप्ताहिक निरन्तर ३४ वर्षों तक निरन्तराय होकर चलता रहा। सन् १६०५ ई० में इसके अध्यक्ष और संचालक पंण्डित लक्ष्मीनाथ भट्ट की मृत्यु हो जाने से इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

उन्हीं दिनों मुंशी हसन अली (अनुमानतः उक्त 'बिहार-बन्धु' के सम्पादक) ने 'मोतीचूर' नामक मासिक पत्र निकाला था। पटना नार्मल हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रायसाहब सोहनलाल भी उसी समय 'हिन्दी-गजट' का सम्पादन करते थे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन दिनों हाई स्कूलों के शिक्षकों में पत्र-पत्रिका प्रकाशित करने की बड़ी सहज अभिरुचि रहती थी, वह अभिरुचि आज भी यत्र-तत्र धूमावृत-सी दिखाई पड़ती है।

सन् १८८० ई० में पटना कालेजियेट-स्कूल के शिक्षक पंडित बदरीनाथ के सम्पादकत्व में 'विद्याविनोद' नाम का मासिक-पत्र प्रकाशित हुआ। दो वर्षों के बाद इसका बाल्य-वेला में ही अवसान हो गया। सन् १८८३ ई० में खड्ग-विलास प्रेस (बाँकीपुर) से 'भाषा-प्रकाश' और सन् १८८० ई० में 'द्विज-पत्रिका' निकली। ये दोनों मासिक थे। इसी समय बाँकीपुर से एक दैनिक पत्र 'सर्वहितैषी' बाबू महावीर

प्रसाद के सम्पादकत्व में निकलकर स्वल्प काल में शेष हो गया। स्मरणीय है कि यही इस प्रान्त का सबसे पहला हिन्दी-दैनिक था। कदाचित्, हिन्दी-संसार में कालाकाँकर-नरेश के 'हिन्दोस्थान' के बाद यही दूसरा दैनिक था।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'बोधोदय प्रेस' जब बहुविश्रुत 'खड्गविलास प्रेस' के रूप में परिणत हुआ, तब उसके एक साल बाद वहीं से 'क्षत्रिय-पत्रिका' निकली थी। पत्र-पत्रिकाओं के पोषकत्व की दृष्टि से खड्गविलास प्रेस और उसके स्वत्वाधिकारी महाराज-कुमार बाबू रामदीन सिंह के नाम चिरप्रभ रहेंगे।

स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में बिहार में पत्र-पत्रिकाओं की पर्याप्त प्रवाहशील चहल-पहल रही। सन् १८६७ ई० में, पटना के बी० एन्० कॉलेज के 'पटना-कवि-समाज' द्वारा आरा-निवासी बाबू व्रजनन्दन सहाय (अब स्वर्गीय) के सम्पादकत्व में 'समस्या-पूर्त्ति' नामक मुख-पत्रिका निकाली गई। किन्तु, इतनी पत्र-पत्रिकाओं के रहते हुए भी शिक्षित-समाज को साहित्यिक परितोष नहीं प्राप्त होता था, इसलिए खड्गविलास प्रेस से ही 'शिक्षा' मासिक आविर्भूत हुई, जो बाद में साप्ताहिक होकर अन्त में फिर मासिक हो गई। 'शिक्षा' चालीस वर्षों तक जन-जन को शिक्षित करती रही और सन् १६३५-३६ ई० के लगभग समाधिस्थ हुई। दीर्घजीवी हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में 'शिक्षा' ने चिरस्मरणीय यश अर्जित किया है, निस्संदेह। 'शिक्षा' के सम्पादकों में म०म० पं० सकलनारायण शर्मा, बाबू व्रजनन्दन सहाय, थिकेट साहब, पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा, पं० दुर्गा प्रसाद त्रिपाठी, पं० पारसनाथ त्रिपाठी और प्रो० अक्षयवट मिश्र के नाम गराय हैं, किन्तु, सबमें पं० सकलनारायण शर्मा जी का नाम अग्रगराय है।

पटने के पुराने पत्रों में 'खत्री-हितैषी', 'भारत-रत्न', पं० विजयानन्द त्रिपाठी द्वारा सम्पादित सचित्र मासिक 'उद्योग' तथा पं० कृष्णचैतन्य गोस्वामी द्वारा संपादित 'चैतन्य-चन्द्रिका' एवं बाबू गोकुलानन्द प्रसाद वर्मा द्वारा सम्पादित दैनिक 'बिहारी' के नाम उल्लेखनीयता प्राप्त कर चुके हैं। पटने के लब्धप्रतिष्ठ हिन्दीसेवी बैरिष्टर तथा पुरातत्त्वज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल के सम्पादकत्व में, सन १६१४ ई० के मध्य में, प्रकाशित साप्ताहिक 'पाटलिपुत्र' अपने समय का प्रतिनिधि-पत्र माना गया।

देशरत्न (अब राष्ट्रपति) बाबू राजेन्द्र प्रसाद के सम्पादकत्व में, सन् १६१६ ई० में, पटने से राष्ट्रीय साप्ताहिक 'देश' निकला। 'देश' की हिन्दी-संसार में यत्परानास्ति प्रतिष्ठा हुई। 'बिहारी' के बन्द हो जाने से जो सूनापन पत्र-जगत् में आ गया था, उसे 'देश' ने भर दिया। पीछे क्रमशः आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित और पं० पारसनाथ त्रिपाठी इसके सम्पादक हुए। इन लोगों के सम्पादन-काल में 'देश' ने इन लोगों के साहित्यिक सत्परिश्रम को प्रच्छन्न नहीं रहने दिया। सम्पादन को सही दिशा का संकेत भी मिला।

राष्ट्रीय 'देश' के बाद ही महात्मा गाँधी के 'यंग इण्डिया' का हिन्दी रूपान्तरस्वरूप 'तरुण-भारत' पटने से निकला था, जिसके सम्पादक स्वनामधन्य पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित जी ही थे, और उनके सहकारी थे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, जो आज की हिन्दी-संसृति के स्रष्टाओं में पांक्तेयता प्राप्त कर चुके हैं। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादकत्व में ही सचित्र मासिक 'युवक' सन् १६२८ ई० में, नई सजधज, नई रोशनी, नई चिन्तनधारा और नई उत्क्रान्ति लेकर आया और पर्याप्त लोक-ख्याति प्राप्त की। परन्तु, इस 'युवक' की उत्तेजकता तत्कालीन अँगरेजी-सरकार सह न सकी और उसने अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। 'युवक' भी हनुमानजी की भाँति ब्रह्मास्त्र की महिमा के मिट जाने की अमर्यादा को खयाल कर, उसके भीतर अवरुद्ध हो गया। कहना न होगा कि 'युवक' के समान कोई भी पत्र बिहार में 'न भूतो न भविष्यति'।

'युवक' के पूर्व ही, सन् १६२६-२७ ई० में 'महावीर' श्री जगतनारायण लाल (वर्त्तमान विधि-मंत्री) के सम्पादकत्व में निकलकर सन् १६३१-३२ ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन के समय बन्द हो चुका था। इस शती के चौथे दशक में पटने में कई अच्छे पत्रों ने जन्म लिया, जिनसे हिन्दी-क्षेत्र में एक नई हरियाली लहराने लगी। ऐसे पत्रों में सबसे पहले 'योगी' साप्ताहिक का नाम उच्चार्य है। 'योगी' सन १६३३ ई० में, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। श्री बेनीपुरी के बाद इसका सम्पादन-भार निष्पक्ष-निर्भीक हिन्दीसेवी श्री व्रजशंकर वर्मा जी ने उठाया और आजतक यह 'योगी' श्री वर्मा जी के बाहुबल पर क्रमिक सिद्धि-प्राप्ति के साथ अलख जगाता चला आ रहा है।

सन् १९३४ ई० में कर्मठ एवं प्रभविष्णु साहित्यसेवी श्री देवव्रत शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित साप्ताहिक 'नवशक्ति' अपनी स्तुत्य सेवाओं द्वारा राष्ट्र को संवर्द्धित करने में सर्वाग्रगण्य है। परन्तु आज उसकी साँस उखड़ी-उखड़ी-सी चल रही है।

पटने के पुराने पत्रों में, प्रसिद्ध पुस्तक-व्यवसायी बर्मन-कंपनी द्वारा श्री ललितकुमार सिंह 'नटवर' के सम्पादकत्व में, सन् १९३५ ई० में, प्रकाशित 'आलोक' नामक सिनेमा-साप्ताहिक भी अपने समय में पर्याप्त लोकप्रिय रहा। उसके बाद ही सन् १९३६-३७ ई० में श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' के सम्पादकत्व में साप्ताहिक 'बिजली' बिजली बनकर निकली। यह अपने ढंग की निराली साबित हुई।

'बिजली' के विलीन होने पर बिहार-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का सुप्रतिष्ठित मुख-पत्र त्रैमासिक 'साहित्य' सत्साहित्य के निःशुल्क प्रचार का बाना पहनकर आया। इसके सम्पादक हिन्दी के वे साधक हुए, जिनके बल पर हिन्दी आज राष्ट्रभाषा के योग्य हुई। प्रथम संस्करण के सम्पादकों में श्री लक्ष्मी-नारायण 'सुधांशु', श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', आचार्य बदरीनाथ वर्मा और पं० छविनाथ पाण्डेय के पावन नाम हैं। वाणिज्येतर-पद्धति पर चलने के कारण 'साहित्य' को बीच में कुछ काल के लिए विश्रान्ति लेनी पड़ी सही, परन्तु सत्साहित्य और उच्चतर शोध-समीक्षा-प्रधान साहित्य के प्रचार की पीड़ा ने उसे अधिक करवट नहीं लेने दिया, गहरी नींद की बात तो दूर की रही। फलतः, 'साहित्य' त्रैमासिक का द्वितीय संस्करण सन् १९५० ई० में, आचार्य शिवपूजन सहाय एवं प्रो० नलिन विलोचन शर्मा के सम्पादकत्व में पुनः संवर्द्धित हो उठा। और, आज उसकी समृद्ध साहित्य-साधकों को पर्याप्त सुख, निःशुल्क भाव से, पहुँचा रही है।

इसके बाद, सन् १९३८ ई० में प्रकाशित 'जनता' साप्ताहिक पत्र भी पर्याप्त चर्चा का विषय रहा। समाजवादी विचार की इस प्रगतिशील पत्रिका ने दलितों के दमन के विरुद्ध उच्चैः-स्वर होने में पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त की। इसके भी सम्पादक हुए थे, हिन्दी के बहुमुखी साहित्य-सर्जक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी।

पटने के अस्तङ्गत पत्रों में 'हिमालय' का साहित्यैतिहासिक महत्व है। आ० शिवपूजन सहाय और श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्पादकत्व में प्रकाशित होनेवाले इस 'हिमालय' ने हिन्दी और हिन्दी-हितैषियों के हित लिए निरन्तर सेवा-तत्परता में अपनी छोटी-सी आयु को निःशेष किया। ग्रन्थमाला-कार्यालय से प्रकाशित 'पारिजात' भी अस्तङ्गत पत्रों में पर्याप्त प्रतिष्ठित हुआ।

बिहार की हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में, आरा (शाहाबाद) की नागरी-प्रचारिणी-सभा की त्रैमासिक 'नागरी-हितैषिणी पत्रिका' बीसवीं शती के प्रथम प्रहर में ही प्रकाशित हुई थी। आरा का दूसरा सचित्र मासिक चिरस्मरणीय हिन्दी-हित-चिन्तक पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा के सम्पादकत्व में निकला—'मनोरंजन'। शुद्ध साहित्यिक एवं सामयिक सम्पादन-शैली इस मासिक का वैशिष्ट्य था। यह पर्याप्त लोकानुरंजक हुआ। आचार्य शिवपूजन सहाय जी के सम्पादकत्व में आरा से ही प्रकाशित होनेवाला सचित्र मासिक 'मारवाड़ी-सुधार' भी अक्षय कीर्ति लाभ कर दिव्यभावापन्न हुआ।

गया की सबसे पहली मासिक पत्रिका 'लक्ष्मी उपदेश-लहरी' अच्छे पत्रों में गण्य है। औरंगाबाद के रायसाहब लक्ष्मीनारायण लाल इसके जन्मदाता थे। कुछ वर्ष बाद इसी का परिवर्त्तित नाम 'लक्ष्मी' हो गया। 'लक्ष्मी' के बाद राय-साहब ने 'गृहस्थ' नामक कृषि-साप्ताहिक भी निकाला था।

बिहार प्रान्त का भागलपुर जिला भी पत्र-पत्रिकाओं की उपज की दृष्टि से काफ़ी उर्वर कहा जायगा। भागलपुर जिले को ही 'गंगा' के समान उच्चकोटि की साहित्यक मासिक पत्रिका को जन्म देने का श्रेय है। इसके सम्पादकों में पं रामगोविन्द त्रिवेदी, आ० शिवपूजन सहाय, पं० गौरी नाथ झा और 'मग' साहित्याचार्य के नाम अ-क्षर हैं।

दो अन्य सुन्दर मासिक-पत्र भी उल्लेख्य हैं—प्रथम 'बीसवीं सदी', जिसके सम्पादक हुए श्री तारकेश्वर प्रसाद, श्री सत्येन्द्र अग्रवाल और डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश'। इसी क्रम में पं० जनार्दन मिश्र 'परमेश' का 'सुप्रभात' भी उल्लेख्य है।

इसी प्रकार, मुंगेर का 'प्रभाकर' और 'अरुणोदय' (दोनों साप्ताहिक), मुजफ्फरपुर का पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'नवयुवक', छपरे का प्रसिद्ध साप्ताहिक 'नारद', चम्पारन की 'चम्पारन-चन्द्रिका' तथा श्री रामधारी प्रसाद विशारद (अब स्वर्गीय) के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'किसान-सेवक', दरभंगे का 'मिथिला मिहिर' (मैथिली), पूर्णिया का 'पूर्णिया-समाचार' और 'राष्ट्र-संदेश' तथा राँची

का 'निष्कलङ्क' आदि बिहार की हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में सामान्यतः चर्चा के अधिकारी माने जाते हैं।

अधुना, बिहार की जो हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ जीवित हैं, सही मानी में, उनमें निम्नलिखित उल्लेख्य माने जायेंगे—

दैनिक : 'आर्यावर्त्त,' 'प्रदीप','नवराष्ट्र' तथा 'विश्वमित्र'। साप्ताहिक : 'योगी', 'उत्तर बिहार', 'आदिवासी', 'प्रकाश' और 'युगान्तर'। मासिक : 'ज्योत्स्ना', 'नई धारा,' 'किशोर', 'बालक', 'समाज-कल्याण', 'पुस्तकालय', 'पुस्तक-जगत', 'संतवाणी', 'बिहार-समाचार', 'जन-जीवन', 'गाँव' और 'ग्रामसेवक'। 'नन्हे-मुन्ने' और 'मुन्ना-मुन्नी' की निरामयता का अभाव जन्मतः देखा जा रहा है। द्वैमासिक 'कविता' और त्रैमासिक 'दृष्टिकोण' के भी यदाकदा दर्शन होने से उसकी अनामयता पर आशंका होने लगती है। इसके अतिरिक्त अनेक साप्ताहिक और मासिक तो सर्वथा जयग्रस्त हो रहे हैं। अतएव, 'त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः' उनकी काया इस धराधाम से उठ जानेवाली है, ऐसा लगता है। कुल मिलाकर, बिहार की प्रायशः सभी हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की हालत असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। जैसा इन पंक्तियों का लेखक पहले निवेदन कर चुका है, बिहार की भूमि पत्र-पत्रिकाओं के लिए मृतवत्सा है, इसलिए मन में डर बना रहता है। ईश्वर करे, बिहार का यह अनिष्ट शीघ्र निवारित हो!



उधार लिए हुए विचार उधार लिए हुए पैसे की तरह सिर्फ उधार लेनेवाले की निर्धनता के परिचायक हैं।

—लेडी ब्लैसिंग्टन

भारत भारती

'ढाकाई बंगला'



श्री अमिताभ चौधरी

"हमारे आधुनिक कवि-साहित्यिकगण पश्चिम-बंग की भाषा का अनुकरण करने के लिए लालायित हैं। इस अन्ध-आवेग को समाप्त करना होगा। गंगा-तीर से हमें पदमा-कर्णफूली के तट की ओर मुख फिराना होगा।"

उपर्युक्त कथन मेरा नहीं, पूर्व-पाक के साहित्यिक महापुरुषों का है। इस एक उक्ति से ही अन्दाज किया जा सकता है कि पूर्व-पाकिस्तान की चिन्ता-धारा किस गर्त की ओर बही जा रही है। पाकिस्तान के गुणी-ज्ञानी इन दिनों कह रहे हैं कि देश का विभाजन केवल राजनीतिक ही नहीं, साहित्यिक भी है। पश्चिम-बंग और पूर्व-बंग का साहित्य, भाषा और संस्कृति एक नहीं है—इस बात की उच्च-घोषणा के लिए वे कमर बाँध कर तैयार हो चुके हैं। कुछ गिने-चुने व्यक्तियों द्वारा बंगला भाषा और उसके साहित्य को देश-विभाजन के यूपकाष्ठ पर वलि न देने की अपील का क्या हश्र होगा, जबकि वहाँ के बहुसंख्यकों के नेताओं की पुकार-गुहार में उनका चीणकंठ दबा जा रहा है ?

कुछ दिन पहले चटगाँव में पूर्व-पाक साहित्य-सम्मेलन हुआ था। पाकिस्तान के बड़े-बड़े ज्ञानी-गुणियों का दल उस सम्मेलन में जुटा था। उस सम्मेलन में विभिन्न व्यक्तियों के भाषणों को पढ़ने से पता चलता है कि भाषा का यह छुआ-छूत किस मात्रा में वहाँ के लोगों में व्याप्त हुआ है। पश्चिम-बंग की किसी भी चीज को देखने से ये आतंकित हो उठते हैं। इन्होंने निर्णय लिया कि पश्चिम-बंग की भाषा में कुछ नहीं लिखेंगे, साहित्य में रवीन्द्रनाथ को स्वीकार नहीं करेंगे, पश्चिम-बंग में छपी हुई किसी पुस्तक को नहीं पढ़ेंगे, रेडियो से रवीन्द्र-संगीत नहीं सुनेंगे—अर्थात् 'हिन्दू-बंगाली' की छाप जिस-जिस चीज पर होगी उस-उस का सख्ती से वर्जन करना होगा।

एक ने अपने भाषण में कहा: "कदम्ब तलाय वंशी बाजाय के" यह कृष्णलीलात्मक गान हिन्दूधर्म के भावों से आच्छन्न है और इसका पूर्व-बंग की संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है।" हसन राजा, सैयद मूर्तजा, दौलत काजी और अलावल की राधाकृष्णविषयक रचना और मुस्लिम लोक-कवियों द्वारा रचित अनेक राधाकृष्णविषयक पदों की चर्चा कर, इन दिग्विजयी पाक-पंडितों को मैं लज्जित करना नहीं चाहता।

पूर्व-पाकिस्तान की भाषा क्या होगी, इस समस्या को लेकर ढाका के विद्वानगण इस समय अपना सर खपा रहे हैं। बहुतेरों ने कहना शुरू किया है कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ और प्रमथ चौधुरी 'बीरबल' के हाथों से गढ़ी गई भाषा, पाक-बंग की भाषा नहीं हो सकती। अर्थात्, देश विभाजन के पूर्व सम्मिलत-बंग की भाषा और साहित्य, देखने में एक लगने पर भी, वस्तुतः दो थे। अब, राजधानी ढाका की चलती-भाषा में उर्दू मिलाकर 'ढाकाई बंगला' बना देना होगा। यह नई भाषा संस्कृत की अनुयायी नहीं होगी एवं जन-गण के घर की भाषा और बोलचाल की बोली इस 'ढाकाई बंगला' के आधार पर ही चलेगी।

असली बात यह है कि सभी विषयों में पाकिस्तानी आदर्श को ठूँसना होगा। इस समय जिस भाषा में पढ़ाई-लिखाई चलती है, वह है उधार ली हुई भाषा; अपनी भाषा नहीं। भविष्य के लिए ढाका को केन्द्र करके भाषा बनानी होगी। पाकिस्तानी दृष्टिभंगी है कि आगे से पाकिस्तानी आदर्श से बहिर्भूत कोई गान, चित्र, साहित्य—कुछ भी बरदाश्त नहीं किया जायगा।

इसी से वहाँ देखा गया कि एक पाकिस्तानी विद्वान ने अपने यहाँ कलकत्ता-केन्द्रिक भाषा का अनुकरण देखकर छाती पीट कर हाय हाय करते हुए कहा कि "पश्चिम-बंगीय लेखकों के अनुकरणस्वरूप यदि हमारे लेखक भी केवल रावीन्द्रिक भाषा का व्यवहार करेंगे तो वे लक्ष्यच्युत ही होंगे। देश के नब्बे प्रतिशत लोग जिस भाषा में बातचीत करते हैं, यदि उसका स्वाक्षर साहित्य में नहीं पाया जाता है, तो वह दूसरे से उधार लिया हुआ साहित्य ही माना जायगा। कौम के

शरीर में वह कभी भी प्राण संचार नहीं कर सकेगा। इस साधारण समझ की बात को न समझने से हमारा सारा साहित्य-साधन वृथा-प्रयास भर ही तो है।"

उनके इस आक्रोश के लक्ष्य हैं वहाँ के वैसे कई सच्चे साहित्यकार, जो राजनीतिक विभ्राट को साहित्य में लाए बिना साधारण चलती भाषा को बोलचाल और साहित्य में सम्हालने का उक्त प्रयास कर रहे हैं।

सम्मेलन में विभिन्न व्यक्तियों के वक्तव्य से जाना जाता है कि इस ढाकाई-बंगला में 'आमादेर' के बदले लिखना होगा 'अमरार', 'खेयेछि' के स्थान पर 'खाईछि' और 'तादेर' की जगह पर 'तारार' इत्यादि। अर्थात्, साहित्य को स्वाभाविक और जन-गण का साहित्य बनाने के लिए जन-गण की बोलचाल की भाषा में ही लिखना होगा।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जन-गण की भाषा है क्या? श्रीहट्ट के लोग जिस प्रकार जन-गण हैं, उसी प्रकार खुलना और यशोहर के लोग भी जन-गण ही हैं। दो जिलों की उपभाषाओं में जमीन-आसमान-जैसा फर्क होता है। भाषा की स्वाभाविक गति को रुद्ध कर, विभिन्न जिलों की कथ्य-भाषाओं के मिश्रण से, एक नई कृत्रिम भाषा को बना लेना कोई आसान काम नहीं है। और, यदि बना भी ली जाय, तो उसमें साहित्य के सभी पक्षों को चालू कर लेना भी कोई सम्भव कार्य नहीं है।

फिर भी, ढाकाई-बंगला को ये बनाकर उपस्थित कर लेना चाहते हैं। यदि आवश्यकता हुई तो आदि-बंगला की हस्तलिखित पोथियों की भाषा से भी काम चलाना होगा। इसके लिए भले ही सनातनता वाली तंगदिली तक पहुँचना पड़े, किन्तु किसी भी कीमत पर आजतक के विकास से सम्पन्न पश्चिम-बंग की भाषा नहीं अपनाई जायगी।

इस नई भाषा के निर्माण में क्रिया-पद को लेकर एक समस्या सामने आ खड़ी हुई है। विभिन्न जिलों की लोक-वाणी में क्रिया-पदों का अत्यन्त पार्थक्य है। 'छाड़िया' और 'छेड़े'; 'हइया' और 'हये'; 'खाइछि', 'खेयेछि', 'खाइतेछि' और 'खाच्छि'-जैसे असंख्य क्रिया-पदों में किसे हजम किया जाय? इसके लिए अवश्य एक नया थीसिस खड़ा करना होगा।

एक ने अपने भाषण में कहा कि "जिन कारणों से, हजार अच्छा होने पर भी, पश्चिम-बंग का साहित्य पूर्व-पाक का

अपना साहित्य नहीं कहा सकता; उन्हीं कारणों से पश्चिम-बंग की 'रावीन्द्रिक' या 'बीरबली' भाषा, विशेष रसपूर्ण होने के बावजूद, पूर्व-पाक की अपनी भाषा नहीं हो सकती।"

दूसरे एक पाक-मनीषी ने कहा कि "पश्चिम-बंग की भाषा सर्वथा परित्याज्य है, क्योंकि पश्चिम-बंग की मीठी और महीन बोली पूर्व-पाकिस्तान में नहीं चलेगी। पूर्व-पाक की बोली मोटी है और पौरुष-संजात है। कोई यदि अपनी साहित्यिक प्रचेष्टा या अध्यापन में केवल पश्चिम-बंग की भाषा की आड़ में आत्मगोपन करेंगे, तो वे एक कायदे से नाकामियाबी की ओर ही अग्रसर होंगे।"

इसलिए, अरबी और फारसी शब्दों के मिश्रण से 'मुस्लिम-बंगला' का एक नया रूप देना होगा। पुस्तकों की अबतक की भाषा का हूबहू अनुकरण अब नहीं चल सकेगा। हाँ, पुस्तकों की भाषा को आधार बनाकर भाषा को मार्जित पाकिस्तानी रूप देना हो सकता है।

अब, चालू-बंगला और पूर्व-पाकिस्तान के सभी जिलों की कथ्य-भाषा के साथ मिश्रित की गई प्रस्तावित नई ढाकाई-बंगला, इन दोनों का रूप देखा जाय। उक्त पाक-साहित्य-सम्मेलन में चालू-बंगला के मुकाबले निम्नांकित ढाकाई-बंगला को चालू-करने का प्रस्ताव हुआ था :—

चालू बंगला :—तूलोर बाजारे मागगी देखा दिएछे। एमनटा आमरा बहुदिन चोखे देखिनि। ताते सूतोर कलगुलो बन्ध हये गियेछे। ताँतिरा आर चालाते पाच्छे ना। तादेर रोजगारेर पथ बन्ध। नितान्त अनिच्छा सत्वेउ तारा ताँत फेले घर थेके बेरिये पड़ेछे। परिवार-परिजन के खाइये-परिये बाँचिये राखवार आशाय काठकुड़ोवार जन्ये कूड़ोल हाते वने ढूकते सूरू करेछे।

ढाकाई-बंगला :—तूलार बाजारे एमन मांगा हइयाछे, जा आमरा बहूत दिन चक्खे देखि नाई। ताते सुतार कलगुलि बन्ध ह'या गेछे। ताँतिरा आर ताँत चालावार पाइतेछे ना। तारार रुजि-रोजगारेर रास्ता बन्ध। ताई नितान्त अनिच्छा सत्वेउ तारा ताँत छाईड़ा घर थाईका बार हैया पड़छे। जरु-कबिलारे खाउयाईया-पाराईया बाँचावार लागि तार काठ-काट-बार तरे कूड़ाल हाते जंगले ढूकबार लागछे।

मेरा अनुमान है कि हमलोग नई 'ढाकाई-बंगला' में रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र आदि लेखकों की पुस्तकों का अनुवाद भी कुछेक दिनों में पढ़ने को प्राप्त कर लेंगे।



खरी बात कहना आलोचना का सुनहरा सिद्धान्त है। —डिजरेली

बंगला : शब्द : अर्थ



श्री सुरजित दासगुप्त

प्रत्येक भाषा के विषय में यह बात सत्य है कि उसके शब्द, व्यवहार के साथ-साथ अपने अर्थ को परिवर्तित, विकृत अथवा विस्तृत एवं अपने आदि-अर्थ से विस्मृत तक कर दिया करते हैं। इसी से जब कोई कवि यह लिखते हैं कि—

"से भोले भूलूक, कोटि मन्वन्तरे
आमि भूलिबो ना, आमि कभू भूलिबो ना !"

तब इस पद का अर्थ समझने में कष्ट होता है। क्योंकि, हमलोग 'मन्वन्तर' शब्द का आदि-अर्थ ही भूल गए हैं। हमलोग आजकल 'दुर्भिक्ष' के अर्थ में इस शब्द को व्यवहृत किए हुए हैं। 'मन्वन्तर' का प्रकृत अर्थ होता है: "एक-एक मनु का अधिकार-काल"। यह सही है कि हर मनु के अधिकार-काल के अन्त में विपर्यय या दुर्भिक्ष दिखाई देता है और नया मनु आकर फिर से शान्ति और शृंखला-विधान करता है। हो सकता है कि इसी अन्तिम अशान्ति या विशृंखलता को देखकर ही 'मन्वन्तर' शब्द इस प्रकार अर्थान्तर किया गया हो। संस्कृत शब्द 'तत्त्व' का अर्थ होता है "तद्विषयक ज्ञान", "यथार्थ अवस्था", "सूत्र" या "सिद्धान्त"; किन्तु बंगला में "उपादान" के अर्थ में "तत्त्व" भेजा जाता है एवं "खोज लेने" के अर्थ में "तत्त्वतावास" किया जाता है। लगता है कि अरबी 'तफ्हूस', जिसका अर्थ है "खोज" और "तलाश"—इन दोनों की सार्थक ध्वनियों को लेकर ही हो गया है "तत्त्वतावास"।

संस्कृत के "आयास" और "राग" शब्दों का जो अर्थ है, बंगला में ठीक इसके विपरीत अर्थों में ही वे दोनों शब्द व्यवहृत हुआ करते हैं। "आयास" का अर्थ हुआ "श्रम"; किन्तु, हम "आयासी" लोग हैं—ऐसा कहने पर, हम लोग "आराम-प्रिय" हो जाते हैं। इस शब्द के मामले में भी, हो सकता है कि, अरबी "ऐश" के चलते यह अर्थविभ्राट किया गया हो। क्योंकि, "ऐश" का अर्थ है "आराम"। किन्तु, "राग" बंगला में किस प्रकार "क्रोध" का अर्थ पा गया, उसका अनुमान करना मेरे लिए असंभव है। केवल संस्कृत का "राग" शब्द ही बंगला में विपरीत अर्थ में व्यवहृत हो, ऐसी बात नहीं। फारसी का "कारसाज" और "बुजुर्ग"; इन दोनों शब्दों का अर्थ होता है, क्रमशः "निर्माता" और "विज्ञ व्यक्ति"। किन्तु, "चालाकी" के अर्थ में "कारसाजी" और "प्रतारणा" के अर्थ में "बुजुर्गी" को हमने चालू कर दिया है। यह हुआ मूल अर्थ को उलट देने का मजा !

अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनके मूल अर्थ से आधुनिक अर्थ का, किसी भी उल्टे-सीधे अर्थ में, कोई सम्बन्ध नहीं है। इतने दिनों तक "कर्कट" का अर्थ था "केंकड़ा"; किन्तु कैंसर रोग के आविष्कृत होने के बाद से इस शब्द का अर्थ पलट गया है। तोता-मैना वगैरह पक्षियों के लिए "आत्माराम" शब्द का प्रयोग होता है और "प्राण" के लिए भी। किन्तु, "आत्माराम" का आदि-अर्थ है "आत्मज्ञान-लाभ के कारण तृप्त"। किस तरह इन शब्दों में ऐसा अर्थभेद आया, यह कहना मुश्किल है और इनके अर्थों की अशुद्धता के विषय में राय दे देने से भी काम नहीं चलेगा। किन्तु, "प्रतिमा-विसर्जन" के अर्थ में "निरंजन" का प्रयोग करना क्या उचित है ? लगता है कि "निरंजन" का यह अर्थ "नीर-उत्सर्जन" के टोन पर कर दिया गया है। यदि ऐसा भी हो, तब भी "विसर्जन" के अर्थ में "निरंजन" निश्चय ही अशुद्ध है। क्योंकि, "निरंजन" का अर्थ है "अंजन अर्थात् कलंक से शून्य"।

मूल-अर्थ के साथ सम्पर्क स्वीकार करने के बावजूद आजकल अनेक शब्दों ने अपना नया अर्थ बना लिया है। जैसे, "संगीत" का अर्थ होता है "तौर्यत्रिक"; अर्थात् नृत्य, गीत और वाद्य इन तीनों का एकसाथ संयोग। आजकल "तौर्यत्रिक" में से नाच को निकाल कर "संगीत" का अर्थ इस प्रकार लिया जाता है जैसे कि नृत्य उससे कोई स्वतंत्र चीज हो। "कृष्टि" व्यापक अर्थ में पहुँच कर "मन का आकर्षण"; अर्थात् "संस्कृति" के अर्थ में भी प्रचलित हो गया। बंगला में "क्षीर" का एकमात्र अर्थ है "उबाला हुआ गाढ़ा दूध", जबकि संस्कृत में वह केवल "दूध" ही है। इसी प्रकार, "कुटुम्ब" का अर्थ भी संकीर्ण होकर केवल रह गया है "जो वैवाहिक नातों से आत्मीय हैं", किन्तु संस्कृत में "कुटुम्ब" का अर्थ था "सभी प्रकार के आत्मीय"। उपर्युक्त शब्दों के विषय में, मूल-अर्थ से कुछ योग या वियोग करके, नया बंगला अर्थ निर्धारित किया गया है। किन्तु, "आमाशय" या "आबरू" के मूल-अर्थ को मन में रखकर नया बंगला अर्थ

बनाने के समय मूल-अर्थ के साथ कोई योग या वियोग नहीं किया गया। संस्कृत में "आमाशय" कोई एक "रोग" नहीं है; बल्कि है पाकस्थली नामक पेट का एक यंत्र। और, "आवरण" के साथ अरबी "आबरू" का कभी कोई सम्पर्क नहीं रहा। "आबरू" का असल अर्थ है "इज्जत" या "मान"; किन्तु "नारी की इज्जत को बचाने वाले आवरण" को ही हम सचराचर "आबरू" कहने लगे।

लिखते-लिखते "साधारणतः" के अर्थ में मैं "सचराचर" लिख गया। किन्तु, इस शब्द का अर्थ "चराचर के सहित" होना ही उचित है। इस प्रकार, समास या सन्धि को तोड़कर अर्थ करने पर, या मूल-शब्द या धातु के अर्थों का अनुसरण करने पर, अनेक मजे की बातों का पता चलेगा। "तर्पण" से बने हुए "सन्तर्पण" शब्द का अर्थ होना चाहिए "सम्यक् तृप्तिदान"। किन्तु, हम सभी लोग "अति सावधानता" के अर्थ में ही "सन्तर्पण" का प्रयोग करते आ रहे हैं। महाभारत में तक्षक नामक एक साँप ने परीक्षित नामक राजा को काटा था। इस नाते, तक्षक साँप की कोई विशेष जाति नहीं है, बल्कि वासुकि के एक खास भाई का नाम ही है। लेकिन, हमलोग गिरगिट की एक नस्ल के सरीसृप को ही—जो "तक्-थक् तक्-थक्" बोलता है—"तक्षक" कहने लगे हैं। फिर, धातुरूप के नाते "जो तत्क्षण यानी छूटते ही अपना काम कर जाता है" उसको "तक्षक" कहना क्या ठीक नहीं है? "कुशली" का अर्थ तो है "दक्ष", किन्तु शब्द का मूल है "कुशल" जिसका अर्थ होता है "शुभ" या "कल्याण"। ऐसे ही, "अन्तिक" का अर्थ जबकि "समीप" होता है तो नाटकों के कोष्ठकों में आए हुए "जनान्तिक" का अर्थ "जन-समीप" न होकर "अन्य जन से छिपाकर कथोपकथन करना" किस प्रकार हुआ, यह भी एक रहस्य है। यदि शब्दार्थों के इन रहस्यों का भेदन करने के लिए कोई समझदार सामने आते रहें तो उनके इस काम से भाषा की सेवा ही होगी।





● स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास की एक संस्कृत पुस्तक है—"शिवराजविजयः।" यू० पी० में संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए वह किताब कोर्स में है और उसे मौलिक पुस्तक समझकर लोग पढ़ते तथा पढ़ाते हैं। लेकिन वस्तुतः वह किताब बंगला के एक उपन्यास का संस्कृत अनुवाद है। जब "शिवराजविजयः" किसी मासिक पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था उस समय स्वर्गीय पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में इस बात की टिप्पणी दी थी। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने भी उन्हें आश्वासन दिया था कि जब यह रचना पुस्तकाकार प्रकाशित होगी तो मूल बंगला पुस्तक का उल्लेख कर दिया जायगा। परन्तु जब वह किताब छपी तब तक पं० अम्बिकादत्त व्यास की मृत्यु हो चुकी थी और 'शिवराजविजयः' कुछ इस प्रकार छपा मानो वह मौलिक पुस्तक है। उस पुस्तक को पढ़ने-पढ़ानेवालों को भी यह भ्रम रह जाता है मानो यह मौलिक पुस्तक ही है।

● श्रीधर पाठक की कविता "एकान्तवासी योगी" के बारे में लोगों का खयाल है कि वह गोल्डस्मिथ की कृति का अनुवाद है; परन्तु यथार्थ बात यह है कि वह "एकान्तवासी योगी" अंगरेजी के पार्नेल कवि की कृति का अनुवाद है। मूल कविता का नाम है "हर्मिट"। स्व० श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ की दो कृतियों का पद्यबद्ध अनुवाद किया है—डेजर्टेड विलेज (Deserted Village) और ट्रैव्हलर (The Travellor)।

● श्री लोचन प्रसाद पांडेय हिन्दी के प्रमुख कवि माने जाते हैं। उनके छोटे भाई श्री मुकुटधर पांडेय ने ही हिन्दी में छायावाद का श्रीगणेश किया था। इन दोनों भाइयों की जब हिन्दी-संसार में चर्चा चलती है तो इस तरह कहा जाता है मानो वे स्वर्गीय हो चुके। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि श्री लोचन प्रसाद पांडेय और श्री मुकुटधर पांडेय दोनों भाई अभी तक जीवित हैं और मध्यप्रदेश में रहते हैं।

● शहीद स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा लिखी थी। उनकी आत्मकथा का नाम है "कल्याण-मार्ग का पथिक।" इस पुस्तक में स्वामीजी ने अपने बाल्यकाल का विशद वर्णन किया है। भारतेन्दुजी का वर्णन उस पुस्तक में विशेष रूप से आया है। जिस समय स्वामीजी बालक थे उस समय उनके पिताजी काशी में पुलिस के एक अधिकारी थे।

● भोजपुरी में गजल कहने की परम्परा चलानेवाले थे श्री तेगअली। वे भारतेन्दु के समकालीन थे। भारतेन्दुजी उनकी रचनाओं का आदर करते थे और अपनी पुस्तकों में जहाँ-तहाँ तेगअली के उद्धरण भी उन्होंने दिये हैं। तेगअली के शिष्य थे फतेहअली। इन्होंने भी ऊँचे पाये की चीजें कही हैं; लेकिन इनका नाम कम लोग जानते हैं।

● सुप्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार अपटन सिन्क्लेयर अपनी स्त्री को बहुत प्यार करते थे। फिर भी वह एक कवि के साथ चली गई। इस घटना से अपटन सिन्क्लेयर को बड़ी चोट लगी। इसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी पड़ा। स्त्री को अपने पास रखने में वे सफल न हो सके; परन्तु उनका चोट खाया हुआ हृदय बहुत ही आकर्षक साहित्य प्रस्तुत करने लगा। इनके उपन्यासों में 'जंगल' और 'तेल' बड़े प्रसिद्ध हैं।

● पहले बिहार प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन सोनपुर के सुप्रसिद्ध मेले में हुआ करते थे। वहाँ दर्शक जुटाने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

● जो पत्रकार अपने आफिस से जितना अधिक बाहर रहकर काम करता है वह उतना ही अधिक सफल होता है।

● बनारस में एक ८७ वर्ष की उम्र के संन्यासी हैं—स्वामी विद्याशंकर तीर्थ। वे भीख माँगकर कम-से-कम एक निर्धन छात्र को जरूर पढ़ाते हैं। वे स्वयम् मधुकरी लेकर छात्र के यहाँ चले जाते हैं और उसे सहायता दे आते हैं।

● जो स्त्रियाँ सुन्दर नहीं या जिनकी उम्र ४० से अधिक हो गई है वे उपन्यास और कहानियों की अपेक्षा धार्मिक या गम्भीर साहित्य पढ़ना ज्यादा पसन्द करती हैं।

● अंगरेजी के पंडितों का कहना है कि जब लड़ाई छिड़ती है तो उनकी भाषा में प्रति युद्ध ६००० शब्दों की वृद्धि हो

जाती है। हिन्दी में भी 'चोरबाजारी' आदि अनेकों शब्द दूसरे महायुद्ध के समय आये हैं।

● नाटकों से दिलचस्पी रखनेवाले नाटक पढ़ने की अपेक्षा नाटक देखना ज्यादा पसन्द करते हैं। जो उपन्यास के शौकीन हैं उनकी तबीयत उपन्यास की फिल्म देखने से नहीं भर पाती।

● उपन्यास तथा कहानियाँ पढ़ने से कुछ ऐसा विश्वास होने लगता है कि शहर में रहने से स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता और गाँवों में रहनेवाले स्वस्थ रहते हैं। इस बात में सचाई कम है।

● लोगों का खयाल है कि हॉलीउड की फिल्म-निर्माण संस्थाओं में काम करनेवाले लेखकों को बहुत कम लिखना पड़ता होगा; मगर वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। हॉलीउड के लेखकों के लिखने का अनुपात है १० पृष्ठ प्रतिदिन। हाँ, काट-छाँट के बाद उसमें बहुत कमी पड़ जाती है।

● 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या लगभग १,५०,००० है। प्रतिमास इसकी दो बार कम्पोजिंग होती है और प्रत्येक चित्र के दो ब्लाक बनते हैं। देखा गया है कि ७५,००० तक छप जाने के बाद वे टाइप और वें ब्लाक काम नहीं दे पाते।

● अमेरिका में पुस्तक खरीदने का औसत प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष केवल १ डालर समझा जाता है। इस स्थिति से वहाँ के प्रकाशक सन्तुष्ट नहीं हैं और वे इस बात की अपील करते हैं कि अपनी पुस्तक दूसरों को पढ़ने के लिए न दिया करें। फिर भी अमेरिका में १४,००,००,००० डालर की पुस्तकें प्रतिवर्ष बिक जाती हैं।

● मन-ही-मन पढ़ी हुई बातें केवल ३० फी-सदी याद रह पाती हैं। अगर आप पढ़ी हुई बात को नोट कर लें तो लगभग ४५ फी-सदी बात याद रहेगी। अगर आप जोर से पढ़ते हैं तो प्रायः ५५ फी-सदी बात आपको याद रह जायगी।

● अगर आप प्रति मिनट २०० या उससे कम शब्द पढ़ते हैं तो आप मन्द पाठक हैं। प्रति मिनट २५० शब्द तक पढ़नेवाले साधारण पाठक कहे जाते हैं। ४५० शब्द पढ़नेवाले अच्छे पाठक हैं। ५०० शब्दों से अधिक पढ़नेवाले तेज, ६५० शब्दवाले पाठक असाधारण और १००० शब्दवाले विद्युतवेग!

● अमेरिका में प्रति दिन ६,८०,००० तार भेजे जाते हैं।

● 'लन्दन डेली हेरल्ड' का कहना है कि इंगलैंड के उपन्यासकारों की पुस्तकों की अधिक बिक्री का औसत है १,००,००० में केवल १।

● इंगलैंड के १०१३ व्यक्तियों में १ विश्वविद्यालय की ऊँची शिक्षा प्राप्त करता है। वेल्स में ७४१ में १, स्काटलैंड में ७४३ में १ और अमेरिका में १२५ में १।

● फ्रान्स में ज्योतिष विद्या जाननेवालों का बहुत सम्मान है।

● इंगलैंड में भयंकर अपराधों से परिपूर्ण घटनापूर्ण उपन्यास अधिक पढ़े जाते हैं।

● मार्गरेट मिचेल का उपन्यास 'गॉन विथ द विन्ड" की ४५,००,००० प्रतियाँ बिक चुकी हैं। अभी तक यह उपन्यास जोरों से बिक रहा है।

● चार्ल्स शेल्डन की पुस्तक 'इन हिज स्टेप्स' की ८०,००,००० प्रतियाँ बिकीं।

● कहा जाता है कि इस अर्ध शताब्दी में हिन्दी की सबसे अधिक बिकनेवाली पुस्तक रही है—ब्रह्मानन्द भजनमाला।

● लेखक का जीवन आरम्भ करनेवाले बहुधा मौलिकता पर बहुत अधिक जोर देते हैं; लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि १००० लेखकों के बीच केवल १ लेखक ही ऐसा भाग्यशाली निकलता है जो सम्पूर्ण रूप से मौलिक रचना देने में समर्थ होता है।

● रेडियो के लिए लिखने का झुकाव पुरुषों की अपेक्षा स्त्री-लेखिकाओं में अधिक पाया जाता है। रेडियो में लिखने से जितना मिलता है उसके प्रति पुरुष-लेखकों का आकर्षण बहुत कम होता है।



इटली : नवीन साहित्य

कथा : कथाकार

श्री एन्ज़ो तुर्ब्यानि

[लेखक इटली के निवासी और अपने देश में हिन्दी-भक्त साहित्य-साधक हैं। इन्होंने इस दूसरे निबंध के द्वारा पुस्तक-जगत पर कृपा की है। हिन्दी-भाषा की सेवा ये जिस बोली में कर रहे हैं, उसे हम ज्यों-का-त्यों देते हुए हर्ष अनुभव करते हैं। —सम्पादक]

हमारे नए साहित्य में कहानीकारों का स्थान उच्च ही है। इटली की पुरानी साहित्यिक परम्परा का बल हमारे काल में भी विद्यमान है, यद्यपि कुछ लेखक ऐसे भी हैं, जो एक बिल्कुल नया रास्ता निर्मित कर रहे हैं। वास्तववादी कहानीकारों की संख्या बड़ी है, किन्तु उनके बीच ऐसे साहित्यकार भी हैं, जो अपनी उन वास्तववादी कहानियों में ही कल्पना को नहीं भूलते।

हमारी आशा यही है कि भविष्य काल में इस नए साहित्य का फल परिपक्व सिद्ध होगा। इनमें बहुत-से लेखक हैं, जो शिल्पकार कहला सकते हैं और जो मानव-मन का परिच्छेद करते हैं और "प्सिकानिलिज़िस्" (Psychanilysis) का गम्भीर अध्ययन करते हैं।

सबसे पहले मैं Massimd Bontemfell'y का नाम याद करता हूँ। वे Como में सन् १८७८ में जन्मे। वे चालीस वर्ष से ज्यादा दिनों से लिख रहे हैं और उनकी कृतियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनकी पहली कहानियाँ "शास्त्रीय साहित्य" के नजदीक हैं, पर अपने उन अनुभवों और प्रयोगों के बाद वे एक "Surcastistic and lyric" कहानीकार हो जाते हैं। उनका पद्धत्व अनोखा है और वे वस्तुओं के तत्वों की तलाश करते हैं। वे यथार्थवादी नहीं हैं।

हम यह कह सकते हैं कि वे हमारे काल के मानस-शास्त्र का अध्ययन करते हैं। उनके अंतिम लेखों के बीच "समय के लोग" मुख्य है और मानव की समस्याओं को दिखलाता है।

एल्डो पलास्सेसलिनी (Aldo Palasseselini) की जगह, इन कथाकारों में बहुत बड़ी है। वे फ्लोरेंस में १८८५ में जन्मे। उनकी शैली सादी है और हम उनकी कहानियों में हरगिज नहीं ऊब सकते हैं। वे पुराने तोस्कनी[1] कहानीकारों के निकट हैं और यद्यपि हमारे काल के साहित्यकार भी हैं। हम इन्हें "रसिकता के लेखक" कह सकते हैं। इन कहानीकार ने, केवल जवानी के ही दिनों में, कुछ मुक्तक-पद भी लिखे थे। मैं इनकी उन कृतियों में से यह पद याद करता हूँ: "उन्नीसवीं सदी की छपाइयाँ", "मातरास्सि स्वसाएँ"। इनकी अन्तिम कृतियों में शायद सबसे सुन्दर कृति है "सट्टेबाजों का त्योहार", और यह एक बड़ा साहित्य भर ही लगता है।

इयूरिको पो (Eurico Peo) का नाम भी प्रसिद्ध है। वे जब युवक थे, तब मल्लाहगिरी करते थे और फिर व्यापारी बन गए। वे मानव-स्वभाव को अच्छी तरह से जानते हैं और इनकी कहानियों में उस प्रकार के जादू की परिपूर्णता है। ये अपना आत्मचरित लिखने वाले हैं। इनकी अतिप्रसिद्ध कहानियाँ हैं—और जिन्हें याद रखना वाजिब भी है—"मोस्कर्दीनो"[2], "परदेशी", "पत्थरों की गाड़ी"। इनकी शैली का आकर्षण उसकी संगीतपूर्णता या लयात्मकता ही है।

---

१. तोस्कन=इटली का एक प्रदेश। २. इस नाम का एक पुरुष पात्र।

केवल दो ही मनुष्य संपूर्ण रूप से भले हैं; एक वह जो मर चुका है, और दूसरा वह जो अभी पैदा नहीं हुआ है।

—चीनी कहावत

अमरीकी पत्र-पत्रिकाएँ



श्री बलराम

अमेरिका में प्रचुर पुस्तक-बिक्री, विशेषकर सस्ते दामों की असाधारण-साधारण पुस्तकों की भरमार होने पर भी, वहाँ के निवासी आमतौर पर पत्र-पत्रिका पढ़ना ही विशेष पसन्द करते हैं। जाति के हिसाब से ये प्रधानतः प्रत्र-पत्रिका-पाठक जाति हैं। अनेक अमेरिकी इतिहासकारों का मत है कि अमेरिका में इन सारी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा को तोड़ कर इस प्रकार की आकुल आकांक्षा और प्रेरणा अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है और एक ऐसी रुचि और दृष्टिभंगी के उत्पन्न होने में सहायता प्राप्त हो रही है कि उसके चलते अमेरिका के निवासी सम्पूर्ण विश्व के नागरिक होते जा रहे हैं।

अमेरिका में ऐसी सैकड़ों पत्रिकायें हैं, जिनमें से प्रत्येक की प्रचार-संख्या है २५ हजार ; ५३ पत्रिकाओं की १० लाख से अधिक, और २३ की २० लाख के ऊपर। विशिष्ट अमेरिकी पत्रिकाओं में 'न्यूज वीकली', 'मन्थली डाइजेस्ट', 'सचित्र साप्ताहिक', एवं महिलाओं का पत्रिका-समूह विशेष उल्लेख योग्य है। इनमें से सर्वाधिक प्रचारित और पठित ५ पत्रिकाओं के नाम नीचे दिए जा रहे हैं—

रीडर्स डाइजेस्ट	...	१ करोड़ १ लाख	प्रचार-संख्या
लाइफ	...	५७ लाख	,,
लेडीज होम जर्नल	...	५३ लाख	,,
सटरडे ईवनिंग पोस्ट	...	४६ लाख	,,
मैक्कलस	...	४८ लाख	,,

अमेरिका के तीन प्रमुख साप्ताहिक सम्वाद-पत्रों की कुल प्रचार-संख्या है ४० लाख। नेशनल-जिओग्राफिकल-मैगजीन पूर्णतः एक शिक्षा-मूलक पत्रिका है। इसकी ग्राहक-संख्या है २० लाख। विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और मेकेनिक्स सम्बन्धी तीन पत्रिकायें हैं, जिनमें से प्रत्येक की प्रचार-संख्या १० लाख से भी अधिक है।

जनसाधारण के पढ़ने योग्य प्रत्येक पत्रिका केवल अपने पाठकों का मनोविनोद ही करती है, इतनी ही बात नहीं ; बल्कि इनमें बहुत-से ऐसे तथ्य भी निहित रहते हैं जिनसे पाठकों के ज्ञान की सीमा प्रसारित होती है। आजकल पत्र-पत्रिकाओं में अधिकतर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को प्रश्रय दिया जाता है एवं धारावाहिक गल्प तथा उपन्यासों की जगह प्रबन्ध और जीवनी ही अधिक प्रकाशित होती है। यहाँ तक कि महिलाओं की पत्रिकाओं में भी प्रायः शिशु-पालन, गृहसज्जा एवं छोटी-मोटी कहानियों के साथ-साथ विश्व-समस्या के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों के मतविभेद प्रकाशित होते हैं।

इन साधारण मिले-जुले विषयों की पत्रिकाओं के अलावा अमेरिका में कितने ही विशेष विषयों के प्रतिपादन की सामयिक पत्रिकायें अलग प्रकाशित होती हैं। इन सभी पत्रिकाओं का अधिकांश मासिक-पत्र है। स्वास्थ्य, साहित्य, शिल्प, फोटोग्राफी, भ्रमण, शिकार, ऑटोमोबाइल आदि बहुत-से विषयों की विशेष पत्रिकाएँ हैं। इन सब पत्रिकाओं में केवल इन्हीं विषयों की आलोचना होती है और इन्हीं विषयों के विभिन्न तथ्य मिलते हैं। निम्नांकित पत्रिकाओं के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है—जैसे—अमेरिकन राइफल मेन, आर्चरी, ऐंटिक्स, बाउलिंग, बैंकिंग, फ्लावर ग्रोअर, गेम्स एन्ड गेमोलॉजी, करेन्ट हिस्ट्री, दी ह्यूमेनिटी, जेट प्रपल्शन, दि जर्नल ऑफ दि स्पेस फ्लाइट, पार्क्स एन्ड रिक्रिएशन, रेलरोड मैगजीन, सोरिंग, राइटर—इत्यादि।

फ्रेटर्नल ऑर्गनाइजेशन या मित्रता-मूलक संस्थाओं के सदस्यों के लिए जो-सब पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं, उनके ग्राहक भी बहुत अधिक हैं। अमेरिकन लिजियन, दि एलक्स, भेटेरेन्स ऑफ फारेन वार्स और दि नाइट्स ऑफ कोलम्बस, ये चार मित्रता-मूलक संस्थायें जिन मासिक पत्रिकाओं को प्रकाशित करती हैं, उनकी मिली-जुली प्रचार-संख्या ६० लाख के करीब है।

बच्चों और किशोरों के लिए भी अमेरिका में बहुत-सी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं और वयस्कों के लिए भी राष्ट्रीय और वैदेशिक समस्यामूलक अनेक मासिक पत्रिकायें और प्रायः आधे दर्जन साप्ताहिक पत्र हैं।

इन पत्रिकाओं में विशेष उल्लेखयोग्य और अभिनव पत्रिका है 'लिटिल मैगजीन'। पिछली आधी शताब्दी के बहुत-से अमरीकी उपन्यासकार, कवि और समालोचक ; इन्हीं छोटी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आत्मप्रकाशित हुए हैं। इन्हीं पत्रिकाओं ने उनका आविष्कार किया है। कई सस्ते पुस्तक-प्रकाशन-प्रतिष्ठानों ने, नए-नए लेखकों की उत्कृष्ट कथा-कविता आदि के संकलन-ग्रंथ, उक्त लिटिल-पत्रिका से ही चुन कर प्रकाशित किये हैं।

अमेरिका में सामयिक साहित्य के साथ परिचय और घनिष्ठता सभी रखना चाहते हैं, इसीसे ऐसे साहित्य के ग्राहक अत्यन्त हैं। जिन पत्र-पत्रिकाओं की प्रचार-संख्या बहुत अधिक है, उनमें प्रत्येक के यहाँ ही एक रविवासरीय विभाग है। पत्रिकाओं के प्रबन्धों में विज्ञान, स्वास्थ्य, पारिवारिक समस्या, खेल, प्रख्यात व्यक्तियों के सम्बन्ध में आलोचना और निबन्धादि प्रकाशित हुआ करते हैं। इनमें से कई सम्वाद-पत्रों के ग्राहक सारे देश में ही हैं। 'दि न्यूयार्क टाइम्स' के रविवासरीय प्रबन्धांक के ग्राहक सारे देश में ही हैं। इसमें राष्ट्रीय और वैदेशिक समस्या, वैज्ञानिक उन्नति, थियेटर एवं अन्यान्य विषयों की आलोचना रहती है।

इन सब पत्र-पत्रिकाओं के अलावा वाणिज्य सम्बन्धी दस हजार पत्रिकायें हैं। मालिक और मजदूरों में मेल साधने वाली पत्रिकाओं में अधिकांश बड़े-बड़े व्यवसाय-प्रतिष्ठानों की ओर से प्रकाशित होती हैं। लेबर-यूनियन या श्रमिक-संघों की भी ५०० पत्रिकायें हैं जिनमें से किसी का सम्पूर्ण देश में, किसी का निर्दिष्ट अंचल में और किसी का विशेष स्थानों में सीमाबद्ध प्रचार है।



"साहेइ अङ्गणं चित्र घरस्स अब्भन्तरे लच्छीं"

अर्थात्—आँगन से ही घर के अन्दर की लक्ष्मी का पता चल जाता है। —जयवल्लभं नाम वज्जालग्गं

(प्राकृत गाथा—४०३)

"सो अत्थो जो हत्थे, तं मित्तं जं णिरन्तरं वसने। तं रूअं जत्थ गुणा, तं विण्णाणं जहिं धम्मो।"

अर्थात्—धन वही है जो हाथ में हो, मित्र वही है जो निरन्तर साथ दे, रूप वही है जिसमें गुण भी हो, विज्ञान वही है जो धर्म का लिहाज करे। —जयवल्लभं नाम वज्जालग्गं

(प्राकृत गाथा—३, ५१)



अपना पुस्तकालय स्वयं बनाइए



श्री द्वारकाप्रसाद शास्त्री

ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसके लिए वह शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करता है और विविध प्रकार की अध्ययन-सामग्री का संग्रह भी करता रहता है। इस प्रकार धीरे-धीरे प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के पास छोटा-सा संग्रह हो जाता है। यह संग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कभी-कभी तो इसकी विशालता का अनुमान करना भी कठिन हो जाता है। पुस्तकों का यह प्रारम्भिक संग्रह ही वामन से विराट् होकर आपका अच्छा-खासा पुस्तकालय बन जाता है। अपने इस पुस्तकालय को भी सुधारने और सुसंगठित करने की आवश्यकता है जिससे कि आपकी अभीष्ट पुस्तक आपको जरूरत पर मिल सके और उसके ढूँढ़ने में आपका समय नष्ट न हो। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि पुस्तकालय की संगठन-विधि वैज्ञानिक हो अन्यथा जब पुस्तकों का संग्रह बड़ा हो जायगा तो उसका पुनर्गठन करने में आपको नए सिरे से श्रम और धन खर्च करना पड़ेगा।

पुस्तक-चुनाव

पुस्तकों का चुनाव आप अपनी रुचि के अनुसार करेंगे किन्तु आपकी प्रत्येक पुस्तक का कागज अच्छी किस्म का हो। छपाई उत्तम हो। जिल्द मजबूत हो और प्रतिपाद्य विषय आपके ज्ञान के समस्तर का हो। इतना तो ध्यान रखना ही पड़ेगा। अपनी आय में से कुछ निश्चित प्रतिशत पुस्तकों के खरीदने के लिए रखना उचित है। ऐसा करने से आप अपने को सदा इस स्थिति में पायेंगे कि नई पुस्तक खरीद सकें। कुछ सामान्य-ज्ञान की पुस्तकें रखना आवश्यक है जोकि स्थायी महत्त्व की हों।

टेक्निकल व्यवस्था

आजकल पुस्तकालय को टेक्निकल विधियों से सुसंगठित किया जाता है। सामान्य रूप से इन विधियों की जानकारी आपको होनी चाहिए। इस जानकारी से आपको दोहरा लाभ होगा। एक तो आपका पुस्तकालय व्यवस्थित हो जायगा और दूसरे आपको टेक्निकल विधि से व्यवस्थित अन्य पुस्तकालयों के उपयोग करने में भी असुविधा न होगी। अतः अपने पुस्तकालय को विधिवत व्यवस्थित करने के लिए आपको पुस्तकालय की टेक्निकल विधियाँ जाननी चाहिएँ।

स्वामित्व की मुद्रा

प्रत्येक पुस्तक पर अपना स्वामित्व सूचित करने के लिए एक (मुद्रा) मुहर का होना आवश्यक है। अपने पुस्तकालय का कोई नाम अपनी रुचि के अनुसार रख लें। अपने नाम पर, अपने परिवार के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के नाम पर अथवा अपने आराध्यदेव के नाम पर। उसी नाम की रबर की मुहर बनवा लें। इस मुहर को बनवाते समय उसमें प्राप्ति-संख्या और क्रामक-संख्या जोड़ देनी चाहिए। जैसे, आचार्य शिवपूजन सहाय जी अपने पुस्तकालय का नाम 'शिवपूजन पुस्तकालय' रखना चाहते हैं। तो मुहर का रूप निम्नलिखित होगा :—

शिवपूजन पुस्तकालय, पटना
प्राप्ति-संख्या ....
क्रामक-संख्या ....

ऐसी मुहर से पुस्तक-प्लेट का भी काम चल जायगा। यह मुहर थोड़े पैसे में ही किसी रबर-स्टैम्प बनानेवाले से बनवाई जा सकती है। इस मुहर को प्रत्येक पुस्तक के भीतरी टाइटिल पेज की दूसरी ओर बीच में लगा देना चाहिए। आवश्यक समझें तो अन्य स्थानों पर भी लगा सकते हैं।

लेबुल

प्रत्येक पुस्तक की पीठ पर नीचे से १॥ इंच ऊपर एक लेबुल लगाना चाहिए। ये लेबुल कई प्रकार के बने-बनाए सस्ते दामों में मिलते हैं। जिस पुस्तक की जिल्द चिकनी हो उस पर कपड़े के लेबुल थोड़ा खर्च कर लगाए जाते हैं ताकि वे अलग न हो सकें। पतली पुस्तक पर सामने के मुखपृष्ठ पर नीचे से १॥ इंच पर लेबुल लगाना अच्छा रहता है।

प्राप्ति-संख्या रजिस्टर

यह उचित होगा कि आप प्रारंभ से ही एक ऐसा रजिस्टर रखें जिस पर समय-समय पर खरीदी गई या अन्य प्रकार से प्राप्त पुस्तकें दर्ज करते जाएँ। इस रजिस्टर पर जो कालम हों वे वैज्ञानिक होने चाहिएँ। यह अच्छा होगा कि आप प्रारंभ से ही इसी उद्देश्य से तैयार किया गया छपा हुआ प्राप्तिसंख्या-(ऐक्सेशन) रजिस्टर खरीद लें। इस रजिस्टर पर उचित फासले पर प्रायः निम्नलिखित कालम बने रहते हैं :—

१. तारीख, २. क्रमसंख्या, ३. लेखक, ४. पुस्तक का नाम, ५. प्रकाशन, ६. प्रकाशन वर्ष, ७. पृष्ठ, ८. प्राप्ति का स्रोत, ९. मूल्य, १०. वर्ग संख्या, ११. लेखक प्रतीक, १२. भाग, १३. वापसी की संख्या, १४. विशेष।

इस रजिस्टर पर प्रत्येक पुस्तक ब्यौरेवार क्रमशः दर्ज करते जायँ और जो पुस्तक जिस संख्या पर दर्ज होगी वही उसकी प्राप्ति-संख्या होगी। उस संख्या को उस पुस्तक पर लगी मुहर की प्राप्ति-संख्या के सामने भी लिख देना चाहिए। इस प्रकार इस रजिस्टर से आपको सदा इस बात का पता रहेगा कि आपके पुस्तकालय में कितनी पुस्तकें हो गयी हैं।

वर्गीकरण

यह निश्चित है कि आप पुस्तकें विषयानुसार पढ़ना पसंद करेंगे। इसलिए पुस्तकों का वर्गीकरण भी विषयानुसार ही कीजिए। पुस्तकों के विषयानुसार वर्गीकरण के लिए कई वैज्ञानिक सारणियाँ पुस्तकाकार मिलती हैं। उनमें से ड्युई महोदय की दशमलव-पुस्तक-वर्गीकरण-पद्धति और डा० रंगनाथन की कोलन-पद्धति प्रसिद्ध है। प्रारंभ में आप किसी बड़े पुस्तकालय में जाकर इनमें से किसी एक पुस्तक के नवीनतम संस्करण को लेकर देख लें और उनमें से मुख्य वर्ग, विभाग आदि जितना आवश्यक समझें नोट कर लें। दशमलव-पद्धति में विषयों का प्रतीक अंकों में दिया गया है और कोलन-पद्धति में अक्षरों एवं अंकों में। दशमलव-पद्धति में मुख्य वर्ग (सामान्य वर्ग सहित) इस प्रकार होते हैं :—

००० सामान्य वर्ग	५०० शुद्धविज्ञान
१०० दर्शन	६०० व्यावहारिक ज्ञान
२०० धर्म	७०० कलाएँ
३०० समाजशास्त्र	८०० साहित्य
४०० भाषाशास्त्र	९०० इतिहास

यह उचित होगा कि आप अपनी पुस्तकों का वर्गीकरण प्रारंभ से ही वैज्ञानिक विधि से करते चलें। प्रारंभ में उपर्युक्त मोटे वर्गों में वर्गीकरण किया जाय तो कोई हर्ज नहीं। संख्या बढ़ने पर उनका सूक्ष्म वर्गीकरण इसी के आधार पर होता जायगा। यह अधिक हितकर होगा कि प्रारंभ से ही दशमलव-पद्धति की सभी पूर्णांक-संख्याओं का उपयोग किया जाय अर्थात् विषयों के वर्ग, विभाग और उपविभाग तक का वर्गीकरण कर लिया जाय।

वर्गसंख्या प्रत्येक पुस्तक पर लगी मुहर के ऊपर पेंसिल से लिख दें और वही वर्गसंख्या पुस्तक के ऊपर लगे लेबुल पर भी लिख देनी चाहिए, और प्राप्तिसंख्या रजिस्टर के पृष्ठ पर बने निर्दिष्ट कालम पर भी। इसके पश्चात् लेबुल पर लिखे गए अंकों के क्रम से सारी पुस्तकें क्रमशः व्यवस्थित करने से पुस्तकें विषयानुसार क्रम-बद्ध हो जायँगी।

विषयानुसार वर्गीकरण हो जाने पर, एक ही विषय में अनेक लेखकों की पुस्तकें आ सकती हैं। उनको एक-दूसरे से अलग करने के लिए लेखक के वंशानुगत नाम के आदि के दो अक्षर और व्यक्ति-नाम के आदि के एक अक्षर को ले लेना चाहिए। इसके साथ ही यदि पुस्तक के नाम का भी आदि-अक्षर ले लिया जाय तो एक ही लेखक की एक ही अक्षर से प्रारंभ होनेवाली पुस्तकें भी आपस में एक-दूसरे से अलग हो जायँगी। जैसे—मदनमोहन पांडेय की 'समाज-शास्त्र की विवेचना' पुस्तक के लिए टेबुल पर—

३००
पांडे/म/स

—लिखा जायगा। वर्गसंख्या और लेखक-प्रतीक मिल कर क्रामक-संख्या कहलाती है। यही क्रामक-संख्या पुस्तकों के क्रमबद्ध रखने, देने-लेने आदि का माध्यम होती है।

सूचीकरण

जब पुस्तकों को विषयानुसार क्रमबद्ध करके रख लिया जाता है तो उसकी एक सूची बना लेना आवश्यक होता है। पुस्तकालय-सूची अन्य सूचियों से भिन्न होती है। सार्वजनिक पुस्तकालय की सूचियाँ अनेक प्रकार से बनायी जाती हैं, किन्तु निजी पुस्तकालय की सूची का काम प्रारंभ में शेलफलिस्ट से चल सकता है। आलमारी के खाने में पुस्तकें जिस क्रम से

रखी जायँ, उसी क्रम से बनी सूची 'शेल्फलिस्ट' कहलाती है। यह सूची ५ × ३ इंच के कार्डों पर बननी चाहिए, रजिस्टर पर नहीं। कार्ड पर बनी सूची अपटूडेट रूप में रहती है और उसमें एक लेखक की एक विषय की सूची, पुस्तकों के कार्ड एक साथ आ जाते हैं। ये कार्ड प्रारंभ में एक ट्रे में रखे जाते हैं जिसका नमूना किसी बड़े पुस्तकालय से देखा जा सकता है।

सूची-कार्ड पर शेल्फलिस्ट की इन्ट्री (संलेख) इस प्रकार होगी :—

३०० पांडे/म/स	पांडेय	मदनमोहन तथा त्रिपाठी शंभूरत्न
		समाजशास्त्र की विवेचना, प्र० सं०, कानपुर, किताब
	घर,	१९५६ ई०
१०		पृ० ३१२.

कार्डों पर यह सूची तैयार हो जाने पर इसके द्वारा विषयानुसार पुस्तकें भी मिल सकेंगी और जब चाहें अपने पुस्तकालय की जाँच भी कर सकते हैं।

इस प्रकार जब आपका पुस्तकालय प्रारंभ से ही व्यवस्थित हो जायगा तो भविष्य में भी उसी क्रम से उसका व्यवस्थापन होता रहेगा। इसकी छाप आपकी भावी पीढ़ी पर भी पड़ेगी और उसमें अध्ययन की रुचि जागृत होगी। आपका यह पुस्तकालय आपके यशःशरीर को चिरकाल तक बनाए रखेगा और दूसरों के लिए भी अनुकरणीय होगा।

नोट—१. विशेष जानकारी लेखक की पुस्तक 'पुस्तकालय-विज्ञान' से प्राप्त की जा सकती है।

२. टेकनिकल सामग्री 'मेहरा एण्ड कंपनी बहादुरगढ़ रोड, दिल्ली' से प्राप्त की जा सकती है।



प्रूफ-रीडिंग और उसका महत्त्व



श्री छविनाथ पाण्डेय

प्रूफ-रीडिंग पुस्तक-व्यवसाय का प्रधान अंग है। साफ-सुथरी छपाई, कीमती कागज, सुन्दर गेट-अप और आकर्षक जैकेट; पुस्तक के सौंदर्य की वृद्धि के लिए वांछनीय अवश्य हैं, पर सबसे अधिक वांछनीय है सुन्दर छपाई। कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि सुन्दर छपाई ही पुस्तक की जान है। पुस्तक की उपयोगिता, सौन्दर्य, ख्याति, प्रकाशक तथा लेखक की प्रतिष्ठा और गौरव की वृद्धि के लिए पुस्तक का शुद्धरूप से छपना नितान्त आवश्यक है। प्रूफ की भूलें केवल पाठक के मन को विकृत नहीं कर देतीं बल्कि लेखक और प्रकाशक दोनों की प्रतिष्ठा को धूलि-धूसरित कर देती हैं। लेखक और प्रकाशक दोनों बदनाम हो जाते हैं और पाठक की दृष्टि से गिर जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में नारी के प्रसंग में लिखा है :—

विधुबदनी सब भाँति सँवारी
सोह न बसन बिना बरनारी।

जिस तरह स्त्रियों के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए वस्त्र नितान्त आवश्यक हैं, समस्त अलंकारों से विभूषित नारी बिना वस्त्र के कुरूप प्रतीत होती है, ठीक वही बात प्रूफ के बारे में कही जा सकती है। अगर पुस्तक का संशोधन ठीक तरह से नहीं हुआ है तो पुस्तक की सारी सजधज बेकार है, फीकी है। नारी के लिए वस्त्र का जो महत्व है, वही महत्व पुस्तक के लिए शुद्ध प्रूफ-रीडिंग का है।

ऊपर मैंने जो-कुछ लिखा है उसे स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ उदाहरण दे देना चाहता हूँ। मेरा अभिप्राय यह दिखलाने का है कि प्रूफ पढ़नेवालों की असावधानी से पुस्तक में प्रूफ की जो भूलें रह जाती हैं, वे पुस्तक के महत्व को किस दर्जे तक घटा देती हैं!

मेरे सामने एक पुस्तक है। पुस्तक का नाम है—"जातक कालीन भारतीय संस्कृति।" पुस्तक के लेखक हैं—श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'। प्रकाशक है, राष्ट्रभाषा परिषद्। पुस्तक का विषय ऊँचे दर्जे का है, लेखक हिन्दी के स्वनामधन्य विद्वान हैं और प्रकाशक बिहार की अत्यन्त प्रतिष्ठित संस्था है, जिसके संचालक बाबू शिवपूजन सहाय बिहार के हिन्दी के विद्वानों में अद्वितीय स्थान रखते हैं। इसके प्रकाशनाधिकारी और उनके सहायक भी हिन्दी और संस्कृत के क्रमशः उच्चकोटि के विद्वान हैं। राष्ट्रभाषा-परिषद् से साल भर में प्रायः आठ के लगभग ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं। प्रूफ-संशोधन के लिए दो प्रूफ-रीडर और दो कापी-होल्डर हैं। यह सब होते हुए भी प्रूफ-संशोधन की असावधानी के कारण लेखक और प्रकाशक दोनों पर धब्बा लग जाता है। प्रूफ-संशोधन की असावधानी का कुछ नमूना नीचे दिया जाता है। मैंने उन भूलों की ओर ध्यान नहीं दिया है जो प्रेस के कारण अथवा मात्राओं के टूट जाने के कारण हुई हैं। नमूने भी कुछ ही दिये जा रहे हैं क्योंकि इस छोटे-से लेख में सबका समावेश सम्भव नहीं है। भूलों को स्पष्ट करने के लिए लंबा अवतरण देना अनिवार्य है।

"इसके बाद मित्रों का स्मरण किया जाता है। कहा गया है—मित्र के साथ और यश से सभी आनन्दित होते हैं। गित्र धन देकर समाज की बुराइयों को मिटाता है और सबका हितकारी होता है।" (पृ० १८२) में वाक्य-रचना के संबंध में कुछ नहीं कहना चाहता। मेरा ध्यान केवल "गित्र" शब्द पर है। जो विचक्षण नहीं है वह इस "गित्र" शब्द का क्या अर्थ लगावेगा और वाक्य का क्या अर्थ समझेगा? शब्दकोष भी उसकी सहायता नहीं कर सकता।

"पच्छिम की ओर सिन्ध तक का रास्ता भी उपयोगी था, सोवीर उसके समुद्रपत्तन एवं रोरुब तक जाता था। स्थल-मार्ग से भी सार्थ जाते थे। राजपूताने का मरुस्थल पार करके भी न्यापारी आगे बढ़ते थे।" (पृ० १६०)

"जौ का सत्तू पीसा जाता था, फिर उसे घी में अच्छी तरह भून कर उसमें दही मिलाते थे।—हमें करम्भ कहते थे।" (पृ० १६६)

"जातक युग में अग्नि-देव को ग्रहण नहीं किया गया; क्योंकि बुद्धदेव यज्ञ का विरोध करते थे, फिर भी उन्होंने इन्द्र का ग्रहण किया।" (पृ० २३५)

"महादानियों की पुण्यकथाओं से सारा भारतीय वाङ्मय गंगा की तरह पवित्र है। दान देते समय नदियों ने अपनी स्थिति पर भी विचार नहीं किया।" (पृ० २४६)

"संघ की एकता को नष्ट करने वाला 'अचिकित्स्य' माना जाता था—जिसने अपने को हम इस स्थिति में पहुँचा दिया हो उसके अपने और हितैषी, उससे बिलकुल ही निराश हो गये, तो फिर उसका स्थान कहाँ है ?" (पृ० २७७)

"इच्छा-जन्म और इच्छा-मरण सबके लिए संभव नहीं, किन्तु संभव है।" (पृ० २८६) यह पूरे-का-पूरा वाक्य गौर करने लायक है। "सबके लिए संभव नहीं, किन्तु संभव है" से क्या अभिप्राय निकलता है ?

"व्यक्ति के संबंध में आर्य-ऋषियों ने सुभाषित कहे हैं, ऐसी कल्पना दी है जो मानव की महत्ता को प्रका- करती है" (पृ० २६१)। लाख यत्न करने पर भी मेरी समझ में नहीं आ सका कि यह "प्रका-" क्या बला है ?

विस्तार के भय से अधिक अवतरण देना संभव नहीं है। नमूने के तौर पर कुछ चुने हुए अवतरण यह दिखलाने के लिए दे दिये गये हैं कि प्रूफ-संशोधन की असावधानी से अर्थ का किस प्रकार अनर्थ हो जाता है और ग्रन्थ की सारी महत्ता नष्ट हो जाती है। बेचारा लेखक सिर पटक कर रह जाता है। उसके पास कोई कैफियत नहीं है।

मैंने बहुधा देखा है कि प्रूफ-संशोधन के काम को लोग बहुत सहज या गौण मानते हैं और जो-सो भी इस काम को कर सकता है—ऐसा सोचते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। यह काम देखने में जितना आसान प्रतीत होता है, व्यवहार में उतना ही कठिन है। प्रूफ-संशोधन के लिए आँखें पूरी तरह ट्रेंड होनी चाहिएँ। उन्हें भूलों को ठीक उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह जल में तैरती मछली को बक झपट्टा मार कर पकड़ता है। उनका निशाना अचूक होना चाहिए। लोगों का ख्याल है कि पंक्तियों को पढ़ते जाने से ही भूल पकड़ में आ जाती है। पर, बात सर्वथा ऐसी नहीं है। यदि ऐसा होता तब तो भूलें रहती ही नहीं। अगर भूलों को पकड़ने के लिए आँखें ट्रेंड नहीं हैं तो पंक्ति के बाद पंक्ति गुजरती जायगी और भूलें दृष्टिगोचर नहीं होंगी।

लेकिन केवल आँखों का ट्रेंड होना ही पर्याप्त नहीं है। प्रूफ-रीडर को भाषा तथा व्याकरण का भी ज्ञान होना चाहिये। विरामों से पूर्ण अवगत होना चाहिये। कुछ लोगों का ख्याल है कि प्रूफ-रीडर का काम मक्षिका-स्थाने-मक्षिका बैठा देना मात्र है। भाषा, व्याकरण और विराम की जिम्मेदारी लेखक अथवा संपादक पर है। लेकिन मेरा मत इससे भिन्न है। प्रूफ-संशोधक को भाषा की बारीकियों और मुहावरों के प्रयोग का सम्यक् ज्ञान भले ही नहीं हो, पर उसे शब्दों की शुद्ध लिखावट, शुद्ध प्रयोग और लिंग का ज्ञान तो होना ही चाहिये।

शुद्ध और दोषरहित प्रूफ-संशोधन के लिये केवल सुदक्ष प्रूफ-संशोधक ही आवश्यक नहीं है, बल्कि स्थान का भी महत्व है। प्रूफ-रीडर का स्थान ऐसा होना चाहिये जहाँ उसे पूर्ण प्रकाश मिल सके। दूसरे, वहाँ का वातावरण शान्त होना चाहिये। जहाँ शोरगुल अधिक होता हो वहाँ प्रूफ-संशोधन का काम समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि चित्त की एकाग्रता नहीं रह सकती। ध्यान बँट जाने से प्रूफ का काम संतोषजनक रीति से संपन्न नहीं किया जा सकता। संशोधन के लिये जो प्रूफ दिया जाय वह साफ उठा हुआ होना चाहिये। अक्षरों में रोशनाई भरी नहीं रहनी चाहिये। इससे अक्षर साफ-साफ नहीं पढ़े जाते और भूलें रह जाती हैं। कागज को भिंगों कर प्रूफ उठाना अच्छा माना जाता था लेकिन प्रेसवाले इसे व्यर्थ समझने लगे हैं और ज्यों-त्यों प्रूफ उठा देना ही पर्याप्त समझते हैं।

शुद्ध छपाई के लिये हस्तलिपि का भी कम महत्व नहीं है। यूरोपीय देशों में प्रेस-कापी तैयार करने की प्रथा है। लेकिन हमारे देश में जैसी-तैसी कापियाँ ही प्रेस में दे दी जाती हैं। शुद्ध छपाई के लिये यह बहुत बड़ी बाधा है। जैसी-तैसी हस्तलिपि होने से प्रूफ-संशोधक की कठिनाई बहुत बढ़ जाती है। हमारे देश में प्रेस-कापी तैयार करना अपव्यय माना जाता है लेकिन प्रकाशक को यह समझना चाहिये कि इस अल्प व्यय से वह अपनी बहुत-कुछ बचत कर लेता है और अपने संस्थान की प्रतिष्ठा का साधन तैयार करता है।

अन्त में यह लिख देना आवश्यक है कि प्रूफ-संशोधन के महत्व को प्रकाशकों तथा प्रेस के प्रबन्धकों को भलीभाँति समझना चाहिये। समीचीन प्रूफ-संशोधन पर ही दोनों की ख्याति और प्रतिष्ठा निर्भर है। इससे प्रेस और प्रकाशन-संस्थान उठ भी सकते हैं और गिर भी सकते हैं।

श्री यज्ञदत्त शर्मा का अमर साहित्य

उपन्यास

ललिता, मधु, इन्साफ, महल और मकान, इन्सान, बदलती राहें, निर्माण-पथ, झुनिया की शादी, दबदबा, चौथा रास्ता, परिवार, एक स्वप्न एक सत्य, बाप-बेटी, मंगलू की माँ, भारत सेवक।

•

आलोचना

हिन्दी का संक्षिप्त साहित्य, प्रबन्ध सागर, तुलसी साहित्य और सिद्धान्त, जायसी साहित्य और सिद्धान्त, कबीर साहित्य और सिद्धान्त, सूर साहित्य और सिद्धान्त, हिन्दी गद्य का विकास, आलोचना के सिद्धान्त।

•

यज्ञदत्त-साहित्य पर कुछ सम्मतियाँ

हजारीप्रसाद द्विवेदी : श्री यज्ञदत्त शर्मा में एक सफल उपन्यास-कार की प्रतिभा है।

Tribune : Syt. Yag Datt Sharma has progressive outlook on life. His Novels are of high educational value.

Leader : Syt. Yagya Datt Sharma has given new trend to hindi literature.

नवभारत : श्री यज्ञदत्त शर्मा ने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

धर्मयुग : श्री यज्ञदत्त शर्मा को अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में असाधारण सफलता मिली है।

दक्षिण भारत : प्रेमचन्द के बाद श्री यज्ञदत्त शर्मा ने ही ग्रामीण जीवन का इतना सफल और सजीव चित्रण किया है।

ज्ञानोदय : श्री यज्ञदत्त शर्मा के उपन्यास स्वस्थ मस्तिष्क की उपज हैं। उनमें राष्ट्र-निर्माण की भावना का बहुत कलात्मक रूप मिलता है।

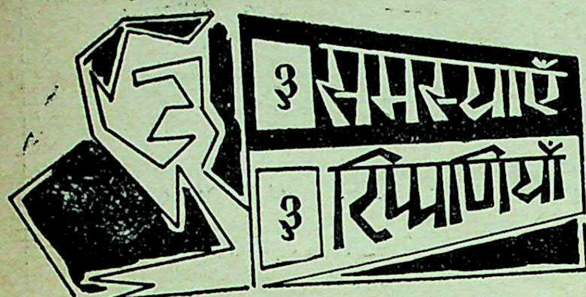
जनयुग : आज सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास लिखने में श्री यज्ञदत्त शर्मा से अधिक ख्याति का अधिकारी हिन्दी का अन्य कोई लेखक नहीं है।

साहित्य संदेश : श्री यज्ञदत्त शर्मा प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार हैं। आपके उपन्यास प्रेमचन्द की भाँति आदर्शवाद को लिए यथार्थ चित्रण से पूर्ण हैं।

डा० रामचरण महेन्द्र : आज के हिन्दी उपन्यासकारों में श्री यज्ञदत्त शर्मा ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया है। शर्मा जी उपन्यास-साहित्य में एक जीवित संस्था हैं।

श्री यज्ञदत्त के गौरवपूर्ण साहित्य के अतिरिक्त पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी, डा० रामचरण महेन्द्र, डा० रामरतन भटनागर, प्रो० प्रेम भटनागर, प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, श्री नरोत्तम नागर, डा० रांगेय राघव, प्रो० कृष्णाचन्द्र वर्मा, हितवल्लभ गौतम की गौरवपूर्ण रचनाओं के लिए पुस्तक-विक्रेता पत्र-व्यवहार करें।

साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली



आदर्श रेलवे बुक-स्टाल : एक स्वार्थपूर्ण योजना

कुछ दिनों से सुनने में आ रहा है कि अखिल-भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ, ए० एच० व्हीलर एण्ड कम्पनी के विरोध में, रेलवे-अधिकारियों से मिलकर रेलवे-स्टेशनों पर पुस्तकें बेचने का कार्य अपने हाथ में लेना चाह रहा है। इसके लिए मुख्य कारण यह बतलाया जा रहा है कि यह कम्पनी अपने कमीशन संबंधी नियम प्रकाशकों पर लादने की अभ्यस्त हो गई है, पुस्तकें उधार और वापसी की शर्तों पर खरीदती है और उनका हिसाब भी तीन मास पश्चात् देती है, अश्लील और कुरुचिपूर्ण साहित्य का प्रचार करती है।

ए० एच० व्हीलर एंड कं० एक पुरानी संस्था है जोकि भारत के एक बड़े भूभाग में रेलवे स्टेशनों पर अपने स्टाल स्थापित करके ५० वर्ष से अधिक अर्से से पुस्तक तथा पत्रिका-व्यवसाय में योग प्रदान कर रही है।

कोई भी संस्था सभी व्यक्तियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। व्हीलर एण्ड कम्पनी भी इसका अपवाद नहीं है। साधारणतया वह प्रकाशकों से ३३%—३६% कमीशन पर पुस्तकें लेती है। पुस्तकें उधार तथा वापसी की शर्तों पर लेकर तीन मास पश्चात उनका हिसाब करती है। कम्पनी की ओर से लौटाई गई पुस्तकें इस हालत में नहीं होतीं कि दोबारा उन्हें बेचा जा सके। बल्कि, अब तो वह अनबिकी पत्रिकाओं को वहीं अपने प्रधान कार्यालय में रद्दी के भाव बेच देती है और प्राप्त मूल्य प्रकाशक की बिक्री-सूची में जोड़ देती है। पत्रिकाएँ प्रकाशक की ओर से सीधे बुकस्टालों पर और पुस्तकें उनके इलाहाबाद स्थित कार्यालय में भेजनी होती हैं। वापिस आई पुस्तकों की हानि तथा प्रेषण आदि का खर्च काट कर प्रकाशक को लगभग ४०-४५ प्रतिशत कमीशन पड़ जाता है। यह एक बहुत बड़ा कमीशन है जो व्हीलर कम्पनी के द्वारा माल बिकवाने पर प्रकाशक को देना पड़ता है। प्रकाशक को उसमें कोई लाभ नहीं हो सकता किन्तु फिर भी वह व्हीलर कम्पनी के द्वारा माल बिकवाना आवश्यक समझता है। जो प्रकाशक उसके द्वारा माल नहीं बेच पाता उसकी भी इच्छा होती है कि इस कम्पनी के द्वारा उसका प्रकाशन बिके। क्यों?

क्योंकि व्हीलर कम्पनी द्वारा माल बिकवाने पर सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसका प्रकाशन दूर-दूर के छोटे-बड़े बाजारों में पहुँच जाता है। अपनी एजेन्सियों के नये ठिकाने ढूँढने के लिए उसे जो पब्लिसिटी करनी पड़ती है वह उससे बच जाता है और इसी अतिरिक्त कमीशन को पब्लिसिटी का खर्चा समझ लेता है।

कम्पनी के ए० और बी० डिवीजनों में बँटे हुए तथा देश भर में फैले हुए लगभग ढाई सौ केन्द्रों में दो-एक स्टाल ऐसे हैं जिनकी मासिक बिक्री २०-२० हजार रुपया है। और, बहुत-से बुक स्टाल ऐसे भी हैं जहाँ एक हजार मासिक की बिक्री भी नहीं है। कुछ स्टाल अपना खर्चा भी नहीं निकाल पाते। किन्तु, एक बड़े अलाव में सूखी-गीली लकड़ियाँ सब मिलकर जलती रहती हैं। सो, यह कम्पनी भी कहीं लाभ और कहीं हानि उठाकर अपना काम चलाये जा रही है।

अखिल-भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ ने इस संस्था पर यह आरोप लगाया है कि यह अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण साहित्य बेचती है। यदि यह सही है तो रेल-अधिकारियों से मिलना उचित है ताकि वे रेलों पर लोगों का चरित्र दूषित करने वाले साहित्य की रोकथाम कर सकें। किन्तु, 'कुरुचिपूर्ण' शब्द का आशय कुछ समझ में नहीं आता। कुरुचिपूर्ण शब्द का अर्थ यदि माया, मनोहर-कहानियाँ और जासूसी उपन्यासों में छपने वाला साहित्य है, तो मैं यह कहूँगा कि इस शब्द को गलत स्थान पर फिट करने का कुप्रयास किया गया है। ऐसा साहित्य किसी भी स्टाल के लिए अनिवार्य होता है। सभी पाठकों को फ्रायड या प्रसाद पढ़ने पर बाध्य नहीं किया जा सकता। रेल पर यात्री मनोरंजन के लिए सहज अध्ययन करना पसंद करता है। ऐसा कोई भी साहित्य जो पाठकों की पसन्द का हो, उसे रोकना उचित नहीं कहा जा सकता (हाँ, अश्लील साहित्य का विरोध करना उचित है)। एक बात और, यदि उत्तम साहित्य, मात्र वह साहित्य है जो इस संघ के कुछ प्रकाशकों ने प्रकाशित किया है, तो अलग बात है।

और फिर, यदि उक्त संस्था को कम्पनी के व्यावसायिक नियम पसंद नहीं हैं तो उसके लिये रेलवे-अधिकारियों से जाकर बात करना कुछ उचित नहीं लगता। हमारा कमीशन

सम्बन्धी व्यावसायिक मतभेद तो राजकमल, ज्ञानपीठ, हिन्दी-प्रचारक और राजपाल से भी हो सकता है। लेकिन, यदि इस मतभेद को हम शिक्षा-मंत्री के पास लेकर जायें तो कितनी हास्यास्पद बात होगी। यदि प्रकाशक कुशल व्यवसायी हैं तो व्हीलर कं० को इस बात पर कायल किया जा सकता है कि वह कम कमीशन पर भी अच्छा साहित्य अपने स्टाल पर रखे। मैंने गीता प्रेस की पुस्तकें इन स्टालों पर देखी हैं जबकि गीता प्रेस बहुत कम कमीशन देता है।

भारत के बड़े-बड़े नगरों में भी इस संस्था ने आदर्श बुक-स्टाल खोलने की माँग की है। जिन बड़े स्टेशनों की लिस्ट उक्त संघ ने दी है,' वे वेही स्टेशन हैं जिनके सहारे व्हीलर कम्पनी जिन्दा है। गोया इस अलाव की सूखी लकड़ियाँ भारत के १०-१५ बड़े-बड़े नगरों के स्टाल ही हैं, जहाँ पर संघ अपने आदर्श बुक-स्टाल स्थापित करना चाहता है। यदि संघ सही अर्थों में सत्साहित्य के प्रचार में सहयोग देना चाहता है, तब तो उसे ऐसे आदर्श-स्टाल छोटे-छोटे गाँवों में खोलने चाहिएँ। बड़े-बड़े नगरों में तो यूँ भी बड़ी दूकानों पर ऊँचा साहित्य मिल ही जाता है। असल आवश्यकता है ऐसे स्थानों पर, जहाँ मीलों अच्छी पुस्तकों की दूकानें न हों।

उदाहरणस्वरूप मैं व्हीलर कम्पनी के कुछ ऐसे स्टेशनों के नाम गिनाता हूँ, जहाँ कि तजुर्बे के तौर पर आदर्श-स्टाल कायम किये जाने चाहिएँ :—कूचबिहार, साहेबगंज, डेहरी आन सोन, फतेहपुर, चितरन्जन, मधुपुर, मुबारिकपुर, देवरिया और बालाघाट।

व्हीलर कम्पनी में कई त्रुटियाँ हो सकती हैं इसलिए हम यह चाहेंगे कि जो संख्या इसका स्थान प्राप्त करे उसमें कम-से-कम वह त्रुटि तो नहीं हो जो पुरानी कम्पनी में है। समस्या क्योंकि केवल 'संघ' के सदस्यों की नहीं है बल्कि सभी वर्ग के प्रकाशकों की है, इसलिए संघ के कर्णधार इस महत्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लेने से पहिले मेरे निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देने का कष्ट करें ताकि सभी वर्ग के प्रकाशक आश्वस्त हो जाएँ कि उनके अधिकार 'संघ' के हाथ में प्रबन्ध आने पर सुरक्षित रहेंगे :—

१. व्हीलर कम्पनी के स्टालों पर उर्दू, हिन्दी, पंजाबी, गुरुमुखी, बंगला, तेलगु, मराठी इत्यादि सभी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें प्राप्त हो सकती हैं। उक्त संघ तो हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साथ न्याय कर नहीं पायेगा और जबतक अन्य भाषाओं की संस्थाएँ अपने स्टाल स्थापित करने के लिए मैदान में न आयें—उस समय तक के लिए पाठकों की आवश्यकता कैसे पूरी होगी?

२. सत्साहित्य की परिभाषा कौन नियत करेगा? यह संघ जिसमें सभी वर्ग के प्रकाशकों के प्रतिनिधि नहीं हैं—किस प्रकार सभी प्रकार के प्रकाशकों का प्रतिनिधित्व कर सकेगा? कौन-सा मापदंड इस संघ के पास है जिससे वह ठीक-ठीक बता देगा कि अमुक पुस्तक सत्साहित्य है और अमुक कुरुचिपूर्ण?

एक अनुभव मेरा अपना है। इस संस्था के एक अधिकारी सदस्य के पास मेरा एक प्रतिनिधि मेरा एक प्रकाशन ले गया कि सेल एण्ड रिटर्न बेसिस पर कुछ प्रतियाँ रख ले। उसने पहले तो पुस्तक को उलटा-पलटा। दो-तीन पृष्ठ पढ़े और एक प्रूफ की अशुद्धि पर निशान लगाते हुए कह दिया—"यह पुस्तक हम नहीं बेच सकेंगे। इसमें तो प्रिंटिंग-मिस्टेक्स हैं—", जबकि उनकी अपनी पुस्तकों में बीसियों प्रूफ की अशुद्धियों के साथ व्याकरण की अशुद्धियाँ भी रहती हैं। एक अन्य पुस्तक को उसने इसलिए स्वीकार नहीं किया चूँकि उस पर एक स्त्री का चित्र छपा था। चित्र मार्डन आर्ट में होता तो सम्भवतः वह कोई आपत्ति नहीं उठाता।

विचित्र बात है कि एक ओर 'गीत गोविन्द' को 'क्लासिक' कहा जाता है और दूसरी ओर एक स्त्री के चित्र वाली पुस्तक को अस्वीकार कर दिया जाता है। लगता है, संघ सिर्फ उन्हीं पुस्तकों को सत्साहित्य मानता है, जो उसके कुछ कर्णधारों ने छापी हैं। ऐसी दशा में, यदि उन्हीं कर्णधारों के हाथ में प्रबन्ध रहा, तो सभी वर्ग के प्रकाशकों के हित कैसे सुरक्षित समझे जा सकते हैं?

३. व्हीलर कम्पनी के बदले में नई संस्था की स्थापना का एक कारण यह भी बताया जाता है कि उक्त कम्पनी अधिक कमीशन माँगती है, माल वापसी की शर्त पर उधार खरीदती है और विक्रित माल का त्रैमासिक लेखा देती है। क्या यह नई संस्था सभी वर्ग के प्रकाशकों को यह आश्वासन दे सकती है कि वह कमीशन कम लेगी; माल नकद खरीदेगी और अन-बिकी पुस्तकें अथवा पत्रिकाएँ लौटायेगी नहीं?

४. व्हीलर एंड कम्पनी की मुख्य बिक्री पत्रिकाओं की है। और, संघ में पत्रिका-प्रकाशन का एक भी प्रतिनिधि नहीं

है। तो क्या आदर्श बुक-स्टाल स्थापित होने के बाद पत्रिका वालों को अपने अलग स्टाल खोलने पड़ेंगे ? इसी प्रकार अन्य भाषा वाले प्रकाशकों को भी क्या अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग बनानी पड़ेगी ?

५: 'संघ' केवल १०-१२ बड़े स्टेशनों पर अपने स्टाल खोलना चाहता है। क्या शेष छोटे स्टेशनों के स्टालों पर वह व्हीलर कं० का पूर्ववत् आधिपत्य बने रहने देना चाहता है ? यदि हाँ, तो क्यों ? क्या छोटे स्टेशनों पर कुरुचिपूर्ण साहित्य बिकते रहने में हर्ज नहीं ? क्या इस माँग को "मीठा हप्प कड़वा थू" की लोकोक्ति को चरितार्थ करना नहीं कहा जा सकता ? यदि 'संघ' सारा प्रबन्ध अपने हाथ में लेने के लिये स्वयं को अयोग्य समझकर पहिले थोड़े-से स्टालों पर परीक्षण करना चाहता है तो इसी लेख में ऊपर दी गई स्टेशनों की सूची के बारे में 'संघ' का क्या ख्याल है ?

६. क्या यह संस्था केवल प्रकाशकों के हितों का ध्यान रखेगी या पाठकों का भी ? मेरा आशय यह है कि वह केवल वही साहित्य बेचेगी जो उसकी पसन्द का है या पाठकों की पसन्द का भी ?

यह प्रश्न पूछने का साहस मैंने इसलिए किया है क्योंकि मैं भी एक प्रकाशक हूँ। मैंने व्हीलर कं० को निकट से देखा है। हमसे लिए गए कमीशन वह किस प्रकार खर्च करती है—यह भी जानता हूँ।

प्रकाशकों के हितों का ध्यान रखने के साथ यदि मैं व्हीलर कं० की कठिनाइयों का जिक्र न करूँ तो लेख अधूरा रहेगा। आइए, कंपनी द्वारा कमीशन से होनेवाली आय के खर्च का व्योरा देखें:—

इसके स्टाल-होल्डर वेतनभोगी कर्मचारी नहीं, बल्कि कमीशन-एजेन्ट हैं, जिन्हें कम बिक्री पर १० प्रतिशत और अधिक बिक्री पर २० प्रतिशत कमीशन मिलता है। औसत लगभग १५ प्रतिशत बैठता है। (ये स्टाल-होल्डर अपने हाकरों को आगे रेलों में माल बेचने का डेढ़ आना प्रति रुपया कमीशन देते हैं) १५ प्रतिशत कमीशन-एजेन्ट को देने के अतिरिक्त स्टेशनरी-फर्नीचर आदि कम्पनी सप्लाई करती है। प्रकाशकों और स्टाल-होल्डरों का एकाउंट रखती है। कोई स्टाल-होल्डर यदि पैसा लेकर चम्पत हो जाये तो वह हानि भी सहन करती है। ढाई सौ से अधिक स्टालों पर कंट्रोल के लिए बम्बई तथा इलाहाबाद के मुख्य कार्यालयों में ५०० से अधिक का स्टाफ रखती है। निरीक्षण के लिए यदा-कदा इंसपेक्टरों को भी भेजती है और अपनी आय का कुछ-न-कुछ रेलवे को भी देती है।

इन सभी कठिनाइयों का विचार करके कोई नई संस्था सभी वर्ग के प्रकाशकों को अधिक सहूलियतें देने का आश्वासन देकर यदि इस कंपनी के स्थान पर आती है तो हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। किन्तु, यदि वह कुछ ही बड़े स्टेशनों पर अपने आदर्श बुक-स्टाल स्थापित करके अपने प्रकाशन खपाना चाह रही है तो हम इसे मात्र एक स्वार्थपूर्ण योजना ही कहेंगे। हाँ, यदि व्हीलर कं० का एकाधिकार समाप्त करने की नौबत आ ही जाये तो फिर मेरा सुझाव है कि सभी छोटे-बड़े स्टालों के ठेके अलग-अलग नीलाम किये जायें। जो अधिक बोली दे, खरीद ले। बोली यदि उक्त 'संघ' दे तो स्टाल उसे मिल जाये। इससे एक लाभ यह तो होगा ही कि प्रत्येक कन्ट्रैक्टर स्वयं ही पाठकों के हितों का ध्यान रखेगा और स्टाल के लिए माल की प्राप्ति के हेतु स्वयं प्रकाशकों से संपर्क स्थापित करेगा। प्रकाशकों को इतनी दिक्कत तो अवश्य होगी कि जहाँ वे पहिले एक ही कंपनी के द्वारा सारे भारत में माल फैला देते थे, अब हर जगह अलग-अलग एजेन्सियाँ कायम करनी होंगी। साथ ही, उन्हें इतना भरोसा भी होगा कि उनके प्रकाशन के साथ नाइन्साफी नहीं होगी।

सभी वर्ग के प्रकाशकों के हितों को किसी एक ही वर्ग की प्रकाशन-संस्था के हाथों में सौंपे जाने के पक्ष में मैं तो कम-से-कम नहीं हूँ।

बी० देहलवी

(जासूसी पंजा, अग्रलेख)

समीक्षा : एक नैतिक प्रश्न

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि हिन्दी-आलोचना का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता चला जा रहा है। ईमानदार और जागरूक आलोचकों की हमारे यहाँ नितान्त कमी है। कोई किसी से नाराज होकर अपने अहं की तुष्टि के लिए उसकी उत्कृष्ट कृति को भी दो-कौड़ी का बता रहा है तो कोई किसी प्रभावशाली साहित्यिक के व्यक्तित्व और कृतित्व की तुलना हिमधवल-हिमालय से करके अपनी दुकड़ही रचना पर भी

कोई बड़ा पुरस्कार मार बैठने या रेडियो आदि में अच्छी-सी नौकरी प्राप्त कर लेने की जुगुत लगा रहा है। रुपये देकर अपनी संस्तुति या परनिन्दा करवाने वालों की भी कमी हिन्दी में नहीं है और इस काम के लिए अनेक छुटभैये हिन्दी-लेखक मिल भी जाते हैं। लेकिन, हिन्दी-आलोचना को रसातल की ओर ले जाने का अधिकांश श्रेय उन सम्पादकों को दिया जा सकता है जो देश के सैकड़ों दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों के कार्यालयों में चुपचाप बैठे अपना काम किये चले जा रहे हैं। नये प्रकाशनों के सम्बन्ध में सामान्य पाठकों को उपयुक्त सूचना देने में पत्र-पत्रिकाओं से विशेष सहायता प्राप्त होती है। प्रकाशकों का काम है कि वे इनमें अपने प्रकाशनों का विज्ञापन दें और पत्रों का कर्त्तव्य है कि वे नयी-नयी पुस्तकें खरिदवाकर उनकी आलोचनाएँ प्रकाशित करवायें या आलोचकगण नयी पुस्तकें खरीदकर उनकी आलोचनाएँ पत्रों आदि को भेजें और उनसे उचित पारिश्रमिक प्राप्त करें। लेकिन, हिन्दी में एक विचित्र प्रथा है कि प्रकाशक पत्रों आदि को अपने प्रकाशनों की दो प्रतियाँ भेजें और वे एक प्रति किसी ऐरे-गैरे व्यक्ति को देकर उसकी तथाकथित आलोचना प्रकाशित कर दें और एक प्रति फोकट-फंड में प्राप्त करके या तो अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय बढ़ायें या औने-पौने मूल्य पर बेच कर जेब गरम करलें। प्रायः पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजने पर भी आलोचनाएँ प्रकाशित नहीं की जातीं और न प्रतियाँ लौटाई ही जाती हैं। आलोचना-कर्म को और भी कम श्रमसाध्य बनाने के लिए प्रायः एक गुर का प्रयोग किया जाता है। वह यह कि पुस्तक को उलट-पलट कर, उसमें बने हुए चित्रों या उपशीर्षकों आदि का सहारा लेकर, उसकी संस्तुति या निन्दा में दस-बीस पंक्तियाँ लिखकर कीमती-से-कीमती पुस्तक की भी दो-दो प्रतियाँ हजम कर ली जाती हैं। परिणाम यह होता है कि इतिहास की पुस्तक की आलोचना भूगोल की पुस्तक समझकर करदी जाती है और कहानी की पुस्तक एकांकी नाटकों का संग्रह घोषित कर दिया जाता है। ऐसी अनुत्तर-दायित्वपूर्ण आलोचना का एक नमूना हिन्दी के पुराने आलोचना-मासिक 'साहित्य-संदेश' के जून'५६ के अंक में मिल सकता है, जिसमें श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के सुप्रसिद्ध उपन्यास "खाली कुर्सी की आत्मा" की आलोचना उनकी मनोहर कहानियों के संग्रह के रूप में की गयी है। पूरा अंश नीचे उद्धृत है :

"खाली कुर्सी की आत्मा"—लेखक : लक्ष्मीकान्त वर्मा। प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद। पृष्ठ : ४१६। मूल्य : ८॥)

"खाली कुर्सी की आत्मा" में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की बड़ी मनोहर कहानियों का संग्रह है। आज मानव अपने उच्च पद से बहुत कुछ गिर चुका है। उसे न अपने सम्मान की चिन्ता है और न श्रेष्ठ उपलब्धियों की ही। उसे व्याधियों से ही अवकाश नहीं मिलता है। उसके मस्तिष्क में अनेक पातकों के कीटाणु प्रविष्ट हो चुके हैं। लेखक ने इस पुस्तक में मानव की इसी बहुमुखी पतितावस्था का खाका खींचा है। किसी कहानी में यदि मदिरा-पान में मस्त और अपनी सुधबुध खोये हुए मानव रोते-झींकते हैं तो किसी में पाखण्डी ज्योतिषी अपना वशीकरण चलाते हैं। कहीं सिनेमाबाज आलाप-प्रलाप करते हैं तो कहीं नृशंस मानव जुल्म ढहाते दिखलाई देते हैं। मानव न अपनी सच्ची भावना का ही लाभ ग्रहण कर पाता है और न दम्भ का ही उसे श्रेय मिलता है। न इधर खैर न उधर। मनुष्य स्वयं बेचैन है फिर भी दूसरों को बेचैन बनाने में वह कुछ उठा नहीं रखता। लेखक ने पात्रों के मन के अन्तर्विरोधों का बड़ा रोचक वर्णन किया है। वेटिंग रूम के लोग और टूटी जिन्दगियाँ, शायर और भूगोल की रेखाएँ, आदमी और चूहे, राख के पुतलों में लोहे का अभाव—कतिपय ऐसी कहानियाँ हैं जो अपने कला-कौशल और भाव-गाम्भीर्य के लिए भुलाई नहीं जा सकेंगी। लेखक को पात्रों के मनोभावों की व्याख्या करने में बड़ी सफलता मिली है।

—किताब महल, इलाहाबाद

कृपया, लेखक प्रकाशक न बनें !

सम्माननीय, सम्पादक 'पुस्तक-जगत्' !

आपकी पत्रिका के अगस्त-अंक में, श्री मधुकर गंगाधर का एक निबन्ध "क्या लेखक के लिए प्रकाशक बनना वाँछनीय है" शीर्षक डिबेट के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। इस विषय पर पहले प्रकाशित निबन्धों को पढ़ने का मुझे अवसर नहीं मिला है, फिर भी, अपनी बात आपके सामने रखने को विवश-सा हो रहा हूँ—क्योंकि, श्री गंगाधर ने कुछ ऐसे निष्कर्ष (प्रलम्बविधि से ही, सही !) निकाले हैं, जो

शायद, उनके जैसे जागरूक व प्रगतिशील लेखक के लिए (मेरे विचार से) वांछनीय नहीं हैं।

श्री गंगाधर ने अपने निबन्ध के आरम्भ में ही स्वीकार किया है कि "ऐसे प्रश्नों के सामूहिक उत्तर अक्सर 'पगडंडी-पंथी' होते ही हैं", और पूरा निबन्ध पढ़ जाने के बाद मुझे लगा है कि उनकी यह बात सबसे अधिक उनके इस अपने ही लेख पर लागू होती है। वे स्वयं भी 'पगडंडी' पर ही चले हैं और पूरे लेख में कहीं भी, जरा-सा इशारा भी नहीं किया है कि वांछनीय क्या है—प्रकाशक बनना, या नहीं बनना! जब लेख का विषय ही यही तय करना है, तो उन्हें किसी निश्चित निर्णय तक अवश्य ही पहुँचना चाहिए था।

और, निर्णय तो साफ है, और इसमें किसी तरह भी दो मत नहीं हो सकते—लेखक को (अगर वह वाकई लेखक है!) प्रकाशक नहीं बनना चाहिए।

लेखन और प्रकाशन, दोनों में अविच्छिन्न संबंध है, दोनों एक-दूसरे के पूरक अंग हैं; फिर भी, दोनों में इतना बड़ा भेद है कि उन्हें एक व्यक्ति के अन्दर क्या, एक कमरे के अन्दर भी बिठाया नहीं जा सकता। प्रकाशन व्यवसाय है। लेखन व्यवसाय नहीं है। प्रकाशन व्यवसाय है और जीविकोपार्जन-अर्थोपार्जन का एक साधन है। लेखन व्यवसाय नहीं है और इसीलिए जीविका और अर्थ का साधन नहीं है। लेखन जब मात्र जीविका का साधन बन जाता है, तो लेखक की दो ही गति होती है—या तो वह ग़ैर-ताकतों के हाथ बिक जाता है, या मर जाता है। और देशों की बात तो दूर की है, अपने ही देश में कितने ही 'ज्वलन्त' उदाहरण हैं। उर्दू में, मन्टो, बेदी, कृशनचन्दर एक जमाने में बहुत बड़े अफ़साना-निगार थे। मन्टो ने लेखन को अर्थोपार्जन का साधन नहीं बनाया, उसने अपने को बेचा नहीं; और अमर हो गया। बेदी और कृशनचन्दर ने लेखन को व्यवसाय बनाया है और बिक गए हैं और मर गए हैं। आज वह कृशनचन्दर कहाँ है, जिसने कभी 'पेशावर एक्सप्रेस' लिखी थी? और, बेदी के लिखे फिल्मी डायलॉग आपने सुने हैं?

सही लेखक के लिए लेखन किसी वस्तु का साधन नहीं है, अपने-आपमें संपूर्ण साध्य है। और, जिस लेखक की ज़िन्दगी साध्य के लिए अर्पित है, वह साधनों के मोह-जाल में तो नहीं ही पड़ेगा। जो लोग साधनों के जाल में पड़े हैं, वे मछली की तरह बाहर आने के लिए छटपटा रहे हैं—बाहर आ नहीं पाते, यह और बात है। हिन्दी में एक अच्छे लेखक-नाटककार-कवि थे, श्री उपेन्द्रनाथ जी अश्क! अब वे हिन्दी के एक अच्छे प्रकाशक हैं। क्या अब इस प्रकाशक-अश्क में कहीं भी वह लेखक-अश्क जीवित है, जिसने कभी 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' और 'अंजो दीदी' और 'परदा उठाओ : परदा गिराओ' लिखा था? उदाहरण के लिए मैंने अश्कजी को इसलिए चुना है, कि वे ही एक ऐसे लेखक हैं, जिन्हें प्रकाशन-व्यवसाय पूरी तरह फला है। वैसे श्री वृन्दावनलाल वर्मा, श्री यशपाल, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री दिनकर आदि भी प्रकाशक हैं, लेकिन वे स्वयं धन्धे में नहीं लगे हैं, सिर्फ पूँजी ही लगाई है। और, पूँजी हो तो उसे कहीं भी लगा देने में कोई गुनाह नहीं है। गुनाह है कि लगाई हुई पूँजी से आता हुआ मुनाफा ही ईमान बन जाए, जिन्दगी पर हाबी हो जाए। और, पैसे से अधिक और किस चीज में हाबी होने की ताकत है?

श्री मधुकर गंगाधर ने अपने इस निबन्ध के प्रथम पृष्ठ के कालम दो की पंक्ति संख्या एकतिस के वाक्य में कहा है कि "लेखन एक कला है" और "प्रकाशन के साथ भी यही बात है।" यानी, प्रकाशन भी एक 'कला' है। यह 'कला' वाली बात मेरी समझ में नहीं आई है। अपने यहाँ 'कला' शब्द को बड़े ही विराट् अर्थ में लिया गया है, और चौरकर्म और स्त्रीप्रसंग को भी 'कला' का एक उत्तम प्रकार ही माना गया है। लेकिन, अगर श्री गंगाधर 'कला' को 'आर्ट'-शब्द के पर्य्याय में लेते हैं, तो इतना तो मानना ही होगा कि प्रकाशन-व्यवसाय व्यवसाय है, कला नहीं है। और, अगर प्रकाशन-व्यवसाय कला है, तो हमारे सभी प्रकाशक-बन्धु कलाकार अवश्य हैं। "लेखन का उत्स मनोवैज्ञानिक एवं वातावरणगत" भले ही हो, प्रकाशन का उत्स तो निश्चित रूप से ही पूँजीगत और व्यापारिक है। और, यह बात इस युग की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का दोष ही है कि मनुष्य-जाति ने अपनी हर कला को, अपनी प्रत्येक सांस्कृतिक उप-लब्धि को, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व को, पूँजी और मुनाफे के हाथों सौंप कर, असहाय कर दिया है। तुलसीदास की रामायण और मीराबाई के भजनों की बात तो अलग है, 'जगन्नाथपुरी' के विज्ञापन अख़बारों में छपते हैं और पुराण-

उपनिषद् बेच-बेचकर लोग महासेठ हो रहे हैं ; फिर, प्रेमचन्द के 'होरी' या नागार्जुन के 'बलचनमा' को नीलाम के कठघरे पर चढ़ा दिया जाए, तो आश्चर्य्य क्या !

भारतीय लेखकों के संदर्भ में अमरीका और कान्टिनेन्ट के लेखकों का नाम लेना भी उचित नहीं है। अमरीका में भी, और दुनिया के हर देश में, सिर्फ दो तरह के लेखक होते हैं—एक वे, जो पैसों के लिए लिखते हैं; और दूसरे वे, जो पैसों के लिए नहीं लिखते हैं। फ्रांस में एक लड़की है फ्रँकोइज़ सॉगाँ—उसने सतरह और उन्नीस साल की उम्र में क्रमशः दो किताबें लिखीं ; 'बोंजोउर ट्रिट्सी' और 'ए सर्टेन स्माइल'। रूसी को छोड़ कर, योरप की सभी भाषाओं में इन किताबों का अनुवाद हुआ है, और अंग्रेजी की एक पाकेट बुक कम्पनी ने इनकी पच्चीस लाख प्रतियाँ बेची हैं—क्योंकि इन आत्मवृत्तात्मक उपन्यासों में सॉगाँ ने पिता और पुत्री के मानसिक-शारीरिक यौन-संबंधों का विकृत विश्लेषण किया है। इसी फ्रांस में एक कवि है, लादार क्रेसी, जिसकी कविताओं ने पिछले युद्ध के जंगी बूटों से कुचले हुए, अमरीकन टूरिस्टों की रानों में दबे हुए फ्रांस को वाणी दी है, अभिव्यक्ति दी है। और, फ्रँकोइज़ सॉगाँ पेरिस के सबसे कीमती होटलों में रहती है, और क्रेसी एक डबल रोटी और कहवे के एक प्याले पर रात-दिन काट देता है। 'ए सर्टेन स्माइल' वाली यह सॉगाँ अगर प्रकाशक बन जाए और फ्रांस के सारे होटलों की मालिक बन जाए, तो मुझे कोई एतराज नहीं होगा। क्योंकि, उसके लिखने का उद्देश्य पैसा है, और कुछ नहीं ! मगर क्रेसी ? क्या श्री गंगाधर चाहेंगे कि क्रेसी भी प्रकाशक बन जाए और सुनहरी जिल्दों के चार-चार आठ-आठ खण्डों में अपनी कविताओं के संग्रह निकाला करे ? शायद, नहीं चाहेंगे, क्योंकि मैं जानता हूँ और वे भी जानते हैं कि तब क्रेसी की मौत हो जाएगी।

अपने अन्तिम पाराग्राफ में श्री मधुकर गंगाधर अपनी बात इस तरह खत्म करते हैं कि "यह प्रश्न बहुत हल्का नहीं है कि तुरत जबाव दे दिया जाय" और मुझे लगता है कि उनकी यह दुबिधा कई गलत संकेत देती है। प्रश्न तो एकदम हल्का है, और अपने को प्रगतिशील लेखक कहनेवाला हर आदमी इतना तो कहेगा ही कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सीमाएँ होती हैं, अपना दायरा होता है। आदमी आदमी ही है, बहुरूपिया नहीं है ; वह या तो किताब बेच सकता है या किताब लिख सकता है, दोनों काम ईमानदारी से, एक साथ, नहीं कर सकता......! और, 'स्टार्म' जैसी महान् पुस्तक के लेखक, इलिया एहरेन्बर्ग की जो गत हुई है, वह किसी भी व्यक्ति से छिपी नहीं है। एहरेन्बर्ग, हावर्ड फास्ट, इग्नेज़ियो सिलोने, कितने ही नाम हैं, और कितने ही नए नाम इन नामों में धीरे-धीरे चिपके जा रहे हैं। आमीन !

भवदीय
कमल नारायण सिंह



साहित्य में अच्छा लगना और बुरा लगना ही चरम बात है और विज्ञान में सत्य और मिथ्या का विचार ही अन्तिम विचार है।

—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वह देश दयनीय है—

जो धर्म की आड़ में वस्तुतः अन्धविश्वासों की पूजा करता है।

जो हृदयहीन को सूरमा और गर्व से फूले विजेता को उदार मानता है।

जो स्वप्न में अपनी जिस इच्छा का तिरस्कार करता है ; जाग्रत अवस्था में उसी के वशीभूत रहता है।

और दयनीय है वह देश, जो कई टुकड़ों में विभाजित है और प्रत्येक टुकड़ा स्वयं को एक देश मानता है।

—खलील जिब्रान



आधुनिक हिंदी कविता *



प्रधान सर्वेक्षक : डॉ०रामखेलावन पांडेय

[सर्वेक्षण की पद्धति पूर्ववत् है। यथाक्रम रुचिकर दस काव्यग्रंथों के नाम माँगे गए थे और इसी क्रम से दस सर्वाधिक रुचिकर कवियों के भी। यह स्पष्ट कर दिया गया था कि एक ग्रंथ सर्वाधिक रुचिकर हो सकता है किन्तु समग्र रचनाओं को दृष्टि में रखने पर उस काव्य-ग्रंथ के कवि से भिन्न कोई अन्य कवि सर्वाधिक रुचिकर प्रतीत हो सकता है। सर्वाधिक रुचिकर ग्रंथ अथवा कवि के लिए दस और दसवाँ स्थान पानेवाले के लिए एक बिंदु निर्धारित है। यह सर्वेक्षण राँची कॉलेज के स्नातकोत्तर वर्ग के छात्रों की रुचि का है। पच्चीस छात्रों ने इसमें भाग लिया है और इनमें केवल दो व्यक्ति नगर-निवासी हैं; शेष व्यक्तियों के मूल संस्कार नागरिक नहीं हैं। नारियों की संख्या भी केवल दो ही है अर्थात् कुल का आठ प्रतिशत। ग्रामीण संस्कार वाले व्यक्तियों की संख्या तेईस है अर्थात् बिरानब्बे प्रतिशत। इनमें मूल खड़ीबोली क्षेत्र की निवासिनी एक महिला हैं अन्यथा अन्य सभी बिहारी हैं और सभी उपभाषाओं के क्षेत्र के निवासी हैं। एक व्यक्ति सिमरिया घाट के समीप के निवासी हैं जो 'दिनकर' का जन्म स्थान है। उस भू-भाग के आस-पास के निवासियों की संख्या केवल दो है।]

सर्वाधिक रुचिकर काव्य-ग्रंथ

वर्ग (क)

१. कामायनी (२१६); २. कुरुक्षेत्र (१४५); ३. साकेत (१३५); ४. अनामिका (१२१); ५. गुंजन (६१); ६. रेणुका (५६); ७. आँसू (५१)। पचास बिंदुओं से कम प्राप्त करने के कारण अन्य काव्य-ग्रंथों का उल्लेख वर्ग (ख) में हुआ है।

वर्ग (ख)

२६ से ५० बिंदुओं तक प्राप्त करनेवाले काव्य-ग्रंथ—

१. पल्लव (४८), हुंकार (४८); २. गीतिका (४५); ३. प्रिय-प्रवास (३१); ४. निरालाकृत तुलसीदास (२७); ५. यामा (२६)।

वर्ग (ग)

१० से २५ बिंदुओं तक प्राप्त करनेवाले काव्य-ग्रंथ—

१. भारत भारती (२५); २. यशोधरा (२३); ३. आधुनिक कवि : पंत (१८); स्वर्णकिरण (१८); दीपशिखा (१८); आधुनिक कवि : महादेवी (१८); ४. ग्राम्या (१५); ५. मधुबाला (१४); निशा-निमंत्रण (१४); ६. नूरजहाँ (१२); ७. ग्रंथि (११); तार सप्तक (११); ८. ऋतंवरा (१०); शिप्रा (१०); विक्रमादित्य (१०); रश्मि-रथी (१०); मिलन-यामिनी (१०)।

वर्ग (घ)

वर्णानुक्रम से उन काव्य-ग्रंथों के नाम दिए गए हैं जिनका उल्लेख किसी-न-किसी स्थान पर हुआ है—

आर्यावर्त्त (वियोगी), कणिका, काश्मीर सुषुमा (श्रीधर पाठक), दर्द दिया है (नीरज), नन्ददास (आरसी), पथिक (रामनरेश त्रिपाठी), प्रवासी के गीत (नरेन्द्र शर्मा), मधुकलश (बच्चन), मेघगीत (जानकीवल्लभ शास्त्री), रूप-अरूप (जानकीवल्लभ शास्त्री), सतरंगिनी (बच्चन), सामधेनी (दिनकर), सांध्यगीत (महादेवी), हल्दीघाटी (श्यामनारायण पांडेय)।

सर्वाधिक रुचिकर कवि

वर्ग (क)

१. प्रसाद (२३७); २. दिनकर (२०७); ३. निराला (१८१); ४. पंत (१३६); ५. गुप्त (१३०); ६. महादेवी (१२६); ७. बच्चन (७४)।

* सर्वेक्षण की लोक-प्रियता इसी से प्रकट है कि अनेक पाठकों, लेखकों और हिन्दी-हितैषियों ने इसके स्थगन पर चिन्ता प्रकट की। सम्पादक के निरन्तर आग्रह पर भी व्यक्तिगत कारणों से यह स्तम्भ स्थगित हो गया था। इसमें मेरी विवशताओं का ही दोष है, अतः क्षमा की आकांक्षा रखता हूँ। —प्रधान सर्वेक्षक

वर्ग (ख)

छब्बीस और पचास के बीच बिंदु प्राप्त करनेवाले कवि—

हरिऔध; जानकीवल्लभ शास्त्री, नेपाली, ठाकुर गुरुभक्त सिंह 'भक्त', अज्ञेय, एक भारतीय आत्मा और केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'।

वर्ग (ग)

दस से पच्चीस बिंदु तक प्राप्त करनेवाले कवि—

रामनरेश त्रिपाठी, भगवतीचरण वर्मा, नीरज, अंचल।

वर्ग (घ)

जिनका उल्लेख किसी-न-किसी स्थान पर हुआ है—

आरसी, कलक्टर सिंह 'केसरी', त्रिलोचन शास्त्री, नरेन्द्र शर्मा, सियाराम शरण गुप्त, हंसकुमार तिवारी।

निष्कर्ष

(१) कामायनी को २१६ बिंदु प्राप्त हुए हैं अर्थात् ८७·६% प्रतिशत। इसे सर्वाधिक रुचिकर माननेवालों की संख्या पन्द्रह है अर्थात् कुल का साठ प्रतिशत। जयशंकर प्रसाद को सर्वश्रेष्ठ कवि माननेवालों की संख्या केवल दस है अर्थात् चालीस प्रतिशत, किन्तु प्रसाद को २३७ बिंदु उपलब्ध हुए हैं अर्थात् ६४·८% प्रतिशत। इन्हें प्रथम नहीं तो द्वितीय स्थान प्रायः दिया गया है। निम्नस्थान देनेवालों की संख्या अत्यंत अल्प है। कामायनी को सर्वाधिक रुचिकर माननेवालों की संख्या पन्द्रह है पर जयशंकर प्रसाद को सर्वाधिक रुचिकर माननेवालों की संख्या है केवल दस अर्थात् बीस प्रतिशत व्यक्तियों ने कामायनी को सर्वाधिक रुचिकर मानने पर भी जयशंकर प्रसाद को सर्वाधिक रुचिकर कवि नहीं माना है। कामायनी और 'प्रसाद' दोनों का उल्लेख सभी व्यक्तियों ने किया है। प्रसाद को कम-से-कम तृतीय स्थान मिला है और कामायनी को सातवाँ।

(२) कुरुक्षेत्र को १४५ बिंदु प्राप्त हुए हैं अर्थात् ५८ प्रतिशत एवं दिनकर को २०७ बिंदु अर्थात् ८२·८ प्रतिशत। दिनकर को अधिक बिंदु प्राप्त होने पर भी कुरुक्षेत्र को केवल ५८ प्रतिशत बिंदु प्राप्त हुए। दिनकर को पाँच व्यक्तियों ने सर्वाधिक रुचिकर माना पर कुरुक्षेत्र को केवल एक व्यक्ति ने। दिनकर और कुरुक्षेत्र की लोक-प्रियता में ५ और १ का अनुपात है। 'हुंकार' को भी एक व्यक्ति ने सर्वाधिक रुचिकर माना है। 'कुरुक्षेत्र' और 'हुंकार' को सर्वाधिक रुचिकर माननेवाले मुंगेर के आसपास के निवासी हैं। 'कुरुक्षेत्र' और 'दिनकर' दोनों का उल्लेख सभी व्यक्तियों ने किया है। दिनकर को निम्नतम स्थान मिला छठा और कुरुक्षेत्र को सातवाँ।

(३) साकेत को १३५ बिंदु प्राप्त हुए अर्थात् ५४ प्रतिशत किन्तु गुप्त को केवल १३० बिंदु अर्थात् ५२ प्रतिशत। न तो किसी ने साकेत को सर्वाधिक रुचिकर माना और न किसी ने गुप्त को। साकेत को निम्नतम स्थान तृतीय प्राप्त हुआ पर गुप्त को पाँचवाँ स्थान मिला। साकेत को द्वितीय स्थान देनेवालों की संख्या चार है और गुप्त को द्वितीय स्थान देनेवालों की संख्या भी चार है। साकेत का उल्लेख किया है इक्कीस व्यक्तियों ने और गुप्त का तेईस व्यक्तियों ने। साकेत और गुप्त दोनों को निम्नतम स्थान दसवाँ मिला है।

(४) पुस्तकों में चौथा स्थान मिला है 'अनामिका' को और इसे १२१ बिंदु प्राप्त हुए हैं। निराला को १८१ बिंदु अर्थात् ७२·४ प्रतिशत बिंदु प्राप्त हुए। अनामिका को सर्वाधिक रुचिकर माननेवालों की संख्या पाँच है अर्थात् २० प्रतिशत; एवं निराला को भी सर्वाधिक रुचिकर माना पाँच व्यक्तियों ने। निराला को जो निम्नतम स्थान मिला है वह है छठा और अनामिका को नवाँ। केवल पन्द्रह व्यक्तियों ने अनामिका का उल्लेख किया है और निराला का चौबीस व्यक्तियों ने। निराला और अनामिका की लोक-प्रियता में ८ और ५ का अनुपात है।

(५) 'गुंजन' को पाँचवाँ स्थान मिला है और बिन्दु-संख्या केवल ६१ है अर्थात् २४·४ प्रतिशत। पंत को चौथा स्थान मिला है और बिन्दु-संख्या है १३६ अर्थात् ५४·४ प्रतिशत। न तो किसी ने पंत को सर्वाधिक रुचिकर माना है और न किसी ने 'गुंजन' को।

(६) महादेवी और बच्चन को क्रमशः छठे और सातवें स्थान मिले हैं किन्तु इनकी पुस्तकों को मिलनेवाली बिंदु-संख्या अल्प है।

(७) सर्वाधिक रुचिकर ग्रंथों में दो रचनाएँ प्रसाद की हैं और दो दिनकर की।

(८) सर्वाधिक रुचिकर ग्रंथों में प्रथम तीन स्थान पानेवाली रचनाएँ प्रबंधात्मक हैं। अधिकांश व्यक्तियों ने प्रबंधात्मकता को महत्त्वपूर्ण माना है। 'दार्शनिकता की काव्यात्मक अभिव्यक्ति' काव्य-गौरव की आवश्यक आधार-शिला मानी गई है। दिनकर के भाषा-सौष्ठव ने अधिक व्यक्तियों को आकर्षित किया है यद्यपि कुरुक्षेत्र के संबंध में यह उल्लेख किया गया है कि 'इसमें काव्य की दृष्टि से कोई विशेषता भी दृष्टिगत नहीं होती।' कामायनी के 'व्यावहारिक एवं उपादेय दर्शन' से प्रभावित होनेवाले व्यक्ति को 'मधुशाला' में 'अव्यावहारिक एवं अबोध तत्त्वों' के आभास मिले हैं।

(९) काव्यात्मक तत्त्वों में प्रबन्धात्मकता, भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति, भाषा और शैली की प्रौढ़ता, लयात्मकता एवं गीतात्मकता, मनोवैज्ञानिक संश्लेष, प्राकृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति आदि को महत्त्वपूर्ण कहा गया है। प्रबन्धात्मकता को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माननेवालों की संख्या बीस है अर्थात् अस्सी प्रतिशत। एक व्यक्ति ने पूरे वातावरण को सशक्त भाषा में मूर्त करने की क्षमता को अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है और इस दृष्टि से निराला-कृत 'राम की शक्ति-पूजा' को सर्वाधिक रुचिकर रचना कहा है।

(१०) प्रयोगवादियों में सर्वाधिक उल्लेख योग्य अज्ञेय हैं; नीरज को भी लोक-प्रियता प्राप्त हुई है। प्रयोगवादियों को प्रायः लोगों ने सामूहिक रूप से ही देखा है। 'तार सप्तक की प्रयोगवादी कविताएँ जीवन को दूर से देखती हैं और उनके सौंदर्यमान जीवन के सौंदर्यमान से मेल नहीं रखते', ऐसा कहा गया है।

(११) अधिकांश व्यक्ति 'ज्ञानार्जन' और 'मनोरंजन' दोनों के लिए काव्य-ग्रंथों का पाठ करते हैं।

(१२) पचीस व्यक्तियों ने ४५ पुस्तकों के नाम दिए। बच्चन की सात, पंत की छः, दिनकर की चार, महादेवी की चार, गुप्त की तीन, शास्त्री की तीन, निराला की तीन और प्रसाद की दो पुस्तकों के नाम आए हैं। बच्चन की सात पुस्तकों को लोक-प्रियता मिली है पर इनको कवियों के क्रम में सातवाँ स्थान मिला है और प्रसाद की दो ही काव्य-पुस्तकें रुचिकर मानी गईं फिर भी उन्हें सर्वप्रथम स्थान मिला है। कवियों के उल्लेख में केवल पचीस के नाम आए हैं।

(१३) स्थानीय कवियों को विस्मृत करना कठिन है। जहानाबाद के निवासी ने वहाँ के एक कवि का उल्लेख किया है। मुंगेर और उसके आस-पास के निवासियों ने दिनकर और उनकी किसी-न-किसी रचना को सर्वाधिक रुचिकर अवश्य माना है, यद्यपि दिनकर को सर्वाधिक बिंदु दिलानेवाले सभी व्यक्ति मुंगेर-निवासी नहीं हैं।

(१४) पुस्तकें खरीद कर पढ़नेवालों की संख्या केवल आठ है अर्थात् केवल बत्तीस प्रतिशत। स्थानीय विक्रेताओं के यहाँ काव्य-पुस्तकें अधिक नहीं मिलतीं। पुस्तकालयों में भी नवीनतम पुस्तकों का अभाव ही रहता है।

(१५) पचीस व्यक्तियों में से केवल दस व्यक्तियों ने कविता के प्रति अधिक रुचि दिखलाई है। बाईस व्यक्तियों को उपन्यास ही प्रिय हैं। नाटक की चर्चा केवल दो व्यक्तियों ने की है। 'कविता' में रुचि रखनेवाले व्यक्ति भी उपन्यास में रुचि-सम्बद्धता देखते हैं। उपन्यास ८८ प्रतिशत व्यक्तियों को रुचिकर है और कविता केवल चालीस प्रतिशत को।

(१६) संकलन-ग्रंथों की कुछ रचनाएँ लोगों को प्रिय मालूम पड़ती हैं, पर समग्र संकलन-ग्रंथ प्रिय नहीं हो पाता।

पर्यवेक्षण

(१) 'कामायनी' और 'प्रसाद' दोनों का सर्वप्रथम आना सूचित करता है कि प्रसाद के व्यक्तित्व, संभावना और उपलब्धि का समीकरण 'कामायनी' में हुआ है। 'साकेत' को तृतीय स्थान मिला और गुप्त को पाँचवाँ, इसमें संकेत है कि गुप्त को संभावना से अधिक सफलता 'साकेत' में मिली है। 'कुरुक्षेत्र' को द्वितीय स्थान मिला और दिनकर को भी। सामान्य रूप से संभावना और उपलब्धि के लिए सामान्य स्तर स्वीकृत हो सकता है, किन्तु बिंदुओं की संख्या में ६२ का अन्तर है अर्थात् दिनकर और कुरुक्षेत्र की लोक-प्रियता में प्रायः ३ : २ का अनुपात है।

(२) मुक्तक रचयिताओं में 'निराला' सर्वाधिक लोक-प्रिय हैं। निराला को १८१ बिंदु प्राप्त हुए और 'अनामिका' को १२१। 'अनामिका' को चतुर्थ स्थान मिला और निराला को तृतीय और निराला एवं अनामिका में भी ३ : २ का

(शेष पृष्ठ ७७ पर)

विभिन्न वर्ग : वाचन-प्रवृत्ति

× × × ×

: १ :

दो मास पूर्व देश के गिने-चुने १०० सम्माननीय व्यक्तियों की सेवा में, अपने पाठकों को बड़े लोगों की वाचन-प्रवृत्ति का अन्दाज देने के लिए, कुछ प्रश्न भेजे गए थे। इन १०० व्यक्तियों में १४ पत्रकार, १० विरोधी पत्तों के राजनेता, १७ राज्य-सरकारों के मंत्री, ८ केन्द्रीय सरकार के मंत्री, ३० राष्ट्रीय कोटि के विद्वान, ८ पुस्तक-व्यवसायी और १३ साहित्यकार थे। उनसे प्रश्न किया गया था कि—

(१) आप अधिकतर किस भाषा का साहित्य पढ़ते हैं? (२) आपको पढ़ने का समय मिलता है? (३) आप अधिकतर किस विषय की पुस्तकें पढ़ते हैं। (४) गत तीन मासों में पढ़ी हुई पुस्तकों के नाम क्या हैं? (५) अबतक पढ़ी हुई पुस्तकों में तीन-चार अच्छी पुस्तकों के नाम बतावें। (६) वे पुस्तकें क्यों अच्छी लगीं? (७) एक वर्ष में लगभग कितनी पुस्तकें खरीदी हैं, उनका प्रमुख विषय क्या है? (८) आप किन-किन भाषाओं में बोलचाल या लिख-पढ़ सकते हैं? (९) किसी पुस्तक ने आपके जीवन पर गहरा असर दिया हो तो उसका नाम? (१०) कैसी हिन्दी पसन्द करते हैं; अधिक संस्कृत, अधिक उर्दू या अधिक ग्राम्य? (११) हिन्दी लेखकों और पाठकों के लिए कोई सन्देश?

कुछ प्रतीक्षा के बाद उक्त महानुभावों से उत्तर के लिए पुनः निवेदन किया गया। किन्तु, 'जीवन साहित्य' के संपादक श्री यशपाल जैन तथा डॉ० श्री राममनोहर जी लोहिया के अलावा किसी ने उत्तर देने की कृपा नहीं की। श्री अशोक मेहता जी के पास पते की गड़बड़ी के कारण पत्र ही नहीं पहुँच सका तथा उत्तर-प्रदेश के मुख्य-मंत्री श्री सम्पूर्णानन्द जी ने कार्यव्यस्तता के कारण अपनी अक्षमता प्रकट की।

उपर्युक्त स्थिति में, हमें अपने पाठकों के समक्ष महानुभावों की वाचन-प्रवृत्ति का जो अन्दाज उपस्थित करना था, यद्यपि वह नहीं हो सकता है, फिर भी, जिनके उत्तर मिले हैं, उन दोनों महानुभावों के उत्तर पाठकों के समक्ष हैं :

डॉ० श्री राममनोहर लोहिया

(१) हिन्दी, जर्मन, फ्रेंच और अंगरेजी साहित्य अधिकतर पढ़ते हैं। (२) कम, यात्रा के समय पढ़ने का समय मिलता है। (३) राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन की पुस्तकें अधिकतर पढ़ते हैं। (४-५-६-७) संख्यक प्रश्नों का आपने कोई उत्तर नहीं दिया। (८) हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती फ्रेंच और जर्मन आदि भाषा में बोलचाल और लिख-पढ़ सकते हैं। (९) संख्यक प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। (१०) "आम बोलचाल की, जिसे सर्वसाधारण आसानी से समझ सकें"—हिन्दी पसन्द करते हैं। (११) हिन्दी के पाठकों और लेखकों के लिए सन्देश है कि : "अंगरेजी को खतम करने के लिए हिन्दी-भाषियों को चाहिए कि पहले अपनी राज्य-सरकारों को हिन्दी में काम-काज करने के लिए बाध्य करें। दूसरे, १० साल तक भारत-सरकार की गजेटी नौकरियाँ केवल गैर-हिन्दीभाषियों के लिए छोड़ दें।"

श्री यशपाल जी जैन

(१) अधिकतर अंगरेजी और हिन्दी साहित्य पढ़ते हैं। (२) पढ़ने का समय मिलता है, विशेषकर यात्राओं में। (३) अधिकतर उपन्यास, कहानी, संस्मरण, जीवनी, निबंध आदि पढ़ते हैं। (४) गत तीन मास में पढ़ी पुस्तकों के "नाम गिनाना कठिन है।" (५-६) अब तक पढ़ी पुस्तकों में सबसे अच्छी लगी हैं : गीता-प्रवचन (बिनोवा), दशरथनंदन श्रीराम (राजाजी), प्रभु पधारे (मेघाणी) : क्योंकि ये विचार-प्रेरक हैं। (७) एक वर्ष में कितनी पुस्तकें खरीदीं यह कहना कठिन है; हाँ, वे "विचार-प्रधान" थीं। (८) हिन्दी, अंगरेजी, उर्दू तथा गुजराती में बोलचाल लिखपढ़ सकते हैं। (९) "प्रत्येक अच्छी पुस्तक ने कुछ-न-कुछ प्रभाव" आपके जीवन और चरित्र पर डाला है। (१०) आप "सरल हिन्दी" पसंद करते हैं; "उसमें शब्दों का आग्रह न हो, भाषा भावों के साथ चलती हो, न कि भाव भाषा के साथ।" (११) हिन्दी-लेखकों के प्रति संदेश है कि : "हिन्दी में ऐसे साहित्य का सृजन होना चाहिए जो लोकोपयोगी हो और समाज की रुचि को परिष्कृत करे" तथा पाठकों से कहना है कि : "वे पुस्तकें खरीदकर पढ़ें, प्रतिमास कुछ द्रव्य पुस्तकें खरीदने के लिए सुरक्षित रक्खें, चुनी हुई पुस्तकों का घर में एक छोटा-सा पुस्तकालय बनायें और धीरे-धीरे उसे सम्पन्न करते रहें।"

: २ :

उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न, कुछ हल्के तौर पर, चौथे वर्ग से लेकर ग्यारहवें वर्ग तक के पच्चीस बच्चे-बच्चियों से भी पूछे गए थे। जिनमें से दस के उत्तर आए। उपर्युक्त बड़े-बड़ों के मुकाबले वे अधिक तत्पर और सुलझे हुए प्रतीत हुए, इसका हर्ष है। उत्तर देनेवालों में चार बच्चियाँ और छः बच्चे थे। सबकी उम्र आठ से चौदह वर्ष तक की थी। जिनमें मैथिली मातृभाषा वाले दो लड़के, पंजाबी मातृभाषावाली चार लड़कियाँ, बंगला मातृभाषा वाले दो लड़के तथा मगही मातृभाषा वाले दो लड़के थे। सभी ने पढ़ने की फुर्सत छुट्टी के समय बताई। बंगला मातृभाषा वाले दोनों लड़कों और पंजाबी मातृभाषा वाली चारों लड़कियों ने साहसिक कहानियों के प्रति अपनी रुचि बताई। पंजाबी-भाषिणियों में एक ने अंगरेजी की आवश्यकता पर जोर दिया और शेष तीनों ने हिन्दी की। लड़कों में सभी ने हिन्दी की आवश्यकता पर ही जोर दिया। लड़कियों ने प्रायः माँगकर पुस्तकें पढ़ी हैं। लड़कों में प्रायः सभी को कविता पढ़ने का भी शौक है जबकि लड़कियों में सभी ने छोटे-बड़े कथा-साहित्य ही पढ़े हैं।

पत्रिकाओं में, एक को छोड़कर, सभी बच्चियों को धर्मयुग प्रिय है। चंदामामा सभी लड़के-लड़कियों द्वारा प्रशंसित है। बाल-भारती चारों लड़कियों और तीन लड़कों को पसन्द है। दो लड़कों ने धर्मयुग को पसन्द किया है। चुन्नू-मुन्नू और बालक की प्रशंसा केवल एक-एक ने की। दो लड़कियों और चारों लड़कों के यहाँ पत्रिकाएँ और पुस्तकें खरीदी जाती हैं। शेष माँगकर पढ़ते हैं।

कथा-साहित्य में तितली (पराग प्रकाशन) सुबह का भूला और मुर्दों के देश में (एजुकेशनल पब्लिशर्स पटना) छह ने पढ़ा है। निशा-निमंत्रण (बच्चन) की कविता दो के सिवा सभी बच्चे पढ़े हुए हैं। साहस के पुतले, डाकघर, गुनाहों के देवता, सदाचार की कहानियाँ, माँ, बालू के टीले, घेरे के अन्दर, परित्यक्ता, शिवाजी, हड़ताल, रंगभूमि, कुएँ का राक्षस आदि कथा-साहित्य को केवल दो दो ने पढ़ा है। इनमें 'गुनाहों के देवता' और 'घेरे के अन्दर' पर दो लड़कियों का ही जोर है।

[यह अल्पारम्भ है। फिर भी, इच्छित क्षेम नहीं सधा—ऐसा लगता है। भविष्य में हमारा प्रयास रहेगा कि देश के विभिन्न भाषा-भाषी विद्वानों और विभिन्न आयु-योग्यता-धन्धों के पाठकों की वाचन-प्रवृत्ति को हम और भी अच्छी तरह अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करें। —सम्पादन विभाग]

(शेष पृष्ठ ७५ का)

अनुपात है। 'राम की शक्ति-पूजा' बहुचर्चित रचना है और ओज की अभिव्यक्ति में निराला के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिफलन देखा गया है। 'तुलसीदास' के स्थान में किसी ओजस्वी पात्र को यदि इन्होंने विषय बनाया होता तो अधिक लोक-प्रियता मिलती।

(३) बच्चन, महादेवी और पंत की अनेक पुस्तकें उल्लेखनीय प्रतीत हुईं किंतु इनकी किसी काव्य-रचना को अधिक बिंदु नहीं मिले। पंत को १३६ बिंदु प्राप्त हुए पर गुंजन को केवल ६१। महादेवी को १२६ बिंदु प्राप्त हुए और यामा को केवल छब्बीस। बच्चन को ७४ बिंदु प्राप्त हुए और उनकी पुस्तकों में सर्वाधिक बिंदु प्राप्त करनेवाली पुस्तक मधुबाला को केवल चौदह।

(४) जिन कवियों की अधिक पुस्तकों को रुचिकर माना गया है उनकी समस्त पुस्तकों की सम्मिलित बिंदु-संख्या पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि अधिक उत्पादन सर्वदा रुचि-संयोजक नहीं होता और पाठकों को सर्वाधिक रुचिकरता के निर्णय में कठिनाई होती है। प्रसाद ने अपेक्षाकृत कम काव्य-ग्रंथ लिखे हैं अतः कामायनी के संबंध में निर्णय करते समय कोई अड़चन नहीं होती।

(५) संकलन-ग्रंथों में अधिक सावधानी की अपेक्षा है, क्योंकि विभिन्न स्तर की रचनाओं के संकलित होने पर रुचि-सम्बद्धता में बाधा पहुँचती है।

(६) कविता के प्रति आकर्षण अधिक नहीं रह गया है। आधुनिकतम कवियों की रचनाएँ अधिक व्यक्तियों को रुचिकर प्रतीत नहीं हो रही हैं। सामान्य संवेदनात्मकता और कवि के संवेदन-निवेदन में अन्तराल है। इसे मिटाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(७) कवि यदि अपने व्यक्तित्व को समझ सकें तो काव्य-विषयों की सम्बद्धता से काव्यात्मक संवर्द्धन में सफलता मिलेगी।

उनके प्रश्न इनके उत्तर

अपने जिले के हिसाब से देखती हूँ तो लगता है कि सारे प्रान्त में कम-से-कम दो-अढ़ाई सौ चित्रकार ऐसे होंगे कि यदि उनके चित्रों का, एलबम आदि के रूप में, प्रकाशन हो तो देश में इस प्रान्त का नाम बढ़े और उनमें से कुछ विश्व के चित्रकारों में भी आसन पावें। फिर, उनके एलबम क्यों नहीं प्रकाशित किए जा रहे हैं ?

प्रतिभा भट्ट
जमालपुर

साधारण प्रकाशक यह काम नहीं कर सकता है। क्योंकि, किसी अच्छे-खासे ग्रन्थ के प्रकाशन में जो पूँजी लगती है, उससे आठ-दस गुना अधिक ऐसे एलबमों में लग जाती है। और फिर, आठ-दस गुना अधिक दाम की चीजों को साधारण ग्राहक खरीद भी नहीं सकते। हाँ, सरकार को यह काम करना चाहिए। वह पुस्तकालयों में इसकी खपत करा सकती है। साधारण पत्र-पत्रिका, उपन्यास, कोष और अनुवाद आदि के प्रकाशनों का काम अर्धसरकारी या गैरसरकारी साहित्य-कला-संस्थाएँ भी कर लेती हैं। पुराने स्थापत्य या चित्र भी तो बड़े-बड़े सामन्तों और राजाओं ने ही रचवाए थे। वे नहीं रहे, तो इन कलाओं और कलाकारों का रक्षण तो सरकार के जिम्मे की ही चीज़ है।

अखिलेश्वर पाण्डेय

• • •

एक-जैसे उखड़ते-उलझते हुए प्रेमों की कहानियों पर अपने गाँधी-मार्क्स-फ्रायड को मढ़ देने की बात तो बहुत हुई। क्यों नहीं कोई आर्थर-कानन-डायल जैसी सधी-सधाई साहस और वैज्ञानिक अध्ययन की कलाकृति को, उपन्यास के रूप में अपने देश में रखता ?

सुमन्त चौधरी
आसनसोल

हिन्दी में विज्ञान, कानून या युद्ध आदि की उतनी बारीकियों में पैठे हुए लोग लेखक नहीं हैं और जो लेखक हैं वे यह-सब नहीं जानते। दूसरे, अपना देश भी विज्ञान, कानून या युद्ध से अबतक कोई सीधा सामना नहीं ले सका है, जिससे कि सभी इसके अनुभवी हों। अबतक लगभग जो ऐसी कुछ चीजें लिखी गई हैं, वे विदेशों की वैसी चीजों के पढ़ने के अन्दाज पर ही। हाँ, इसकी आवश्यकता तो अत्यधिक है ही।

रामप्रिय मिश्र

• • •

अपने हिन्दी साहित्यकार राजनीतिक साहित्य क्यों नहीं पढ़ते हैं ?

राधिकारमण
कानपुर

जो नहीं पढ़ते हैं, वे समझते हैं कि वैसे साहित्य को पढ़ने से उनकी साहित्यिकता कुंठित होगी। हालाँकि यह उनकी नादानी है। क्योंकि, अपने देश में ही, जो राजनीतिक विचारों को पढ़ते हैं और राजनीति में थोड़ा-बहुत भाग तक लेते हैं, वे उनसे अच्छा लिख रहे हैं जोकि अपने को तटस्थ बताया करते हैं।

सच्चिदानन्द सिंह

• • •

मैं तेरह वर्ष की हूँ। क्या मुझे कविताएँ पढ़नी चाहिएँ ?

कुमारी कुमुद गुप्त
जमशेदपुर

अवश्य पढ़नी चाहिए, यदि आप समझ सकती हों तो !

सदानन्द सिंह

लेखक : "मुझे निश्चय हो गया है कि सब संपादकों ने मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रच लिया।"
मित्र : "तुम इस निश्चय पर कैसे पहुँचे ?"
लेखक : "मेरी एक ही रचना दस पत्रों से लौटकर आई है।"



बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के प्रकाशन

[२६ फरवरी, १६५६ से ३१ जुलाई, १६५६ तक]

तैयार हैं

१. कृषिकोष (सम्पादकः डॉ० विश्वनाथ प्रसाद)
२. संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय (डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री)
३. भारतीय प्रतीकविद्या (डॉ० जनार्दन मिश्र)
४. दक्खिनी हिन्दी-काव्यधारा (म० पं० राहुल सांकृत्यायन)
५. कुँवरसिंह-अमरसिंह (मूल-लेखक : डॉ० कालीकिंकर दत्त, अनुवादक : पं० छविनाथ पाण्डेय)

छप रही हैं

१. शिवपूजन-रचनावली (चौथा खण्ड) (श्रीशिवपूजन सहाय)
२. साहित्य का इतिहास-दर्शन (प्रो० नलिनविलोचन शर्मा)
३. मुहावरा-मीमांसा (डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त)
४. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति (महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी)
५. बौद्धधर्म और बिहार (श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय')
६. हिन्दी-साहित्य और बिहार (सम्पादक : श्रीशिवपूजन सहाय ; सहायक : श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ)
७. पुस्तकालय-विज्ञान-कोश (श्रीप्रभुनारायण गौड़)
८. कथासरित्सागर (मूल लेखक : श्रीसोमदत्त; अनुवादक : पं० केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत')
९. सदलमिश्र-ग्रंथावली (पं० सदल मिश्र)
१०. पंचदशलोकभाषा-निबन्धावली (वार्षिकोत्सवों के अवसर पर पठित निबन्ध-संग्रह)
११. अयोध्याप्रसादखत्री-स्मारक-ग्रंथ (सम्पादक : श्रीशिवपूजन सहाय और प्रो० नलिनविलोचन शर्मा)
१२. हस्तलिखित पोथियों का विवरण—खण्ड ३ और ४ (सम्पादक : प्रो० नलिनविलोचन शर्मा)

प्रकाशनार्थ स्वीकृत

१. गोस्वामी तुलसीदास (शिवनन्दन सहाय)
२. दक्षिणी रंगनाथ रामायण का अनुवाद
३. वेणु-शिल्प (श्रीउपेन्द्र महारथी)
४. पुरस्कृत निबन्ध-संग्रह (संगृहीत)
५. अन्तरराष्ट्रीय विधान (श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा एम्० एल्० सी०)
६. कृषि-विनाशी कीट और उनका दमन (श्रीशैलेन्द्रकुमार)
७. मगही-संस्कार-गीत (सम्पादक : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद)
८. मैथिली में कृष्ण-काव्य (प्रो० ललितेश्वर झा एम्० ए०)
९. सुमति-ग्रंथावली (स्वर्गीय पं० शिवप्रसाद पाण्डेय 'सुमति')
१०. बुद्धचरित (श्रीरामबहादुर शर्मा)
११. पारिभाषिक शब्दावली (स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव)

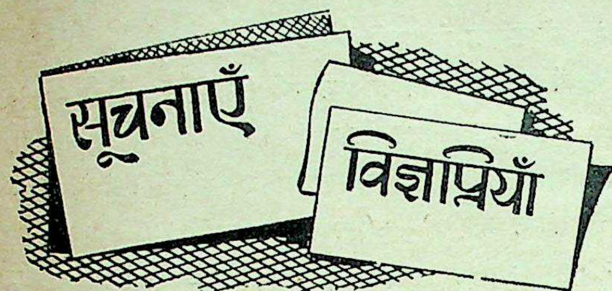
●●●

किताब-महल, इलाहाबाद के प्रकाशन

१. संस्कृत काव्यधारा (राहुल सांस्कृत्यायन) मूल्य १५.००
२. आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ (जगतनारायण) मूल्य ३.००
३. हठीली राजकुमारी (किशोर साहू) मूल्य १.७५
४. धूपछाँह (सुधांशुभूषण) मूल्य .६२



[अंक से पूर्व के दो मासों के प्रकाशन ही इस स्तंभ में आ सकेंगे। प्रकाशक आगे से वैसी ही सूचना देने की कृपा करेंगे।
—सम्पादक]



—प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता संघ जोधपुर ने प्रस्ताव किया है कि भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय द्वारा मनोनीत एडवाइजरी कमेटी फार लाइब्रेरीज की रिपोर्ट के अनुसार पुस्तकालयों में पुस्तकें पहुँचाने के लिए जो बुक-ब्यूरो के आयोजन की सिफारिश की गई है, वह अनुचित और पुस्तक-विक्रेताओं के अधिकारों पर कुठाराघात करनेवाली है। जबकि पुस्तकों पर मूल्य और लाइब्रेरियों को मिलनेवाले कमीशन की दरें निश्चित हैं और लाइब्रेरियों के लिए पुस्तक-सूची भी प्रकाशित है तो यह बुक-ब्यूरो निरर्थक चीज है। दूसरे प्रस्ताव द्वारा उसने संयुक्त-हिन्दी-प्रकाशक से रजिस्ट्रेशन-अनुबन्ध में सुधार कर लेने की सिफारिश की है कि रजिस्ट्रेशन का शुल्क और वार्षिक चन्दा दो रुपया कर दिया जाय, धारा (क) में दर्ज, विशेष परिस्थिति में सवा छह प्रतिशत से अधिक छूट न दी जाय, को कतई निकाल दिया जाय और धारा (ग) में दर्ज बीस प्रतिशत कमीशन को साढ़े बारह प्रतिशत किया जाय। साथ ही यह आश्वासन दिया जाय कि उसके प्रकाशक सदस्य सीधी सप्लाई नहीं करेंगे।

—नयी दिल्ली, ६ अगस्त। संगीत नाटक अकादमी ने श्री मोहन राकेश के "आषाढ़ का एक दिन" को अपनी हिन्दी नाटक प्रतियोगिता का सर्वोत्तम नाटक घोषित किया है।

—लखनऊ। उत्तरप्रदेश सरकार ने एक नाटक प्रतियोगिता आयोजित करने का निश्चय किया है। प्रतियोगिता में प्रथम तीन प्रतियोगियों को क्रमशः ३००), २००) तथा १००) रुपये का पुरस्कार दिया जायगा। प्रतियोगिता में सारे देश के लेखक भाग ले सकेंगे और १ अक्तूबर, १६५६ तक सूचना संचालक, उत्तर प्रदेश के पास उन्हें अपने नाटक भेज देने चाहिये। एक लेखक एक से अधिक नाटक भी भेज सकता है। ऐसे लेखकों को, जिन्होंने पहले ही अपने नाटक प्रस्तुत कर दिये हैं, पुनः नाटक भेजने की आवश्यकता नहीं है।

—सानफ्रांसिस्को, ८ जुलाई। 'फारेन एड टु एशिया—आर चेन्जेज नीडेड' भारत को विदेशी सहायता—क्या नीति में परिवर्तन अपेक्षित है?' विषय पर 'एशियन स्टूडेण्ट' द्वारा आयोजित ७वीं वार्षिक निबन्ध प्रतियोगिता में भारत के सेमुअल पाल सफल हुए हैं। यह छात्र साइरेक्यूस विश्वविद्यालय का स्नातक है। इसने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया है। द्वितीय पुरस्कार भी एक भारतीय छात्र मृत्युंजय बनर्जी ने जीता है। यह छात्र पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय में व्यापार-प्रशासन विषय का अध्ययन कर रहा है।

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने १ जनवरी से ३१ दिसम्बर १६५५ की अवधि में प्रकाशित; ७ अन्य पुस्तकों पर दो-दो हजार रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। इन पुस्तकों के नाम निम्न प्रकार हैं: 'वाह-रे-मैं-वाह—(डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'); 'जिप्सी'—(बी० आर ऋषि, एम० ए०, प्रभाकर); 'पाणिनीकालीन भारतवर्ष'—(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल); 'सामान्य रसायन शास्त्र'-(डा० सत्यप्रकाश); 'एलोपैथिक मैटीरिया मैडिका'—(डा० शिवदयाल गुप्त); 'ईख और चीनी'—(प्रो० फूलसहाय वर्मा); 'आधुनिक परिवहन'—(डा० शिवध्यान सिंह चौहान)।

—प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसन्धान में लगी संस्थाओं को भारत सरकार अखिल भारतीय महत्त्व के दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता देना चाहती है। प्रकाशन-कार्य ३१ मार्च, सन् १६६१ से पूर्व पूर्ण हो जाना चाहिये। इस योजना के अन्तर्गत भारत सरकार स्वयं २० हस्तलिखित ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रही है।

—भारतीय लेखक भिक्षु चमनलाल ने इन्दोनेशिया की यात्रा से लौटकर बताया है कि इन्दोनेशिया के शिक्षा-विशेषज्ञ बच्चों को अमरीकी कार्टूनों से हटाने के लिए महाभारत और रामायण से सहायता ले रहे हैं। उन्होंने बताया कि इन्दोनेशिया में महाभारत और रामायण के कार्टून बनाकर पुस्तक रूप में प्रकाशित किए गये हैं।

—मध्य प्रदेश की हाईकोर्ट ने राज्य के लोकशिक्षा संचालक के विरुद्ध जबलपुर के एक प्रकाशक की दरख्वास्त विचारार्थ मंजूर कर ली है। प्रकाशक ने माध्यमिक शिक्षा-मंडल द्वारा स्वीकृत नये पाठ्यक्रम के अनुसार कई पुस्तकें तैयार करवा ली थीं जबकि मंडल ने पुरानी पाठ्य-पुस्तकों को नये वर्ष में चलाने का निर्णय घोषित कर दिया।

—नये शैक्षणिक सत्र के आरम्भ होने पर मद्रास, दिल्ली, वाराणसी, राजनँदगाँव तथा देश के अनेक अन्य नगरों में

राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तकों के न मिलने की खबरें समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रही हैं।

—भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने नवशिक्षितों के लिए विशेष रूप से लिखी गई १० पुस्तकों को एक-एक हजार रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की है। इन पुस्तकों के विषय भारत की सांस्कृतिक एकता, खण्ड-विकास-योजनाओं का इतिहास तथा सफलताएँ, भारत का राजनीतिक और सामाजिक इतिहास एवं भूगोल, स्वातन्त्र्य-संग्राम का इतिहास, तथा भारत की आर्थिक व सामाजिक स्वतन्त्रता होने चाहिएँ। पुस्तकों का आकार ८० पृष्ठ का अथवा अनुमानतः २० हजार शब्दों का होना चाहिए। पुस्तकों अथवा पांडुलिपियों की चार-चार प्रतियाँ ३१ अक्तूबर '५६ तक स्पेशल अफ़सर (लिटरेचर), एस० डब्ल्यू० २ सेक्शन, मिनिस्ट्री आफ़ एजुकेशन, कमरा नं० २०, आई० ब्लाक, नई दिल्ली को पहुँच जानी चाहिएँ, जिनसे इस प्रतियोगिता के सम्बन्ध में अन्य जानकारी भी मिल सकेगी। स्वीकृत पुस्तकों का कापीराईट भारत सरकार को हस्तांतरित कर दिया जायगा।

—फरवरी १९६० में भारत की सब भाषाओं और अंग्रेजी में छपी हुई वैज्ञानिक तथा तकनीकी पुस्तकों की प्रदर्शनी कौंसिल ऑफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च की ओर से आयोजित की जायगी। इस प्रदर्शनी में स्कूल व कालेजों की पाठ्य-पुस्तकें, सामान्य वैज्ञानिक पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ तथा संदर्भ-ग्रन्थ रखे जायँगे। प्रदर्शनी में रखी गई पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की डायरेक्टरी भी प्रकाशित की जायगी। प्रकाशकों से अनुरोध किया गया है कि वे अपने सम्बन्धित प्रकाशनों की २-२ प्रतियाँ कौंसिल को भेजें। भारतीय भाषाओं की भेजी गई पुस्तकों का पूरा अंग्रेजी में लिखा ब्यौरा अलग से भेजना भी आवश्यक है। ये पुस्तकें कौंसिल के पास ३० सितम्बर '५६ तक पहुँच जानी चाहिएँ। सब पुस्तकें प्रदर्शनी के बाद लौटा दी जायँगी। प्रदर्शनी के सम्बन्ध में अन्य जानकारी डॉ० वी० एस० नायर, पब्लिकेशन्स डायरेक्टर, कौंसिल ऑफ़ साइंटिफ़िक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, ओल्ड मिल रोड, नई दिल्ली-१ से मिल सकती है।

—लंदन में गत मास विश्व-भर के पुस्तक-विक्रेताओं की पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हुई। पुस्तक-विक्रेताओं ने इस प्रश्न पर विचार किया कि पुस्तकें जीवन की आवश्यकता की चीजों में से हैं अथवा सभ्यता व संस्कृति की उपादान! पश्चिमी यूरोप तथा भारत तक के प्रतिनिधि इस कांग्रेस में सम्मिलित हुए। दुनिया में पुस्तकों के सम्भावित पाठकों की संख्या ढाई करोड़ प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ जाती है और उनके लिए पुस्तकें प्रकाशित करते रहना एक बड़ी भारी चुनौती है।

—दिल्ली एडमिनिस्ट्रेशन के शिक्षा-विभाग ने हिन्दी की उन तीन उत्कृष्ट पुस्तकों को क्रमशः ५००, ३०० तथा २०० रुपयों के पुरस्कार देने का निश्चय किया है जो १९५९ में नव शिक्षितों के प्रयोग के लिए श्रेष्ठता के लिहाज़ से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय समझी जायँ। पुस्तकें ३२ से ४० पृष्ठों की हों; विषय सामान्य तथा सामाजिक शिक्षा से सम्बन्धित होने चाहिएँ। इनका सुचित्रित होना भी आवश्यक है। भाषा सादी, सुबोध तथा गेट-अप आकर्षक होना चाहिए। प्रतियोगिता के लिए पुस्तकों की चार-चार प्रतियाँ ३१ अक्तूबर '५६ तक सोशल एजुकेशन ब्रांच, डायरेक्टरेट ऑफ़ एजुकेशन, दिल्ली एडमिनिस्ट्रेशन, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८ के पास पहुँच जानी चाहिएँ।

—दिल्ली राज्य के प्रेस कार्यालय की सूचना के अनुसार दिल्ली राज्य में पुस्तकों की खपत के बजाय पत्र-पत्रिकाओं की खपत और उत्पादन में वृद्धि हो रही है। गत वर्ष ६६२ पत्र-पत्रिकाओं का दिल्ली से प्रकाशन हुआ, जबकि उसके पूर्व के वर्ष में ५५३ का हुआ था। इसके विपरीत ६६१ से गिरकर ६२१ पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

—लुधियाना, ६ अगस्त। पंजाब सरकार द्वारा राष्ट्रीयकृत और प्रकाशित गणित की एक पाठ्य-पुस्तक में अप्रेल ५६ दिन का और मई ६२ दिन का दर्ज है। शिक्षा उपमंत्री श्री यश ने स्वीकार किया है कि इसी प्रकार प्रचलित १८ हिन्दी और पंजाबी पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी ही अशुद्धियाँ हैं।

—श्रीनगर, ८ अगस्त। लद्दाखी मामलों के कश्मीरी मंत्री श्री कुशक बाकुला, लद्दाख जिले में तिब्बती शरणार्थियों के लिए एक शिक्षालय स्थापित करने के लिए मिसमारी (आसाम) जाने वाले हैं।

सामुदायिक विकास मंत्रालय, नई दिल्ली, एवं विभिन्न प्रांतों के मुख्य-मंत्रियों, विकास-आयुक्तों द्वारा प्रशंसित हमारा पंचवर्षीय योजना साहित्य

समाज-विकास-माला

१.	समाज-शिक्षा एवं उसका नवीन रूप	३.००
२.	घर कैसे चले ?	१.५०
३.	व्यावहारिक परिवार-नियोजन	२.५०
४.	गाँवों की सफ़ाई	०.७५
५.	तीन साथी : धरती, बैल, किसान	०.७५
६.	मधुमक्खी-पालन	०.७५
७.	हमारी गाएँ	०.७५
८.	खेती की कहावतें	०.७५
९.	शिशु-पालन : शिशु-चिकित्सा	०.७५
१०.	मछली-पालन	०.७५
११.	न हाथ खुला हो : न मुट्ठी बन्द हो	०.५०
१२.	सन्तों की वाणी	१.००
१३.	नागरिक अधिकार	१.००
१४.	राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-खंड	०.७५
१५.	ग्राम-स्वराज्य	०.७५
१६.	नस्ल-सुधार	०.७५
१७.	पशु-पालन : पशु-चिकित्सा	०.७५
१८.	नागरिक कर्तव्य	०.७५
१९.	मुर्गी-पालन	०.७५
२०.	साग-भाजी की खेती	०.७५
२१.	जच्चा और बच्चा	०.७५
२२.	फलों की खेती	०.७५
२३.	पुरुष समाज-शिक्षा केन्द्र की संचालन-विधि	०.७५
२४.	महिला समाज-शिक्षा केन्द्र की संचालन-विधि	०.७५
२५.	ग्राम-सुधार	१.२५
२६.	कपास की खेती	०.७५
२७.	घरेलू दवाएँ	०.७५
२८.	अंधविश्वास का सुधार	०.७५
२९.	फसलों के शत्रु	०.७५
३०.	खाद का उपयोग	०.७५
३१.	सिंचाई के साधन	०.७५
३२.	खेती के आधुनिक यंत्र	०.७५

गांधी-साहित्य

१.	विद्यार्थियों से	४.००
२.	विद्यार्थियों से [संक्षिप्त]	२.००
३.	महिलाओं से	४.५०
४.	महिलाओं से [संक्षिप्त]	२.००
५.	स्वास्थ्य-साधन	२.००
६.	आत्म-संयम	२.००
७.	समाज-सेवा	०.७५
८.	बापू जी : घर में	१.००
९.	गांधी-मीमांसा	१.५०
१०.	अहिंसा के पथ पर	१.५०

नाट्य-साहित्य

१.	आस्तीन के साँप	३.५०
२.	सिंहलविजय	२.५०
३.	राणा प्रताप	२.५०
४.	उस पार	२.००
५.	चन्द्रगुप्त	१.५०
६.	शाहजहाँ	१.७५
७.	नूरजहाँ	२.००
८.	मेवाड़ पतन	१.७५
९.	भीष्म	२.००
१०.	दुर्गादास	२.५०
११.	विक्रम	१.००

* हिन्दी-साहित्य के सहस्र वर्ष ५.००

अन्तर राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना-४

फोन नं० ३८३२

हिन्दी भाषा की समस्या

हिन्दी व्याकरण-संबंधी कुछ समस्याएँ



डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, डी० लिट्०

हिन्दी भाषा की समस्याओं में व्याकरण-संबंधी समस्याएँ महत्त्वपूर्ण मान ली गई हैं। आक्रमण करने के लिए विरोधियों ने इसकी वास्तविक अथवा काल्पनिक उलझनों को और अधिक उलझे रूप में उपस्थित किया है। किसी ने इसके लिंगानुशासन को दूषित, जटिल और अव्यवस्थित बतलाया, तो किसी ने इसकी कारक-व्यवस्था को सदोष एवं अनियन्त्रित। संस्कृत के विद्वान् यदि संस्कृत व्याकरण के नियमोल्लंघन से व्यथित हैं, तो उर्दू के उपासक इसकी ध्वनि-सीमा से चिंतित। राष्ट्रभाषा के नाम पर कुछ लोग इसे अहिंदी-भाषियों के हाथ सौंप देने को प्रस्तुत हैं, तो कुछ व्याकरण से मुक्ति को अत्यंत हितकर समझने-समझाने का प्रयास कर रहे हैं। हिंदी व्याकरण को जहाँ व्यवस्थित करने का प्रयास होना चाहिए, वहाँ हिन्दी की संस्थाएँ हैं अपनी-अपनी राजनीति में ग्रथित और गुम्फित। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) पर शनि-दृष्टि पड़ी हुई है; नागिरी प्रचारिणी सभा कुचक्रों से पीड़ित है। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की निजी समस्याएँ कम नहीं हैं और वर्ष में एक बार प्रस्ताव स्वीकृत कर लेना भी कम सन्तोषप्रद नहीं है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की चर्चा भी अब व्यर्थ हो चुकी है; क्योंकि अपने सदस्यों की शक्ति का सदुपयोग करना ही यह अपनी इतिकर्त्तव्यता मानती है।

परिनिष्ठ व्याकरण के अभाव को दूर करने के लिए काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने बहुत पहले एक समिति संगठित की थी जिसके निर्देशन में पं० कामता प्रसाद गुरु ने 'हिन्दी व्याकरण' की रचना की। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामावतार शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० लज्जाशंकर झा, पं० रामनारायण मिश्र, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर, रायबहादुर डॉ श्यामसुन्दर दास एवं आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल-जैसे मनीषी, विचारक और हिन्दी-हितैषी इस समिति के सदस्य थे और इनकी प्रामाणिकता में हिन्दी-जगत् को अतर्क्य आस्था थी। इनके द्वारा प्रमाणित 'हिन्दी व्याकरण', हिन्दी का एकमात्र प्रामाणिक व्याकरण अभी तक माना जाता है। इधर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने ही पं० किशोरीदास वाजपेयी कृत 'हिन्दी शब्दानुशासन' प्रकाशित किया है, जिसे लेखक ने 'भाषाविज्ञान से संवलित हिन्दी का मौलिक व्याकरण' कहा है। सभा ने प्रामाणिकता की मुहर के लिए एक व्याकरण-परामर्श-मंडल का संघटन भी किया था, किन्तु लेखक और मंडल के सदस्यों के मध्य शैली, सिद्धांत और वर्तनी के संबंध में असहमति रही और शब्दानुशासन का प्रकाशन वाजपेयीजी की शैली, सिद्धांत और वर्तनी के अनुरूप ही हुआ। अर्थ यह हुआ कि 'हिन्दी शब्दानुशासन' के निर्णयों और निष्कर्षों को संशोधन-मंडल का समर्थन प्राप्त नहीं है। 'हिन्दी शब्दानुशासन' अतः पंडितों और विद्वानों के लिए विवेच्य है। सर्वमान्य व्याकरण के रूप में उसे स्वीकृति नहीं मिल सकेगी। 'हिन्दी व्याकरण' को व्यवस्थित करने के लिए संगठित प्रयास होना चाहिए। क्या यह संभव नहीं है कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डॉ० आर्येन्द्र शर्मा के सहयोग और निर्देशन से एक ऐसा व्याकरण प्रस्तुत किया जाय जिसे सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हो सके।

हिन्दी का स्वतंत्र व्याकरण अभी तक निरूपित और निर्धारित नहीं हो पाया है। गुरु ने जो ढाँचा अपनाया है; वह पाश्चात्य विद्वानों की देन है। पाश्चात्य पंडितों ने अहिन्दी भाषा-भाषी और विदेशियों को शिक्षा देने के लिए हिन्दी व्याकरण का संगठन किया। अतः, हिन्दी व्याकरण के लिए वह ढाँचा लिया, जिस पर पाश्चात्य भाषाओं के व्याकरण तैयार किए गए थे। यूरोपीय छात्र इस प्रणाली और ढाँचे से पूर्वपरिचित थे, अतः इस क्रम से लिखे गए व्याकरण उनके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। शब्द-विचार संस्कृत-परिपाटी का अनुकर्त्ता रहा और वाक्य-विन्यास अंगरेजी पद्धति का अनुगामी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि-विचार और शब्द-साधन तो संस्कृत व्याकरण की पद्धति के अनुरूप रहे और शब्दों के वर्गीकरण एवं उनके संबंधों के निरूपण अंगरेजी व्याकरण की पद्धति के अनुगामी। परिणामतः एक प्रकार की अव्यवस्था बनी रह गई।

वर्ण-विचार के अन्तर्गत ध्वनि का प्रकरण है और विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण-स्थानों के संबंध में इसमें विचार किया जाता है। वैदिक और लौकिक संस्कृत के प्रारंभिक उच्चारण-काल से लेकर वर्तमान काल तक की उच्चारण-व्यवस्था के अध्ययन की अपेक्षा है; क्योंकि दोनों कालों के अन्तराल में कंठ की स्नायविक व्यवस्था और गठन में अन्तर आया है। उच्चारण-स्थानों के संबंध में प्राचीन मान्यताओं की, नवीन परिवर्त्तनों की भूमिका में, परीक्षा करनी पड़ेगी एवं पाणिनीय मतों की भाषावैज्ञानिक पद्धति से विवेचना करनी होगी। उच्चारण-प्रक्रिया पर सन्धि के नियम आधारित हैं; क्योंकि यह प्रकरण उच्चारण-विधि और लाघव का नियमन है। दन्त्य 'न' मूर्धा के स्पर्श से उच्चरित होनेवाले वर्णों से संयुक्त होने पर मूर्धन्य 'ण' हो जाता है; क्योंकि दंत से मूर्धा तक जिह्वाग्र के ले जाने में प्रयत्न-लाघव का अभाव होता है। सन्धि-प्रकरण के नवीन संगठन के लिए उच्चारण-प्रयत्नों की वैज्ञानिक परीक्षा अपेक्षित है।

व्याकरण की अन्य समस्याओं की ओर न जाकर इसके सर्वाधिक जटिल माने जानेवाले प्रकरण 'लिंगानुशासन' पर यहाँ विचार करना अभीष्ट है। कारक-विधि और लिंगानुशासन का हिन्दी वाक्य-विन्यास के साथ गहरा और प्रत्यक्ष संबंध है। 'राम गया' और 'राम ने रोटी खाई' जैसे वाक्यों में क्रिया-रूपों का संबंध विवेच्य है। 'राम ने रोटी खाई' और 'राम ने भात खाया' में राम के अपरिवर्त्तित रहने पर भी 'रोटी' और 'भात' के संबंध से क्रिया-रूप परिवर्त्तित हो गए हैं। समस्त जगत् के पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—सप्राण और निर्जीव। सप्राण पदार्थों में प्रायः लिंग-भेद है, यद्यपि कुछ जीवों के लिंगों का निर्धारण सामान्यतः संभव नहीं है। समस्त प्राणिलोक तीन वर्गों में विभक्त है—पुरुष, नारी, और वह वर्ग जिसे न पुरुष ही कहा जा सकता है और न स्त्री ही, अर्थात् जिनका इस रूप में वर्गीकरण संभव नहीं है। निर्जीव पदार्थों में पुरुष और नारी का विभेद नहीं होता। पुलिंग के द्वारा पुरुष-वर्ग की सूचना मिलती है और स्त्रीलिंग द्वारा नारी-जाति की। पं० कामता प्रसाद गुरु ने अपने व्याकरण में लिखा है कि "संज्ञा के जिस रूप से वस्तु की (पुरुष वा स्त्री) जाति का बोध होता है, उसे लिंग कहते हैं" (सं० सं०, पृ० २१६)। 'वस्तु' का हमने एक ऐसा वर्ग देखा जो न पुरुषजातीय है और न स्त्रीजातीय ही। हिन्दी व्याकरण में अप्राणिवाचक शब्दों को भी इन दोनों में से किसी एक वर्ग के अन्तर्गत परिगणित करना पड़ता है। इस वर्ग के शब्दों के लिए जाति-निर्धारण का मापदण्ड निर्धारित करना ही व्यावहारिक समस्या है। नारी-जाति के कल्पित अथवा वास्तविक, प्रत्यक्ष अथवा आरोपित गुणों के आधार पर अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग-निर्धारण का क्रम स्वीकृत हुआ है। कोमलता, सुन्दरता, विनम्रता, लघुता, संकीर्णता आदि गुणों को सूचित करनेवाले शब्दों को नारी-वर्गीय माना गया। किन्तु, यह मापदण्ड निर्दिष्ट नहीं हो सका, नहीं हो सकता। चन्द्रमा सौंदर्य का प्रतिमान माना जाता है और हिन्दी कवियों ने बिचारे चन्द्रमा का न जाने कितना अपमान किया है, फिर भी वह हिन्दी में पुल्लिंग में आता है, यद्यपि अंगरेजी व्याकरण के अनुसार वह नारीवर्गीय है। 'सौंदर्य' अपने रूप के कारण पुरुषजातीय बना हुआ है, यद्यपि नारी-सौंदर्य की आकांक्षा प्रत्येक पुरुष को चिन्तित करती है। 'सुन्दरता' समान अर्थ देकर भी नारीवर्गीय बनी रही। प्रक्षेपण की प्रक्रिया के कारण ही पंत जी के समक्ष 'प्रात' नारी रूप धारण कर उपस्थित होता है और निराला के लिए 'वह चली अलि ! शिशिर-समीर' की नारी-कोमलता ही आकर्षक हुई।

अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग-निर्णय के दो आधार हैं—अर्थ और रूप। 'अर्थ' के लिए शब्दों द्वारा अभिसूचित पदार्थों में लिंग-भेद की स्थिति मानी जाती है और 'रूप' की दृष्टि से उच्चारण-विधि की कोमलता अथवा परुष-तत्व पर विचार करते हैं। गुरु ने केवल इतना ही लिखा है कि "बहुधा प्राणिवाचक शब्दों का लिंग **अर्थ** के अनुसार और अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग **रूप** के अनुसार निश्चित करते हैं। **शेष शब्दों का लिंग केवल व्यवहार के अनुसार माना जाता है**; और इसके लिए व्याकरण से पूर्ण सहायता नहीं मिल सकती" (पृ० २१८)। प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक शब्दों के अतिरिक्त और कौन-से 'शेष शब्द' रहे, यह स्पष्ट नहीं। व्यवहार और प्रयोग की महत्ता स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है,—"हिन्दी में अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग जानना विशेष कठिन है; क्योंकि यह बात अधिकांश में व्यवहार के अधीन है" (पृ० २१८)। नियमों के संघटन में, किन्तु, गुरु ने रूप और अर्थ दोनों को आधार माना है।

व्याकरण में सार्थक शब्द और उनके पारस्परिक संबंधों का निरूपण-विवेचन होता है और इस प्रकार इसका संयोग तर्क-न्याय और अर्थ-विज्ञान से हो जाता है। कारक-विधि और वाक्य-विन्यास की अवतारणा अर्थावबोध की सुगमता के लिए ही हुई। अर्थागम के प्रत्यक्ष रूप से ही इनका प्रत्यक्ष संबंध है; गूढ़ार्थ एवं व्यंग्यार्थ से इनका संबंध परोक्ष ही है। अर्थ, अतः न्याय और अर्थबोध से व्याकरण का संबंध अविच्छेद्य होने पर भी, अपरिहार्य नहीं। 'राम घर में है', यह व्याकरण-सम्मत और तर्क-संगत है, किन्तु 'राम में घर है', यह तर्क-संगत न होकर भी व्याकरण-सम्मत है। व्याकरण, अतः, रूपों के संबंध में अधिक सचेष्ट है। अतः मूलरूप से शब्द के रूप ही विवेच्य हैं।

लिंगानुशासन के अनुक्रम में शब्द-भाण्डार पर भी विचार करना पड़ेगा। गुरु ने हिंदी, संस्कृत, उर्दू और विदेशी भाषाओं के शब्दों के लिए अलग-अलग खण्ड रखे हैं, अर्थात् विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध शब्दों के लिए उन भाषाओं के व्याकरण को प्रामाणिक मान कर उनके हिन्दी प्रयोगों को अनुशासित करने की चेष्टा की गई है। सभी भाषाओं के शब्द तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में प्रयुक्त होते रहे हैं। मूल भाषा से परिचित व्यक्ति उस भाषा-विशेष के व्याकरण को ही प्रमाण मानता है, परिणामस्वरूप हिन्दी व्याकरण में उलझनें प्रविष्ट होती चली गईं। संस्कृत में 'वृक्षः' तो पुल्लिंग में है और 'फलम्' नपुंसक लिंग में; हिन्दी में आकर वे क्रमशः 'वृक्ष' और 'फल' ही रह गए। संस्कृत के रूपों के आधार पर लिंग-विभेद रहने पर भी हिन्दी रूपों में व्याकरणिक अन्तर नहीं है। विदेशी शब्दों के लिंगानुशासन में उनके हिंदी पर्यायों के लिंग को निर्धारण का प्रतिमान मानते हैं। 'कलम' का संस्कृत प्रतिरूप है—लेखनी; और लेखनी है स्त्रीवाची शब्द, अतः कलम है स्त्रीलिंग और कलम का अंगरेजी प्रतिरूप है पेन, अतः पेन भी नारीजातीय बनाई गई। उर्दू वाले 'कलम' को पुल्लिंग में लिखते हैं, अतः फारसी-दाँ हिन्दीवालों की अल्पज्ञता पर हँसेगा। अब स्थिति यह हुई कि फारसी-दाँ 'कलम' को पुल्लिंग में लिखेगा और संस्कृतज्ञ स्त्रीलिंग में; यद्यपि दोनों अपने को हिंदी का लेखक मानते हैं।

स्त्रियों के नाम स्त्रीवाची होते हैं; पर अब तो पुरुषवाची भी होने लगे, ऐसी स्थिति में 'सन्तोष आई' होगा न कि 'सन्तोष आया'। इसी प्रकार पुरुषों के नाम के संबंध में भी दुर्घटना संभव है। 'ललिता प्रसाद आए' न कि 'ललिता प्रसाद आईं'। नदियों के नाम प्रायः स्त्रीवाची ही हैं—गंगा, कृष्णा, यमुना, कावेरी; पर रूप के कारण सोन, ब्रह्मपुत्र, दामोदर, सिन्धु आदि पुल्लिंग और इसीलिए इन्हें नद कहने की प्रथा चल पड़ी है। अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग-निर्धारण की द्विविध प्रणाली ही समस्त उलझनों की सृष्टि करती है। कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जाय। अर्थ के अनुसार धातुओं के नाम पुल्लिंग हैं, यद्यपि स्वयं 'धातु' शब्द स्त्रीवाची माना जाता है; अतः सोना, ताँबा, लोहा, काँसा आदि पुल्लिंग हैं, पर ईकारान्त होने के कारण मिट्टी और चाँदी स्त्रीलिंग। जल और स्थल के भाग विस्तार के कारण पुरुषवाची माने जाते हैं, जैसे—देश, नगर, पहाड़, समुद्र, आकाश, पाताल आदि; पर ईकारान्त होने के कारण पृथ्वी, नदी और घाटी को स्त्रीलिंग बनना पड़ा। भोजन-प्रकारों के नाम स्त्रीवाची माने गए पर रूप के कारण भात और मोहनभोग पुल्लिंग हो गए। 'अर्थ' के आधार पर निर्धारित लिंग-व्यवस्था में व्यतिक्रम उपस्थित करने के लिए 'रूप' सामने आ गया।

इसी प्रकार रूप के कारण जो व्यवस्था संघटित हो सकती, उसे विशृंखल करने के लिए अर्थ अर्थात् पदार्थ का कल्पित अथवा वास्तविक गुण सामने उपस्थित हो जाता है। ईकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीवाची मानी जाती हैं,—नदी, चिट्ठी, रोटी, राबड़ी, घड़ी, आदि; पर द्रव्यनाम की पुरुषवाची कल्पना के आधार पर पानी, घी, मोती, जी और दही को पुल्लिंग बनना पड़ गया है। तकारान्त बात, लात, घात, रात आदि स्त्रीलिंग हैं, पर भात और दाँत पुल्लिंग। इसी प्रकार नालिश स्त्रीलिंग है तो ताश पुल्लिंग, दौलत स्त्रीलिंग है तो शरबत पुल्लिंग। दवा और राह स्त्रीलिंग हैं और दगा तथा गुनाह पुल्लिंग। वर्ग के नामों के लिंगानुसार उनके अन्तर्गत आनेवाले शब्दों के लिंग, कुछ सीमा तक, निर्णीत होते हैं; जैसे 'ग्रह' पुल्लिंग है तो सूर्य, चन्द्र आदि पुल्लिंग कहाते हैं। नदी स्त्रीलिंग है तो नदियों को स्त्रीलिंग माना जाता है, पर नक्षत्र और भोजन पुल्लिंग हैं पर इनके वर्गों में आते शब्द प्रायः स्त्रीलिंग।

अभिस्ताव

(१) अर्थ, रूप, वर्ग-नाम, मूल भाषा के लिंगानुशासन

आदि के आधार पर अप्राणिवाचक शब्दों के लिंग का निर्धारण न कर, केवल एक को ही आधार बनाया जाय।

(२) उपयुक्तता की दृष्टि से शब्दों के रूप को ही अप्राणिवाचक शब्दों के लिंगानुशासन का आधार मानना समीचीन है। संज्ञा वस्तु को नहीं, वस्तु के नाम को कहते हैं। अप्राणिवाचक शब्दों द्वारा संकेतिक वस्तुओं का लिंग-निर्धारण प्रक्षेपण और कल्पनामूलक है; वास्तविक और तात्त्विक नहीं। कठिनाई केवल अप्राणिवाचक शब्दों को ही लेकर नहीं है। मनुष्य के अंगों के नामों में भी लिंग की अव्यवस्था दीख पड़ती है। पुरुषत्व-सूचक मूँछ तो स्त्रीलिंग है और नारित्व-सूचक स्तन पुल्लिंग। स्तन 'छाती' की संज्ञा प्राप्त करने पर स्त्रीलिंग हो जाता है। नाक कटती है और कान काटा जाता है।

(३) ऐसे सप्राण जिनके लिंग स्पष्टतया सूचित होते हैं, उनके नामों के अतिरिक्त सभी पदार्थों के नामों का लिंग-निर्णय शब्द के रूप के आधार पर ही किया जाय, चाहे वे सप्राण वस्तुओं के अंगों के सूचक ही क्यों न हों। अप्राणिवाचक ईकारान्त शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं: इस नियम को अपवादहीन माना जाय अर्थात् पृथ्वी, नदी और कली यदि स्त्रीलिंग हैं तो पानी (तरल), घी (स्निग्ध) और मोती (सुन्दर) में पुरुषत्व के लक्षण नहीं माने जा सकते; क्योंकि तरलता, स्निग्धता और सुन्दरता में नारी-कल्पना की ही चरितार्थता मिलती है। रात, बात, छत इत्यादि यदि स्त्रीवाची हैं तो भात, सूत और दाँत में नारित्व-कल्पना का प्रक्षेपण युक्तिसंगत नहीं।

(४) हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले सभी शब्दों को हिन्दी का ही शब्द मानकर विचार किया जाय। उनमें वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा उचित नहीं। देशी, संस्कृत, सामी और पाश्चात्य जैसे वर्गों और वर्णों की कल्पना व्याकरण के समुचित संगठन की विरोधिनी है। 'क्षेत्र' का तद्भव रूप 'खेत' है, किन्तु खेत के लिंग-निर्णय में इस पर विचार करने की अपेक्षा नहीं कि 'क्षेत्र' संस्कृत में पुल्लिंग है अथवा स्त्रीलिंग। 'दग़ा' के अनुरूप 'दगा' को भी स्त्रीलिंग ही माना जाय, चाहे उर्दू वाले इसे पुल्लिंग में ही लिखा क्यों न करें।

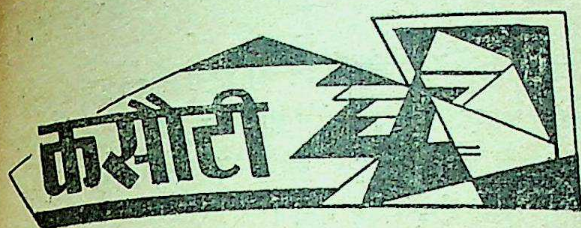
(५) विदेशी शब्दों के प्रतिरूपों के लिंग के अनुसार लिंग-व्यवस्था युक्ति-संगत नहीं। 'कम्पनी' का प्रयोग इसलिए स्त्रीलिंग में होना चाहिए कि यह 'ईकारान्त' शब्द है न कि इसके प्रतिरूप 'मण्डली' के आधार पर। 'बोर्ड' अपने रूप के कारण पुल्लिंग में व्यवहृत होगा न कि अपने प्रतिरूप 'मण्डल' के कारण। एक शब्द के विभिन्न प्रतिरूप होते हैं जो विभिन्न लिंगों में प्रयुक्त होते हैं, ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रतिरूपों के लिंगों को कसौटी मानकर विभिन्न लेखक और कभी-कभी एक ही लेखक (भिन्न-भिन्न अवसरों पर) किसी विशेष शब्द का भिन्न-भिन्न लिंगों में प्रयोग करते हैं।

(६) सामासिक शब्दों में अन्त्य-शब्द के लिंग के अनुसार ही समग्र-शब्द का लिंग-निर्धारण किया जाय। 'आत्मा' यदि स्त्रीलिंग है तो परमात्मा, महात्मा, पापात्मा, जीवात्मा आदि सभी को स्त्रीलिंग मानना चाहिए।

उपर्युक्त विचार मैंने प्रस्ताव के रूप में रखे हैं। लिंग-निर्धारण-संबंधी नियमों का पूर्ण विवरण यहाँ उपस्थित नहीं किया गया है। यदि इन सिद्धांतों को व्यापक स्वीकृति मिले तो इनके आधार पर नियमों का निरूपण किया जा सकेगा। हिन्दी के हितैषियों, पंडितों, विद्वानों और अध्यापकों से उपयुक्त सम्मति की आशा और अपेक्षा रखता हूँ। आशा है, आलोचना, विवेचना और सुझाव के द्वारा इस समस्या के सुलझाने में वे सहायता करेंगे। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा यदि इस कार्य को अपने हाथ में ले तो अधिक तत्परता से कार्य हो सकेगा और निर्धारित नियमों को व्यापक स्वीकृति मिल सकेगी।*

* इस निबन्ध को सुनकर मेरे एक मित्र ने कहा,—"पाण्डेयजी, मजाक के लिए लिखना चाहते हों तो लिखें; अन्यथा जब आपको कोई कठिनाई नहीं होती तो भाषा को विकृत करने से क्या लाभ?" मैं पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ इन्हें उपस्थित कर रहा हूँ। व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा को कभी ध्यान में नहीं रखा गया है। प्रारंभ में हमारी शैली विकृत-सी अवश्य दीख पड़ेगी, पर क्रमशः इनकी स्वीकृति से भाषा में एकरूपता और व्यवस्था आने की संभावना है।—लेखक





अमीर (नाटक)

लेखक—विजय तेंडुलकर

अनुवादक—वसन्तदेव

प्रकाशक—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे

मूल्य—दो रुपये

तीन स्त्री और छह पुरुषपात्र तथा एक दीवानखाने के दृश्यवाला यह नाटक अपनी सम्वाद-प्रधानता और अभिनेयता के नाते अपूर्व ही है। प्रस्तावना के अनुसार यह सत्य है कि यह 'अव्यावसायिकों द्वारा कम खर्च में कम झंझटों सहित' प्रस्तुत हो सकेगा। हाँ, अपने छोटे-छोटे, सटीक और सुगठित कथोपकथनों के कारण, यह अच्छे अव्यावसायिकों के लिए भी प्रयास-साध्य है। इसमें 'अमीर' रायसाहब की बेटी मथुरा किसी अनुचित प्रेम से मिले गर्भ के कारण जब कौमार्य में ही लांछित होने लगती है तो 'किसी आँख से अन्धे से भी शादी' करने की उतावली में श्रीधर नामक बदनाम और बेघरबार व्यक्ति से वे उसे ब्याह देते हैं। श्रीधर; इस हाथ-लगी सम्पन्नता का लाभ उठाकर उसी घर में केशव नामक पेशेवर अपराधी को रखकर, या अपनी पत्नी से ही अलग रहते हुए, या उस पूर्वागत पुत्र का नाम उस अपराधी के नाम पर ही 'केशव' रखते हुए; रायसाहब और सारे घर के सीने पर सचमुच ही 'मूँग दलने' लगा। जब स्थिति असह्य हो जाती है और उसे घर से निकाल देने का साहस किसी को नहीं होता है, तो उसकी पत्नी मथुरा ही 'पिस्तौल' थामने तक पर उतारू हो जाती है। वह, घर से, उस पुत्र को चूम कर यह जतलाता हुआ कि "बेटा, अपने बाप को न भूल जाना", स्वयं निकल जाता है। और, नाटक का सारा मर्मान्त वहीं पर आता है, जबकि वह मथुरा सबके रोकते हुए भी, "मेरा बच्चा अनाथ, लावारिस न कहलाए", इसीलिए "उस पशु के साथ" भी चली जाती है।

ऐसे अडिग चरित्रों और शब्दवेधी कथोपकथनों से सम्पन्न अभिनेय नाटक के लिए किसी का भी जी तरस सकता है।

आधुनिक भोजपुरी गीत और गीतकार

संपादक—राहगीर

प्रकाशक—मधु प्रकाशन, चेतगंज, वाराणसी

मूल्य—३·५० नये पैसे

यह भोजपुरी भाषा-क्षेत्र के ४१ परिचित कवियों के साधारण परिचय और पदों का संकलन है। श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की ओर से प्राक्कथन में इस बात के कहे जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी कि ये कवि "न तो द्विवेदीयुगीन कोरी इतिवृत्तात्मकता के फेर में पड़े हैं और न छायावादी कवियों की तरह कोरे अव्यक्त, अनंत आदि के चक्कर में"। क्योंकि, आखिर लोकगीत और नागर-पद्यों में जो युगयुगीन अंतर है, वह तो रहेगा ही। बेहद वीप्सा या पुनरुक्ति, लोकगीत में जो गुण लगता है, नागर साहित्य में वही तो दोष है।

यद्यपि चुनाव में और भी परिश्रम की आवश्यकता थी, फिर भी, बेढब जी का 'ओ० टी० आर', रामविचार जी का 'वसंत बरनन', प्रसिद्ध जी का 'हाथी के दाँत', मंजुल का 'विहान', भैयाजी का 'जेठ' वाला बरवै, रमता का बिरहा, प्रणयी का 'मधुमास', अनिरुद्ध का 'शरद अँजोरिया', भगवान सिंह का 'फागुन की रात', पद्म का 'फगुना पहुनवा', अशांत का 'बदरिया घिरि आइल सजनी', काश्यप जी का 'भोर', चतुरी चाचा का 'पूस के रात' आदि पद आदर्श हैं। मनोरंजनजी का 'फिरंगिया' तो अपना एक इतिहास ही रखता है।

काफी जगह थी। यदि लंबे-समूचे पद्यों को न देकर प्रत्येक कवि के कई टुकड़ों को जगह-जगह से दिया जाता, तो पुस्तक का और अच्छा अर्थ होता।

गीत मैं कैसे लिखूँ (कविता-संग्रह)

कवि—जगदीश शर्मा

प्रकाशक—एलौरा प्रकाशन, मथुरा

मूल्य—२·५० नए पैसे

यह कोई बात नहीं है कि किसी असाधित को भी, उक्त प्रकार का कोई 'आघात-प्रतिघात कवि बनने की विवशता प्रदान' करे ही। फिर भी, 'कुछ शृंगारी—कुछ अन्य' प्रकार के ५४ गीतों के इस संकलन में २, ८, १०, १७, ३४, ४०, ४१ संख्यावाले गीत आशाजनक हैं। 'भगवान तुम्हारे चरणों में' और 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' जैसे तर्जों से नए

कवियों को विशेषतया बचना चाहिए। 'मन्द-हँसन' (३७); 'माँग' के साथ 'चाह' का तुक (४४) और 'चमक रही है रण की चंडी' (५३)—कोई अच्छी चीज नहीं है।

संघर्ष (उपन्यास)

लेखक—चेखव

अनुवादक—शिवदान सिंह चौहान एवं विजय चौहान

प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली

मूल्य—एक रुपया

प्रस्तुत के लेखक विश्वश्रेष्ठ हैं, अनुवादक सिद्धहस्त हैं और संस्करण सुचारु एवं सर्वग्राह्य है। यह लायवस्की नामक एक रईस-तबीयत युवक की कहानी है जो 'तेरह वर्ष की उम्र में ही औरतों से इश्क' करता हुआ नादेज्दा को अपने साथ भगा लाया और परदेश में क्लर्की करते हुए, शाहखर्ची के कारण कर्जदार होते हुए, अपने और नादेज्दा के चरित्र के विषय में कोरेन वग़ैरह के ताने सुनते हुए, या नादेज्दा के चरित्र-स्खलन के प्रमाण तक पाते हुए—इतने-सारे संघर्षों के बीच—गुजारे का अनुभवी होता गया। कोरेन से पिस्तौल वाला उसका द्वन्द्व-युद्ध—जिसमें कि दोनों दोनों को माफ कर गए—तो उस गुजारे की लाचारी का ही एक प्रतीक था; जिसपर कि कोरेन को कहना पड़ा : "खामोश पादरी, हम भी कैसे विजेता हैं! विजेताओं को तो बाजों की तरह दिखाई देना चाहिए। जबकि, वह एक दयनीय, डरपोक और कुचला हुआ व्यक्ति है······ और मैं उदास हूँ!"

—'लालधुआँ'

समाज विकास माला

(१) हमारी गायें —कामता प्रसाद श्रीवास्तव
(२) नस्ल सुधार ”
(३) मुर्गी पालन ”
(४) तीन साथी-धरती : बैल : किसान ”
(५) जच्चा और बच्चा—आचार्य कमला राय बी० ए०
(६) साग-भाजी की खेती ”
(७) शिशुपालन : शिशुचिकित्सा ”

प्रकाशक—अन्तर राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना-४

मूल्य—प्रत्येक के ७५ नए पैसे

प्रस्तुत पुस्तकें अपने विषय का सरल और सहज भाषा में अच्छा ज्ञान दिलाती हैं। सीधे-सादे शब्दों में विषय को स्पष्ट कर पाठक के सामने प्रस्तुत करने में लेखक को सफलता मिली है, इसमें कोई संदेह नहीं।

आजकल जबकि उपयोगी साहित्य की माँग बढ़ रही है, समाज-विकास-माला के अंतर्गत लिखी और प्रकाशित ये पुस्तकें हमारे समाज के लिए, विशेषकर ग्रामीण समाज के लिए, अत्यंत ही उपयोगी हैं। अपने-अपने विषयों का सरल रूप में परिचय करा देना इनकी सबसे बड़ी विशेषता है और विषय से अनभिज्ञ साधारण पाठक इसे आसानी से अपना सकते हैं।

अनदेखे चित्र : अनबोले चेहरे

लेखक—मोहनलाल गुप्त

प्रकाशक—मधु प्रकाशन, वाराणसी-१

मूल्य—तीन रुपये

प्रस्तुत गुप्तजी की बीस कहानियों का संग्रह है। कहानियाँ नई नहीं हैं; क्योंकि ये समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुकी हैं। हाँ, इनको इस संग्रह द्वारा नया रूप अवश्य मिला है। और, यह भी ठीक है कि इन कहानियों का प्रभाव और आकर्षण आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

हिन्दी के हास्यरस के लेखकों में गुप्तजी ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'अनदेखे चित्र : अनबोले चेहरे' की कहानियों ने कहानीकार के एक दूसरे पक्ष को भी उभार कर पाठकों के सामने रख दिया है और हमारा परिचय एक कला-पूर्ण और गम्भीर कहानी-लेखक से कराया है। इन कहानियों में जीवन की दर्द-भरी अभिव्यक्ति है जो हमारे हृदय को छूती है। गुप्तजी ने जब लिखना प्रारम्भ किया था, तब जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण गम्भीर और करुण था। लेकिन आगे चलकर उनकी वह धारा सूख तो नहीं गई, पर क्षीण अवश्य पड़ गई। इसके बाद जो धारा उमड़ी, वह थी हास्यरस की धारा। गुप्तजी ने स्वयं भी इसे स्वीकार करते हुए पुस्तक की भूमिका में लिखा है : "हास्य-धारा में बह जाने के कारण गम्भीर कहानियों की गति कुछ धीमी पड़ गई। पर, आज

भी एक कलापूर्ण कहानी लिखकर मुझे आत्मिक शान्ति मिलती है।"

'अनदेखे चित्र : अनबोले चेहरे' के चित्र बड़े ही जानदार हैं—ये जिंदगी के चित्र हैं—और इन चित्रों के द्वारा कहानीकार ने जितने भी चरित्रों का अंकन किया है, वे पाठकों के हृदय पर स्थायी छाप छोड़ जाते हैं।

'दो चित्र,' 'इज्जत', 'दारोगाजी', 'कब्र का किराया', 'चार चूड़ियाँ' 'नष्ट-नीड़', 'सहयात्री' 'अन्तर' 'मकान का किराया' आदि कहानियों के चरित्र पाठक की सहानुभूति के पात्र बनकर हृदय पर एक मोटी लकीर खींचने में सफल होते हैं। और, इनमें वर्णित समस्यायें आज भी हमारे सामने प्रश्नवाचक चिह्न की तरह जैसी-की-तैसी खड़ी हैं। गुप्तजी की सरल भाषा और चुस्त शैली ने कहानियों को अत्यन्त प्रभावोत्पादक बना दिया है।

लेकिन एक बात जो पाठकों को भ्रम में डाल देती है वह है कहानियों के काल के विषय में। पुस्तक की भूमिका पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि गुप्तजी ने सर्वप्रथम १९३५ से कहानी लिखना प्रारम्भ किया और १९३८ में दिल्ली के 'चित्रपट' में प्रकाशित 'धुआँ' कहानी उनकी प्रथम कलासृष्टि है। लेकिन इस संग्रह की 'अन्तर' शीर्षक कहानी में जो समय अंकित है, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि गुप्तजी ने १९३४ से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था और यह कहानी १९३४ में ही 'संसार साप्ताहिक' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

दूसरा भ्रम संग्रह के 'बाबू' शीर्षक कहानी के प्रति है। लेखक ने भूमिका में इस कहानी का काल १९५७ माना है जबकि कहानी के अंत में दिये गये समय के अनुसार इसका प्रकाशन 'त्रिपथगा' में जुलाई १९५६ में ही हो गया था। आशा है, कहानीकार महोदय भविष्य में कहानियों के काल के संबंध में इस भ्रम का निवारण करेंगे।

पुस्तक की छपाई-सफाई स्वस्थ है पर इसका तीन रुपये मूल्य न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

—विश्वनाथ पाण्डेय

अजनबी (उपन्यास)

लेखक—सूर्यकुमार जोशी।

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली।

पृ०-संख्या—१४७। मूल्य २-५० न० पै०

प्रस्तुत उपन्यास में एक चरित्रहीन बड़े भाई और सच्चरित्र छोटे भाई की कहानी है। छोटा भाई बी० ए० पास कर बैंक में किरानीगिरी करता और लेखक होने के सपने देखता है। बड़ा भाई बलदेव कलकत्ते में अपनी पत्नी गोमती के साथ रहता है। मगर वह शराबी, व्यापारी और व्यभिचारी तीनों एक साथ है और वह समाज द्वारा विधिवत् पायी गई पत्नी को मात्र एक मानसिक बंधन और लिहाज और किराये की तितलियों को ही 'विटामिन ए' समझता है। एक रोज बलदेव की ओर से सूचना पाकर सहदेव कलकत्ते चला आता है। यहाँ आकर वह अपनी बीमार भाभी गोमती को देखता है। आगे चलकर गोमती की मृत्यु हो जाती है। लेखक ने हमें बतलाया है कि गोमती की मृत्यु मात्र उसके पति की असावधानी से नहीं हुई, बल्कि उसकी मृत्यु में उसका हाथ भी था। गोमती की मृत्यु के बाद सहदेव का व्याह एक विज्ञान-स्नातिका से हो जाता है। सहदेव चूँकि कुछ कमाता नहीं, इसलिए भाई के एहसान के बोझ से दबा रहता है। बलदेव अपनी चालाकी से सहदेव को अपने से अलग करके उसकी पत्नी भगवती से यौन-संपर्क स्थापित करना चाहता है। भगवती अपनी कुशाग्रता से अपना सतीत्व बचा कर मायके चली जाती है। इधर सहदेव भटकता-भटकता दिल्ली आकर लेखक बन जाता है। फिर तीनों का मिलन फिल्मी ढंग से होता है।

लेखक के शब्दों में : "बलदेव ने छोटे-छोटे मजाकों के बीच सहदेव को यौवनावस्था की शारीरिक और मानसिक माँगों की ओर, बार-बार इशारा करके, उसे अपने लैंगिक अनुभवों के बारे में बोलने के लिए तैयार किया था।" इस समय बलदेव की अवस्था पैंतीस साल है और सहदेव मात्र पच्चीस साल का है। यदि उम्र में समानता हो भी, तो यह संभव अथवा स्वाभाविक नहीं है। बात बेहद बेतुकी है। मनोविज्ञान अथवा यथार्थवाद के नाम लेखक का यह छिछला 'अप्रोच' मन पर प्रभाव नहीं डालता। हाँ, सस्ती रुचि के पाठक अवश्य प्रभावित होंगे। लेखक ने अपनी महान् प्रतिभा का परिचय इस रूप में दिया है कि पूरे उपन्यास के पात्र नाममात्र के लिए बोलते हैं। लेखक ने सारा भार अपने ऊपर ले लिया है। विगत घटनाओं के वर्णन से लेकर वर्तमान और पात्र किस स्थिति में क्या सोचता है, उसे कब

क्या करना चाहिए था, कहाँ कौन-सी भूल हुई, अब आगे क्या रास्ता है—सारी बातों की जानकारी लेखक स्वयं कराता है। चरित्रों के उतार-चढ़ाव के संबंध में केवल लेखक ही बतला या कुछ सोच सका है। उसने अपने पात्रों को यह मौका नहीं दिया कि वे अपनी अनुभूतियों को स्वयं व्यक्त करें या लेखक ऐसा नहीं समझता कि पात्रों की मनःस्थिति के बारे में पाठक भी सोच-समझ सकता है। अध्याय-के-अध्याय लेखक के प्रवचन से भरे पड़े हैं।

कथावस्तु में भी कहीं कोई ताजगी नहीं, कहीं कोई दिशा नहीं। यों जब उपन्यास प्रकाशित होकर जनता के बीच आ गया है, तो हम इसे मौलिक उपन्यास के सिवा और क्या कह सकते हैं?

यज्ञ का शाप (नाटक)

लेखक—डा० रामचरण महेन्द्र,

प्रकाशक—भारतीय प्रकाशन मंडल, वाराणसी

पृष्ठ-संख्या—३२ : मूल्य—एक रुपया

प्रस्तुत नाटक के लेखक ने हिन्दी के एकांकी नाटक पर थीसिस लिखी है और उसी के फलस्वरूप उन्हें पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त है। तात्पर्य यह कि एकांकी नाटकों के संबंध में लेखक का अध्ययन गहरा होगा, होना भी चाहिए। किंतु प्रस्तुत नाट्य-कृति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान् लेखक ने अपने संचित ज्ञान, नाट्य-शिल्प आदि का प्रयोग या उपयोग (?) इसमें नहीं किया है। पुस्तक तो एकांकी है, मगर जैसा कि मनीषी एकांकीकारों का कथन है—'एकांकी नाटकों में एक-एक शब्द प्राण की भाँति होने चाहिए'—शायद लेखक ने इसे तर्कसंगत नहीं माना है। बोझिल कथोपकथनों ने प्रस्तुत आलोचक को हैरत में डाल दिया है कि आखिर सम्वाद बोलते समय पात्र को कितनी बार पानी पीना पड़ेगा; क्योंकि ३६ एम् में कम्पोज उन्नीस पंक्ति का डायलग बोलना खिलवाड़ नहीं (देखें पेज—६-७)। फिर स्वाभाविकता की चरम परिणति देखिए। तीन वर्ष का बालक जिद्द करता हुआ अपनी माँ से कहता है—"नहीं माँ, मैं तो आज तुम्हारे साथ चलूँगा। पानी को भरे हुए कई दिन हो गए। अब बैठा नहीं जाता।" धोखे से यदि कोई तीन वर्ष का बच्चा पानी में डूब जाय, तो उसे हम 'शहीद' की संज्ञा कैसे देंगे? लेकिन लेखक एक पात्र से कहलवाता है...."यह किसे पता था कि उसमें (पानी में) एक बालक शहीद हो जायगा?" ग्रामीण स्त्री की, पुत्र-वियोग व्यक्त करते समय, भाषा देखिए—"यह मेरी उमीदों का प्रकाश था।"

नाटक की पुस्तक शुरू करते ही पहले दृश्य में लिखा गया है—"तेज वर्षा के कारण सर्वत्र जल-ही-जल दीख पड़ता है।" शायद यह दृश्य संयोजन पृथ्वीराज भी अपने नाटकों में नहीं कर सकते।

बावजूद इन गलतियों के, मुझे यह कहना है कि प्रस्तुत नाटक गाँव-सुधार, जनकल्याण, कृषि उन्नति आदि के आधार पर लिखा गया है। जन-कल्याण की भावना जगाने के खयाल से इसकी रचना हुई है। किन्तु, विषय को देखते हुए पुस्तक में नाटकीयता का सर्वथा अभाव है। लेखक की ओर से शिल्प की उपेक्षा मन में असंतोष पैदा करती है।

सिन्धी की श्रेष्ठ कहानियाँ

सम्पादक तथा अनुवादक—मोतीलाल जोतवाणी

प्रकाशक— राष्ट्रीय साहित्य मंदिर, नई दिल्ली—१४

पृष्ठ-संख्या—१२४ : मूल्य—२.५० नए पैसे

प्रस्तुत पुस्तक में सिन्धी की एक दर्जन कहानियाँ मोतीलाल जोतवाणी द्वारा संपादित एवं अनुवादित हैं। संपादक ने बड़े ही कौशल से लेखकों और कहानियों का चुनाव किया है। अधिकांश कहानियाँ मर्म को छूने की शक्ति रखती हैं। किसी-किसी कहानी में समाज की कुरीतियों पर बड़ा गहरा व्यंग्य है। सबसे बड़ी खूबी यह है कि इनकी स्थितियाँ ही व्यंग्य करती हैं, लेखक व्यंग्य का बिगुल नहीं फूँकता। 'सुहागन' कहानी इसका प्रमाण है। श्रीमती कला प्रकाश की कहानी 'मुसकान और ममता' में मातृ-हृदय की बड़ी ही नाजुक भावुकता है। श्री उत्तम की कहानी 'राजा' पाठक की संपूर्ण सहानुभूति की अधिकारिणी है।

हिंदी में इस प्रकार का प्रकाशन-कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है। इस ओर साहित्य-अकादमी ने भी कदम उठाया है और जिस उद्देश्य से साहित्य-अकादमी की स्थापना हुई है, एक स्वतंत्र प्रकाशक के रूप में (बिना सरकारी सहायता के) प्रकाशक महोदय का यह कार्य सराहनीय है। हिंदी के लेखकों

को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए और सिन्धी भाषा की कहानी-कला की गतिविधि से परिचित होना चाहिए।

पुस्तक ऐंटिक पर छपी है। मुद्रण सुरुचिपूर्ण है।

अपराजिता (कहानी-संग्रह)

लेखक—श्री भगवती शरण सिंह

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

पृष्ठ-संख्या—१७५। मूल्य : २·७५ नए पैसे

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की पंद्रह कहानियाँ संगृहीत हैं। सबसे पहले मैं यह बात स्पष्ट कर दूँ कि लेखक ने अपने वक्तव्य में न तो अपनी रचनाओं की वकालत की है और न प्रशंसक के रूप में किसी ख्यातिप्राप्त आलोचक का नाम लिया है। लेखक का वक्तव्य अत्यंत संयत और समझौते से भरा है।

आज कहानी-कला बहुत आगे बढ़ चुकी है। यह कहना कि हिंदी में श्रेष्ठ कथा-साहित्य का अभाव है, गलत ही नहीं, बल्कि भ्रामक वक्तव्य का टुकड़ा कहा जायगा। हिंदी-कहानी के नए शिल्प-विधान और विषय-वस्तु को देखते हुए, इन कहानियों में बहुत कुछ नया तो नहीं है, परंतु भाव और भाषा को देखते हुए इनकी समृद्धि पर संदेह नहीं। इस संग्रह की कहानी 'जीवन-साथी' अत्यधिक मार्मिक है। परंतु, एक प्रश्न-चिह्न सामने आता है कि आखिर फैसला करने के बाद मन्तू पीपल-वृक्ष के नीचे से हटा क्यों नहीं ? यदि लेखक मन्तू के आत्म-संघर्ष का चित्रण करता, तो बड़ी आसानी से पाठकों को स्वतः इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता। बार-बार मन्तू पीपल-वृक्ष के नीचे से उठकर चलने के लिए आगे बढ़ता और लौट कर फिर वहीं आ सकता था। 'अपराजिता' कहानी का अंत पाठक के मर्म को स्पर्श करता है। प्रश्न उठता है कि नीमा क्योंकर रायबहादुर की शरण में आयी ? लेखक एक-दो पंक्ति में इसे स्पष्ट कर सकता था। फिर गाने के प्रति उसकी निरन्तर आस्था इस कहानी से कोई सीधा संबंध नहीं रखती। 'कालेज छोड़ने के बाद' कहानी कमजोर है। लेखक ने उसे रहस्यात्मक बनाने की चेष्टा की है, मगर मुट्ठी खाली-की-खाली रह गई है। एक जगह लेखक कहता है—"शीला और मैंने एक साथ बी० ए० की परीक्षा दी।" फिर वह शीला से पूछता है, "तुम्हारा तो आज केमिस्ट्री का परचा था ? कैसा हुआ ? यही तो आखिरी परचा भी था ?" क्या बी० ए० में भी केमिस्ट्री की पढ़ाई होती है ? संग्रह की कहानी 'कलाकार', 'कला की सृष्टि' ऊँचे दर्जे की है। ठीक इसके विपरीत 'प्यार की छाँह' शीर्षक कहानी साधारण कोटि की है। इसे हम अस्वाभाविक भी कहें, तो लेखक के साथ अन्याय न होगा। और, सबसे बड़ा दोष यह है कि दस पेज की कहानी में लेखक स्वयं सब कुछ बोलता रहा है। पात्रों के मुख को बंद किये रहना या ऐसी स्थिति को रोक रखना, जिसमें स्वयं अपने चरित्र के साथ पात्र बोले, न तो कोई प्रयोग है और न रचना-विधान का विकास ही। लेखक का यह दोष प्रायः हर कहानी में स्पष्ट है।

पुस्तक की छपाई-सफाई भारतीय ज्ञानपीठ की मर्यादा के अनुकूल है।

मेरा नाम राधा है (कथा-संग्रह)

लेखक—स्व० सआदत हसन मण्टो

प्रकाशक—दिल्ली पुस्तक सदन, नई दिल्ली।

पृष्ठ-संख्या—३५१. मूल्य—५·५० नए पैसे

प्रस्तुत में विख्यात कथाकार स्व० मण्टो साहब की बीसियों

कहानियाँ संगृहीत हैं। प्रस्तुत आलोचक ही मण्टो की रचनाओं का हिमायती नहीं, बल्कि साधारण पाठक से लेकर साहित्यकार-वर्ग तक उनकी प्रतिभा का लोहा मानता रहा है। साधारण-सी बात से कहानी प्रारंभ कर अंत में मर्मभेदी अपील की दृढ़ स्थापना करना, शायद मण्टो के ही वश की बात थी। उनका कलाकार-हृदय न तो मुसलमान था, न हिन्दू, न सिक्ख, न ईसाई। वह तो संपूर्ण जन-जीवन के हृदय को अपनी कला के रथ पर बिठा कर, समाज के गंदे वातावरण की यात्रा करता और अंत में समाज की बुराइयों से तौबा करता है।

यह मण्टो की अक्षय प्रतिभा का ही चमत्कार है कि आज हिंदी के अनेक कथाकार उनकी शैली की नकल करके भी, उनकी सफलता का सहस्रांश भी नहीं पा रहे हैं। कुछ कहानीकार अपने को 'शहर का मण्टो' लिखते और लिखवाते हैं। यह कहना मुश्किल है कि प्रस्तुत संग्रह में मण्टो की श्रेष्ठ कहानी कौन है; क्योंकि अपनी विशेषता के कारण प्रायः सभी कहानियाँ बेजोड़ हैं। पुस्तक का प्रकाशन भी अच्छे ढंग से हुआ है। कागज, छपाई आदि में प्रकाशक ने कंजूसी का परिचय नहीं दिया है।

अंत में एक बात और। आज मण्टो के अनेक कहानी-संग्रह विभिन्न प्रकाशक छाप रहे हैं। मण्टो के परिवार वाले पाकिस्तान में हैं। प्रकाशकों को चाहिए कि अनुवादक को तो पारिश्रमिक दें ही, ईमानदारी का खयाल रखते हुए, मण्टो के परिवार वालों को भी कुछ रकम अवश्य भेजें; क्योंकि अपने जीवन-काल में भी मण्टो ने प्रकाशकों से उचित पैसे नहीं लिये—उसने पैसे को नहीं पहचाना।

—मुक्तिदूत



लेखक और पुस्तक : बाजार-भाव

मैकमिलन प्रकाशन के न्यूयार्क वाले अन्तर्राष्ट्रीय सदन की अध्यक्षा श्रीमती ए० ए० बिशौप हाल में अपनी व्यापारिक यात्रा के संबंध में दिल्ली आई थीं। बिशोप जन्मना स्पेनी हैं और प्रसिद्ध अणु-वैज्ञानिक होकर भी, लोगों द्वारा विज्ञान में स्त्रियों के प्रवेश के प्रति नापसन्दगी के कारण, वे पहले स्पेनी भाषा की अध्यापिका हुईं और तदनन्तर विगत १४ वर्षों से उक्त प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था की पदाधिकारिणी। उन्होंने पुस्तकों के प्रति पाठकों की मौजूदा परिवर्तित प्रवृत्ति के विषय में निम्नांकित रोचक बातें कहीं :—

(१) प्रकाशकों के लिए कथा-साहित्य का प्रकाशन एक खतरनाक उद्योग हो रहा है। क्योंकि आधुनिक कथा-साहित्य अपने में कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रखते हैं।

(२) उपन्यास अपने प्रथम संस्करण के ही बाद भुला दिए जाते हैं।

(३) आजकल किसी भी लेखक की यही अन्तिम आकांक्षा रहती है कि उसकी रचना का या तो फिल्म बन जाय, नहीं तो टेलीविजन-प्रदर्शन हो। क्योंकि इससे नकद पैसे मिल जाते हैं। अतएव, वे जो-कुछ लिखते हैं, वे साहित्य से अधिक फिल्मी-सेनेरियो के ही नजदीक होते हैं।

(४) बच्चों और नव-युवक-युवतियों के लिए साहित्य लगभग अजनबी चीज हो चुका है। इसके लिए विद्रूप-रचनाओं को धन्यवाद! क्योंकि, सभी महान् रचनाएँ उनके लिए विद्रूप तमाशा बना दी गई हैं। और, इन विद्रूप-रचनाओं के सहारे एक बार कथा-प्रसंगों से परिचित हो जाने के बाद उनमें मूल रचना पढ़ने के प्रति कोई आग्रह ही शेष नहीं बच पाता।



ऋतंवरा [काव्य]

प्रकाशक, कवि और दो पाठकों की दृष्टि में

[इस अंक से यह स्तंभ जारी रहेगा। इस बार, कविवर श्री केदारनाथ मिश्र प्रभात' जी की कृति 'ऋतंवरा' पर उसके प्रकाशक, कवि और दो पाठकों के विचार क्रमशः प्रस्तुत हैं। 'ऋतंवरा' का प्रकाशन ई० सन् १९५७ में अजन्ता प्रेस (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना-४ से हुआ ; जिसका मूल्य ४'५० है और जो डिमाई आकार के २०७ पृष्ठों की है। हम इसके इन प्रकाशक, कवि और पाठकों के प्रति कृतज्ञ हैं कि इन्होंने हमारे निवेदन पर इस पुस्तक पर अपने विचार दिए।—संपादक]

प्रकाशक के विचार

मैं स्वयं साहित्यकार नहीं हूँ, परन्तु सत्संग के कारण मेरे हृदय में साहित्य के प्रति अनुराग अवश्य है और अपने सीमित साधनों को लेकर प्रकाशन के क्षेत्र में यथाशक्ति हिंदी की सेवा करता रहा हूँ।

एक दिन मुझे 'ऋतंवरा' की पाण्डुलिपि देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ कविवर 'प्रभात' ने स्वयं सुनाईं। मुझे ऐसा लगा कि हिंदी कविता की प्रगति के पथ पर एक अद्भुत पुस्तक लिखी जा रही है, बड़े विश्वास और सफलता के साथ। मैंने प्रकाशन संबंधी अपने प्रस्ताव तत्क्षण कवि के सामने रख दिये और सारी बातें पक्की हो गईं।

पुस्तक-प्रकाशन एक व्यवसाय है। हर प्रकाशक आर्थिक लाभ की आशा से ही पुस्तकें प्रकाशित करता है। मैं अपवाद नहीं हूँ। परन्तु, यह भी सही है कि कुछ ऐसी पुस्तकें भी होती हैं जिनका प्रकाशन प्रकाशक के लिये चिंता का कारण बन जाता है। मेरा संकेत उच्चकोटि के गरिष्ठ साहित्यिक ग्रंथों की ओर है। सस्ते साहित्य का प्रचार वर्तमान युग की एक विचित्र प्रवृत्ति है और ऐसी स्थिति में 'ऋतंवरा'-जैसे गुरुगंभीर काव्य-ग्रंथ के प्रकाशन से प्रकाशक कितना और कहाँ तक आर्थिक लाभ की आशा कर सकता था, यह आसानी से समझा जा सकता है।

परन्तु, मेरे सामने एक दूसरा प्रश्न भी था। प्रकाशक के लिए क्या आर्थिक-लाभ ही सब-कुछ है? साहित्य की श्रीवृद्धि में हाथ बँटाना क्या उसका कर्तव्य नहीं है?

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि 'ऋतंवरा' की श्रेष्ठता के विषय में मेरे हृदय में श्रद्धा की उद्भावना हो चुकी थी और मैं आश्वस्त था कि वह अपने ढंग की अनूठी पुस्तक होगी और उसके प्रकाशन से राष्ट्रभाषा गौरवान्वित होगी। आर्थिक लाभ का प्रश्न मेरे सामने जरूर आया, परन्तु मैंने उधर ध्यान नहीं दिया और 'ऋतंवरा' के मुद्रण-प्रकाशन की व्यवस्था कर दी।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि 'ऋतंवरा' के प्रति मेरी जो धारणा थी वह निराधार नहीं निकली। वह पुस्तक आज पर्याप्त रूप से प्रख्यात है। दो राज्य-सरकारों से वह पुरस्कृत भी हो चुकी है। उसका प्रकाशक होकर मैं गौरव का अनुभव करता हूँ।

—जयनाथ मिश्र

कवि के विचार

मुझसे आग्रह किया गया है कि मैं अपनी पुस्तक 'ऋतंवरा' के प्रति अपने दृष्टिकोण के विषय में कुछ लिखूँ। पुस्तक प्रकाशित हो जाने के बाद मैंने कभी नहीं सोचा कि उसके रचयिता के रूप में मुझे उसके विषय में कुछ और कहने को बाकी रह गया है। जब कोई पुस्तक छपकर पाठकों के बीच आ जाती है तब उसके लेखक से उसका सम्बन्ध छूट-सा जाता है। टूट-सा जाता है ऐसा मैं नहीं कहता। रचयिता की सफलता-असफलता, उसके विचार, उसका दृष्टिकोण, सब-कुछ उसकी रचना में समाविष्ट हो अपने जन्मस्थान और अपने जन्मदाता को दूर से देखते हैं। न मालूम कौन किसे प्रणति देता है, कौन किसे आशीर्वाद। न मालूम कौन किसे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है, कौन किसे युग के अंधकार में निर्ममता से छिपा देता है!

हाँ, एक जंजीर ऐसी अवश्य होती है जो रचयिता और रचना को कसकर बाँधे रहती है। यह वही जंजीर है जिसमें

विश्व-रचयिता ने, विश्व-रचना के पश्चात्, अपने को बँधा पाया। इसीलिये मैंने कहा कि यह सम्बन्ध टूटता नहीं और इसी सम्बन्ध की रक्षा के लिये मुझे 'ऋतंवरा' के विषय में कुछ लिखने का आग्रह मानना पड़ा !

'ऋतंवरा'-जैसे काव्य-ग्रंथ में जो कुछ होना चाहिए वह सब कुछ उसमें है। प्रणयनारंभ के पूर्व भी मेरे ध्यान में यह बात थी और पुस्तक-रचना की हर अवस्था में मैं इसके प्रति सचेत-सचेष्ट रहा। इसलिये 'ऋतंवरा' की आत्मा, मस्तिष्क, हृदय और कायिक सम्पत्ति जैसे रक्त-त्वचा आदि तत्त्वों के विषय में मुझे कोई नई बात नहीं कहनी है। प्रणेता के विश्वास का तेज असह्य होता है; उसके सामने उसी की आँखें ठहर सकती हैं जो स्वयं उस तेज को अपने में भर लेता है। मेरा यह विश्वास आज भी अडिग है। तो, कुछ ऐसी चीजों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करूँ जो 'ऋतंवरा' में नहीं हैं फिर भी जिनकी चर्चा हो ही जाती है।

लोग एक ऐसे वाद्य नाली-यंत्र की कल्पना करते हैं जिसकी सुषिरता हवा का रुख देखकर अथवा उसके स्पर्शमात्र से मुखरित हो उठती है। संसार में ऐसे मर्मज्ञों का अभाव नहीं है जो इस सुषिरता पर रीझ जाते हैं। मैं स्वीकार कर लूँ कि 'ऋतंवरा' में ऐसे मर्मज्ञों का मन मोह लेने वाली यह सुषिरता स्थान नहीं पा सकी, क्योंकि अन्तश्चैतन्य एवं अन्तःसंज्ञा को वह भाजिष्णु नहीं लगी।

'ऋतंवरा' में जितनी कड़ियाँ, जितने तार जुड़े हुए हैं उनमें कोई भी विसंवादी नहीं है क्योंकि सान्ध्वनिकता उनका आधार है। किसी एक कड़ी को खोलने अथवा किसी एक तार को बजाने का प्रयास, मेरी दृष्टि में, असमीचीन होगा। जब सब कड़ियाँ खुल जायँ और सब तार बजने लगें तभी रचनाकार का स्वर सुनाई पड़ सकता है। अन्यथा कोई अपनी ही असफलता की पुकार सुनेगा, कोई अपने ही दर्प की चिल्लाहट; कोई अपनी ही खीझ की कहानी सुनेगा, कोई अपनी ही रिक्तता की प्रतिध्वनि !

'ऋतंवरा' का व्यक्तित्व उसी का-सा है। उसमें 'कामायनी' को ढूँढने का प्रयास मुझे तो उपहासास्पद ही लगता है और मेरी यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि 'कामायनी' के प्रेमी, जिनकी संख्या कम नहीं है, प्रेमी-भर हैं। यदि 'कामायनी'-कार १९५६-५७ में अपनी पुस्तक की रचना करते तो उसका रूप, भाव-भाषा-कथ्य, प्रत्येक दृष्टि से 'कामायनी' के वर्तमान रूप से कितना भिन्न होता इसकी कल्पना बड़ी सरलता से की जा सकती है। 'ऋतंवरा' इस काम को और भी सरल बना देती है। मैं स्पष्ट कह दूँ कि मैं दोनों में से किसी को भी परिणति नहीं मानता।

कल्पना को सत्य की अभ्यर्थना न माननेवाले विचारक रामचरितमानस के प्रति भी अनास्था प्रगट कर सकते हैं। परंतु प्रबन्ध-रचना में, अधिकतर, यही कल्पना गृहीत होती है। इसके विपरीत का अस्तित्व 'ऋतंवरा' में नहीं है। 'कामायनी' के मनु, श्रद्धा आदि पात्रों की कल्पना उतनी ही झूठी है जितना उनका वर्णन सजीव। मानो अज्ञानांधकार को विदीर्ण कर प्राचीन तिलक का उदय हुआ हो; फुल्ल, पूर्ण, अमृतोपम। 'ऋतंवरा' के मनु, शतरूपा आदि पात्रों की उद्भावना उतनी ही निराधार है जितना उनका चित्रण पार्यन्तिक; वर्तमान और भविष्य की समस्त संभाव्यताओं को आत्मसात करता-सा। कल्पना के इसी रूप को सत्य की अभ्यर्थना कहते हैं। वेदों और पुराणों की कहानियाँ सत्य की इसी अभ्यर्थना से प्रधूपित हैं।

—'प्रभात'

पाठकों के विचार

'ऋतंवरा' हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की श्रेष्ठतम कृति है।

'सर्ग' नाम से यद्यपि इसका प्रारंभ १९३९ में ही हुआ था, परन्तु प्रकाशन हुआ १९५७ में। इन अठारह वर्षों की अवधि ने कवि की सारी संभावनाओं को फैलाव दिया, उन्हें गति दी और लगता है, वह समूचा फैलाव ही 'ऋतंवरा' की कथा का फैलाव है और वह संपूर्ण गतिमयता ही 'ऋतंवरा' की शिल्पगत गतिमयता है। निस्संदेह, यह महाकाव्य, कवि के अन्य कथात्मक काव्यों से प्रौढ़ तो है ही, हिन्दी की भी एक स्तुत्य उपलब्धि है।

'ऋतंवरा' की चर्चा के क्रम में 'कामायनी' अवश्यमेव उल्लेख्य है। कवि ने यद्यपि 'कामायनी' का नाम नहीं लिया है, फिर भी कामायनी के पाठकों से 'ऋतंवरा' बच नहीं सकती। कामायनी के सहृदय पाठक भले ही 'ऋतंवरा' को हू-बहू 'कामायनी' के तर्ज पर लिखा हुआ ग्रंथ न मानें, लेकिन यह

मानने में स्वयं कवि को भी झिझक नहीं होनी चाहिए कि 'कामायनी' की गंध इसमें अवश्य है, 'कामायनी' प्रेरक-शक्ति अवश्य रही है और 'कामायनी' का ऋण किसी तरह भुलाया नहीं जा सकता। यह दूसरी चीज है कि 'कामायनी' और 'ऋतंवरा' के समय भिन्न हैं, परिस्थितियाँ भिन्न हैं और पात्र भिन्न हैं।

'ऋतंवरा', 'ईक्षण' से 'अद्यापि' तक है और 'कामायनी', 'चिंता' से 'आनंद' तक। तात्पर्य यह कि 'ऋतंवरा' के सर्गों के नाम भी वैसे ही प्रतीकात्मक और मनोवैज्ञानिक हैं, जैसे 'कामायनी' के। लेकिन इस साम्य से 'ऋतंवरा' का कुछ बिगड़ता नहीं है। 'ऋतंवरा' भी वस्तुतः हमारे उसी अतीत की कथा है, हमारी उन्हीं अखंड परंपराओं की भित्ति पर आधारित है, जो वर्तमान को गतिशील बनाती हुई, भविष्य को जीवंत रखती हैं, जो आज को चैतन्य और विहान को सुन्दर बनाती हैं। अतीत उसी शक्ति का नाम है, जो अपने को परोक्ष में रखती हुई आगामी को निर्देशित करती है। हमारे मनु और हमारी पृथ्वी इन्हीं पारंपरीय प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। तथ्यतः, 'ऋतंवरा' एक सुव्यवस्थित कथा, प्रौढ़ चिंतन और काव्योचित शिल्प का समन्वित नाम है। और, कवि की इस कृति का अभिनंदन मैं उन्हीं के शब्दों में करता हूँ—

"संगीतमयी शृखंला एक, योजना एक,
अक्षर अनंत, अनगिनत शब्द, वंदना एक।"

—जगदीशनारायण चौबे

: २ :

इसे पढ़ने पर लगता है कि कवि के मिजाज में रचना के समय 'कामायनी' अवश्य घूम रही होगी। फिर भी, उतनी नाटकीयता नहीं निबह पाई। क्योंकि, दस सर्गों तक सृष्टि के प्रारंभ को लेकर शब्दार्थों की पुनरावृत्ति और बाद में 'अद्यापि' तक के पाँच सर्गों में सन् १९५७ तक की विश्व-स्थिति को समेट लेने की जल्दबाजी है और मंच पर चढ़कर व्यास के मानिन्द अधिकतर बातें कवि द्वारा कहे जाने का कारण भी। ऋग्वेद के "नासीदन्नो न मृत्युरासीत्...तम आसीत्..सलिलं सर्वमा इदं" या भागवत के "जलोर्मिचक्रा-त्सलिलाद्विरूढमुपाश्रितः कञ्जं" के आधार पर पहले दस सर्गों का विस्तार है। हाँ, इस बीच 'जलोर्मि' के साथ 'ज्वाला' या 'आग' अपनी ओर से खास तौर पर जगह-जगह जोड़ी गई है। इसके प्रमुख स्वर हैं: 'वाणी' और 'सर्जना बनी' (आमुख), 'मैं' (दूसरा सर्ग), 'यह सब विरंचि ने देखा' (तीसरा सर्ग), 'है' 'कहाँ' 'जिसने' 'वह' 'मैंने' (चौथा सर्ग), 'कि' 'कौन जो' (पाँचवाँ सर्ग), 'उत्सव' 'मधु' 'आतप' 'ग्रीष्म' 'मुट्ठी भर ज्वाला' 'आग' 'तुनुक वर्ति' (छठा सर्ग), 'पार्थिवता का लग्न' 'यही दीप' 'आतप से पीड़ित' (सातवाँ सर्ग), 'नया रूप' 'नया गान' 'नव विहान' (आठवाँ सर्ग), 'आग' 'रक्त' 'रक्तच्छित' (नवाँ सर्ग)—आदि। इसमें बहुत स्थलों पर अर्थ अटक जाता है, जैसे: 'पर्णाल' (११), 'दीप जलाती अँधियाले में बीरबहूटी' (६), 'बीन को झोर कर, झकझोर कर फिर दे बजा' (५), 'भयद-भयानक-भीमर-भट' 'यज्ञाग्नि का हुँकार' और 'आरती सी वारती लौ भारती-सी प्यार' (४), 'उस जलते भुवन को' (३), 'जल की ज्वाला के धुआँ तले' और 'तू क्या है यह मैं बुझ न सका' (२)—आदि। इसमें कुछ असंगतियाँ भी लगती हैं, जैसे: सृष्टि के हित व्याप्त उत्सुकता के क्षण में 'मन! समाधि का दीप जलाओ' और 'जलती समाधि-ज्वाला थी, दीपक भी धीमा-धीमा'; जल में डूबी धरती जल की ही ओर 'चुपचाप सरकती जाती थी' और फिर भी 'यही कातर पुकार—पृथिवी को कोई महाप्राण लेता सँभाल'; पाँचवें सर्ग में 'नाव मेरी' और 'हे विरंचि! मोड़ लो निज जलयान' अर्थात् दो नावों की चर्चा; पहली नारी का पहले पुरुष के समक्ष पृथ्वी पर चोली आदि में बन-ठन कर सकुचाते हुए उतरना—आदि। इसमें कबीर-जैसी बोली भी है: 'तार नहीं, वीणा न बनी रे, चादरिया भव की न तनी रे' और वन्दे-मातरम्-जैसे बोल भी हैं: 'श्यामला सजला....शस्यावती'—आदि।

यह मुझे समझ भी नहीं आई और मजा भी नहीं आया।

—प्रभाकर मिश्र



बिहार के प्रकाशक-ऋषि :

महाराजकुमार रामदीन सिंह



श्री सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार

'लेखक का प्रकाशक होना वांछनीय है या नहीं?'— गत वर्ष इस प्रश्न को एक समस्या के रूप में, 'पुस्तक-जगत' ने हिंदी-संसार के समक्ष उपस्थित किया था, जिसे इसी 'पुस्तक-जगत्' के माध्यम से, बिहार तथा बिहार के बाहर के भी अनुभवी लेखकों तथा प्रकाशकों ने, गत वर्ष भर तक, अपनी-अपनी युक्ति/भिड़ाकर, अपना-अपना तर्क लगाकर, सुलझाने का प्रयास किया और संभवतः आगे भी करते रहेंगे। लेकिन, जब हम हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन तथा उसके व्यवसाय के विकास पर प्रारंभ से ही दृष्टि डालते हैं, तो हमें यह प्रश्न निस्सार, बे-जान-सा दिखाई पड़ता है। हमें तो ऐसा लगता है कि यह समस्या सही मानी में, यथार्थ रूप में समस्या बनकर न तो कभी हिंदी-जगत के पर्दे पर आई और न भविष्य में ही इसके आगमन की कभी संभावना है। यों, आज के वैज्ञानिक युग में द्वंद्वात्मक तर्कवाद के सहारे, जो भी प्रमाणित कर दिया जाय, सब ठीक ही है। हाँ, हमारी समझ से हिंदी प्रकाशन-जगत् के सामने इन दिनों यदि कोई ज्वलंत प्रश्न तथा जटिल समस्या है तो वह यह है—'राज्य या सरकार का प्रकाशक बनना वांछनीय है या नहीं?' अगर 'पुस्तक-जगत्' इस समस्या के समाधान के लिए लेखकों और प्रकाशकों का आवाहन करे, तो पुस्तक-प्रकाशन के व्यवसाय के लिए कहीं अधिक कल्याणप्रद होगा।

यह तो निर्विवाद मान लेना चाहिए कि लेखक और प्रकाशक में अन्योन्याश्रित संबंध है; लेखक प्रकाशन व्यवसाय का मेरुदंड है। लेखक के सक्रिय सहयोग के अभाव में न तो किसी प्रकाशक का प्रकाशन-व्यवसाय ही सुचारु-रूप से संचालित हो सका है और न हो सकता है। प्रकाशक तो लेखक की चीजों को ही प्रकाश में लाकर उन्हीं चीजों पर अपने व्यवसाय की नींव डालता हैं; इसलिए यह स्पष्ट है कि लेखक ही प्रकाशन-व्यवसाय की आधार-शिला है, नींव का पत्थर! हम तो यहाँ तक देखते आ रहे हैं कि जो स्वतः लेखक नहीं, वह लाख सर पटकने पर भी सफल प्रकाशक नहीं बन सकता। जिस प्रकार रत्नों का यथार्थ पारखी जौहरी ही रत्नों के व्यवसाय में अपना जौहर दिखा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान को अपनी लेखनी के सहारे प्रकाश में लाने की क्षमता रखनेवाला लेखक या साहित्य-जौहरी ही इसे समुचित रूप से प्रकाश में ला सकता है। हिंदी प्रकाशन-जगत् में तो हम यहाँ तक देखते हैं कि प्रारंभ में जितने भी प्रकाशन-पादप पनपाये गये, उनका बीजारोपण ही मात्र लेखकों द्वारा नहीं हुआ है, बल्कि लेखकों के त्याग तथा साधना ने ही उन्हें पल्लवित, पुष्पित तथा फल-भार-संपन्न-स्वरूप प्रदान करने में सफलता पाई है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, अपने बिहार राज्य का ही दृष्टांत हमारे सामने है।

बिहार में हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन का श्रीगणेश हुआ सन् १८७५-७६ में, जबकि बिहार-शरीफ-निवासी पं० केशवराम भट्ट ने पटने में 'बिहार-बंधु प्रेस' की प्रतिष्ठा कर उससे 'बिहार-बंधु' नामक साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन के साथ-साथ स्कूलों के लिए पाठ्य-पुस्तकों तथा सामान्य पाठकों के लिए भी नाटक आदि के रूप में अनेकानेक सामान्य पुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ किया। कहना नहीं होगा कि स्व० पंडित केशवराम भट्ट को हमलोग प्रकाशक के रूप में नहीं, बल्कि लेखक के रूप में ही जानते हैं। प्रारंभ में 'बिहार-बंधु प्रेस' में भट्ट जी ने जो भी पुस्तकें प्रकाशित की, उनमें अधिकांश उनकी स्वलिखित ही थीं। उसी आस-पास, सन् १८८० ई० में, बिहार के लब्ध-प्रतिष्ठ मुद्रणालय तथा प्रकाशन-गृह 'खड्गविलास प्रेस' का संस्थापन हुआ, जिसके जन्मदाता या संस्थापक स्व० महाराजकुमार रामदीन सिंह, अपने समय के एक उद्भट लेखक ही नहीं, बल्कि हिंदी-भाषा तथा साहित्य के इने-गिने उन्नायकों में मान्य थे। इसके बाद भी, यदि स्व० पं० रामदहिन मिश्र तथा मास्टर साहब के नाम से हमारे सुपरिचित बाबू रामलोचन शरण जी को भी अपनी-अपनी विलक्षण व्यावसायिक बुद्धि के साथ-साथ अपनी-अपनी लेखनी का भी वरिष्ठ संबल नहीं होता, तो संभवतः ये लोग प्रकाशन-क्षेत्र में अवतरित होने को उत्प्रेरित नहीं होते। पबलिशिंग हाउस, मुंगेर के संस्थापक स्व० श्री वासुदेव पांडेय यदि अपनी प्रथम कृति

'वर्ण-बोध' नहीं लिखते, तो उन-जैसे जेल-विभाग के प्रशासक को प्रकाशन-क्षेत्र में उतरने की कदाचित् ही प्रेरणा मिलती। एक शब्द में, लेखक ही प्रकाशक हो सकता है।

लेकिन, सच तो यह है कि सार्वजनीन रूप से हिंदी भाषा के अभ्युदय तथा विकास की सुप्रभात-बेला में हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन-प्रतिष्ठान को व्यावसायिक दृष्टिकोण से प्रतिष्ठापित करने का कोई स्वप्न भी नहीं देख सकता था। अतएव, यह स्वभाव-सिद्ध है कि उस ठस बेला में जिन लोगों के हृदय में देश-सेवा तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ तरंगित होती होंगी, जो त्याग और तपस्या को अपनाकर राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा की सेवा का व्रत साधने को उत्प्रेरित होते होंगे, वे ही हिंदी-पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में अवतरित होने का साहस करते होंगे। स्व० महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह का आदर्श दृष्टांत हमारे सामने है, जिनके संबंध में बिहार प्रांतीय-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन (सीतामढ़ी, १९२१) के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए, बाबूसाहब के ही समकालीन तथा एक अर्थ में सहयोगी भी, स्व० बाबू शिवनन्दन सहाय ने कहा :—

"भारतेंदु के समान बाबू साहब बिहार में, अपने ढंग से हिंदी-प्रचार में सर्वप्रकारेण अंत समय तक दत्तचित्त रहे। इन्होंने हिंदी की दुर्बलावस्था में इसका पालन-पोषण किया। ये इसकी सेवा में ऐसे समय में प्रवृत्त हुए थे, जबकि बिहार में लोग हिंदी को प्रेम-दृष्टि से नहीं देखते थे और न इससे इन्हें बहुत लाभ की आशा थी। हिंदी-पुस्तकों को सेंत में लेना भी लोग मँहगा समझते थे। ऐसे कुसमय में इन्होंने बिहार में हिंदी के लिए जो अकेले किया, वह आज इतने लोग मिल कर भी अभी तक नहीं कर सके। इनका हिंदी-प्रेम और सेवा वर्णनातीत है। इसी से आज भी इनकी जयंती मनाई जाती है, और बिहार में हिंदी-प्रचार में लोग इन्हें अगुआ मानते हैं।"...

इसी प्रकार, बिहार-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन (छपरा, १९२२) के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए स्व० महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ने भी कहा है :—

"...श्रीयुत रामदीन सिंह जी कल्पवृक्ष की भाँति लेखकों की सहायता करने लगे। हिंदी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। उस समय कोई उल्लेख-योग्य सभा बिहार में नहीं थी,

पर सौ सभाओं के बराबर श्रीयुत् रामदीन सिंह जी हिंदी-साहित्य की संवृद्धि में संलग्न थे।"

और भी, उसी सम्मेलन के त्रयोदश पूर्णिया अधिवेशन (१६३६) के सभापति-पद से भाषण करते हुए स्व० श्री यशोदनंदन अखौरी तो बाबू साहब के संबंध में यहाँ तक बोल गये हैं कि "...हम इन्हें बिहार के साहित्याकाश के प्रखर ज्योतिमान आदित्य कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं। उनके अस्त होने से बिहार का साहित्याकाश ज्योतिहीन और तिमिराच्छन्न हो गया, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।"

निस्संदेह महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह बिहार में, मात्र बिहार के ही नहीं, बल्कि तत्कालीन हिंदी-जगत् के साहित्याकाश में ज्योतिर्मान प्रखर आदित्य के रूप में लगभग चालीस वर्ष तक चमकते रहे। वे आदर्श प्रकाशक थे, लेखनी का ही संबल लेकर प्रकाशन-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और अपनी निस्पृह साहित्य-साधना के सहारे लक्ष्मी के भी लाड़ले बने! यों बाबू साहब का जन्मस्थान उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में था। लेकिन, बिहार में ही उनका कार्य-क्षेत्र रहा, बिहार के लिए ही उन्होंने जीवन धारण किया था और इसी की सेवा करते-करते गोलोक भी सिधारे! तभी तो, जन्म तो उन्होंने धारण किया बलिया जिले के एक कुलीन क्षत्रिय परिवार में, सन् १८५५ ई० में, लेकिन अपनी जीवन-लीला समाप्त की बिहार की राजधानी पटना में, अपने ही खड्गविलास प्रेस में, सन् १६०३ ई० में!

बाबू साहब ने प्रारंभ से ही पटने को अपना स्थायी निवास बनाया और यहीं कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के प्रयास में लगे। उस समय बिहार में हिंदी का अभ्युदय होने ही जा रहा था। सन् १८६४-६५ ई० में बिहार की पाठशालाओं में हिंदी भाषा में पुस्तकें पढ़ाने का सिद्धांत ब्रिटिश सरकार की ओर से स्वीकार तो कर लिया गया था, मगर कैथी लिपि में ही पुस्तकें प्रचारित की जाती थीं। उसी साल जब फैलन साहब स्कूलों के डिप्टी इंसपेक्टर होकर पटना आये, तब उन्होंने नागरी लिपि में मुद्रित पुस्तकों को ही पाठशालाओं में प्रचालित करने का प्रयास किया; मगर ऐसी पुस्तकों का अभाव था। उत्तर प्रदेश में प्रकाशित राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे-हिंद की लिखी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। लेकिन, जब सन् १८७५-७६ ई० में स्व० भूदेव मुखोपाध्याय स्कूलों के इंसपेक्टर होकर आये, तब उन्होंने बिहार में मुद्रित तथा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों के प्रचलन पर जोर दिया और शिक्षा-विभाग में काम करनेवाले कतिपय बिहारी लेखकों को इस ओर ध्यान देने को प्रोत्साहित किया। कहना न होगा कि इसी समय महाराजकुमार की हिंदी-सेवा की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने भूदेव बाबू के ही प्रोत्साहन से एक प्रकाशन-प्रतिष्ठान प्रतिष्ठित करने का दृढ़ संकल्प लिया। भूदेव बाबू के परिवार के लोग कलकत्ते में हिंदी तथा बँगला की पुस्तकों को प्रकाशित करने के सिलसिले में 'बोधोदय' नामक एक प्रेस का संचालन कर रहे थे। उसी प्रेस की शाखा के रूप में पटने में भी उन्होंने 'ब्रांच बोधोदय' के नाम से एक मुद्रणालय की स्थापना करवा दी। और, जब महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंहजी ने प्रकाशन-क्षेत्र में लगन से काम करने की अभिलाषा प्रकट की, तब भूदेव बाबू ने वही प्रेस बाबू साहब के जिम्मे कर दिया।

इस बीच हिंदी-संसार के तत्कालीन जाज्वल्यमान नक्षत्र भारतेंदु हरिश्चन्द्र तथा स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र-जैसे हिंदी-महारथियों ने भी आपको इसके लिए उत्प्रेरित किया। उसी आस-पास कचहरियों में भी हिंदी के प्रचलन कराने का जो आन्दोलन चल रहा था, उसका भी नेतृत्व बाबू रामदीन सिंह ने ही ले रखा था। फिर क्या था, अपने परममित्र मझौली-नरेश स्व० श्रीलाल खड्गविलास मल्ल के नाम पर बाबू साहब ने 'ब्रांच बोधोदय' का नाम 'खड्गविलास प्रेस' रखकर उसका नया संस्कार कर डाला, सन् १८८० ई० में। और, उसी प्रेस के माध्यम से बाबू साहब ने हिंदी-सेवा की ऐसी साधना की, कि हम आज उन्हें बिहार के प्रकाशक-ऋषि कहकर सम्मानित करने में गौरव का अनुभव कर रहे हैं। उस नव-संस्कृत प्रेस के कार्याध्यक्ष थे बाबू साहिबप्रसाद सिंह, जिनके सक्रिय सहयोग को पाकर बाबू साहब लाभालाभ की तनिक भी परवाह नहीं कर हिंदी के सभी क्षेत्रों के भंडार भरने में तन-मन से पिल पड़े। पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन के साथ-साथ उच्चकोटि के साहित्य-ग्रन्थों के प्रकाशन भी एक ही उमंग से चलाते रहे। यहाँ तक कि पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में भी यही प्रेस बिहार का अग्रगण्य कहा जा सकता है। यों, इसके पूर्व पं० केशवराम भट्ट का 'बिहार-बन्धु' प्रकाशित होने लगा था। अतएव, बिहार में साहित्य-ग्रन्थों, पाठ्य-पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन

में अगर किसी को मार्ग-प्रदर्शक का श्रेय मिल सकता है, तो वे हैं स्व० महाराजकुमार रामदीन सिंह जी !

कहा जाता है कि बाबू रामदीन सिंह ने मानदान, धन-प्रदान तथा सेवा-सम्मान से संतुष्ट कर, उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध लेखकों को अपने हाथ में कर लिया। दूसरों की कौन कहे, उनके स्नेह-पाश में बँध कर, उन्हें सच्चा साहित्य-सेवी तथा हिंदी-प्रेमी समझ कर, भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी स्वरचित सभी ग्रन्थों का स्वत्त्व उन्हीं को सौंप दिया। अपने प्रेस के निज व्यय से भारतेंदु, पं० दामोदर शास्त्री, पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० अयोध्या प्रसाद सिंह उपाध्याय, बाबू शिवनंदन सहाय, पं० रमाशंकर व्यास, उदासीन श्री स्वामी बलराम शास्त्री तथा श्रीलाल खड्गबहादुर मल्ल की प्रायः सभी रचनाओं तथा पं० अंबिकादत्त व्यास की अधिकांश रचनाओं को प्रकाशित करने का गौरव भी बाबूसाहब को प्राप्त है।

महाराजकुमार रामदीन सिंह ने ही सर्वप्रथम निज व्यय तथा परिश्रम से राजापुरवाली रामायण तथा अन्यान्य प्राचीन प्रतियों के सहारे श्री गोस्वामी तुलसीदास के 'श्रीरामचरित-मानस' का एक शुद्ध संस्करण सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया। उन्होंने तुलसीकृत रामायण की कई सुप्रसिद्ध एवं प्रामाणिक टीकाओं के साथ-साथ तुलसी-साहित्य की पृष्ठभूमि पर 'मानसतत्त्व-प्रबोधिनी' तथा 'मानस-मयंक' का भी लोगों को दर्शन कराया। साथ ही, गोस्वामीजी की 'विनय-पत्रिका' 'कवितावली' आदि प्रधान-प्रधान पुस्तकों की टीकाओं का संपादन कर उन्हें प्रकाश में लाये।

पाठ्य-पुस्तक-प्रणयन में वे सिद्धहस्त ही थे। उस युग में शिक्षा-प्रचार का श्रीगणेश ही हुआ था, शिक्षा-प्रचार में पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से योगदान देनेवाले महाराजकुमार का राजकीय शिक्षा-विभाग में बड़ा मान था। एक बार लोक-शिक्षा-निर्देशक का आदेश हुआ, "बाबूसाहब, हम शिशु-पाठ-शालाओं में 'किंडर-गार्टन' की पढ़ाई प्रचलित करने जा रहे हैं, जिसके लिए पुस्तकें चाहिए।" बाबूसाहब ने शीघ्र ही आदेश का पालन कर दिया तथा किंडरगार्टन की कई पुस्तकें लिखकर उन्हें प्रकाशित कर दिया। इनकी स्वरचित पुस्तकों में से 'बिहार-दर्पण', 'हिंदी-साहित्य', 'साहित्य-भूषण', 'बाल-बोध', 'हितोपदेश' आदि की पाठ्य-पुस्तकों के रूप में तो ख्याति थी ही।

'बिहार-दर्पण' के संबंध में स्व० यशोदानंदन अखौरी का कथन था कि 'हमारी समझ में इसकी जोड़ की कोई पुस्तक अब तक भारत भर में हिंदी में नहीं निकली। इसमें लगभग पचीस बिहारवासी महान् विभूतियों की जीवनियाँ हैं, इसे हम बिहार का 'बुक ऑफ गोल्डन डीड्स' कहने में गौरव समझते हैं। अब यह अप्राप्य है।' (पूर्णिया-अधिवेशन, १९३६ के सभापति के भाषण का अंश)

स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'बिहार-दर्पण' के संबंध में महाराजकुमार को बधाई देते हुए लिखा था, "...यह अपने चाल की हिंदी भाषा में पहली पुस्तक है।" बिहार के हिंदी-साहित्य के वर्तमान ऋषि श्री शिवपूजन सहाय भी इस पुस्तक की प्रशंसा करते अघाते नहीं। उन्हें पुस्तक की अनुपलब्धि के लिए बहुत ज्यादा खेद है।

महाराजकुमार रामदीन सिंह अपने खड्गविलास के माध्यम से पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन-संपादन में भी सदा आगे रहे। सर्वप्रथम उन्होंने अपने सम्पादकत्व में 'क्षत्रिय-पत्रिका' निकाली। इस कार्य में उन्हें उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह बहादुर की ओर से तीन हजार रुपये की सहायता भी मिली थी। पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संपादित 'ब्राह्मण' नामक लोकप्रिय मासिक-पत्र प्रारंभ में कानपुर से प्रकाशित होता था। बाबूसाहब सन् १८९७ ई० में उसका भी स्वत्व खरीद कर उसे अपने ही प्रेस से प्रकाशित करने लगे। ये दोनों पत्र वर्षों तक प्रकाशित होते रहे। सन् १८८७ई० में उन्होंने 'हरिश्चंद्र-कला' नामक सुप्रसिद्ध मासिक-पत्र का प्रकाशन अपनी देखरेख में प्रारंभ किया और उसे लगातार पैंतीस वर्षों तक चलाते रहे। भारतेंदु की सारी रचनाओं का प्रचार करना ही इस पत्र का एकमात्र उद्देश्य था। लेकिन, इस पुनीत कार्य में प्रेस को किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की गुंजाइश न थी। कहते हैं कि इसकी अधिकांश प्रतियाँ मुफ्त में ही वितरित हो जाती थीं, पैसे देकर खरीदनेवाले मात्र एक दर्जन ग्राहक ही थे। हाँ, वह हिंदी का ऐसा ही युग था कि भारतेंदु की कृतियों के पाठक भी इने-गिने ही थे। इनके अतिरिक्त 'शिक्षा' तथा 'विद्याविनोद' के प्रकाशक भी बाबूसाहब ही थे। पं० सकल-नारायण शर्मा, बाबू शिवनंदन सहाय आदि उद्भट विद्वानों का सहयोग उन्हें इन दोनों पत्रों के प्रकाशन में मिलता रहा।

'जासूस'-संपादक श्रीगोपालराम गहमरी ने बाबूसाहब के

अध्यवसाय तथा कर्त्तव्य-परायणता के संबंध में लिखा है, "बाबू रामदीन सिंह हिंदी के परमोत्साही प्रकाशक तथा हिंदी के सुलेखकों के सम्मानदाता थे। बाबू साहबप्रसाद सिंह के हाथ में प्रेस का सारा भार देकर वे हिंदी के सुलेखकों की खोज में घूमा करते थे और जहाँ हिंदी के विद्वान मिलते, वहाँ पहुँच कर उनकी सेवा करते, उनसे कुछ लिखवाते और उन्हें आर्थिक सहायता देकर उनका उत्साह बढ़ाते थे। इसी प्रकरण में वे काशी पहुँचकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के यहाँ भी पधारे थे। उन दिनों भारतेंदु की विरुदावली भारत भर में व्याप्त थी। उन्होंने भारतेंदु की सब पुस्तकों का प्रकाशन-स्वत्व लेकर उनकी कीर्ति तथा उनका साहित्य चिरस्थायी करने का उद्योग किया था।"

आजकल ऐसा देखा जाता है कि पैसे के बल पर लोग दूसरों से पुस्तकें लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करते हैं और उन्हीं के सहारे सम्मान लूटने के पीछे व्यग्र बने रहते हैं। लेकिन, स्व० बाबू शिवनंदन सहाय के शब्दों में "यह बात नहीं थी कि बाबू रामदीन सिंह (स्वयं) पुस्तकों की रचना नहीं करते थे। वे सदा पुस्तक लिखते रहते थे। स्वयं लिख कर दूसरे के नाम से भी छपवाते थे। हम ऐसी कई पुस्तकों के नाम बतला सकते हैं, जिनमें किसी-किसी की आठ-नौ आवृत्तियाँ हो गई हैं।"

डॉ० ग्रियर्सन साहब को भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण के सिलसिले में भी बाबू रामदीन सिंह से बड़ी सहायता मिलती रहती थी। उन्हीं के अनुरोध से बाबूसाहब ने 'टाड राजस्थान' के हिंदी-संस्करण को प्रकाशित करने का भी बीड़ा उठा लिया था; मगर एक ही भाग प्रकाशित करने के बाद यह काम इसलिए स्थगित कर दिया, चूँकि बम्बई से वह संपूर्ण 'राजस्थान' एक ही बार प्रकाशित हो गया था।

संक्षेप में, स्व० महाराजकुमार रामदीन सिंह बिहार में, प्रकाशन-जगत् में प्रजापति के रूप में अवतरित हुए और ऋषि की साधना लेकर उन्होंने मात्र बिहार की ही नहीं, बल्कि सारे हिंदी-संसार की सेवा में ही अपने को निष्पन्न कर दिया। हम बिहारवासी उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते।

बिहार सरकार द्वारा स्वीकृत ग्रंथ-सूची के आधार पर
ग्रामीण पुस्तकालयों के लिए उपादेय

पृ० सं०	क्रम-सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	विषय
९	*३७५	पहला राजा पहला किसान	श्री सदानन्द झा	।।)	वय० सा०
,,	*३७६	हमारी गंगा	,,	।।-)	,,
,,	*३७७	तुलसी दल	,,	।।)	,,
१३	४४५	गप-सप खलिहान	श्री रामनन्दन सिंह	।।।=)	,,
२१	*३९१	जीवन-कण	श्री रामदीन पाण्डेय	१।)	नाटक
२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१।।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२)	,,
३९	११७	पुनरावृत्ति	श्री हंस कुमार तिवारी	१।।।)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूप लाल मंडल	१।)	,,
५६	* २२	आधुनिक पशुपालन	श्री रामवृक्ष सिंह विराट	३)	कृषकोपयोगी
६	२२९	पशुओं का अनुभूत इलाज	श्री श्रीरंग तिवारी	१।।)	,,
५६	१७	साग-सब्जी की खेती	श्री वासुदेव पाण्डेय	२)	,,
,,	१६	कृषि के ये दिन और वे दिन	श्री अखिलेश्वर पाण्डेय	।-)	,,
२६३	१७	कृषि और कृषक	,,	।।)।।	,,
११९	६२१	हमारे युगपुरुष	श्री सुरेश्वर पाठक 'विद्यालंकार'	१)	कथा-कहानी
९४	२२९	मृत्यु के मुँह में	श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)	,,
१०२	३६५	बोलती तस्वीरें	श्री शिवचंद्र प्रताप	१।।।)	,,
३२	३९१	बड़ा और छोटा आदमी	श्री नगेन्द्र वर्मा	१।)	,,
१३५	४२	कला की कुटिया में	श्री वीरेन्द्र नारायण	१।)	जीवनी
,,	४३	विज्ञान के पथ पर	,,	१।)	,,
१४२	२७६	राष्ट्रपिता	श्री छविनाथ पाण्डेय	।।≡)	,,
१४७	२९६	गाँधी की गूँजती आवाज	श्री अखिल	।≡)	सामान्य-ज्ञानवर्द्धक
,,	२९७	बापू की सीख	श्री सुरेश्वर पाठक	।≡)	,,
,,	२९८	बापू की बातें	,,	।।=)	,,
,,	२९९	बापू को जानो	,,	।।≡)	,,
,,	३००	हमारा बिहार	श्री सुरेश प्रसाद गुप्त	१।)	,,

उच्चांग्ल-विद्यालयों के पुस्तकालयों तथा साधारण पुस्तकालयों के लिए

२२	*४१२	अभिज्ञान शाकुन्तल	श्री राधाकृष्ण	१।।।)	नाटक
५६	११७	पुनरावृत्ति	श्री पं० हंसकुमार तिवारी	१।।।)	,,
६१	१५६	कसाई	श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२)	,,
६२	१६८	पंचामृत	श्री अनूप लाल मंडल	५)	,,

इन पुस्तकों के अतिरिक्त बहुत-सी पुस्तकें ग्रंथ-सूची में आई हैं।

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना—४



हमें यह कहना है

यह विशेषांक

विशेषांक, जैसा भी बन पड़ा, आपके सामने है । वादे के मुताबिक, चीजें नहीं आ सकीं इसमें ! दो-चार विज्ञापित शीर्षकों पर, हमारी सारी चेष्टाओं के बावजूद, निबंध नहीं आ सके । देश के शीर्षस्थ व्यक्तियों की पठन-रुचि और शिक्षा एवं साहित्य के संबंध में उनके दो-चार शब्दों में विचार देने की हमारी व्यापक योजना, इन महानों की एतद्विषयक उदासीनता में खो गई; यद्यपि प्रयास हमने बहुत किए ! एक-दो के जो आए और प्रकाशित किए जा रहे हैं, वे उनकी शिक्षा और साहित्य में अभिरुचि के मापदंड हैं ।

हिन्दी की भगिनी भाषाओं के पुरस्कृत-ग्रंथों की सूची प्राप्त करने की हमारी चेष्टा भी विफल रही । अहिंदी क्षेत्रों के कई विद्वानों और संस्थाओं को पत्र दिए; पर उनका मौन न टूटा । हम उनके प्रति अपनी सम्पूर्ण स्नेह-ममता रख कर भी लाचार हो गए ।

युद्धोत्तर विश्व-साहित्य की अनुपम कृतियों पर प्रकाश डालनेवाला निबंध भी प्रार्थित विद्वानों के साहित्यिक आलस्य में आत्मसात हो गया ।

फिर भी हमें संतुष्टि है ; क्योंकि पुस्तक-व्यवसाय के विभिन्न अंगों, प्रकाशकों, पुस्तक-विक्रेताओं, लेखकों और प्रतिनिधियों को एक मंच पर लाने की अपनी व्यापक नीति के अनुसार, हम उन्हें उनकी समस्याओं के साथ विशेषांक में उपस्थित कर सके हैं । देशव्यापी महत् शिक्षा-समस्या पर स्वस्थ दृष्टिकोण उपस्थित करनेवाले निबंध भी इसमें मिलेंगे आपको। भारतीय पुस्तक-व्यवसाय की आज तक की प्रगति, उसकी कठिनाई और उसमें एकरूपता लाने के देशव्यापी आंदोलन की पृष्ठभूमि में श्री भटकल के यहाँ प्रकाशित संगठन-संबंधी सुझाव मननीय हैं ।

इस विशेषांक के साथ हम और कई नए उपयोगी स्तम्भ खोल रहे हैं । विश्वास है, वे आपको पसन्द आएँगे । सर्वेक्षण का कार्य, डा० पांडेय के सहयोग से, हम पुनः प्रारंभ कर सके हैं । आशा है, इसके लिए बार-बार हमें पत्र देनेवाले हमारे जागरूक और जिज्ञासु पाठक प्रसन्न होंगे ।

विज्ञापकों के अनुरोध पर, इस विशेषांक के साथ ही हमने 'पुस्तक-जगत्' का साइज बड़ा कर दिया है । उन्हें अब अपने विज्ञापन देने में सुविधा होनी चाहिए । हिन्दी पुस्तकों का बाजार व्यापक बनाने की अपेक्षा है । हिन्दी-जनता में एक ओर अभिरुचि की मंदाग्नि, पर दूसरी ओर पुस्तक-उत्पादन में लगनेवाले साधनों की मूल्य-वृद्धि हिन्दी-प्रकाशकों को विज्ञापन पर उतना भी व्यय नहीं करने देती, जितने की वह अपेक्षा रखता है । यह समझ कर ही, सहज कर्त्तव्य-भावना से साइज बढ़ाने के बावजूद, हमने विज्ञापन-दर पूर्ववत रखा है । विश्वास है, विज्ञापक इसे अपने अनुकूल पायेंगे और हमें अधिक-से-अधिक सहयोग मिलेगा ।

वादे के मुताबिक उजले कागज पर विशेषांक देने की हमारी योजना, 'ह्वाइट-प्रिंट' कागज की वर्त्तमान तंगी में होम हो गई । फलस्वरूप 'मेकेनिकल-ग्लेज्ड न्यूज-प्रिंट' में ही विशेषांक लेकर हमें आपके समक्ष उपस्थित होना पड़ रहा है, जिसका हमें खेद है । विशेषांक में अपने निबंध, सहयोग और विज्ञापन देकर हमारे जिन शुभेच्छुओं ने हमारा उत्साह बढ़ाया है, उनके हम कृतज्ञ हैं ।

कुछ अन्त में मिलने के कारण हम कई-एक कृपालु लेखकों के विशिष्ट निबंध, यथास्थान के अभाव में, यहाँ नहीं दे सके । क्षमायाचनापूर्वक उनसे हमारा निवेदन है कि वे उसे आगामी अंकों में प्राप्त करने की कृपा करेंगे । इस अंक के साथ ही 'पुस्तक-जगत' अपने नए वर्ष में प्रवेश कर रहा है । उसकी उपलब्धियाँ आपके आशीर्वाद की अनुगामिनी हैं ।

हिन्दी प्रकाशक-संघ : संशोधित विधान पर एक दृष्टि

"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ" के संशोधित विधान का प्रारूप हमारे सामने है। 'संघ के विधान में संशोधन और परिवर्धन "संयुक्त हिन्दी प्रकाशक" के संघ में लीन होने की आवश्यकता के कारण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।'

उपर्युक्त हिन्दी प्रकाशक-संघ के कतिपय सदस्यों द्वारा 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' के रूप में एक नए मोर्चे का स्थापन चौंकानेवाली घटना थी। संघ के अन्दर दरार पैदा होने की शंका इस स्थिति में स्वाभाविक थी। एक संगठन के कुछ सदस्यों द्वारा उसमें रहते हुए दूसरे संगठन की स्थापना, अपने मूल संगठन के प्रति उनकी उपेक्षा, अनादर और अनुत्तरदायित्व का परिचायक होता है। ऐसे अनर्गल कार्य के लिए प्रकाशक-संघ को उचित था कि वह दोषी सदस्यों के विरुद्ध समुचित कर्रवाई करता। पर ऐसा नहीं होना था। क्योंकि 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' के संस्थापक-सदस्य, हिन्दी प्रकाशक-संघ के भी प्रभावशाली और पदधारी सदस्य थे; पर जिन्हें संभवतः अपने कमीशन-सम्बन्धी अनुबन्धों को शासकीय ढंग से उन लोगों पर, जो संघ के सदस्य नहीं थे और न विधानतः हो सकते थे, लादने में संघ के अन्दर बहुमत के विरोध का भय था।

अपने इस अवैधानिक और संघ के लिए घातक नीति का अनुभव होने पर, विभिन्न तर्कों की समों के बीच अपने पूर्व भूलों को छिपाने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, अपने उस पुराने संघ में इस नए मोर्चे के विलयन का तमाशा रचने की आवश्यकता उन्हें आ पड़ी। हिन्दी प्रकाशक-संघ के विधान में संशोधन, रंगमंच को 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' द्वारा प्रणीत नाटक के प्रस्तुतीकरण के योग्य बनाने का प्रयास है। सचाई यह है कि हिन्दी प्रकाशक-संघ का 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' में विलयन है यह!

फलस्वरूप इसमें अपने नाम-काम के अनुपयुक्त, पुस्तक-विक्रेताओं को द्वारपालीय सदस्यों के रूप में लिए जाने की गुंजाइश की जा रही है। ये सहयोगी सदस्य होंगे। इन्हें कमीशन-सम्बन्धी कर्त्तव्य-पालन के लिए लिखित आश्वासन देना होगा (धारा ५ आ०)। ये संघ की केवल क्षेत्रीय समितियों में पूर्ण मताधिकार रखेंगे (धारा ४ आ ख)। नीति-निर्धारण करनेवाली केन्द्रीय समिति में इनका कोई स्थान न होगा। क्योंकि 'संघ के कार्य-संचालन के लिए सम्मानित तथा प्रकाशक-सदस्यों द्वारा एक केन्द्रीय कार्य-समिति निर्वाचित हुआ करेगी (धारा ६ अ)। मात्र प्रकाशकों द्वारा निर्मित केन्द्रीय कार्य-समिति ही यह तय करेगी कि संघ के अधिवेशनों में (वस्तुतः मौन पर्यवेक्षक के रूप में ही) इन सहयोगी सदस्यों का क्या अनुपात हो [धारा ४ (आ)—ख]। इस अनुपात का स्पष्टीकरण कहीं नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकाशकों की राज-सभा में कुछ विश्वासपात्र पुस्तक-विक्रेता द्वार-रक्षा के लिए नियुक्त होंगे। वे सभा की कार्रवाई देख-सुन सकेंगे, पर सभासद के रूप में इसमें भाग लेने का दुस्साहस उन्हें नहीं करना होगा। क्षेत्रीय समितियाँ, जिनमें पुस्तक-विक्रेता होंगे, केन्द्रीय समिति (जिसमें मात्र प्रकाशक होंगे) द्वारा निर्धारित नीतियों और नियमों को कार्यरूपित करने के लिए होंगी। संघ के उद्देश्य, नीति एवं नियम-उप-नियमों के विरुद्ध कोई निर्णय लेने का अधिकार क्षेत्रीय समितियों एवं क्षेत्रीय कार्यसमितियों को नहीं होगा (धारा ७-ऊ)। अनुपात में होने से, अपनी अल्पसंख्या के कारण, विधान में किसी प्रकार के संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्धन के अधिकार से भी ये वंचित रहेंगे।

इस प्रकार 'हिन्दी प्रकाशक-संघ' नामधारी संगठन ने बेतुके ढंग से पुस्तक-विक्रेताओं को हरिजन-सदस्य की तरह अंगीकृत करने के लिए जगह बनाई है। उनके कर्त्तव्य होंगे, पर अधिकार नहीं। वे नीति-नियामक नहीं हो सकते, मात्र कार्यकारी होंगे।

प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में पुस्तक-विक्रेताओं और प्रकाशकों के संयुक्त संगठन का नाम 'प्रकाशक-संघ' क्या इस संघ के वास्तविक शासन-तंत्र को ध्वनित करने के लिए रखा गया है? क्या 'प्रकाशक' और 'पुस्तक-विक्रेता' को एक संघटन में दो स्तरों पर रख, चला जा सकता है?

इस संशोधित विधान पर एक गहरी दृष्टि सारे रहस्य को खोल कर रख देती है। संघ के संस्थापक-सदस्य, जो निश्चित रूप से हिन्दी के धक्काड़ प्रकाशक भी हैं, अपने ऊँचे स्वर्ण-सिंहासन को ऐसी जगह पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जहाँ से वे स्वयं सम्पूर्ण पुस्तक-व्यवसाय का सूत्रधारी संचालन कर सकें, सिंहासन से हिले-डुले बिना नीचे खड़े नन्हे प्रकाशकों और सभी पुस्तक-विक्रेताओं को मनोनुकूल आदेश दे सकें, अपने इशारों पर नचा सकें। संभवतः वे भूल रहे हैं कि प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता व्यवसाय-रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं—दोनों समानरूप से महत्त्वपूर्ण! प्रारम्भ में संघ ने एक पहिए पर आगे बढ़ने की कोशिश की। पर, वह असफल रहा। अब उसने दूसरे पहिए को भी जोड़ लेने की बुद्धिमानी तो दिखलाई है; लेकिन विधानतः (!) दूसरे पहिए का व्यास (डायमेटर) छोटा रखा है! निस्सन्देह इससे दुर्घटनाएँ होंगी। अतः, गाड़ी पर सवार सज्जनो, सावधान!



'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है ; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
" आधा पृष्ठ	:	२०·००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग

पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

हिन्दी के प्रमुख प्रकाशक द्वारा प्रकाशित तथा कठोर किन्तु तटस्थ सम्पादकों द्वारा सम्पादित, एक ऐतिहासिक देन :—

आधुनिक कविताएँ

[विवेचन तथा संचयन]

सम्पादक—रणधीर सिनहा : पद्मनारायण

(उद्देश्य : उच्चस्तरीय साहित्य :: माध्यम : विभिन्न प्रवृत्तियाँ)

प्रथमांक के स्थापक : [विवेचन खंड] अज्ञेय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डॉ० देवराज, नवलकिशोर गौड़, नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० रघुवंश, डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, डॉ० बच्चन सिंह, डॉ० धर्मवीर भारती, नरेश, राधाकृष्ण सहाय तथा श्यामसुन्दर घोष।

स्थापक : [संचयन खंड] अज्ञेय, अजितकुमार, कीर्ति चौधरी, केदारनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० देवराज, दुष्यन्त कुमार, डॉ० धर्मवीर भारती, नागार्जुन, डॉ० प्रभाकर माचवे, प्रभात, फणीश्वर नाथ 'रेणु', भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, मदन वात्स्यायन, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० रामदरश मिश्र, रामावतार चेतन, विद्यानिवास मिश्र, वीरेन्द्र कुमार जैन, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, शरद देवड़ा एवं आधुनिक कविता के प्रति विश्वास रखने वाले लगभग सभी प्रतिनिधि कवियों की कविताएँ—जो इस विश्वास को अडिग करती हैं कि आधुनिक कविता का स्वर नदी-किनारे का वृक्ष नहीं, मील का पत्थर है।

अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा लें ! मूल्य ४.००



साहित्यकार श्री कामता प्रसाद सिंह 'काम' की प्रतिनिधि रचनाओं का अनूठा संग्रह : आस्था, सहज विश्वास, मौलिक चेतना और युगानुरूप समन्वयात्मक दृष्टिकोण

'चार मीनारें'

"हिन्दी में ऐसे कलाकारों का बड़ा अभाव है जो मिट्टी के ढेले को सामने रखकर पाठकों के साथ बातें करते विभिन्न शास्त्रों की झाँकियाँ दिखाते हुए उन्हें विस्मय-विमुग्ध कर दें। पाठकों की प्रसन्नता को उपलब्ध करना ही कलाकार का सर्वोच्च पुरस्कार है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'काम' को अपनी रचना विशेषता के बल पर उपर्युक्त स्थान प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं।"

—श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

आकार : डिमाई आवरण : तिरंगा मूल्य : छह रुपये

पारिजात प्रकाशन, डाकबँगला रोड, पटना-१

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना में मुद्रित एवं प्रकाशित।



हिन्दी पाकेट-बुक्स-परम्परा में......

५

पराग - सुलभ - साहित्य

* सुनहरी आँखोंवाली :
  [बालजाक का विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास]
* दो जुआँ :
  [मोलियेर का विश्व-प्रसिद्ध नाटक]
* समाज—प्रक्रिया और विकास :
  [समाज का अधुनातन और वैज्ञानिक अध्ययन]
* काम-भावना : मनोविश्लेषण
  [काम-मनोविज्ञान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण]
* शृंगार-पराग :
  [संस्कृत-प्राकृत के अमर शृंगार-पदों का सानुवाद संकलन]

डबल फुलस्केप १/१६ के ह्वाइट प्रिंट कागज में

स्वस्थ • सुन्दर • सुरुचिपूर्ण

१।।)

प्रत्येक

अग्रिम आर्डर बुक करनेवालों के हित में विशेष सुबिधा

नियमों और व्यापारिक सुविधाओं के लिए लिखें



पराग प्रकाशन,
पटना-

वांछनीय है कि नहीं

शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण



श्री मदनजी मिश्र

'राष्ट्रीयकरण' शब्द का अर्थ यदि 'विदेशीकरण नहीं करना' हो, तो मेरे विचार से हर कोई शिक्षा और साहित्य का 'राष्ट्रीयकरण' चाहेगा। मगर, कम्युनिष्ट देशों में जिस प्रकार शिक्षा और साहित्य को भी एक प्रकार का उद्योग समझा जाता है, आर्थिक शोषण के जवाब में वैचारिक शोषण करने के बहाने शिक्षा और साहित्य को राष्ट्रीयकरण के नाम पर शासनाधिकृत किया जाता है, यदि उसी अर्थ में राष्ट्रीयकरण को लिया जाय, तो इसका विरोध करना ही सभी समझदारों के लिए उचित होगा। कम्युनिष्ट देशों का उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूँ कि अपने देश के केरल प्रदेश में भी एक कम्युनिष्ट सरकार बन चुकी थी और उसने अपने उन्हीं 'देशों' के आदर्श पर शिक्षा का वैसा राष्ट्रीयकरण जारी किया था। इस देश में, जब हम गुलाम थे, अंगरेजों ने भी उद्योग आदि का तो उतना नहीं, बल्कि शिक्षा का उससे बढ़कर वैसा ही राष्ट्रीयकरण किया था और साहित्यों पर कुछ अपने मतलब की पाबन्दी जारी की थी। उनके लिए यह उचित भी था, क्योंकि इसमें उनका उद्देश्य था कि उन्हें अधिक-से-अधिक अपने दरबारी या नौकर, गुलाम या हमदर्द प्राप्त हों। मौजूदा सरकार की पार्टी कांग्रेस, उसके नेता गाँधीजी और उनके पक्षवालों ने उस समय अंगरेजों की उस नीति का यहाँ तक विरोध किया था कि अलग से अपनी शिक्षा और अपने साहित्य तक की स्थापना की थी। आज कांग्रेस की सरकार ने गाँधीजी के उस आदर्श को तो एकदम ही नहीं अपनाया, बल्कि देश को गुलाम-नौकर-दरबारी बनानेवाली अँगरेजों वाली उसी भावना से, वैसी ही शिक्षा-शैली जारी रखी, पाठ्यपुस्तकों के अधिकरण तथा पुस्तकालयों की पुस्तक-खरीद की सरकारी सूची तथा सरकारी सहायता द्वारा शिक्षा और साहित्य पर नकेल लगाया। और, गाँधीजी की उक्त प्रणाली के नाम पर बुनियादी शिक्षा पर भी उस प्रकार हाथ डाला कि वह भी गुलाम, नौकर और दरबारी बनाने के काम आने लगी। इस सरकार से सहायता, पूजा तथा आशा पानेवाले गाँधीजी के भक्त, बहुतेरे विचारक, कुछ दिनों तक तो यह-सब समझकर भी चुप रहे या दबे-दबे बोलते रहे, मगर जब केरल में बनने वाली कम्युनिष्ट सरकार ने भी वही किया और सरेआम उसके विरुद्ध कानूनी और नैतिक विवाद छिड़ा, तो उन्हें भी शिक्षा तथा साहित्य की स्वतंत्रता के पक्ष में अपना मुँह खोलना पड़ा। गत २८ जून को कानपुर में वक्तव्य देते हुए वैसे ही एक विचारक श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने कहा : "स्वराज्य और लोकतन्त्र की हत्या का सबसे बड़ा जरिया शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण है। यदि शिक्षा पर सरकार का अथवा पार्टी का एकाधिकार रहा तो देश में न तो स्वराज्य टिकेगा और न लोकतंत्र ही पनपेगा। पर, आज पूरे भारत के कांग्रेसी शासन में और केरल के साम्यवादी शासन में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण है, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि यह सरकारी नियंत्रण पूरे भारत से तुरन्त हटे। केरल में लोकतंत्र की हत्या हो रही है, यह सच है। पर, उतनी ही मात्रा में यह भी सच है कि भारत के दूसरे राज्यों में उसी मात्रा में लोकतंत्र पर सैनिकशाही का नियंत्रण है।.....मैं मानता हूँ कि जब-तक जनता पर शासन करना जायज माना जायगा तबतक शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक विद्रोह करना भी जायज माना जायगा। आज के प्रतिनिधि-मूलक लोकतंत्र में जनता अपने ऊपर आये खतरे को टालने के लिए पाँच वर्ष तक (चुनाव-आने तक) प्रतीक्षा नहीं कर सकती। किन्तु, हमें यह जरूर देखना पड़ेगा कि आखिर केरल में कोई जन-संकट है या राज-नीतिक छीना-झपटी और सत्ता प्राप्त करने की आकांक्षा है। यदि वहाँ की विरोधी पार्टियाँ शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण के खिलाफ हैं तो वे केवल केरल में ही नहीं बल्कि पूरे देश में आन्दोलन कर सकती हैं।...केरल में आज जो शिक्षा-विधेयक पास किया गया है और जिसके कारण इतना बड़ा आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है, उसे तो राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय और केरल की विधान-सभा का समर्थन प्राप्त है। उसे हम आज के विधान के विरुद्ध नहीं कह सकते। यह ठीक है कि आज के विधान की बुनियाद ही गलत है और उसे मूलतः बदलकर प्रत्यक्ष लोकतंत्र की स्थापना पर विचार करना चाहिये।"

श्री मजूमदार के उपर्युक्त कथन से इन सच्चाइयों का पता चलता है : (१) केरल-सरकार के विरुद्ध जनान्दोलन का प्रमुख कारण उसका शिक्षा-विधेयक ही था, जिसके द्वारा उसने शिक्षा को अपने शासन का साधन-जैसा बना लिया था। (२) शिक्षा को शासन के साधन के तौर पर सारे देश में काँग्रेसी सरकारें भी, केरल की कम्युनिष्ट सरकार की ही तरह, जारी किए हुए हैं और इसके लिए अपने विभिन्न राज्यों में उनके वैसे ही विधेयक हैं। (३) भारत का संविधान ही ऐसा है कि उसके अनुसार वैसे विधेयक बनाए जाते हैं। (४) काँग्रेसियों ने केवल केरल में ही कम्युनिष्टों द्वारा जारी किए गए वैसे शिक्षा-विधेयक के विरुद्ध आन्दोलन किया और बाकी राज्यों में वैसे ही विधेयकों के जारी होने के बावजूद उसके विरुद्ध वे कोई आन्दोलन जारी करने नहीं जा रहे हैं, क्योंकि वहाँ उनके दल की सरकारें हैं। (५) अतः, वह सारा आन्दोलन कम्युनिष्टों से सत्ता छीन लेने का ही था, न कि उस शिक्षा-विधेयक को समाप्त करने का।

अपने पाँचवें तर्क के प्रमाण में मैं यह कह सकता हूँ कि केरल पर राष्ट्रपति-शासन के जारी होते ही वहाँ के वे सारे आन्दोलन समाप्त हो गए और न तो फिर उक्त शिक्षा-विधेयक की कहीं शिकायत ही हो रही है और न अन्य राज्यों में शिक्षा पर वैसा ही शासन चलानेवाली काँग्रेसी सरकारों के विरुद्ध कोई आन्दोलन। शिक्षा पर शासन चलाने के पक्ष में कम्युनिष्ट और काँग्रेस दोनों ही समान भाव से इसलिए एक कहे जायेंगे कि अन्य राज्यों में वे एक-दूसरे के विरुद्ध क्षोभ पैदा करने के लिए मँहगाई-बेकारी आदि का पक्ष-विपक्ष भले ही अपनाते हों, किन्तु शिक्षा और साहित्य पर शासनाधिकार को कभी भी पक्ष-विपक्ष में नहीं खड़ा करते हैं। सारे देश में, केरल सरकार के विरुद्ध, उसके शिक्षा-विधेयक को लेकर, जो पहले-पहल आन्दोलन और तदनुसार छोटे-बड़े अन्य पक्षवाले नेताओं का शोरशराबा उठ खड़ा हुआ था, वह तदन्तर शिक्षा-विधेयक के प्रश्न से तो कम-से-कम धीरे-धीरे हटता ही गया और दूसरे-दूसरे सवालों से बड़ी तेजी से जुट गया।

गाँधीवादी विचारकों में प्रमुख आचार्य श्री विनोबाजी तो, शिक्षा को शासनाधीन करना तो क्या, विषय और नियम के भी अधीन करने के यहाँ तक विरोधी हैं कि चार अगस्त को श्रीनगर में उन्होंने कहा : "हमारे लिए तो सब ऊपर से लिख-कर आता है कि क्या पढ़ाना, कितना पढ़ाना। हफ्ते में पन्द्रह घंटे अंगरेजी, बारह घंटे गणित, नौ घंटे इतिहास, भूगोल—यह सारा तय होकर आता है और आखिर उसी के मुताबिक परीक्षार्थियों की परीक्षा भी लेनी होती है! शिक्षण मंत्री से बात करते हुए मैंने कहा था ··· एक विद्यार्थी बारह साल की उम्र में आपके पास आया, साल भर आपके पास पढ़ा और तेरह साल का बना, तो वह पास ही है। अगर वह ग्यारह साल का हुआ होता ; तब फेल होता! लेकिन वह बढ़ गया, उसका दिमाग बढ़ गया, हड्डियाँ, जिस्म मजबूत हुआ, इस हालत में परीक्षा क्या लेनी है?" शायद, किताब ढुलवाने वाली परीक्षा पर व्यंग्य करते हुए ही उन्होंने वहाँ यह भी कहा : "फलानी किताब अच्छी है तो पढ़ो, लेकिन उसका बोझ क्यों उठाते हो?" और, पाठ्यक्रमों के मौजूदा बन्धन का मजाक उड़ाते हुए कहा : "शुरू में 'ब' और आखिर में 'स' तो 'बस' हो गया!"

असल बात तो यह है कि सत्तावादी भावना से सरकार जब सारे उत्पादन-वितरण और व्यवहार-व्यापारों के साधनों पर अपना कब्जा कर लेना चाहती है, और उसके अनुसार यह भी चाहने लगती है कि देश के निवासी लाचार होकर अपने जीवन के सभी साधनों के विषय में सरकार और उसके दल को ही मालिक मानकर निहोरा करते रहें, ताकि उसे कभी अपदस्थ न होना पड़े ; तो इसके लिए उसे अपने अधीन लाए हुए उन सभी उद्योगों, व्यापारों और व्यवहारों को चलाने के लिए नौकर, ओहदेदार, दरबारी आदि चाहिएँ ही। और, इन नौकर-चाकर-दरबारियों को अपने लायक बना रखने के लिए, सरकार को शिक्षा और शिक्षा के साहित्यादि साधनों पर अपना अधिकार तो बनाए ही रखना पड़ेगा। अतः, शिक्षा पर सरकारी आधिपत्य, उस सरकार के सर्वसत्तावादी होने की भावना को ही प्रकट करता है। केरल हो या कहीं और, हमें जहाँ-कहीं शिक्षा पर सरकारी हस्तक्षेप का विरोध करना पड़े, वहाँ यह भी सोच लेना चाहिए कि हम मूलतः सर्वसत्तावाद के भी विरोधी हैं कि नहीं। यदि हम सर्वसत्तावाद के विरोधी होंगे, तभी शिक्षा के सरकारीकरण के विरुद्ध हमारा आन्दोलन सही होगा, और तब हमारा आन्दोलन केवल केरलव्यापी न होकर देशव्यापी और विश्वव्यापी भी होगा।

प्रकाशन और नए लेखक



श्री राजकमल चौधरी

इस घटना का संबंध स्थानीय दो प्रकाशकों और मेरे एक स्थानीय मित्र से है। मित्र हाल ही में कान्टिनेन्ट की यात्रा से लौटे हैं और यात्रा के दौरान में ही उन्होंने कई कहानियाँ, स्केच और कविताएँ लिखी हैं। इन रचनाओं से एक कविता-पुस्तक और एक कथा-स्केच-संग्रह बनता है। मित्र महोदय क्रमशः दोनों प्रकाशकों के पास गए। प्रकाशक 'अ' देश के प्रसिद्ध पुस्तक-व्यवसायियों में हैं। उन्होंने पाण्डुलिपियाँ देखे बिना ही कहा—"हम तो नए लेखकों को नहीं छापते। हमारे यहाँ सात प्रयोगवादी कवि और आलोचक, पाँच प्रगतिवादी उपन्यासकार और दस पुराने लेखक बुक्ड हैं। हमें इन लोगों की किताबों से ही फुरसत नहीं मिलती। आप किसी नए प्रकाशक के पास जाइए। शायद, पाँच-सात परसेण्ट रायल्टी पर............"

प्रकाशक 'ब' नए प्रकाशक हैं, साठ-सत्तर हजार की पूँजी से "साहित्य-व्यवसाय" शुरू किया है। बड़ी बेरहमी से पाण्डु-लिपियों को उँगलियों से मरोड़ते हुए बोले—"भाई, आप नए लेखक हैं, हम नए प्रकाशक! दोनों में पटरी नहीं बैठेगी। बाजार में न हमारी साख है, न आपकी। फिर काम कैसे चलेगा! हम तो भाई जान, अभी पाँच साल तक सिर्फ बड़े लेखकों को छापेंगे। आप किसी जमे हुए प्रकाशक के पास जाइए। शायद, पाँच-सात परसेन्ट.........."

मित्र महोदय, पाण्डुलिपियों का बण्डल दबाए, कॉफी-हाउस में मिले। पूरी कथा सुनने पर मैंने कहा—"स्केच लिखना और कविता करना कुछ साल तक बन्द रक्खो, और सिर्फ उपन्यास लिखो, चार-चार सौ पेज से उपन्यास! और, प्रकाशन की व्यवस्था मैं कर दूँगा।"

मैंने उन्हें सच्ची सलाह ही दी थी। हिन्दी-साहित्य की समकालिक स्थिति वाकई, ऐसी है कि "मेरे सपनों में आना, बालम"-जैसी किताबें, बशर्ते उन्हें 'उपन्यास' की संज्ञा दी गई हो, बड़ी आसानी से खप जाती हैं; और कविताएँ, चाहे वे कार्ल सैंडबर्ग और कॉनरेड आइकेन के मुकाबिले की ही क्यों न हों, कोई आदमी भेंट-उपहार में भी लेना नहीं चाहता।

मगर, सवाल सिर्फ कविता या उपन्यास का नहीं है, नए लेखक का है। नया लेखक अपनी पुस्तकें प्रकाशित नहीं कर पाता है। प्रकाशित कर सके, इसके लिए कुछ अंडर-ग्राउण्ड तरीके अवश्य हैं, जैसे—

(१) पुस्तक अपने पैसों से छपवा कर, प्रकाशक के स्थान पर किसी नामी-गिरामी प्रकाशन-संस्था का नाम देना; और उक्त नामी-गिरामी प्रकाशन-संस्था को सत्तर-पचहत्तर प्रतिशत कमीशन देकर किताबें बिकवाना।

(२) किसी प्रकाशक के लिए प्रौढ़-साहित्य, बाल-साहित्य और कोर्स की किताबें लिखना और इसके साथ ही अपनी एकाध साहित्यिक पुस्तक भी प्रकाशित करा लेना।

(३) किसी 'साहित्य-प्रेमी' उद्योगपति, व्यवसायी के नाम पुस्तक समर्पित करना या भूमिका में उसके प्रति सुललित भाषा में आभार-स्वीकार करके, उसके द्वारा मिले रुपयों से पुस्तक छापना।

(४) कोई 'साहित्यिक-सहयोग'-संस्था स्थापित करना और संस्था के नाम पर चन्दा उगाह कर, अपनी पुस्तक प्रकाशित करना। आदि-आदि।

दिल्ली, कलकत्ता, प्रयाग, पटना आदि नगरों में तो तेजस्वी नए लेखकों ने कई और भी तरीकों का ईजाद किया है, मगर इन ईजादों से कोई सही नतीजा नहीं निकलता है। समस्या वहीं-की-वहीं रह जाती है कि नए लेखकों के सामने, ईमानदार नए लेखकों के सामने प्रकाशन की 'भीषण कठिनाइयाँ' हैं। प्रकाशक लेखक का नाम पहले देखते हैं, क्योंकि पाठक भी लेखक का नाम देखकर ही किताबें खरीदते हैं। वैसे, यह भी सच है कि हिन्दी के अधिकतर पाठक अभी तक किताबें खरीदने का अभ्यास नहीं लगा पाए हैं। किताबें या तो सरकारी संस्थाएँ खरीदती हैं, या पुस्तकालय-वाचनालय। और, ये संस्थाएँ भी यशःप्राप्त लेखकों की पुस्तकें ही खरीदती हैं।

इसीलिए; नए लेखक क्या करें? नए लेखकों के सामने प्रकाशन की यह विचित्र समस्या आज की नहीं है, सिर्फ हिन्दी साहित्य के साथ ही नहीं है! बायरन-जैसे महान कवि को भी, बाद में जिसकी कविताएँ पढ़कर सारे यूरोप की सुन्दरियाँ 'बायरन-ज्वर' से ग्रस्त हो जाती थीं, अपनी पहली रचनाएँ, 'फ्यूजिटिव पीसेज' और 'पोएम्स ऑन वेरियस ऑकेजन्स'

स्वयं ही प्रकाशित करनी पड़ी थीं। बायरन ही नहीं; शेली, डिकेन्स, जार्ज इलिएट, जेन आस्टीन और बर्नर्ड शॉ को भी ऐसा ही करना पड़ा है। बालज़ॅक और चेखव और इब्सन और तोल्सतोय जैसे लेखकों को भी आरम्भ में तिरस्कार और अपमान ही सहना पड़ा —लेकिन, यह सब केवल सान्त्वना की बातें हैं। फ्रांस, ब्रिटेन, अमरीका और ऐसे ही सभी देशों में, जहाँ साहित्य को उचित स्थान और सम्मान प्राप्त है, आज के लेखक को; चाहे वह नया हो या पुराना, चाहे उसने सौ किताबें लिखी हों या एक ही लिखी हो; तिरस्कार, अपमान, अनादर या फ़ाक़ाक़शी, कुछ भी सहना पड़ता है।

ऐसे देशों में बुक-ट्रस्ट हैं, प्रकाशकों के इन्स्टीच्यूशन और क्लब हैं, जहाँ हर नए-पुराने लेखकों की नई-पुरानी रचनाओं पर बहस-मुबाहसे होते हैं, उनके स्थायी-अस्थायी 'मूल्यों' का निर्धारण होता है और हर सही कृति को सही प्रचार और विज्ञापन दिया जाता है। उदाहरण के लिए, अमरीका की पुस्तक-प्रकाशन-व्यवस्था को ही लिया जाए।

नए-से-नया लेखक अगर कोई पुस्तक लिखता है, तो वह पहले 'पब्लिशर्स-गाइड', 'बुक-गाइड'-जैसी रेफरेन्स की पुस्तकों को देखकर, ऐसे प्रकाशकों से संबंध स्थापित करता है, जो उस विषय की किताबें प्रकाशित करते हैं, जैसी उसने लिखी है। अगर पहली नज़र में देखने पर ही किताब विचारणीय लगती है, तो प्रकाशक उसकी कई पाण्डुलिपियाँ तैयार करके उस विषय के अपने विशेषज्ञों के पास भेज देता है और फिर, विशेषज्ञों के निर्णयों पर विचार करता है। इस तरह कई टेक्निकल प्रक्रियाओं से गुज़रने के बाद, कि उक्त पुस्तक किस प्रकार के पाठकों में लोकप्रिय हो सकेगी, कितने अरसे तक इसकी माँग अधिक-से-अधिक रह सकेगी, इसका वितरण किस ढंग और क्रम से किया जाएगा, आदि-आदि, पुस्तक स्वीकार की जाती है—और, इन सारी बातों में अधिक-से-अधिक हफ्ते, पन्द्रह दिन का समय लगता है।

और, पुस्तक स्वीकार करने में यह बात कोई भी महत्त्व नहीं रखती कि इसे विलियम फॉक्नर की कलम ने लिखा है, या डोरोथी पार्कर की कलम ने! ख़ुशक़िस्मती या बदक़िस्मती से, ऐसी बात अपने देश में नहीं है। नए लेखक पाण्डुलिपियों की झोली बगल में दबाए इस दरवाज़े से उस दरवाज़े तक घूमते रहते हैं, और अन्त में थककर या तो और धन्धा अख़्तियार कर लेते हैं या दस रुपये फॉर्म, पन्द्रह रुपये फॉर्म पर कुशवाहाकान्तीय स्टाइल में न्यूज़प्रिंट-साहित्य लिखना शुरू कर देते हैं। मेरे कई ऐसे मित्र इसी शहर में हैं, जिनकी रोटी-रोज़ी इस कूड़ा-लिटरेचर के बल पर ही चलती है, और बड़े मज़े से चलती है। इन्हीं मित्रों में से एक ने कभी पॉल वैलरी और आर्थर रिम्बो की कविताओं का सुन्दरतम अनुवाद किया था; और दूसरा इतनी अच्छी कहानियाँ लिखता था कि महारथी साहित्यिकों को इन्द्रासन छिन जाने का भय होने लगा था। मगर, कोई भी लेखक चन्द पत्र-पत्रिकाओं से कभी-कभार संयोग से मिल गए हुए ऑनरेरियम के बल पर जीवित नहीं रह सकता!

प्रकाशन की समस्या से ऊबकर कई श्रेष्ठ, मगर, नए लेखकों ने स्वयं की प्रकाशन-संस्थाएँ कायम कर ली हैं; और लेखक के बदले प्रकाशक बन बैठे हैं और रचनाएँ लिखने के बदले पुस्तक-विक्रेताओं को प्रेम-पत्र लिखते हैं। बहस यह नहीं है कि लेखक का पेशा श्रेष्ठ है या प्रकाशक का पेशा—पेशे दोनों ही अपने स्थान पर श्रेष्ठ और सम्मानजनक हैं—बहस की बात यह है कि लेखक अपना पेशा बदल कर प्रकाशक बन जाए, यह साहित्य और साहित्यजीवी साहित्य-प्रेमी समाज के लिए हीनता और दुर्भाग्य की बात है!

नए लेखकों की बात तो दूर, कई पुराने लेखक भी (जिनके पास प्रकाशन-संबंधी कोई समस्या नहीं है; और वे इतना सुयश अर्जित कर चुके हैं कि विष-वमन भी करें तो पाठक-समाज उसे अमृत मानकर ही पी जाएगा!) स्वयं प्रकाशक बन बैठे हैं; और सेठों-व्यवसाइयों से हजार-हजार रुपए लेकर अपनी नई-पुरानी किताबें छापने लगे हैं... नए-नए नाम देकर, एक ही रचना के कई-कई शीर्षक बदलकर, मैनुपुलेशन से एक ही पुस्तक की सामग्री को कई पुस्तकों में बाँटकर, स्थायी ग्राहकत्व की रसीदें बेचकर अपने पुराने चेहरे पर एक नया चेहरा लगा बैठे हैं। ऐसे या किसी प्रकार के भी 'लेखक-प्रकाशक' से मुझे कोई शिकायत नहीं है। लेखकत्व या पुस्तकें लिखना भी अगर व्यवसाय ही है, तो फिर, लेखन-व्यवसाय करें या प्रकाशन-व्यवसाय, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। लेकिन, लेखन अगर व्यवसाय नहीं, व्यवसायों से ऊपर और ऊँची चीज है, तब मुझे, व्यक्तिगत रूप से ही सही, अच्छा

(शेष पृष्ठ ६ पर)

हिन्दी टाइप : नाम और नाप

एक श्रम-निवारक पत्र



[गत विशेषांक में इन माननीय और विद्वान पत्र-लेखक श्री सत्येन्द्र कुमार जी गुप्त का 'हिन्दी टाइप : नाम और नाप' शीर्षक निबंध था। इनके पूर्व, गत ११वें अंक में 'मुद्रण : अक्षर-समस्या' शीर्षक निबंध में श्री शुभेन्दु जी ने मात्रा आदि को अगल-बगल में रखकर 'फेस' के अनुसार 'बाडी' को छोटा करने पर एक विचार दिया था। हम चाहते थे कि श्री शुभेन्दुजी के पक्ष-विपक्ष में कुछ विचार और आते। यद्यपि श्री गुप्त जी के उक्त निबंध में मात्राओं के विषय में कोई वैसे विचार नहीं थे, फिर भी, उक्त निबंध पर टिप्पणी देते हुए हमने वैसे विचार प्रकट कर दिए। इस अनौचित्य और असंगति को प्रकट करने पर हमें दुःख है।

—संपादक]

श्रीयुत सम्पादक, पुस्तक जगत, पटना—४

मान्य महोदय,

"पुस्तक जगत" के सितम्बर ५६ के अंक में हमारा "हिन्दी टाइप : नाम और नाप" शीर्षक लेख आपकी टिप्पणी के साथ छपा है। टिप्पणी में मात्राओं का रूपान्तर कर स्थान की बचत करने के लिए सुझाव माँगे गये हैं। इस लेख के साथ यह टिप्पणी न गयी होती तो अच्छा होता। हिन्दी टाइपों को प्रयोग में लानेवाले अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि ऊपर-नीचे की मात्रा हटाकर स्थान की बचत की जा सकती है। यह धारणा भ्रामक है। उक्त लेख में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि "यदि मात्राएँ न हों तो भी एक लाइन को दूसरी लाइन से अलग-अलग पढ़ने के लिए बीच में छूटा हुआ स्थान अनिवार्य है तथा दो लाइनों के बीच में कम-से-कम उतनी ही जगह छूटी रहनी चाहिये जितनी कि मात्राहीन अक्षर की शिरोरेखा से नीचे तक की लम्बाई" अर्थात ऊपर नीचे की मात्राओं का स्वरूप बदलकर स्थान की बचत नहीं होगी, न की जा सकती है। ऊपर-नीचे की मात्राएँ हटा देने का परिणाम जो आप चाहते हैं उसका ठीक उलटा होगा यानी कि दो लाइनों को अलग करने के लिए बीच में उतना स्थान तो हर हालत में छोड़ना ही पड़ेगा तथा मात्राएँ जो ऊपर-नीचे से हटाकर किसी भी रूप में अगल-बगल में लगा दी जायंगी वह जो स्थान घेरेंगी वह अलग से। केवल इतना ही नहीं, पढ़ने वाले की निगाह लाइन पर ऊपर-नीचे की मात्राओं के सहारे ही पंक्ति के शब्दों को पढ़ती हुई आगे बढ़ती है। अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में साधारण लिखावट में प्रयुक्त रोमन लिपि के छोटे अक्षर (कैपिटल अक्षरों से भिन्न छोटे अक्षर) इस तथ्य को पक्की तरह सिद्ध कर चुके हैं कि पंक्ति को पढ़ने के लिये अक्षरों का पंक्ति के ऊपर-नीचे कुछ-न-कुछ शोशा निकला हुआ होना ही चाहिये और इसी समस्या का निराकरण करने के लिए रोमन लिपि में कैपिटल अक्षरों के अतिरिक्त साधारण व्यवहार में लाने के लिए छोटे अक्षरों का निर्माण करना पड़ा।

यदि इन ज्वलन्त उदाहरणों से भी आपकी यह धारणा कि ऊपर-नीचे की मात्राओं का स्वरूप बदलकर स्थान की बचत हो सकती है, न बदली हो तो आप नीचे लिखा साधारण-सा प्रयोग करके आजमा लें।

पैड में से दो सीधा कटा हुआ सादा कागज ले लेवें और अपनी पत्रिका के किसी एक पेज पर छपी हुई किसी लाइन के ऊपर तथा नीचे की मात्राएँ उससे ढाँक देवें और फिर लाइन को पढ़ने की चेष्टा करें। फिर आपको यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जायगा और किसी तर्कना की जरूरत न रहेगी।

मेरे छोटे से उक्त लेख में इसी भ्रामक धारणा के आधार पर निर्धारित हिन्दी टाइपों के प्रचलित परन्तु भ्रामक नामकरण तथा नापकरण को ठीक करने के लिए प्रस्तावना थी। आपकी उक्त टिप्पणी से उक्त लेख की उद्देश्य-सिद्धि में तो जो बाधा पड़ी है सो तो है ही, उसके अतिरिक्त ऊपर-नीचे की मात्रा बदलने के सुझावों के कारण हिन्दी के लिए एक नयी समस्या भी खड़ी हो सकती है। हमारे यहाँ सुझाव देने में तत्पर उत्साही लोगों की कमी नहीं है। बहुत-से अधिक उत्साही लोग तो केवल सुझाव देकर ही सन्तुष्ट न होंगे बल्कि वे उन सुझावों को कानून द्वारा मान्यता दिलाने की भी चेष्टा

कर सकते हैं। यदि आप इस पत्र में बताया गया प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) कर चुके हैं तो आप स्वयं महसूस करेंगे कि आपकी उक्त टिप्पणी के कारण नागरी लिपि के सुधार के लिए तत्पर उत्साही व्यक्तियों की विचारधारा कितनी अनर्थकारी दिशा की ओर प्रेरित हो सकती है।

अतएव आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि आप इस पत्र को 'पुस्तक जगत' में अविकल प्रकाशित कर देवें, अपने विचारों के साथ।

आपका
सत्येन्द्रकुमार गुप्त



(पृष्ठ ४ का शेष)
नहीं लगता है कि कोई नया या पुराना लेखक स्वयं प्रकाशक बन जाए।

और, अब तो हिन्दी-साहित्य का आरम्भिक युग भी नहीं है, जबकि लेखक यह शिकायत कर सकता था कि प्रकाशक मुझे चूसते हैं, शोषण करते हैं। हर प्रकाशक के पास रायल्टी और कॉपीराइट के निश्चित नियम हैं, उसूल हैं। और, प्रकाशक भी गिने-चुने नहीं हैं, बहुसंख्यक हैं।

किन्तु, इतनी बातों के बाद भी बात साफ नहीं होती कि नया लेखक क्या करे! क्या वह आर्थर रिम्बो की तरह कविता-सर्जना छोड़ दे और किसी रेस्तराँ-बार में बेयरा हो जाए? क्या वह हिन्दी के चन्द 'पुराने' और 'महान्' लेखकों का अनुकरण करते हुए स्वयं अपना प्रकाशन-प्रतिष्ठान कायम करे और भारी क़ीमत पर नकली माल पाठकों पर लादता रहे?

दोष दरअस्ल साहित्य-सृजन के मुख्य तीनों अंगों; लेखक, पाठक और प्रकाशक; का है, और साहित्य के उचित प्रचार-प्रसार-विकास के लिए इन तीनों को अपनी आस्थाओं और व्यवस्थाओं में आवश्यक सुधार लाना होगा।

नए लेखकों को चाहिए कि वे जनरुचि को ध्यान में रख कर और साहित्य की निजी सीमाओं का ध्यान रखकर लिखें; और सिर्फ़ 'कच्चा माल' ही प्रकाशकों-पाठकों के सामने पेश नहीं करें!

प्रकाशकों को चाहिए कि वे 'नाम' पर ही न जाएँ, पुस्तक की वस्तु को परखें, स्वयं नहीं परख सकें तो अनुभवी और विशेषज्ञों की एक समिति बनाएँ, जो समिति उन्हें पाण्डुलिपियों के संबंध में सही राय दे सके; और वे नए लेखकों की पुस्तकों को अधिक विज्ञापन-प्रचार दें, ताकि उन्हें पाठक-समाज में समुचित स्वागत मिल सके।

और, पाठक के पास अगर सही वस्तु, सही रूप में पेश की जाएगी—वे इसका स्वागत-सत्कार अवश्य ही करेंगे; और करते आए हैं।



पुस्तकों की संख्या

क्या आप जानते हैं कि हर वर्ष संसार में कितनी नई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं? एक अध्ययन के अनुसार हर देश में कुल मिलाकर ढाई लाख नई पुस्तकें हर वर्ष प्रकाशित होती हैं। इन पुस्तकों की कुल ५ अरब प्रतियाँ निकलती हैं। इन पुस्तकों में से नब्बे प्रतिशत पुस्तकें संसार की छह प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित होती हैं। ये छह भाषायें हैं: अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, जापानी तथा चीनी।

इस प्रकाशन-संख्या का यह फल है कि संसार के प्रायः सब ही साहित्य संबंधी अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार इन्हीं छह भाषाओं की कृतियों में बंट जाते हैं। इस सिलसिले में आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ तक नोबल पुरस्कार का सम्बन्ध है, आज तक एक ही एशियाई साहित्यिक यह पुरस्कार प्राप्त कर सका है। ये साहित्यिक हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर।



● 'धर्मयुग' की खपत का अनुमान है कि उसकी ६७,५०० प्रतियाँ प्रति सप्ताह पढ़ी जाती हैं।

● पुस्तक के कुछ खरीदारों में कभी-कभी एक विचित्र आदत पाई गई है। किताब खरीदते समय वे पुस्तकों को सूँघकर देखते हैं। नये कागज की सोंधी गन्ध उन्हें बड़ी अच्छी लगती है।

● अमेरिका की सरकार ने बच्चों की देख-रेख पर एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। वह इतनी जनप्रिय हुई कि थोड़े ही दिनों में उसकी २,३०,००,००० प्रतियाँ बिक गईं।

● दैनिक पत्रों के रविवासरीय संस्करण के पाठक उस दिन समाचार छोड़कर पहले लेख-कहानी-कविता आदि पर ही नजर डाल लेते हैं।

● संसार का सबसे पहला समाचारपत्र वेनिस नगर में सन् १५६६ में प्रकाशित हुआ था। वहाँ की सरकार चुने-चुनाये मनोरंजक समाचारों को एक कागज पर छापती थी। पढ़नेवाले उसके लिए दाम देते थे। उस समाचारपत्र को "गैजेटा" कहा जाता था। उसके बाद तो हर तरह के समाचारपत्रों को गजट कहा जाने लगा।

● इंगलैन्ड में सबसे पहले १६२२ में लन्दन से समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ था। उसका नाम था "दि वीकली न्यूज़।"

● ट्रा-टक्कू के इशारों पर ही टेलिग्राफ के सारे अक्षर निर्धारित हैं। इसे मोर्स-कोड कहते हैं। सैमुएल मोर्स ने टेलिग्राफ का आविष्कार किया था और इस कोड का नाम भी मोर्स के नाम पर है; इसलिए बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है कि इस कोड का आविष्कारक भी मोर्स ही था। खोज से यह बात गलत प्रमाणित हुई। सैमुएल मोर्स के एक साथी ने टेलिग्राफ-कोड का आविष्कार किया था। उसका नाम था अलफ्रेड वेल।

● हिन्दी के जिन शब्दों को अंगरेजी में ग्रहण किया गया है उनमें "लूट" शब्द अंगरेजी में सर्वाधिक प्रचलित है।

● अमेरिका के काँग्रेस पुस्तकालय में १५ लाख पुस्तकें हैं।

● योरप में वर्ष के पहले महीने को जनवरी कहा जाता है। यह जनवरी शब्द "जनुस" नामक रोमन देवता के नाम पर है। इस देवता के दो सिर थे। एक सिर से यह सामने की ओर देखता था, दूसरे से पीछे की ओर।

● हास्यरस की पुस्तकों में "डान-क्विकजोट" सबसे महान ग्रन्थ माना जाता है। सबसे पहले यह ग्रन्थ स्पेनिश भाषा में लिखा गया। लेखक थे मिगुएल द सर्वेन्टेस सावेद्रा। सन् १६०५ में इसका सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ था।

● डील-डौल में पुरुष स्त्री से बड़ा होता है। पुरुष के हाथ और पंजे भी स्त्रियों से बड़े होते हैं; लेकिन स्त्रियों के हाथ और पंजे भी उतने ही क्षमताशाली तथा कार्यकर होते हैं जितने पुरुषों के। स्त्रियों का सिर पुरुषों की अपेक्षा छोटा होता है। इसे देखकर लोगों ने धारणा बना ली है कि स्त्रियों के सिर के भीतर का मस्तिष्क भी पुरुषों की अपेक्षा मात्रा में कम रहता है। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। स्त्रियों का मस्तिष्क भी पुरुषों के बराबर ही होता है और उसी प्रकार तेजी से काम करता है।

● कई सौ वर्ष पहले की बात है। लन्दन में एडवर्ड लायड नामक व्यक्ति काफी की एक दूकान चलाया करता था। उसके अधिकांश ग्राहक जहाज पर काम करनेवाले या जहाज के द्वारा माल मँगाने या भेजनेवाले लोग थे। लायड की दूकान पर उन्हें काफी पीने को तो मिलती ही थी, साथ-साथ बहुत-सी जहाजों की सूचनाएं भी प्राप्त हो जाया करती थीं। उसके बाद लायड अपने ग्राहकों की सहायता के खयाल से उनके आने-जानेवाले माल का कागज-पत्र भी रखने लगा। फिर उसने माल की गारंटी देनी शुरू की और माल का जोखिम भी झेलने लगा। तब १६८८ ईस्वी में "लायड बीमा कम्पनी" बनी।

● अन्धे लोग जिन अक्षरों के द्वारा पुस्तक पढ़ते हैं वे ब्रेल अक्षर कहे जाते हैं। फ्रान्स के एक व्यक्ति ने इसका आविष्कार किया था। उसका नाम था लुई ब्रेल। तीन वर्ष की अवस्था में ब्रेल अपनी आँखें खोकर अन्धा हो गया था। आँखों के अभाव में भी उसकी कार्यक्षमता अच्छी थी। संगठन के कार्य में तो वह अद्भुत था। अपने जीवन में वह अन्धों का अमित उपकार कर गया।

हमारे १९५९ के नये आकर्षण

१. तीसरा सप्तक : सम्पादक 'अज्ञेय'
(तार सप्तक और दूसरा सप्तक की परम्परा में नया संकलन) ५.००

२. कनुप्रिया : धर्मवीर भारती
(नवीन काव्य-रूपक) ३.००

३. सात गीत वर्ष : धर्मवीर भारती
(नवीनतम कविताओं का संकलन) ३.००

४. अरी ओ करुणा प्रभामय : 'अज्ञेय'
(१९५६ से १९५८ तक की कविताओं का संकलन) ४.००

५. दीप जले शंख बजे : कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर
(लघुता के अणु में महत्ता के विराट् का प्रदर्शन करनेवाले प्रकाश तथा जागरण से पूर्ण पच्चीस संस्मरण) ३.००

६. शतरंज के मोहरे : अमृतलाल नागर
(सवा डेढ़ सौ वर्ष पहले की अवध की नवाबी और ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति से उत्पन्न गदर की पृष्ठभूमि पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास) ६.००

७. अनु-क्षण : प्रभाकर माचवे
(१९३३ से १९५८ के बीच लिखी हजारों पंक्तियों से यह संकलन तैयार किया गया है) ३.००

८. कालिदास के सुभाषित : भगवतशरण उपाध्याय
(भारतीय भाषाओं में महाकवि कालिदास की सूक्तियों की विशद व्याख्या करने वाली पहली पुस्तक) ५.००

९. गुनाहों का देवता : धर्मवीर भारती
(लेखक का बहुपठित एवं बहुप्रशंसित उपन्यास। मध्यमवर्गीय जीवन की एक अत्यन्त करुण कथा। पाँचवें संस्करण में अभी-अभी मुद्रित हुआ है) ५.००

१०. कहानी कैसे बनी : कर्तार सिंह दुग्गल
(रेडियो के मँजे हुए रूपक-लेखक श्री दुग्गल के आठ एकांकी नाटकों का संग्रह) २.५०

उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत
महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	कालिदास का भारत (भाग १-२) :	भगवतशरण उपाध्याय	८.००
२.	खण्डहरों का वैभव :	मुनिकान्त सागर	६.००
३.	खोज की पगडंडियाँ :	"	४.००
४.	चौलुक्य कुमारपाल :	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.००
५.	शेरो शाइरी :	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	८.००
६.	शेरो सुखन (पाँच भाग) :	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२०.००
७.	मिलन यामिनी :	हरिवंशराय बच्चन	४.००
८.	वर्द्धमान (महाकाव्य) :	अनूप शर्मा	६.००
९.	धूप के धान :	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
१०.	पहला कहानीकार :	रावी	२.५०
११.	संघर्ष के बाद :	विष्णु प्रभाकर	३.००
१२.	कुछ मोती कुछ सीप :	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
१३.	संस्कारों की राह :	राधाकृष्ण प्रसाद	२.५०
१४.	संस्मरण :	बनारसीदास चतुर्वेदी	३.००
१५.	रेखाचित्र :	" "	४.००
१६.	हमारे आराध्य :	" "	३.००
१७.	रजत रश्मि :	डा० रामकुमार वर्मा	२.५०
१८.	और खाई बढ़ती गई :	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
१९.	पचपन का फेर :	विमला लूथरा	३.००
२०.	शरत् के नारी पात्र :	डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
२१.	संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद :	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.००
२२.	भारतीय ज्योतिष :	नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य	६.००
२३.	वैदिक साहित्य :	रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००
२४.	ध्वनि और संगीत :	ललितकिशोर सिंह	४.००
२५.	क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? :	रावी	२.५०
२६.	द्विवेदी पत्रावली :	बैजनाथ सिंह विनोद	२.५०
२७.	संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन :	डा० भोलाशंकर व्यास	५.००
२८.	माटी हो गई सोना :	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	३.००
२९.	बाजे पायलिया के घुंघरू :	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	४.००
३०.	प्राचीन भारत के प्रसाधन :	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

हिन्दी का प्रचार



श्री जगदीश नारायण चौबे

'पाटल' बंद हो गया !
और, हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है।
'अवन्तिका' बंद हो गई !!
और, संपूर्ण उत्तर-भारत के खून में हिन्दी बह रही है।
'नया समाज' अब नहीं निकलेगा !!!
और, भारत की आबादी के बीस करोड़ लोग हिन्दी बोलते हैं।

आखिर यह विरोध क्यों? क्या प्रतिभा की इन खुराकों का बन्द हो जाना हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है? क्या हमारे ज्ञान-विज्ञान के इन कोषों का यूँ बिखर जाना हिन्दी के लिए साधक है? क्या हमारे लेखकों, कवियों की अनुभूतियों के इन अभिव्यक्ति-साधनों के इसी तरह बराबर बंद होते जाने में भारत की राष्ट्रभाषा का अहित नहीं है? हिन्दी-प्रचारक इसकी ओर ध्यान क्यों नहीं देते? राष्ट्रभाषा के हिमायतियों की नजरें इधर क्यों नहीं मुड़तीं?

राष्ट्रभाषा का प्रचार कहीं भी गलेबाजी से नहीं हुआ है। और, खासकर यह युग गलेबाजी को कतई पसंद नहीं करता। यह युग चिल्लाहटों की ताकत को पहचानता है और कई बार थाह भी चुका है। इसलिए वह ठोस काम चाहता है, हर प्रयास को वह प्रत्यक्षीकृत चाहता है और चाहता है कि काम अधिक हो; शोर कम। कम इसलिए कि बिना शोर किए हिम्मत कहाँ से आएगी, ढाढ़स कैसे बँधेगा? और, इसका यह आशय कभी नहीं है कि हर काम करनेवाले की पीठ पर एक ढाढ़स बँधानेवाला हो। आशय, दरअस्ल, यह है कि प्रत्येक सौ व्यक्ति के साथ एक हिम्मत दिलानेवाला रहे, बशर्ते कि वह खुद हिम्मतवर हो। भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी ऐसे ही हिम्मतवर थे और उनके समकालीन वैसे ही कर्मठ। और, खड़ीबोली-जैसी एक बोली-विशेष का आज हिन्दी के रूप में भारत की राष्ट्रभाषा होना, निस्संदेह, उन्हीं के उत्साह-दायित्व और कर्मठता की ही जीवंत घोषणा है।

निश्शंकया, लिपि की समस्या, वैयाकरणिक पेचीदगी, अस्थैर्य, शब्दों की कमी और अनेकरूपतादि हिन्दी के रोग हैं, भीतरी रोग हैं, और इसमें भी कोई शक नहीं कि ये ही रोग इसे दूसरों के घरों में बेखटके घुसने नहीं देते। लोग डर जाते हैं, भागने लगते हैं। उनके डर को मिटाने के लिए, उनमें स्वागतात्मकता लाने के लिए इन रोगों की चिकित्सा अनिवार्य है और इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं कि चिकित्सा के बाद हिन्दी ही स्वस्थ होकर उन घरों में आएगी-जाएगी; उठेगी-बैठेगी; रोएगी-हँसेगी। लेकिन यह इलाज गलेबाजी से नहीं होगा। कोई भी डाक्टर रोगी को चिल्लाकर चंगा नहीं करता। वह दवा बताता है, नुस्खा लिखता है और इसी तरह इलाज करता है। जरूरत पड़ने पर वह पीठ भी सहलाता है और ऑपरेशन की छुरी भी चलाता है। अगर वास्तव में, हिन्दी को ऑपरेशन की जरूरत पड़ गई है और उस ऑपरेशन में हिन्दी से अधिक अगर भारत का कल्याण संपृक्त हो तो छुरी चला दी जाय ताकि मवाद निकल जाय और हिन्दी भली-चंगी होकर स्वस्थतर विचारों को जन्म देने लगे।

इतनी विचिकित्सा इसलिए अपेक्षित थी कि किसी भी प्रचार के लिए पत्र-पत्रिकाएँ अनिवार्य हैं। पाठकों और लेखकों-विचारकों की खाई को पाटनेवाली ये पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं। हम अपने विचारों को पोस्टकार्ड और लिफाफे पर भी व्यक्त करके भेज सकते हैं, लेकिन निस्संदेह ये पोस्टकार्ड-लिफाफे पत्र-पत्रिकाओं की व्यापकता नहीं पचा सकते। और फिर, राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार के तो शक्तिशाली साधन ये पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं। अगर ये असमय ही मर जायें तो राष्ट्रभाषा का—किसी देश की संचित संस्कृति और पारंपरीण उपलब्धियों के राशीभूत रूप (राष्ट्रभाषा) का—प्रचार कैसे होगा? जिस भाषा के एक-एक अक्षर में हमारे पूर्वजों के रक्त की एक-एक बूँद मुखर हो उठी है—मौन नहीं हो जायगी? क्या यह ग्लानि की बात नहीं है कि हम दूसरों को पढ़ने के लिए कहें और खुद किताबें फाड़ते रहें? उद्धार तो, दूसरों को उपदेशित करने में कम, खुद को कार्यान्वित करने में अधिक सुगुंफित रहता है।

राष्ट्रभाषा के प्रचार में पत्र-पत्रिकाओं से कम हाथ पुस्तकों का है, ऐसी बात नहीं। दरअस्ल, कोई भाषा या राष्ट्रभाषा अपने आप में कुछ नहीं है। वह तो मात्र विचारों के आदान-

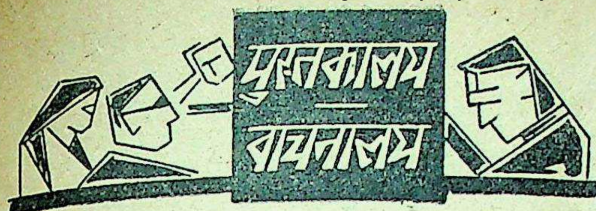
प्रदान का जरिया है, अनुभूतियों के अभिव्यक्तीकरण का सशक्त साधन है। विचारों और अनुभूतियों की विराटता और व्यापकता ही वस्तुतः किसी को राष्ट्रभाषा बना देती है और उन गुणों का अभाव ही उसे फिर पनपने नहीं देता। और, पुस्तकें उन्हीं विचारानुभूतियों की अभिव्यक्ति के सशक्त साधन (भाषा) का लिखित रूप हैं। मौखिक भाषा का, भले ही वायुमण्डल में अस्तित्व अक्षुण्ण रहे, लेकिन भाषा के लिखित रूप का ही आद्यन्त प्रचार-प्रसार होता है, उसी में स्थायित्व होता है, उसी में चिन्तन के जगने-जगाने की अदम्य शक्ति रहती है और भावों को सर्वप्रथम चित्रित करने का ललित उत्साह भी भाषा के उसी रूप का स्वभाव है। और, भाषा के उसी रूप की विभिन्न विशेषताओं के समन्वय का नाम पुस्तक है, जो विचारानुभूतियों को अपने में सँजोए रखती है। तात्पर्य यह कि भारत की राष्ट्रभाषा के प्रचार में हिन्दी-पुस्तकों का प्रसार-प्रचार भी आवश्यक है। पुस्तकें पुस्तकालयों के लिए झाड़-फानूस ही नहीं हैं, साहित्य की अक्षय निधि भी हैं। और, भाषा या राष्ट्रभाषा बगैर समृद्ध साहित्य के उसी तरह है, जैसे बिना पत्ते का पेड़। वह पेड़ छाया नहीं दे सकता, जिसके पत्ते नहीं हैं। वह राष्ट्रभाषा भी कुछ नहीं दे सकती, जिसका कोई साहित्य नहीं हो, जिसकी कोई समृद्धि नहीं हो। आखिर वह प्रचार किसका करेगी? आदमी का? देश का? आप का? हमारा? उसे हम आज इसलिए प्रसारित कर रहे हैं कि कल वह हमारे मनोभावों को प्रचारित करे, हमारे भीतर की आग को वाणी दे, हमारे सुख-दुख की भागी बने। फिर ये मनोभाव, भीतर की आग, सुख-दुख की अनुभूति क्या है? साहित्य नहीं तो और क्या? और, साहित्य पुस्तकों में रहता है, वायुमण्डल में नहीं। पुस्तकें हमारे लेखकों की रोजी हैं, पुस्तकें हमारे प्रकाशकों की खुराक भी हैं। पत्र-पत्रिकाएँ सिर्फ विचारदूत ही नहीं, हमारे बहुत-से लोगों की रोटियाँ भी हैं, बहुत-से भाइयों का खून भी तैयार करती हैं।

राष्ट्रभाषा का प्रचार अगर हम सही मानी में चाहते हैं, तो उसकी नींव—पुस्तकों और पत्रिकाओं—की समस्या सबसे पहले सुलझानी होगी! अन्यथा हम हिन्दीवाले ही हिन्दी का गला हिन्दी के ही क्षेत्र में घोंट देंगे। और-और पत्रिकाएँ-पुस्तकें बहुत अधिक बिकती हैं, हिन्दी की बहुत कम। अतएव, आवश्यक है कि यह कार्य हम अपने ही घर से पहले शुरू करें। पत्रिकाएँ खरीद कर पढ़ें, ताकि वे मर न सकें। पुस्तकें मोल लेकर पढ़ें, ताकि वे दीमकों की आहार न बन सकें। और तभी, राष्ट्र का, राष्ट्रभाषा का और राष्ट्र के सांस्कृतिक निर्देशकों का वास्तविक प्रचार-प्रसार होगा। अवश्य होगा, क्योंकि युग-चेतना फिर जी उठी है!



पुस्तक ही सबसे बड़ी परामर्शदाता, श्रेष्ठ मित्र तथा साथी हैं। पुस्तकें स्वयं कभी नहीं बोलती हैं, वे बोलती हैं स्पन्दित होने पर ही। पुस्तकें हमारी आलोचना भी करती हैं, वे केवल हमारा मोद और मनोरंजन ही नहीं करतीं।

—जाकिर हुसेन



पुस्तकों के शत्रु



श्री परमानन्द पाण्डेय

पुस्तकालय-जगत में 'पुस्तक' व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है तो इससे सारी पाठ्य-सामग्री का बोध होता है। इसके अन्तर्गत पुस्तक, पत्र-पत्रिकाएँ, मानचित्र, चार्ट आदि भी आ जाते हैं। यहाँ भी 'पुस्तक' से पाठ्य-सामग्री का ही अभिप्राय है।

प्राचीन काल में पुस्तकों के संग्रह के पश्चात् इनकी रक्षा ही प्रमुख थी। संग्रहकर्त्ता इनके संरक्षण के लिए ही अधिक चिन्तित रहते थे। उस काल में पुस्तकों का 'उपयोग' गौण था। अतः अधिकारी इन्हें 'असूर्यम्पश्या' बनाकर ही रखना चाहते थे। निम्नलिखित संस्कृत उक्ति से ही पता चल जाता है कि उस समय दूसरों को पुस्तकें देने के सम्बन्ध में लोगों की क्या धारणा थी।

"पुस्तिका लेखिनी नारी परहस्तगता गता"

कारण यह था कि उस काल में निर्माण अत्यन्त ही कष्टसाध्य था। कागज का आविष्कार भी नहीं हुआ था। भोज-पत्र, तालपत्र आदि पर पुस्तकें लिखी जाती थीं। कागज के आविष्कार के बाद भी बहुत दिनों तक प्रेस नहीं थे। किन्तु, आज परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। अब कागज की कमी नहीं। प्रेस की कृपा से हजारों-हजार पुस्तकें रोज छपती हैं। विज्ञान ने ज्ञान-प्रसार में क्रान्ति ला दी है। पुस्तकों के प्रचुर उत्पादन ने पुस्तकालय के विकास में आश्चर्यजनक योग दिया है। आज पुस्तकालय का मुख्य उद्देश्य 'पुस्तकों का उपयोग' हो गया है। आज 'प्रत्येक पुस्तक को पाठक' चाहिए तथा 'प्रत्येक पाठक को उसकी पुस्तक' चाहिए। इसलिए वर्त्तमान समय में भी पुस्तकों की रक्षा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः, यहाँ पुस्तकों के शत्रु तथा उनसे इनकी रक्षा के उपायों पर प्रकाश डालूँगा।

प्रथमतः, पुस्तकों के शत्रु दो प्रकार के हैं—चेतन और जड़। चेतन शत्रु भी दो प्रकार के हैं—कीट परिवार और मनुष्य।

दीमक :—कीटों में 'दीमक' पुस्तकों की प्रबलतम शत्रु है। आर्द्र स्थानों में इनका जन्म होता है और ये बढ़ती-फूलती हैं। उल्लू की तरह दीमकों को प्रकाश नहीं भाता। गुण-कर्म के अनुसार दीमक चार वर्गों में विभाजित हैं—राजा, रानी, मजदूर और सैनिक। मजदूर दीमकों का काम खाद्य-आपूर्त्ति, सैनिक दीमकों का काम बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना और राजा-रानी का काम सिर्फ आबादी बढ़ाना है। रानी दीमक साधारण दीमकों से बड़ी होती है और इनका काम सिर्फ अंडे देना ही है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि २४ घंटे में ६० से ८० हजार तक अंडे देने की क्षमता इनमें है। यदि एकबार पुस्तकालय में इनका पदार्पण हो गया तो पुस्तकों की खैर नहीं। एक रात में अनेकों पुस्तकों को मिट्टी में परिणत कर देना दीमकों का एक साधारण जादू है। कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिला है कि पुस्तक की जिल्द बाहर से तो बिल्कुल ठीक है लेकिन अन्दर के पृष्ठ विशुद्ध मिट्टी! इनसे बचने के लिए रानी दीमक को 'सन्तति-निरोध' (बर्थ कंट्रोल) का प्रशिक्षण देना तो सम्भव नहीं। हाँ, इनके नाश के उपाय सोचे जा सकते हैं। कोशिश तो यह रहनी चाहिए कि पुस्तकालय में इनका प्रवेश ही नहीं हो। इनके प्रवेश को रोकने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) पुस्तकालय की अवस्थिति ऊँचे तथा शुष्क स्थान में हो।

(२) प्रकाश का प्रबन्ध उत्तम हो।

(३) वर्षा के पूर्व सभी आलमारियों को भली भाँति साफ कर उनमें फेनाइल-गोलियाँ और गमेक्सिन-पाउडर छिड़क देना चाहिए। समय-समय पर डी० डी० टी० का प्रयोग भी लाभदायक होता है। बिना कुछ खर्च किये, नीम की पत्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इनको आलमारी में रखने से भी लाभ होता है।

पुस्तक में जगह-जगह एक-आध नीम की पत्ती और मोर-पंख रखने से कीटों के आक्रमण का कम भय रहता है, ऐसा अनुभव किया गया है।

(४) पुस्तकालय में यदि एक भी दीमक दृष्टिगोचर हो तो उसे अविलम्ब यमपुरी भेज देना चाहिए।

(५) जिल्दबंदी करने के वक्त यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि जरूरत से ज्यादा लई का इस्तेमाल न हो।

(६) जिल्द का रंग काला नहीं होना चाहिए। काले रंग की पुस्तकों में कीटों का अधिक भय रहता है।

वर्मा कीट :—इनके सम्बन्ध में बिहारी की प्रसिद्ध उक्ति दुहराई जा सकती है—'देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर'। इस कीट का आकार लगभग $\frac{1}{10}$ इंच या इससे भी कम का होता है। रंग हल्का पीला—चने के बेसन जैसा। यह पुस्तकों को वर्मा की तरह सीधे या वक्रगति से छेदता चला जाता है। इसीलिए मैंने इसका नाम 'वर्मा कीट' रखा। यदि समय पर न देखा गया तो यह पृष्ठों को छलनी-जैसा बना डालता है। आपको पुरानी पुस्तकों की पीठ पर अक्सर एक-दो बारीक छिद्र दीखे होंगे। अब पृष्ठों को उलटते जाइए तो देखेंगे कि अन्दर किसी पृष्ठ पर महाशय जी विनाश-कार्य में संलग्न हैं—निर्जीव-से, विशाल मस्तक और काया लघु, बालचन्द्र-जैसे वक्र! इस कीट की उत्पत्ति प्रायः जिल्दबंदी की गल्ती से होती है। जिल्द बाँधते समय यदि असावधानी से, जरूरत से ज्यादा लई लगादी गयी, तो वह जल्दी सूखती नहीं। यदि सूख भी गयी तो फिर वर्षा में गीली हो जाती है और उसी स्थान में ऐसे कीटों की उत्पत्ति हो जाती है। इन कीटों से बचाव के लिए लई में काफी तूतिया डालना चाहिए, महीन मैदे से लई बनानी चाहिए और जरूरत भर ही लई लगानी चाहिए। पुस्तकालय-कार्यकर्त्ताओं को पुस्तकों की नत्थी तथा पुट्ठे पर गमेक्सिन-पाउडर डालना चाहिए। जिस पुस्तक में ये कीट लग गये हों उसमें से कीटों को निकालकर मार डालना चाहिए और छिद्रों में गमेक्सिन-पाउडर या फेनाइल की गोली का चूर्ण बनाकर डाल देना चाहिए।

मत्स्य कीट :—यह कीट देखने में मछली की तरह होता है। आकार में आधा इंच और इससे कम भी होता है। रंग आसमानी और चमकीला होता है। गोजर की तरह इसके बहुत-से पैर होते हैं। यह प्रायः पुस्तकों की पेंदी और कोनों को खा डालता है। यह बहुत ही कोमल और फुर्तीला होता है। जरा-सा हाथ लगने पर पिस जाता है। इसके लिए भी उपर्युक्त औषधि व्यवहार में लानी चाहिए।

तेलचट्टा :—इसको 'ओसरार' भी कहते हैं। इसका रंग कथई, छह पैर और दो पंख होते हैं। यह $\frac{1}{2}$ इंच से लेकर दो इंच तक का होता है। यह अँधेरी और नम जगहों में जन्म लेकर फलता-फूलता है। कपड़े और कागज इसके प्रधान भोजन हैं। खाने के अतिरिक्त इनको गंदा कर देना भी इसका प्रमुख कर्त्तव्य है।

उपर्युक्त औषधियों के प्रयोग के अतिरिक्त लम्बे झाड़ू से भी इनका विदाई-समारोह मनाना पुस्तक-प्रेमियों का परम कर्त्तव्य है।

ऊपर प्रमुख कीटों का वर्णन किया गया, जो बराबर हमारी पुस्तकों को नुकसान पहुँचाते हैं। ऐसे तो पुस्तक-कीटों की लगभग तीन सौ जातियाँ संसार में फैली हुई हैं, जो मौका पाकर पुस्तकों के विनाश में भिड़ जाती हैं। सबका विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नहीं।

पुस्तकों के चेतन शत्रुओं में हम मनुष्यों की भी गिनती है। मनुष्य-शत्रु भी चार प्रकार के हैं। प्रथम तो वे पुस्तकालय-कार्यकर्त्ता जो पुस्तकों की रक्षा में तत्पर नहीं रहते हैं। दूसरे शत्रु वे पाठक हैं जो पुस्तकों को पढ़ते हैं, परन्तु पढ़ना

नहीं जानते। यत्र-तत्र पुस्तकों में नाम लिखते, रेखांकन करते और कभी-कभी पुस्तकों पर अपना तैलयुक्त जुल्फदार सर भी रख देते हैं। ऐसे पाठकों से पुस्तकों को बचाने के लिए इनको पुस्तकों के उपयोग का प्रशिक्षण देना चाहिए। कुछ ऐसे दुष्ट पाठक भी मिलते हैं जो पृष्ठ और चित्र फाड़ लेते हैं। ऐसे पाठकों को कोशिश करके पकड़ना चाहिए और इनके कुकृत्यों को पत्रों में सचित्र छपवा देना चाहिए। यदि आप बुरा न मानें तो कहूँ कि ऐसे पाठक भी पुस्तकों के शत्रु ही हैं जो पढ़ते-पढ़ते पुस्तकों का कचूमर निकाल देते हैं। चौथे शत्रु वे मनुष्य हैं जो पुस्तकालय से उदासीन रहते हैं और पुस्तकालय के विकास में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से बाधक होते हैं। ऐसे लोगों में पढ़ने की रुचि पैदा करनी चाहिए।

जड़ शत्रुओं में—पानी, धूल, झोल तथा अन्य प्रकार की गंदगी की गिनती की जा सकती है। पानी मुख्यतः तीन प्रकार से पुस्तकालय में पहुँचता है। वर्षा में छत चूने से, आर्द्र स्थान में अवस्थिति होने से तथा पीने के पानी को रखने के लिए घड़ा-मज्झर आदि से। पानी के संसर्ग से आलमारियों और पुस्तकों में नमी आती है जो कीड़ों को आमंत्रित करती है। इससे बचने के लिए वर्षा के पूर्व छत या छप्पर की मरम्मत करनी चाहिए। जिस कमरे या हाल में पुस्तकें हों वहाँ भूलकर भी पीने का पानी नहीं रखना चाहिए। पानी के लिए अलग स्थान होना चाहिए जो आलमारियों से दूर रहे। पुस्तकालय की अवस्थिति सूखे एवं ऊँचे स्थान में होनी चाहिए। इस दृष्टि से पुस्तकालय को दूसरी मंजिल पर रखना अधिक लाभप्रद है।

ऊपर जितने शत्रु बतलाये गये हैं इनसे पुस्तकालय तथा पुस्तकों की रक्षा करना हम पुस्तकालय-सेवियों का परम कर्त्तव्य है। इनसे लड़ना चाहिए; कुछ को नष्ट और कुछ को पराजित करना चाहिए!



पुराने लोगों ने जो तजुरबे किये, वे ही अगर तुम्हें और हमें करने होते, तो भगवान यह जन्म क्यों देता?

—विनोबा



चीन की पोस्टल पुस्तक-दूकान

शांघाई में एक पुस्तक-दूकान है जो डाक से पुस्तकें भेजती है। आजकल वह चीन के समस्त भागों में हर रोज २,००० पुस्तकें भेज रही है। यह पुस्तक-दूकान १९५५ में स्थापित हुई थी और तब से अब तक अपने पाठकों को डाक से १९ लाख पुस्तकें भेज चुकी है।

चीन की सांस्कृतिक और टेक्नीकल क्रांति में आम लोगों के अधिकाधिक संख्या में भाग लेने के कारण, इस पुस्तक-दूकान के कारोबार में काफी तेजी आ गई है। इस वर्ष हर महीने बिक्री लगातार बढ़ती रही है। वैज्ञानिक और टेक्नीकल पुस्तकों की बिक्री विशेष रूप से बढ़ी है।

इस समय देश में इस प्रकार की ६ पुस्तक-दूकानें हैं। ये माँग आने पर न केवल पाठकों के पास पुस्तकें भेजती हैं, बल्कि उनके लिए विशिष्ट विषयों की पुस्तकें भी चुनती हैं और पुरानी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ भी खरीदती हैं।

मार्च में शांघाई की पोस्टल पुस्तक-दूकान को कियांगसू प्रान्त की कियांगीन काउंटी के एक टेक्नीशियन का एक पत्र मिला था जिसमें जेनरेटर-रचना सम्बन्धी कुछ पुस्तकें चुन कर भेजने की प्रार्थना की गई थी। उन दिनों वह टेक्नीशियन कोई खास किस्म का पावर-मोटर बनाने का प्रयोग कर रहा था। उसकी प्रार्थना पूरी की गई। हाल में पुस्तक-दूकान को उस टेक्नीशियन का एक पत्र मिला है, जिसमें उसने बताया है कि उसका वह प्रयोग सफल रहा।

इस प्रकार की घटनाएँ बराबर होती रहती हैं।

आज का चीन
१९ अगस्त १९५९



अनुवाद-जगत
पुस्तक-दूकान
बुक-सोसाइटी



अनुवाद-जगत्

देशान्तरों की भाषाओं में अनूदित होने पर लेखकों को जितना आनन्द मिलता है, उतना ही उनके देशों को गर्व भी होता है। वस्तुतः, जनप्रियता की मति गति ऐसी अनिश्चित और धीर है कि अत्यन्त कम क्षेत्रों में ही कहीं किसी लेखक को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि उसकी रचनाओं का विश्वव्यापी अनुवाद हो।

दूसरे देशों के साहित्यों का अपने यहाँ अनुवाद करने में और अपने यहाँ के साहित्यों का दूसरे देशों में अनुवाद होने के विषय में सोवियत रूस ने सबसे ऊँचा स्थान पा रखा है। आधुनिक रूस के जन्मदाता लेनिन पृथिवी पर सर्वाधिक अनूदित होने वाले लेखक हैं। उनकी रचनाएँ रूस के बाहर की १०३ भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। बहुत अनुवाद के दुर्लभ गौरव को पानेवाले अन्य लेखकों में रूस के टाल्सटाय, दोस्तोवस्की, गोर्की, चेखव और पुश्किन प्रभृति हैं।

फ्रान्स देश के सर्वाधिक अनूदित साहित्यिकों की सूची में प्रमुख हैं जुले वार्न, बालजाक, दूमाँ, मोपासाँ, जिद सिमेनन आदि। जर्मन साहित्य के लेखकों में, अनुवाद की इस प्रतियोगिता में, विशेष उल्लेखयोग्य स्थान की प्राप्ति किसी को न होने पर भी, गेटे, टामस मान, रिलके एवं ग्रिम आदि की जनप्रियता अव्याहत है। अंगरेज साहित्यिकों के बीच जिन्होंने सदैव अपने देश के बाहर के पाठकों के हृदय में स्थान पाया है, उनमें प्रमुख हैं शेक्सपीयर, डिकेन्स, कानन डायल, स्टिवेन्सन प्रभृति। जीवित अंगरेज साहित्यिकों के बीच जिनकी जनप्रियता का अन्य देशों में प्रसार हुआ है, वे हैं—आगाथा क्रिस्टी, और समरसेट माम। फिर भी, बाहरी विश्व में वहाँ के शेक्सपीयर ही दिग्विजयी हैं। और, अनुवाद के विषय में उन्हें पृथिवी पर तीसरा स्थान प्राप्त है। सर्वाधिक अनूदित लेखक तो अमरीकी साहित्यकार मार्क ट्वेन ही हैं।

एशिया में सर्वाधिक अनूदित देशों में जापान ही माना जायगा। सोवियत रूस, जर्मनी एवं फ्रान्स के बाद विश्व में जापान का ही स्थान है। एशिया के सर्वाधिक अनूदित लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं।

पुस्तक-दूकान

पुस्तक-व्यवसाय में जिस देश का जितना भी नाम हो, यूनेस्को के मत के अनुसार आस्ट्रिया ही पाठकों के दृष्टिकोण से पृथ्वी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक-व्यवसायी देश कहा जायगा। इसका कारण है कि उस देश में जनसंख्या के अनुपात के मुकाबले पुस्तकों की दूकानों की संख्या पृथिवी में सबसे बड़ी है। आस्ट्रिया में इस समय प्रति २७४५ व्यक्तियों के लिए एक पुस्तक की दूकान है, जो अनुपात पृथिवी में अन्य किसी देश में नहीं है। इस व्यापार में आस्ट्रिया के बाद ही डेनमार्क का स्थान आता है। वहाँ पुस्तकों की दूकान और आबादी का अनुपात है प्रति चार हजार व्यक्तियों पर एक। अन्य देशों में प्रति पुस्तक-दूकान पर वहाँ के व्यक्तियों का अनुपात इस प्रकार पड़ता है: आस्ट्रेलिया में ४३१५, इटली में ४८६६, इंगलैंड में ६०००, नीदरलैंड में ७२८१, बेलजियम में ७६०६, रूस में ८७०८, पश्चिम जर्मनी में ११६७०, फ्रान्स में १२०२३, स्वीजरलैंड में १२३७५, स्वीडेन में १३१६५, नारवे में १४६८६, कनाडा में १८१२५ एवं अमेरिका में १८६१६।

बुक-सोसाइटी

जो लोग खरीदकर पुस्तकें पढ़ते हैं, उनके लिए पुस्तकों को पसन्द करना एक समस्या ही है। उनकी भाषाओं में प्रतिमास प्रचुर न होने पर भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। किन्तु, पाठकों की क्रय-शक्ति केवल एक को खरीदने की होती है। अब वे कौन-सी पुस्तक खरीदें? इस मामले में उनका एकमात्र सहायक प्रकाशकों का विज्ञापन, साहित्य-पत्रों की पुस्तक-समीक्षा या पुस्तक-समाचार होते हैं। विज्ञापन की दृष्टि से तो सभी पुस्तकें 'अपने युग की अनन्य साहित्य-कीर्ति' हैं। विशेष कोटि के साहित्य-पत्रों के अलावा, अधिकतर साहित्य-पत्रों की समीक्षाएँ भी उपर्युक्त विज्ञापन के ही प्रकार की होती हैं। विज्ञापन या समीक्षा द्वारा की गई प्रशंसा या निन्दा,

पाठकों की स्थिति पर बहुत कम ही आधारित होती है, बल्कि उससे अधिक वह प्रकाशक और लेखकों की मुँहदेखी होती है।

तब, क्या पाठकों का सचमुच ही कोई सहारा नहीं है? ऐसा सहारा, जोकि उन्हें सत् और संगत परामर्श दे सके! १६२६ सन् में विलायत में कई-एक ईमानदार पुस्तक-समीक्षक इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आगे आए थे और उन्होंने उस समय 'बुक-सोसाइटी' नामक संस्था का, इसके लिए निर्माण किया था। उस सोसाइटी ने प्रतिमास एक विशिष्ट पुस्तक का चुनाव कर, पाठकों के समक्ष उसकी श्रेष्ठता की घोषणा अपने खर्च से शुरू की। इसके साथ-साथ सोसाइटी प्रस्ताव करती थी कि उस पुस्तक को पाठकगण उसके द्वारा ही खरीदें। क्योंकि, सोसाइटी को स्वनिर्भर तथा उसके मतामत को स्वाधीन रखने के लिए, पाठकों का ही यह दायित्व होता है कि वे सोसाइटी के खर्च की इस प्रकार व्यवस्था करें। इसके लिए, पाठकों को सोसाइटी से अधिक दर पर पुस्तक नहीं लेनी पड़ती थी, वे बाजार-दर पर ही पुस्तक पाते थे। यहाँ तक कि पाठकों को डाक-खर्च तक नहीं देना पड़ता था। पुस्तक के कमीशन से ही सोसाइटी चलती थी और यह सारी व्यवस्था भी हो जाती थी।

आज भी वह सोसाइटी उसी तरह चल रही है। आज भी उसकी वही स्वमहिमा है, बल्कि वह बढ़ी ही है। इस समय प्रतिवर्ष वह ५०-६० पुस्तकों को प्रमाणित करती है। इसकी प्रमाणित तालिका में पुस्तकों के आने का अर्थ होता है कि उन-उन पुस्तकों की बिक्री कई गुना बढ़ जाती है और इसके साथ प्रकाशक तथा लेखक के सम्मान में वृद्धि भी होती है।

इस समय भारत के एक लेखक इंगलैंड के इस समालोचक-कुल द्वारा इस प्रकार के दुर्लभ सम्मान को पा सके हैं। उनका नाम है बालचन्द्र राजन। उनकी उम्र ३६ वर्ष है। सन् ४७ में कैम्ब्रिज से स्नातक होने के बाद, वहीं आधुनिक काव्य-साहित्य के वे व्याख्याता नियुक्त हुए। उसके बाद वे वहाँ भारत के परराष्ट्र-कार्यालय में लगे। इस समय वे अन्तर्राष्ट्रीय आणविक कमीशन में भारतीय सदस्य हैं। बुक-सोसाइटी ने उनकी जिस पुस्तक को श्रेष्ठ प्रमाणित किया है, उसका नाम है—'डार्क डान्सर'। इसके पहले किसी भारतीय द्वारा लिखित उपन्यास यह पद नहीं पा सका था। यह भारतीयों के लिए प्रथम आनन्द-संवाद कहा जायगा।

'नर-नारी' का किशोर-अंक

वैज्ञानिकों, लेखकों और पाठकों से अनुरोध

अक्तूबर १६५६ के अंक (खंड १ : संख्या १०) को हम किशोर-विशेषांक के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। किशोरावस्था (Adolescence) की मानसिक तथा यौन-समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर आपकी रचनाओं का न सिर्फ हम स्वागत करेंगे, बल्कि हमारा आपसे आग्रह है कि अगर आप इस विषय पर लिख सकते हों तो हमें अपनी चीज फौरन भेजकर अनुगृहीत करें।

पाठक अपने अनुभव तथा प्रश्न भेज सकते हैं, जिनके उत्तर उक्त अंक में दिए जायँगे।

लेखादि निम्नलिखित पते पर भेजें।

श्री द्वारका प्रसाद, एम० ए०
५, महात्मा गाँधी मार्ग,
राँची (बिहार)



जिस तरह तस्वीर खींचनेवाला तस्वीर खींचने के लिए नजदीक जाता है, लेकिन जरा दूर जाकर देखता है, तब उसे पता चलता है कि तस्वीर में क्या खूबियाँ, क्या खामियाँ हैं और कहाँ, क्या फर्क करना जरूरी है; उसी तरह उस्तादों को समाज की सेवा करनी है, लेकिन चिन्तन के लिए जरा दूर जाना चाहिए।

—विनोबा

मेरा व्यवसाय : मेरे ग्राहक

श्री दयानन्द वर्मा

व्यवसाय-सम्बन्धी कुछ संस्मरण पिछले मास प्रस्तुत किए गए थे। कुछ अब लीजिए :—

पहिले-पहल मेरे कुछ ऐसे ग्राहकों से मिलिये जो आकर माँगते तो प्रेम-सागर हैं किन्तु वास्तव में उन्हें लेना होता है कोक-शास्त्र। उनके माँगने के ढंग का मुलाहिज़ा फ़रमाईए :—

● पहिला ढंग :

"क्या आपके पास प्रेम-सागर है ?"

मैं उन्हें प्रेम-सागर दिखा देता हूँ। वे उसे उलटते-पलटते हैं। फिर कुछ याद करने का नाट्य करते हुए कहते हैं—"पता नहीं वह सुसरा कौन-सी ऊटपटाँग किताब कह रहा था ? वह होती है ना, शास्त्र-मास्त्र सी··· !"

मैं जान जाता हूँ कि वे क्या माँगना चाहते हैं। किन्तु, उन्हें याद कराने में सहायता नहीं देता, अपितु उन्हें छहों शास्त्रों के नाम सुना देता हूँ।

वे सिर हिलाते हुए कहते हैं—"नहीं-नहीं, उसमें कुछ तस्वीरें-मस्वीरें सी होती हैं—उल्टी-सीधी सी !"

मैं वही प्रेम-सागर उनके सामने खोल कर कहता हूँ—"तस्वीरें तो इसमें भी हैं !"

"नहीं-नहीं, ऐसी नहीं ! वह, आसन होते हैं औरत-मर्द के !"—फिर लजाते-सकुचाते कहते हैं—"नाम शायद उसका कोक-शास्त्र होता है।"

"ऐसी पुस्तकें मैं नहीं बेचता !"—कह कर मैं प्रेम-सागर समेटने लगता हूँ और वे अपनी पहेली किसी दूसरे पुस्तक-विक्रेता से बुझवाने चल पड़ते हैं।

● दूसरा ढंग :

"क्या आपके पास वह पुस्तक है, जो स्टेशन पर नहीं मिलती ?"

"क्या आप बता सकते हैं कि स्टेशन पर कौन-सी पुस्तक नहीं मिलती ?"

इसके बाद वे मुझसे समस्या-पूर्ति कराने लगते हैं, जिसका निष्कर्ष निकलता है—"कोक-शास्त्र !"

● जो पुस्तक-विक्रेता पाठ्य-पुस्तकें नहीं बेचते उन्हें यह वाक्य बारम्बार सुनना पड़ता है :

"वाह, इतना थोड़ा कमीशन ? यह कौन-सी पाठ्य-पुस्तक है ?"

उनके लिए मैं यही उत्तर देना श्रेयस्कर समझता हूँ :

"हाँ, यह पाठ्य-पुस्तक नहीं है, वरना शायद मैं अधिक कमीशन दे पाता !"

● कुछ व्यक्ति अन्य लोगों पर अपनी पुस्तक-सम्बन्धी जानकारी प्रदर्शित करने के लिए पुस्तक-विक्रेता की दूकान का रुख़ करते हैं। वहाँ आने वाले ग्राहकों को निःशुल्क परामर्श देना उनका काम होता है। ऐसे व्यक्ति का केवल एक उदाहरण दूँगा :

किसी स्कूल के छात्र ने आकर गीता-प्रेस की ढाई आने वाली गीता माँगी। साथ बैठे सज्जन बोले—"तुम सवा रुपये वाली, परिच्छेद वाली, गीता क्यों नहीं लेते ? उससे अधिक समझ आएगी !"

"समझाने का काम हमारे मास्टर करते हैं !"—छात्र ने उत्तर दिया।

"जब मास्टर समझाते हैं तो फिर ढाई आने वाली सार्थ-गीता के लेने का क्या लाभ ? फिर तो बिना टीका की डेढ़ आने वाली गीता काम दे जाएगी !"

गोया, उन्हें आपत्ति थी तो केवल ढाई आने वाली पर !

['उनके प्रश्न : इनके उत्तर' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत 'पुस्तक जगत' के अनुकूल प्रश्न सीधे संपादक के नाम भेजे जायँ। उनके उत्तर संबंधित विषयों के विद्वानों द्वारा दिए जाते हैं।] —संपादक

अच्छे साहित्य के अभाव का दायित्व



श्री द्वारका प्रसाद

बात इतनी पुरानी है कि कोई इसे कहने के लिए लेखक को न तो मौलिकता का दोष दे सकता है और न कल्पनाजन्य असत्य भाषण का।

इसे हम-आप सभी जानते हैं; ज़माने से जानते आए हैं। यह बात और है कि इस पर कभी ध्यान देने की ज़हमत नहीं उठाई।

अभी कल, जब हम दो-तीन दोस्त बैठे इधर-उधर की बातें कर रहे थे, एक साहित्य-प्रेमी ने फर्माया :

—हिन्दी में पढ़ने लायक किताबें ही कौन-सी हैं जो पढ़ें ?

एक ने कहा—एक नहीं, दर्जनों पढ़ने लायक ही नहीं, बल्कि सच ही अच्छी किताबों के नाम मैं गिना सकता हूँ। मसलन…

साहित्य-प्रेमी ने कहा—वैसे दो-चार किताबें हों भी तो उससे क्या आता-जाता है। अंग्रेजी की कोई भी किताब उठा लो, कोई भी उपन्यास ले लो; जैसी विविधता, जितनी ऊँची शैली, जैसा पुर-असर वर्णन और जैसी जानदार कहानी मिलती है, भला हिन्दी की एक भी किताब बतला दो जिसमें इनमें से किसी का मुकाबला करने की क्षमता हो! बस, वही घिसे-पिटे प्लॉट, वही जाने-पहिचाने चरित्र! एक पढ़ो या अनेक, एक ही तरह का चर्वित-चर्वण मिलेगा।

यह नहीं कि उनका कथन सौ-प्रतिशत सही है। पर खेद के साथ स्वीकार तो करना ही पड़ता है कि काफी अंश तक उनके ये विचार सचाई के नजदीक हैं।

हम यहाँ इस स्थिति के दायित्व की बात सोचना चाहते हैं।

कहा जा सकता है कि दुर्भाग्य से हिन्दी में प्रतिभा का अभाव है, अथवा इसके लेखक परिश्रम नहीं करते—आदि।

हिन्दी साहित्यिकों का जो थोड़ा-बहुत लेखक का अनुभव है, उस बूते पर वह कह सकता है कि उपर्युक्त दोनों बातों को सत्य नहीं माना जा सकता।

दर-असल अभाव है हिन्दी में अच्छे पाठकों का।

अंग्रेजी की एक कहावत है, किसी देश को वैसी ही सरकार मिलती है जैसी सरकार के वह योग्य होता है।

थोड़े फेरफार से यही बात साहित्य के लिए भी कही जा सकती है। हिन्दी के पाठकों को वैसा ही साहित्य मिलता है जैसे साहित्य के वे योग्य हैं।

यानी, अगर इस सिद्धान्त को मानें तो, यह कहना पड़ेगा कि अगर सच ही हिन्दी में उच्चकोटि के साहित्य की अपेक्षाकृत कमी है तो इसका सबसे प्रधान कारण है हिन्दी में उच्चकोटि के पाठकों की कमी। अन्य कारण माध्यमिक हो सकते हैं।

दूर क्यों जाइए, अपने पड़ोसी बंगला और मराठी साहित्य को ही ले लीजिए।

हर शिक्षित बंगाली परिवार इसे अपना सामाजिक कर्त्तव्य समझता है कि बंगला में जो भी अच्छी किताब निकले, उसे अपनी आर्थिक अवस्था के अनुसार यथासंभव अवश्य खरीद कर पढ़े।

यही बात मराठा परिवार के लिए सही है।

पारिवारिक बजट में किताब-खरीद-खाता अनिवार्य समझा जाता है उनके यहाँ।

जबकि हिन्दी का पाठक किताबों पर एक पैसा खर्च करना नहीं चाहता। अगर उसने किसी किताब की चर्चा सुनी तो उसका अधिक-से-अधिक यही प्रयास होगा कि कहीं किसी दोस्त के पास प्रति हो तो माँग लावें।

और, जो हिन्दी का पाठक समझ लेने लायक भी अंग्रेजी जानता है, वह कभी-कभार किताब खरीदने का शौक फर्मायेगा भी तो कोई अंग्रेजी की किताब ही खरीद लायगा।

परिणाम यह होता है कि हिन्दी में अच्छी-से-अच्छी किताब के दो हजार प्रतियों के संस्करण को बिकने में भी कम-से-कम पाँच-सात साल तो लग ही जाते हैं—बशर्ते कि प्रकाशक इतना चतुर विक्रेता न हो कि सार्वजनिक पुस्तकालयों में अपनी किताबें खपा दे!

[शेष अगले पृष्ठ पर]

आजकल की पुस्तकें



श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

इसमें सन्देह नहीं कि आज का हिन्दी-साहित्य प्रकाशित पुस्तकों की संख्या की दृष्टि से काफी समृद्ध है। प्रायः प्रतिदिन नई पुस्तकें निकलती रहती हैं। कई ऐसे सूचना-पत्र भी प्रकाशित होते हैं जिनके पृष्ठों पर नई पुस्तकों का ब्योरा छपता रहता है। विवरण की भाषा बड़ी आकर्षक होती है—विशेषणों से बोझिल, आडम्बर-युक्त।

छपाई-सफाई की दृष्टि से भी आजकल की पुस्तकें, कुछ वर्ष पहले की पुस्तकों से बहुत आगे हैं। रंगीन चित्र, भाव-चित्र, रेखा-चित्र आवरण की सजावट आदि-आदि, आजकल के कलात्मक प्रकाशन की विशेषताएँ हैं। हिन्दी का हर हिमायती गर्व का अनुभव कर रहा है, जो स्वाभाविक है।

एक और उल्लेखनीय बात है। आजकल की पुस्तकों के नाम। इस बात को लेकर काफी चढ़ा-ऊपरी, होड़ाहोड़ी है; चारों तरफ भयंकर कोलाहल मचा हुआ है। नामकरण की परम्परागत प्रणाली एकदम बदल गई है। पुस्तक का नाम सरल हो, बोधगम्य हो, यथासंभव एक शब्द हो, लेखकों का अब ऐसा विश्वास नहीं रहा। अब तो नाम के लिए अधिक-से-अधिक शब्दों का चुनाव होता है। तीन अथवा चार शब्द तो जरूर रहते हैं। जहाँ तक कविता-पुस्तकों का संबंध है, कभी-कभी एक पूरी पंक्ति ही नाम-स्थान पर उद्धृत कर दी जाती है। यह प्रगतिशीलता भी कम आनन्दायक नहीं है।

परंतु, जब हम इन पुस्तकों के पृष्ठों को उलटते हैं तो क्या पाते हैं? यदि हिन्दी-प्रचार और पाठकों का मनोरंजन ही पुस्तक-प्रणयन और पुस्तक-प्रकाशन का एकमात्र उद्देश्य है तो मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहूँगा। परंतु, मैं जानता हूँ कि बात ऐसी नहीं है। पुस्तक-प्रणयन और प्रकाशन का एक पक्ष यह हो सकता है, है भी। संभवतः हर भाषा-साहित्य में ऐसा पाया जाता है। परंतु, मेरा संकेत दूसरी ओर है।

राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर हिन्दी का भयंकर विरोध होने लगा है। सूप के अतिरिक्त चलनी भी उँगली उठाने का दुस्साहस करने लगी है। मैं नहीं जानता कि इस विरोध का, ऊपर उठाये गए प्रश्न से, कोई संबंध है या नहीं। जिन लोगों ने राष्ट्रभाषा की नाव को पार लगाने का बीड़ा उठा लिया है, वे सुधी साहित्य-सेवी निश्चय ही इस प्रश्न पर विचार करते होंगे। यदि कोई निर्भीक विचारक सिद्ध कर दे कि मेरी शंका निर्मूल नहीं है तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।

यह सही है कि रंजित अधरों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक देना कठिन है। मैं इसे सही इसलिए मानता हूँ कि स्पष्ट देखता हूँ, अनुभव करता हूँ कि आज का समस्त वातावरण ही रंजित है। रंजित के स्थान पर मैं अतिरंजित शब्द का भी प्रयोग कर सकता हूँ। किन्तु असत्य को असत्य समझ कर भी उसकी पूजा करना, उसके सामने घुटने टेक देना, आत्म-समर्पण कर देना उनको शोभा नहीं देता जो अपने को राष्ट्र-निर्माता, समाज-निर्माता, साहित्य-निर्माता आदि नामों से पुकारते हैं।



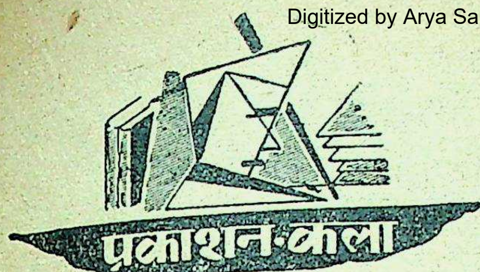
[गत पृष्ठ का शेष]

फिर, अच्छी किताबें कोई छापे क्यों? फिर, अच्छी किताबें कोई लिखे क्यों? अगर लेखक को रोटी की चिन्ता से भी अपनी रचनाओं के द्वारा छुटकारा नहीं मिल सके तो, बावजूद प्रतिभा होने के, वह अपना पूरा ध्यान और समय साहित्य-रचना को नहीं दे सकेगा।

फिर, आपको यह अधिकार ही कहाँ रह जाता है कि आप कहें—अंग्रेजी और अन्य प्रगतिशील साहित्यों के मुकाबले हमारा साहित्य नगण्य है?

आप खरीदकर किताबें पढ़िए, कभी किसी को किताब उधार मत दीजिए, स्वयं अच्छे पाठक बनिए और तभी आपको अच्छा साहित्य मिल सकेगा।





जिम्मा बाँधो



श्री बलराम

मैं हिन्दी की बात करता हूँ। यह सवाल दूसरी देशी भाषाओं में भी है। मगर उनसे मेरा सीधा वास्ता नहीं है। हिन्दी में इस समय देशव्यापी तौर पर जाने-माने प्रकाशक सात सौ से कम नहीं होंगे, जो व्यवसाय के रूप में अपना यह काम करते हैं। मगर, उनमें से कौन-कौन किस-किस ढंग की चीज प्रकाशित करते हैं—यदि इसका इतिहास किसी को लिखना पड़े, तो वह तीस से अधिक प्रकाशकों के मामले में कुछ नहीं लिख सकेगा। टाइप, अक्षरों की सजावट, रंगीनी, तस्वीर साजी, कागज का इस्तेमाल, जिल्दसाजी—इन सभी चीजों का तालमेल विषयों के साथ बदलता रहता है। मसलन—बालोपयोगी-किशोरोपयोगी-प्रौढ़ोपयोगी साक्षरता, कोष, कविता, कथा-उपन्यास, रसायन, पदार्थ, दस्तकारी, कृषि—इन सभी विषयों की पुस्तकों मे टाइप, अक्षर-सज्जा, तस्वीर, रंग और जिल्द आदि के तालमेल में बहुत बड़ा फर्क आता है। योग्यता का अर्थ यदि कामचलाऊ जानकारी भर ही है, तो वैसे योग्य तो विश्व के सभी जीव-जन्तु हैं। मगर, विद्या तो विशेष-विशेष ही होती है, जिसे विशेष तौर पर ही व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष को साधना पड़ता है। जैसे; लुहार, बढ़ई, किसान, दार्शनिक, कवि, चिकित्सक, मेमार आदि अपने-अपने विषयों में ही प्रमुख होते हैं। किन्तु, दुर्भाग्य है कि इन अलग-अलग विषयों पर, विशेषज्ञ निर्माता होने के बजाय, हिन्दी के प्रकाशक, अधिकतर "जैक आफ आल ट्रेड्स बट मास्टर आफ नन" की तरह, चारों तरफ हाथ-पैर पसार कर काम कर रहे हैं।

उदाहरण के लिए, बालकों तथा वयस्कों के लिए साक्षरता तथा साधारण अध्ययन की पोथी बनाने में एक खास अध्ययन, एक खास तैयारी, एक खास डिजाइन और एक खास किस्म की रंग-चित्र-साजी के साथ-साथ सुडौल और बड़े अक्षरों की छपाई की आवश्यकता होती है। इतनी सारी तैयारी रखने वाले प्रेसों में जो खर्च होता है, वह कोई मामूली नहीं है। ऐसी पुस्तकों के प्रकाशक को जो अनुभव रखना होता है, वह भी कम सख्त और कम मार्मिक नहीं है। मुझे तो इस विषय के सारे हिन्दी प्रकाशनों में, एक-आध अपवाद के सिवा, इस योग्य न तो कोई प्रकाशक दिखाई देता है और न प्रेस। ऐसे ही, साधारण विज्ञान तथा कोटिगत विज्ञान, गणित और पैमाइश, कोष और शब्द-ग्रंथ, शिल्प और दस्तकारी आदि ऐसे स्पष्ट अलग-अलग विषय हैं, जिनके लिए प्रकाशकों और प्रेसों में, अलग-अलग, खास किस्म की योग्यता और व्यवस्था करनी पड़ेगी।

अलग-अलग प्रकाशकों में और तदनुसार प्रेसों में भी, इस प्रकार की अलग-अलग योग्यता और व्यवस्था के न होने के कुछ प्रधान कारण ये हैं:

(१) पाठकों की माँग न तो स्पष्ट है और न देश की शिक्षा-योजना ने अबतक उसे स्पष्ट करने का प्रयास ही किया है।

(२) पढ़ाई-लिखाई या तो दफ्तर चलाने या ऐश-मौज करने की चीज बनी हुई है, इसी से, साहित्य-संगीत-कला के सिवा विषय-ज्ञान पर कोई जोर नहीं पड़ रहा है।

(३) प्रकाशकों ने भी विषयज्ञान की जो पुस्तकें निकाली हैं, उनमें जड़ गणितबाजी के सिवा कोई दिलचस्पी पैदा करनेवाली शैली नहीं आई है, जिससे कि विषय-ज्ञान के प्रति लोगों में आग्रह जागे।

(४) प्रकाशक स्वयं भी अपना विषय चुनकर उसके प्रति होशियार होने का उस हद तक तप करने को तैयार नहीं है और एक दाल-चावल-मिर्च-मसाला सभी-कुछ बेचनेवाले खिचड़ी-फरोश की तरह रोजमर्रे की चीजों को बेचने की तरह किताबें बना-बेच रहा है।

(५) सरकारी खरीद भी 'सब धान बाइस पसेरी' के भाव से है, अतः उसी दर पर प्रकाशकों में भी सब चीजें निकालने की उतावली और उसके साथ लाचारी रहती है।

इस प्रकार, विशेष योग्यता के बजाय जो अखबारीपन जैसा एक गड्डमड्ड उत्पादन और उनका ही स्वाध्याय फैला हुआ है, उससे आनेवाली खूबी और खराबी के जवाबदेह सरकार और प्रकाशक दोनों ही हैं। दोनों ही, अपने चारों ओर कुछ

गोलाकार घूमने वाले कारणों से अपने को बाधित बताकर, एक-दूसरे की माँग पूरी कर रहे हैं। दोनों का एक ही दर्शन है कि ऐसी अखबारी ढंग की सर्वसुलभ शिक्षा सभी के द्वारा सभी को दी जाय, ताकि देश को दफ्तरों के कामचलाऊ नौकर या राजनीति और समाज में सभी बातों पर चार टप्पे बोलने वाले आनन्दी किस्म के जीव प्राप्त हों।

मगर, हमारे चारों तरफ जो काम फैले हुए हैं और उन कामों को जितना आगे बढ़ाना है, उनका जिम्मा तो खास-खास समझदारों पर खास-खास विषय के हिसाब से देना ही होगा। और, उन खास विषयों के खास समझदारों को, दूसरे देश-काल-पात्रों की तरक्की के मुकाबले, आगे अध्ययन तथा साधन बढ़ाने के लिए, उस-उस विषय के अध्ययन तथा मनन की ऊँची-से-ऊँची चीजें भी लगातार देनी होंगी। तभी तो हमारा यह समाज, उसकी इच्छाएँ और तदनुसार माँगें भी आगे बढ़ेंगी। और तब, हम, माँगों में स्पष्टता न होने के नाम पर, जो 'एक पैसे में आठ मजा'-जैसा उत्पादन किए जा रहे हैं, वह नहीं चलेगा।

जिस प्रकार एक काम, उसके लिए एक योग्यता और एक योग्यता वाले व्यक्ति की नियुक्ति ही काम को आगे बढ़ाने का नियम है, उसी प्रकार विभिन्न विषयों के पुस्तक-प्रकाशन की जवाबदेही के लिए भी विभिन्न प्रकाशकों को योग्यता तथा तदनुसार जिम्मा लेना चाहिए। ऐसा जिम्मा लेने पर इस व्यवसाय में इस प्रकार के कई विशेष गुण शरीक होंगे :

(१) प्रकाशकों में विषय-क्षेत्र के इस बटवारे से सभी विषयों के लिए जो होड़ मची हुई है, वह समाप्त होगी और तब आपसी सहयोग और कमी-पूर्ति का साहस आगे आवेगा।

(२) पुस्तकों की मात्रा और गुण में योजनाबद्ध सर्वाङ्गसम्पूर्णता आवेगी।

(३) विषय-विशेषज्ञ लेखकों की नियुक्ति का क्षेत्र बढ़ेगा और अविषयज्ञों से नकल आदि करवाकर जो भला-बुरा उत्पादन कर लेने का रद्दी तरीका है, वह खत्म होगा।

(४) प्रकाशकों में प्रेसों की अनिश्चितता और प्रेसों में प्रकाशकों की अनिश्चितता को लेकर जो धींगामुश्ती मची हुई है, वह समाप्त होगी।

(५) सभी प्रकाशकों की, सरकार और पाठकों में, निश्चित और निश्चिन्त माँग बढ़ेगी।

(६) अपने-अपने विषयों में पुस्तकों की कमी-बढ़ती का देश को आसानी से अन्दाज मिलेगा।

(७) और अन्त में, प्रकाशक अपने विषय की उत्तरोत्तर योग्यता के नाते हौसला पाएगा और सर्वसम्मानित होगा।

क्या इस बात की आवश्यक आशा की जाय कि हिन्दी के प्रकाशक, पाठक, और विषय-विशेषज्ञ इस ओर सोचने की कभी कृपा करेंगे?



भारत भारती

नाटकों की समस्या : बंगला नाटक



श्री सुरजित दास गुप्त

कविता ? बंगाल तो कविता का ही देश है ! कहानी ? हाँ, बंगला की कहानी तो विश्वमान में सार्थक है ! उपन्यास ? नहीं, उपन्यास में भी बंगाली किसी से पीछे नहीं हैं ! किन्तु, नाटक ? हाँ, इस प्रश्न पर सिर झुक जाता है । बंगला नाटक के सम्बन्ध में हम बंगाली स्वयं लज्जित हैं । हालाँकि, मधुसूदन ने 'शर्मिष्ठा', 'कृष्ण कुमारी', 'एकेई कि बले सभ्यता', 'बूड़ो शालिखेर घाड़े रों'; दीनबन्धु मित्र ने 'मधवार एकादशी'; रवीन्द्रनाथ ने 'गृहप्रवेश', 'मुक्तधारा', 'डाकघर', रक्तकरबी' आदि जैसे नाटक बंगला भाषा में ही लिखे हैं । हालाँकि, कलकत्ता नगर के रंगमंचों की संख्या भारतवर्ष के नगरों में सर्वाधिक है । हालाँकि, भारत के जिस-किसी शहर में कुछेक घर बंगाली निवास करते हैं, वहीं प्रत्येक दुर्गा-सरस्वती पूजा पर नाटक मंचस्थ होते हैं ।

सुतरां, बंगाली नाटक को सर्वथा पसन्द करते हैं—इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । फिर, नाटक की बात के पूछे जाने पर बंगालियों का सिर क्यों झुक जाता है ? इसका कारण है कि नाटकों के नाम पर रचित नाटकों की अबतक की जो तालिका मैंने दी है, उतना ही हमलोगों का सर्वसकल सम्बल है । यदि उक्त तालिका नितान्त असम्पूर्ण लगे, तो वनफूल, सलिल सेन आदि आधुनिक नाटककारों के और कई-एक नाटकों के नाम जोड़ दिये जायँ ! किन्तु, उससे भी उक्त स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन की सम्भावना नहीं की जा सकती । तो, वह कौन कारण है, जिसके कारण बंगला में नाटकों के लायक नाटक नहीं लिखे जा सके !

अंगरेजी में दो शब्द हैं—'ड्रामा' और 'प्ले' । मैं 'ड्रामा' का अर्थ समझता हूँ—नाटक जैसा नाटक । बल्कि, 'ड्रामा' को केवल 'नाटक' और 'प्ले' को 'रंग' कहना ही उचित होगा । इन दोनों में क्या फर्क हुआ ? अन्नदाशंकर ने नाटक और रंग के लिए इस प्रकार संज्ञा-निर्देश किया है : ''जिनको लेकर मैं नाटक लिख रहा हूँ, वे अपना-अपना जीवन भोग रहे हैं, कर्म भोग रहे हैं, बच रहे हैं । वे अपने अलावा दूसरे को देख-देख कर नहीं जी रहे हैं । वे सचेतन नहीं हैं कि उन्हें दूसरे लोग देखते हों । सचेतन होने से तो उनका जीवन ही अभिनय हो जाता । अर्थात् वे तब अपने अनुरूप नहीं जी सकते, बल्कि दूसरे लोगों के लिए केवल जीने का अनुभव कर जाते । वैसा होने पर, जो होता, वह नाटक नहीं होता, बल्कि रंग होता ।''

शिशिरकुमार भादुड़ी महोदय ने दावा किया था कि जीवानन्द को अपने अनुसार ही जीने देना होगा । भादुड़ी के उसी दावे पर ध्यान रखकर 'देना पावना' की कथा को पलट कर शरच्चन्द्र ने 'षोडशी' लिखा था । जीवानन्द के चारित्रिक यथार्थ की रक्षा करने के कारण कहानी की परिणति मर्मान्तक हो गई । और, उस नाटक के मंचस्थ होने पर दर्शकों ने तालियाँ नहीं पीटीं । क्योंकि, उन्होंने जो चाहा था, वह था रंग ।

'देना पावना' में रंग के लक्षण थे और उसे बनाया गया नाटक । यह एक व्यतिक्रम हुआ । यह भी नहीं घटित होता, यदि इसके पीछे असाधारण शिल्पबोध का हाथ नहीं होता । वास्तव में जो परिणत होता है, वह इसके विपरीत है । जो एक उत्कृष्ट नाटक होता, उसे एक रंग बनाकर रख दिया गया । नहीं तो, उसे रंगमंच पर नहीं उतारा जा सकता था । रंग में सारे चरित्र केवल अपने बचने का अनुभव करते हैं । किन्तु, रंग किसलिए बनाया गया ? उसका कारण है कि लेखक को एक चक्रव्यूह-बन्धन बनाना पड़ा; क्योंकि अभिनेता, प्रयोजक, दर्शक, सभी को तुष्ट नहीं कर पाने तक, लेखक के आगे कोई निस्तार ही नहीं था ।

कई नाट्यकारों ने, एक दफा, बंगला रंगमंच पर प्रचुर उत्साह का संचार किया था । किन्तु, एक समय की जनप्रियता पाई हुई उनकी वे नाटक-पुस्तकें आज के दर्शक-समाज ने सम्पूर्णभाव से विस्मृत कर दी हैं । इसका कारण है कि उन्होंने विशेष-विशेष अभिनेता-अभिनेत्री की ओर ताक कर, उनकी मनोनुकूलता के अनुरूप ही, चरित्रों का निर्माण किया था ।

वे जानते थे कि कौन नट या कौन नटी किस प्रकार के चरित्र-रूपायन में सक्षम है। यही कारण है कि उनकी नाटक-पुस्तकों को अभिनय के ही जोर पर उन नट-नटियों ने जनप्रिय कर दिया था। वे लेखक, मात्र इसीलिए प्रशंसार्ह हैं कि वे अभिनेता-अभिनेत्री के उपयुक्त चरित्रों की व्यवस्था कर सकते थे। किन्तु, जिन्हें अपने सम्मुख रखकर उन्होंने नाटक लिखे थे, कालक्रम में, जब वे धीरे-धीरे रंगमंच से हट गए, तो अनिवार्य-रूप से, वे सारे नाटक-चरित्र भी तब अशरीरी रूप में आ गए।

इस प्रसंग में, रूस के नाटक-परिचालक स्तानिस्लावस्कि द्वारा प्रवर्तित अभिनेता-निर्वाचन-प्रणाली को याद कर लेना आवश्यक है। कौन चरित्र किसके योग्य होगा और कौन किस चरित्र को निबाह सकेगा, इसी के अनुसार वे नट-नटी का चुनाव करते थे और इस चुनाव के बीच वे ख्याति या अख्याति का कोई प्रश्न ही नहीं आने देते थे। किन्तु, बंगला के नाट्यकार किसलिए नट-नटी के मुखापेक्षी होकर नाटक के प्रणयन के लिए बाध्य हुए थे? उसका कारण था कि वे नट-नटी अपने प्रयोजकों के पोष्य थे। पोष्यों के नाप से चरित्रों की सृष्टि नहीं कर पाने पर, वे प्रयोजक, लेखक को किसलिए पैसा देते? दूसरी बात, उन नट-नटियों को नहीं पोसने पर, नाटकों के प्रयोजकों का काम भी नहीं चलता था। क्योंकि, कर्त्ता की इच्छा से ही तो कर्म होता है। दर्शकगण तो केवल उन अभिनेता-अभिनेत्रियों का दर्शन पाना भर चाहते थे। वे दर्शक ही नाटक-प्रयोजक को पैसा देते हैं। इसीलिए प्रयोजकों को दर्शकों का वशंवद होना होता है। इस प्रकार नाट्यकार, एक साथ ही अभिनेता-अभिनेत्री, प्रयोजक एवं अन्ततः सर्वोपरि दर्शकों के हाथ में, बिक जाते थे।

गिरीशचन्द्र से ही नाट्यकार की इस प्रकार की आत्मबलि प्रारंभ हुई थी। प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व वे आए थे। बंगला रंगमंच को उन्होंने एक-पर-एक नाटक उपस्थित कर, एक बार अभिभूत कर दिया था। उन्हीं के प्रभाव से उस समय ठाकुर-घराने में भी नाटक-अभिनय के शौक ने प्रवेश पाया। जन-प्रियता की इच्छा उन नाटकों के पीछे कतई नहीं थी। जो थी, वह थी आर्ट की प्रेरणा। उस आर्ट की सृष्टि नहीं हो पा रही है—इस विषय में गिरीशचन्द्र अत्यन्त सचेतन थे और इसके कारण उन्हें कुछ कम आत्मग्लानि भी नहीं थी। इस आत्मग्लानि को हम उनके दूसरे प्रबन्धों में स्पष्ट देख सकते हैं।

गिरीशचन्द्र ने बड़ी आसानी से दर्शकों के मन पर कब्जा कर लिया था, किन्तु वे पाठकों के मन पर कोई अधिकार नहीं जमा सके थे। इन दर्शकों में न तो कोई सूक्ष्म अनुभूति थी और न कोई रुचि। ये चाहते थे भावालु दृश्यों द्वारा रुदन में बह जाना, भड़ैतियों द्वारा हँसते-हँसते बल खा जाना, और अनेक दुखों को पार करती हुई कहानी की एक प्रीतिकर परिणति से कृतार्थ हो जाना। ये प्रत्येक दर्शक एक-एक मूर्त रंग थे। और, इस बिखरी हुई श्रेणी को तुष्ट करना ही नाट्यकार का कर्तव्य हुआ।

इस शोचनीय परिस्थिति का प्रतिकार किस तरीके से सम्भव होगा? जो साहित्यिक हैं, वे आत्मप्रकाश से प्रेरित होकर साहित्य-चर्चा करते हैं। हमारे नाट्यकारों में आत्म-प्रकाश की वैसी प्रेरणा तो है नहीं। इसके सिवा, नाटक के एक प्रतिद्वन्द्वी—सिनेमा ने भी जन्म लिया है। एक साहित्यिक एक नाटक लिखकर जो पैसा पावेगा, उससे कई गुना अधिक पा सकता है सिनेमा के लिए सेनेरियो लिखकर। स्थूल रुचि को तृप्त करने के लिए यदि लेखनी पकड़नी ही पड़े, तो सिनेमा के लिए लेखनी पकड़ना ही लाभप्रद होगा। इसीलिए इस नए प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष नाटक पग-पग पर पीछे हट रहा है। हमारे देश में लिलियन वेलिस जैसे कुछ व्यक्तियों की आवश्यकता है, वाल्डविक थियेटर जिनकी एकमात्र कीर्ति है। अवश्य, 'बहुरूपी' 'लिटिल थियेटर' प्रभृति सम्प्रदाय चेष्टा कर रहे हैं, जिससे कि नाटक अपने पैरों पर खड़ा हो सके। ये सभी दल ही, जोकि पूर्णरूप से पेशेवर नाटक-प्रयोजक नहीं हैं, इस विषय में हमारे आशा-भरोसा हो सकते हैं।

नाटक के अपने पैर पर खड़ा होने पर, इन लोगों के हाथ से ही, गर्व करने योग्य बंगला नाटकों की सृष्टि होगी। और तब, वे नाटक, एक साथ ही साहित्यिक गुणों से युक्त और अभिनय-योग्य होंगे। साहित्यिक यदि सिनेमा के प्रलोभन को संवरण कर एक-आध नाटक लिख भी दें, तो वह अभिनय के योग्य हो सकेगा कि नहीं, इसमें सन्देह है। क्योंकि, वे अभि-नय तथा मंच के संबंध में ज्ञानहीन हैं। वे जो नाटक लिखेंगे, वह अगर हुआ भी, तो केवल पाठयोग्य ही होगा, क्योंकि पाठकों का ही मन उनके लिए कोई अजाना और नया राज्य

नहीं है। रवीन्द्रनाथ के नाटक भी अभिनय-योग्य होते कि नहीं, यह सन्देह तब हो ही जाता, जबकि उनके कलमवाले हाथ को मंच के संबंध में ज्ञान नहीं होता। अतः, उत्कृष्ट नाटक लिखने के लिए, शिल्पबोध और मंच की अभिज्ञता, समान आवश्यक है। जितने भी गैरपेशेवर लोगों के दल नाटक के विषय में निरीक्षा-परीक्षा कर रहे हैं, उनमें उपर्युक्त दोनों ही गुण हैं। इसके अलावा उनमें एक और चीज भी है—दुस्साहस। इसीलिए ये जड़ से, अर्थात् नाटकों के दर्शक बनाने के कार्य से ही, कार्य शुरू कर रहे हैं।

किन्तु, कबतक दर्शक तैयार हो जायेंगे, कबतक वैसे नाटकों के लिए उनके प्रयोजक राजी हो जायेंगे, कबतक नाटकोचित अभिनेता मिलने लगेंगे, एवं इन सभी चीजों के एक साथ प्राप्त होने पर फिर कबतक नाट्यकार उनके योग्य नाटक लिखने लगेंगे—इन सब बातों की इन्तजारी में बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। नाटक-रचना के काम में अभी से ही हाथ लगाना होगा। भले ही वह नाटक उस हद तक अभिनय-योग्य न हो। एक शर्त तो पूरी हो। यदि उसमें साहित्यिक गुण ही बढ़ा-चढ़ा हो, तो इससे हमारा आधा काम तो आगे बढ़ ही जाता है। कब नौ मन घी पूरा होगा और कब हमें राधा का नाच देखने को मिलेगा, इस प्रकार की चिन्ता में लीन होकर यदि हमारे लेखक बैठे रहें, तो एकदिन हम यही देख सकेंगे कि हमें चाबुक तो मिल गया है, मगर घोड़ा ही नहीं मिल सका। और तब, पेश होगा अपनी भूमिका को बिना जाने ही मंच पर उतर आने का नमूना। यह सत्य है कि जो नाटक अभिनय-योग्य नहीं होते हैं, उनके लिए प्रकाशक मिलना कठिन है। किन्तु, स्रष्टा क्या प्रकाशक की इच्छा के अनुसार ही सृष्टि करेगा? वह तो अपने अन्तर्धर्म के अनुसार ही सृष्टि करेगा! एवं, वैसी रचना यदि सचमुच साहित्य-कोटि की ही हो जाय, तो भी तो वह पड़ी नहीं रह जायगी। उसे प्रकाशक किसी-न-किसी दिन मिलेगा ही। अवश्य, यहाँ भी एक चक्रव्यूह है। नाटक को प्रकाशित करने में प्रकाशक इसीलिए निरुत्साही हैं कि उनको पाठक और खरीदार मिलना दुष्कर है। किन्तु, इस व्यापार में गरज किसका है? लेखक का ही है न! फिर, क्यों नहीं यह आत्मप्रकाश वही शुरू करे। इसके लिए, वह स्वयं ही उद्योगी और व्यवसायी क्यों नहीं बने?



उनके प्रश्न इनके उत्तर

आत्मा और मन की शान्ति के लिए विभिन्न विषयों की पुस्तकों को किस विषय-क्रम से पढ़ा जाय ?

—शिवशंकर सिंह (गोरखपुर)

यों तो आत्मा तथा मन की शान्ति पानेवाले संसार के किसी सन्त और सिद्ध की ओर से वैसी पुस्तकों को पढ़ने का कोई पाठ्य-क्रम हमारे सामने नहीं है। यह तो पढ़ने का अपना-अपना सिलसिला है। फिर भी, यदि आपने यह प्रश्न मजाक में नहीं किया है तो हमारा उत्तर है कि किसी भी विषय पर उत्तरोत्तर श्रवण, मनन, अध्ययन और निदिध्यासन आत्मा और मन को शान्ति ही देता है। इस विषय में एक दूसरा उदाहरण भी है, और, उसे आप मोपासाँ की प्रसिद्ध कहानी 'बाजी' (The Bet) को जरा बारीकी से पढ़कर पा सकते हैं।

—'लालधुआँ'

● ● ●

मुझे इधर कुछ आधुनिक विज्ञान के विषय में जानकारी प्राप्त करने का शौक हुआ है। मैं हिन्दी ही पढ़ सकता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझ जैसे साधारण समझवाले के लिए हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक मिले, जिससे कि आइनस्टाइन के नए वैज्ञानिक विचारों के विषय में कुछ जानकारी हो।

—श्रीधर त्रिवेदी (उज्जैन)

विज्ञान की जानकारी के लिए इस समय तक हिन्दी भाषा में पुस्तकों की बहुत बड़ी कमी है और केवल हिन्दी भाषा के ज्ञान के बूते उसे समझ लेना भी कठिन है। आइनस्टाइन के सिद्धान्त को समझना, विज्ञान और गणित के गैरजानकारों के लिए, असंभव ही है। हिन्दी में आइनस्टाइन के सिद्धान्त की जानकारी देनेवाली कोई खास किताब भी नहीं कही जा सकती है। फिर भी, 'पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई' की ओर से प्रकाशित 'आइनस्टाइन और ब्रह्माण्ड' नामक एक छोटी-सी पुस्तक निकली है। उससे शायद आपको कुछ समझने का अवसर मिले।

—प्रो० जानकी शरण

● ● ●

पुरानी हस्तलिखित पोथियों, छपी हुई अप्राप्य पुस्तकों, दिवंगत महापुरुषों के हस्तलेखों को देश में पढ़ाने की अबतक कोई सुलभ व्यवस्था नहीं है। इसके लिए क्या किया जाय ?

—दिवाकर बागची (झरिया)

यह कार्य राज्य और केन्द्र की सरकारों के शिक्षा-विभाग ही कर सकते हैं। होना तो यह चाहिए कि राज्य और केन्द्र की सरकारें या तो अपने शिक्षा-मंत्रालय के मातहत या इसके लिए नियुक्त किसी विश्वविद्यालय के मातहत अपने राज्य के वैसे ग्रन्थों और हस्तलिपियों की पाठ्य-फिल्म बनवाएँ और उन्हें एक निश्चित नियम के अनुसार वैसे अनुसन्धानियों और विद्यार्थियों के आगे प्रदर्शित करें। वैसी फिल्मों की सत्रह-अठारह प्रतियाँ होनी चाहिए, ताकि उसके द्वारा हर जगह पढ़ाई चल सके। उसके साथ तत्वज्ञों के आवश्यक वक्तव्यों के रेकार्ड भी उतनी ही प्रतियों में होने चाहिएँ। यह सब काम बहुत खर्च और पक्की योजना का है। अतः, इसे सरकार और विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं। हाँ, ऐसा होना बहुत जरूरी है।

—अखिलेश्वर पाण्डेय

● ● ●

'पुस्तक-जगत्' अपने मामले में तो सबसे अच्छा मासिक पत्र है। अगर इसमें अन्य मासिक पत्रिकाओं के समान कहानी, कविता और हर विषय के निबंध भी हों, तो और अच्छा हो।

—निशिकान्त वाजपेयी (आगरा)

आपने जो प्रशंसा की है, उसके प्रति हम आभार प्रकट करते हैं। हम इसे अपने विषय तक ही सीमित रखना चाहते हैं। हिन्दी को विषयगत पत्र-पत्रिकाओं की भी तो आवश्यकता है। उस आवश्यकता की कुछ पूर्ति हम कर सकें, ऐसी शुभकामना करें।

—सम्पादक 'पुस्तक-जगत्'



दृष्टिकोण

लोहे के पंख [उपन्यास]

प्रकाशक, लेखक और दो पाठकों की दृष्टि में

[उपन्यासकार श्री हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'लोहे के पंख' पर, उसके प्रकाशक, लेखक तथा दो पाठकों के विचार क्रमशः प्रस्तुत किए जा रहे हैं। 'लोहे के पंख' का प्रकाशन ई० सन् १६५८ में ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड पटना-४ से हुआ; जिसका मूल्य ७·२५ है और डबल-काउन आकार के ४४५ पृष्ठों में है। हम इन सभी विचार-दाताओं के प्रति कृतज्ञ हैं। —सम्पादक]

प्रकाशक के विचार

इस व्यवसाय के नाते मेरा अनुभव है कि हिन्दी के साधारण पाठक, जोकि पुस्तकों के प्रमुख ग्राहक होते हैं, उपन्यासों को शास्त्र की दृष्टि से नहीं, बल्कि दिलचस्पी की दृष्टि से पढ़ते हैं। दिलचस्पी का यह आवश्यक गुण है कि वह कम समय और कम स्थान में ही पर्याप्त हो। उसमें अवसर की और प्रतीक्षा की लम्बाई व्याघात पैदा करती है। इस नाते यह आवश्यक है कि उपन्यास इतने गठे हुए होने चाहिएँ कि वे डेढ़-दो-सौ से अधिक साधारण पृष्ठों के न हों। इसके साथ ही अपने साधारण ग्राहकों की क्रय-शक्ति के अनुसार उन्हें साधारण दर का भी होना चाहिए, और इस नाते भी उनमें डेढ़-दो-सौ पृष्ठों में समाप्त होने की योग्यता होनी चाहिए। विदेशों के बड़े-पुराने लेखकों और प्रकाशकों ने यह बात समझी है और वे ऐसी ही चीजें पेश करने की ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश करते हैं। अपने देश में भी जेबी-पुस्तक-माला आदि द्वारा वैसा ही अनुकूल प्रयास हो रहा है। इस हिसाब से 'लोहे के पंख' वह प्रयास नहीं है। मैं यह कहने का अधिकारी नहीं हूँ कि वह शास्त्रीय दृष्टि और दिलचस्पी के नाते कितना सही है। हाँ, इतना ही कह सकता हूँ कि सन् १६२८ से १६५३ तक के बड़े ऐतिहासिक कनभास पर अपने आंचलिक समाज को उपस्थित करने का कुछ ऐसा साहस है कि स्वभावतः लेखक उसे डेढ़-दो-सौ पृष्ठों में नहीं समेट सका। इतने दाम और पृष्ठों वाली दूसरी पुस्तकों के मुकाबले इसकी खपत अच्छी ही रही है—अपने व्यवसाय के नाते मैं इतना ही कह सकता हूँ।

—मदनमोहन पाण्डेय

लेखक के विचार

'पुस्तक-जगत' के सुयोग्य सम्पादक महोदय का स्नेहपूर्ण आदेश है कि मैं 'लोहे के पंख' के सम्बन्ध में अपना लेखकीय दृष्टिकोण उपस्थित करूँ। शायद मेरी यह अयोग्यता है कि मैं अपनी रचनाओं के संबंध में स्वयं बहुत कुछ नहीं कह पाता। मेरे लिए यह समस्या तब कुछ अवश्य आसान हो जाती है, जब मेरे कई श्रद्धालु पाठक मुझसे प्रश्न करते हैं और मैं उनके उत्तर देता हूँ। आलोचकों की शंकाओं का भी मैंने समाधान किया है, लेकिन प्रश्न उठे हैं, तभी—स्वतः नहीं।

'लोहे के पंख' की रचना मैंने सन् १६५२ में प्रारंभ की और वह समाप्त हुई, १६५४ में। कथा का कैनवास तो बहुत बड़ा था, किंतु कथा-क्षेत्र सीमित। "उपन्यास का नायक 'मंगरुआ' वास्तव में कोई मंगरुआ है या नहीं, अथवा अभी वह जीवित है या नहीं?" यह प्रश्न मुझसे पाठकों और आलोचकों ने अनेकों बार किये हैं। मैं इस प्रश्न के उत्तर को गौण रखकर यह निवेदन करना चाहता हूँ कि 'लोहे के पंख' के पाठकों या आलोचकों ने यदि यह अनुभव किया है कि 'मंगरुआ' एक वास्तविक सर्वहारा हो सकता है, तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझता हूँ। इस उपन्यास का आधारभूत तैयार करते समय मेरा यह दृष्टिकोण कभी नहीं रहा कि मैं अपने पाठकों को चौंकाऊँ। चौंक जाने और रम जाने में भेद है, यह विज्ञ पाठकों से छिपा न होगा। यह भेद मुझे वैसा ही जान पड़ता है, जैसा प्रभावित करने और रससिक्त करने में है।

वस्तुतः मंगरुआ जिस वातावरण में रहा-पला है, जिन स्थानों में वह रहा है, जो परिस्थितियाँ उसने देखी हैं—मैं अपने अल्प जीवन में उन्हें देखता रहा हूँ। किंतु, उपन्यास का चेतना-केन्द्र उसी की मनोपरिधि के वश में रहा है, मैंने स्वयं के प्रभाव में उसे खींचने की कोशिश नहीं की। मैंने उससे जब भी, जो-कुछ कहलवाया 'मंगरुआ' समझ कर, हिमांशु श्रीवास्तव समझ कर नहीं। मैं सोचता था, विद्वान पाठक मतभेद करेंगे। किन्तु, कला की सत्यता की यह भी पुकार थी कि मैं उस पर हावी न होऊँ। मेरे भीतर जो एक कलाकार

का मन है, वह मुझे बार-बार कहता रहा "मंगरुआ जो कुछ, जैसे कहना चाहता है, उसे वैसे ही कहने दो। तुम स्वयं न तो उसे भाषा की टकसाल में ले जाओ और न, तुम्हारे जीवन में जो प्रभाव सिमटते आए हैं, उन्हें उसके व्यक्तित्व पर फैलाने की कोशिश करो।" यही कारण है कि न तो मैं मंगरुआ को 'जगजीवन राम' बना सका और न धीरोदात्त नायक। वैसे, यदि इसे अभिमान का सूचक न माना जाय, तो मैं कहूँगा कि उसके इतने पीड़ित जीवन-दर्शन (दर्शन का अर्थ यहाँ फिलॉसफी न लगाया जाय) को ज्यों-का-त्यों रखना भी कम कठिन कार्य न था। उसके प्रणयन-काल में स्वयं मेरा दिल बार-बार भर आया है। तात्पर्य यह है कि 'लोहे के पंख' का मंगरुआ मेरी कल्पना का व्यक्तित्व नहीं। और, 'लोहे के पंख' लिख कर मैंने यह अनुभव किया कि अपरिचित वातावरण पर कलम उठा कर कोई उपन्यासकार औसत प्रसिद्धि भले ही पा ले, लेकिन जब भी वह एकांत अवस्था में सोचेगा, तो पाएगा कि चरित्र-चित्रण की व्यापकता का सूत्र कहने के लिए उसके हाथ में था—वस्तुतः था नहीं।

सजग पाठक और मुझ में मतभेद नहीं भी हुए हैं, जहाँ पाठक मुझ से प्रश्न करता है—"क्या मंगरुआ और तरक्की नहीं कर सकता था ?" मेरा उत्तर होता है, "मंगरुआ तो जमीन का एक जर्रा है। मैं चाहता तो उसे आसमान का तारा भी बना सकता था, आशावाद का सेहरा अपने माथे चढ़ा सकता था, मगर इसी प्रश्न के बीच से क्या एक प्रश्न यह भी नहीं उठता कि 'मंगरुआ' मेरे व्यक्तिगत दर्शन के प्रभाव में कहाँ है ? साथ ही दूसरा प्रश्न यह भी कि सर्वहारा जीवन की भीड़ में से वह भी एक है न कि वह लाखों में एक ?"

—हिमांशु श्रीवास्तव

पाठकों के विचार

'लोहे के पंख' को साधारण उपन्यास समझ कर मैंने हाथ में लिया था। जब इसके कुछ पृष्ठ पढ़ गया, तब यह मुझे असाधारण प्रतीत हुआ और पढ़ते ही गति धीमी पड़ गई। तब वस्तुतः यह उपन्यास ऐसा नहीं जान पड़ा, जिसे लगे हाथ पढ़ कर समाप्त कर दिया जाय। यह उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा का अधिकारी है। यह इस अर्थ में कि प्रेमचन्द सन् १९३५ तक के किसान-जीवन का सफल चित्रण कर गए हैं और हिमांशु श्रीवास्तव ने बड़ी योग्यता के साथ इससे आगे के काल के किसान और मजदूर जीवन के दर्शन को चित्रित किया है। सचाई तो यह है कि 'गोदान' में होरी के रूप में जहाँ प्रेमचंद का किसान सफल रहा, वहीं मजदूर के रूप में प्रेमचंद के गोदान का 'गोबर' असफल है। इस उपन्यास में लेखक ने, मंगरुआ के रूप में, दोनों के चरित्र-चित्रण में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

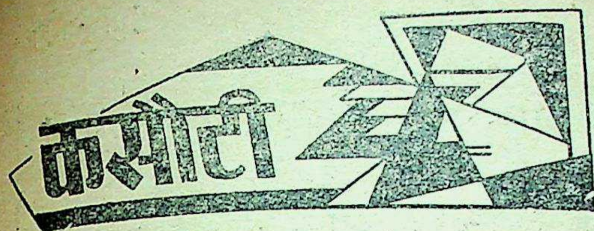
इसमें सन् १९२८ से लेकर १९५२-५३ तक के एक सर्वहारा व्यक्ति का जीवन-दर्शन है। कथा की इतनी बड़ी-लंबी अवधि को पूर्ण संतुलन सहित निभा लेना साधारण प्रतिभा का काम नहीं है। इसका नायक मंगरुआ ऐसा जीवंत पात्र है, जिसके व्यक्तित्व की सत्यता से गला छुड़ाना असंभव हो जाता है। मंगरुआ को क्या कहकर झूठा बनावें, समझ में नहीं आता। प्रथम पृष्ठ से लेकर अंतिम पृष्ठ तक वह मुझे घेरता रहा, उसकी आकृति दीखती रही, उसका जीवन-संघर्ष मेरे तर्क को अतर्क्य करता रहा। जहाँ-जहाँ उसने व्यंग्य किये हैं, वहाँ-वहाँ हृदय ने उसका समर्थन किया। सचाई के सशक्त प्रहार सहने में आनन्द की अनुभूति हुई, विरोध न कर सका। विरोध करने का अर्थ था—सत्य की स्थापना को छलना।

'लोहे के पंख' ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का दिशा-निर्देश किया है, इसमें संदेह नहीं।

—रत्नेश कुमार वर्मा

मुझे 'लोहे के पंख' अत्यधिक रुचिकर लगा। दलित वर्ग का इतना स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण बिरले लेखक ही कर पाते हैं। ग्राम्य-जीवन के एक वर्ग के दर्शन ने मुझे अभिभूत कर दिया। मेरा विरोध लेखक से केवल यह है कि उसका नायक 'मंगरुआ' किसी भी राजनीतिक दल पर आस्था नहीं रखता। वह सब में कुसंस्कार के दर्शन करता है। उसका स्वयं का क्या राजनीति-दर्शन है, वह इसे भी स्पष्ट नहीं कर पाया है। हम मंगरुआ के साथ गाँव के एक चमार के जीवन को देखते हैं। उसे नाचते देखते हैं। नाच में पाउटी काढते हुए दर्शकों की वाहवाही सुनते हैं। मूँछें निकल आने पर नाच-मंडली से छूटते और कारखाने में कुली के रूप में बहाल होते देखते हैं। मजदूर-जीवन में प्रवेश कर उसे मुक्ति के लिए कदम उठाते देखते हैं। हम देखते हैं कि सर्वहारा-विरोधी शक्तियाँ उसके कदम को कमजोर बनाती हैं। और, अंत में

(अगले पृष्ठ के नीचे)



मेरा जीवन-संघर्ष

लेखक—श्री वेद मेहता

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—४.००, पृष्ठ-संख्या ३३२

प्रस्तुत श्री वेद मेहता लिखित आत्म-कथा और उनके जीवन-संघर्ष की अत्यंत मार्मिक कहानी है। श्री मेहता साढ़े तीन वर्ष की उम्र में ही नेत्रहीन हो गए और अपने पिता के प्रयास से उन्होंने विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की। लेखक ने बचपन से लेकर जवानी तक संघर्ष का आलिंगन किया और निराशा के गहन अंधकार में डूब कर आशा का सूरज ढूँढ़ निकाला।

पुस्तक प्रारंभ से अंत तक पठनीय और मननीय है। नेत्र से अंधा किंतु व्यक्तित्व से प्रकाश बिखेरनेवाला व्यक्ति हमारे सामने आ जाता है। एक कुशल उपन्यासकार की शैली में, एक प्रतिभासंपन्न लेखक के रूप में श्री मेहता ने, अपने अनुभवों को चित्रित करने में कमाल किया है।

पुस्तक में एक परिच्छेद 'विवाह की तैयारियाँ' है। मेरी समझ से इस परिच्छेद के बगैर भी लेखक का अभीष्ट सिद्ध हो सकता था। पुस्तक के मूल उद्देश्य से इसका संबंध यों ही जोड़ा-सा लगता है।

लेखक के एक विदेशी मित्र 'के' की आत्म-हत्या और 'मेरी' से लेखक का पवित्र प्रेम-संबंध, मन पर संवेदना की उंगली रखता है। प्रस्तुत आलोचक तो 'मेरी' के प्रति सहज कृतज्ञता के भाव से भर आया। क्या यह 'मेरी' का त्याग नहीं था कि अमरीका की सुशिक्षित एवं श्वेतांग महिला होते हुए भी, उसने एक अंधे भारतीय युवक को प्यार किया।

मैं नहीं समझता कि हिंदी के लेखक ऐसी रचना 'बायें हाथ के खेल के रूप में' प्रस्तुत कर सकते हैं। अब, साथ ही कुछ बुनियादी प्रश्न उठते हैं :—

१. क्या भारत में श्री मेहता की तरह और भी अंधे नहीं हैं, जो उनकी तरह आगे बढ़ सकते?

२. क्या श्री मेहता की उन्नति में उनके पिता का, भारतीय सरकार का सर्वाधिक वेतन-भोगी होना, प्रमुख कारण नहीं रहा?

कुल मिलाकर यह पुस्तक पाठकों से आदर पाने योग्य है। हाँ, एक बात और, प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक ने समीक्षा के लिए जो प्रति भेजी है उसके कई पृष्ठ फटे-चिटे हैं।

पुराना दीया : नई रोशनी

लेखक—सुरेन्द्र कुमार मलहोत्रा

प्रकाशक—मलहोत्रा ब्रदर्स, दिल्ली

मूल्य—३.५०, पृष्ठ सं० १४७,

प्रस्तुत पुस्तक श्री मेहता की तेरह कहानियों का संग्रह है। पाठकों और समालोचकों पर धाक जमाने के लिए लेखक ने 'भूमिका और परिसंवाद' में कमाल की पैंतरेबाजी दिखलायी है। श्री बालस्वरूप राही को पकड़ कर उनसे भूमिका में यह भी लिखवा लिया है कि "यशःप्रार्थी के रूप में हम दोनों का लेखन प्रारंभ हुआ; क्योंकि आर्थिक स्थिति सौभाग्य से हम दोनों की ही बुरी नहीं थी।" श्री मलहोत्रा की आर्थिक स्थिति भले ही मजबूत हो, मगर उनकी कलात्मक स्थिति अत्यंत ही कमजोर है। 'एक परिसंवाद' [illegible] के अंतर्गत लेखक ने बड़े छिछले ढंग से अपनी रचना[illegible] की

(गत पृष्ठ का शेष)

उसे रिक्शा-चालक ही बनना पड़ता है। मंगरुआ राजनैतिक दलों पर विश्वास नहीं करता। वह कहता है,—"साधारण जनता का क्या, जो भी दल उसे सुख का प्रलोभन देगा, वह उसके झंडे के नीचे चली जायगी।"

बात सही है। मगर लेखक को जनता की इस चेतना की ओर इशारा करना चाहिए था कि कोई भी राजनीतिक दल एक आदमी नहीं होता, उसके निर्माण में जनता का ही हाथ होता है। अपने इच्छित दल को सुदृढ़ बनाने में उसे ही योग देना होगा। फिर भी अपने दोषों की अपेक्षा 'लोहे के पंख' अपने में अधिक गुण रखता है और मैं इस असाधारण औपन्यासिक कृति का अभिनंदन करता हूँ।

—अंजनिकुमार सिन्हा



वकालत की है। मगर, प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और दुःख इसलिए नहीं हुआ कि रचनाओं की तुलना में भूमिका : परिसंवाद बनाम पैंतरेबाजी भी कम निर्बल नहीं है।

'सूर्य का जन्म' कहानी थोड़ी अच्छी लगी। 'केप्टन साहब' को लेखक ने कहानी कैसे मान लिया, मेरी समझ में नहीं आया।

श्री मेहता की रचनाएँ अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं। उन्हें अपनी प्रतिभा के बल पर खड़े होने की कोशिश करनी चाहिए।

—मुक्तिदूत

विमर्श (भाषावैज्ञानिक निबंध)

लेखक—युगल

प्रकाशक—नागरी निकुंज, मोहिउद्दीन नगर, दरभंगा

मूल्य—१.५०, पृष्ठ संख्या—८८

हिन्दी भाषा का भाषावैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने में लेखक ने गतानुगतिकता और विभिन्न तद्विषयक निबन्धों की करतनसाजी से कहीं भी काम नहीं लिया है। इस छोटी-सी पुस्तिका में लिपि, लिपि-सुधार, क्रिया और लिंग, सानुनासिक संयोग, प्रत्यय और विभक्ति, कुछ विवादास्पद प्रयोग आदि प्रसंगों पर विद्वत्तापूर्ण पर्याप्त विवेचन है। मानव-विकास के सामाजिक-भौगोलिक प्रभावों के अनुरूप उच्चारण-भेद और वस्तु-प्रज्ञाओं के अनुसार लिपि-चित्रों की उत्तरोत्तर उन्नति, विभिन्न भाषा-भाषियों के हिन्दी में प्रवेश के कारण आई हुई भाषा-भ्रामकता, लिंग और सानुनासिकता के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्तियाँ—इसमें बहुत सुलझे ढंग पर समझाई गई हैं। फिर भी, आश्चर्य है कि इतनी अच्छी पुस्तक की कहीं कोई चर्चा नहीं हो रही है।

धरती रो पड़ी (कहानी-संग्रह)

लेखक—केवल धीर

प्रकाशक—प्रभाती प्रकाशन, पटना-३

मूल्य—१.२५

प्रस्तुत की कहानियाँ संकलन के नाम और भूमिका के बयान के अनुसार केवल गरीबी तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इसके अधिकतर पात्रों की जीवन-नैया में दरिद्रता के छिद्र से होकर रोमांस का पानी पैठ जाता है। 'धरती रो पड़ी' और 'मंगली' के सिवा, शेष कहानियाँ वैसी ही हैं। इन दोनों में भी, किसानों में डाह और मुकदमेबाजी तथा नौकरानी पर चोरी का आरोप—बहुत पुरानी जमीन है। रज्जू चाचा वाली कहानी और किवी वाली कहानी कुछ अच्छी हैं।

पटने में लँहगा, हड्डियों का मुर्र-मुर्र करना, ससुराल में पति के साथ रहते हुए भी तारो का उसे बीमार पड़ गया सुनना, गाँव में खोली का होना—आदि असंगत बातें हैं।

—'लालधुआँ'



सूचनाएँ विज्ञप्तियाँ

विज्ञप्तियाँ

—केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का विचार है कि अहिन्दी-भाषी राज्यों के उन स्कूलों और कालेजों में, जहाँ हिन्दी अनिवार्य या ऐच्छिक रूप से पढ़ाई जाती है, उपयुक्त हिन्दी पुस्तकें निःशुल्क प्रदान की जाएँ। आशा है कि इस प्रकार सावधानी से चुनी हुई हिन्दी पुस्तकें निःशुल्क प्रदान करने से उन क्षेत्रों में हिन्दी के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में और इस प्रकार देश में हिन्दी का प्रचार करने के कार्य में विशेष सहायता मिलेगी। इस प्रयोजन के लिए मन्त्रालय ऐसी पुस्तकें खरीदना चाहता है जिनमें नीचे लिखे गुण हों।

(१) मुख्य विषय सरल, रुचिपूर्ण एवं शिक्षात्मक हो।
(२) पुस्तकें आकर्षक होनी चाहिए जिससे नये पाठकों को पसन्द आयें ; और
(३) पुस्तकों का मूल्य यथासम्भव कम होना चाहिएँ।

इस कार्य में जो पुस्तक-विक्रेता और प्रकाशक दिलचस्पी रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे उपयुक्त हिन्दी पुस्तकों के नाम (पुस्तकों के मूल्य सहित) जो उनके द्वारा छापी गई हैं, ८ अक्टूबर, १६५६ से पहले श्री रामधन शर्मा, विशेष अफसर (हिन्दी), शिक्षा मन्त्रालय, 'एम' ब्लाक, नई दिल्ली को भेजें। यदि आवश्यक समझा गया तो बाद में पुस्तकों की एक प्रति परीक्षा के लिए माँगी जायगी ; माँगी जाने पर पुस्तकों के हर पैकट पर 'निःशुल्क उपहार के लिए हिन्दी पुस्तकें' लिखा होना चाहिए।

उपयुक्त हिन्दी पुस्तकों की सूची भेजते समय प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं को चाहिए कि वे अपने अग्रिम-पत्र में उपयुक्त हिन्दी पुस्तकों की सूची के साथ यह भी बतायें कि यदि पुस्तक चुनी गई तो इकट्ठा सौदा (१०,००० से अधिक प्रतियाँ) करते समय वे इन शर्तों के लिए तैयार होंगे कि :

(i) मूल्य में कमी करेंगे, (ii) विक्रय मूल्य पर कुछ छूट देंगे, और (iii) अहिन्दी भाषी राज्यों की राजधानियों में पुस्तकें भेजने के लिए पैकिंग और किराये का खर्च उठाने को तैयार होंगे।

प्रवर समिति (स्लेक्शन कमेटी) को जाँच के लिए भेजी गई पुस्तकें न तो वापिस ही की जायेंगी और न उनका मूल्य ही दिया जायेगा।

—सर्वसाधारण के सूचनार्थ यह विज्ञापित किया जाता है कि इस साल भी १६५६-६० ई० के लिए शिक्षा प्रसार विभाग अपने पुस्तकालयों के लिए हिन्दी तथा उर्दू पुस्तकों का पूर्ववत् चुनाव करेगा। प्रकाशक, लेखक तथा पुस्तक विक्रेतागण, जो चाहते हैं कि उनकी पुस्तकें इन पुस्तकालयों के लिए चुनी जावें, शिक्षा प्रसाराधिकारी (एजूकेशन एक्स-पेन्शन आफिसर) उत्तर प्रदेश (३६, महात्मा गाँधी मार्ग) इलाहाबाद के पास विचारार्थ प्रत्येक पुस्तक की आठ-आठ प्रतियाँ अधिक-से-अधिक १५ अक्टूबर, १६५६ ई० तक निःशुल्क भेज दें।

सूचनाएँ

—"तास" ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है कि रूस ने १८वीं शताब्दि से अबतक लगभग भारतीय विद्वानों की चार हजार पुस्तकों का अपने यहाँ से प्रकाशन कराया है। इसका पूर्ण विवरण "बिबिलोग्राफी ऑन इण्डिया" में है जो मास्को में 'पूर्वीय साहित्य प्रकाशन गृह' के पास सुरक्षित है। उन प्रकाशित पुस्तकों में जिनकी संख्या १३०० से भी अधिक है भारतीय इतिहास है।

—मिशिगन विश्वविद्यालय में पहली बार इस शरद ऋतु से भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की शिक्षा दी जायगी। यह सूचना डाक्टर ओस्कर एल० चवारिया अगुइला ने दी है।

—आगामी ३ अक्टूबर से ११ अक्टूबर १६५६ तक मिलान में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रण, प्रकाशन एवं कागज संबंधी प्रदर्शन का आयोजन किया गया है।

—डायरेक्टर, एडवरटाइजिंग एण्ड विजुअल पब्लिसिटी की एक विज्ञप्ति में कहा गया है कि श्रेष्ठ छपाई पर पुरस्कार देने की पाँचवी प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रकाशकों एवं मुद्रकों से पुस्तकें आदि आमन्त्रित की जाती हैं। इस संबंध में पूरा विवरण 'बी ब्लाक' कर्जनरोड, नई दिल्ली-१ से प्राप्त किया जा सकता है।

—सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय सेवा विस्तार अञ्चलों के नव-साक्षरों के लिए बुनियादी तथा सांस्कृतिक साहित्य

रचना को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने भारत के साहित्यकारों को निम्नांकित विषयों पर उत्तम पुस्तक के लिए एक-एक हजार रुपये के दस पुरस्कार देने की घोषणा की है। [१] भारतकी सांस्कृतिक एकता (तीन भाग) जैसा कि महात्मा गांधी, श्री जवाहरलाल नेहरू और स्वामी विवेकानन्द के लेखों में संकेत है। [२] सामुदायिक विकास (एक भाग) विषय की पृष्ठभूमि और इतिहास जिसमें योजना की सफलताओं का जिक्र विशेष रूप से किया गया हो। सांख्यक वर्णन के बनिस्वत गुणों के वर्णन पर विशेष जोर देना चाहिए। [३] भारत का इतिहास—(राजनीतिक और सामाजिक, दो भाग) यह श्री जवाहरलाल नेहरू के विश्व इतिहास की झलक के आधार पर कमोवेश होना चाहिए। [४] भारत का भूगोल—दो-भाग। [५] राजनीतिक स्वतन्त्रता संघर्ष का इतिहास—एक भाग। (हर भाग के लिये अलग-अलग पुरस्कार होंगे)। जो लेखक इस योजना में भाग लेना चाहते हों उन्हें पुस्तक दाखिल करने के नियमों आदि की जानकारी के लिए ए० ई० ए० (एस० डबल्यू, २) शिक्षा मन्त्रालय, कमरा, नं० २१ डी, 'आई' ब्लाक नयी दिल्ली—२ के साथ पत्राचार स्थापित करना चाहिये। ३१ अक्टूबर, १६५६ प्रवेश की आखिरी तिथि है।

—राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष व अमेरिका के भू० पू० आचार्य डा० राजूने कहा कि मेरी यह निश्चित मान्यता है कि हिन्दी साहित्यकारों को कुछ समय के लिए कविता, कहानी और उपन्यास साहित्य को महत्व नहीं देना चाहिये। उन्हें अपनी सारी शक्ति विज्ञान, दर्शन; समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र, टेकनोलोजी आदि विषयों के साहित्य-सृजन से हिन्दी-साहित्य के भंडार को समृद्ध करने में केन्द्रित करनी चाहिए।

—जयपुर। राजस्थान संपादक सम्मेलन अखबारी कागज पर से बिक्रीकर हटाने की माँग करेगा।

—काबुल के नागरिक स्वागत समारोह में भारत के प्रधान-मंत्री श्री नेहरू ने अपना भाषण हिन्दी में किया जिसका फारसी अनुवाद साथ-साथ सुनाया गया।

—पूना, २० सितम्बर। मराठा इतिहास के प्रसिद्ध लेखक श्री ग्रांट डफ की अद्वितीय पांडुलिपि प्राप्त हुई है।

—काठमांडू २० सितम्बर। ज्ञात हुआ है कि नेपाल सरकार ने नेपाल के महाकवि स्व० लक्ष्मी प्रसाद देवकोटा के परिवार को ऋण चुकाने और भरणपोषण के लिये २२ हजार रुपये की सहायता देने की स्वीकृति दे दी है। उनके दोनों छोटे बच्चों को वयस्क होने तक १००-१०० रुपये मासिक की वृत्ति मिली है।

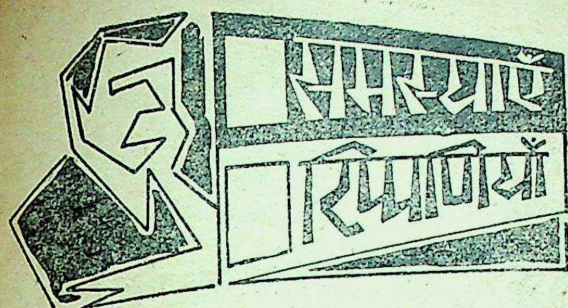
—नयी दिल्ली, १७ सितंबर। पता चला है कि संसार के लगभग एक दर्जन देशों में हिन्दी तथा संस्कृत की पढ़ाई का प्रबन्ध किया जा रहा है।

—हरजीमल डालमिया पुरस्कार समिति ने इस वर्ष तीन पुरस्कार हिन्दी साहित्य पर वितरित किए हैं। ये पुरस्कार डा० मुन्शीराम शर्मा को उनकी रचना 'भक्ति का विकास' पर डा० ओमप्रकाश को उनकी पुस्तक 'हिन्दी अलंकार साहित्य तथा हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य' पर और डा० शिवप्रसाद सिंह को उनकी पुस्तक 'सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य' पर दिए गए हैं। १६५६ की प्रतियोगिता के लिए पुस्तकें भेजने की अन्तिम तारीख ३१ दिसम्बर १६५६ निश्चित हुई है।

—मद्रास, २० सितम्बर। केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्री श्री एस० के० पाटिलने कहा : अंग्रेजी को 'सहायक भाषा' रखने की प्रधान मंत्री की घोषणा से अब हिन्दी को राजभाषा बनाने का विरोध समाप्त हो जाएगा। हिन्दी समृद्ध नहीं है; उसमें साहित्य एवं प्राविधिक शब्दों की भारी कमी है—आदि आलोचनाएँ अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लिये भी उतनी ही ठीक हैं, जितनी हिन्दी के लिए। अँग्रेजी को राजभाषा से इसलिये हटाया जा रहा है कि उसका सर्वसामान्य जनता से सम्बन्ध नहीं है।

नयी दिल्ली, १६ सितम्बर। सर्वोत्तम छपाई तथा डिजाइन के लिए पुस्तकों, दैनिक पत्रों, पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकाशनों को पुरस्कार देने के लिए पाँचवीं राजकीय पुरस्कार-प्रतियोगिता इस वर्ष नवम्बर मास के अन्त तक होगी। इस प्रतियोगिता का आयोजन सूचना तथा प्रसार मंत्रालय की ओर से प्रतिवर्ष किया जाता है। इस सिलसिले में प्रकाशकों, मुद्रकों, विज्ञापन एजेंसियों तथा व्यापारिक आर्ट स्टूडियो से प्रवेशपत्र आमन्त्रित किए गए हैं।





राजाजी और हिन्दी

हिन्दुस्तान की राजनीति गंदगी की हद से आगे गुजर गयी है। समय-समय पर इसके नमूने सामने आते रहते हैं। अभी हाल में ऐसा ही एक नमूना श्री राजगोपालाचारी के हिन्दी विषयक विचारों को लेकर सामने आया है। प्रारम्भ से ही राजाजी की राजनीति दाकियानूसी रही। वह वर्ग और जाति-स्वार्थ से बँध कर चलती रही है। किन्तु, गाँधीजी के प्रभाव में पड़कर आजादी की लड़ाई के दिनों में उन्होंने अंग्रेजी की मुखालिफत और भारतीय भाषाओं का समर्थन किया। १२ फरवरी, १६२८ को हिन्दी प्रचार पुस्तकमाला, नम्बर ७ की भूमिका में उन्होंने लिखा : "यदि हम चाहते हैं कि हमारा जनतंत्र वास्तविक हो, केवल पढ़े-लिखे लोग ही शक्ति की जगहों पर नियुक्त न हों, और वे अपने व्यवहार से जनता से अलग न रहें; तो लोक-नियंत्रण को वास्तविक बनाने के लिए उसे राजभाषा जरूर बननी चाहिए जो बहुमत की भाषा हो। इस हालत में हिन्दी केन्द्रीय सरकार, विधायिकाओं और प्रदेशीय सरकारों के आपसी व्यवहार की भाषा निश्चित-रूप से होगी।...हिन्दी की वकालत मातृभाषा की उपेक्षा नहीं है। हिन्दी का महत्त्व केवल इतना है कि यह देश की सम्भव राजभाषा है, और दक्षिण के लोगों को इसे सीखना चाहिए। इससे मातृभाषा की उपेक्षा हो, ऐसा न तो हिन्दी कर सकती है और न उसे करना ही चाहिए। इसमें मातृभाषा की केवल इतनी उपेक्षा है जितनी नागरिक कर्त्तव्यों के पालन से घर के प्रति होती है।"

देश आजाद हुआ। पन्द्रह साल तक वनवास देकर ही सही, संविधान-परिषद् ने हिन्दी को केन्द्रीय सरकार की राजभाषा बनाने का निर्णय किया। १६४७ से १६५४ तक का समय राजाजी के राजनीतिक प्रभाव के धीरे-धीरे घटने का समय था। केन्द्रीय मंत्रिमंडल से हट कर राजाजी हिन्दुस्तान के दूसरे गवर्नर जनरल बने, फिर मद्रास राज्य के मुख्य मंत्री और अन्त में सरकार के पेन्शनयाफ्ता। तमिलनाड में द्विज-नेतृत्व को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए संगठन के स्तर पर कॉंग्रेस-सुधार-समिति की स्थापना हुई और उसके साथ ही राजाजी ने 'ब्राह्मण-अब्राह्मण' को 'उत्तर-दक्षिण'-विरोध में बदलना चाहा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अचानक उनके मन में अँगरेजी के प्रति असीमित प्रेम उमड़ आया और हिन्दी जनतांत्रिक व्यवहार का माध्यम न रह कर साम्राज्यवादी भाषा बन गयी। जनतंत्र के बारे में भी राजाजी के विचारों में बड़ा परिवर्तन आ गया। अगस्त १६५८ में हैदराबाद में हुए भाषा सम्मेलन में उन्होंने साफ कहा कि हिन्दी तो बेपढ़ों की भाषा है। हिन्दी को राजभाषा बनाने से देश में बेपढ़े लोगों का राज हो जाएगा।

इधर बम्बई में पत्रकारों ने जब राजाजी से नयी 'स्वतंत्र पार्टी' की भाषा विषयक नीति के बारे में प्रश्न किया तो राजाजी का उत्तर था कि हिन्दी के सम्बन्ध में स्वतंत्र पार्टी अपनी नीति स्वयं बाद में निर्धारित करेगी।

इस नयी कलाबाजी का कारण क्या है? स्पष्टतः, राजाजी नहीं चाहते हैं कि स्वतंत्र पार्टी को खुल्लमखुल्ला अँगरेजी-परस्त बनाकर वे बहुसंख्यक लोगों के मन में अपनी पार्टी के प्रति क्षोभ उत्पन्न करें।

—'चौखंभा', संपादकीय, ता० १६ जुलाई ५६



पुस्तक-व्यवसाय : चरित्र और सिद्धांत

अपने देश में और इधर हिन्दी में भी, पुस्तकों के प्रकाशकों और विक्रेताओं के अच्छे-खासे संगठन जारी हैं। पुस्तक-प्रकाशकों और विक्रेताओं के उद्योग को, व्यवसाय-वाणिज्य से अधिक, रचनात्मक कार्य ही कहा जाना चाहिए; क्योंकि इस व्यवसाय में, अन्य व्यवसायों के समान व्यावसायिक वृत्ति प्रमुख नहीं हो सकती। इसके कई कारण भी हैं। खासकर अपने देश में तो वे कारण और भी स्पष्ट हैं कि (१) इस उद्योग में अधिकतर घरेलू स्तर की साधारण पूँजी से काम लिया जाता है (२) इसके ग्राहक दैनिक आवश्यकता की चीजों के ग्राहकों के समान एक ही चीज को बार-बार नहीं खरीदते (३) इसे लेखकों और जनता के बहुमुखी विचारों की खुली माँग के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण, किसी सत्ता के लाभात्मक प्रभाव से अक्सर अलग रहना पड़ता है। इन्हीं-कुछ कारणों से यह व्यवसाय से अधिक रचनात्मक कार्य बना रहता है और ऐसे बने रहने के लिए यह मजबूर भी है। हाँ, इसमें यदि कुछ व्यवसाय की मात्रा है भी, तो वह है केवल अपनी साधारण जीवनेच्छा के ही प्रसंग में। यह जीवनेच्छा भी, व्यक्तिगत स्वभाव के आधार पर होने के बावजूद, यदि आज सामाजिक-सामूहिक रूप में संगठन के बतौर उपस्थित हो रही है, तो उसका भी कारण उसके स्वार्थों के विरुद्ध कुछ शासकीय दबाव या हस्तक्षेप ही है। मसलन्; कुछ राज्यों में पुस्तकों पर बिक्री-कर आदि, सरकारी खरीद में कमीशन या छूट की माँग और साथ ही पुस्तकों को सस्ते दर में बेचने के लिए सरकारी दबाव भी, पुस्तक-प्रकाशन सम्बन्धी सामानों की मँहगाई और तंगी—इत्यादि। इन सब दिक्कतों के सिवा सबसे बुरी बात तो सरकार का वह भाव है—जिसके द्वारा वह इसे कतई रचनात्मक नहीं मानकर, इसके साथ अन्य व्यापारों-वाणिज्यों-जैसा सलूक करती है। इस व्यापार पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तेजी-मंदी का प्रभाव उतना अधिक नहीं अखरता है, जितना कि अपनी देशी सरकारों के राजनीतिक स्वार्थों द्वारा डाली गई विचारों की पाबन्दी और तदनुसार सरकारों द्वारा पक्षपाती प्रोत्साहन-सम्वर्धन। हम यह मानते हैं कि तात्कालिक आर्थिक निबाह के लिए आई हुई छीना-झपटी में, अपने देश के प्रकाशक और विक्रेता तथा पुस्तक-व्यवसाय से संबंध रखनेवाले शेष लोग, अपने इस स्थायी और रचनात्मक चरित्र को भूल-से गए हैं। किन्तु, किसी को भी यह विश्वास रखना चाहिए कि इस व्यवसाय को, बिना किसी बाहरी प्रभाव या दबाव को झेलनेवाले अपने स्थायी रचनात्मक चरित्र पर ही, जीना पड़ेगा। इस सम्बन्ध के अपने पहलेवाले मतों में भी हमने इस ओर काफी कहा है। और, अब सिद्धान्त के तौर पर पुनः हमें कहना है कि—हमारे इस व्यवसाय के जीवन के लिए यह आवश्यक है कि : (१) शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण न हो। (२) सिवाय व्यावसायिकों के, किसी को कमीशन नहीं दिया जाय और (३) इस व्यवसाय के लोग इकट्ठे होकर अपने मालों का विभिन्न स्तरों और योग्यताओं के अनुसार दर बाँध लें, ताकि उनमें से कोई ; बाहरी सहायता, सरकारी छूट और खरीद के कारणों से ; दूसरों के लिए बाजार खराब न कर सके।

पुस्तक-जगत-परिवार नेपाली वाङ्मय के महाकवि देवकोटा और हिन्दी हास्य-कथा के लेखक सरयू पंडा गौड़ के निधन पर शोक प्रकट करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित करता है, परमेश्वर से उनकी आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना करता है और उनके शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति अपनी संवेदना निवेदित करता है।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग

पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

आपके पुस्तकालय के लिए कुछ बालोपयोगी अनमोल पुस्तकें

[बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा प्रकाशित बाल-ग्रंथ-सूची में विशिष्ट रूप से स्वीकृत]

माध्यमिक (मिडल) विद्यालयों के लिए

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१२	३०	मुर्दों के देश में	ललित मोहन	२.५५ (४)

प्राथमिक (प्राइमरी) विद्यालयों के लिए

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक	लेखक	मूल्य
६५	२०६	अनोखी कहानियाँ	ललित मोहन	.६२ (४)
७७	२४२	चरवाहा और परी	श्रीवास्तव, हिमांशु	.६२ (४)
७८	२४६	दिलचस्प कहानियाँ	देवी, कृष्णा	.४० (४)



बच्चों को खेल-ही-खेल में अक्षराभ्यास करा देने वाली अद्वितीय पोथी

नूतन वर्ण विन्यास

मूल्य :: ३७ नए पैसे



एजुकेशनल पब्लिशर्स, पटना-४

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित।

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

सम्पादक : अखिलेश्वर पाण्डेय

[प्रकाशन का छठा वर्ष]

दिसम्बर, १६५६ : अंक ४

शिक्षा और साहित्य का राष्ट्रीयकरण नितान्त वांछनीय है

श्री शंकर सूद

शिक्षा के सवाल को, पता नहीं क्यों, शेष समस्याओं से अलग कर सोचने की आदत चल पड़ी है। हमारे देश के शिक्षित, जिस प्रकार अपने को अशिक्षित जनसाधारण से अलग कर सोचा करते हैं, यह भी उसी प्रकार की एक छूत की बीमारी है। शिक्षा यदि जीवन के लिए एक आवश्यक साधन है, तो वह जनसाधारण की चीज न होकर, जनविशेष की चीज क्यों हो? इसे जनविशेष की चीज के बतौर चाहनेवाले ही, अपने को जनविशेष मानकर, इसके राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हैं; जैसे कि वे धन-सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का विरोध करते रहे हैं। यदि शिक्षा व्यक्तिगत विचार-आचार या व्यक्तिगत रसबोध से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय रसबोध के प्रति अभिमुख हो, तो यह तो संकीर्णता से उदारता की ही ओर अग्रसर होने की बात होती है। आखिर मनुष्य जब सामाजिक, अर्थात् जातीय, अर्थात् राष्ट्रीय जीव है; तो शिक्षा क्यों न राष्ट्रीय हो? विदेशी कुसंस्कार, झूठ आदि इसी 'शिक्षा का राष्ट्रीयकरण न हो' के नारे की तह में ही तो पनपते हैं। यह हुई बुनियादी बात।

अब जरा अमली तौर पर सोचा जाय। यह बात अवश्य है कि राष्ट्रीय हित के प्रति सचेत शिक्षा में व्यक्ति की अपनी चिन्ता थोड़ी-बहुत दब जाती है। मगर इस दब जाने को किस रीति-नीति, ऋषि-मुनि और समाजशास्त्री ने बुरा कहा है? राष्ट्रीयकरण को बुरा कहनेवालों का, इस विषय में, केवल इतना ही अर्थ रहता है कि राष्ट्र के मौजूदा तंत्र के ढंग पर राष्ट्रीयकरण न होकर, उनके तंत्र के अधीन राष्ट्रीयकरण हो। मनु और अरस्तू के तंत्र, शिक्षा का राष्ट्रीयकरण नहीं चाहते हैं—इस बात पर, मनु और अरस्तू को पढ़ा हुआ कोई व्यक्ति शायद ही विश्वास करे। बल्कि मनु और अरस्तू के शिक्षा-तंत्रों के विषय में यहाँ तक कहा जा सकता है कि वह राष्ट्र या जाति के हित में फौजी अनुशासन तक पहुँच जाता है। विदेशी नकल या गुलामी को रोकने में राष्ट्रीयकृत शिक्षा ही सर्वसम्पन्न साधन हो सकती है—इस बात को, राष्ट्र पर गुलामी या सांस्कृतिक विपत्ति आने पर, शिक्षा का राष्ट्रीयकरण न करने की बात करने वालों ने भी बड़ी तेजी से अनुभव किया और कहा है। विपत्तियों से आँख मूँद कर, शिक्षा के नाम पर, सबको अलग-अलग दफली बजाने की आजादी दे देने की बात करना, एक गफलत ही है।

व्यक्ति को बोलने की और विचार बनाने की आजादी दी जा सकती है, मगर उसके विचार के अनुसार सारा देश सोचने और करने लगे, इसके लिए कोई कानून कैसे बनाया जा सकता है? हाँ, जो जनमत के आधार पर सत्तारूढ़ दल है, वह जन-साधारण के वाजिब प्रतिनिधित्व के नाते, एक राष्ट्रीय शिक्षा को जनसाधारण पर जारी करे, तो इसमें कौन-सी अजनतांत्रिक बात हुई—यह समझ में नहीं आता। यदि ऐसी सत्तारूढ़ सरकार अपने राष्ट्र और जाति की सुरक्षा के हित में, बाकी उद्धत राष्ट्रों के मुकाबले, अपने सारे देश को एक सैनिक अनु-शासन में तैयार करना चाहती है—तो इसका विरोध करना; फकीराना वाहियाती या विदेशी दलाली के सिवा, और क्या है?

हाँ, अपने देश में, आधे मन और एक फैशनेबुल तरीके से शिक्षा का जो राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है, वह तो और भी राष्ट्रघाती है। मसलन, एक ओर विदेशी मिशनरियों की आड़ में विदेशी संस्कृति और विदेशी तरफदारियों के रईसाना राष्ट्रद्रोही स्कूल और दूसरी ओर राष्ट्रीयकरण के नाम पर देशी पाठशालाओं द्वारा गरीबी के दलदल का निर्माण तथा विदेशी प्रकाशनों को देश का दीमाग बिगाड़ने की बेलगाम छूट और देशी प्रकाशनों को ओछा दिखाने की साहबी आदत। ऐसे दुर्गुणों को खत्म कर, शिक्षा में एक सर्वसामान्य राष्ट्रीय सद्गुण को जारी करना और राष्ट्र के लोगों को यहाँ तक तैयार रखना कि बाहरी हमलों के समय वे सैनिक अनुशासन के साथ सबक सिखाने के लायक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक विकास कर सकें—यह काम तो शिक्षा के राष्ट्रीयकरण से ही हो सकता है। आवश्यकता है कि ऐसी स्थिति के लिए या तो शिक्षा का राष्ट्रीयकरण करना होगा, अन्यथा संसार के समक्ष अपने आप को असहाय बनाकर रख देना पड़ेगा।

संयुक्त हिन्दी प्रकाशक : कमीशन-नियमन
एक दुःसाध्य रोग : साधारण चिकित्सा



श्री दयानन्द वर्मा

"पुस्तकें मुद्रित मूल्य पर बिकें।"

"कमीशन पर अधिकार केवल विक्रेता का हो।"

ये माँगें उचित भी हैं और इन पर अर्से से विचार भी किया जा रहा है। किन्तु कमीशन माँगने और देने का रोग भारतीय पुस्तक-व्यवसाय को इस बुरी तरह चिमट गया है कि छूटने का नाम नहीं लेता।

कुछ मास पूर्व थोड़े से प्रकाशकों ने "संयुक्त हिन्दी प्रकाशक" नामक संस्था का स्थापन करके इस रोग की रोक-थाम का प्रयत्न किया किन्तु स्थिति सुधरती दिखाई न दी, क्योंकि कमीशन का रिवाज रूढ़ि का रूप धारण कर चुका है। उसे समाप्त करने के लिए जितना सख्त कदम उठाने की आवश्यकता थी, यह संस्था उतना भी सामर्थ्य नहीं रखती थी।

कारण ?

१—इस संस्था से सम्बद्ध प्रकाशक, सदस्य संख्या में बहुत थोड़े थे। भारत भर के प्रकाशकों के दसवें भाग से भी कम। इतने थोड़े प्रकाशक अधिक कमीशन देनेवाले विक्रेताओं का हुक्का-पानी बन्द नहीं कर सकते थे।

२—उन्होंने जो नियम बनाए वह छोटे-छोटे विक्रेताओं का मनोविज्ञान समझे बिना बनाए।

यही कारण था कि यह संस्था कुछ सौ विक्रेताओं का पंजीकरण करने के अतिरिक्त और कुछ न कर पायी।

आइए, पहले हम विक्रेता का मनोविज्ञान समझें। उसके बाद ही कमीशन रूपी रोग की कोई अचूक चिकित्सा सोची जा सकती है।

यह सीधी-सी बात है कि दूकान पर आए हुए ग्राहक को खाली जाने देने के समय साधारण विक्रेता किसी नैतिक नियम पर स्थिर नहीं रह सकता। बड़े-बड़े प्रकाशकों की बात छोड़ दीजिए। उनकी चमक-दमक-पूर्ण दूकानों पर तो वैसे ही ग्राहक मूल्य चुकाने की हिम्मत नहीं करता। यदि करे भी तो उन्हें छोटे-मोटे ग्राहक के चले जाने की परवाह नहीं होती। ऐसे विक्रेता या प्रकाशक संख्या में बहुत थोड़े हैं। अधिक संख्या है छोटे-छोटे विक्रेताओं की, जिनकी दूकानों पर ग्राहक में मूल्य चुकाने का साहस होता है और जो प्रातः से सायं तक ग्राहक की बाट जोहते हैं। ग्राहक आता है। पुस्तकें निकलवाता है। फिर कमीशन के सवाल पर पुस्तकें छोड़ कर चला जाता है। उस समय विक्रेता सोचता है कि ग्राहक को तो पुस्तकें कहीं-न-कहीं मिल ही जाएँगी, फिर क्यों न वह ही अधिक कमीशन देकर ग्राहक को पटा ले। 'सारा धन जाता दीखे तो आधा दीजे बाँट' की कहावत पर अमल करता हुआ वह ग्राहक को बुलाकर पुस्तकें दे देता है।

हमारे व्यवसाय में ऐसे विक्रेता बहुत कम हैं जो ग्राहक को पुस्तक का गुण बताकर कायल कर सकें। उनके पास ग्राहक को आकर्षित करने का एक ही उपाय होता है—कमीशन का लालच। यह बहुत घटिया उपाय है अपना माल बेचने का, किन्तु अब यह इतना व्यापक हो चुका है कि जो दूसरा विक्रेता इस उपाय को घटिया समझता है, वह भी इसे अपनाने पर मजबूर हो जाता है।

और, ग्राहक का मनोविज्ञान भी समझ लेना अच्छा होगा। हर व्यक्ति अपने पैसे का पूरा-पूरा बदल चाहता है। यदि उसे चुका कर खरीदने में रियायत मिल सकती है, तो वह क्यों न चुकाए ? उसकी चुकाने की आदत तबतक नहीं टूट सकती जबतक कि वह दस-बीस दूकानों से निराश न हो।

एक और बात ग्राहक की समझ में नहीं आती। एक विक्रेता के यहाँ उसने कुछ पुस्तकें ५० प्रतिशत की देखी थीं। वह चाहेगा कि उसे सभी पुस्तकें उसी कमीशन पर मिलें। अंत में उसे विश्वास तो करना होगा कि सभी धन पंसेरी के भाव नहीं बिकता। किन्तु उसे यह विश्वास आएगा तब, जबकि वह दो-चार विक्रेताओं को निराश कर चुकेगा।

व्यवसाय में किसी चमत्कार के घटित होने तक सभी पंजीकृत विक्रेता अपने ग्राहकों को खाली लौटाते रहेंगे। वह बात पंखे के नीचे, सोफे पर बैठकर विधान बनाते समय तो व्यावहारिक जान पड़ती है, किन्तु वास्तविकता से दूर है।

ग्राहक की कमीशन माँगने की, और विक्रेता की कमीशन द्वारा ग्राहक को आकृष्ट करने की, आदत तोड़ने के लिए कोई

ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कि ग्राहक को 'किसी दशा में' कमीशन पर पुस्तकें न मिल सकें।

"संयुक्त हिन्दी प्रकाशक" ने इस पुरानी आदत को तोड़ने के लिए जो नियम बनाए, उनका सार यह है :—

"किसी पुस्तक-विक्रेता को, ५) देकर एक फार्म पर हस्ताक्षर किए बिना, पूरे कमीशन पर पुस्तकें नहीं मिल सकतीं। वह विक्रेता, ग्राहक को अधिक-से-अधिक ६। प्रतिशत, लायब्रेरी को १२॥ प्रतिशत और १० से अधिक प्रतियाँ एक साथ सरकारी संस्थान को देते समय २० प्रतिशत से अधिक कमीशन नहीं दे सकता। पूरा कमीशन केवल विक्रेता को दे सकता है, वह भी ५) लेकर वैसे फार्म पर हस्ताक्षर करा कर, जिस पर कि वह स्वयं कर चुका है।"

ऐसे फार्मों पर हस्ताक्षर करा कर उक्त संस्था ने 'ढेरों' पंजीकृत विक्रेता बना डाले और उन विक्रेताओं की बढ़ती हुई संख्या को वह अपने मिशन की सफलता समझ बैठी।

संस्था के आरम्भिक काल में हिन्दी भवन जालंधर के श्री नारंगजी ने इस पंजीकरण-पद्धति को 'पिस्तौल दिखाकर हस्ताक्षर कराने' का नाम दिया। वास्तव में देखा जाय तो उन्होंने सीधी बात को सीधे ढंग से न कहकर जासूसी ढंग से कहा था। विक्रेताओं ने पंजीकृत होते समय केवल इसलिए उन फार्मों पर हस्ताक्षर किये थे, कि ५) देकर वह संस्था के सदस्यों से केवल पुस्तकें पाने का पासपोर्ट प्राप्त कर रहे हैं।

पंजीकृत विक्रेताओं की हजार को छूती हुई संख्या यदि किसी संस्था के सफल होने का प्रमाण बन सकती है तो इस दृष्टि से वह संस्था सफल हो चुकी थी। उसे दूसरा सहारा ढूँढने के लिए किसी संघ में विलयन करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु संस्था के चालक मन-ही-मन जानते थे कि स्थिति सुधरी नहीं थी। और-तो-और, इस संस्था के कुछ चालक स्वयं उन्हीं कमजोरियों के शिकार थे, जिनके कि छोटे विक्रेता। अन्तर केवल यही था कि छोटा विक्रेता १०) के ग्राहक पर अपना ईमान बिगाड़ देता, तो बड़ा विक्रेता हजारों के ग्राहक पर। बिल कम-कमीशन का बनाया जाता और शेष अन्तर क्रैडिट-भाऊचर के रूप में दे दिया जाता।

जब कभी कोई विक्रेता दो-चार सौ की पुस्तकें निकलवाता और फार्म पर हस्ताक्षर न करना चाहता, तो वे, उसे निकली हुई पुस्तकें छोड़ कर नहीं जाने देते, अपितु उसे एक और उपाय सुझा देते—"अच्छा भई, आपकी ओर से पाँच रुपये हम जमा कर देते हैं। आप केवल फार्म पर हस्ताक्षर कर दें। आगे चाहे जैसे बेचें। कौन देखता है। हमें तो खानापूरी करनी है।"

इस प्रकार की घटनाओं के पीछे एक ही विचार काम करता है कि चलते हुए ग्राहक को जाने देना बड़ा जोखट का काम है। पंजीकरण-पद्धति इस रोग का इलाज नहीं बन सकती।

कल तक यदि यह होता रहा है तो आने वाले कल को किसी लायब्रेरी के अध्यक्ष को यह सलाह भी दी जा सकती है—"भई, हम लायब्रेरी को तो १२॥ प्रतिशत से अधिक दे नहीं सकते। हम ही नियम बनानेवाले हैं, हम कैसे तोड़ दें! हाँ, एक उपाय हो सकता है–आप व्यक्तिगत रूप से हमारी संस्था से पंजीकृत हो जाएँ। हम बिल आपके नाम का काट देंगे। आगे आप अपनी लायब्रेरी से स्वयं निबट लें। हमारा भी

काम बन गया, साथ में आपका भी। साँप मरे ना लाठी टूटे।"

ये सम्भावनाएँ हो सकती हैं, जिनके बारे में यदि विधान बनाने से पहले सोच लिया जाए, तो बाद में नियम टूटने की आशंका कम हो जाती है। एक और सम्भावना लीजिए :—

एक विक्रेता पाँच रुपये देकर संस्था से पंजीकृत हो जाता है। उसके बाद वह हजार-दो-हजार का ग्राहक मनमाने कमीशन पर पटा लेता है। यदि पता चल गया, तो क्षमा-याचना। यदि क्षमा नहीं भी किया गया, तो वह कल दूसरे नाम से पाँच रुपये जमा करा देगा। इस प्रकार का कृत्य करके कोई भी एक व्यक्ति, संस्था के सारे किए-कराए पर पानी फेर सकता है। वह व्यक्ति मैं, आप या अन्य कोई भी हो सकता है।

उस व्यक्ति को कसूरवार ठहराने से अच्छा तो यह है कि विधान में ऐसी आड़ या दरार रखी ही न जा सके जिससे कि कोई व्यक्ति गलत काम कर सके। कहा जाता है कि मुंडेर पर बैठ कर आलोचना करने के बजाय, इस संस्था को अपना सक्रिय योग दिया जाए, जो कमियाँ हैं उनको बताया जाए, ताकि उन्हें दूर करके विधान को अधिक व्यावहारिक रूप दिया जा सके। किन्तु यह सब कहने की बातें हैं। मैंने अ०भा० हिन्दी प्रकाशक संघ का संशोधित विधान देखा है। एक अर्से से 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' के पुराने नियमों में निम्नलिखित संशोधन करने के बारे में, प्रकाशन-व्यवसाय सम्बन्धी पत्रों में, यह बातें छपती रहीं :—

—कि ६। प्रतिशत की शर्त खत्म की जाए।

—सरकारी आर्डर पर २० प्रतिशत की शर्त भी खत्म की जाए।

—मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड स्थिर किया जाए।

किन्तु नये विधान में यह तीनों बातें ज्यों-की-त्यों कायम हैं। हाँ, ६। प्रतिशत कीमशन की व्याख्या करते हुए 'विशिष्ट तथा अनिवार्य परिस्थिति' जैसे शब्द बढ़ा दिए गए हैं। यदि 'विशिष्ट तथा अनिवार्य परिस्थिति' की भी व्याख्या कर दी जाती तो और अच्छा था, वरना साधारण विक्रेता तो सबसे अधिक विशिष्ट तथा अनिवार्य परिस्थिति वह समझेगा जब ग्राहक छपे मूल्य पर पुस्तक खरीदने से इन्कार कर देगा और चलने लगेगा।

'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' का अ०भा० हिन्दी प्रकाशक संघ में विलयन हो चुका है। कार्य-समिति के कुछ सदस्यों ने बैठ कर विधान में इतने महत्वपूर्ण संशोधन भी कर डाले हैं। भारत के पुस्तक-व्यवसाय के भाग्य का निर्णय करने के लिए भारत भर के सभी सदस्यों को बुलाने की आवश्यकता भी नहीं समझी गयी। बने-बनाए प्रस्ताव 'संयुक्त हिन्दी-प्रकाशक' के पदाधिकारियों ने संघ के पदाधिकारियों के (जोकि वे स्वयं हैं) समक्ष रखे और पास कर दिए गए। विक्रेताओं के आँसू पोंछने के लिए ८ विक्रेता भी नामजद कर दिए गए। नामजद करनेवाले भी वही पदाधिकारी।

क्या ही अच्छा होता यदि यह महत्वपूर्ण कदम जनरल असैम्बली में विचार व्यक्त करने के बाद उठाया जाता। उससे अच्छी बात तब होती जबकि किसी सेमिनार का आयोजन किया जाता, जिसमें संघ के सदस्य तथा बाहर के विक्रेता-प्रकाशक मिलकर सोचते। यदि सेमिनार इतनी जल्दी नहीं बुलाया जा सकता था, भारत भर के प्रकाशक-विक्रेताओं को को इतने शीघ्र इकट्ठा नहीं किया जा सकता था, तो कुछ मास और इस 'विलयन' को रोका जा सकता था। 'संयुक्त हिन्दी प्रकाशक' आखिर 'सफलतापूर्वक' इस कार्य को बढ़ा ही रहा था। कुछ मास और बढ़ाता रहता तो कौन आफत आ जाती?

लेकिन मालूम होता है कि, अधिकारियों के विचार से, आफत आ सकती थी। जनरल असैम्बली में शायद उनकी न चल सकती, या नये निर्वाचन होने के बाद पदाधिकारी बदल जाने पर सम्भवतः संघ का विलयन न होता, इसलिए उन्होंने इन उपयुक्त परिस्थितियों में यह काम कर डालना श्रेष्ठ समझा और १६ व्यक्तियों को भारत के पुस्तक-व्यवसाय का प्रतिनिधि मानकर यह काम कर डाला।

यदि देखा जाय तो यह संघ भारत के बहुत थोड़े प्रकाशकों का प्रतिनिधित्व करता है। अब, जबकि संघ ने वार्षिक चन्दा २५) रु० से बढ़ाकर ५०) कर दिया है, तो और भी प्रकाशकों की छँटाई होने की सम्भावना है। अधिकारियों का प्रयत्न तो सौ रुपया वार्षिक करने का था, ताकि कोई छोटा प्रकाशक रह ही न जाय, थोड़ी संख्या में केवल बड़े-बड़े रह जाते, जो फारमूसा सरकार की भाँति स्वयं को चीन की वैधानिक सरकार कहते। किन्तु यह बात चल न सकी, क्योंकि कार्य-समिति में ही कुछ सदस्य ऐसे निकल आए, जिन्होंने कम-से-

कम इस मामले का विरोध करना आवश्यक समझा, वह भी इसलिए कि यह धारा सीधे प्रकाशक की जेब पर चोट करती थी।

वार्षिक शुल्क बढ़ाने का कारण यह बताया जाता है कि संघ का खर्च चलाने के लिए उसका पर्याप्त कोष होना चाहिए। किन्तु इसका आशय यह भी समझा जा सकता है कि अल्प-पूँजी के सदस्यों को संघ से निकालने के लिए यह कदम उठाया जा रहा है कि कहीं छोटे-छोटे प्रकाशक अधिक संख्या में भरती होकर अधिकारियों को मनमानी करने से रोक न दें, कहीं विरोधी पक्ष को मजबूत करके वर्तमान पदाधिकारियों को पदों से वंचित न कर दें।

संस्था के संघ में विलयन होने के साथ ही एक नयी धारा प्रकाश में आयी है। वह यह कि १५ अक्टूबर के बाद संघ के सदस्य तथा उसके पंजीकृत विक्रेता, संघ से बाहर के प्रकाशकों को विक्रय में कोई सहयोग नहीं देंगे।

जहाँ तक संघ के प्रमुख सदस्यों का मामला है, वह तो १५ अक्तूबर से पूर्व भी कोई सहयोग नहीं दे रहे थे। बाकी रहा सैकड़ों पंजीकृत विक्रेताओं का सवाल, वे भी निश्चितरूप से इस धारा पर अमल करेंगे ही—इस बात में संदेह है।

गोया, अब विक्रेता को संघ से संबद्ध करने के साथ, उस पर यह जिम्मेवारी डाली जा रही है कि वह इन चन्द प्रकाशकों के अतिरिक्त और किसी का प्रकाशन ही न बेचे। यदि इस बात की सख्ती से चैकिंग की गयी, तब तो विक्रेता को दो-राहे पर खड़ा होकर सोचना होगा कि वह संस्था से सम्बद्ध रहे या स्वतंत्र। हाँ, यदि यह बात विधान की शोभा बढ़ाने के लिए है, यानी उसकी कोई चैकिंग नहीं होगी, तो फिर कोई हर्ज नहीं; पंजीकृत सदस्यों की संख्या और भी बढ़ेगी।

इस धारा के कारण एक और नयी बात पैदा होने की भी सम्भावना है। अब तक तो प्रकाशकों के दो वर्ग थे। एक संस्था से संबद्ध, दूसरे तटस्थ। अब संघ की ओर से असहयोग आन्दोलन चलने के कारण तीन वर्ग बनने की सम्भावना हो गयी है—

१—सम्बद्ध २—तटस्थ ३—विरोधी

संस्था अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए यह उलटे-सीधे नियम बना रही है, जोकि सैद्धांतिक हैं, व्यावहारिक

नहीं। किंतु वह ठण्डे दिल से यह जानने का प्रयत्न नहीं करती कि अबतक यदि वह सफल नहीं रही तो क्यों नहीं रही? क्या कारण है कि विक्रेता-प्रकाशकों के लिए लाभदायक उद्देश्य बनाने वाली यह संस्था केवल पंजीकृत विक्रेता ही बना पाई है, प्रकाशकों का बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी?

जहाँतक मैं समझता हूँ उसके निम्नलिखित कारण हैं—

१—संस्था के संचालकों ने स्वयं को बहुत महत्त्वशाली समझा। उन्होंने प्रकाशकों के बहुमत की उपेक्षा करते हुए एक संस्था का स्थापन कर डाला।

२—संस्था के संचालकों की मनमाना करने की प्रवृत्ति अधिक प्रकाशकों को पसंद नहीं आयी और उन्होंने इसके पदाधिकारिओं को तटस्थ नहीं समझा।

३—विक्रेताओं को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। उनकी आवश्यकताओं को कुछ नहीं समझा गया।

यही कारण थे कि यह संस्था कुछ सौ विक्रेताओं को पुस्तकें खरीदने के पासपोर्ट देने के अतिरिक्त कुछ न कर सकी।

वह कुछ कर सकी या नहीं यह प्रश्न नहीं है। ऐसा होना अवश्य चाहिए—यह बात इस व्यवसाय में पूँजी लगाने वाले सभी लोग चाहते हैं। यह एक ऐसा रोग है, जिसका समूल नाश होना चाहिए। किन्तु रोग का निदान केवल कुछ प्रकाशक न करें, अपितु देश भर के सभी विक्रेता और प्रकाशक मिलकर करें।

ग्राहक बिना कमीशन पुस्तकें खरीदने के लिए तैयार है, पुस्तकालयों को भी बिना कमीशन या कम कमीशन पर क्रय करने के लिए तैयार किया जा सकता है, किन्तु केवल उस दशा में जबकि उन्हें कमीशन पर एक भी पुस्तक न मिल सके।

वर्तमान व्यवस्था में विक्रेता सोचता है कि नियम भंग करके यदि कोई दूसरा विक्रेता उसका ग्राहक छीन लेता है, तो क्यों न उस नियम को वह स्वयं भंग करके अपने ग्राहक को रोक ले। उस क्षण वह भूल जाता है कि उसके पाँच रुपये खतरे में पड़ रहे हैं या वह किसी फार्म पर हस्ताक्षर करके किसी नियम में बँध चुका है।

फार्म भरवाने का वास्तविक लाभ यह है कि अनधिकृत के यहाँ "किसी दशा में" पुस्तक न मिल सके—'किसी दशा में' शब्दावली पर मैं पुनः जोर दे रहा हूँ।

उदाहरण के लिए, यदि मैं पंजीकृत होता हूँ तो मुझे माल खरीदने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है, किन्तु मेरे बाजार का एक दूसरा सहयोगी व्यवसायी अपना पंजीकरण नहीं कराता, बल्कि वह पुस्तकें कहीं से प्राप्त कर लेता है। उस दशा में वह मेरा सारा धंधा ले जाएगा। मैं केवल मँगाने का अधिकार रखूँगा, वह बेचने का।

यह एक बहुत बड़ी समस्या है जिसे कुछ प्रकाशक मिल कर नहीं सुलझा सकते। बल्कि ऐसे किसी क्रान्तिकारी कदम के उठाने से पूर्व, एक बहुत बड़े आयोजन की आवश्यकता है। विक्रेता का मनोविज्ञान समझने की आवश्यकता है। क्यों नहीं, प्रकाशन-व्यवसाय सम्बन्धी सभी पत्रिकाओं में यह घोषणा की जाती कि इस व्यवसाय से संबंधित सभी व्यक्ति अपने सुझाव भेजें, और जब सुझाव प्राप्त हों तो उन्हें प्रकाशित किया जाए। सभी लोग खुलकर भाग लें। किसी उपयुक्त सुझाव को मात्र इसलिए अस्वीकृत न किया जाए कि वह किसी महत्त्वशाली व्यक्ति का प्रस्तुत किया हुआ नहीं था। न किसी अनुपयुक्त सुझाव को केवल इसलिए स्वीकृत किया जाए कि वह महत्त्वशाली सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया गया था। फिर उन प्राप्त सुझावों की रोशनी में नया विधान बने।

कमीशन-नियमन आवश्यक है। यह हो सकता है, किन्तु केवल उस विधान की छत्रछाया में :

—जिसे बनाने से पूर्व अधिक-से-अधिक प्रकाशकों, विक्रेताओं तथा टूरिंग एजेंटों ने अपने विचार मुक्तकण्ठ से व्यक्त किए हों।

—जिसमें कोई आड़ या दरार की गुंजाइश न हो, जिससे अनधिकृत विक्रेताओं को मार्केट खराब करने के लिए पुस्तकें प्राप्त हो सकें।

—जिसमें गलत काम करनेवाले विक्रेता या प्रकाशकों को दण्ड देने की व्यवस्था रखी जा सके।

—जिसमें पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण का कोई माप-दण्ड स्थिर किया गया हो।

—जिसमें विक्रेताओं को यह आश्वासन दिलाया गया हो कि लायब्रेरी के मामले में प्रकाशक उनका कम्पीटीटर बन कर नहीं आएगा।

—और जिसमें कमीशन-नियमन-योग्य पुस्तकों की व्यक्त परिभाषा नियत की गयी हो। (यह अंतिम बात मैंने इसलिए कही कि अबतक कमीशन-नियमन-योग्य साहित्य की कोई ठोस परिभाषा नियत नहीं की जा सकी है। कभी अधिक कमीशन वाला टैगोर-साहित्य इससे बाहर निकाला जाता है, कभी कुशवाहाकान्त-साहित्य। पाठ्य-पुस्तकों या कच्चे माल की परिभाषा नियत करते समय प्रकाशकों और विक्रेताओं के लिए नियम तोड़ने और बच निकलने के कई रास्ते मिल सकते हैं। विक्रेता के पास ग्राहक को समझाने का कोई माप-दण्ड नहीं है कि अमुक पुस्तक पर कमीशन है और अमुक पर नहीं—क्यों है और क्यों नहीं?

इस प्रकार का, विक्रेता-प्रकाशक के सामूहिक योग से बना हुआ, विधान इस रोग को समूल नष्ट करने में सहायक बन सकता है। असम्बद्ध प्रकाशकों से असहयोग भाव से यह रोग असाध्य हो सकता है।



क्या आप पाठकों से जबर्दस्ती पैसा छीन लेना चाहते हैं ?



श्री गोविन्द सिंह

पुस्तक-व्यवसाय से संबंधित दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले एक मासिक पत्र में "सबसे अधिक बिकी या छपी पुस्तकें" शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में अँग्रेजी पुस्तकों का गुणगान करने के बाद हिन्दी की पुस्तकों की बिक्री का रोना रोकर कहा गया है, "जबतक हिन्दी के पाठक अपनी मनोवृत्ति नहीं बदलेंगे और प्रकाशक तथा लेखक में मधुर-संबंध स्थापित नहीं होंगे तबतक हिन्दी का प्रकाशन-व्यवसाय पिछड़ा ही रहेगा।"

इस लेख की ही बात नहीं, बल्कि आम तौर से आज के प्रायः सभी लोग यही कहते हैं और मानते हैं कि हिन्दी की पुस्तकों की कम बिक्री का कारण पाठकों की मनोवृत्ति है। हिन्दी में पाठकों का अभाव है। यही कारण है कि हिन्दी की पुस्तकों का प्रथम संस्करण प्रायः १००० प्रतियों का ही होता है। साल, दो साल में इन प्रतियों का बिक जाना एक बड़ी सफलता माना जाता है। पुस्तकों की इस दयनीय स्थिति पर एक लेखक होने के नाते मैंने बड़ी ही गंभीरतापूर्वक विचार किया है और आज से कुछ वर्ष पहले मेरे जो विचार थे, वे ही आज भी हैं और सदा रहेंगे। आज अपने इन विचारों को मैं हिन्दी जगत के सामने रख रहा हूँ और मैं जानता हूँ कि मेरे निष्कर्ष के सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

आज हिन्दी में लेखन को ही जीविका का साधन बनाकर जिन्दा रहना बड़ा ही मुश्किल है। हिन्दी के इनेगिने लेखक ही ऐसे होंगे, जो लेखन पर ही सपरिवार जीवित हों। पाठ्य-पुस्तकों की लेखन-जीविका की बात एकदम अलग है। स्वतंत्र-रूप से ऐसी पुस्तकें, जो पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं, लिखकर ही जीवन चलानेवाले व्यक्ति हिन्दी में कितने हैं? शायद ही दो-चार हों। देख लीजिये, प्रत्येक लेखक कहीं-न-कहीं किसी और पेशे में अवश्य है। इसका सबसे बड़ा कारण है, हिन्दी पुस्तकों की दयनीय प्रवृत्ति! जो-कुछ लेखक के लिये साहित्य है, वह प्रकाशक के लिए व्यवसाय है। जब बिक्री ही नहीं है, तो प्रकाशक लेखक को क्या दे? अपने घर से तो देगा नहीं। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों की बिक्री की दशा बड़ी ही दयनीय है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसी पुस्तक का खरीदना अनिवार्य नहीं है। पहले वह अपने भरण-पोषण की व्यवस्था करेगा। इसके बाद सिनेमा और अखबार का बजट बनेगा। सबसे अन्त में अगर उसके पास फालतू पैसा रहा, तो वह कोई पुस्तक खरीदेगा। पुस्तकों का अधिक शौकीन रहा, तो पुस्तकालय से संबंध जोड़ लेगा अथवा किराये पर किताबें लेकर पढ़ना पसन्द करेगा। निष्कर्ष यह है कि एकदम मजबूर हो जाने पर और फालतू पैसा रहने पर ही पुस्तक खरीदेगा। ऐसे कितने लोग हैं इस देश में! यही कारण है कि हिन्दी की पुस्तक का १००० का संस्करण भी चार-चार पाँच-पाँच साल में बिकता है। पुस्तकालयों और सरकारी विभाग की खरीद न हो, तो फिर खुले बाजार में हिन्दी की पुस्तकों की बिक्री का मालिक भगवान ही है।

इस दयनीय स्थिति के लिये सभी लोग एक स्वर से पाठकों की मनोवृत्ति का रोना रोते हैं। जैसा कि उपर्युक्त लेख में भी हुआ है। इस प्रवृत्ति पर मुझे दुःख के साथ-साथ आश्चर्य भी होता है। एक ओर तो लेखक को ब्रह्मा से भी बड़ा माना जाता है, पर दूसरी ओर उसका यह दयनीय रूप है कि वह अपनी पुस्तकों के पाठक भी पैदा नहीं कर सकता। क्या यह स्वयं लेखक के लिए शर्म की बात नहीं? क्या कभी देवकीनंदन खत्री ने पाठकों का रोना रोया? क्या कभी प्रेमचन्द ने अपने पाठकों का अभाव महसूस किया? देवकीनंदन खत्री जी की रचनाओं को पढ़ने के लिए उर्दू जाननेवाले, जाने कितने ही लोगों ने हिन्दी सीखी! क्यों? यह लेखक की कलम की ताकत का कमाल था। जासूसी, तिलस्मी के प्रेमी पाठकों की एक बड़ी संख्या को, अपने यथार्थवादी और बहुत-कुछ नीरस, अनावश्यक विस्तार से पूर्ण, उपन्यासों की ओर खींच लेने का कमाल प्रेमचन्द की लेखनी में था। जो लेखक पाठकों का रोना रोते हैं या इसकी शिकायत करते हैं कि पाठकों की मनोवृत्ति उनकी पुस्तकों की बिक्री में सबसे बड़ी बाधक है, वास्तव में वे ढोंगी हैं। उनकी कलम कमजोर है। कलम में जोर होगा, तो पाठक और किताबों को खरीदने

वाले खुद-ब-खुद दौड़े आवेंगे। भोजन, वस्त्र की भाँति क्यों नहीं लेखक अपनी पुस्तक को भी पाठकों के लिये अनिवार्य बना देता है ? उसकी कलम में इतनी ताकत होनी चाहिए कि उसकी पुस्तक लोगों के लिए भोजन और वस्त्र की भाँति एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाय। इसके अभाव में वे अपने को पंगु-सा महसूस करें। क्या देवकीनंदन खत्रीजी की पुस्तकों में यही जादू नहीं था ? वह जमाना और था। अब जमाना और है। ऐय्यारी, तिलस्मी, जासूसी के दिन लद गये। अब तो नयी समस्याएँ हैं, नया दर्शन है और हिन्दी का कथा-साहित्य आगे बढ़ चुका है। इसी सन्दर्भ में क्यों नहीं आज के लेखक जमकर इतनी तपस्या करते हैं कि उनकी पुस्तक लोगों के लिए खरीदना आवश्यक हो जाय ? मुझे यह कहते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि हिन्दी में जितनी संख्या पुस्तकें खरीद कर पढ़ने वाले लोगों की है, उससे कहीं अधिक संख्या लेखकों की है। दो-चार उपन्यास-कहानी, आलोचना पढ़कर बहुत-से लोग लेखक बने बैठे हैं। अपने आगे वे किसी को कुछ समझते ही नहीं हैं। दूसरे लेखकों की पुस्तकें पढ़ना अथवा प्रान्तीय या अन्य देशों की साहित्यिक प्रगति की जानकारी रखना, अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। एक सीमित संख्या में छपनेवाली पत्र-पत्रिका, जिसमें उनकी रचना छपी हो, को लेकर घूमने अथवा अपनी छपी पुस्तक का प्रदर्शन करने में ही अपना सबसे बड़ा गौरव समझते हैं।

जो भी व्यक्ति पुस्तक खरीदता है, वह पैसा अपने पास से निकालता है। यह उसकी गाढ़ी कमाई का पैसा होता है। यदि ऐसा द्रव्य व्यय करने के उपरान्त वह पुस्तक के प्रारंभ के १५-२० पृष्ठों में लेखक की लम्बी-चौड़ी भूमिका और उसके बाद के पृष्ठों में सम्मतियों की भरमार के बाद, प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में डेढ़-डेढ़ पेज का ब्लैंक पाता है, तो सच मानिये उसे बड़ी खीज होती है। अपनी गाढ़ी कमाई के पैसों का सदुपयोग चाहिए उसे। सादा कागज या व्यर्थ की बकवास उसके लिए बड़ी ही क्लेशकर होती है। इसके बाद अगर वह पढ़ना शुरू करता है, तो पाता है ऐसे भारी-भरकम शब्द कि शब्द-कोष की शरण लेने पर ही गुजारा होता है। ऐसा न हुआ तो ऊटपटाँग बातें, निरर्थक संवाद, दो-दो लाइन के पैरे, और अस्वाभाविक घटनाएँ। नतीजा यह

होता है कि एक बार अगर उसने पुस्तक खरीद ली तो दुबारा भूले-भटके ही खरीदने का नाम लेता है।

लेखक और प्रकाशक पाठकों का रोना रोते हैं, पर वास्तविकता यह है कि पाठक लेखकों के नाम पर रो रहे हैं। पिछले ८-६ वर्ष के मेरे लेखकीय अनुभव और अपने पाठकों के सैकड़ों पत्र इसकी साक्षी दे रहे हैं कि पाठकों का, खरीद कर पुस्तक पढ़नेवालों का, अभाव हिन्दी में केवल बनावटी बात है। लेखकों की शक्ति का अभाव ही इसका सबसे बड़ा कारण है।

तर्क दिया जाता है कि कुत्सित या अश्लील साहित्य की पुस्तकों की बिक्री अधिक है। आँकड़े इस तर्क का भी खंडन कर रहे हैं। हाल ही में हिन्दी में पाकेट बुक्स की बिक्री इसकी साक्षी है। दो-दो, तीन-तीन महीनों में १००००, १०००० के संस्करण समाप्त हो गये। क्या ये अश्लील या कुत्सित पुस्तकें हैं ? इन पुस्तकों को पेश करने का तरीका ही इस सफलता का रहस्य है। हिन्दी के प्रकाशक, कमीशन आदि की अव्यवस्थाओं

के कारण पुस्तकों के दाम बहुत ही ज्यादा रखते हैं। छपे मूल्य की २५% रकम ही पुस्तक की वास्तविक लागत होती है, पर ७५% अधिक बढ़ाकर पुस्तक का मूल्य रखा जाता है। यह स्थिति भी हिन्दी पुस्तकों की बिक्री में सबसे बड़ी बाधा है। इसके बावजूद, अगर लेखक की पुस्तक में शक्ति होगी तो बिकेगी ही।

तथाकथित अश्लील साहित्य का विरोध करनेवाले, मौखिक हथियार क्यों उठाते हैं? अगर उनकी कलम में ताकत है, तो क्यों नहीं मैदान में आकर इस तथाकथित अश्लील साहित्य का प्रवाह रोक देते? क्या अश्लीलता ही इनकी बिक्री का कारण है? यह बात सर्वथा असत्य है। जमी हुई कहानी और जीवन की दुःख-सुख भरी घटनाओं का स्वाभाविक चित्रण ही, किसी उपन्यास की बिक्री का प्रमुख कारण है।

पाठकों की किसी भी प्रकार की मनोवृत्ति को कलम की ताकत पर बदला जा सकता है। कलम, जो तलवार से अधिक शक्तिशाली है, जागे, तो हिन्दी में न पाठकों का अभाव हो और न ही पुस्तकें खरीद कर पढ़नेवालों की संख्या कम हो। कमी है तो केवल कलम में और आज के लेखकों में। साहित्यकारों की यह कमजोरी ही हिन्दी के कलंक का कारण है और विडम्बना यह है कि लेखक इसका दोष अपने माथे पर न लेकर पाठकों के माथे पर लगा रहे हैं। वे आज के आर्थिक युग में पिसते हुए पाठकों का पैसा जबर्दस्ती छीन लेना चाहते हैं। आज का प्रत्येक पाठक अपने पैसे का पूरा-पूरा मूल्य चाहता है। पाठक को उत्कृष्ट वस्तु दीजिये और उत्कृष्ट पैसा लीजिये। निर्दोष को आप दोषी क्यों ठहरा रहे हैं?





आर्यासप्तशती
एक रूप : एक रूपकथा

सुश्री सुमति पंजियार

रीतिमुक्त लोक-साहित्य के नागर होने और नागर के फिर रीतिबद्ध होने की कथाभूमि में, तलवाहिनी सरस्वती की वेदना-धारा ही तो उस युग के तुम-जैसे नायक की एक उपेक्षिता नायिका है—

"न स वर्णो न च रूपं
न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहादपि
जातापभ्रंशभाषेव ।।" (३४३)

अर्थात्—न वैसा वर्ण, न वैसा रूप, न वैसा संस्कार और न वैसी प्रकृति । तुम्हारे विरह में यह बाला तो अपभ्रंश भाषा ही हो गई ।

यह सत्य है कि उस बेचारी का रूप, तुम-जैसे सुसंस्कृत व्यक्ति के विरह में, संस्कृत-जैसा न होकर, अपभ्रंश-जैसा हो गया । किन्तु, तुम्हारे अन्तरंग मित्र भवानीनाथ तो यह जानते हैं कि वह एक पामर-कुल की खिलती हुई कली थी, और उसे चोरी और सीनाजोरी के साथ तुम अपनी कुल-लक्ष्मी बना बैठे । तुम्हारे मित्र होने के बावजूद उन्होंने कहा है—

"वाणी प्राकृतसमुचितरसा
बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा
कलिन्दकन्येव गगनतलम् ।।" (५२)

अर्थात्—जो वाणी प्राकृत-कुल में मगन थी, उसे तुम जबर्दस्ती संस्कृत में ले आए । जैसे कि बलभद्र जी स्वर्ग की गहरी और शान्त यमुना को धरती पर उतार लाए थे ।

मैं मानती हूँ कि अपने इन शब्दों में, तुम्हारे मित्र होने के नाते, भवानीनाथ ने यह नहीं कहा कि शालिवाहन की प्राकृत-वाणी, संस्कृत में बरजोरी लाई जाने पर, धरती पर लाई हुई यमुना के समान, गँदली भी हुई थी । किन्तु, इसके पहले तुम्हारी दूती ने यह बात तो तुमसे कह ही दी थी कि तुम्हारे विरह में तुम्हारी प्रिया अपभ्रंश-भाषा के समान धूसर और संस्कारविहीन हो गई है । बात तो एक ही है । क्योंकि वह तुम्हारी दूती है, इसलिए उसके ख्याल से अपभ्रंश-भाषा गंदी है ; और क्योंकि, कोई, दबे दिल से भी अपभ्रंश-भाषा का रसिक है, इसलिए उसके विचार से संस्कृत-भाषा हुई प्रौढा !

× × ×

तुम, शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचना के अप्रतिस्पर्धी स्रष्टा और मदनाद्वैत-उपनिषद्-रूपिणी आर्यासप्तशती के द्रष्टा, आचार्य गोवर्धन के नायक हो । प्रेम, उपदेश या सन्देश देने के नाते; किसने तुम्हारे रूप और गुण की प्रशंसा नहीं की है ! एक समय, अपने यौवन के आवेग में आकर तुमने जब यह उतावली दिखलाई थी, तो तुम्हारे कवि को तुम्हें सावधान भी तो करना पड़ा था—

"पिब मधुप वकुलकलिकां
दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपिसमाप्ये
मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ।।" (३६८)

अर्थात्—ऐ भँवरे, कुछ हटकर, केवल जीभ की नोक से ही, इस वकुल-कलिका के रस का आनन्द ले ! ओठ डुबा-कर पीने पर तो, इसका नन्हा-सा रस तुम्हारे ओठ में ही लिपट-कर चुक जायगा !

बाद में, तुम्हारे कवि की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए, बिहारी-लाल ने भी कहा—'नहि पराग नहि मधुर मधु....' । तुमने शायद बिहारीलाल की ही बात मानी, क्योंकि तुम जिस स्थिति में पहुँच गए थे, वैसी ही भाषा में वे बोले थे । किन्तु, बिहारी-लाल ने तुम्हारी समझ के बाहर की भी एक बात कही थी—'आगे कौन हवाल' ! इस होनेवाले 'हवाल' को तुमने तो नहीं, बल्कि तुम्हारे कवि ने, बहुत पहले समझा था, और शायद, किसी दूती के द्वारा तुम्हें कहवाया भी था—

"कालक्रमकमनीयक्रोडेयं
केतकीति का शंसा ।
वृद्धिर्यथायथास्या-
स्तथातथा कण्टकोत्कर्षः ।" (१५१)

अर्थात्—इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह केतकी-कलिका कालक्रम में जब प्रस्फुटित होगी, तो अपने-आप ही कमनीय-श्रंकवाली हो जायगी। किन्तु, इतना तो सन्देह है ही कि ज्यों-ज्यों इसका विकास होगा, त्यों-त्यों इसके साथ लगनेवाले कंटकों का भी तो विकास होगा!

तुम सामन्त नायक हो, इसलिए भविष्य में आनेवाले उन कंटकों से तुम्हें सावधान करना भी तो आवश्यक है! ऐसा न हो कि, अपने मदनाकुल मन की मौज में, तुम कहीं तन भी न गँवा बैठो!

× × ×

प्राकृत-कुल की इस ग्रामवासिनी लोकवाणी को संस्कृत-कुल की नागरिका बना लेने के बाद भी, उसका वह स्वभाव तो बना ही रहा। बल्कि बात तो यहाँ तक बढ़ी कि तुम्हारे संस्कृत-कुल में पली हुई नागरिका ने जब किसी ग्रामीण नायक के अभिसार की ओर कदम बढ़ाए, तो उसकी सहेली को कहना पड़ा—

"ऋजुना निधेहि चरणौ
परिहर सखि निखिलनागराचारम्।
इह डाकिनीति पल्लीपतिः
कटाक्षेऽपि दण्डयति॥" (१४०)

अर्थात्—ऐ सखि, इतना छमक कर मत चलो, नगर में सीखी हुई सारी शृंगारी आदतों से बाज आओ! क्योंकि, इस ग्राम का मुखिया, जोकि तिरछी आँखों से देखने तक पर दंड देता है, तुम्हें डाकिनी या जान लेनेवाली जादूगरनी समझेगा।

वह सखी केवल इतना ही चेताकर रह गई, क्योंकि वह अपनी सखी को उस ग्रामीण नायक से विमुख नहीं करना चाहती थी। और शायद, इस मिलन को सम्पन्न कराने में उनका हाथ भी था। क्यों न हो, जबकि वह उन दोनों के दिलों को और उनकी इस राहत को जान चुकी थी। आखिर, यहाँ पर उस नगरवाले निर्लज्ज नायक की ऐसी सौदेबाजी तो नहीं थी—

"मृगमदनिदानमटवी
कुङ्कुममपि कृषकवाटिका वहति।
हट्टनिवासिनि भवती
परमेका पौरसर्वस्वम्॥" (४३४)

अर्थात्—कस्तूरी वनान्तरों में पैदा होती है और कुंकुम भी कश्मीर के उपवनों में। किन्तु, इस हाट में विलास करनेवाली तुम ही तो इस नगर की सर्वस्व हो!

वह छैला दूकान पर दो पैसे का सौदा लेने क्या आया, अपना ही यह भाव बताने लगा—"मैं कश्मीर की सैर कर आया हूँ और वहाँ की कुंकुम-जैसी गौरांगियों से भी मैंने मौज किया है। मैंने कस्तूरीवाले वनान्तों की पद्मिनियाँ भी देखी हैं। और, अब इतनी अच्छी सैर के बाद, इस कसबे की हाट में आया हूँ, जहाँ कि, इस दूकान पर, तुम्हें ही सारे नगर की रौनक देख रहा हूँ।"

उसकी सखी जिस नायक से मिलने जा रही है, वह इस नगरवाले के समान कोई शील-रहित थोड़े ही है? सभी स्त्रियाँ निबाहनेवाले प्रणयी को ही चाहती हैं। भले ही, उस निबाहनेवाले का जीवन ग्रामीण हो, दरिद्र हो और उसे कमाने के लिए परदेश भी जाना पड़े। किन्तु, जिसे घर में बिठाया है, उसके लिए इतनी उतावली तो रहे—

"अवधिदिनावधिजीवाः
प्रसीद जीवन्तु पथिकजनजायाः।
दुर्लङ्घ्यवर्त्मशैलौ
स्तनौ पिधेहि प्रपापालिः॥" (१)

अर्थात्—मुझ जैसे परदेशी की घरवाली का जीवन प्रतीक्षा के इस अवधि-दिन पर ही निर्भर है। अतः, इस पथ के प्याऊ पर पानी पिलाने के लिए नियुक्त हे सुन्दरि, पथ को दुर्लंघ्य बना देनेवाले अपने इन स्तन-पर्वतों को जरा ढँक कर ही रखो!

बेचारा रास्ते के किसी प्रलोभन में नहीं अटका। सीधे घर आया। अगर ऐसा प्रणयी मिल जाय, उसका विश्वास मिल जाय, तो कोई भी सच्ची प्रणयिनी इन कुंकुम-केसरों के सौदागरों और उनकी मारी फिरनेवाली प्रणयिनियों की खिल्लियों का इतना ही मूल्य तो आँकेगी—

"अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने
स एव परिहासः।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः
सोऽगुरुभवो धूपः॥" (१३)

अर्थात्—दूसरों के मुख में मेरी जो चर्चा बदनामी के रूप में होती है, वही तो मेरे प्रियतम के मुख में परिहास बनकर प्रस्फुटित होती है। दूसरी लकड़ियों से जनमने के कारण जो धुआँ कहाता है, वही अगर की लकड़ी से जनमने के कारण धूप कहाने लगता है।

× × ×

नागर-जनों के विचार पर जैसा मनोरंजन छाया रहता है, उसी के अनुसार तो, वे अपने हाँटों में दूध-छाछ बेचनेवाली तुम-जैसी ग्राम-युवतियों को, समझेंगे। हो सकता है कि तुममें से कोई उनके प्रलोभनों में आ गई हो। वह बेचारी तो अपवाद है। मगर, उसे ही तुम्हारा प्रतिनिधि मानकर, अपनी गोष्ठियों में, वे तुमसबों पर व्यंग्य किया करते हैं—

"आधाय दुग्धकलशे मन्थानं
क्लान्तदोर्ल्लता गोपी।
अप्राप्तपारिजाता
दैवे दोषं निवेशयति॥" (१०३)

अर्थात्—दूध महते-महते थकी भुज-लताओंवाली गोपी, मटके में मथनी रोककर, इतनी मेहनत पर भी पारिजात-कुसुम के न मिलने का दोष, दैव पर मढ़ रही है।

आखिर, वह दैव को क्यों न कोसे? क्षीर-सागर के महने पर विष्णु को लक्ष्मी मिल गई! इतने दिनों में उसने जितना दूध महा है, वह क्या क्षीर-सागर से कम है? मगर, उसे क्या मिला? पारिजात-कुसुम-जैसी एक वराटिका भी तो नहीं! यदि इन नागरिक छैलों में से किसी ने उस गरीब के शील के साथ, धन का लोभ देकर, खिलवाड़ किया और बाद में उसे एक छदाम तक नहीं दिया, तो उसकी आड़ पर इस प्रकार वाह करना उन छैलों की कौन-सी सभ्यता है? यदि कोई प्रणय की मारी हुई भी होती, तो ये छलिए, उसके साथ भी ऐसा ही छल और व्यंग्य कर सकते थे। ये अपने घर की तरफ तो देखते नहीं, जहाँ इनकी तथाकथित असूर्यम्पश्याएँ, इनसे भी मिलती हैं तो, सारा साज-सिंगार कर, मुखड़ा दिखाने भर के फेर में, इन्हें दो-डेढ़ घंटे तक प्रतीक्षा में बाहर अटका कर। मानो, वे किसी दूसरे प्रेमी से मिलने की तैयारी कर रही हों! अपवाद की बात छोड़ दी जाय, वर्ना तुम भी तो एक गोपी हो, जो अपने हाथ का काम तक छोड़कर, आए हुए प्रिय से, यों दौड़कर मिलती हो, कि ये ही शहरी छैले अपनी प्रेमिकाओं को, तुम्हारा उदाहरण देकर, ताना दिया करते हैं—

"दधिकणमुक्ताभरण-
स्वासोत्तुङ्गस्तनार्पणमनोज्ञम्।
प्रियमालिङ्गति गोपी
मन्थनश्रममन्थरैरङ्गैः॥" (२८७)

अर्थात्—वह गोपी, प्रिय के आते ही, दही बिलोने से थके हुए अंगों से, इस उतावली से उसका आलिंगन करती है कि प्रिय की छाती से लगे हुए उसके स्तन, मेहनत के कारण फूली हुई साँसों के चलते, धड़क ही रहे हैं; और जहाँ तुम अपनी सजावट के आगे मेरी प्रतीक्षा तक को कुछ नहीं समझतीं, वहीं, बिलोने के कारण उड़कर लगे हुए दधिकणों के मोतियों से विभूषित स्थिति में ही, वह प्रिय के स्वागत को बढ़ आती है।

आखिर, तुम गोपिकाओं की श्रेष्ठ सहेली, परमधीरा राधारानी भी तो थीं। कृष्ण के प्रति हजार प्रेम रखते हुए भी, तुमने कभी नहीं पाया होगा कि उन्होंने कृष्ण को लेकर तुमसे कभी दुराव किया हो। और तुमने भी क्या उनसे कभी कोई दुराव किया? अपने मुखर स्वभाव को आरोपित करने के लिए, नागरिकों के बादवाले दरबार, भले ही वैसी धीरा राधिकाजी को अधीरा की तरह चित्रित करें। मगर वे इतने हलके रंगों की नहीं थीं—इसे तुमसे बढ़कर और कौन जानता है? क्यों, कृष्ण से अपनी बात कहने का, उनका यही लहजा था न?—

"लज्जयितुमखिलगोपी-
निपीतमनसं मधुद्विषं राधा।
अज्ञेव पृच्छति कथा
शम्भोर्दयितार्धतुष्टस्य ॥" (५०६)

अर्थात्—सभी गोपिकाओं के मन को हरनेवाले कृष्ण को लज्जित करने के लिए राधा जी ने अनजान-सी बनकर उनसे यह पूछा कि अर्धनारीश्वर महादेव जी आधी पार्वती को ही पाकर किस तरह सन्तुष्ट रहते होंगे ?

यहाँ तो सर्वांग-सम्पूर्ण राधा जी को पाकर भी कृष्ण को सन्तोष नहीं होता और तुम जैसी गोपिकाओं से उनके छल की बात तो अलग से है।

× × ×

इन नागरों में अधिकतर का 'हवाल' ऐसा ही है। उनकी गृहिणी, प्रौढ़ा और खंडिता नायिकाओं की बात तो अलग कर दी जाय; घर लाकर बिठा ली गई नई बालाओं की अनन्य-निर्भर स्थिति को ही यदि सोचा जाय, तो मन में एक संवेदना के सिवा और कौन-सा श्रृंगार आवेगा ? घर के कर्तव्य, बड़ों का लिहाज और प्रियतम का मनमौजीपन—इन तीनों परिस्थितियों से तंग होकर यदि उनसे बदहवासी में कोई चूक हो जाती है; तो इस प्रकार उपहास का पात्र बनना पड़ता है—

"सायं कान्तभुजान्तरविनिपतिता
निखिलनीतरजनीका।
उषसि ददती प्रदीपं
सखिभिरुपहस्यते बाला ॥" (६५१)

अर्थात्—सही-शाम ही रतिकामी कान्त द्वारा, भुजाओं में ली गई उस बाला को, सारी रात बीत जाने का भान भी न हुआ। और, जब सुबह हो चली, तो वह शाम होने की ही भावना से घबड़ाकर, शयन-कक्ष से बाहर आई और संझा-बाती देने लगी। उसकी वैसी हालत और बेखबरी को देखकर सखियाँ हँस दीं।

उसकी इस चूक पर हँसने-वाली तो बहुत हैं। मगर, जिसके चलते उसे यह हँसी झेलनी पड़ी, वही जब उसको चार दिनों की चाँदनी दिखाकर अँधेरे में छोड़ जाता है, तो उसकी आह तक सुननेवाला कोई नहीं। कभी-कभी, मत्त की स्थिति में, यदि मन हुआ तो घर आया, एक-आध संग किया, और वाह री रसिकता, बाकी दिन अपने मित्रों में उसी संग की चर्चा करते हुए कहने लगा—

"किञ्चिन्न बालयोक्तं
न सप्रसादा निवेशिता दृष्टिः।
मयि पदपतिते केवल-
मकारि शुकपिञ्जरो विमुखे ॥" (१५४)

अर्थात्—मैंने विश्वास के लिए अपनी सफाई दी, उसकी खुशामद की। मगर उस बाला ने न तो कोई उत्तर दिया और न एक सीधी नजर मुझे देखा। अन्त में, मैंने जब उससे उपेक्षा बरतने के नाम पर पैर पकड़ कर क्षमा माँगी, तो उसने केवल पिंजरा समेत तोते का मुँह फिरा दिया।

हाँ, तोते का मुँह फिरा दिया, ताकि वह चुगलखोर यह न देख ले कि वह रजामन्द हो गई है! मगर, जिसको अपनी घरवाली बना लिया है, सिन्दूर दिया है, वह कब रजामन्द नहीं रही है ? चाहे, किसी दूसरी के नाम पर, उसकी कितनी भी उपेक्षा हो, मगर उसका शील अपने स्वामी के समक्ष इसके सिवा और क्या करने को उसे कह सकता है ?—

"गोत्रस्खलितप्रश्ने-
प्युत्तरमतिशीलशीतलं दत्वा।
निश्वस्य मोघरूपे
स्ववपुषि निहितं तया चक्षुः ॥" (२०७)

अर्थात्—स्वामी के मुँह से, प्रणय-प्रसंग की बहक में, यकायक किसी दूसरी चहेती का नाम निकल आने पर, उसने, उनकी झेंप के बनावटी प्रश्नों का शील-शीतल उत्तर देकर, एक आह के साथ अपने उस शरीर पर दृष्टि डाली, जिस शरीर का अमोघ रूप तब चूक रहा था।

आखिर, एक शीलवती अपने को इससे अधिक और क्या प्रकट करेगी ?



हिन्दी, इंग्लिश, जापानी आदि सारी उनलोगों की मादरी जबानें हैं। लेकिन फिर भी ये जबानें छोटी हैं। सबसे बड़ी है—'प्यार की जबान'। गधा, घोड़ा, बैल आदि जानवर भी प्यार की जबान समझते हैं, 'एसपेरन्टो' और अँग्रेजी नहीं समझते हैं।

—विनोबा



अमरीकी शैली
प्रकाशन : बिक्री

श्री बलराम

अमेरिका के पुस्तक-व्यवसाय में मलाट की जिल्दों की स्टैंडर्ड पुस्तकों का अर्थ, सख्त मलाट-कपड़े की जिल्द-बँधी पुस्तकों से ही लिया जाता है। फिर भी, बीच-बीच में प्रकाशकगण दुस्साहसिक उपन्यासों से लेकर रसायन-शास्त्रों के ग्रन्थों तक, नाना विषयों की पुस्तकों को, सस्ते कागजों के मलाटों की जिल्द में भी बाजार में दे रहे हैं। किन्तु, इस दुस्साहसिक व्यापार में उन्होंने १६३६ साल में प्रकाशित कागजी जिल्दवाले पाकेट-बुक-संस्करणों-जैसी सफलता नहीं पाई।

ये सब कागज-मलाटों की जिल्दवाली पुस्तकें, पत्रिकाओं के समान, बहुत तेज चलनेवाली रोटरी मैशीनों से छपती हैं, और इनकी जिल्द बहुत चमकदार होती है। ये पुस्तकें आकार में खूब छोटी होती हैं। ठीक जेबी संस्करण जैसी। इनके सम्बन्ध में उतना प्रचार और विज्ञापन नहीं किया जाता है। फिर भी, अमेरिका में जो हजारों-हजार संवादपत्र-विक्री-केन्द्र या न्यूज-स्टैन्ड हैं, या ड्रगस्टोर और रसायन-दूकानें हैं, उनपर इनसब पुस्तकों को रैकों पर इस तरह सजाकर रखा जाता है कि वे चलते हुए लोगों तक की दृष्टियों को आकर्षित करें।

सन् १६३६ में इन कागज-मलाट की जिल्दवाली पुस्तकों की २५ लाख प्रति वहाँ के बाजारों में आई थी। तब से लेकर सन् १६५५ तक १३ पुस्तक-प्रकाशन-प्रतिष्ठानों ने इस प्रकार के पुस्तकों की २२ करोड़ ५० लाख प्रतियाँ बेची हैं। १६५६ साल तक यह बिक्री ३० करोड़ तक पहुँच गई थी। १६५७ साल में यह बिक्री और भी बढ़ी है—ऐसा प्रकाशकों का कहना था, इसी से गत वर्ष के अन्त तक २२ प्रकाशन-प्रतिष्ठानों ने इस प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

साधारण कागज-मलाटों की जिल्दवाली ये पुस्तकें, सस्ती और दामी, दो प्रकारों की होती हैं। लोकप्रिय गल्प और उपन्यासों के सस्ते संस्करणों की पुस्तकों का मूल्य ३० से ५० सेन्ट और दामी संस्करणों का मूल्य १५ सेन्ट से २ डालर तक होता है। साधारणतः दर्शन, धर्म, समाजविज्ञान, ललित-कला, कविता और साहित्य-विषयक पुस्तकों का संस्करण, सस्ते संस्करणों की तुलना में, उत्कृष्टतम कागजों पर निकाला जाता है।

सख्त मलाट की जिल्दों की, गल्प-उपन्यास-पुस्तकों का जो दाम है, उसके दशांश के मूल्य पर ये कागज-मलाट की जिल्दवाली पुस्तकें बिकती हैं। असल में, एक किरमिची जिल्दवाली पुस्तक को तैयार करने में जो खर्च पड़ता है, उसके पंचमांश से भी कम खर्च में ये पुस्तकें तैयार होती हैं तथा प्रत्येक प्रतियों पर बाजार में पहुँचने का जो खर्च पड़ता है, उसका १२वाँ हिस्सा, और लेखकों को जो रॉयल्टी या पारिश्रमिक देना होता है, उसका १५वाँ हिस्सा ही इन सस्ते संस्करणों की पुस्तकों पर खर्च बैठता है।

१६५१ साल में, कागज-मलाटवाली नई पुस्तकें ६,००० प्रकाशित हुई थीं। बड़े-बड़े पुस्तक-प्रकाशन-प्रतिष्ठानों ने, लगभग १०० नई पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित कीं। अधिकांश लोकप्रिय लेखकों की रची हुई ये सब सस्ते दर की पुस्तकें, वर्ष में कई लाख के हिसाब से बिकने पर भी, विशेष रोमांच-कथा और उपन्यासों की प्रतियाँ १ लाख ७५ हजार तक बिकीं। अधिकांश कागज-मलाट की पुस्तकें, पुनर्मुद्रित संस्करण होने पर भी, मूल उपन्यास, गल्प, कविता और निबन्ध-संग्रह, अमेरिका-वासियों में प्रत्येक के ही घरेलू पुस्तक-संग्रहों की आलमारियों में आजतक देखे जा सकते हैं। उपन्यास के अलावा, कागज-मलाट की पांडित्यपूर्ण अनेकों पुस्तकें एवं क्लासिक्स-समूहों की भी पूरी खपत है। इन पुस्तकों की कभी-कभी ५ लाख या इससे अधिक प्रतियाँ प्रतिवर्ष खपती हैं।

१६५८ साल में सम्वाद-पत्र-बिक्री-केन्द्र एवं ओषध-बिक्री-केन्द्रों में, ५० सेन्ट या उससे भी कम मूल्यवाली कागज-मलाटों में बँधी, जिन पुस्तकों को बेचने के लिए रखा गया था, उनमें से ये कई पुस्तकें भी थीं—'डायलगस आफ प्लेटो', 'द वेस्टर्न सिविलिजेशन', 'दि बेसिक आइडियाज आफ अलेक्जेन्डर हैमिल्टन', 'ए हिस्ट्री आफ अमेरिकन पेन्टिंग', 'दि लिंकन रीडर', 'दि इलोकूयेंन्स आफ विन्स्टन चर्चिल', 'रिलिजियस

वर्स', 'दि लाइफ आफ क्राइस्ट', 'मोहम्मदिनिज्म', 'एन हिस्टोरिकल सर्वे', और 'दि लिविंग टेलमूड'।

इन सभी बिक्री-केन्द्रों पर, इसी मूल्य के शेक्सपीयर के नाटक एवं मध्ययुग, रेनाँसाँ, १७-१८-१६ और २०वीं शताब्दि के दर्शन-शास्त्र-विषयक ५ खंड में समाप्त होनेवाले ग्रन्थ-समूह, भी थे। इनके अलावा बालजक, जोला, सावेर्न्तिज, फाकनर, हार्डी, स्टाइनवेक एवं हेमिंग्वे जैसे प्रख्यात लेखकवर्गों के उपन्यास-समूह भी वहाँ रखे गए थे।

जीवविज्ञान, रसायनशास्त्र, इतिहास, राष्ट्र-विज्ञान, शार्ट-हैन्ड, विदेशी भाषा एवं अन्यान्य विषयों की, १ डालर २५ सेन्ट से एक डालर ५ सेन्ट की, कितनी ही कागज-मलाटवाली पुस्तकें वहाँ रखी गई थीं।

कागज में बँधी हुई अनेक प्रकार की पुस्तकों में ऐसी भी पुस्तकें हैं, जो अत्यन्त निम्नकोटि के साहित्यों में परिगणित होती हैं। फिर भी, इन अत्यन्त सस्ती किताबों के बीच भी, वर्तमान युग और अतीत युग की सुरुचिपूर्ण श्रेष्ठ पुस्तकें भी पाई जाती हैं।

विश्वविद्यालयों से प्रकाशित पुस्तकादि :—संयुक्तराष्ट्र में प्रत्येक वर्ष प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों में से प्रति १२ पुस्तकों में एक पुस्तक यूनिवर्सिटी प्रेसों से प्रकाशित पुस्तक होती है और सम्पूर्ण संयुक्त-राष्ट्र में प्रतिवर्ष जितनी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उनमें से सात भाग के एक भाग पर यूनिवर्सिटियों का सील-मोहर देखा जा सकता है।

४२ विश्वविद्यालय अपनी पुस्तकें छापते हैं एवं संयुक्त-राष्ट्र में प्रतिवर्ष जितनी गवेषणामूलक पांडित्यपूर्ण पुस्तकें छापी जाती हैं, उनमें एक चौथाई से लेकर एक-तिहाई तक इन पुस्तकों को विश्वविद्यालय ही प्रकाशित करते हैं। १६५५ साल में कुल ६४० नई पुस्तकें, इन विश्वविद्यालयों ने प्रकाशित की थीं। इनमें से सैंकड़े ७८ पुस्तकें थीं साहित्यादि और समाज-विज्ञान से सम्बन्धित, सैंकड़े ५ थीं पाठ्य-पुस्तकें, और सैंकड़े २ थीं उपन्यास, कविता और नाटक।

यूनिवर्सिटी-प्रेसों की अधिकांश पुस्तकें साधारण पाठक के योग्य नहीं होतीं। क्योंकि, ये पुस्तकें असाधारण कठिन होती हैं। फिर भी, बीच-बीच में, कभी-कभी अर्थनीति, नृतत्त्व एवं इतिहास-विषयक कोई पांडित्यपूर्ण पुस्तक लोकप्रिय भी होती दीखती है। कम दामों की सीरियस या गुरुत्वपूर्ण पुस्तकों की कुछ माँग देखकर, दूसरे प्रकाशन-संस्थानों की तरह, १६५१ साल से यूनिवर्सिटी-प्रेसों ने भी कागजी जिल्दोंवाली सस्ते दर की पुस्तकें प्रकाशित करनी शुरू कर दी हैं। यह व्यवस्था छात्रों के हित में अत्यन्त उपकारी सिद्ध हुई है। क्योंकि, इस तरह, कम दाम में मौलिक गवेषणामूलक पुस्तकों को पाने की उन्हें प्रर्याप्त सुविधा मिली है।

यूनिवर्सिटी-प्रेसों का एक और मूल्यवान कार्य है, तथ्यपूर्ण मूल्यवान पत्रिकायें प्रकाशित करना। ऐसी ५३ पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं। ये पत्रिकायें अधिकतर त्रैमासिक हैं। इसके अलावा इतिहास, ओषधि-विज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा लोक-गाथा के सम्बन्ध में खोजपूर्ण मौलिक प्रबन्ध, उन्होंने प्रकाशित किए हैं।

पुस्तक-प्रकाशन की आर्थिक दशा :—अमेरिका की ८२५ पुस्तक-प्रकाशन-संस्थाओं में ३६ हजार लोग काम करते हैं। इनमें से एक-चौथाई जिल्दसाजी और छपाई वगैरह का काम करते हैं। सामयिक-पत्र-प्रकाशकों की संख्या २,००० है जिसमें ६२,५०० लोग काम करते हैं। इनमें भी बँधाई-छपाई वगैरह कामों में एक-चौथाई व्यक्ति लगे हैं।

१६३० से १६५० साल के बीच पुस्तक-प्रकाशन का खर्च दुगना बढ़ गया है, किन्तु पुस्तक-प्रकाशकों ने लोकप्रिय पुस्तकों का मूल्य थोड़ा ही बढ़ाया है। संयुक्त-राष्ट्र में पुस्तकों का अधिकाधिक मूल्य ३ डालर ५० सेन्ट ही आमतौर पर होता है।

संयुक्त-राष्ट्र में सामान्य पूँजी लेकर ही प्रकाशन-उद्योग में लगा जा सकता है। अर्थशास्त्रियों ने हिसाब लगाकर देखा है कि २५ हजार डालर लेकर भी इस उद्योग में लगा जा सकता है। पहले संस्करण में ही ५-७ हजार प्रतियों के बिकने पर, उसके बाद प्रकाशक मुनाफा पाने लगते हैं।

संयुक्त राष्ट्र में प्रथम संस्करण में उपन्यास साधारणतः ८,५०० प्रति एवं अन्यान्य पुस्तकें ६,००० प्रति छपती हैं।

सामयिक प्रकाशनों का खर्च भी खूब बढ़ गया है। लेकिन इस बढ़े हुए खर्च को वे विज्ञापन से पूरा करते हैं और विज्ञापन-दर भी उन्होंने बढ़ा दिया है। राष्ट्रीय पत्रिकाओं की आधी आय लगभग विज्ञापन से ही पूरी होती है।

पुस्तक-व्यावसायिकों को अपने टिकने के लिए मुनाफे की आवश्यकता तो बनी रहती है; क्योंकि उनका व्यवसाय-वाणिज्य

इस मुनाफे पर ही निर्भर करता है। किन्तु, युनिवर्सिटी-प्रेसों की इस मुनाफे पर निर्भर रहने की उतनी आवश्यकता नहीं है। ये विश्वविद्यालय इसके लिए अपने फन्ड से या दूसरी जनकल्याण-संस्थाओं से सहायता पाते हैं। उनकी आय के एक-चतुर्थांश का यही आधार है। १६५१ साल में २५० पांडित्यपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए फोर्ड-फाउन्डेशन ने ट्रिनिटि विश्वविद्यालय को १७ लाख २५ हजार डालर दान दिया था।

पुस्तक-पठन और टेलीविजन :—अमेरिका में ग्यारह वर्ष हुआ है कि टेलविजन की स्थापना हुई। पढ़ाई-लिखाई के पुराने अभ्यास के ऊपर इस चित्तविनोदिनी शैली का कितना प्रभाव पड़ा है, इस पर विवेचना चल चुकी है। इस विषय में विवेचनापूर्वक देखा जा चुका है कि जिनके पास ये टेलीविजन-सैट हैं, उनका, जिनके पास कोई टेलीविजन-सैट नहीं हैं, उनके मुकाबले, कुछ कम पढ़ना-लिखना हो रहा है। किन्तु, कुछ यह बात भी बोलते हैं कि टेलीविजन पर किसी विशेष पुस्तक की आलोचना सुनकर या कोई विशेष नाटक देखकर, उसके प्रभाव के चलते, पाठकगणों में उस पुस्तक के सम्बन्ध में विशेष आग्रह उत्पन्न हो रहा है।

टेलीविजन के शिक्षामूलक कार्यक्रम ही दर्शकगणों को पुस्तक पढ़ने के लिए अनुप्राणित करते हैं। आजकल ऐसे टेलीविजन-कार्यक्रमों की लोकप्रियता अधिकाधिक बढ़ रही है। दृष्टान्तस्वरूप, न्यूयार्क यूनिवर्सिटी की कार्य-सूची की बात उल्लिखित की जा सकती है। इस विषय में यह एक उत्कृष्ट दृष्टान्त होगा। १६५१ साल में इस विश्वविद्यालय से, हेमिंग्वे-पर्यन्त आधुनिक युग के उपन्यासकारों के उपन्यासों के सम्बन्ध में, अपनी शिक्षामाला के अनुसार, १६ सप्ताह तक एक वक्तृता-माला की व्यवस्था की गई थी। इस अनुष्ठान के बाद, इस विषय में शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक, प्रति सप्ताह एक हजार विद्यार्थियों की तरफ से, विश्वविद्यालयों ने चिट्ठियाँ पाईं। केवल इतना ही नहीं हुआ, बल्कि इस अनुष्ठान में जिन स्तौंदाल, बालजक, थेकरी, मेलविल, दास्तोवस्की, प्रूस्त, जिद एवं अन्यान्य साहित्यकारों का प्रसंग आया था और उनकी साहित्य-कृतियों के विषय में आलोचना हुई थी, उनकी पुस्तकों की माँग अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई।

भविष्य की ओर प्रकाशकों की दृष्टि :—प्रकाशकगण देख रहे हैं कि जिस अनुपात में उनके देश की जनसंख्या बढ़ रही है, उससे अत्यन्त अधिक पुस्तक-पाठकों की संख्या में वृद्धि हो रही है। अमेरिका के पुस्तक-प्रकाशकों के डायरेक्टर इस समय यह भविष्यवाणी कर रहे हैं कि इस शताब्दी के अन्त तक, आज की माँग के मुकाबले, पुस्तकों की माँग १५ से २० गुना तक बढ़ जाएगी। इस समय जिस प्रकार और जिन कारणों से पुस्तकों की माँग बढ़ रही है, उसी के आधार और विवेचना पर ही उन्होंने यह भविष्यवाणी की है। पाठकों की संख्या बढ़ने के कारण के सम्बन्ध में उनका कहना है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद सर्वसाधारण की आमदनी में जिस मात्रा से बढ़ौती हुई है, वह उल्लेखनीय है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यह आमदनी और बढ़ेगी। इस आमदनी के मुकाबले, काम के घंटे, पहले की तुलना में, अब कम हो गए हैं; जिससे श्रमिकों को अवसर और छुट्टी का समय अधिक मिल रहा है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि शिक्षितों की संख्या और शिक्षा के मान में भी अत्यन्त उन्नति हुई है। शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि १६७० साल में विश्वविद्यालयों में नए विद्यार्थियों की संख्या ६८ लाख के करीब पहुँच जाएगी, अर्थात् वर्तमान संख्या से वह दुगनी हो जाएगी। इसके अलावा नए पाठकों की, नई-नई पुस्तकों को पढ़ने की इच्छा भी, खपत के बढ़ने में एक कारण है। १६४७ साल में जिस परिमाण में शिशु-साहित्य की बिक्री हुई थी, उसकी चार गुना, अर्थात् २२ करोड़ प्रतियों की बिक्री, १६५४ साल में हुई।



"मैं एक किताब खरीदने जा रही हूँ।"

"किताब!"

"हाँ, मेरे पति महोदय कल ही मेरे लिए एक बहुत सुन्दर टेबुल-लैम्प खरीद कर लाए हैं।"

—'ज्ञानोदय' से



● सुप्रसिद्ध लेखकों में जार्ज बर्नार्ड शॉ, रुडयार्ड किपलिंग, डस्टोवोस्की आदि ने अपनी महिला-सचिव (सेक्रेटरी) से विवाह किया था। हिन्दी-लेखकों में महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी ऐसे अपवाद हैं।

● अमेरिका में प्रतिवर्ष लगभग ७००० नई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। उनमें केवल १० पुस्तकें ही ऐसी निकलती हैं जिनकी बिक्री बहुत ज्यादा होती है। इस तरह ७०० में केवल १ पुस्तक की अच्छी बिक्री का अनुपात आता है।

● इंगलैंड के डाक्टर ए० जे० क्रानिन ने अपनी पुस्तक 'सिटाडेल' के ४४० पृष्ठ पर हवाला दिया है कि डाक्टरी-विज्ञान में लुई पाश्चर को महात्मा माना जाता है, किन्तु वह डाक्टर नहीं था; इरलिक जो अपने आविष्कारों के कारण डाक्टरों में पूज्य है, वह भी डाक्टर नहीं था; हिन्दुस्तान में 'प्लेग' से मोर्चा लेनेवाला हाफकिन यद्यपि डाक्टरों से भी बड़ा माना जाता है, फिर भी डाक्टर नहीं था।

● विख्यात सर्जन एस्लेकूपर का कहना है कि दवा का विज्ञान, अनुमान के आधार पर बना है और प्राणियों की बलि दे-देकर आगे बढ़ा है। और, प्रोफेसर जे० डब्लू० कारसन एम-डी० का कहना है कि कानून की तरह दवा का प्रभाव भी अनिश्चित होता है।



पुस्तकालय : सरकारी अनुदान

श्री सत्यदेव शान्तिप्रिय

अंग्रेजी में एक कहावत है—"A room without books is a room without windows." जो अक्षरशः सत्य और सटीक है। भला, मनुष्य का बसेरा और प्रेत का डेरा? यह कैसे होगा? यह क्यों कर होगा? सच तो यह है कि पुस्तकालय ज्ञान का वह आलोक है जिसकी पूर्णिमा में हम सत्-असत् की पहचान करते हैं। पुस्तक ही हमारे वे संगी हैं जो हमें भीरु होने से बचाते हैं। ये ही हमें धैर्य की धरती पर पाँव रखने, पुरुषार्थ की भुजा पकड़ने और चरित्र के आलोक में निरन्तर बढ़ते रहने की प्रज्ञा देते हैं; लड़खड़ाते कदम को विवेक की लकुटी से सहारा देकर गिरने से बचाते हैं। पुस्तकालय की इस उपयोगिता से भला किसे इनकार हो सकता है?

राष्ट्र की उन्नति मुख्यतः बौद्धिक विकास पर ही निर्भर करती है। और, बौद्धिक विकास के मात्र दो ही स्तम्भ हैं:—(१) विद्यालय (२) पुस्तकालय। किन्तु, इन दोनों में भी अधिक महत्वपूर्ण पुस्तकालय को ही मैं मानता हूँ, जो सर्वथा निस्सीम और उन्मुक्त है; श्रेणी अथवा वयः-सीमा से भी मुक्त है। यहाँ न रिजर्वेशन है न प्रतियोगिता; न पास-फेल का झमेला है, न अभिभावकों की डाँट-डपट का डर। अतः, पुस्तकालयों का सम्यक् उपयोग ज्ञान-दान में विद्यालयों से अधिक जोरदार और असरदार है।

यह खेद की बात है कि अपने देश की कुल आबादी का सिर्फ १६·६१ प्रतिशत शिक्षित है जिनमें पुरुष-आबादी का २४·८७ और स्त्री-आबादी का सिर्फ ७·८७ प्रतिशत सम्मिलित है। बिहार जैसे राज्य में तो मात्र १२·१५ प्रतिशत लोग ही शिक्षित हैं और मर्दों की आबादी का २०·४६ प्रतिशत।

आजादी आने के साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण की समस्या आड़े आई और इस दिशा में योजनामूलक कार्य भी आगे बढ़े। किन्तु, जिस अनुपात में औद्योगिक विकास की लहर लोगों को लपेट रही है, क्या उस अनुपात का पंचमांश भी बौद्धिक विकास की क्रांति-लहर व्यापी है? यह ठीक है कि आए-दिन, सामाजिक चेतना के नाम पर, जो भी राशि लगाई गई है—उसमें पुस्तकालय-अनुदान का भी ब्योरा है। पर, क्या यह राशि पुस्तकालयों को सम्पन्न एवं स्वस्थ होने में पूरा योग-दान दे पाती है···? और, इस राशि के प्रकार भी तो देखें?

प्रत्येक पुस्तकालयों के नाम—चाहे वे सार्वजनिक हों अथवा विद्यालयीय—दो प्रकार के कूपन (लाल-हरा), जिनके प्राप्य महज ७६) और ३८) रुपये में ही अटक कर रह जाते हैं। इस पर भी तुर्रा यह है कि अमुक कूपन पर अमुक-अमुक पुस्तकें और अमुक पर अमुक-अमुक; क्योंकि ये तारांकित हैं—और वे अतारांकित! भला, यह प्रतिबंध कैसा? आश्चर्य तो यह है कि इनमें पुस्तकालयों के भेद ही नहीं रक्खे गए हैं। चाहे वे विद्यालय-पुस्तकालय हों अथवा महा-विद्यालयीय; सार्वजनिक हों अथवा राजकीय, उन्हें एक ही डंडे से हाँकना, क्या समीचीन है? मान लीजिए, किसी कूपन में तारांकित है—'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदी के द्वीप'। लाचारीवश एक विद्यालय के पुस्तकालय के लिए भी यह खरीद करनी है, जहाँ सेकेन्डरी शिक्षा का स्टैन्डर्ड है। सेकेन्डरी स्टेज के विद्यार्थी उक्त दोनों पुस्तकों के पढ़ने की क्षमता रखते हैं क्या! इसी तरह, ग्रामीण सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए यह कहाँ तक मान-दण्ड की रक्षा करता है—यह विचारणीय है। चूँकि कूपन-सिस्टम से ही उसे सरकार अनुदानरूप में पुस्तकें देगी—उसे लाकर आलमारी में रख देना भर है, चाहे उसकी उपयोगिता की सार्थकता हो या न हो! भला, ऐसे सरकारी अनुदान तो निस्सार हैं ही, साथ ही, देश की बौद्धिक प्रगति के पथ में रोड़े भी हैं।

सरकारी अनुदान के दूसरे रूप हैं—रेडियो और सांस्कृतिक जागरण के साधन। किन्तु प्रत्येक रेडियो पर, (जब वे समयानुसार खोले जाते हैं) "जवान हो या बुढ़िया····" के संगीत पर बाप-बेटे एक साथ सिर-संचालन करते देखे जाते हैं। इसी तरह सांस्कृतिक अभ्युत्थान के प्रथम सोपान पर ही, दुर्भाग्य यह है कि, इस प्रयत्न में चोरी से प्राप्त की गई रामायण से रामलीला की जाती है और लड़कों को

कपड़े का विशेष प्रत्यंग लगा, औरतानी लिबास में नचाया जा रहा है।

फिर भी, राज्य-संचालक अपना काम किए जा रहा है, पुस्तकालय को अनुदान-पर-अनुदान (जिनमें उपर्युक्त साधन ही सर्वमान्य हैं) मिलता जा रहा है। नित्यप्रति, प्रति गाँव में, गाँव में ही नहीं मुहल्ले में, विभिन्न राजनेता के नाम पर (भले ही वे जीवित क्यों न हों) पुस्तकालय खुलता जा रहा है। क्या यह विवेकहीन प्रगति पुस्तकालयों के लिए कोरामिन है या पाटाशियम साइनेट ?

सच तो यह है कि पुस्तकालय एवं राज्य-सरकार का साक्षात् संबंध विद्यालय एवं शिक्षा-विभाग की तरह नहीं है, अपितु इस संबंध का माध्यम है राज्य-पुस्तकालय-संघ। पुस्तकालय-संघ के द्वारा ही सरकार की पुस्तकालय-नीति एवं अनुदान आदि का निर्देशन होता है। ऐसी दशा में पुस्तकालय-संघ से ही पुस्तकालय में सुधार की अपेक्षा है। तभी यहाँ के पुस्तकालय गरीबों के विश्वविद्यालय, संस्कृति के केन्द्र, शिक्षा-प्रचार के माध्यम और ज्योति-भारती के भव्य भवन बन सकते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि राज्य-पुस्तकालय-संघ सरकारी अनुदान-नीति में परिवर्तन के लिए सचेष्ट हो, एक ही तीर में अनेक शिकार की नीति वर्जित हो। उदाहरणार्थ—माध्यमिक विद्यालय-पुस्तकालय को जीवनी, कहानियाँ, बाल-किशोरोपयोगी उपन्यास-नाटक, ज्ञान-विज्ञान, समाज-अर्थशास्त्र आदि की पुस्तकें ही प्राप्त हों—न कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। इसी प्रकार, ग्रामीण पुस्तकालयों में कृषि, पशु-पालन, जीवन-कला और वयस्क-शिक्षा संबंधी पुस्तकें ही अधिक मात्रा में उपलब्ध हों। नगरों के पुस्तकालयों को उपन्यास, कहानी, काव्य, नाटक, समालोचना एवं व्यावहारिक अर्थशास्त्र की पुस्तकें दी जाएँ। महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापन-कार्य में सुविधा की दृष्टि से शिक्षण-सिद्धान्त संबंधी पुस्तकों की संख्या अधिक हो। अतः, संघ को चाहिए कि वह एवं प्रकारेण पुस्तकालयों का वर्गीकरण कर सरकार को सही मार्ग-निर्देश करे जिससे सरकारी अनुदान की सद्गति हो।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि, प्रत्येक राज्य सरकार, अनुदान की राशि राज्य के जिलों की संख्या पर निश्चित करती है, जिसका अर्थ बेतुका है। अतः, अनुदान की धनराशि का विभाजन जिले के अनुपात से नहीं होकर पुस्तकालय की संख्या के अनुपात से हो, जिससे अधिकाधिक पुस्तकालय अपने पुनीत कार्य में सफल हो सकें। राज्य-पुस्तकालय-संघ चाहे तो वर्तमान सरकारी नीति में परिवर्तन एवं संशोधन ला सकता है।

इस दिशा में बिहार-राज्य-पुस्तकालय-संघ ने बिहार के मुख्य-मंत्री को, जो कतिपय सुधार संबंधी स्मृति-पत्र दिया है, वह सर्वथा श्लाघनीय है; जिसमें मुख्य है—जिला विकास-समिति में राज्य-संघ के एक-एक प्रतिनिधि रखने की माँग, राज्य के सभी राष्ट्रीय प्रसार-सेवा-प्रखंडों की विकास-समिति में भारत-सेवक-समाज, सर्वसेवा-संघ, रामकृष्ण-आश्रम एवं फारमर्स-फोरम की ही भाँति पुस्तकालय-संघ द्वारा मनोनीत एक-एक सदस्य रखने की माँग, प्रसार-प्रखंडों में निर्माण-राशि से पुस्तकालय के भवन-निर्माण की माँग एवं पुस्तकालयों के अनुदान के लिए गठित अवर-प्रमण्डलीय-पुस्तकालय-अनुदान-समिति एवं जिला-प्रशासकीय समितियों की बैठकों में बिहार राज्य पुस्तकालय-संघ द्वारा मनोनीत सदस्यों को सरकार के आदेशानुसार आमंत्रित करके उनकी राय लेना आदि। ये कुछ ऐसी माँगें हैं जिन्हें टालना या स्वीकृति से मुक्त रखना आजाद देश के पुस्तकालय-आंदोलन को पीछे ढकेलना है।

क्या ही अच्छा होता यदि प्रत्येक राज्य-सरकार पुस्तकालयों को समुचित ढंग से, समुचित राशि के अनुदान से, दीर्घजीवी बना पाती !



यदि इंजीनियरिंग से राजनीति को अलग रखा जा सकता है, सर्जरी से अलग रखना सम्भव है, और सेक्स से राजनीति अलग रह सकती है; तो फिर साहित्य से भी उसे अलग रखा जा सकता है।

—पास्टरनाक



नोबेल पुरस्कार : कवि का दायित्व

श्रीधर पारडीकर

इटली के प्रवीण कवि सालवेतोर कोयसिमोदो को इस वर्ष नोबेल पुरस्कार के द्वारा सम्मानित किया गया है। स्टाकहोम के पत्र "अफ्ताब्लादे" ने उक्त निर्णय करनेवाली स्वीडेन की एकेडमी के प्रति सख्त विरोध प्रकट किया कि, यह चुनाव ही गलत है, न कि व्यक्ति। कवि सालवेतोर प्रमुख गीतकार हैं। कवि के नाते, इनके पूर्व, टी० एस० इलियट और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी यह पुरस्कार मिला है। पास्तरनाक के प्रथम उपन्यास 'डॉ० जिवागो' को जब यह पुरस्कार मिला, तो साहित्य-जगत् में यह वितण्डा फैली कि राजनीतिक स्थिरस्वार्थ के नाते ही उन्हें इस उपन्यास पर पुरस्कार दिया गया है, वर्ना उन्हें कवि के नाते ही प्रमुखता मिलनी चाहिए। वस्तुतः, यह राजनीतिक कारण है भी, क्योंकि १६१४ के पहले, जबतक अमरीका की राजनीतिक प्रतिष्ठा नहीं हुई थी तबतक, वहाँ के किसी प्रशंसनीय लेखक को इस पुरस्कार के लिये याद तक नहीं किया गया। अफ्ताब्लादे का ऐतराज है कि "यह सचाई भुलाई नहीं जा सकती कि अभी भी पाब्लो नेरूदा, सेंट जान पर्स और इजरा पाउंड जैसे कवि हैं, जिन्हें इस पुरस्कार के योग्य नहीं माना गया"। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने पुरस्कृत होने के समय लगभग ऐसी ही बात कही थी कि "मुझसे भी अधिक योग्य कवि और कहानीकार प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र भारत में हैं और पुरस्कार मुझे मिला, यह आश्चर्य है"। आलबेर कामू ने भी, १६५७ में, इस पुरस्कार को पाने के बाद ऐसा ही आश्चर्य प्रकट किया था कि "यह पुरस्कार मेरे गुरु आँद्रे मेरिया को मिलना चाहिए। ज्याँ ग्रेनिया भी इसके अधिकारी हैं। जबकि साहित्य-क्षेत्र में ये दोनों मेरे आदरणीय पथ-निर्देशक रहे हैं"। महाकवि टेनिसन ने केपलिंग के लिए कहा था कि वह ही "ऐसा कवि है जिसमें कि काव्य-शक्ति का स्वर्गीय प्रकाश आभासित है"। किन्तु, केपलिंग को १६०७ में जो यह सम्मान मिला, वह काव्य के बजाय उपन्यास के लिये ही। प्रस्तुत कवि सालवेतोर की उम्र ५८ वर्ष की है। ये, अलबर्तो मोराबिया, ऊनग्राट आदि प्रमुख सोवियट और इटली के कवियों के बीच, विशिष्ट हैं। गत १६५७ साल के शरद में, इटली में कविता के विषय में जो समीक्षा हुई थी उसमें, इनका ही प्रमुख भाग था। उसके बाद १६५८ साल के सितम्बर में इनको सोवियट में निमंत्रित किया गया। तब इटली और सोवियट के विद्वानों की वैसी ही समीक्षा-गोष्ठी का आयोजन हुआ था। किन्तु, ये यात्रा में ही अस्वस्थ हो गये। और, इनके इस लिखित निबन्ध को, वहाँ इटली के एक कवि ने पढ़ा था। यह इनके उसी लिखित निबन्ध का अनुवाद है। इस निबन्ध में, काव्य और उसकी रसात्मकता के विषय में, कवि के अपने विचारों का एक उत्तम परिचय मिलता है।

"काव्य की समस्या, यों ही, अथवा सभी तरह से, विवेचना के योग्य है। प्रत्येक काल में, कवि का जन्म होता है 'विशृंखलता' से। जीवन से घनिष्ठ सान्निध्य के लिए, शायद उसका नया रास्ता होता है। यहाँ एक बात की स्वीकृति कर दूँ, कवि किसी समय अपने को जीवन से अलग नहीं कर सकता, कवि जब-कभी निराशा-दग्ध होता है, अथवा अपने-आपको अकेला अनुभव करता है, अथवा जन-मन में द्विधा-द्वन्द्व देखता है—तब भी नहीं। यहाँ तक कि, जब वह देखता है कि मानव-समाज के आधे हिस्से के लिये तो स्वर्ण-उपहार है और शेष आधे के लिये रक्तस्नात प्रतिदिनों की रोजी के लिये मृत्यु के बीच खून और स्वर्ण की रस्सा-कशी—तब भी नहीं।

"किन्हीं-किन्हीं का कहना है कि आज के मनुष्य ने अपने-आप पर से विश्वास खो दिया है। यह बात अपनी जगह पर कायम होती आ रही है—और यहाँ तक कायम होती आ रही है कि इस युग के कवि, जो नग्न-आवेग तक पर आक्रमण करने से बाज नहीं आते हैं, वे भी, इस विषय में 'निन्दित' न हो सकें यह बात नहीं है, बल्कि वे अपनी सृजनशील लेखनी से केवल-मात्र मनुष्य के क्रमागत अधःपतन का ही चित्रण करते हैं।

"मनुष्य के सामयिक भाग्य के साथ कवि के घनिष्ठ हो जाने की आवश्यकता है—यह बात जो-सब अनभिज्ञ लोग

ऊँचे स्वरों में घोषित करते रहते हैं, उनके बीच प्रायः एक प्रकार का द्वन्द्व लक्षित किया जा सकता है।

"किसी भी हालत में कविता "यह" और "वह" नहीं हो सकती। कविता हर हालत में कविता ही है। यह कुछ पहले भी मैंने कहा है। कविता हमेशा एक अमूर्त-भंगी और एक गहरा विश्वास है। स्वार्थहीन भाषा में कहा जा सकता है कि वह मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के ऊपर आस्था होती है, और इसीलिए वह अन्य किसी प्रेरणा की आज्ञाकारिणी नहीं हो सकती।

"कवि, मनुष्य के नाते ही, समाज-निर्माण का व्रती होता है, यद्यपि इस निर्माण-कर्म में वह "प्रधानतः स्वतन्त्र व्यक्तित्व" मात्र ही रहता है। इस प्रसंग में इतना कहना आवश्यक होगा कि उसकी क्षमता के लिये किसी प्रकार के बाहरी उत्साह की आवश्यकता नहीं होती। मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर पाता हूँ कि कविता केवल "सान्त्वना" भर होती है। मेरे निकट तो कविता, मानव-मन के तल से जीवन की जो आशा आन्दोलित हो-होकर बार-बार ऊपर आती है, उसी का शाश्वत आन्दोलन है।

"कविता आध्यात्मिकता की शर्त नहीं हो सकती। कोई भी आधुनिक कवि, क्या "ज्ञान के शीर्ष" पर चढ़कर, मनुष्य और पृथिवी की व्याख्या कभी कर सकेंगे? इस विषय में टी० एस० इलियट, दान्ते से सम्पर्कित ग्रन्थ में, दान्ते की ही भाषा में "शुद्धता" के संबंध में बोलने के समय ईर्ष्या प्रकट कर गये हैं। [जिस प्रकार अपनी ओर से, उसी प्रकार ऐंग्लो-सेक्सन-जगत के सारे कवि, जिनके बीच निश्चय ही वैसे कविगण भी होंगे, उनकी ओर से भी, उन्हें यही ईर्ष्या है]

"दान्ते ने आधुनिक कवियों को एक उचित शिक्षा दी है। उन्होंने हमें सिखाया है कि केवल "समय" ही सबसे बड़ी चीज नहीं है; जो असली चीज है, वह तो है समय का "ज्ञान"। इसीलिए पेत्रार्क और लियोपारडी विश्वकवि हैं और इसीलिए वे जनगण के मन में अबतक विराजमान हैं। हम पेत्रार्क का स्मरण करते हैं और उनकी कविता का स्मरण करते हैं, जो अब भी हमारे इस काल में दूर की कामना हो सकती है, जो गत तीन शताब्दी से लेकर आजतक सम्पूर्ण योरोपीय काव्य-शैली का लालन-पालन करती रही है। हम स्मरण करते हैं लियोपारडी का, क्योंकि वे 'वर्जिल' के समान अपने में अपने-आप को आबद्ध करके "भाषा का मुंशीपना" देख चुके हैं।

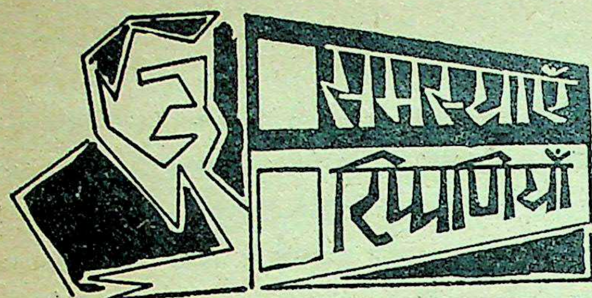
"वस्तुतः लियोपारडी के बाद से इटली के काव्य में नयी लहर आई, जिसके फलस्वरूप ही इटली के आज के काव्य में प्रवाह आया। जो हो, आज का दायित्व और भी अधिक है; आजकल ही मनुष्य के "रूपान्तर" का समय है। मेरे शब्दों पर लक्ष्य करें। पृथ्वी की सभी जगहों पर मनुष्य बदल रहा है। मनुष्य को बदलना है—अर्थात् जिनकी गोपन आकांक्षाओं की दृष्टि कविता-पुस्तकों के पन्नों पर है, जो शैतान को ही मनुष्य का प्रिय मानते हैं, जो माँ के आँसुओं तक का उपहास कर सकते हैं, जिनके रक्ताक्त हाथ पतलून की जेबों में छिपे रहते हैं—उनको भी नया जन्म देना होगा।

"मनुष्य का रूपान्तर करना ही कवि का प्रधान कर्त्तव्य है। किन्तु, समस्या है कि अब भी ऐसे मनुष्य हैं, जिनके निकट कविता केवल साहित्य-खेला ही है और कविगण जीवन-पथ के एक अज्ञात पथिक ही। और, कोई-कोई अपने मन-प्राण से ऐसी कामना भी करते हैं कि कवि वह जीव है जोकि यकायक किसी रात के समय एक घुमावदार सीढ़ी से एक अज्ञात मीनार पर चढ़ जाता है और वहाँ से विचित्र आह्लाद के साथ महाजागतिक दृश्यावली का दर्शन करता है।

"किंतु इस प्रकार अज्ञात मीनार पर चढ़ कर तारे देखने के दिन चले गये हैं। कवि का काम और दायित्व है—मनुष्य का रूपान्तर।



मैक्सिम गोर्की ने कहा है कि शब्द खुली अंगुलियों के समान होते हैं और कहावतें बन्द मुट्ठी के समान होती हैं।



प्रकाशक : अफसरी अभद्रता : आवश्यक प्रश्न

[निम्नांकित पत्र भेजनेवाले श्री भानुकुमार जी जैन "हिन्दी पुस्तक भंडार, महावीर बिल्डिंग, ११ होमजी स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई–१" के संचालक, "हिन्दी ज्ञानदूत" जैसे प्रतिष्ठित मासिक पत्र के प्रकाशक तथा हिन्दी-प्रकाशन-जगत के विशेष सम्माननीय व्यक्तित्वों में प्रमुख हैं। आपका निम्नांकित पत्र यह प्रदर्शित करता है कि भारत-सरकार के गृह-मंत्रालय के हिन्दी-शिक्षण-विभाग का बम्बई स्थित अधिकारी कितना अभद्र है। उसने श्री जैन के विरुद्ध जो अभद्रता बरती है, उसके लिए उसने यदि कोई सफाई नहीं दी, या क्षमा-याचक नहीं हुआ, तो यह बात सभी प्रकाशकों के सम्मान के विरुद्ध हो जाती है। किन्तु, प्रकाशकों के अपने श्रेय के नाते इतना भी आवश्यक है कि निम्नांकित पत्र में दर्ज, दूसरे प्रकाशक का प्रतिनिधि, जिस प्रकार अपने ही व्यवसाय के एक व्यक्तित्व के अपमान का तमाशबीन बना रहा, उसकी भी निन्दा हो। हम चाहेंगे कि वह अधिकारी, इस मासिक पत्र में या अन्य किसी पत्र में, अपनी खुली सफाई दे और हम उक्त तमाशबीन प्रकाशक-प्रतिनिधि से भी सफाई चाहेंगे—सम्पादक]

५, नवम्बर, १९५९

प्रिय महोदय,

नीचे लिखा एक निवेदन भेज रहा हूँ। मैं आशा करता हूँ कि इस वारदात पर आप अपनी सम्मति अपने पत्र में प्रकट करेंगे। और, साथ ही घटनाचक्र को भी प्रकाशित करेंगे।

घटनाचक्र इस प्रकार है :

उपर्युक्त मेरी फर्म के पते पर, आज दिनांक ५ नवम्बर १९५९ को, इमीजिएट मोहर लगा पत्र नं० ८३० आया। पत्र की नकल इस प्रकार है :

नं० ६०१८, बम्बई–१, ता० ४ नवम्बर १९५९।

प्रेषक : गवर्नमेंट आफ इंडिया, मिनिस्ट्री आफ होम अफेयर्स, आफिस आफ दि हिन्दी टीचिंग स्कीम, मानिकजी वाडिया बिल्डिंग, वेल लेन।

सर,

दिस इज टु रिमाइंड यू आफ दि मिटिंग टू बि हेल्ड इन दि आफिस आफ श्री बी० एन० नायर, डिपुटी चीफ कन्ट्रोलर आफ इम्पोर्ट्स एंड एक्सपोर्ट्स, फोर्थ फ्लोर, सुदामा हाउस, विट्टेट रोड, बैलर्ड स्टेट, बाम्बे, आन फिफ्त नवम्बर फिफ्टी नाइन, एट् थ्री पी० एम०, टु डिस्कस दि एरेन्जमेन्ट्स टु बि मेड फार दि एक्जीबीसन आफ हिन्दी बुक्स। योर वेल्यूएबल कोआपरेशन एंड प्रेजेन्स इज अर्नेस्टली रिक्वेस्टेड।

योर्स फेथफुल्ली
जी० एन० व्यास
असिसटेंट सुपरवाइजर

उपर्युक्त पत्र पाकर मैं ढूँढता हुआ, समय पर उक्त आफिस में पहुँचा। बिल्डिंग सिर्फ तिमंजिली थी। चौथी मंजिल पर सिर्फ छत थी। उतर कर फिर मुझे तीसरी मंजिल पर आना पड़ा। वहाँ पता चला कि नायर साहब का दफ्तर दूसरी मंजिल पर है। दफ्तर में घुसने पर, एक साहब, श्री अग्रवालजी मैनेजर राजकमल प्रकाशन बम्बई से, बात करते हुए मिले। मेरे अन्दर पहुँचने पर, उन्होंने "आइए, बैठिए" का साधारण शिष्टाचार भी नहीं बतलाया। थोड़ी देर बाद, मेरी तरफ मुखातिब होकर, इन साहब ने मुझसे पूछा—"आप किस कम्पनी से आया है?" मैंने उत्तर दिया—"हिन्दी पुस्तक भंडार से।" मैंने उनसे शिकायत की कि "आपने अपने निमंत्रण-पत्र में चौथी मंजिल पर आने को लिखा है। मैं दस मिनट तक परेशान रहा।" उन्होंने उत्तर दिया—"इफ यू आर इन ए कम्प्लेनिंग मूड यू कैन गो आउट।" मैंने उनसे कहा—"दिस इज ए जिनाइन मिस्टेक

आफ योर आफिस एंड यू एडमिट इट।" तब उन्होंने दुबारा मुझसे कहा—"इफ यू आर नाट इन ए मूड आफ मीटिंग, यू कैन गो आउट!" तब मैंने उन महोदय से कहा—"आइ डू नाट एक्स्पेक्ट सच विहेवियर फ्राम एन आफिसर लाइक यू।" तब उन्होंने फिर कहा—"यू कैन गो आउट!" इसके बाद मैं चला आया।

१. अब प्रश्न यह उठता है कि नायर साहब इस स्वतंत्र भारत-सरकार की होम-एफेयर्स-मिनिस्ट्री की हिन्दी-टीचिंग-स्कीम के बम्बई राज्य के सर्वेसर्वा आफिसर नियुक्त हुए हैं। हिन्दी पुस्तकों की प्रदर्शनी के सम्बन्ध में विचार करने के लिये उन्होंने अपने-आप मुझे बुलाया था। और, उनके पद को देखते हुए क्या यह उचित था कि वे अपनी आफिसियल हेकड़ी इस तरह जताते?

२. क्या हिन्दी का बुकसेलर, कि जो अखिल भारतीय प्रकाशक संघ का सदस्य है, कि जिस संघ की सदस्यता सारे भारत में ग्यारह सौ से ऊपर तक पहुँच चुकी है, एक अँग्रेजी-दाँ उच्च सरकारी अफसर के इस तरह के अशिष्ट व्यवहार को बरदाश्त कर सकता है या उसे करना चाहिये?

३. क्या अखिल भारतीय प्रकाशक संघ और हिन्दी के प्रकाशन और पुस्तक-जगत के अखबार इस आफिसर की अशिष्टता के विरुद्ध कोई उचित कार्यवाही करेंगे?

४. क्या अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के सदस्य, और जो सदस्य नहीं हैं वे बुकसेलर्स, इस तरह का व्यवहार करनेवाले अफसर द्वारा आयोजित हिन्दी-पुस्तक-प्रदर्शनी को आयोजित करने में मदद देंगे; जबतक कि वह क्षमा न माँग ले?

५. क्या हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ, हिन्दी से सम्बन्धित व्यक्ति का इस तरह अपमानित होना, पसन्द करेंगी?

मैंने इस पूरे घटनाचक्र में एक शब्द भी अतिशयोक्ति का नहीं लिखा है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा और राजभाषा के पद पर विराजमान होने जा रही है। भारत-सरकार का एक उच्च अधिकारी, हिन्दी के लिए पद पर बैठा हुआ, हिन्दी के काम के लिये अपनी तरफ से बुलावा भेज कर, इस बम्बई-जैसी नगरी में, हिन्दी के पुस्तक-विक्रेता का इस तरह अपमान करे! उसकी इस कार्यवाही के लिये, उस अफसर को, कि जो शिष्टाचार से बात तक करना नहीं जानता, दंड यह होना चाहिये कि वह लिखित रूप से अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ से, हिन्दी के बुकसेलर का अपमान करने के लिए, क्षमा माँगे। और दूसरा दंड यह मिलना चाहिये कि मिनिस्ट्री आफ होम अफेयर्स, श्री नायर को, हिन्दी-टीचिंग-स्कीम के सर्वेसर्वा आफीसरी-पद से, बर्खास्त कर दे।

मैं आशा करता हूँ कि आपका पत्र इस पूरे समाचार को प्रकाशित करेगा और अपनी सम्मति भी इस बारे में प्रकट करेगा।

आपका
भानुकुमार जैन



डाक्टर लोग अपने दीक्षान्त के अवसर पर अपने पंथ के आदिगुरु हिपाक्रेटस (ई० पू० ४६०-३५७) की कसम उठाकर प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं इस विद्या के प्रयोग से किसी की हानि का इरादा नहीं करूँगा, किसी को मारने के लिए विष नहीं दूँगा, गर्भपात नहीं कराऊँगा, बेहोशियारी के साथ चिकित्सा की छुरी नहीं चलाऊँगा—इत्यादि।

सूचनाएँ विज्ञप्तियाँ

—नयी दिल्ली, २६ अक्तूबर। हिन्दी में वैज्ञानिक और शिल्पिक विषयों की पुस्तकों की रचना को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रणालय ने डेढ़-डेढ़ हजार रुपये के बीस पुरस्कार देना तय किया है। ये पुरस्कार हिन्दी में उच्च-शिक्षा की अप्रकाशित पुस्तकों पर दिये जायेंगे। पुरस्कार के लिए केवल जीवित लेखकों की रचनाओं पर विचार किया जायगा, चाहे यह उनकी मूल रचना हो अथवा किसी अन्य भाषा का अनुवाद हो। इन पुरस्कारों की निम्नलिखित तीन श्रेणियाँ हैः—

पहली-श्रेणी :—इन विषयों पर डेढ़-डेढ़ हजार रुपये के छः पुरस्कार दिये जायेंगे :—भौतिक-शास्त्र, गणित-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र और भूगर्भ-शास्त्र। इस श्रेणी की पुस्तकें सामान्य ज्ञान की अथवा उपर्युक्त किसी विषय की होनी चाहियें और भारतीय विश्व-विद्यालयों में बी० एस० सी० की पढ़ाई के लायक होनी चाहियें।

दूसरी श्रेणी :—निम्नलिखित विषयों पर रचित पुस्तकों पर डेढ़-डेढ़ हजार रुपये के छः पुरस्कार दिये जायेंगे :—कृषि, चिकित्सा, ऋतु-विज्ञान, सिविल इंजीनियरिंग, धातुकर्म और स्थापत्य-कला। ये पुस्तकें इंजीनियरी और शिल्पिक-संस्थाओं में स्नातक-कक्षा के योग्य होनी चाहियें।

तीसरी श्रेणी :—डेढ़-डेढ़ हजार रुपये के आठ पुरस्कार इन विषयों पर दिये जायेंगे :—राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मानव-शास्त्र, अन्तरराष्ट्रिय-कानून, चिकित्सा-मनोविश्लेषण, प्रायौगिक-मनोविज्ञान और शिक्षा। ये पुस्तकें ऐसी होनी चाहियें जो भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर अध्ययन के लायक हों।

—नागपुर, २ नवम्बर। विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कार्यसमिति ने गत २३ अक्तूबर को हुई बैठक में दस हजार रुपये की शेयर पूँजी से सहकारिता के आधार पर एक प्रकाशन-संस्था की स्थापना करने का निश्चय किया। इस संस्था का कार्य आरम्भ करने के लिए सम्मेलन एक हजार रुपये प्रदान करेगा। इस प्रकाशन-संस्था का प्रधान उद्देश्य विदर्भ के उदीयमान हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं के प्रकाशन-विक्रय आदि की सुविधाएं उत्पन्न करना होगा। इसके साथ ही विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों पर खोजपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने का भी निश्चय किया गया है। सम्मेलन द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले प्रथम ग्रन्थ का विषय होगा "हिन्दी साहित्य के विकास में विदर्भ का योग"।

—नागपुर, २ नवम्बर। विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् १९५७, १९५८ और १९५९ में विदर्भ के हिन्दी लेखकों की तीन सर्वोत्कृष्ट प्रकाशित पुस्तकों को पुरस्कृत करने का निश्चय किया है, पुस्तक देश के किसी भी भाग की हों।

—भंडारा, ११ नवम्बर। राज्य सरकार की ओर से पहली बार हिंदी-नाटक-प्रतियोगिता का कार्य-क्रम आयोजित किया जा रहा है। यह कार्य-क्रम दिसम्बर ७ से १७ दिसम्बर तक चलेगा। अभी तक यह नाटक-प्रतियोगिता बम्बई, पूना, अहमदाबाद आदि स्थानों पर मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में आयोजित की जाती रही है।

—नयी दिल्ली, ११ नवम्बर। १२ नवम्बर को नयी दिल्ली में विश्वविद्यालयों से शिक्षा सम्बन्धी आंकड़े एकत्र करने के प्रामाणिक तरीके तथा कार्य-क्रम के बारे में एक गोष्ठी हुई थी। शिक्षा-मंत्रालय द्वारा की जाने वाली इस प्रकार की यह पहली गोष्ठी है। इस गोष्ठी का उद्देश्य, कालेजों से सही आंकड़े एकत्र करने का एक उत्कृष्ट तरीका ढूँढ़ निकालना तथा उसे एकत्र करके ठीक समय पर भारत सरकार को देने के तरीके के बारे में सुझाव देना है।

—श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं का एक संकलन रूसी भाषा में सोवियत रूस में प्रकाशित हुआ है। यह उनकी चुनी हुई ५० कविताओं का अनुवाद है। येवगेनी चेलशेव, जो भारतीय भाषाओं के वहाँ विद्वान माने जाते हैं, उस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं कि प्रगतिवादी भारतीय साहित्य में ये प्रेरक हैं। वहाँ के विदेशी साहित्य प्रकाशन ने कुलभूषण की कहानियों का संकलन भी प्रस्तुत किया है।

—नयी दिल्ली, १४ नवम्बर। शिक्षा मंत्रालय ने घोषणा की है कि बाल साहित्य सम्बन्धी २४ पुस्तकों एवं पांडुलिपियों के लेखकों को पांच-पांच सौ रुपये पुरस्कार दिये जायेंगे।

उक्त घोषणा बाल साहित्य की पांचवीं प्रतियोगिता के परिणाम स्वरूप की गयी।

शिक्षा मंत्रालय ने पांच पुस्तकों के लेखकों को भी पांच-पांच सौ रुपये के पुरस्कार देने की घोषणा की है। इन लेखकों को चौथी प्रतियोगिता में भी पांच-पांच सौ रुपये के पुरस्कार दिए गए थे।

भारत सरकार ने बाल-साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए एक योजना बनायी है। इसके अन्तर्गत, प्रतिवर्ष यह प्रतियोगिता की जाती है। पहले-पहल यह प्रतियोगिता १९५४ में की गयी। अब तक पांच प्रतियोगिताओं में १०६ पुस्तकों को पुरस्कार दिये जा चुके हैं। पांचवीं प्रतियोगिता शुरू करने की घोषणा २६ जनवरी, १९५९ को की गयी थी जिसमें विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में कुल ४०३ पुस्तकें आयीं।

—भारत के उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने इस बात पर जोर दिया है कि प्राचीन उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रकाश में आज की मानवता का शृंगार किया जाय। डा० राधाकृष्णन् ने अम्बाला में, 'पुस्तक समारोह' के आयोजन के अवसर पर शिक्षार्थियों के सम्मुख भाषण करते हुए आगे कहा है कि आज राष्ट्र का चरित्र गिर रहा है। इसका कारण है कि ऊंचे दरजे का साहित्य इनके लिए अपरिचित रहता है। राष्ट्र-नेताओं का भी ध्यान इस ओर नहीं है। आपने कहा कि सिनेमा, रेडियो और समाचारपत्रों तथा टेलीविजन के बावजूद पुस्तकों की अपनी महत्ता है। आपने एकान्त अध्ययन की चर्चा करते हुए कहा कि इससे पुस्तक अध्ययन में बड़ा लाभ होता है। पुस्तकें ही एक ऐसा अध्ययन है कि जिसके द्वारा हम अपने समूचे जीवन में परिवर्तन कर सकते हैं।

—केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय ने नवसाक्षरों के लिए पुस्तकों की प्रथम प्रतियोगिता में ४ हिन्दी तथा दो बंगाली पुस्तकों के लेखकों को (प्रत्येक को २२५० रुपया) पुरस्कृत किया है। ये पुरस्कार यूनेस्को के सहयोग से दिये गये हैं। निम्नलिखित पुस्तकों के लेखक पुरस्कृत हुए हैं। डाक्टर भानुशंकर मेहता (चिकित्सा की प्रगति), श्री पन्नालाल जायसवाल (उन्नत कृषि की ओर), श्री मुश्ताक अहमद (आदमी की कहानी), रमाराव (हिन्देशिया)। बंगाली लेखकों में श्री हिरण्यमय बंद्योपाध्याय तथा श्री विनय घोष हैं।

—सुप्रसिद्ध गांधीवादी नेता तथा विचारक आचार्य काका कालेलकर ने अहमदाबाद में अपने भाषण में कहा कि विद्वानों को चाहिये कि वे स्वयं अपना एक अखिल भारतीय संगठन बनायें जो सरकारी हस्तक्षेप से बिलकुल स्वतन्त्र हो। सरकारी सहयोग के फल खतरनाक हो सकते हैं। यद्यपि 'साहित्य अकादमी' के द्वारा अच्छा कार्य हो रहा है, पर सरकारी नियंत्रण के कारण कभी-कभी वह भी ठीक से काम नहीं कर पाती है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि एक ऐसा संगठन किया जाय जो सरकारी नियंत्रण से सर्वथा अलग रहे।

—आगामी १० नवम्बर से १६ नवम्बर तक बम्बई में प्रकाशकों एवं मुद्रकों का सेमिनार होगा। यूनेस्को द्वारा जो ५ देशों का क्षेत्रीय सेमिनार इस सम्बन्ध में आगामी ३० नवम्बर से मद्रास में हो रहा है, यह उसी की भूमिका है।

—पटना, १६ नवम्बर। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से वर्तमान आर्थिक वर्ष (१९५९-६०) में एक-एक हजार रुपये के दो पुरस्कार, उसके आगामी वार्षिकोत्सव (मार्च, १९६० ई०) के अवसर पर, निम्नलिखित विषयों के श्रेष्ठ मौलिक ग्रंथों के लिए दिये जायेंगे। इन दो पुरस्कारों में एक पुरस्कार अहिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दी-लेखकों के लिए होगा और दूसरा बिहार के ग्रंथकारों के लिए। (१) अहिन्दी-भाषा-भाषी लेखकों के लिए – मौलिक साहित्य एवं (२) बिहारी लेखकों के लिए—संस्मरण तथा जीवनी। उपर्युक्त पुरस्कार-प्रतियोगिता में अहिन्दी-भाषा-भाषियों की १९५५ से १९५९ की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें ही स्वीकृत होंगी तथा बिहारी लेखकों की १९५० के बाद की पुस्तकें स्वीकृत की जायेंगी। पुरस्कार के लिए भेजी जानेवाली प्रत्येक पुस्तक की सात-सात प्रतियाँ परिषद्-कार्यालय में ३१ दिसम्बर, १९५९ तक अवश्य ही पहुँच जानी चाहिए। प्रत्येक पुस्तक पर यह लिखा होना चाहिए कि वह किस विषय की प्रतियोगिता में भेजी गई है। प्रत्येक पुस्तक के साथ एक स्पष्ट लिखित पत्रक संलग्न रहना चाहिए, जिसमें पूरा विवरण अंकित हो—पुस्तक और प्रकाशक के नाम और पते, प्रकाशन-वर्ष, लेखक का वर्तमान पूरा पता, विषय आदि। (१) रेलवे-पार्सल से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—ईस्टर्न रेलवे : पटना-जंकशन और नार्थ-ईस्टर्न रेलवे : महेन्द्रू घाट (२) डाक से भेजी जानेवाली पुस्तकों के लिए पता—संचालक बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, कदमकुआँ, पटना-३।





क्या वह पागल था ?

मूल लेखक :—बालजॉक

अनुवादक—शिवदान सिंह चौहान

प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली

मूल्य—दो रुपया पचास नये पैसे

प्रस्तुत पुस्तक में बालजॉक लिखित दो उपन्यास हैं। कलेवर से ये दोनों उपन्यास लघु उपन्यास जान पड़े। दूसरे उपन्यास का नाम है—गॉवसैक।

विश्व-उपन्यास-साहित्य में बालजॉक को, जमाने रोज हुए, जबकि श्रेष्ठता की स्वीकृति मिल चुकी है। 'क्या वह पागल था' नामक रचना में बालजॉक ने एक स्वार्थ-परायण नारी का चित्रण बड़ी खूबी और सूझ-बूझ के साथ किया है। मिसेज ऐस्पा चाहती हैं कि मि० ऐस्पा को अदालत पागल करार दे ताकि संपूर्ण संपत्ति पर उसका एकमात्र अधिकार हो जाय और पेरिस के फैशनेबुल समाज में वह अपने फैशन की प्रतिष्ठा कायम किये रहे। परन्तु, वास्तविकता यह है कि मि० ऐस्पा न तो पागल हैं और न चरित्रहीन; जैसा कि मिसेज ऐस्पा ने अदालत में दरखास्त दिया है कि उसके पति पागल हैं और एक स्त्री से उनका अनुचित संबंध भी है। ठीक इसके विपरीत मि० ऐस्पा अत्यंत भावुक, संवेदनशील और ईमानदार व्यक्ति हैं। मि० पोपीनो नामक बूढ़ा मजिस्ट्रेट इस बात की जाँच करने के लिए अदालत द्वारा नियुक्त किया जाता है कि वास्तविकता क्या है? पोपीनो चरित्रवान और ईमानदार मजिस्ट्रेट है। मेरी समझ से, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को, जिसके हाथ में न्याय की तुला होती है, जिसके फैसले से किसी की जान जाती और किसी की जान बच जाती है, यह उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए।

इसी पुस्तक में गॉवसैक नामक दूसरा लघु उपन्यास है। इसमें गॉवसैक नामक सूदखोर का अत्यंत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। गॉवसैक जानता है कि सूद पर उधार लेनेवाले बाहर से कितने मजबूत और भीतर से कैसे दिवालिया होते हैं, आमदनी से अधिक शान-बान की जिन्दगी बितानेवाले भीतर से कितने खोखले होते हैं? हमारे मुल्क में भी आज ऐसे व्यक्ति हजारों की संख्या में मौजूद हैं, जो कर्ज लेकर अपनी शान का प्रदर्शन करते हुए नहीं अघाते। लेकिन जिससे वे सूद पर कर्ज लिए रहते हैं, उसके सामने तो वे वैसे ही झुकते हैं, जैसे गरुड़ के सामने जहरीला साँप।

बालजॉक की इन दोनों कृतियों के अनुवाद का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

चंपारण और नील के धब्बे

लेखक—विंध्याचल प्रसाद गुप्त

प्रकाशक—ग्रंथ भंडार, पटना—४

मूल्य—दो रुपए

इसके रचयिता हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि हैं। गुप्तजी की यह रचना देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। चंपारण में जब निलहे साहबों के अत्याचार से वहाँ के किसान ऊब गये थे, तब स्वर्गीय राजकुमार शुक्ल ने उनकी मुक्ति के लिए अथक परिश्रम किया था। हैरत तो यह जानकर होती है कि स्वर्गीय शुक्लजी को कैथी लिपि का साधारण ज्ञान मात्र था। आप कलकत्ता, लखनऊ, पटना आदि के अनेकों चक्कर लगाकर स्वर्गीय बापू से मिले और उनसे एक बार चंपारण चलकर वहाँ के किसानों की दुर्दशा और निलहों के अत्याचार को प्रत्यक्ष देखने का अनुरोध किया।

इस पुस्तक में स्वर्गीय राजकुमार शुक्ल की डायरी के मूल वाक्य तिथि-क्रम से दिये गए हैं। यत्र-तत्र तिथि-क्रम-भंग भी दीखते हैं, किंतु इससे पुस्तक की महत्ता कम नहीं होती। पुस्तक पढ़ने से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि तब एक साधारण ब्राह्मण-किसान के हृदय में स्वतंत्रता और मुक्ति-प्राप्ति के लिए क्रान्ति का कैसा मशाल जल रहा था।

यह पुस्तक मुक्ति की प्रेरणा देनेवाली है, साथ ही इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है। ऐसी प्रेरणादायिनी पुस्तक के लेखक और प्रकाशक को हम बधाई देते हैं।

—मुक्तिदूत

'निहोरा'

लेखक—श्री सुरेश दुबे 'सरस'
प्रकाशक—काव्य निकेतन, बिलारी, (पटना)
मूल्य—१ रु० २५ न० पै०

राष्ट्रभाषा की प्रगति और प्रसार का एक अर्थ क्षेत्रीय भाषाओं की समृद्धि भी है। राष्ट्रभाषा के विशाल सागर में कितने ही मोती, बोलियों की सीपियों से निकलकर, भरे रहते हैं। मुझे श्री सुरेश दुबे 'सरस' की रचनाओं को पढ़ने-सुनने से इसलिए भी बहुत प्रसन्नता हुई।

दुबे जी की पुस्तक 'निहोरा' मगही बोली की एक सरस, सफल देन है। भोजपुरी और मैथिली की भाँति अभी मगही का साहित्य उतना लोक-प्रिय नहीं हुआ है। इसलिए इस क्षेत्र के विकास और सेवा की आवश्यकता बनी हुई है। दुबे जी ने इस दिशा में प्रशंसनीय कदम उठाये हैं। इनके गीतों में लोकगीतों की तरलता और सरलता है, गेयता और विचारात्मकता स्थल-स्थल पर मिलती है। जीवन और जगत के विभिन्न भाव, कवि की उर्वर कल्पना को छूकर, साकार हो उठे हैं। सुख-दुःख के अनेक क्षण इनकी प्रतिभा के पारस को छूकर स्वर्णिम हो उठे हैं।

'निहोरा' मगही साहित्य के विकास का परिचायक और कवि के सुनहले भविष्य का सूचक है। मैं साहित्य के क्षेत्र में इस नयी प्रतिभा का अभिनन्दन करता हूँ।

—श्यामनन्दन 'किशोर'

वक्र-चन्द्रमा (व्यंग्य कविताएँ)

कवि—ब्रजकिशोर नारायण
प्रकाशक—अजन्ता प्रेस, पटना ४
मूल्य—२·००

"छायावाद से यथार्थवाद और प्रयोगवाद तक की बानगी लेकर १९४६ में उपस्थित हुआ···मेरी सम्पूर्ण साधना शास्त्रीयता के साथ साकार हुई···'वक्र चन्द्रमा' पन्द्रह वर्षों की साधना के बाद की ऐसी रचना है जिसे हिन्दी का सर्वप्रथम व्यंग्य-कविता-संग्रह कहा जा सकता है···हिन्दी की शक्ति को अगर इन कविताओं से थोड़ी-सी भी उत्तेजना मिली" आदि-आदि आत्मप्रशंसाओं को यदि कवि अपने मुँह से कहने के बजाय किसी और से कहवाता, तो सहनीय होता। इस आत्मप्रशंसा के प्रारंभ में तो कवि ने स्वयं को विभिन्न वादों में ग्रस्त घोषित किया, और अंत में "कविता को जिस प्रकार वादों के बाँसों पर खड़ा करके उसकी बड़ाई मनवाने की प्रकांड प्रक्रियाएँ चल रही हैं, उससे मैंने अपनी नई कविताओं को दूर ही रखा है" इस प्रकार निरीह घोषित किया—यह भी एक चिन्त्य आत्मस्तुति है।

पहली कविता में "तराजू को धर···अफसर नेता बन" जैसी असंगति, तीसरी कविता में रजाई के लिए "बबूल के गोंद जैसी···दादा को, पोते को, बाप को, बेटे को दस घंटे मजे देती···कौए की बीट जैसी···थूक हो अथवा किसी राक्षस की" आदि अश्लील और बीभत्स उक्तियाँ, बारहवीं कविता में "पत्नी वह लाचारी जिसको लोक-लाज ही लादे रहती कवि के मत्थे···पत्नी वह सामाजिक फाँसी···बीबी वह बीमारी मन की···टी० बी० ही बस उसे समझिए···पत्नी का संकट पत्नी तक ही क्या केवल, नहीं-नहीं वह संतानों तक" आदि वाहियाती, सत्रहवीं कविता में "कविता की भाषा, लामा का लासा, खाओ निराशा, पीओ बताशा, ···टपटप है धूप···काला है भात···साली हैं सात" आदि बेतुकी बातें और "मस्जिद में जिमनास्टिक, चकले में शिवाला" जैसे साम्प्रदायिक असज्जन-भाव, अठारहवीं कविता में "साहित्य उल्लू है, जैसे कश्मीर की नजर में कुल्लू है.... लगाके घर में अगवा" जैसा बेतुकापन, सत्ताइसवीं में "बीबी कुछ नहीं, साली सब कुछ है; श्रद्धा कुछ नहीं, गाली सब कुछ है" जैसी अनर्गलता तथा अट्ठाइसवीं में वही साम्प्रदायिक असज्जनता—पता नहीं कौन-सा व्यंग्य है?

—लालधुआँ

प्राचीन भारत के प्रसाधन

लेखक—अत्रिदेव विद्यालङ्कार
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—साढ़े तीन रुपये

सौंदर्य के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। मनुष्य में अपने को सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति आदिकाल से ही पायी जाती है। यह बात दूसरी है कि विभिन्न कालों में उनके साधन और

तरीकों में अन्तर रहा है। जबकि लोग जंगली थे और उनमें सभ्यता की बू तक नहीं आई थी, उस समय भी, लोगों में प्रसाधन के प्रति आग्रह देखा जाता है।

भारतीय समाज की तो प्रारम्भ से यह एक विशेषता रही है। यहाँ आदि-काल से ही लोग स्वास्थ्य और सौंदर्य के प्रति जागरूक रहे हैं। प्राचीन काल में भारत में शृंगार आदि के लिए जो प्रसाधन व्यवहृत होते थे, उसकी विस्तृत चर्चा हमारे प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से हुई है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इस विषय पर विभिन्न दृष्टियों से अत्यन्त ही बारीकी से विचार किया है। विभिन्न प्रामाणिक ग्रंथों से उद्धरण देकर लेखक ने इसे अधिक-से-अधिक उपयोगी और ज्ञानवर्धक बनाने का सफल प्रयास किया है। प्रसाधन की आवश्यकता, प्राचीन भारत में प्रसाधन के विभिन्न रूप, प्रसाधन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—आदि विषयों पर लेखक ने बहुत ही खोज और शोध के पश्चात पुस्तक में विचार किया है। अपने विषय पर यह अकेली और अनूठी पुस्तक है और इस दृष्टि से लेखक का कार्य अत्यन्त ही प्रसंशनीय है।

विषय के अनुरूप आवरण-पृष्ठ आकर्षक और भीतर की छपाई स्वस्थ है।

पत्र-व्यवहार : भाग १-२

लेखक—रामकृष्ण बजाज

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य—प्रत्येक के तीन रुपये

भारत की आजादी की लड़ाई की प्रथम पंक्ति के नायकों में स्व० जमनालाल बजाजजी का नाम अत्यंत ही श्रद्धा के साथ लिया जाता है। बापू के तो वे प्यारे ही थे। बापू को जितना निकट से जमनालालजी ने समझा और अध्ययन किया था, उतना सौभाग्य उनकी पीढ़ी के कम ही लोगों को प्राप्त हुआ था। बापूजी के व्यक्तित्व की पूरी छाप उन पर पड़ी थी।

प्रस्तुत के दो भागों में से प्रथम भाग में कुछ ऐसे महत्व-पूर्ण पत्र संकलित किये गये हैं जो बजाजजी के नाम लिखे गये थे और समय-समय पर उनसे प्राप्त भी किये गये थे।

इसके द्वितीय भाग में ऐसे पत्रों का संग्रह है, जिनका आदान-प्रदान उस काल के देशी राज्यों के राजनीतिक कार्य-कर्ताओं के संग हुआ था।

भारत की आजादी की लड़ाई और उसमें जमनालालजी के योग की झलक हमें इन पत्रों में मिलती है।

यद्यपि इनमें बहुत-से पत्र व्यक्तिगत आधार पर लिखे गये हैं, पर उनसे हटकर इनका महत्व सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टियों से कम नहीं है।

तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना की झलक इन पत्रों में दीख पड़ती है और भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास के लेखकों को इन पत्रों द्वारा काफी सहायता मिल सकती है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। इन पत्रों की सबसे बड़ी विशेषता इनमें निहित सेवा, त्याग और राष्ट्रीय भावनायें हैं, जो हमारे इन नेताओं और इन पत्रों के लेखकों में कूट-कूट कर भरी थीं।

हम इस पुस्तक के द्वितीय भाग के मान्य प्रस्तावना-लेखक के इन शब्दों से पूर्णतः सहमत हैं कि इनसे "हमारे आजादी के इतिहास के बहुत से पृष्ठों पर प्रकाश पड़ता है।"

इन पत्रों द्वारा हमें जमनालालजी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं एवं कार्यकर्ताओं के व्यक्तित्व को नजदीक से अध्ययन करने में सहायता मिलती है।

इन पत्रों की भाषा में एक अपनत्व का भाव है, जो पाठक और इन पत्रों के लेखकों के बीच तादात्म्य स्थापित करने में बीच की कड़ी का कार्य करता है।

साहित्य और इतिहास दोनों ही दृष्टियों से इन पत्रों का स्थायी महत्व है।

—विश्वनाथ



परम्परायें लैम्प-पोस्ट की तरह होती हैं। बुद्धिमान उनकी रोशनी में अपनी मंजिल तय करते हैं और आलसी-अकर्मण्य उनके द्वारा अपनी विफलताओं का समर्थन करते हैं।

—वाइकाउंट हेलशाम



हिन्दी उपन्यास

प्रधान सर्वेक्षक : डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

[राजा देवकीनन्दन हीरक जयन्ती कॉलेज (मुंगेर) के २० छात्रों की वाचनाभिरुचि का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें चार छात्राएँ और सोलह छात्र हैं। औसतन छात्रों का वय १९.६ वर्ष है। नगरनिवासियों की संख्या सात है अर्थात् पैंतीस प्रतिशत और ग्रामवासियों की तेरह अर्थात् पैंसठ प्रतिशत। मुंगेर जिले के निवासियों की संख्या सोलह अर्थात् अस्सी प्रतिशत है और अन्य स्थानों के निवासियों की कुल चार अर्थात् बीस प्रतिशत। बिंदु-क्रम पूर्ववत है]

हिंदी के मौलिक उपन्यास

वर्ग (क)

१. गोदान (१०+१०+६+५+१०+१०+८+६+१०+६+१०+१०+५+१०+६) १३१; २. चित्रलेखा (७+४+१०+५+६+६+१०+५+८+३+४+६+४) ८४; ३. कंकाल (६+४+६+१०+१+२+१०+६+४) ५५; कर्मभूमि (१०+६+७+६+१०+६+७) ५५।

वर्ग (ख)

२६ से ५० बिंदु तक प्राप्त करनेवाले उपन्यास :—

१. गबन ४०; २. निर्मला २६; मैला आँचल २६; ३. सेवा सदन, २८; नदी के द्वीप २८; बलचनमा २८।

वर्ग (ग)

१० से २५ बिंदु तक प्राप्त करनेवाले उपन्यास :—

१. लालरेखा (कुशवाहाकांत) २१; २. नीलम (कुशवाहा कांत) १८; ३. वयं रक्षामः १७; ४. गिरती दीवारें (अश्क) १६; मृगनयनी (वृंदावन लाल वर्मा) १६; सुनीता (जैनेन्द्र कुमार) १६; शेखर एक जीवनी (अज्ञेय) १६; ४. तितली (जयशंकर प्रसाद) १४; ५. जहाज का पंछी (इलाचंद्र जोशी) १३; ६. विद्रोही सुभाष (कुशवाहा कांत) १२।

वर्ग (घ)

(i) केवल एक उल्लेख प्राप्त करनेवाले उपन्यास :—

चितचोर, कायाकल्प, भूदानी सोनिया, चन्द्रकान्ता, मद भरी रात, वैशाली की नगरवधू, अधूरी नारी, माधवी, गढ़ कुंडार, प्रेमाश्रम, नारी, झाँसी की रानी, दिव्या, तीन वर्ष, मातृत्व का अभिशाप, राम-रहीम, समर-यात्रा, पत्थर के ओंठ, गोद, संस्कार, छोटी-सी बात, प्रेम-पुजारिन, बड़ी-बड़ी आँखें, कुलीन घराना, तीसरा नेत्र, समिधा, पुरुष और नारी, बूंद और समुद्र, अलका, गदर के फूल, पथिक, निरुपमा, नारी-हृदय, सूरदास, अप्सरा, पतन का अन्त, झूठा सच, त्याग-पत्र, रक्त और रंग, निर्मोही हृदय, सोना और खून, राही, काले कोस, देशद्रोही, रूपाजीवा, तन्तुजाल, भँवरा, प्रेत और छाया, रैन अँधेरी, निराला दिल, पपीहरा, चूड़ियाँ।

(ii) दो उल्लेख प्राप्त करनेवाले उपन्यास :—

सुनीता, गर्म राख, परख, रंगभूमि, शेखर एक जीवनी, रात चोर और चाँद (वलवंत सिंह), संन्यासी (जोशी), छलना, विमाता (अवध नारायण)

(iii) तीन उल्लेखवाला उपन्यास :—

गिरती दीवारें।

पर्यवेक्षण

१. पढ़ने के उद्देश्य रूप में १४ व्यक्तियों ने 'ज्ञानार्जन' का उल्लेख किया है। सिद्धांततः सत्तर प्रतिशत व्यक्तियों ने 'ज्ञानार्जन' को महत्त्वपूर्ण माना। मनोरंजन मात्र को उद्देश्य माननेवालों की संख्या केवल दो अर्थात् दस प्रतिशत है। एक ही व्यक्ति ने पढ़ने को पेशा माना है (जो भ्रम के कारण है) और दो व्यक्तियों ने मनोरंजन के साथ ज्ञानार्जन को उद्देश्य माना है।

२. उपन्यास के विभिन्न तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण माननेवालों की संख्या क्रमपूर्वक है—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-८

(चालीस प्रतिशत); मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण—४ (बीस प्रतिशत); घटना—२ (दस प्रतिशत); घटनाओं का मनोवैज्ञानिक संयोजन—२ (दस प्रतिशत); चरित्र-चित्रण—२ (दस प्रतिशत); कथोपकथन—१ (पाँच प्रतिशत) एवं नए प्रयोग—१ (पाँच प्रतिशत)।

३. साहित्य-विधाओं में उपन्यास को सर्वश्रेष्ठ माननेवालों की संख्या बीस अर्थात् शत-प्रतिशत है। उपन्यास के अतिरिक्त नाटक में भी रस लेनेवाले की संख्या १, कविता से भी आनन्द लेनेवाले की संख्या केवल २ है। दर्शन में भी रुचि रखनेवाला व्यक्ति केवल एक है। कथा सर्वाधिक रुचिकर साहित्यिक विधा है।

४. गोदान को सर्वाधिक रुचिकर माननेवाले आठ व्यक्तियों में पाँच नगर-निवासी हैं (इनमें एक महिला भी हैं)। चार महिलाओं में से केवल एक ने गोदान को सर्वाधिक रुचिकर माना है।

५. सर्वाधिक रुचिकर मानेजानेवाले उपन्यास यथाक्रम हैं:— गोदान (८ उल्लेख); चित्रलेखा (२ उल्लेख); कंकाल (२ उल्लेख); कर्मभूमि (२ उल्लेख); चित चोर: ज्वाला प्रसाद केसर (१ उल्लेख); गबन (१ उल्लेख), नदी के द्वीप (१ उल्लेख), गिरती दीवारें (१ उल्लेख), कायाकल्प (१ उल्लेख), भूदानी सोनिया (१ उल्लेख)।

६. निम्नतम स्थानवाले ग्रंथ यथाक्रम हैं :— वलचनमा, रूपाजीवा, तन्तुजाल (रघुवंश), भँवरा (कुशवाहा कान्त), गिरती दीवारें (अश्क), कंकाल, नीलम (कुशवाहा कान्त), रात चोर और चाँद (वलवन्त), चूड़ियाँ, (कुशवाहा कान्त), संन्यासी (जोशी), प्रेत और छाया (जोशी), रैन अँधेरी (मन्मथनाथ गुप्त), विमाता (अवध नारायण), निराश दिल (आरजू), पपीहरा (कुशवाहा कान्त) [बंकिम चंद्र चटर्जी के 'आनन्द मठ' का इस स्थान पर दो व्यक्तियों ने उल्लेख किया है, एक व्यक्ति ने शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' का और एक ही व्यक्ति ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'गोरा' का]

७. गोर्की कृत 'मा' और 'आनंद मठ' (बंकिम चन्द्र) को तीन-तीन व्यक्तियों ने हिंदी की मौलिक रचना माना है। इसी प्रकार चरित्रहीन (शरच्चन्द्र), आँख की किरकिरी (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), युद्ध और शान्ति (तालसताय), देवदास (शरच्चन्द्र), शेष प्रश्न (शरच्चन्द्र), बड़ी बहू, विराज बहू जैसे उपन्यासों को हिन्दी का मौलिक उपन्यास माननेवालों का भी अभाव नहीं है।

८. प्रेमचन्द के इन सात उपन्यासों की चर्चा किसी-न-किसी स्थान पर हुई है:— गोदान (१३१)+निर्मला (२६)+कर्मभूमि (५५)+ गबन (४०)+सेवा सदन (२८)+प्रेमाश्रम (८)+ रंगभूमि (६)=३००। इस प्रकार प्रेमचन्द की सात कृतियों को तीन सौ बिंदु प्राप्त हुए। प्रसाद के दोनों उपन्यासों (कंकाल और तितली) के उल्लेख हुए और उनकी सम्मिलित बिंदु-संख्या ६६ ही है।

९. निम्नतम स्थान पर उल्लिखित उपन्यासों के दोषों के रूप में निम्नलिखित तथ्य दिए गए हैं। भाषा की निर्बलता और नीरसता चार व्यक्तियों को खटकी है अर्थात् बीस प्रतिशत व्यक्तियों का ध्यान भाषा पर है और इन्होंने आंचलिक शब्दों के विशेष प्रयोग को अरुचिकर माना है। अश्लीलता को सात व्यक्तियों (पैंतीस प्रतिशत) ने गर्हित दोष माना है। एक ने पात्रों की अधिकता को अरुचिकर माना है और एक ने घटनाओं की प्रधानता को। दो व्यक्तियों ने एकांगिता और एकदेशीयता को अरुचिकर माना है। 'प्रेत और छाया' के संबंध में एक उक्ति आई है—'सुन्दर पर वाहियात'।

१०. एक व्यक्ति ने 'मामा' को जैनेन्द्र कृत उपन्यास कहा है; इसी प्रकार ठाकुर गुरुभक्त सिंह कृत 'नूरजहाँ' को भी उपन्यास की संज्ञा मिली है। महादेवी कृत 'अतीत के चलचित्र' को भी उपन्यास का गौरव दिया गया है।

११. बीस व्यक्तियों ने १०४ पुस्तकों के नाम दिए, जिनमें नौ अनूदित ग्रंथ हैं और तीन ऐसे हैं जो उपन्यास नहीं हैं। इस प्रकार केवल ९२ मौलिक उपन्यास हैं। अतः औसतन ४·६ ग्रंथों के ही नाम आए।







बिहार में पुस्तक-व्यवसाय : संगठन और आवश्यकता

दूसरे प्रान्तों में तत्-तत् प्रान्तीय भाषाओं के प्रकाशकों और पुस्तक-व्यवसायियों के संगठन अपने हितों को लेकर सबल और सचेष्ट हो रहे हैं। पुस्तकों पर से बिक्री-कर उठाने आदि के आन्दोलन के द्वारा, बिक्री-कर को उठवा कर, उन्होंने अपनी सबलता का पर्याप्त प्रमाण दिया है, और अब सरकारी खरीदों में अव्यावसायिक दबावों की धाँधली, कमीशन के नाम पर व्यवसाय को पूँजी की तंगी में डालने की चाल, कागज आदि कच्चे मालों की तंगी या चोर-बाजारी आदि समस्याओं को सुलझाने की ओर भी वे आगे बढ़े हैं। बिहार में भी पुस्तकों पर से बिक्री-कर, देरी से ही सही, हटा है ; मगर, उसमें पुस्तक-व्यवसायियों की संगठन-जैसी कोई दुरुस्ती का भी दावा है, वैसी बात पूरे तौर पर तो नहीं ही मानी जा सकती। इस व्यवसाय से संबंधित बहुत-से मामलों में हमारा यह बिहार बहुत अधिक पिछड़ा हुआ है, इस बात को अब तो मान ही लेना चाहिए, ताकि पुस्तक-व्यवसायियों का संगठन उसके निराकरण की ओर सचेष्ट हो सके। मसलन, इस बिहार में ये कई कमजोरियाँ हैं :—(१) यहाँ की सरकार, पुस्तक-खरीद के मामले में, यहाँ के प्रकाशनों को, साधारण औचित्य के नाते भी, कोई महत्त्व नहीं देती, जबकि यह सत्य है कि सरकारी ढंग की खरीद यदि एकदम बन्द कर दी जाय, तो यहाँ का यह व्यवसाय, इतर प्रान्तों के इस प्रान्त में व्यवसाय के मुकाबले, अपने-आपको कहीं और भी ऊँचा ठहरा सकता है। और, सिद्धान्ततः, खरीद के मामले में, किसी भी प्रकार के सरकारी प्रोत्साहन या सहायता का अर्थ, अपने पैर पर किसी व्यवसाय को सदा के लिए न खड़े होने देना ही है। (२) यहाँ के व्यावसायिकों ने भी, अपने हाथ से ही अपनी हालत को कम तंग नहीं बना रखा है। जैसे; कमीशन और पाठ्य-पुस्तक-दाखिले की बात ली जाय। व्यवसाय करनेवालों के अलावा, अन्य किसी को कमीशन देना, किसी भी व्यवसाय की बहुत बड़ी नैतिक दरिद्रता ही है। तिस पर, एक-दूसरे को गिराने के लिए, जिस-तिस को कमीशन देना, या अपने कफन तक के पैसे को कमीशन के नाम पर लगा देना तो और भी बड़ा दुर्भाग्य है। ऐसे ही, पाठ्य के लिए पुस्तक-दाखिले की होड़ में, मुनाफे की कुछ भी छोर को बिना सोचे, उससे आगे तक, पुस्तकों की सजावट, पहुँच-पैरवी और दूसरे सहयोगी पर कीचड़-उछाल में पूँजी को लगा देना, उससे कम दुर्भाग्य नहीं है। (३) इसके अलावा, पाठकों का स्तर, और साथ-ही-साथ प्रकाशनों का स्तर किस प्रकार उठे, किस प्रकार पाठकों की माँग और विभिन्न विषयों में पुस्तकों की कमी को समझकर तदनुसार योजनाबद्ध तरीके से उस ओर अग्रसर हुआ जाय, किस प्रकार अलग-अलग विषयों में अलग-अलग प्रकाशक तथा विक्रेता होशियार हो सकें ; लेखक, प्रेस, प्रकाशक और विक्रेता में आपसी नैतिक-आर्थिक रिश्ता क्या हो—आदि बातें भी निश्चित होनी चाहिएँ। यह सत्य है कि यदि हम आपस में ही अनियम और धाँधली बरतेंगे, तो सरकारी अनियम और धाँधली के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं बोल सकेंगे।

यह हर्ष का विषय है कि गत वर्ष से बिहार-पुस्तक-व्यवसायी-संघ कुछ सक्रिय हुआ है। २६-२७ दिसम्बर १९५९ को उसका राज्य अधिवेशन भी हो रहा है। यह अधिवेशन छोटी-से-छोटी बातों पर, नियम और अनुशासन के सारे तरीके स्थिर करने में ही लगे, तो बहुत ही उचित बात हो। क्योंकि, देश में, विभिन्न ऐसे ही अधिकतर अधिवेशनों की जो सूचनाएँ हमें मिली हैं, उनमें दावत-सैर-सपाटे, भाषण-माला के अतिरिक्त, स्पष्ट प्रस्तावों पर खुली बहस चलाकर नियम और अनुशासन का कोई निश्चय नहीं बनाया गया। और, उसी का नतीजा यह हो रहा है कि उनमें से बहुतेरे संगठनों को, लोग, कुछ प्रमुखों का स्थिरस्वार्थात्मक आन्दोलन ही समझ रहे हैं।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
" द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
" आधा पृष्ठ	:	२०.००
" एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग

पुस्तक-जगत : ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रति अंक-२५ न० पै० वार्षिक-तीन रुपये

श्री सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लिमिटेड, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित ।


COMPILED
218